सस्ता साहित्य मण्डल

चोहत्तरवाँ ग्रन्थ

[दूसरा खण्ड]

विश्व-इतिहास की झलक

[दूसरा खण्ड]

लेखक

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

पहली बार : ३०००
अप्रैल सन् १९३८
मूल्य, दोनों खण्डों का
आठ रुपये
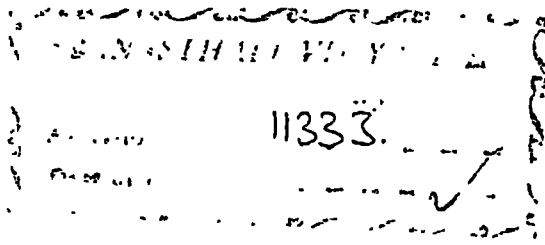
मुद्रक,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली।

क्षमा-प्रार्थना

हमारा इरादा 'झलक' के दोनों खण्डों को एकसाथ ही प्रकाशित करने का था, जो लेकिन अनुवादकों से दूसरे खण्ड का मैटर आने में और प्रेस की ओर से छपाई में अनिवार्य रूप से जो देरी हुई उसके कारण पहला खण्ड दिसम्बर के अन्त में प्रकाशित करना पड़ा। इससे हमें तो असुविधा हुई ही, पाठकों को भी असुविधा हुई होगी इसके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

इस खण्ड के अन्त में जो निर्देशिका (Index) दी गई है उसके तैयार करने में भी हमें बहुत असुविधा और मिहनत उठानी पड़ी। एक मित्र ने इसके तैयार करने का भार उठाया था, लेकिन उनपर और दूसरे काम का भार आजाने से वह इसे पूरा न कर सके; इस कारण अपने और कार्यों को करते हुए, यह भी हमींको करना पड़ा। पहले से इस कार्य का कोई अनुभव न होने से इसमें कई त्रुटियाँ रह गई होंगी, इसके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं। १५०० पृष्ठों को महीने-सवा महीने के थोड़े-से समय में पढ़कर उनकी निर्देशिका बनाना आसान काम नहीं था। अगर इस कार्य में अपने साथी श्री पुरुषोत्तम पन्त और श्री हरिभाऊ उपाध्याय के निजी मंत्री तथा 'राजस्थान-संघ' के सदस्य श्री सुधीन्द्र बी० ए० की अनवरत सहायता न मिलती तो हमें इस पुस्तक में निर्देशिका लगाने का विचार ही छोड़ देना पड़ता। अतः इन दोनों मित्रों का और 'राजस्थान संघ' का हम हृदय से आभार मानते हैं।

पहले खण्ड में हमने सन् १९३३ से अबतक की घटनाओं की सूची देने की बात लिखी थी, लेकिन हमें बड़ा अफ़सोस है कि हम उसका प्रबन्ध अन्त समय तक नहीं कर सके। एक ज़िम्मेदार मित्र ने इसके तैयार करने का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया था, लेकिन वह भी अपने और कामों में इतने लगे रहे कि इस ओर ध्यान न देसके। और समय पर सूची बनाकर नहीं दे सके। अतः इसके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं। इसका दूसरा संस्करण हुआ तो उसमें हम अवश्य जोड़ देंगे।

यद्यपि इस पुस्तक की छपाई में प्रेस की ओर से काफ़ी देरी हुई है और पाठकों के सामने इसके देर से आने में, एक बड़े अंशतक, प्रेस ज़िम्मेदार है, लेकिन फिर भी हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस और उसके कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं। इसको इतनी सुन्दरता से छापने में उन्होंने मिहनत तो की ही है।

मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल

विषय-सूची

परिशिष्ट

विश्व-इतिहास की झलक

[दूसरा खण्ड]

: १३२ :

समाजवाद का आगमन

१३ फ़रवरी, १९३३

मैं तुम्हें लोकसत्ता की प्रगति के बारे में लिख चुका हूँ; मगर, याद रखना, इस प्रगति के लिए खूब लड़ना पड़ा था। किसी प्रचलित व्यवस्था में जिन लोगों का स्वार्थ होता है, वे तब्दीली नहीं चाहते और कोई तब्दीली होती है तो उसे सारा जोर लगाकर रोकने की कोशिश करते हैं। फिर भी ऐसी तब्दीलियों के बिना कोई सुधार या तरक़्क़ी नहीं हो सकती। किसी भी संस्था या शासन-प्रणाली को उससे अच्छी के लिए जगह खाली करनी पड़ती है। जो लोग यह तरक़्क़ी चाहते हैं, उन्हें पुरानी संस्था या पुराने रिवाज पर हमला करना ही पड़ता है। इस तरह उन्हें सदा मौजूदा हालत की मुख़ालफ़त करनी और जो लोग उस हालत से फ़ायदा उठाते हैं उनके साथ जद्दोजहद करना लाज़िमी होजाता है। पश्चिमी योरप में शासकवर्ग ने हर तरह की तरक़्क़ी की क़दम-क़दम पर मुख़ालफ़त की। इंग्लैण्ड में उन्होंने तब हथियार डाले जब देख लिया कि ऐसा न करने से हिंसात्मक क्रांति होने की सम्भावना है। जैसा मैं पहले बता चुका हूँ, उनके लिए आगे बढ़ने का दूसरा कारण नये व्यवसायी लोगों का यह ख़याल था कि थोड़ी-सी लोकसत्ता तिजारत के लिए फ़ायदेमन्द है।

मगर मैं तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि उन्नीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में ये लोकसत्तात्मक विचार पढ़े-लिखे लोगों तक ही महदूद थे। मामूली आदमियों पर उद्योगवाद की तरक़्क़ी का जबरदस्त असर हुआ था और वे जमीन छोड़-छोड़कर कारखानों में जाने लगे थे। कारख़ानों के मजदूरों का वर्ग बढ़ रहा था। आम तौर पर कोयले की खानों के पासवाले शहरों में वे भद्दे और गन्दे मकानों में भेड़-बकरियों की तरह भरे रहते थे। इन मजदूरों के ख़यालात जल्दी-जल्दी बदल रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति का विकास हो रहा था। जो किसान और कारीगर भूख के मारे कारख़ानों में आ-आकर भरती हुए थे उनसे ये मजदूर बिलकुल जुदा थे। जैसे इन कारख़ानों के खोलने में इंग्लैण्ड सबसे आगे बढ़ा हुआ था, वैसे ही कारख़ानों के मजदूरों का वर्ग भी पहलेपहल इंग्लैण्ड में पैदा हुआ और बढ़ा। कारख़ानों के भीतर की हालत ख़ौफ़नाक थी और मजदूरों के घर या झोंपड़े और भी बुरी हालत में थे। उन्हें तकलीफ़ भी बहुत थी। छोटे-छोटे बच्चों और औरतों को इतनी देर तक काम करना पड़ता था कि आज उस बात पर यक़ीन नहीं होता।

फिर भी इन कारखानों और घरों की हालत क़ानून के जरिये सुधारने के लिए जितनी कोशिशें की गईं, मालिकों ने डटकर उनकी मुख़ालफ़त की। उनका कहना था कि यह सम्पत्ति के अधिकारों में शर्मनाक दस्तन्दाज़ी है। ख़ानगी मकानों को जबरदस्ती साफ़ करवाने का उन्होंने इसी बिना पर विरोध किया। बहुत-कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति आज हिन्दुस्तान में भी न सिर्फ़ कारख़ानेदारों और जमींदारों में बल्कि सामाजिक और धार्मिक कट्टरों में भी पाई जाती है। ये पिछले भले आदमी सुधार में बाधा डालने को सदा मजहब और रिवाज की आड़ लेते हैं।

ग़रीब अंग्रेज मजदूर धीरे-धीरे भूख और ज्यादा काम के बोझ से मरे जा रहे थे। नेपोलियन की लड़ाइयों से देश थक गया था और आर्थिक मन्दी फैल गई थी। इससे ज्यादा तकलीफ़ मजदूरों को ही हुई। (१९१४–१८ के महायुद्ध की विरासत की शक्ल में आज कुछ इसी तरह की हालत सारी दुनिया की हो रही है।) स्वभावतः मजदूर अपनी हिफ़ाजत करने और अच्छी हालत के लिए लड़ने को संघ बनाना चाहते थे। पुराने जमाने में कारीगरों और दस्तकारों की पंचायतें होती थीं, मगर वे इन संघों से बिलकुल जुदा ढंग की थीं। फिर भी उन पंचायतों की याद से कारख़ानों के मजदूरों को अपने संघ बनाने में प्रोत्साहन मिला होगा। मगर उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया। ब्रिटेन का शासक-वर्ग फ़्रांस की राज्यक्रांति से इतना डर गया कि उन्होंने 'सम्मिलन क़ानून' (Combination Acts) के नाम से ऐसे नियम बना दिये कि ग़रीब मजदूर अपने दुःख-सुख की चर्चा करने के लिए इकट्ठे भी न हो सकें। 'क़ानून और व्यवस्था' का सदा से यही काम रहा है—इंग्लैण्ड में भी था और हिन्दुस्तान में भी है—कि जिन मुट्ठीभर लोगों के हाथ में सत्ता है उनके उद्देश्य पूरे होते रहें और उनकी जेबों पर आँच न आने पावे।

लेकिन मजदूरों को इकट्ठा होने से रोकनेवाले क़ानूनों से हालत नहीं सुधरी। उनसे वे और भड़क गये और निराश होगये। उन्होंने गुप्त समितियाँ बनाईं, अपनी बातें गुप्त रखने की क़सम खाई और सुनसान जगहों में आधी रात गये सभायें करने लगे। धोखा खाने या भेद खुल जाने पर षड्यंत्र के मुक़दमे चलते और भयकंर सजायें दी जातीं। कभी-कभी वे ग़ुस्से में आकर कलों को तोड़-फोड़ डालते, कारख़ानों में आग लगा देते और अपने मालिकों का ख़ून भी कर डालते थे। आख़िर १८२५ ई० में मजदूर संगठनों पर से पाबन्दियाँ कुछ-कुछ हटाली गई और मजदूर-संघ (Trade-Unions) बनने लग गये। ये संघ अच्छी तनख़ाह पानेवाले होशियार मजदूरों ने बनाये। मामूली मजदूर लम्बे अर्से तक असंगठित ही रहे। इस तरह मजदूर-आंदोलन की यह सूरत होगई कि मिलकर शर्तें तय करने के तरीक़े पर मजदूरों

की हालत सुधारने के लिए मजदूर-संघ बन गये। मजदूरों के हाथ में असली हथियार तो सिर्फ़ हड़ताल करने के अधिकार का था, यानी वे जिस कारख़ाने में या जहाँ कहीं काम करते थे वहाँ काम बन्द करके उसका चलना रुकवा सकते थे। बेशक यह बड़ा हथियार था, मगर उनके मालिकों के हाथ में इससे भी जबरदस्त हथियार यह था कि वे मजदूरों को भूखों मारकर क़ब्जे में कर सकते थे। इस तरह मजदूरों की लड़ाई जारी रही। उन्हें क़ुरबानी बहुत करनी पड़ी और धीरे-धीरे फ़ायदा भी होता गया। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नहीं था, क्योंकि उन्हें मत देने का हक़ भी नहीं मिला था। १८३२ ई० के जिस 'सुधार क़ानून' (Reform Bill) पर इतना शोर मचा था उससे सिर्फ़ सम्पन्न मध्यमवर्ग के लोगों को राय देने का हक़ हासिल हुआ था। मजदूर ही नहीं, ग़रीब मध्यमवर्ग के लोग भी वोट के हक़ से महरूम रहे थे।

इस बीच में मञ्चेस्टर के कारख़ानेदारों में ही एक रहमदिल आदमी पैदा हुआ। उसे मजदूरों की दिल दहलाने वाली हालत देखकर दर्द हुआ। उसका नाम रावर्ट ओवेन था। उसने अपने कारख़ानों में बहुत-से सुधार किये और मजदूरों की हालत अच्छी की। वह अपने मालिक भाइयों में आन्दोलन मचाता रहा और दलीलों से उन्हें मजदूरों के साथ अच्छा बर्ताव करने के लिए समझाता रहा। कुछ उसके कारण और कुछ दूसरी हालतों से मजबूर होकर ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मजदूरों को मालिकों के लालच और खुदगर्जी से बचाने के लिए पहला क़ानून पास किया। यह १८१९ ई० का 'कारख़ानों का क़ानून' (Factory Act) था। इस क़ानून में एक नियम यह था कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चों से बारह घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाय! इस धारा से भी तुम्हें कल्पना होजायगी कि मजदूरों को कैसी दर्दनाक हालत में रहना पड़ता था।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहलेपहल प्रयोग किया। अलबत्ता ग़रीब-अमीर को एक सतह पर लाने का और सम्पत्ति के बराबर बँटवारे का विचार नया नहीं था। पहले भी बहुत लोगों ने यह ख़याल जाहिर किया था। पुरानी ग्राम-पंचायतों में एक तरह का साम्यवाद था ही, क्योंकि उनमें जाति या गाँवभर का जमीन और दूसरी सम्पत्ति पर सम्मिलित अधिकार होता था। इसे प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Communism) कहते हैं और यह हिन्दुस्तान और दूसरे कई देशों में पाया जाता था। मगर नये समाजवाद में सबको बराबर कर देने की निश्चित इच्छा के अलावा और भी बहुत कुछ था। यह अधिक निश्चित है और शुरू में इसका उद्देश्य यह था कि यह

कारखानों वाली उत्पत्ति की नई प्रणाली पर लागू होजाय। इस तरह यह औद्योगिक प्रणाली की औलाद था। ओवेन का खयाल यह था कि मजदूरों की सहयोग-समितियाँ बन जायँ और मजदूरों का कारखानों में हिस्सा होजाय। उसने इंग्लैण्ड और अमेरिका में नमूने के कारखाने और आश्रम खोले और उन्हें कहीं कम और कहीं ज्यादा कामयाबी भी मिली। मगर वह अपने मालिक भाइयों या सरकार के खयालात नहीं बदल सका। फिर भी अपने समय में उसका असर बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक ही शब्द ऐसा चला दिया जिसने उसी समय से करोड़ों के दिलों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इस बीच में पूंजीवादी उद्योग-धन्धे बराबर बढ़ते गये, और जैसे-जैसे इसे कामयाबी-पर-कामयाबी मिलती गई वैसे-वैसे मजदूरों का सवाल भी जोर पकड़ता गया। पूंजीवाद का नतीजा यह हुआ कि उत्पत्ति बहुत बढ़ गई और उसकी वजह से आबादी भी बहुत तेज़ी से बढ़ी, क्योंकि अब पहले से ज्यादा आदमियों की परवरिश हो सकती थी। एक तरफ़ बड़े-बड़े व्यवसाय खड़े होगये और उनके अलग-अलग विभागों में पेचीदा ढंग का सहयोग स्थापित होगया। दूसरी तरफ़ छोटे-छोटे धन्धों की मुक़ाबिला करने की ताक़त कुचलकर बरबाद करदी गई। इंग्लैण्ड में दौलत का दरिया उलट पड़ा, और उसे ज्यादातर नये कारखाने और रेलें बनाने या ऐसे ही दूसरे व्यवसाय खड़े करने में लगाया गया। मजदूरों ने भी हड़तालें कर-करके अपनी हालत सुधारने की कोशिश की, मगर ये हड़तालें आम तौर पर बुरी तरह नाकामयाब होती थीं। बाद में मजदूर १८४० ई० के चार्टिस्ट आन्दोलन में शामिल होगये। मैं तुम्हें किसी पिछले खत में बता चुका हूँ कि यह आन्दोलन १८४८ ई० की क्रान्ति के वर्ष में बैठ गया था।

पूंजीवाद की कामयाबी से लोगों की आँखों में चकाचौंध होगई, मगर फिर भी कुछ उग्र सुधारक, ऊँचे खयालात के या दूसरों की भलाई की ख्वाहिश रखनेवाले ऐसे लोग रह गये थे, जिन्हें इस हत्यारी स्पर्धा यानी एक-दूसरे का गला काटनेवाली लाग-डाँट से खुशी नहीं होती थी। वे देश की दौलत बढ़ती रहने पर भी इससे होनेवाले मजदूरों के दुखों से दुखी थे। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में इन लोगों ने जुदा-जुदा उपाय भी सोचे और अलग-अलग हल सुझाये। इन्हीं सबका इकट्ठा नाम समाजवाद, समष्टिवाद या सामाजिक लोकसत्ता है। थोड़े-बहुत फ़र्क़ के साथ इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है। ये सब सुधारक आमतौर पर इस बात पर सहमत थे कि झगड़े की जड़ उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और नियंत्रण यानी कुछ थोड़े-से लोगों की मालिकी और क़ब्ज़े का होना है। व्यक्तियों के बजाय राष्ट्र या राज्य

उद्योगों का या कम-से-कम जमीन और बड़े-बड़े उद्योगों का, यानी उत्पत्ति के ख़ास-ख़ास ज़रियों का, मालिक बन जाय और वही उन्हें चलावे तो मजदूरों के यों चूसे जाने का ख़तरा न रहे। इस तरह, एक धुँधली शक्ल में ही सही, लोग पूंजीवादी व्यवस्था के मुक़ाबिले का दूसरा कोई उपाय ढूँढ़ने लगे। मगर पूंजीवादी व्यवस्था घर बैठना नहीं चाहती थी। उसका ज़ोर तो बढ़ता चला जारहा था।

इन समाजवादी विचारों के चलानेवाले शिक्षित और दिमाग़ी लोग थे और कारख़ानेदारों में से रॉबर्ट ओवेन था। मजदूर-संघों का आन्दोलन कुछ समय के लिए दूसरी दिशा में चला गया और सिर्फ़ ज्यादा मजदूरी और पहले से अच्छी हालत के लिए कोशिश करने लगा। मगर उसपर इन विचारों का आम तौर पर असर पड़ा और उसका ख़ुद का असर समाजवाद के विकास पर भी ख़ूब हुआ। योरप के बड़े-बड़े उद्योगवादी देश इंग्लैण्ड, फ़्रांस और जर्मनी थे। इन तीनों में अपने-अपने यहाँ के मजदूरवर्ग के बल और स्वभाव के मुताबिक़ समाजवाद का विकास जरा अलग-अलग तरह से हुआ। सारी बातों को देखते हुए अंग्रेज़ों का समाजवाद अनुदार था। उसका विश्वास धीरे-धीरे उन्नति के तरीक़ों पर था और दूसरे यूरोपियन देशों का समाजवाद उग्र और क्रान्तिकारी था। अमेरिका की हालत बिलकुल जुदा थी, क्योंकि वह बड़ा लम्बा-चौड़ा देश ठहरा और वहाँ मजदूरों की माँग भी बहुत थी। इसीलिए बहुत अर्से तक वहाँ कोई ज़ोरदार मजदूर-आन्दोलन नहीं पनप सका।

उन्नीसवीं सदी के बीच से लगाकर आगे एक पीढ़ी तक ब्रिटिश उद्योग संसार पर हावी रहा और दौलत की नदी उसीकी तरफ़ बहती रही। कारख़ानों का मुनाफ़ा और हिन्दुस्तान और दूसरे ग़ुलाम मुल्कों से चूसा हुआ रुपया बराबर उसकी जेब में आता रहा। इस धन का एक हिस्सा मजदूरों के पास भी पहुँच गया और उनके रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा हो गया. जितना पहले कभी नहीं हुआ था। ख़ुशहाली और क्रान्ति का क्या साथ? ब्रिटिश मजदूरों की पुरानी क्रान्ति की भावना काफ़ूर होगई। ब्रिटिश छाप का समाजवाद सबसे नरम होगया। इसका नाम फ़ेबियनवाद पड़ गया। इस नाम का एक रोमन सेनापति था। वह दुश्मन से सीधी लड़ाई न लड़कर उसे धीरे-धीरे थका मारता था। १८६७ ई० में इंग्लैण्ड में राय देने का हक़ और भी बढ़ा दिया गया और थोड़े-से शहरी मजदूरों को भी राय देने का हक़ मिल गया। मजदूर-संघ इतने सयाने और ख़ुशहाल होगये थे कि मजदूरदल का मत ब्रिटिश उदारदल को मिलने लगा था। इस समय के बारे में लिखते हुए कार्ल मार्क्स कहता है:—"अंग्रेज़ी मजदूर का नेता होना इज्जत की बात नहीं है, उसका नेता न होना

इज्जत की बात है; क्योंकि इन नेताओं में से ज्यादातर ने अपनेआपको उदारदल के हाथों बेच दिया है।" यह बात पचास वर्ष से ज्यादा होगया तब लिखी गई थी, मगर आज भी अंग्रेजी मजदूर नेता इस बात के लिए बदनाम हैं कि जिन लोगों के कारण वे बड़े आदमी बनते हैं उन्हींको भूल जाते हैं और अपने पुराने दल और काम के प्रति बेवफ़ा साबित होते हैं। आज तो उन्होंने इतनी तरक्क़ी और करली है कि उदारदल के बजाय अब उनकी राय अनुदार दल के साथ रहती है।

इधर इंग्लैण्ड वैभव के मारे फूला न समा रहा था और उधर योरप के दूसरे मुल्कों में एक नया मत ज़ोर पकड़ता जाता था। यह मत अराजकतावाद (Anarchism) कहलाता था। जो लोग इसके बारे में कुछ नहीं जानते वे इस शब्द से ही डर जाते हैं। अराजकतावाद का अर्थ यह है कि जहाँतक होसके समाज में हुकूमत करनेवाली कोई केन्द्रीय सरकार न रहे और व्यक्तियों को ख़ूब आज़ादी मिले। अराजकता के आदर्श में अलौकिक ऊँचाई थी। उसके अनुसार एक "ऐसे आदर्श राष्ट्र में विश्वास होना चाहिए, जिसका आधार परोपकार-बुद्धि, ऐक्य-भाव और दूसरे के अधिकारों का स्वेच्छापूर्वक लिहाज़ हो।" राज्य की तरफ़ से कोई बल-प्रयोग या जबरदस्ती न हो। थोरो नाम के अमेरिकन ने कहा है:—"सरकार सबसे अच्छी वह है जो बिलकुल शासन न करे और जब मनुष्य ऐसी सरकार के लिए तैयार होजायँगे तब उन्हें वैसी ही सरकार मिल जायगी।"

यह आदर्श बड़ा बढ़िया मालूम होता है। हरेक को पूरी आज़ादी हो, हरेक आदमी दूसरे का लिहाज़ रक्खे, सब तरफ़ निःस्वार्थता का बोलबाला हो और लोग ख़ुशी-ख़ुशी आपस में सहयोग करें—इससे ज्यादा और क्या चाहिए? मगर आज की ख़ुदग़र्ज़ और हिंसा से भरी दुनिया के लिए यह दिल्ली अभी बहुत दूर है। अराजकतावादियों की यह इच्छा कि केन्द्रीय सरकार क़तई न हो या वह नाम-मात्र को शासन करे, शायद इस कारण पैदा हुई होगी कि स्वेच्छाचारी एकतंत्री शासन ने लोगों को बहुत दिनों तक दुःख दिये थे। चूंकि सरकारों ने रिआया को कुचला और सताया था, इसलिए सरकार रहने ही न दी जाय। अराजकतावादियों को ऐसा भी लगा कि कुछ तरह के समाजवाद में राष्ट्र उत्पत्ति के सारे साधनों का मालिक होता है और इसलिए मुमकिन है वह ख़ुद निरंकुश बन जाय। इस तरह अराजकतावादी लोग ऐसे समाजवादी थे जिनका स्थानीय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत ज़ोर था। समाजवादियों में से भी बहुत लोग अराजकतावादियों के मत को एक आगे या बहुत दूर के आदर्श के रूप में मानने को तैयार थे, मगर उनकी राय में कुछ समय तक समाजवाद में भी एक केन्द्रीय और मजबूत सरकार का होना जरूरी था। इस तरह,

हालाँकि समाजवाद और अराजकतावाद में काफ़ी अन्तर था, फिर भी दोनों के बहुत-से विचारों की छाया एक-दूसरे पर पड़ती और मिलती थी।

आधुनिक उद्योग-धंधों के कारण एक संगठित मजदूरवर्ग पैदा हुआ। अराजकतावाद का स्वभाव ही ऐसा था कि वह कोई सुसंगठित आन्दोलन नहीं बन सकता था। इसलिए उद्योगवादी देशों में जहाँ मजदूर-संघ और ऐसी ही संस्थायें बढ़ रही थीं, वहाँ अराजकतावादी विचारों के फैलने की बहुत कम संभावना थी। इस तरह न इंग्लैण्ड में और न जर्मनी में ही अराजकतावादियों की कोई बडी संख्या हुई। लेकिन दक्षिणी और पूर्वी योरप उद्योग-धंधों में पिछड़ा हुआ था, इसलिए वहाँ इन विचारों के लिए ज्यादा उपजाऊ जमीन थी। जैसे-जैसे वर्तमान उद्योगवाद का दक्षिण और पूर्व में प्रचार हुआ, वैसे-वैसे अराजकतावाद कमजोर पड़ता गया। आज यह क़रीब-क़रीब एक मुर्दा उसूल हो गया है, मगर स्पेन जैसे पिछडे हुए बडे-बडे कल-कारखानों से सूने देश में फिर भी कहीं-कहीं इसके निशान मिलते हैं।

अराजकतावाद का आदर्श भले ही बहुत सुन्दर हो, मगर इससे न केवल जल्दी भड़कनेवाले और असन्तुष्ट लोगों को ही बल्कि ऐसे स्वार्थियों को भी आश्रय मिला जो आदर्श की आड़ में अपना फ़ायदा करना चाहते थे। और इसके कारण एक ख़ास तरह की हिंसा का जन्म होगया जो अराजकता का नाम लेते ही तुरन्त हर किसीकी समझ में आजाती है और जो इतनी बदनाम भी हो चुकी है। अराजकतावादी चाहते तो यह थे कि समाज को बदला जाय, मगर किसी बडे पैमाने पर यह कुछ न हो सका तो उन्होंने एक नये ढंग से प्रचार करने का इरादा किया। यह 'करके दिखाने का तरीक़ा' कहलाता था। इसके अनुसार वे मुल्क के ख़िलाफ़ बहादुरी के काम करके और अपने प्राणों की क़ुरबानी देकर साहस का नमूना पेश करते और उसका असर डालते थे। इस ख़याल से अलग-अलग मुक़ामों पर बलवे हुए। जिन लोगों ने इनमें हिस्सा लिया उन्होंने तुरन्त किसी कामयाबी की उम्मीद नहीं रक्खी थी। अपने काम का इस नये ढंग से प्रचार करते हुए वे खुशी से अपनी जान जोखिम में डालते थे। पर ये विद्रोह दबा दिये गये और फिर अराजकतावादियों ने व्यक्तिगत आतंकवाद का आश्रय लेना शुरू कर दिया। राजाओं और बडे हाकिमों पर बम फेंके जाने लगे और उन्हें गोली का शिकार बनाया जाने लगा। यह बेवकूफी से भरी हिंसा बढ़ती हुई कमजोरी और निराशा की खुली निशानी थी। धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी के ख़तम होते-होते अराजकतावाद आन्दोलन की हैसियत से एकदम ख़त्म होगया। बहुत-से अराजकतावादी नेताओं ने बम फेंकने और 'कुछ काम कर दिखाने' के प्रचार के इस तरीक़े को नापसन्द किया और उसकी निन्दा भी की।

तुम्हें कुछ मशहूर अराजकतावादियों के नाम बताऊँगा। मजे की बात यह है कि खानगी जीवन में अधिकांश अराजकतावादी नेता निहायत शरीफ़, आदर्शवादी और पसन्द करने लायक़ आदमी थे। शुरू के अराजकतावादी नेताओं में पायरे प्राउढन नाम का एक फ़्रांसीसी था। यह १८०९ से १८६५ ई० तक जिन्दा रहा। उससे जरा उम्र में छोटा माइकेल बैकुनिन नाम का रूसी रईस था। यह योरप का, और खास तौर पर दक्षिण में, एक बड़ा लोकप्रिय मजदूर नेता था। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया था, मगर मार्क्स के साथ भिड़न्त हो जाने के कारण उसने इसे संघ से निकलवा दिया। तीसरा नाम रूसी राजकुमार पीटर क्रोपाटकिन का है। यह तो हमारे अपने समय की बात है। उसने अराजकतावाद और दूसरे विषयों पर कुछ बहुत ही रोचक पुस्तकें लिखी हैं। चौथा और आखिरी नाम जो मैं तुम्हें बताऊँगा वह हैं इटली-निवासी एनरीको मालाटेस्टा का। यह अभी जिन्दा है और ८० वर्ष से ज्यादा उम्र का है। यह उन्नीसवीं सदी के महान् अराजकतावादियों का बचा हुआ निशान है।

मालाटेस्टा के बारे में एक सुन्दर कहानी कहे बिना मैं नहीं रह सकता। इटली की एक अदालत में उसपर मुक़दमा चल रहा था। सरकारी वकील ने बहस में कहा कि उस इलाक़े के मजदूरों में मालाटेस्टा का बहुत ज्यादा असर है और उसने उनका स्वभाव ही बिलकुल बदल दिया है। वह तो अपराधवृत्ति का ही खात्मा कर रहा है और जुर्मों की तादाद बहुत घटती जा रही हैं। अगर अपराध बन्द हो गये तो फिर अदालतें क्या करेंगी? इसलिए मालाटेस्टा को जेल भेजा जाय! मालाटेस्टा को सचमुच छः महीने क़ैद की सजा हुई!

बदक़िस्मती से अराजकतावाद के साथ हिंसा का दूध-पानी का-सा सम्बन्ध हो-गया और लोग यह भूल गये कि यह भी एक तत्त्वज्ञान और एक आदर्श है जिसने बहुत-से अच्छे-अच्छे आदमियों पर असर डाला है। आदर्श के रूप में हमारी आज-कल की अधूरी दुनिया से यह अब भी बहुत दूर है और इसने जो सरल उपाय बताये हैं वे हमारी आधुनिक पेचीदा सभ्यता के अनुकूल नहीं हैं।

: १३३ :

कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों की वृद्धि

१४ फ़रवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास योरप के मजदूर और समाजवादी संसार में एक नये और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला आदमी हुआ। यह आदमी कार्ल मार्क्स था, जिसका नाम इन ख़तों में पहले ही आ चुका है। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म १८१८ ई० में हुआ था। उसने क़ानून, इतिहास और तत्त्वज्ञान का अध्ययन किया और एक अख़बार निकाला, जिसके कारण उसका जर्मनी के अधिकारियों से झगड़ा होगया और वह पेरिस चला गया। पेरिस में वह नये-नये लोगों के सम्पर्क में आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढ़ीं और समाजवादी बन गया। वहीं पेरिस में फ़्रेडरिक एन्जेल्स नामक दूसरे जर्मन से उसकी मुलाक़ात हुई। यह इंग्लैण्ड आकर बस गया था और वहाँ रुई के बढ़ते हुए उद्योग में एक कारख़ाने का मालिक बन गया था। एन्जेल्स भी वर्तमान सामाजिक स्थिति से दुखी और असन्तुष्ट था और अपने चारों तरफ़ दीखनेवाली ग़रीबी और शोषण को रोकने के उपायों की तलाश कर रहा था। सुधार-सम्बन्धी रॉबर्ट ओवेन के ख़यालात और कोशिशें उसे अच्छी लगीं और वह ओवेन का अनुयायी बन गया। पेरिस जाने पर उसकी कार्ल मार्क्स से पहलेपहल मुलाक़ात हुई। इससे भी उसके ख़यालात बदले। आगे से मार्क्स और एन्जेल्स गहरे दोस्त और साथी हो-गय। दोनों के एक-से ख़याल थे और दोनों एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। उम्र में भी दोनों क़रीब-क़रीब बराबर के थे। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो किताबें उन्होंने छपाईं उनमें से ज्यादातर दोनों की लिखी हुई थीं।

उस वक़्त की फ़्रांस की सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फ़िलिप का ज़माना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाँ बहुत वर्ष तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की किताबें पढ़ने में लगा रहता। उसने ख़ूब मेहनत करके अपने उसूल पक्के कर लिये और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या तत्त्वज्ञानी नहीं था, जो उसूल गढ़ा करता हो और मामूली बातों से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की धुँधली विचार-रेखा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ़-साफ़ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहाँ वह मजदूरों और उनके आन्दोलन को

संगठित करने का काम भी अमली तौर पर, ज़ोरों के साथ, करता रहा। सन् १८४८ में, जो योरप में क्रान्तियों का वर्ष कहलाता है, जो घटनायें हुईं उनका मार्क्स पर स्वभावतः ख़ूब असर हुआ। उसी साल उसने और एञ्जेल्स ने मिलकर एक घोषणा-पत्र या मैनीफ़ेस्टो प्रकाशित किया, जो बहुत मशहूर हुआ। यह 'साम्यवादी घोषणापत्र' (Communist Manifesto) था, जिसमें उन्होंने उन ख़यालात का इज़हार किया था जो फ़्रांस की महान् राज्य-क्रान्ति और बाद में १८३० और १८४८ ई० की घटनाओं की जड़ में थे। उन्होंने इस घोषणापत्र में यह भी बताया कि वे ख़यालात असली हालात से किस तरह मेल नहीं खाते थे और उनके लिए वे कितने नाकाफ़ी थे। उन्होंने उस वक्त की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकसत्तावादी आवाज़ों की आलोचना की और यह दिखाया कि इन आवाज़ों का आम लोगों के लिए तो कोई मतलब है नहीं, हाँ, मध्यम श्रेणी के अमीरों के राज्य को एक अच्छा परदा ज़रूर मिल गया है। उस घोषणा में उन्होंने आगे चलकर, मुख़्तसर में समाज-वाद के अपने उसूलों का प्रतिपादन किया। इसका कुछ हाल मैं तुम्हें आगे कहूँगा। घोषणापत्र के अख़ीर में उन्होंने सारे मज़दूरों से इन शब्दों में अपील की :—"संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है सिवाय अपनी गुलामी की ज़ंजीरों के और पाने को संसार पड़ा है!"

यह अपील काम करने को पुकार थी। इसके बाद मार्क्स ने अख़बारों और पर्चों के ज़रिये ज़ोरदार प्रचार शुरू कर दिया और मज़दूर संगठनों को नज़दीक लाने की दिन-रात कोशिश करने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि उसे योरप में कोई बड़ा संकट-काल आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मज़दूर उसके लिए तैयार रहें, ताकि वे उससे पूरा फ़ायदा उठा सकें। उसके समाजवादी उसूलों के मुता-बिक़ पूंजीवादी प्रणाली में सचमुच ऐसा संकट-काल आये बिना नहीं रह सकता था। १८५४ ई० में न्यूयार्क के एक अख़बार में लिखते हुए मार्क्स ने कहा था—"फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि योरप में छठी सत्ता भी है जो ख़ास-ख़ास मौक़ों पर पाँचों बडी कहलाने वाली सत्ताओं पर अपनी प्रभुता रखती है और उन सबको थरथरा देती है। यह सत्ता क्रान्ति की सत्ता है। इसे चुपचाप एकान्तवास करते हुए बहुत दिन होगये। अब मुसीबतें और भूख इसे फिर लड़ाई के मैदान में बुला रही है। सिर्फ़ एक इशारे की ज़रूरत है। फिर तो योरप की छठी और सबसे बडी ताक़त चमकता हुआ कवच पहने और हाथ में तलवार लिये हुए निकल पडेगी। यह इशारा आनेवाले योरप के युद्ध से मिल जायगा।"

योरप के अगले युद्ध के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नहीं निकली।

उसके लिखने के साठ साल बाद संसारव्यापी युद्ध हुआ और उससे योरप के एक हिस्से में ही क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके हैं कि पेरिस के पंचायती राज्य के रूप में १८७१ ई० में क्रान्ति की जो कोशिश हुई वह बेदर्दी के साथ कुचल दी गई थी।

१८६४ ई० में मार्क्स लन्दन में एक पचमेल सभा करने में कामयाब हुआ। उसमें अनेक दलों के लोग, जो अपनेको समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। उनके विचार सुलझे हुए नहीं थे। एक तरफ़ तो योरप के कई ग़ुलाम देशों के लोकसत्तावादी और देशभक्त आये थे। समाजवाद में उनका विश्वास बहुत दूर की चीज़ था और उनकी ज्यादा दिलचस्पी क़ौमी आज़ादी हासिल करने में थी। दूसरी तरफ़ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरंत लड़ाई मोल लेना चाहते थे। सभा में मार्क्स के सिवा दूसरा प्रभावशाली आदमी अराजकतावादी नेता बैकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया में क़ैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बैकुनिन के अनुयायी ख़ास तौर पर दक्षिण योरप के इटली और स्पेन वग़ैरा लैटिन मुल्कों से आये थे। इन देशों में बडे उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ था और वे इसमें पिछडे हुए थे। वे पढ़े-लिखे बेरोज़गार और तरह-तरह के क्रान्तिकारी लोग थे जिनको मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में कोई जगह नहीं मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी उद्योगवादी देशों से, ख़ासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मजदूरों की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, संगठित और ख़ुशहाल मजदूरों का प्रतिनिधि था और बैकुनिन ग़रीब और असंगठित मजदूरों, शिक्षितों और असंतुष्ट लोगों का। मार्क्स का यह कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने का वक़्त आवे, उस वक़्त तक धीरज के साथ मज़दूरों को समाजवादी उसूलों की तालीम दी जाय और उसी ढंग पर उनका संगठन किया जाय। बैकुनिन और उसके चेले तुरंत कुछ करने के पक्ष में थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' (International Workingmen's Association) क़ायम हुआ। यह मजदूरों का पहला अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (Worker's International) था।

तीन साल बाद यानी १८६७ में मार्क्स का महान ग्रंथ कैपिटल (Capital) अर्थात् 'पूंजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लंदन में उसने कई वर्ष तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमें उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तों की छानबीन करके उनकी बुराई-भलाई दिखाई और अपने समाजवादी उसूल विस्तार के साथ समझाये। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रंथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बातें छोड़कर व्यावहारिक ढंग से, निष्पक्ष और वैज्ञानिक तरीक़े पर, इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास का निरूपण किया। उसने ख़ास तौर पर

बड़ी-बड़ी मशीनों की औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की और विकास, इतिहास और मानवसमाज के वर्गयुद्ध के बारे में कुछ दूर तक असर करनेवाले नतीजे निकाले । मार्क्स का यह नया गढ़ा-गढ़ाया और जोरदार दलीलों वाला समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' (Scientific Socialism) कहलाया। यह उस अस्पष्ट, हवाई या आदर्शवादी समाजवाद से जुदा था जो अबतक प्रचलित था। मार्क्स की किताब 'पूंजी' (Das Capital) पढ़ने में सहल किताब नहीं है। असल में इससे ज्यादा मुश्किल किताब की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी यह उन थोड़ी-सी किताबों में से एक है जिनसे बहुत लोगों के विचार करने के तरीक़े पर असर हुआ है; उनके ख़यालात बदल गये हैं और मानव विकास पर प्रभाव पड़ता है।

१८७१ ई० में पेरिस की पंचायत (Commune) की घटना हुई। शायद यह जान-बूझकर की गई पहली ही समाजवादी बग़ावत थी। इससे योरप की सरकारें डर गईं और मजदूर-आन्दोलन की तरफ़ से उनका रुख और भी कड़ा होगया। दूसरे वर्ष मार्क्स के क़ायम किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की बैठक हुई और मार्क्स ने उसका प्रधान कार्यालय सात समन्दर पार अमेरिका के न्यूयार्क शहर में भिजवा दिया। इसमें मार्क्स का साफ़ मतलब यही होगा कि बैकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियों से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूँकि उसके ख़याल से पेरिस की पंचायत के बाद योरप की सरकारों की आँखें लाल हो गई थीं इसलिए उनकी हुकूमत में संघ इतना महफ़ूज नहीं रह सकेगा जितना अमेरिका में। मगर सदा के लिए अपने सारे मुख्य केन्द्रों से इतनी दूर रह सकना मुमकिन नहीं था। उसकी ताक़त योरप में थी और योरप में भी मजदूर-आन्दोलन के बुरे दिन थे। इसलिए पहला अन्तर्राष्ट्रीय संघ धीरे-धीरे बेजान होकर मर गया।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद योरप के और ख़ास तौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया के समाजवादियों में फैला। वहाँ यह आम तौर पर 'समाजवादी लोकसत्ता' (Social Democracy) के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इंग्लैण्ड ने इसकी अन्धी नक़ल नहीं की। उस वक्त वह इतना ख़ुशहाल था कि वहाँ किसी आगे बढ़े हुए सामाजिक मत के प्रचार की गुञ्जाइश नहीं थी। अंग्रेजों के समाजवाद का नमूना फ़ैबियन सोसायटी थी और उसका बहुत दूर की और हल्की तब्दीली का कार्यक्रम था। फ़ैबियन लोगों का मजदूरों से कोई वास्ता नहीं था। ये आगे बढ़े हुए उदार विचारों के तालीमयाफ़्ता लोग थे। शुरू के फ़ैबियन लोगों की नीति का पता दूसरे मशहूर फ़ैबियन सिडनी वेब के इस मशहूर जुमले से लग सकता है कि 'परिवर्तन धीरे-धीरे होना अनिवार्य है।' यह महाशय अब लार्ड बन गये हैं।

फ़्रांस में पंचायत के बाद समाजवाद को फिर से जोर पकड़ने में धीरे-धीरे करके बारह वर्ष लग गये; मगर इस बार इसका स्वरूप नया हो गया। वह अराजकतावाद और समाजवाद के मेल से बना। इसे सिंडिकेट 'Syndicalism' या संघवाद कहते हैं। फ़्रेंच भाषा के सिंडिकेट (Syndicat) शब्द से निकला है, जिसका मतलब मजदूरों का संगठन या मजदूर संघ है। समाजवाद का उसूल यह था कि राज्य सारे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उसीका उत्पत्ति के साधनों यानी जमीन और कारख़ानों पर स्वामित्व और क़ब्जा होना चाहिए। थोड़ा-सा मतभेद था तो यह कि समाज का स्वामित्व और क़ब्जा कहाँतक हो? यह जाहिर है कि औजारों और घरेलू यंत्रों जैसी बहुत-सी ख़ानगी चीजों पर समाज का क़ब्जा करना बेहूदा-सी बात होगी। मगर इस बात पर समाजवादियों का एक मत था कि जिस किसी चीज का इस्तेमाल दूसरों के कामों से ख़ुद फ़ायदा उठाने में किया जा सकता हो वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियों की तरह संघवादी राज्य-संस्था को बहुत पसन्द नहीं करते थे और वे उसकी ताक़त को महदूद कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरेक उद्योग पर उस उद्योग के मजदूरों का अपने संघ के जरिये क़ब्जा रहे। (तुम्हें हमेशा याद रखना चाहिए कि मजदूर से मतलब सिर्फ़ हाथ से काम करनेवालों का ही नहीं है, बल्कि हाथ और दिमाग़ दोनों से काम करनेवाले सब तरह के मजदूरों से है)। कल्पना यह थी कि अलग-अलग संघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बड़ी परिषद में भेजेंगे और परिषद सारे देश के मामलों को सम्हालेगी। यह परिषद मामूली काम-काज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी ख़ास उद्योग के भीतरी इन्तजाम में दख़ल देने का हक़ न होगा। यह स्थिति पैदा करने के लिए संघवादी आम हड़ताल के पक्ष में थे, यानी वे देश के सब उद्योग-धंधों और कारख़ानों में एकसाथ काम बन्द करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स के अनुयायी संघवाद को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे, मगर दिल्लगी की बात यह थी कि मार्क्स के मरने के बाद संघवादी उसे अपनेमें का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स ठीक पचास साल पहले यानी १८८३ ई० में मरा। उस वक्त तक इंग्लैण्ड, जर्मनी और दूसरे उद्योगवादी देशों में मजदूर संघों का संगठन जबरदस्त और ताक़तवर हो चुका था। ब्रिटिश उद्योगों के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमेरिका की बढ़ती हुई लाग-डाँट के मुक़ाबिले में उनका पतन हो रहा था। यह ठीक है कि अमेरिका को कुदरत की तरफ़ से बड़ी सहूलियतें थीं, जिनसे वहाँ औद्योगिक विकास तेजी से होने में मदद मिली। जर्मनी में राजनैतिक निरंकुशता और औद्योगिक प्रगति का अजीब मेल था। उस निरंकुशता में कमजोर और सत्ताहीन-सी

पार्लमेण्ट का पुट भी लगा हुआ था। बिस्मार्क की मातहती में और बाद में भी जर्मन सरकार ने उद्योग-धंधों की कई तरह मदद की और मजदूरों की हालत अच्छी करनेवाले समाज-सुधार के क़ानून बनाकर मजदूरवर्ग को खुश करने की कोशिश की। इसी तरह अंग्रेज़ी उदारदल ने कुछ सामाजिक क़ानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मजदूरों की हालत कुछ सुधार दी। जबतक खुशहाली रही तबतक इस तरीक़े से काम चल गया और अंग्रेज मजदूर नरम और दबे हुए रहे और वफ़ादारी के साथ उदारदल के पक्ष में राय देते रहे। मगर १८८० के बाद दूसरे देशों की लाग-डांट के कारण खुशहाली का लम्बा जमाना खत्म हुआ और इंग्लैण्ड में व्यापार की मन्दी शुरू होगई और मजदूरों की मजदूरी घटगई। इस तरह फिर मजदूरों में जागृति हुई और वायुमण्डल मे क्रान्ति की भावना फैल गई। इंग्लैण्ड में बहुत लोगों की नजर मार्क्सवाद की तरफ़ जाने लगी।

१८८९ में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ बनाने की दूसरी बार कोशिश हुई। बहुत-से मजदूरसंघों और श्रमजीवी दलों का बल और साधन अब काफ़ी बढ़ गया था और उनके बहुत-से तनख्वाह पानेवाले कर्मचारी थे। मार्क्स और बैकुनिन के जमाने से अब उनकी इज्जत भी बहुत ज्यादा होगई थी। १८८९ में बना हुआ यह संघ दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) कहलाता है। मेरे खयाल से उस वक्त इसका नाम 'मजदूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Labour and Socialist International) रक्खा गया था। यह पच्चीस वर्ष तक रहा। फिर महायुद्ध आगया। उसमें इसका इम्तिहान होगया और यह बेकार साबित हुआ। इस संघ में बहुत लोग ऐसे भी थे जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने देशों में ऊँचे-ऊँचे पद ग्रहण किये। मालूम होता है, उन्होंने मजदूरों का अपने सहारे और तरक्क़ी के लिए इस्तेमाल किया था और जब उनका काम होगया तो उन्होंने मजदूरों को क़िस्मत के भरोसे छोड़ दिया। वे प्रधान मंत्री, अध्यक्ष और इसी तरह और कुछ बन-बनकर अपनी जिन्दगी सफल कर गये, मगर जिन लाखों आदमियों ने उन्हें आगे बढ़ाया और उनपर यक़ीन रक्खा उन्हें इन लोगों ने मँझधार में छोड़ दिया। इन नेताओं में से जो मार्क्स के नाम की क़समें खाते थे या बड़े जोशीले संघवादी थे, वे भी पार्लमेण्टों में घुस गये या बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाने वाले मजदूरसंघों के मुखिया बन बैठे। उनके लिए अपनी आराम की जगहों को जोखिम में डालकर बिना सोचे-समझे किसी बात का बीड़ा उठा लेना दिन-दिन मुश्किल होगया। इस तरह वे ठण्डे पड़ गये और जिस वक्त मामूली मजदूरों ने निराश होकर क्रान्ति का बाना पहना और कुछ-न-कुछ करने की माँग की तब भी इन लोगों ने उन्हें दबाकर रखने

की ही कोशिश की। युद्ध के बाद जर्मनी के समाजवादी लोकसत्तात्मक दल के लोग प्रजातन्त्र के अध्यक्ष और प्रधान मंत्री (Chancellor) बने। फ़्रांस में आम हड़ताल का पक्षपाती आग उगलने वाला संघवादी ब्रियाँद ग्यारह बार प्रधान मंत्री बना और उसने अपने पुराने साथियों की हड़ताल को कुचला। इंग्लैण्ड में रैम्जे मैक्डोनॉल्ड इस समय प्रधान मंत्री हैं[1]। यह दूसरी बात है कि नरम होते हुए भी उसके अपने मजदूर दल और ब्रिटिश मजदूर संघों ने उससे कोई वास्ता नहीं रक्खा है। यही हाल स्वीडन, डेनमार्क, बेलजियम और आस्ट्रिया का है। पश्चिम योरप आज ऐसे सर्वेसर्वा यानी डिक्टेटर शासकों और सत्ताधारियों से भरा पड़ा है जो अपने शुरू के ज़माने में समाजवादी थे, मगर ज्यों-ज्यों उनकी उम्र ढलती गई त्यों-त्यों वे नरम पड़ते गये और कार्य का पुराना जोश भूल गये। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ये लोग अपने पुराने साथियों के खिलाफ़ भी होगये। इटली का कर्त्ताधर्ता मुसोलिनी पुराना समाजवादी है। पोलैण्ड का सर्वेसर्वा पिल्सूदस्की भी समाजवादी रह चुका है।

मज़दूर-आन्दोलन को ही क्या, क़रीब-क़रीब आजादी की हर क़ौमी तहरीक को नेताओं और मुख्य कार्यकर्त्ताओं की ऐसी बेवफाई से अक्सर नुक़सान पहुँचा है। कामयाबी न मिलने से वे थोडे अर्से बाद थक जाते हैं और शहीदी का थोथा चोला उन्हें बहुत दिन तक अच्छा नहीं लगता। उनका जोश ठण्डा पड़ जाता है। कुछ लोग, जो ज्यादा महत्वाकांक्षी या बेउसूल होते हैं, दूसरे पक्ष में जा मिलते हैं और जिन लोगों से कल तक मुक़ाबिला और लड़ाई करते थे उन्हीं से जाती समझौता कर लेते हैं। आदमी जो कुछ करने की ठान लेता है उसके अनुकूल अन्तःकरण बना लेना उसके लिए आसान है। इस बेवफ़ाई से आन्दोलन की हानि होती है और वह थोड़ा पीछे हटता है। जो लोग मजदूरों के दुश्मन होते हैं वे यह बात अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए वे तरह-तरह के लालच देकर और मीठी-मीठी बातें करके व्यक्तियों को अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश करते हैं। मगर व्यक्तियों पर महरबानी कर देने या उनसे मीठी-मीठी बातें करने से मामूली मजदूरों या आजादी के लिए लड़नेवाले किसी दलित राष्ट्र का कष्ट दूर नहीं होता। इसलिए व्यक्तियों की बेवफ़ाई और आंन्दोलन के बीच-बीच में पीछे हटने के बावजूद लड़ाई अपनी मंजिल की तरफ़ जरूरी तौर पर चलती रहती है।

१८८९ ई० में बने हुए दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यों की तादाद और संघ की इज्जत बढ़ी। थोड़े ही वर्ष बाद उन्होंने मालाटेस्टा और उसके अराजकतावादी अनुयायियों को इस बिना पर निकाल बाहर किया कि वे पार्लमेण्टों के मताधिकार

१. नवम्बर १९३७ में इनकी मृत्यु होगई

का फ़ायदा उठाने को राजी नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय संघ के समाजवादियों ने साबित कर दिया कि उन्हें आम लड़ाई में अपने पुराने साथियों का साथ देने से पार्लमेण्टों में जाना ज्यादा पसन्द है। योरप में लड़ाई छिड़ जाने पर समाजवादी क्या करें, इस बारे में उन्होंने बडी बढ़-बढ़कर बातें कीं। जहांतक काम का ताल्लुक़ था, समाजवादी राष्ट्रीय सीमाओं यानी क़ौमी हद को नहीं मानते थे। वे मामूली मानी में राष्ट्रवादी नहीं थे। उन्होंने कहा कि लड़ाई की मुख़ालफ़त करेंगे। मगर जब १९१४ ई० में लड़ाई छिडी तो दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सारा ढांचा तहस-नहस होगया और हर देश के समाजवादी और मजदूर दल ही नहीं, क्रोपाटकिन-जैसे अराजकतावादी भी और लोगों की तरह निरे राष्ट्रवादी और दूसरे मुल्कों से नफ़रत करनेवाले बन गये। थोडे ही आदमियों ने लड़ाई की मुख़ालफ़त की और इसके लिए उन्हें तरह-तरह की तकलीफ़ें और कुछ लोगों को लम्बी-लम्बी सजायें दी गई।

लड़ाई ख़तम होने पर लेनिन ने १९१९ ई० में मास्को में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ खोला। यह शुद्ध साम्यवादी संगठन था और इसमें खुली घोषणा करने-वाले साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है और तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Third International) के नाम से मशहूर है। पुराने दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ के बचे-खुचे लोग भी लड़ाई के बाद धीरे-धीरे इकट्ठे होगये। थोडे मास्को के संघ में मिल गये। मगर ज्यादातर को मॉस्को और उसके मत से सख़्त नफ़रत थी और वे उसके पास फटकने को भी तैयार नहीं थे। उन्होंने दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ को फिर से चलाया। यह भी मौजूद है। इस तरह आजकल दो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ हैं और दूसरे और तीसरे संघ के नाम से मशहूर हैं। ताज्जुब की बात यह है कि दोनों ही मार्क्स के अनुयायी होने का दावा करते हैं, मगर दोनों ही उसके विचारों का अपना-अपना अलग अर्थ करते हैं और अपने समान शत्रु-पूंजीवाद से भी कहीं अधिक घृणा आपस में रखते हैं।

इन दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संघों में संसार के सारे मजदूर-संघ शामिल नहीं हैं। बहुत-से संगठन दोनों से ही अलग हैं। अमेरिका के मजदूर-संघ इसलिए अलग हैं कि उनमें से ज्यादातर बहुत पुराने विचार के हैं। हिन्दुस्तान के मजदूर-संघों का भी दोनों में से किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे कोई निश्चय ही नहीं कर पाते।

शायद तुम 'इण्टरनैशनल' गीत को जानती हो, जोकि दुनियाभर के मजदूरों और समाजवादियों का माना हुआ गीत है।

: १३४ :

मार्क्सवाद

१६ फरवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के ख़यालात के बारे में कुछ बताने का इरादा ज़ाहिर किया था। इन ख़यालात ने योरप की साम्यवादी दुनिया में बड़ी हलचल मचा दी थी। मगर मेरा ख़त बहुत लम्बा होगया था और मुझे यह विषय रोक लेना पड़ा था। मैं इस विषय का कोई ख़ास जानकार नहीं हूँ, इसलिए इसके बारे में लिखना मेरे लिए आसान नहीं है। फिर भी विशेषज्ञों और पंडितों में भी मतभेद होता है। मैं तुम्हें मार्क्सवाद की सिर्फ़ मोटी-मोटी बातें बताऊँगा और इसके मुश्किल हिस्सों को छोड़ दूंगा। यह जोड़-गांठकर बनाई हुई-सी चीज़ होगी, मगर मेरा काम यह भी नहीं है कि इन ख़तों में किसी चीज़ की पूरी और लम्बी-चौड़ी तसवीरें दूं।

मैं कह चुका हूँ कि समाजवाद कई तरह का होता है। मगर उद्देश्य की इस एक बात में सब सहमत हैं कि पैदावार और उसे बांटने के साधनों पर यानी ख़ानों, ज़मीन, कारख़ानों, रेलवे और बैंकों वग़ैरा संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण यानी क़ब्ज़ा रहे। कल्पना यह है कि व्यक्तियों को अपने ख़ानगी फ़ायदे के लिए इन साधनों या संस्थाओं से और दूसरों की मेहनत से काम न लेने दिया जाय। आज तो ये ज्यादातर अलग-अलग आदमियों के हाथ में हैं और वे ही इनसे काम लेते हैं। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग मालामाल होकर आनन्द भोगते हैं और समाज का ख़ूब नुक़सान होता है और आम जनता ग़रीब बनी हुई है। उत्पत्ति के इन साधनों के मालिकों और अधिकारियों की भी बहुत सारी ताक़त आजकल आपस की गहरी रक़ाबत या लाग-डांट में—एक दूसरे से लड़ने में—ही ख़र्च हो जाती है। अगर इस ख़ानाजंगी के बजाय समझदारी के साथ पैदावार का और ख़ूब विचारपूर्वक बँटवारे का इंतज़ाम कर दिया जाय तो समाज की हालत कहीं अच्छी हो जाय और यह फ़िज़ूल की ज़बरदस्त लाग-डांट न रहे और जुदा-जुदा वर्गों और देशों के बीच की धन-सम्बन्धी महान् असमानतायें मिट जायें। इसलिए उत्पत्ति, बँटवारा और कुछ दूसरे महत्त्व के काम ज्यादातर समाज यानी राज्य के हाथ में रहें; मतलब यह कि वे सारी जनता के क़ब्ज़े में आजायें। समाजवाद की यही मूल कल्पना है।

समाजवाद में राज्य या सरकार का रूप क्या हो, यह सवाल है तो बड़े महत्त्व का, मगर अभी हमें उसकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं है।

समाजवाद के आदर्श की बात पर एकराय होजाने के बाद दूसरी बात यह

करने की यह रह जाती है कि उसे हासिल कैसे किया जाय ? यहींसे समाजवादियों में मतभेद शुरू होता है। उनमें कई दल हैं और वे अलग-अलग रास्ते बताते हैं। मोटे तौर पर उनके दो हिस्से किये जा सकते हैं : (१) धीरे-धीरे परिवर्त्तन और विकास चाहनेवाले दलों का यह विश्वास है कि एक-एक क़दम बढ़ाकर चलना चाहिए और पार्लमेण्टों के जरिये काम करना चाहिए। ब्रिटिश मजदूर दल और फ़ैबियन लोग इसी वर्ग में हैं। (२) क्रान्तिकारी दलों का विश्वास यह है कि पार्लमेण्टों से कुछ बहुत मिलनेवाला नहीं है। दूसरे वर्ग में ज्यादातर लोग मार्क्स-वादी हैं। कभी-कभी ये लोग भी पार्लमेण्टों में पहुँचते हैं, मगर इनका मतलब दूसरे दलों से मिल-जुलकर काम करना नहीं बल्कि अडंगे डालना और झगड़ा खड़ा करना होता है।

पहला यानी विकासवादी दल अब बहुत छोटा-सा रह गया है। इंग्लैण्ड में भी अब इसकी ताक़त कम हो रही है और इसके, उदार (लिबरल) दल के और दूसरे असमाजवादी दलों के बीच का भेद मिटता जा रहा है। इसलिए अब मार्क्सवाद को ही आमतौर पर समाजवादी मत समझ लेना चाहिए। मगर मार्क्सवादियों में भी योरप में दो मुख्य भेद हैं। एक तरफ़ रूसी साम्यवादी हैं और दूसरी तरफ लोकसत्ता के माननेवाले जर्मनी, आस्ट्रिया और दूसरे देशों के समाजवादी हैं। इन दोनों में जरा भी प्रेम नहीं है। महायुद्ध के वक़्त और बाद में भी ये लोकसत्तावादी अपने दावे पूरे नहीं कर सके, इसलिए इनकी पुरानी इज्जत बहुत कम होगई। इनमें से ज्यादा जोशीले लोग तो बहुत-से साम्यवादियों में जा मिले हैं, मगर अब भी पश्चिमी योरप के विशाल मजदूर-संघों का संचालन इन्हींके हाथों में है। रूस में कामयाबी मिल जाने के कारण साम्यवादी मत बढ़ रहा है। आज योरप और दुनिया-भर में यही पूँजीवाद का सबसे बड़ा विरोधी है।

तो फिर यह मार्क्सवाद है क्या ? यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-इच्छाओं को समझने का एक तरीक़ा है। इसमें उसूल भी हैं और कुछ कर गुजरने की पुकार भी है। यह ऐसा तत्त्वज्ञान है जो मनुष्य-जीवन के ज्यादा-तर कामों के बारे में कुछ-न-कुछ बात बताता ही है। इसमें मानव इतिहास पर—गुजरे हुए, आजकल के और आगे आनेवाले जमाने पर—विचार करके यह साबित करने की कोशिश की गई है कि यह सब कड़े तर्कों या दलीलों के मुताबिक चलने-वाली प्रणाली है और 'क़िस्मत' की तरह इसके क़ानून भी टल नहीं सकते। जिन्दगी यों बिलकुल दलीलों पर चलनेवाली और कड़े नियमों और प्रणालियों पर इतनी ही निर्भर हो, ऐसा बहुत साफ़ तो नहीं दीखता और बहुत लोगों को इसमें शुबहा भी है;

मगर मार्क्स ने वैज्ञानिक ढंग से पिछले इतिहास को देखा और उससे कुछ खास नतीजे निकाले। उसे मालूम हुआ कि इनसान को शुरू से ही जिन्दगी की लड़ाई करनी पड़ी है। यह लड़ाई कुदरत के साथ भी थी और आदमी के साथ भी। आदमी को खाना और दूसरी जीवन-सामग्री जुटाने के लिए काम करना पड़ा। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे उसके तरीक़े बदलते और पेचीदा और प्रगतिशील होते गये। मार्क्स की राय के मुताबिक़ रोजी हासिल करने के ये तरीक़े इनसान और समाज की जिन्दगी में सभी युगों में सबसे महत्व की बात रहे हैं। इतिहास के हरेक युग में इन तरीकों की प्रधानता रही और उस युग के सारे कामों और सामाजिक सम्बन्धों पर इसका असर पड़ा। जैसे-जैसे ये बदले वैसे-वैसे बडी-बडी ऐतिहासिक और सामाजिक तब्दीलियाँ हुईं। इन ख़तों के दौरान में हम कुछ हद तक तो देख चुके हैं कि इन तब्दीलियों का कितना बड़ा असर हुआ है। उदाहरण के लिए, जब पहले-पहले खेती शुरू हुई तो बड़ा भारी फ़र्क़ होगया। आवारा फिरनेवाले खानाबदोश लोग बस गये और गाँव और शहर बन गये। खेती से पैदावार बढ़ी तो माल बच रहा और आबादी बढ़ी। दौलत और फ़ुर्सत की वजह से कला-कौशल यानी कारीगरी पैदा हुई। दूसरी मिसाल औद्योगिक क्रान्ति की भी जाहिर है। पैदावार के लिए बडी-बडी मशीनों के जारी होने से दूसरा बड़ा भारी अन्तर पैदा हुआ। इसी तरह और भी बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

इतिहास के किसी ख़ास समय में पैदावार के तरीक़े वैसे ही होते हैं जितनी लोग निश्चित रूप में प्रगति कर चुके होते हैं। उत्पत्ति के इस काम के बीच में और इसके कारण मनुष्यों के आपसी ताल्लुक़ात क़ायम होते हैं: जैसे चीजों का तबादला, खरीदना, बेचना और विनिमय वग़ैरा। ये ताल्लुक़ात उत्पत्ति यानी पैदावार के तरीक़ों के मुताबिक़ होते हैं। ताल्लुक़ात मिलकर समाज का माली ढाँचा बनाते हैं। इसी आर्थिक बुनियाद पर क़ानून, राजनीति, सामाजिक रीति-रिवाज, विचार और दूसरी सब बातों की उठान होती है। इसलिए मार्क्स के इस ख़याल के मुताबिक़ जैसे-जैसे पैदावार के तरीक़े बदलते हैं वैसे-वैसे आर्थिक रचना भी बदलती है और उसका नतीजा यह होता है कि लोगों के विचारों, क़ानूनों और राजनीति वग़ैरा में भी तब्दीलियाँ होती हैं।

इतिहास के बारे में मार्क्स का यह भी ख़याल था कि वह जुदा-जुदा वर्गों के आपसी संघर्ष का एक रेकर्ड यानी बयान है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ में उत्पत्ति के साधन होते हैं उसीकी प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गों की मेहनत से बेजा

फ़ायदा उठाता है। जो परिश्रम करते हैं उन्हें अपनी मेहनत का पूरा फल नहीं मिलता। उन्हें जिन्दगी की मामूली जरूरियात के लिए भी मुश्किल से थोड़ा-सा हिस्सा मिलता है और वाक़ी का सारा हिस्सा शोषक यानी उनको चूसनेवाले वर्ग को मिलता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फ़ालतू धन से और भी धनवान वनता है। चूंकि उत्पत्ति पर इस वर्ग का क़ब्जा होता है इसलिए राज्य या सरकार पर भी इसीका नियंत्रण या दवाव रहता है और इस तरह इस शासक-वर्ग की रक्षा करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य रह जाता है। मार्क्स कहता है: "राज्य सारे शासक-वर्ग के काम-काज का इंतजाम करने के लिए हमारी प्रवंध-समिति यानी इंतजामिया कमेटी है।" इसी ग़रज से क़ानून वनाये जाते हैं और तालीम, मजहव और दूसरे जरियों से लोगों को यह समझाया जाता है कि इस वर्ग की प्रभुता न्यायानुकूल और स्वाभाविक है। इस तरह सरकार और क़ानून के इस वर्गीय रूप को छिपाने की हर तरह कोशिश की जाती है, ताकि दूसरे शोषित वर्ग असली हालत न जान सकें और उनमें असंतोष पैदा न हो। मगर कोई शख्स नाराज होकर इस प्रणाली का सामना करता है तो राज्य उसे समाज और सदाचार का दुश्मन और पुराने रीति-रिवाज तोड़नेवाला कहकर कुचल देता है।

मगर हज़ार कोशिश करने पर भी एक ही वर्ग सदा सवके सिर पर वैठा नहीं रह सकता। जिन कारणों से उसे यह ताक़त और हुकूमत हासिल होती है वे ही उसके ख़िलाफ़ काम करने लगते हैं। वह शासक और शोषक-वर्ग इसी कारण वन जाता है कि उस वक़्त के उत्पत्ति के साधन उसके हाथ में होते हैं। जव पैदावार के तरीक़े नये होते हैं तो उनपर क़ावू भी नये वर्गों का होजाता है और वे किसीसे दवकर रहना नहीं चाहते। नये-नये विचार मनुष्यों के दिल और दिमाग़ में हलचल मचा देते हैं और जिसे विचार-क्रान्ति कहते हैं वह होने लगती है। इससे पुराने ख़यालात और उसूलों की वेड़ियाँ टूटती हैं। और इस उठते हुए नये वर्ग के और सत्ता से चिपटे रहनेवाले पुराने वर्ग के वीच में कशमकश होती है। नये वर्ग के हाथ में आर्थिक सत्ता यानी माली ताक़त होती है, इसलिए जीत उसीकी होती है और पुराने वर्ग का खेल ख़त्म होकर वह नेस्त-नावूद हो जाता है।

इस नये वर्ग की विजय राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह की होती है। यह उत्पत्ति के नये तरीक़ों की फतह की निशानी होती है और इसके पीछे-पीछे समाज की सारी रचना में ही तव्दीली होने लगती है—नये ख़यालात, नई राजनैतिक रचना, क़ानून, रीति-रिवाज, सभी वातों पर असर पड़ता है। अव यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गों के लिए शोषक-वर्ग वन जाता है और फिर उन वर्गों में से किसी एक के हाथों

वह हटा दिया जाता है। इस तरह जबतक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा तबतक यह कशमकश चलती रहेगी, जैसे कि अबतक चलती आई है। यह झगड़ा उसी वक़्त ख़त्म होगा जब अनेक वर्ग न रहकर सिर्फ़ एक ही वर्ग रह जायगा; क्योंकि तब शोषण की गुंजायश ही नहीं रहेगी। कोई वर्ग अपना शोषण तो कर नहीं सकता। इसलिए, उसी वक़्त समाज में समझौता और सहयोग होगा। फिर यह आज का-सा लगातार संघर्ष और प्रतिस्पर्धा न रहेगी। और राज्य के लिए आज दमन का काम जो मुख्य हो रहा है वह भी न रहेगा; क्योंकि दबाने के लिए कोई वर्ग ही न होगा। इस तरह धीरे-धीरे राज्य ख़ुद मिट जायगा और अराजकतावाद का आदर्श नज़दीक आ जायगा।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस नज़र से देखता था कि वह अनिवार्य वर्ग-युद्ध की एक विशाल विकास-क्रिया है। ढेरों मिसाल और तफ़सील देकर उसने साबित किया कि गुज़िश्ता ज़माने में यह सब किस तरह हुआ, बडी-बडी मशीनों के आने से सामन्तशाही का युग पूंजीवादी ज़माने में कैसे बदल गया और जागीरदारों की जगह दौलतमन्द कैसे आगये। उसके मत से आख़िरी वर्ग-युद्ध हमारे ज़माने में अमीरों और मज़दूरों में हो रहा है। पूंजीवाद ख़ुद उस वर्ग की ताक़त और तादाद बढ़ा रहा है जो अख़ीर में पूंजीवाद पर ग़ालिब आकर वर्ग-रहित समाज और समाजवाद की स्थापना करेगा।

इतिहास को इस ढंग से देखने का तरीक़ा, जो मार्क्स ने समझाया, 'इतिहास की पदार्थमूलक या भौतिक धारणा' कहलाता है। इसे भौतिक इसलिए कहते हैं क्योंकि यह 'आदर्शवादी' तरीक़ा नहीं है और इस 'आदर्शवादी' शब्द का प्रयोग एक ख़ास मानी में मार्क्स के ज़माने के तत्त्ववेत्ताओं ने बहुत किया था। उस वक़्त विकास-वाद के विचार लोकप्रिय हो रहे थे। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जहाँतक प्राणी-समूहों की उत्पत्ति और विकास का ताल्लुक़ है, डार्विन ने ये ख़याल लोगों के दिमाग़ में जमा दिये थे। मगर इससे मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों के कारण समझ में नहीं आ सकते थे। कुछ तत्त्ववेत्ताओं ने अनिश्चित आदर्शवादी कल्पनाओं के ज़रिये यह बताने की कोशिश की कि मनुष्य की प्रगति मन की प्रगति पर निर्भर है। मार्क्स इन सब बातों को ग़लत कहता था। उसके ख़याल से बिना सिर-पैर की हवाई कल्पनायें और आदर्शवाद ख़तरनाक़ चीज़ें हैं, क्योंकि इस तरह से लोग तरह-तरह की निराधार बातों को मानने लग सकते हैं। इसलिए मार्क्स ने ज़्यादा अमली और वैज्ञानिक ढंग से घटनाओं और स्थिति को देखा। पदार्थमूलक या भौतिक शब्द इसीलिए प्रचलित हुआ।

मार्क्स ने लगातार शोषण और वर्ग-युद्ध की चर्चा की है। हममें से भी बहुत लोग करते हैं और हमें जोश भी आजाता है। मगर मार्क्स के ख़याल से नेक सलाह पर गुस्से में आने की कोई बात नहीं हो सकती। शोषण में शोषण करनेवाले व्यक्ति का क़सूर नहीं है। एक वर्ग पर दूसरे की प्रभुता होना ऐतिहासिक प्रगति का कुदरती नतीजा है। समय पाकर उसकी जगह दूसरी व्यवस्था होजायगी। अगर कोई आदमी सत्ताधारी वर्ग का है और उस हैसियत से दूसरों को चूसता है तो इसमें वह कोई भयंकर पाप नहीं करता। वह एक पद्धति का अंग है और उसे गालियां देना वाहियात बात है। व्यक्तियों और प्रणालियों के बीच का यह भेद हम बहुत भूल जाते हैं। हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मातहत है और हम अपनी सारी ताक़त लगाकर इस साम्राज्यवाद से लड़ते हैं। मगर जो अंग्रेज हिन्दुस्तान में इस प्रणाली का पोषण करते हैं उनका क्या क़सूर है? वे बेचारे एक बड़ी भारी मशीन के छोटे-छोटे पुर्जे हैं। उसकी चाल में जरा भी फ़र्क़ करना उनकी ताक़त के बाहर की बात है। इसी तरह हममें से भी कुछ लोग समूची जमींदारी-प्रथा को बुरी और किसानों के लिए बहुत ज्यादा नुक़सानदेह समझ सकते हैं, क्योंकि इससे उनको बुरी तरह चूसा जा रहा है। मगर इसका भी यह मतलब नहीं है कि जुदा-जुदा जमींदारों का कोई क़सूर है। पूंजीपतियों को अक्सर शोषण करनेवाले कहकर बुरा बताया जाता है, मगर उनकी बात भी ऐसी ही है। क़सूर सदा प्रणाली यानी तौर-तरीके का होता है, व्यक्तियों का नहीं।

मार्क्स ने वर्ग-युद्ध की तालीम नहीं दी। उसने यह साबित किया कि असल में वर्ग-युद्ध पहले से मौजूद है और किसी-न-किसी शक्ल में सदा से रहा है। 'पूंजी' नाम की किताब लिखने का उसका उद्देश्य यह था कि 'वर्तमान समाज की गति के आर्थिक नियम साफ़-साफ़, अपने नंगे रूप में, जाहिर हो जायें।' ऊपर का यह परदा हटा देने से समाज के जुदा-जुदा वर्गों की जबरदस्त आपसी कशमकश सामने आगई। वर्ग-युद्ध की तरह ये संघर्ष सदा प्रकट नहीं होते, क्योंकि प्रधान वर्ग हमेशा अपने वर्गीय रूप को छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन जब वर्तमान व्यवस्था के लिए ही ख़तरा पैदा होजाता है तब प्रधान वर्ग सारे बहाने और आड़ छोड़कर असली शक्ल में जाहिर होजाता है और फिर वर्ग-वर्ग में खुली लड़ाई होने लगती है। जब यह होता है तब लोकसत्ता, साधारण क़ानून और जाब्ता सब ताक में रख दिये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये वर्ग-युद्ध ग़लतफ़हमी या आन्दोलकों की शरारत के कारण होते हैं। मगर बात ऐसी नहीं है। यह तो समाज के स्वभाव में है और असल में जब हित-विरोध की बात लोग अच्छी तरह समझने लगते हैं तब तो वर्ग-युद्ध और भी बढ़ जाते हैं।

अब जरा मार्क्स के इन उसूलों का मुक़ाबिला हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत से करो। ब्रिटिश सरकार का शुरू से यह दावा है कि हिन्दुस्तान में उसकी हुकूमत का पाया इनसाफ़ और हिन्दुस्तानियों की भलाई है। पहले हमारे बहुत-से देशवासी भी जरूर यह मानते थे कि इस दावे में थोडी सचाई है। मगर अब तो इस शासन के ख़िलाफ़ बड़ा सार्वजनिक आन्दोलन खड़ा होकर इसे जोरदार चुनौती दे रहा है; इस कारण इसकी असली शक्ल बडे ही भद्दे और नंगे तरीक़े पर जाहिर होरहो है। आज अन्धे को भी दीख सकता है कि बन्दूक़ों के बल पर चलनेवाले इस साम्राज्य-वादी शोषण की असलियत क्या है। इसके ऊपर का सुहावनी सूरतों और चिकनी-चुपडी बातों का सारा मुलम्मा जाता रहा है। आर्डिनेंसों और भाषण, सम्मेलन और लेखन यानी बोलने, मिलने और लिखने के प्रारम्भिक अधिकारों के दमन ने देश के साधारण कानून और जाब्ते की जगह लेली है। मौजूदा हुकूमत की जितनी ज्यादा मुख़ालफ़त होगी, यह हालत उतनी ही बढ़ती जायगी। जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिए ख़तरनाक होजाता है तब भी यही हाल होता है। यह भी आज हमारे देश में होता हुआ हम देख रहे हैं। किसानों और मजदूरों को और उनके लिए काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं को अमानुषिक सजायें दी जाती हैं।

इस तरह इतिहास के बारे में मार्क्स का उसूल यह था कि समाज सदा बद-लता और बढ़ता रहता है। इसमें कोई चीज स्थिर नहीं है। इस कल्पना में गति ही गति है। कुछ भी होता रहे, यह तो आगे ही आगे बढ़ती है और एक तरह की सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर दूसरी आजाती है। लेकिन एक व्यवस्था उसी समय नष्ट होती है जब वह अपना काम पूरा कर चुकती है और उसका पूरी तरह विकास हो चुकता है। इससे पहले वह व्यवस्था नहीं मिटती। जब समाज उससे आगे बढ़ जाता है तब भी वह सिर्फ़ पुरानी व्यवस्था के वस्त्र उतारकर फेंक देता है और नई और बडी पोशाक पहन लेता है; क्योंकि पुराने कपडे तंग होकर बदन को जकड़ने लगते हैं।

मार्क्स के मत से इनसान का काम इस महान् ऐतिहासिक विकास-क्रिया में मदद पहुँचाना था। पहले की सब मंजिलें तय हो चुकीं। अब पूँजीवादी समाज और मजदूरवर्ग की आख़िरी लड़ाई होरही है। (अलबत्ता यह बात उन देशों की है जहाँ उद्योग-धंधे बहुत बढ़े-चढ़े हैं और पूंजीवाद का पूरा विकास हो चुका है। दूसरे देशों में जहाँ पूंजीवाद का विकास नहीं हुआ है, लड़ाई की शक्ल कुछ ख़िल्त-मिल्त और दूसरी ही तरह की है। मगर असलियत यह है कि वहाँ भी लड़ाई की कुछ-न-कुछ यही शक्ल है; क्योंकि संसार के देशों का सम्बन्ध एक-दूसरे से दिन-दिन ज्यादा बढ़ता

जा रहा है।) मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद को मुश्किल पर मुश्किल और मुसीबत पर मुसीबत का सामना करना पडेगा और अखीर में वह गिर पडेगा; क्योंकि उसमें समतौल तो कहीं है ही नहीं। यह बात लिखे हुए मार्क्स को साठ वर्ष से ऊपर होगये और तबसे पूंजीवाद के लिए नाज़ुक वक़्त भी बहुत आये। लेकिन उसका ख़ात्मा तो रूस के सिवा कहीं नहीं हुआ। वह अभी ज्यों-का-त्यों क़ायम है, बल्कि पहले से भी ज्यादा ताक़तवर हुआ है। हां, जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूं उस वक्त दुनियाभर में पूंजीवाद बुरी तरह बीमार दिखाई देता है और चिकित्सक लोग उसके अच्छा होने के बारे में सिर हिला-हिलाकर चिन्ता प्रकट कर रहे हैं।

कहा जाता है कि पूंजीवाद ने जो अपनी ज़िन्दगी इतनी बढ़ाली, इसका एक ख़ास कारण था, जो मार्क्स के ध्यान में भी पूरी तरह नहीं आया होगा। वह यह कि पश्चिम के जो देश उद्योग-धंधों में बहुत बढ़ गये हैं वे पिछडे हुए देशों पर राज्य करके उनका शोषण करते हैं। इससे पूंजीवाद को नई ज़िन्दगी और खुशहाली हासिल होगई और उसकी कीमत चुकानी पडी उन ग़रीब ग़ुलाम और चूसे जानेवाले देशों को।

हम इस बात की बहुत बार निन्दा करते हैं कि मौजूदा पूंजीवाद में ग़रीब का अमीर और मजदूर का पूंजीपति शोषण करते हैं। बात सोलह आने सही है। इसलिए नहीं कि पूंजीवादी का क़सूर है, बल्कि इसलिए कि इस प्रणाली का पाया ही इस तरह के शोषण पर है। मगर साथ ही हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि पूंजीवाद में ही यह कोई नई बात है। सभी पिछले युगों और सारी प्रणालियों में मजदूरों और ग़रीबों की क़िस्मत में शोषण तो रहा ही है। असल में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवादी शोषण के बावजूद वे आज पिछले ज़माने से ज्यादा खुशहाल हैं। पर इतना कहने से पूंजीवाद की अच्छाई साबित नहीं होती। उसके पक्ष में यह बहुत छोटी-सी बात है।

मार्क्सवाद का सबसे बड़ा आधुनिक व्याख्याता लेनिन हुआ है। उसने इसकी व्याख्या और अर्थ ही नहीं किये, उनके अनुसार आचरण भी किया। फिर भी उसने हमें यह चेतावनी दी है कि कहीं हम मार्क्सवाद को कोई ऐसा सिद्धान्त न मान बैठें जिसमें किसी तरह के उलट-फेर की गुंजाइश न हो। उसे इसके तत्त्व की सचाई पर विश्वास था, मगर वह इसकी हरेक छोटी-छोटी बात को मानने और हर कहीं बिना सोचे-समझे लागू करने को तैयार नहीं था। वह हमें बताता है—"हम किसी भी मानी में मार्क्सवाद को कोई ऐसी चीज नहीं समझते कि वह सम्पूर्ण है और उसमें कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। इसके ख़िलाफ़ हमारा दृढ़ विश्वास है कि वे उसूल एक ऐसे विज्ञान के आधार हैं जिसकी समाजवादियों को हर दिशा में उन्नति

करनी चाहिए, वर्ना वे जिन्दगी की दौड़ में पीछे रह जायँगे । हमारे ख़याल से रूसी समाजवादियों के लिए मार्क्स के उसूलों का निष्पक्ष अध्ययन ख़ास तौर पर ज़रूरी है, क्योंकि इन उसूलों से सिर्फ़ रास्ते की तरफ़ इशारा करनेवाले मामूली विचार मिलते हैं । ये विचार इंग्लैण्ड, फ़्रांस, जर्मनी और रूस में अलग-अलग ढंग पर लागू हो सकते हैं ।"

इस ख़त में मैंने तुम्हें मार्क्स के उसूलों का कुछ हाल बताया है, मगर न मालूम इस भानमती के पिटारे से तुम्हें कुछ फ़ायदा होगा या नहीं और कोई साफ़ विचार मिलेंगे या नहीं । इन उसूलों को जान लेना इसलिए अच्छा है कि आज इनका विशाल जन-समूहों पर असर पड़ रहा है और इनसे हमें अपने देश में भी मदद मिल सकती है । रूस के महान् राष्ट्र और सोवियट संघ के दूसरे हिस्सों ने मार्क्स को अपना बड़ा पैग़म्बर बनाया है और आज के कष्ट-पीड़ित संसार में बहुत लोग इलाज और प्रेरणा के लिए उसकी तरफ़ आँखें लगाये हुए हैं ।

मैं इस ख़त को अंग्रेज़ कवि टेनीसन की कुछ पंक्तियों के साथ ख़त्म करूँगा :

"The old order changeth yielding place to new,
And God fulfils himself in many ways,
Lest one good custom should corrupt the world."

पुरानी व्यवस्था बदल कर नई के लिए जगह ख़ाली करती है;
और परमात्मा का काम कई तरीक़ों से पूरा होता रहता है, ताकि ऐसा न हो कि कहीं एक अच्छा रिवाज सारी दुनिया को ख़राब करदे ।

मार्क्स का प्रथाओं के बदलने में विश्वास था, लेकिन धर्म में उसकी श्रद्धा नहीं थी । उसे तो वह 'लोगों के लिए अफ़ीम' बताता था ।

: १३५ :

इंग्लैण्ड का विक्टोरिया-युग

२२ फ़रवरी, १९३३

समाजवादी विचारों के विकास का वर्णन करते हुए मैंने अपने ख़तों में तुम्हें बताया है कि अंग्रेज़ों का समाजवाद सबसे नरम ढंग का रहा है । उस वक्त योरप में जितनी विचार-सरणियाँ प्रचलित थीं उनमें यह सबसे कम क्रांतिकारी था । हालत सुधारने के लिए यह बहुत धीरे-धीरे तब्दीली होने की बाट देखा करता था । कभी-कभी जब व्यापार बिगड़ जाता, मन्दी फैल जाती, बेकारी बढ़ जाती, मजदूरी घट जाती और लोगों को तकलीफ़ होने लगती, तब इंग्लैण्ड में भी क्रान्ति की लहर

उठ खडी होती थी। मगर जरा हालत अच्छी हुई कि फिर जोश ठण्डा पड़ जाता ।
उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों के विचारों की इस नरमी का इंग्लैण्ड की खुशहाली से गहरा ताल्लुक़ था, क्योंकि खुशहाली और क्रांति में मेल नहीं होता। क्रांति का अर्थ है बड़ा परिवर्तन, और जो लोग मौजूदा हालत से संतुष्ट-से होते हैं उन्हें और अच्छी हालत होजाने की अनिश्चित आशा पर अपने को जोखिम में डालकर साहस का काम कर बैठने की इच्छा नहीं होती।

उन्नीसवीं सदी असल में इंग्लैण्ड की महानता का समय था। अठारहवीं सदी में उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशों से पहले नये कारखाने बनाकर जो अगुआपन हासिल कर लिया था वह उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में भी क़ायम रहा। मैं कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारखाना था और उसमें दूर-दूर के देशों से आ-आकर धन की वर्षा होती थी। हिन्दुस्तान और दूसरे उपनिवेशों की लूट से उसके पास बेशक़ीमत और अटूट दौलत चली आ रही थी और उसकी प्रतिष्ठा खूब बढ़ती थी। जिस वक़्त योरप के क़रीब-क़रीब सभी मुल्कों में तब्दीलियाँ हो रही थीं उस वक़्त भी इंग्लैण्ड में कोई क्रांति या विस्फोट नहीं हुआ और वह चट्टान की तरह मजबूत और ठोस होकर खड़ा दिखाई देता था। समय-समय पर मुसीबतें जरूर आईं, मगर वह थोड़े-से और आदमियों को राय देने का हक़ देकर टाल दी गईं। हम यह भी देख चुके हैं कि इस बीच में फ़्रांस में एक के बाद एक प्रजातन्त्रों और साम्राज्यों का ताँता बँधा रहा; इटली में एक लम्बे जमाने की फूट के बाद सारा प्रायद्वीप एक होगया और एक नया राष्ट्र बन गया; और जर्मनी में एक नये साम्राज्य ने जन्म लिया। बेलजियम, डेनमार्क और यूनान जैसे छोटे-छोटे देश भी कई तरह बदले। आस्ट्रिया में तब भी योरप के सबसे पुराने राजघरानें हैप्सबर्ग की राजधानी थी, लेकिन उसे फ़्रांस, इटली और प्रशिया ने बार-बार नीचा दिखाया। सिर्फ़ पूर्व में रूसी ज़ार बडे मुग़लों को तरह निरंकुश शासन चला रहा था और रूस में कोई तब्दीली दिखाई नहीं दे रही थी। मगर वह औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था और किसानों का राष्ट्र था। नये विचारों और नये कारखानों की अभी उसे हवा भी नहीं लगी थी।

इंग्लैण्ड अपनी दौलत, अपने साम्राज्य और अपनी समुद्री ताक़त के कारण योरप और संसार-भर पर हावी होरहा था। वह बहुत बड़ा राष्ट्र होगया था और उसका जाल दुनियाभर में फैला हुआ था। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र अभीतक अपने भीतरी झगडों में फँसे हुए थे और उन्हें दुनिया के मामलों से घर की तरक्क़ी की ज्यादा फ़िक्र थी। आमदरफ़्त के जरियों में हैरतअंगेज तब्दीलियाँ हो

रही थीं और उनके कारण पृथ्वी छोटी और घनी होती दिखाई दे रही थी। इन बातों से भी इंग्लैण्ड को दूर देशों पर अपना पंजा मजबूत करने में मदद मिली। इन सब तब्दीलियों के होते हुए भी इंग्लैण्ड में सरकार की सूरत वही रही। वहाँ वैध यानी ऐसा राजा रहा जिसके हाथ में नाम-मात्र की सत्ता हो और सारी असली ताक़त पार्लमेण्ट की समझी जाय। इस पार्लमेण्ट को पहलेपहल मुट्ठीभर जमींदारों और धनी व्यापारियों ने चुना था, मगर बाद में जब-जब विकट स्थिति पैदा हुई तब-तब आफ़त टालने के लिए ज्यादा-ज्यादा लोगों को राय देने का हक़ दे दिया गया।

इस सदी के ज्यादातर हिस्से में विक्टोरिया इंग्लैण्ड की रानी थी। वह जर्मनी के हनोवर घराने की लड़की थी। इस घराने ने अठारहवीं सदी में ब्रिटिश राज-सिंहासन को जार्ज नाम के कई राजा दिये। विक्टोरिया १८३७ में गद्दी पर बैठी। उस वक़्त वह १८ वर्ष की लड़की थी। उसने सदी के अन्त यानी १९०० ई० तक ६३ वर्ष राज्य किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे समय को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इस तरह रानी विक्टोरियाने योरप में और दूसरे देशों में बहुत-सी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ देखीं, जिनसे पुराने जमाने के निशानात मिट गये और उनकी जगह पर नये क़ायम होगये। उसने योरप की क्रांतियाँ, फ़्रांस की तब्दीलियाँ, इटली के राज्य और जर्मनी के साम्राज्य का जन्म देखा। मरते समय वह एक तरह से योरप और योरप के राजाओं की दादी थी। मगर योरप में विक्टोरिया का सम-कालीन एक और राजा भी था, जिसका भी वैसा ही इतिहास है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजघराने का सम्राट् फ़्रांसिस जोजेफ़ था। जब क्रांति के वर्ष १८४८ ई० में वह अपने साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तो उसकी भी उम्र १८ वर्ष की ही थी। उसने ६८ वर्ष हुकूमत की और किसी तरह आस्ट्रिया, हंगरी और दूसरे हिस्सों को अपने मातहत एक करके रखने में कामयाब हुआ। लेकिन महासमर ने उसका और उसके साम्राज्य दोनों का काम तमाम कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा ख़ुशक़िस्मत थी। अपने शासन-काल में उसने इंग्लैण्ड की ताक़त को बढ़ते और उसके साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब गद्दी पर बैठी तब कनाडा में उपद्रव था। वहाँ खुली बग़ावत थी और उपनिवेश के बहुत-से बाशिन्दे इंग्लैण्ड से अलग होकर अपने पड़ौसी अमेरिका के संयुक्त राज्यों में मिल जाना चाहते थे। मगर इंग्लैण्ड ने अमेरिका की लड़ाई से सबक़ सीख लिया था और उसने जल्दी से कनाडा वालों को स्वशासन का बड़ा हिस्सा देकर राजी कर लिया। थोड़े समय बाद वह बढ़ते-बढ़ते अन्दरूनी मामलों में पूरी तौर पर आजाद उपनिवेश बन गया।

साम्राज्य में यह नये ढंग का प्रयोग था, क्योंकि आजादी और साम्राज्य साथ-साथ नहीं रह सकते। मगर परिस्थिति से मजबूर होकर इंग्लैण्ड को ऐसा करना पड़ा, वर्ना वह कनाडा को खो बैठता। कनाडा के ज्यादातर लोग अंग्रेजी नस्ल के थे, इसलिए मातृ-भूमि यानी मादरे वतन इंग्लैण्ड के साथ उन्हें बडी मुहब्बत थी। इधर इस नये देश में लम्बी-चौडी जमीन यूं ही पडी थी; उसका कोई विकास नहीं था और आबादी भी बहुत कम थी। इसलिए उसे अपनी तरक्क़ी के लिए अंग्रेजी माल और अंग्रेजी पूंजी पर निर्भर रहना पड़ता था। इस तरह उस वक़्त दोनों देशों के स्वार्थों में कोई विरोध नहीं था और उनके बीच में जो अजीब और नया रिश्ता क़ायम हुआ उसपर कोई जोर नहीं पड़ा।

इसी सदी में आगे चलकर अंग्रेजों की विदेशी बस्तियों को स्वराज्य देने के इस तरीक़े का और विस्तार हुआ। सदी के बीच तक आस्ट्रेलिया क़ैदियों को रखने की जगह थी। सदी के अन्त में वह साम्राज्य के भीतर आजाद उपनिवेश बना दिया गया।

दूसरी तरफ़ हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का पंजा और भी मजबूत होगया और लड़ाइयों पर लड़ाइयाँ करके और इलाक़े पर इलाक़े जीतकर यहाँ अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार किया गया। हिन्दुस्तान अंग्रेजों के पूरी तरह मातहत होगया। स्वशासन का नाम-निशान भी नहीं रहा। १८५७ का विद्रोह कुचल दिया गया और हिन्दुस्तान को साम्राज्य के पूरे बोझ का अनुभव करा दिया गया। मैं तुम्हें दूसरी जगह बता चुका हूं कि इंग्लैण्ड ने मुख्तलिफ़ तरीक़ों से हिन्दुस्तान को किस तरह लूटा और चूसा। बिला किसी शुबहे के ब्रिटेन का साम्राज्य हिन्दुस्तान ही था और संसार के सामने इस सचाई का ऐलान करने के लिए रानी विक्टोरिया ने हिन्दुस्तान की साम्राज्ञी की पदवी ग्रहण की। मगर हिन्दुस्तान के अलावा दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में और भी कई छोटे-छोटे देश इंग्लैण्ड के मातहत थे।

इस तरह दो क़िस्म के मुल्कों से बना हुआ ब्रिटिश साम्राज्य एक अजीब भानमती का पिटारा होगया। एक तरफ़ तो अपने अन्दरूनी मामलों में खुदमुख्तार देश थे जो बाद में आजाद उपनिवेश होगये, और दूसरी तरफ़ मातहत और रक्षित देश थे। पहली तरह के देश थोडे या बहुत एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे और मातृ-देश इंग्लैण्ड को अपना मुखिया मानते थे। दूसरी क़िस्म के देश साफ़ तौर पर चाकर और ग़ुलाम थे; उन्हें नीचा समझा जाता था, उनके साथ बुरा बर्ताव होता था और उनका शोषण किया जाता था। खुदमुख्तार उपनिवेशों के लोग ब्रिटिश या दूसरे यूरोपियन और उनकी औलाद थे और मातहत देशों के लोग ग़ैर-ब्रिटिश और ग़ैर-

यूरोपियन थे । ब्रिटिश साम्राज्य के दोनों हिस्सों में यह फ़र्क़ आजतक बना हुआ है ।

इंग्लैण्ड के पास दौलत भी थी और ताक़त भी । इसलिए वह सन्तुष्ट-सा था । बिलकुल सन्तुष्ट तो नहीं था, क्योंकि साम्राज्य की भूख कभी पूरी नहीं होती । सीमायें उसे नहीं सुहातीं और वह आगे-से-आगे बढ़ना चाहता है । फिर भी इंग्लैण्ड को ख़ास चिन्ता यह नहीं थी कि और ज्यादा कैसे लिया जाय, बल्कि यह थी कि जो मिल गया है उसकी हिफ़ाज़त कैसे की जाय ? हिन्दुस्तान उसके लिए सोने की चिड़िया थी । उसे अख़ीर तक अपने पंजे में रखने की उसे बडी ख़्वाहिश थी । उसकी सारी वैदेशिक नीति का आधार यह था कि हिन्दुस्तान उसके क़ब्ज़े में रहे और पूर्व के समुद्री रास्ते महफ़ूज़ रहें । इसी कारण उसने मिस्र में हाथ डाला और अख़ीर में उसे अपने क़ब्ज़े में किया; और इसी वजह से उसने ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में दस्तन्दाज़ी की । उसने बडी चालाकी से स्वेज नहर की कम्पनी के हिस्से ख़रीद कर नहर पर अधिकार पा लिया ।

उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में योरप के बहुतेरे दूसरे देशों की तरफ़ से इंग्लैण्ड को चिन्ता नहीं रही, क्योंकि उनके घर के झगडे ही बहुत थे और अक्सर वे आपस में लड़ते रहते थे । इंग्लैण्ड अपने उसी पुराने खेल के मुताबिक़ योरप में एक देश को दूसरे से लड़ाकर समतौल क़ायम रखता और उनके आपसी झगडों से ख़ुद फ़ायदा उठाता रहा । तीसरे नेपोलियन से उसे ख़तरा लगा था, मगर वह ख़त्म हो गया और फ़्रांस को सम्हलने मे कुछ वक़्त लग गया । जर्मनी अभी इतना नहीं बढ़ा था कि उसको संजीदगी के साथ मुख़ालिफ समझा जाता । लेकिन एक देश ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देनेवाला जरूर दिखाई देता था और वह था जारशाही रूस । वह पिछड़ा हुआ था, मगर नक़शे में वह बड़ा लम्बा-चौड़ा देश था । जैसे इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान और दक्षिणी एशिया में फैल गया था, वैसे रूस का विस्तार उत्तरी और मध्य-एशिया में हो चुका था । उसकी सरहद हिन्दुस्तान से बहुत दूर भी न थी । रूस की यह निकटता ब्रिटिश लोगों के लिए सदा ख़तरे की बात थी । मैंने हिन्दुस्तान का बयान करते वक़्त तुम्हें बता दिया है कि ब्रिटिश लोगों ने अफ़ग़ानिस्तान पर हमले किये थे और अफ़ग़ानों से लड़ाई की थी । इस सबका मुख्य कारण जारशाही रूस का डर था ।

योरप में भी इंग्लैण्ड और रूस की टक्कर हुई । रूस एक ऐसा अच्छा बन्दरगाह चाहता था जो बारहों महीने काम दे सके और जाडे में जिसका पानी जम न जाय । उसका इलाक़ा बहुत लम्बा-चौड़ा था, मगर उसके सारे बन्दरगाह कहीं-न-कहीं आर्टिक घेरे के पास थे और कुछ महीनों तक वहाँका पानी जमकर बर्फ़ हो जाता था ।

हिन्दुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान में, इसी तरह ईरान में, भी ब्रिटिश लोग उसे समुद्र तक नहीं पहुँचने देते थे। काले समुद्र का मुँह बास्फ़ोरस और दर्रे दानियाल पर तुर्कों का क़ब्ज़ा होने से बन्द था। पहले रूस ने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, मगर तुर्क लोग उससे ज्यादा ताक़तवर साबित हुए। इस वक्त तुर्कों का जोर घट गया था और जिस चीज पर रूस की अर्से से राल टपक रही थी वह उसके हाथ में आती दिखाई दी। उसने उसे लेने की कोशिश की। मगर इंग्लैण्ड आडे आगया और बिलकुल स्वार्थपूर्ण कारणों से वह तुर्कों का हिमायती बन गया। १८५४ ई० में क्रीमिया की लड़ाई से और बाद में दूसरी लड़ाई की धमकी से रूस की तलवार म्यान में ही रक्खी रह गई।

१८५४ से १८५६ तक की इसी क्रीमियन लड़ाई में वीरांगनाओं का एक स्वयं-सेविका-दल फ्लोरेंस नाईटिंगेल के नेतृत्व में घायलों की सेवा के लिए गया। उस वक़्त यह एक ग़ैरमामूली बात थी, क्योंकि विक्टोरिया-युग की मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ आजकल की बहुत-सी शिक्षित हिन्दुस्तानी स्त्रियों की तरह घर में पडी रहनेवाली और मुख्यतः दीवानख़ाने की शोभा बढ़ानेवाली थी। फ्लोरेंस नाइटिंगेल ने उनके सामने सेवा करने की एक नई मिसाल रक्खी और वे बहुत-सी औरतों को घर की चहारदीवारी से बाहर लाई। इस तरह स्त्रियों की उन्नति के आन्दोलन में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

ब्रिटेन की सरकार का ढांचा ऐसा था जिसे वैध एकतंत्री शासन या 'मुकुटधारी प्रजातंत्र' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि राजा के हाथ में असली ताक़त कुछ न थी और उसे वही कहना और करना पड़ता था जो पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मंत्री चाहते थे। राजनैतिक दृष्टि से वह मंत्रियों के हाथ की कठपुतली होता था और कहा यह जाता था कि वह 'राजनीति से परे' है। असल बात यह है कि कोई तेज बुद्धि या मजबूत इरादे वाला आदमी सिर्फ़ कठपुतली बनकर नहीं रह सकता और अंग्रेज राजाओं या रानियों को भी सरकारी मामलों में दख़ल देने के बहुत अवसर मिलते थे। आमतौर पर यह बात परदे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम ही नहीं हो पाता या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाजी पर बड़ा असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत ख़तरे में पड़ सकती है। वैध शासक में बड़ा गुण जो होना चाहिए वह है कौशल। अगर यह उसमें है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह कई तरह से अपना असर डाल सकता है।

विधान और क़ानून की रू से अमेरिका की तरह प्रजातन्त्रों के अध्यक्षों के पास पार्लमेण्ट वाले देशों के मुकुटधारी शासकों से कहीं ज्यादा सत्ता होती है। मगर

अध्यक्ष जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं और राजा लम्बे समय तक बने रहते हैं और चुपचाप ही सही, मगर काम-काज पर किसी ख़ास दिशा में लगातार असर डाल सकते हैं। राजा को साज़िश रचने और सामाजिक दबाव डालने के भी बहुत मौक़े मिलते हैं, क्योंकि सामाजिक दुनिया में उसीकी तूती बोलती है। असल में शाही दरबारों का सारा वायुमण्डल अधिकारवाद, ऊँच-नीच, पदवियों और वर्गों से भरा रहता है और उससे देशभर के लिए एक ख़ास पैमाना बन जाता है। इस चीज़ का सामाजिक समानता और वर्ग-नाश से मेल नहीं बैठ सकता। इसमें कोई शक नहीं कि इंग्लैण्ड के शाही दरबार का अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति बनाने और उनको समाज की वर्ग-व्यवस्था से सहमत करने में बड़ा असर पड़ा है। या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि जहाँ दुनिया के सारे बड़े-बड़े देशों में से राजाशाही यानी बादशाहत ग़ायब होगई वहाँ इंग्लैण्ड में वह अब भी बची रह गई है और उसका कारण यही है कि वहाँ लोगों ने ऊँच-नीच वर्ग की व्यवस्था को मंज़ूर कर रक्खा है। एक पुरानी कहावत है कि "हरेक अंग्रेज़ को किसी-न-किसी सामन्त से प्रेम है।" इसमें बहुत-कुछ सचाई है। योरप या अमेरिका में, और शायद जापान और भारत के सिवा एशिया में भी, कहीं वर्गभेद इतने तीव्र नहीं हैं जितने इंग्लैण्ड में हैं। यह ताज्जुब की बात है कि जो इंग्लैण्ड पहले राजनैतिक लोकसत्तावाद और उद्योगवाद का नेता रह चुका है वह आज सामाजिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ और मौलिक बातों में इतना अनुदार है।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट 'पार्लमेण्टों की जननी' कहलाती है। उसका जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण रहा है और बहुत-सी बातों में राजा की मनमानी से लड़ने में वह सबसे आगे रही है। उस एकतंत्री शासन की जगह मुट्ठीभर अमीरों की पार्लमेण्ट का राज्य क़ायम हुआ। फिर लोकसत्तावाद की सवारी गाजे-बाजे के साथ आई और बड़ी खींचतान के बाद ज्यादातर लोगों को पार्लमेण्ट की आम सभा के मेम्बर चुनने के लिए राय देने का हक़ मिला। अमल में इसका नतीजा यह नहीं हुआ कि शासन पर सचमुच लोकसत्तात्मक नियंत्रण क़ायम होगया, बल्कि इतना-सा ही नतीजा निकला कि धनवान कारख़ानेदारों के हाथ में पार्लमेण्ट की बागडोर आगई। लोक-सत्ता के बजाय धन-सत्ता क़ायम होगई।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट में शासन चलाने और क़ानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली पैदा होगई। यह दो दलों की प्रणाली कहलाती है। इन दोनों में कोई ख़ास फ़र्क नहीं था। उनके कोई विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनों अमीरों के गिरोह थे और उस वक़्त की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल में पुराने

ज़मींदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे में धनी कारखानेदारों की बहुतायत थी। मगर यह तो एक ही चीज के दो नामों वाली बात थी। वे पहले टोरी और ह्विग कहलाते थे। बाद में उन्नीसवीं सदी में उनका नाम अनुदार और उदार दल पड़ गया। पार्लमेण्ट के भीतर और बाहर वे एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ख़ूब शोर मचाते थे। मगर यह दोनों की मिली भगत का खेल था। एक दल के हाथ में सत्ता होती तब दूसरा दल विरोधी दल नाम धारण कर लेता। ताज्जुब की बात यह है कि सत्ताधारी दल 'सम्राट् की सरकार' और विरोधी दल 'सम्राट् का विरोधी दल' कहलाता था।

योरप के दूसरे देशों में दूसरी ही बात थी। वहाँ सचमुच अलग-अलग विचार और कार्यक्रम रखनेवाले दल होते थे और उनकी पार्लमेण्ट के भीतर और बाहर ख़ूब गर्मागर्म लड़ाई होती थी। मगर इंग्लैण्ड में तो घर की-सी बात थी, विरोध भी एक प्रकार का सहयोग होगया था, और दोनों दल बारी-बारी से सत्ताधारी और विरोधी बन जाते थे। ग़रीबों और अमीरों की सच्ची कशमकश और वर्ग-युद्ध पार्लमेण्ट में प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि दोनों बड़े-बड़े दल धनवानों के दल थे। न तो जनता के जोश को उभाड़नेवाले कोई मजहबी सवाल थे और न दूसरे यूरोपियन देशों के-से जातीय या क़ौमी सवाल थे। सदी के पिछले हिस्से में गरमी आई तो वह आयर्लैण्ड के राष्ट्रीय सदस्यों की तरफ़ से आई थी, क्योंकि उनके लिए आयर्लैण्ड की आज़ादी का सवाल राष्ट्रीय सवाल था।

जब इतने बड़े दो दल पार्लमेण्ट के लिए मेम्बर खड़े करें तो आज़ाद आदमियों या छोटे-छोटे गिरोहों के आदमियों का चुना जाना बहुत मुश्किल होता है। लोकसत्ता और मताधिकार के होते हुए भी ग़रीब वोटर को इस मामले में बोलने का कुछ भी हक़ नहीं होता। वह मानों दोनों में से किसी दल के उम्मीदवार के लिए राय देदे या घर बैठ रहे और राय ही न दे। और दोनों दलों के मेम्बरों को पार्लमेण्ट में कोई आज़ादी भी नहीं रहती। वे अपने-अपने दल के नेताओं की आज्ञा मानकर राय देने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। इसके बिना वे अपने दल को संगठित और मज़बूत नहीं बना सकते और न ताक़त हासिल कर सकते हैं। यह संगठन और एकरसता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, मगर इसे लोकसत्ता नहीं कह सकते।

हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड को अक्सर लोकसत्ता की उन्नति का नमूना बताया जाता है, मगर वहाँ भी लोकमत को बहुत ज्यादा कामयाबी नहीं मिली। शासन का बड़ा सवाल यह होता है कि जनता अपने ऊपर शासन करने के लिए अच्छे-से-अच्छे आदमी कैसे चुने? यह सवाल वहाँ भी संतोषजनक रूप में हल नहीं हुआ। अमल

में लोकसत्ता का यह अर्थ होता है कि लोग जोरदार व्याख्यानबाजी करें और ग़रीब वोटर या मतदाता ऐसे आदमियों को चुनदें जिनके बारे में वे कुछ भी नहीं जानते। आम चुनावों को खुला नीलाम कहा गया है, जहाँ तरह-तरह के वादे किये जाते हैं। मगर इन सब खामियों के होते हुए भी यह झूठी या नक़ली लोकसत्ता चलती रही, क्योंकि इंग्लैंड खुशहाल था और इस खुशहाली के कारण वहाँकी व्यवस्था नहीं टूटती थी और लोगों में एक हद तक सन्तोष रहता था।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इंग्लैण्ड के राजनैतिक दलों के दो बड़े नेता डिजरैली और ग्लैडस्टन थे। डिजरैली आगे चलकर बीकंस्फील्ड का अर्ल बना दिया गया था। वह अनुदार दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधानमंत्री बना। यह उसके लिए बड़ी कामयाबी की बात थी, क्योंकि वह यहूदी था और उसके कोई बड़े ताल्लुक़ात भी नहीं थे और यहूदियों को अंग्रेज लोग पसन्द भी नहीं करते। लेकिन सिर्फ़ अपनी योग्यता और लगन के जोर पर उसने अपने विरोध पर फ़तह हासिल की और वह रास्ता चीरकर आगे आगया। वह बड़ा साम्राज्यवादी था, उसीने विक्टोरिया को 'क़ैसरे हिन्द' बनाया। ग्लैडस्टन एक पुराने अंग्रेज धनी घराने का आदमी था, वह उदारदल का नेता बन गया और वह भी कई बार प्रधानमंत्री हुआ। जहाँतक साम्राज्यवाद और विदेशी नीति का ताल्लुक़ था वहाँतक ग्लैडस्टन और डिजरैली में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। मगर डिजरैली अपने साम्राज्यवाद की बात साफ़-साफ़ कहता था और ग्लैडस्टन पूरा अंग्रेज था। वह असलियत को मीठी बातों और मजहब की दुहाइयों में छिपा लेता था। वह ऐसा प्रकट करता था, गोया जो कुछ वह करता था उसमें परमात्मा की ख़ास तौर पर सलाह रहती हो। बालकन देशों में तुर्कों के जुल्मों के ख़िलाफ़ उसने बड़ा आन्दोलन मचवाया और डिजरैली ने उसके विरोध में तुर्कों का पक्ष लिया। असल में दोष तुर्कों और उनकी कई बालकन जातियों की रिआया इन दोनों का था। वे बारी-बारी से एक-दूसरे पर भयंकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैडस्टन ने आयलैंड के लिए होमरूल (स्वराज्य) का भी समर्थन किया। उसे कामयाबी नहीं मिली और अंग्रेजों ने इतनी मुख़ालफ़त की कि ख़ुद उदारदल के दो टुकड़े होगये और एक हिस्सा अनुदार दल में जा मिला। इन्हें अब यूनियनिस्ट कहते हैं, क्योंकि ये आयलैंण्ड के साथ मेल बनाये रखना चाहते हैं।

मगर इस बारे में और विक्टोरिया-युग की दूसरी बातों के बारे में तो अब अगले ख़त में ही ज्यादा बातें लिखूँगा।

: १३६ :

संसार का साहूकार इंग्लैण्ड

२३ फ़रवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड जो इतना सम्पन्न हुआ उसका कारण उसके उद्योग-धंधे और उपनिवेशों और मातहत देशों का शोषण था। उसकी बढ़ती हुई दौलत का आधार चार उद्योग थे। इन्हें प्रधान उद्योग कह सकते हैं। ये रुई, कोयला, लोहा और जहाज़-साज़ी थे। इनके साथ-साथ और इनसे अलग भी बेशुमार छोटे-बडे दूसरे उद्योग खडे होगये। बडे-बडे व्यवसाय-भवन और साहूकारी कोठियाँ बन गई। अंग्रेज़ों के व्यापारी जहाज़ दुनिया के हर हिस्से में पाये जाने लगे। वे ब्रिटिश माल ही नहीं ले जाते थे, बल्कि दूसरे उद्योग-प्रधान देशों का माल भी ले जाते थे। ये जहाज़ संसार के व्यापार की सामग्री को लेजाने के मुख्य साधन बन गये। लन्दन में लॉयड का बीमे का बड़ा दफ्तर संसार के समुद्री व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगों और व्यवसायों के मालिकों का नियंत्रण था।

देश में धन की बाढ़ आगई और ऊँचे और मध्यमवर्ग के लोग मालामाल होते चले गये। इस धन का कुछ हिस्सा मज़दूरों को भी मिला और उनका रहन-सहन भी ऊँचा होगया। धनवानों को जो इतना सारा धन मिला था उसका वे क्या करते? उसे पड़ा रखना तो बेवकूफ़ी होती। इसलिए हर कोई उद्योग-धंधों को उत्तेजन देने और ज्यादा-ज्यादा माल पैदा करके ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफ़ा करने लगा। इस धन के अधिकाँश भाग से इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड में नये-नये कारख़ाने, रेलें और दूसरे ऐसे ही धंधे जारी किये गये। थोडे अर्से बाद जब कारख़ानों की तादाद बहुत बढ़गई और देश में उद्योग-धंधों का पूरा जाल बिछ गया, तो नफ़े की दर घटना स्वाभाविक था, क्योंकि साथ-साथ स्पर्धा यानी लाग-डाँट भी बढ़ गई थी। तब पूँजीपतियों ने पूँजी लगाने को अधिक लाभदायक क्षेत्रों के लिए विदेशों में आँखें फैलाई और उन्हें साधन भी बहुतायत से मिल गये। दुनियाभर में रेल, तार और कारख़ाने बन रहे थे। योरप, अमेरिका, अफ़रीका और ब्रिटिश-राज्य के मातहत देशों में ऐसे बहुतसे कामों में ब्रिटेन की फ़ालतू पूँजी ख़ूब लगी। अमेरिका के संयुक्त राज्यों के पास प्राकृतिक धन की कमी नहीं थी, मगर वे तेजी से तरक्की कर रहे थे, इस कारण उनकी रेलों वगैरा में बहुत-सी ब्रिटिश पूँजी खप गई। दक्षिण अमेरिका में, और वहां भी ख़ासकर अर्जेण्टाइन में, अँग्रेज़ों ने बडे-बडे व्यापारी बग़ीचे लगा लिये। कनाडा और आस्ट्रेलिया की तो रचना ही ब्रिटिश रुपये से हुई। चीन में रिआयतों की जो लड़ाई हुई उसका कुछ हाल मैं

बता चुका हूँ। और हिन्दुस्तान पर तो अंग्रेजों का क़ब्ज़ा ही था। यहाँ उसने रेलों और दूसरों कामों के लिए अपनी मनमानी शर्तों पर क़र्ज़ा दिया।

इस तरह इंग्लैण्ड संसार का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सराफ़ा यानी पूंजी का बाजार होगया। मगर इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया भेजा जाता था तो कोई सोने, चाँदी या सिक्कों की बोरियाँ भर-भरकर इंग्लैण्ड से दूसरे मुल्कों को जाती थीं। आजकल व्यापार इस तरीक़े से नहीं होता। ऐसा हो तो काफ़ी सोना-चाँदी घूमने-फिरने को कहाँसे आये? बेवकूफ़ लोग सोने-चाँदी को बहुत ज्यादा महत्व देते हैं, मगर वे तो विनिमय के साधन मात्र हैं और माल को इधर-उधर पहुँचाने के काम आते हैं। इन्हें न कोई खा-पहन सकता है और न इनसे और कुछ काम निकल सकता है। इनके जेवर अलबत्ता बन सकते हैं, मगर उनसे किसीको कोई फ़ायदा नहीं। सच्चा धन तो ऐसे माल का हाथ में होना है जो किसी काम आ सके। इस तरह ब्रिटिश पूंजीपतियों के रुपया उधार देने का अर्थ यह हुआ कि वे विदेशी कारख़ानों या रेलों में एक रक़म लगाते थे, मगर नक़द रुपया न भेजकर उसके बराबर की क़ीमत का अंग्रेजी माल देते थे। इस तरह ब्रिटिश मशीनों और रेलों का सामान दूसरे देशों को भेजा जाता था। इससे ब्रिटिश उद्योग-धंधों को मदद मिलती थी और साथ ही साथ ब्रिटिश पूंजीपतियों को अपनी फ़ालतू पूंजी बढ़िया मुनाफे के कामों में लगाने के साधन मिलते थे।

साहूकारी मुनाफे का धन्धा है और इंग्लैण्ड ने जितना ही इसे अपनाया उतना ही वह मालदार हुआ। इससे एक बड़ा निठल्ला वर्ग पैदा होगया। वह केवल व्यवसाय के मुनाफे और हिस्से पर गुजर करने लगा। इन लोगों को किसी चीज को बनाने या पैदा करने के लिए कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती थी। उनके किसी रेलवे-कम्पनी, चाय के बग़ीचे या किसी और-व्यापार में हिस्से होते थे और उनका मुनाफ़ा उनके पास वक़्त पर पहुँच जाता था। इन निठल्ले अंग्रेजों की फ्रेन्च रिवीरा, इटली और स्वीजरलैण्ड जैसी अच्छी-अच्छी जगहों में बस्तियाँ बस गई। हाँ, इनमें से ज्यादातर लोग तो इंग्लैंड में ही रहे।

जिन देशों ने इस तरह इंग्लैण्ड से क़र्ज़ लिया था वे सब ब्याज या मुनाफ़ा किस तरह चुकाते थे? यह भी वे सोना-चाँदी की शक्ल में नहीं भेज सकते थे। उनके पास ये पदार्थ साल-दर-साल देने को काफ़ी थे भी नहीं। इसलिए वे माल की शक्ल में अदा करते थे। पक्का माल तो इतना नहीं देते थे, क्योंकि ख़ुद इंग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशों में मुखिया था। मगर वे खाद्य पदार्थ और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहां से इंग्लैण्ड की ओर गेहूं, चाय, क़हवा, मांस, फल, शराब, रुई और ऊन वग़ैरा की अटूट धारा बहती थी।

दो देशों के व्यापार का अर्थ है चीज़ों का तबादला। यह मुमकिन नहीं कि एक ख़रीदता ही रहे और दूसरा बेचता ही चला जाय। ऐसा कोई करने लगे तो चुकारा सोना या चांदी के रूप ही में करना पड़ेगा और वहाँ थोड़े ही समय में सोना चांदी ख़तम होजायगा या फिर एकतर्फ़ा व्यापार अपनेआप बन्द होजायगा। परस्पर व्यवसाय में लेन-देन दोनों होते हैं और वे घटते-बढ़ते रहते हैं। कभी कोई देश बेचता अधिक है तो कोई ख़रीद ज्यादा लेता है। अगर हम उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड के व्यापार की जाँच करें तो मालूम होगा कि सारी बातों को देखते हुए इंग्लैण्ड से जितना माल बाहर गया उससे ज्यादा माल उसके यहाँ आया। यानी, हालांकि उसने भारी मिक़दार में माल बाहर भेजा, ताहम उसने उससे ज्यादा क़ीमत का माल मँगवाया। फ़र्क़ इतना ही था कि उसने भेजा पक्का माल और मँगाया ज्यादातर कच्चा माल और खाद्य पदार्थ। इस तरह जाहिरा तौर पर तो उसने ख़रीदा ज्यादा और बेचा कम, और यह व्यापार करने का कोई अच्छा तरीक़ा मालूम नहीं होता। मगर असल बात यह थी कि उसके आयात की अधिकता उसके उधार दिये हुए रुपये का मुनाफ़ा ही थी। यह वह नजराना या कर था जो क़र्ज़दार देश या हिन्दुस्तान-जैसे मातहत मुल्क उसे भेजते थे।

लगी हुई सारी पूंजी का मुनाफ़ा इंग्लैण्ड में ही नहीं पहुँच जाता था। उसका बहुत-सा हिस्सा क़र्ज़दार देश में रह जाता था और उसे ब्रिटिश पूंजीपति फिर वहीं लगा देते थे। इस तरह, बिना नई पूंजी लगाये या इंग्लैण्ड से माल भेजे हुए, विदेशों में लगी हुई अंग्रेज़ों की पूंजी की रक़म बढ़ती जाती थी। हिन्दुस्तान में हमें बार-बार याद दिलाया जाता है कि रेलों, नहरों और बहुत-से दूसरे कामों में अंग्रेज़ों का बेशुमार रुपया लगा हुआ है और इस हिसाब से हिन्दुस्तान पर इंग्लैण्ड का बड़ा भारी क़र्ज़ा बताया जाता है। हिन्दुस्तानियों को इसपर कई तरह का एतराज है, परन्तु यहाँ उस बात की चर्चा करने की जरूरत नहीं। हाँ, इतना ध्यान में रखना चाहिए कि लगी हुई पूंजी की इस भारी रक़म में इंग्लैंड से आया हुआ नया रुपया बहुत नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान में कमाया हुआ मुनाफा यहीं फिरसे लगाया हुआ है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि प्लासी और क्लाइव के समय में सचमुच अंग्रेज हिन्दुस्तान से बहुत-सा सोना और ख़ज़ाना इंग्लैण्ड ले गये थे। उसके बाद हिन्दुस्तान के शोषण का तरीक़ा दूसरा होगया और इतना खुला नहीं रहा और मुनाफ़े का कुछ हिस्सा इसी देश में व्यवसाय में फिर लगा दिया गया।

इंग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का संसार-व्यापी धन्धा चलाने का सिर्फ़ यही उपाय सम्भव है कि माल के रूप में व्याज लेना मंजूर किया जाय। मैं तुम्हें

ऊपर वता चुका हूँ कि सोना ही लेने की जिद नहीं रक्खी जा सकती थी। इसके दो वडे नतीजे हुए। एक तो इंग्लैण्ड ने अपने लोगों के खाने के लिए वाहर से खाद्य-पदार्थ आने दिये और अपनी खेती को विगाड़ लिया। उसने वाहर वेचने के लिए कारखानों में पक्का माल तैयार करने पर सारा जोर लगा दिया और अपने किसानों की हालत पर ध्यान नहीं दिया। अगर वाहर से खाने की चीजें सस्ती मिल जायें तो घर में पैदा करने की झंझट क्यों की जाय ? और अगर कारखानों से ज्यादा लाभ हो सके तो खेती करने की तकलीफ़ क्यों गवारा की जाय ? इस तरह इंग्लैण्ड निरा उद्योग-प्रधान देश वन गया और खाने के लिए विदेशों पर निर्भर रहने लगा।

दूसरा नतीजा यह हुआ कि उसने मुक्त-व्यापार (Free Trade) की नीति इख्तियार करली, यानी उसके वन्दरगाहों पर दूसरे देशों से आकर जो माल उतरता था उसपर वह या तो कर लगाता ही न था या बहुत कम लगाता था। चूंकि वह मुख्य औद्योगिक देश था, इसलिए पक्के माल के मामले में उसे बहुत वक्त तक स्पर्धा या लाग-डाँट का डर नहीं था। विदेशी माल पर महसूल लगाने का मतलब होता विदेशों से आनेवाली अपनी ख़ूराक और कच्चे माल पर महसूल लगाना। इससे जनता के भोजन का दाम बढ़ता और अपने ही पक्के माल की क़ीमत भी बढ़ती। इसके सिवा, अगर भारी टैक्स लगाकर वह विदेशी माल को अपने यहाँ आने से रोक देता तो विदेशी क़र्ज़दार अपना क़र्ज़ इंग्लैण्ड को कैसे चुकाते ? वे तो माल देकर ही क़र्ज़ चुका सकते थे। यही कारण था कि जहाँ दूसरे सब उद्योग-प्रधान देश संरक्षण-करों के तरफ़दार (Protectionist) थे, यानी वे विदेशी माल पर टैक्स लगाकर अपने बढ़ते हुए उद्योग-धंधों की रक्षा कर रहे थे, वहाँ इंग्लैण्ड ने मुक्त-व्यापार की नीति ग्रहण कर रक्खी थी। संयुक्तराज्य, फ़्रांस, जर्मनी सब संरक्षणवादी थे।

मुक्त-व्यापार और संरक्षणवाद का सवाल हर मुल्क में पैदा होचुका है और उसपर गर्मागर्म वहस हुई है। आज तो असल में सारी दुनिया के सामने यह सवाल है। इंग्लैण्ड के दोनों वडे दलों में अर्से तक मतभेद का यही मुख्य विषय रहा। उदार-दल वाले मुक्त व्यापार के तरफ़दार थे। शायद इस सवाल का ऐसा जवाब नहीं दिया जा सकता जो हर हालत में लागू हो सके। मैं तुम्हें याद दिलाऊँ कि जब अंग्रेज़ लोग यहाँ आये ही आये थे तब उन्होंने हिन्दुस्तानी कपडे को इंग्लैण्ड में न घुसने देने के लिए उसपर भारी चुंगी लगाई थी। उस वक्त इंग्लैण्ड संरक्षणवादी था, क्योंकि इसीमें उसे सहूलियत थी। बाद में मुक्त या खुला व्यापार उसके अनुकूल पड़ने लगा तो वह उसका तरफ़दार होगया। और अब कुछ महीनों से वह फिर संरक्षण-वादी देश बन गया

हैं और उसने विदेशी माल पर भारी चुंगी लगा दी है। मगर अब वह दुनिया का साहूकार नहीं रहा।

उन्नीसवी सदी में अंग्रेजों ने खेती की उपेक्षा करने, उद्योग-धंधों पर सारा जोर लगाने, खाने को बाहर से मँगा लेने और बाहर के मुनाफ़े पर मौज करने की जो नीति रक्खी, वह उस वक्त तो फ़ायदेमन्द और सुहावनी लगी, मगर उसमें ख़तरा तो था ही और वह अब सामने आ रहा है, उस नीति का आधार इंग्लैण्ड का उद्योग-धंधों में हावी होना और उसका जबरदस्त विदेशी व्यापार था। लेकिन यह प्रधानता न रहे और साथ-साथ विदेशी व्यापार भी बरबाद होने लगे तो ? उस हालत में वह खाने का दाम कैसे चुकावे ? और अगर चुका भी दिया तो किसी जबरदस्त दुश्मन के रास्ता रोक लेने की हालत में वह ख़ूराक उसे बाहर से मिल ही कैसे पायेगी ? पिछले महायुद्ध में वहांके लोगों को आधा भूखा रहना पड़ा था, क्योंकि खाद्य पदार्थों के आने के जरिये क़रीब-क़रीब कट गये थे। इससे भी बड़ा ख़तरा यह है कि विदेशी स्पर्धा की वजह से उसका विदेशी व्यापार दिन-दिन गिरता जा रहा है। यह स्पर्धा उन्नीसवीं सदी के आख़री बीस सालों में ज्यादा स्पष्ट होगई है, क्योंकि तभीसे अमेरिका और जर्मनी भी विदेशी बाजार ढूंढने लगे हैं। धीरे-धीरे दूसरे देश भी उद्योग-प्रधान बन गये और इस तलाश में शरीक होगये; और अब तो क़रीब-क़रीब सारा संसार किसी-न-किसी हद तक उद्योगवादी हो चला है। हर देश अपनी जरूरत का माल ज्यादा-से-ज्यादा खुद तैयार करके विदेशी माल को अपने यहाँ नहीं आने देना चाहता। हिन्दुस्तान विदेशी कपडे की आमद रोकना चाहता है। तब लंकाशायर और विदेशी व्यापार पर निर्भर रहनेवाले दूसरे ब्रिटिश उद्योग क्या करें ?

इन सवालों का जवाब देना इंग्लैण्ड के लिए मुश्किल है और उसके बुरे दिन भी आते दिखाई दे रहे हैं। वह कछुआ बनकर कोने में नहीं बैठ सकता और न अपनी ख़ूराक और दूसरी जरूरियात पैदा करके स्वावलम्बी जिन्दगी ही बिता सकता है। आजकल की परस्पर गुँथी हुई दुनिया में यह मुमकिन ही नहीं। और अगर वह अपनेको सबसे अलग-थलग कर भी ले तो इसमें सन्देह ही है कि वह अपनी बहुत ज्यादा आबादी के लिए काफ़ी खाद्य-सामग्री पैदा कर सकेगा। लेकिन ये सवाल आज के हैं; उन्नीसवीं सदी में इनका बहुत थोड़ा महत्व था। इसलिए इंग्लैंड ने अपने भविष्य की बाजी लगाई, और इस उम्मीद पर कि उसकी प्रधानता बनी रहेगी, सब-कुछ दाँव पर धर दिया। बाजी बडी थी और जोखिम भारी था---यानी या तो संसार का मुखिया राष्ट्र बनकर रहने या ख़त्म ही हो जाने का सवाल था। कोई बीच का रास्ता नहीं था। लेकिन विक्टोरिया-युग के मध्यमवर्ग के अंग्रेज में न तो आत्मविश्वास

की कमी थी और न झूठे घमण्ड की। उसे मुद्दत से जो खुशहाली, कामयाबी और व्यवसाय एवं उद्योग में अगुआपन हासिल था उसके कारण उसे यक़ीन होगया था कि वह दुनिया के दूसरे इनसानों से ऊँचे दर्जे का प्राणी है। वह सब विदेशियों को नाचीज समझने लगा। एशिया और अफ़रीका के लोग तो पिछडे हुए और जंगली थे ही। वे तो इसीलिए पैदा हुए मालूम होते थे कि पिछडी हुई जातियों पर हुकूमत करने और उन्हें सुधारने के लिए अंग्रेजों को अपनी जन्मजात प्रतिभा का प्रयोग करने का मौक़ा मिले। योरप के दूसरे देश भी अज्ञानी और अंधविश्वासी थे। उनमें से अंग्रेजी जबान ही बहुत थोडे लोग जानते थे! सभ्यता की चोटी पर बैठे हुए खास लोग तो अंग्रेज ही थे। योरप बाक़ी की सारी दुनिया का सिरमौर था और इंग्लैण्ड योरप का नेता बनकर आगे बढ़ रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य एक तरह की दैवी वस्तु थी और इसने ब्रिटिश जाति की महानता पर मुहर लगा दी थी। लॉर्ड कर्जन तीस वर्ष पहले भारत का वायसराय था और अपने समय का एक निहायत क़ाबिल अंग्रेज था। उसने अपनी एक किताब उन लोगों को समर्पण की थी, "जो यह मानते हों कि ब्रिटिश साम्राज्य भगवान की इच्छा से क़ायम है और आजतक संसार में इससे ज्यादा भलाई करनेवाली कोई चीज पैदा नहीं हुई।"

मैं विक्टोरिया-युग के अंग्रेज के बारे में इतना सब जो लिख रहा हूँ उसमें कुछ ज्यादती और असाधारणता दिखाई देती है और शायद तुम यह भी सोचने लगो कि मैं उसका मजाक़ उडा रहा हूँ। यह ताज्जुब की बात है कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह का बर्ताव करे और इस तरह का अजीब, घमंड-भरा और अपने मुँह मियाँ-मिट्ठूपन का रुख इख्तियार करे। लेकिन राष्ट्र-समूहों के मिथ्याभिमान को सन्तोष मिलता हो और उनका फ़ायदा भी होता हो तो वे किसी भी तरह की बात पर यक़ीन कर लेते हैं। व्यक्तियों को अपने पडोसियों के प्रति ऐसा भद्दा और गँवारू बर्ताव करने का कभी खयाल भी नहीं आता, मगर राष्ट्रों को ऐसी आत्म-ग्लानि नहीं हुआ करती। बदक़िस्मती से हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और अपने-अपने राष्ट्रीय गुणों की शेखी बघारते फिरते हैं। थोडे-से फ़र्क़ के साथ विक्टोरिया-युग के अंग्रेज का नमूना अक्सर सभी जगह मिलता है। सारे यूरोपियन राष्ट्रों के ऐसे ही नमूने हो चुके हैं। जर्मनी का नमूना तो बीस वर्ष पहले खास तौर पर जोर-जबरदस्ती से भरा हुआ था। अमेरिका और एशिया में भी ऐसा ही हुआ है।

इंग्लैण्ड और पश्चिमी योरप की खुशहाली की वजह उद्योगवाद और पूंजीवाद की तरक्की थी। यह पूंजीवाद मुनाफे की लगातार खोज में सरपट दौड रहा था। सफलता और लाभ ही वहांके लोगों के आराध्यदेव बन गये थे, क्योंकि पूंजीवाद

में धर्म या सदाचार से क्या वास्ता ? उसूल यह होगया कि जो व्यक्ति और राष्ट्र भयंकर स्पर्धा यानी जबरदस्त लाग-डॉट में आगे निकल जाय वह बाजी मार लेजाय, और जो पीछे रह जाय वह जाय जहन्नुम में ! विक्टोरिया-युग के लोगों को अपनी धार्मिक सहिष्णुता पर घमण्ड था। उनका प्रगति और विज्ञान में विश्वास था और उनके व्यापार और साम्राज्य की कामयाबी ने ही यह साबित कर दिया था कि वे एक ख़ास तरह और ऊँचे दर्जे के इनसान थे और इसीलिए जिन्दगी की लड़ाई में वे बच रहे थे। क्या डार्विन ऐसा नहीं कह गया था ? असल में धर्म के प्रति उनकी सहनशीलता नहीं थी, उदासीनता थी। आर. एच. टॉनी नाम के अंग्रेज लेखक ने इस स्थिति का अच्छा बयान किया है। वह कहता है कि दुनियावी मामलात से अलग करके ईश्वर को अपनी जगह पर बिठा दिया गया था। "जैसी जमीन पर नियंत्रित राजाशाही थी वैसी ही स्वर्ग में भी क़ायम करदी गई !" अमीरों का तो यह ख़याल था, मगर ग़रीबों को गिरजाघर जाने और धर्म को मानने का इस आशा से उत्साह दिलाया जाता था कि इससे शायद उनमें क्रान्तिकारी विचार पैदा न हो पायेंगे। धार्मिक सहिष्णुता का मतलब यह नहीं था कि और मामलों में भी बर्दाश्त से काम लिया जाता हो। जिन बातों को ज्यादातर लोग महत्व देते थे उनमें जरा भी सहनशीलता नहीं थी, जरा खिचाव हुआ कि सहनशीलता काफ़ूर ! हिन्दुस्तान में भी अंग्रेजी सरकार धर्म के मामलों में निहायत सहनशील है और इसे अपना एक ख़ास सद्गुण बताती है। मगर उसकी राजनीति और उससे ताल्लुक़ रखनेवाली किसी बात की जरा भी टीका करो तो फौरन उसके कान खड़े होजाते हैं। उस वक़्त उसकी सहनशीलता की कोई शिकायत नहीं की जा सकती ! उसपर जितना ज्यादा जोर डालो, वह उतनी ही नीचे उतर आयगी; और अगर जोर काफ़ी पड़ जाय तो फिर सरकार सहनशीलता का बुर्क़ा उतारकर खुले और शर्मनाक ढंग से आतंकवाद का आश्रय लेती है। हिन्दुस्तान में हम आज यही देख रहे हैं। थोड़े दिन हुए, मैंने अख़बार में पढ़ा था कि कुछ अंग्रेज कर्मचारियों को धमकी के ख़त लिखने के जुर्म में एक निमूंछिये छोकरे को ८ साल सख़्त क़ैद की सजा दी गई है !

पूंजीवादी उद्योग के बढ़ने से कई तब्दीलियां हुईं। पूंजीवाद के काम का विस्तार बढ़ता ही गया। छोटे-छोटे व्यवसाय और कारख़ानों की बनिस्बत बड़े पैमाने पर व्यवसाय और कारख़ाने चलते भी अच्छे और उनसे मुनाफ़ा भी ज्यादा होता था। इसलिए बहुत बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ बनने लगीं और उन्होंने उद्योग-पर-उद्योग हाथ में लेलिये और छोटे-छोटे स्वतंत्र उत्पादकों और कारख़ानों को हड़प कर लिया। व्यक्तियों के लिए स्वतंत्ररूप से कुछ कर सकने का मौक़ा बहुत कम रह गया, इसलिए

जैसा हो वैसा होने देने (लेसे फ़ेयर) के पुराने ख़यालात इस नई स्थिति के सामने टिक नहीं सके। ये जबरदस्त कम्पनियाँ और व्यापार-संघ सरकारों पर भी हावी होगये।

पूँजीवाद के कारण साम्राज्य का एक और भी ख़ौफ़नाक रूप पैदा हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जो देश उद्योग-धंधों में बहुत आगे बढ़ गये थे उनमें जैसे-जैसे आपसी लाग-डाँट बढ़ी, वैसे-वैसे वे बाज़ारों और कच्चे माल की तलाश में और भी दूर-दूर देशों की तरफ़ आँखें फाड़ने लगे। दुनियाभर में साम्राज्य के लिए भयंकर छीना-झपटी शुरू हुई। एशिया में यानी हिन्दुस्तान, चीन, बृहत्तर भारत और ईरान में जो कुछ हुआ उसका हाल जरा विस्तार के साथ तुम्हें बता चुका हूँ। अब योरप की क़ौमें गिद्धों की तरह अफरीका पर टूट पड़ीं और उसे आपस में बाँट लिया। यहाँ भी इंग्लैण्ड ने सबसे बड़ा हिस्सा लेलिया। उत्तर में मिस्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण में बड़े-बड़े प्रदेश उसके हाथ लगे। फ्रांस भी मजे में रहा। इटली इस लूट के माल में से हिस्सा चाहता था, लेकिन एबीसीनिया के मुकाबिले में उसे बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। इससे सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ। जर्मनी को हिस्सा मिला, मगर उससे सन्तोष नहीं हुआ। सब जगह साम्राज्यवाद की धूम थी। वह चीखता, धमकाता और इधर-उधर हाथ-पैर पीटता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लोकप्रिय कवि रुडयार्ड किपलिंग ने 'गोरों के भार' (Whiteman's burden) का गीत बनाया। फ्रांसवाले अपने सभ्यता-प्रचार के पवित्र ध्येय की बातें करने लगे। जर्मनी को अपनी संस्कृति फैलाना ही था। इस तरह ये सभ्यता के प्रचारक दूसरों की हालत सुधारने और उनका बोझा ओढ़ने की पूरी त्याग-भावना के साथ घर से निकले और भूरे, पीले और काले लोगों की गर्दनों पर सवार होगये। मगर कालों के बोझे का गीत कौन गाता?

एक-दूसरे से लड़नेवाले ये साम्राज्यवाद इस बुरी तरह पैर फैलाते जा रहे थे कि पृथ्वी इनके लिए छोटी पड़ गई। बाज़ारों की भूख इनमें से हरेक देश को आगे-से-आगे धकेल रही थी और इनकी आपस में ही अक्सर भिड़न्त हो जाती थी। इंग्लैण्ड और फ़्रांस में लड़ाई होते-होते बच गई। मगर हितों में सच्ची कशमकश तो अंग्रेजी और जर्मन उद्योग के बीच पैदा हुई। जर्मनी उद्योग और जहाजों के व्यवसाय में इंग्लैंड के बराबर होगया और हर बाज़ार में उसका मुक़ाबिला करने लगा। लेकिन उसने देखा कि सरजमीन के अच्छे हिस्सों पर पहले ही इंग्लैण्ड का क़ब्ज़ा हो चुका है। वह बड़ा घमण्डी और उच्चाकांक्षी देश ठहरा, इस तरह दूसरे राष्ट्र उसे पीछे पड़ा रक्खें, यह बात उसे बुरी तरह खटकती थी। इसलिए उनके साथ एक जबरदस्त लड़ाई करने के लिए वह जोरों से तैयारी करने लगा। सारे योरप में तैयारियाँ शुरू होगई और जल और स्थल सेनायें बढ़ने लगीं। अलग-अलग देशों में गुटबन्दी हुई। अख़ीर में दो

हथियारों से सजे हुए दल आमने-सामने खडे नजर आने लगे। एक तरफ़ जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की त्रिपुटी थी और दूसरी तरफ़ रूस और फ़्रांस की दोस्ती। इंग्लैण्ड भी छिपे तौर पर इस दोस्ती में शामिल था।

इसी बीच में उन्नीसवीं सदी के अख़ीर में इंग्लैण्ड को दक्षिण अफ़रीका में एक छोटी-सी ख़ानगी लड़ाई लड़नी पडी। ट्रांसवाल के बोअर प्रजातंत्र में सोने की खानें निकल आईं और इसी कारण १८९९ ई० में यह लड़ाई हुई। बोअर लोग योरप के प्रमुख राष्ट्र के ख़िलाफ़ तीन साल तक जबरदस्त साहस और धैर्य के साथ लडे। उन्हें कुचल दिया गया और उन्हें हार माननी पडी। मगर थोडे दिनों बाद अंग्रेज़ों ने एक अक्लमन्दी और उदारता का काम किया और थोडे ही समय पहले के दुश्मनों को पूरी आजादी दे दी। उस समय उदार दल के हाथ में सत्ता थी। कुछ समय बाद सारा दक्षिण अफ़रीका ब्रिटिश साम्राज्य का स्वतंत्र उपनिवेश बन गया।

: १३७ :

अमेरिका का गृह-युद्ध

२७ फ़रवरी, १९३३

हमारा बहुत ज्यादा समय पुरानी दुनिया के झगडों और षड्यंत्रों ने, राजाओं और क्रान्तियों ने, घृणा और राष्ट्रीयता के भावों ने लेलिया। अब जरा अटलाण्टिक महासागर पार करके अमेरिका की नई दुनिया में चलकर देखें कि योरप के पंजे से छूटने के बाद इसका क्या हाल रहा। संयुक्तराज्यों पर हमें ख़ास तौर से ध्यान देने की जरूरत है। छोटी-सी शुरुआत करके ये इतने आगे बढ़ गये हैं कि आज संसार की परिस्थिति पर इनका बहुत ज्यादा असर है। इंग्लैण्ड की स्थिति अब सबसे बढ़कर नहीं रही। वह संसार का साहूकार नहीं रहा, योरप के दूसरे देशों की तरह वह भी एक क़र्जदार मुल्क है। उसे संयुक्तराज्यों से कृपा और उदारता की भीख माँगनी पड़ती है। साहूकारी की पगडी अब अमेरिका के सिर बँध गई है, धन का दरिया अब उसके यहाँ जाकर गिरता है; और करोड़पति पैदा करने की उसकी ताक़त पर तो सबको ताज्जुब होता है। परन्तु पुरानी दन्तकथा के मीडास[1] की तरह सोने से उसे बहुत सुख नहीं मिल गया। वहाँ बेशुमार करोड़पतियों के होते हुए भी आम जनता आज भी ग़रीबी और मुसीबत में पडी हुई है।

१. फ़्रीजिया का एक काल्पनिक राजा, जिसमें यह शक्ति थी कि जिस चीज़ को वह छूता वही सोने की होजाती।

समुद्रतट के जिन तेरह राज्यों ने १७७५ ई० में इंग्लैण्ड से सम्बन्ध तोड़ लिया था उनकी आवादी ४० लाख से कम ही थी। आज अकेले न्यूयार्क शहर की आवादी उससे क़रीब दुगुनी है और सारे संयुक्तराज्यों की साढ़े बारह करोड़ है। इस संघ में अब पहले से बहुत ज्यादा राज्य हैं और वे इस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर प्रशान्त महासागर तक फैले हुए हैं। उन्नीसवीं सदी में इस महान् देश का क्षेत्रफल यानी रकबा और आबादी ही नहीं वढ़ी, बल्कि इसके आधुनिक उद्योग और व्यापार, धन और प्रभाव में भी वृद्धि हुई। इन राज्यों को वहुत-सी दिक्क़तों और तकलीफों का सामना करना पड़ा और इनके साथ योरप वालों के युद्ध और झगडे-टण्टे भी हुए, लेकिन इनपर सबसे बडी मुसीवत यह आई कि उत्तर और दक्षिण के राज्यों में जबरदस्त और तवाह करनेवाली घरेलू लड़ाई हुई।

अमेरिका के आजाद होने के चन्द साल वाद फ्रांस की राज्यक्रान्ति हुई और उसके पीछे-पीछे नेपोलियन की लड़ाई हुई। नेपोलियन और इंग्लैण्ड दोनों एक-दूसरे के व्यापार को चौपट कर देना चाहते थे और इस कोशिश में उनकी संयुक्तराज्यों से भी मुठभेड़ होगई। अमेरिका का समुद्री व्यापार बिलकुल रुक गया और इसलिए १८१२ ई० में उसकी इंग्लैण्ड के साथ दूसरी लड़ाई छिड़ गई। इन दो वर्ष के झगडे का कोई ख़ास नतीजा नहीं निकला। इस लड़ाई के सिलसिले में जब नेपोलियन एल्वा में ठिकाने लगा दिया गया और इंग्लैण्ड को उधर से छुट्टी मिल गई, तो अंग्रेजों ने किसी तरह अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन पर क़ब्जा कर लिया और वहांकी वडी-बडी सभी सरकारी इमारतें जला दीं। कैपिटल नामक भवन, जहाँ कांग्रेस होती है, और व्हाइटहाउस, जिसमें राष्ट्रपति रहते हैं, भी वरवाद कर दिये गये। वाद में अंग्रेजों की हार होगई।

इस युद्ध से पहले भी संयुक्तराज्यों ने दक्षिण में एक बहुत बड़ा प्रदेश अपने इलाक़े में मिला लिया था। यह फ्रांस की लुइजियाना नाम की पुरानी वस्ती थी। अंग्रेजों के जहाजी हमलों से इसकी रक्षा बिलकुल न कर सकने के कारण इसे नेपोलियन ने अमेरिका के हाथ वेच दिया था। कुछ साल वाद, १८२२ ई० में, उसने स्पेन से ख़रीदकर फ्लॉरिडा को मिला लिया और १८४८ ई० में मैक्सिको से लड़ाई जीतकर कैलीफ़ोर्निया सहित कई और राज्य दक्षिण-पश्चिम में लेलिये। इस दक्षिण-पश्चिमी हिस्से में अब भी वहुत-से नगरों के नाम स्पेनिश हैं और उन दिनों की याद दिलाते हैं जब वहाँ स्पेन वालों का या स्पेन की भाषा बोलनेवाले मैक्सिको-निवासियों का राज्य था। सिनेमैडोम के बडे शहर लॉस एन्जेलीस और सैन फ्रांसिस्को के नाम सभीने सुने हैं।

जिस वक्त योरप बार-बार क्रान्तियाँ करने और उन्हें दबा देने की कोशिश कर रहा था, उस वक्त संयुक्तराज्य पश्चिम की ओर फैलते जा रहे थे। दमन के कारण योरप के लोग अपने-अपने देश छोड़कर जा रहे थे और लम्बे-चौड़े देश और ऊँची-ऊँची मजदूरी की कहानियाँ उन्हें बड़ी तादाद में अमेरिका की तरफ़ खींच रहीं थीं। जैसे-जैसे पश्चिम में आबादी बढ़ी वैसे-वैसे नये-नये राज्य बनते और संघ में शामिल होते गये।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में शुरू से ही बड़ा भेद था। उत्तरी राज्य उद्योग-प्रधान थे और वहाँ बड़ी-बड़ी मशीनों वाले नये-नये कारखानें तेजी से बढ़ गये। दक्षिण में बड़े-बड़े व्यापारी बग़ीचे थे और उनमें ग़ुलाम लोग मजदूरी करते थे। ग़ुलामी की प्रथा क़ानून से जायज थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नहीं करते थे और वहाँ उसका कोई महत्व भी न था। दक्षिण का सारा दारोमदार ही ग़ुलामी पर था। ये ग़ुलाम अफरीका के हब्शी थे। गोरा एक भी ग़ुलाम नहीं था। आजादी के ऐलान में 'सब मनुष्य जन्म से समान हैं' यह जो उसूल माना गया था वह गोरों पर ही लाग होता था, कालों पर नहीं।

इन हब्शियों को अफ़रीका से किस तरह लाया गया था, यह कहानी बड़ी दर्द-नाक है। ग़ुलामों का व्यापार सत्रहवीं सदी के शुरू में आरम्भ हुआ और १८६३ ई० तक जारी रहा। पहलेपहल तो यह हुआ कि जब अफ़रीका के पश्चिमी समुद्रतट से व्यापार के माल से लदी हुई नावें गुजरतीं, तो जो भी अफ़रीका-निवासी उनके हाथ पड़ जाते उन्हें पकड़कर वे अमेरिका ले जातीं। इस किनारे का एक हिस्सा अब भी 'ग़ुलामों का किनारा' (Slave Coast) कहलाता है। ख़ुद अफरीका के बाशिन्दों में ग़ुलामी का रिवाज बहुत कम था। वे सिर्फ़ लड़ाई के क़ैदियों और क़र्जदारों के साथ ही ग़ुलामों का-सा वर्ताव करते थे। अफ़रीकन लोगों को अमेरिका लेजाकर बेच देने का धन्धा बड़ मुनाफ़े का पाया गया। ग़ुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें अंग्रेज, स्पेनिश और पोर्चुगीज लोगों ने पैसा लगाया। ग़ुलामी के व्यापार के लिए ख़ास तरह के जहाज बनाये गये। उनमें पटावों के बीच में लम्बी और तंग कोठरियाँ रक्खी गई और उनमें ये अभागे हब्शी पैरों में जंजीरें और हाथों में हथकड़ियाँ बाँधकर दो-दो करके लिटा दिये जाते थे। अटलाण्टिक महासागर पार के समुद्री सफ़र में कई हफ़्ते और कभी-कभी महीने लग जाते थे। इस सारे अर्से में ये हब्शी इन तंग कोठरियों में बँधे पड़े रहते। इनमें हरेक को ५॥ फ़ीट लम्बी और १६ इंच चौड़ी जगह दी जाती थी!

ग़ुलामों के व्यापार के कारण लिवरपूल बड़ा शहर बन गया। १७१३ ई० में ही जब यूट्रेक्ट की संधि हुई तो इंग्लैण्ड ने स्पेन से अफ़रीका और स्पेनिश अमेरिका के बीच में ग़ुलामों को लेजाने का विशेषाधिकार छीन लिया। इससे पहले भी इंग्लैण्ड

अमेरिकन इलाक़ों में ग़ुलाम पहुँचाया करता था। इस तरह अठारहवीं सदी में कोशिश की गई कि अफरीका और अमेरिका के ग़ुलामों के व्यापार पर अंग्रेज़ों का ठेका हो जाय। १७३० ई० में लिवरपूल के १५ जहाज़ इस व्यवसाय में लगे हुए थे। यह तादाद वढ़ती-वढ़ती सन् १७९२ ई० में १३२ होगई। औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत में इंगलैण्ड के लंकाशायर प्रदेश में रुई की कताई का काम बहुत बढ़ गया और इसके कारण संयुक्तराज्यों में ग़ुलामों की माँग भी बहुत बढ़ गई। इसका कारण यह था कि लंकाशायर की मिलों में जो रुई काम में लाई जाती थी वह अमेरिका के दक्षिणी राज्यों के रुई के बडे बग़ीचों में से आती थी। ये बग़ीचे बडी तेज़ी से बढ़े, अफरीका से ग़ुलाम भी उतने ही ज्यादा आये और हब्शियों की औलाद बढ़ाने की कोशिश भी की गई। १७९० ई० में संयुक्तराज्यों में ग़ुलामों की तादाद ६,९७,००० थी। १८६१ ई० में वह बढ़कर ४०,००,००० होगई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गुलामी के रिवाज के ख़िलाफ कडे क़ानून पास किये। योरप और अमेरिका के दूसरे देशों ने भी ऐसा ही किया। इसतरह ग़ुलामी का व्यापार ग़ैरक़ानूनी ठहरा दिया गया, मगर हब्शियों को अफरीका से अमेरिका ले जाने का सिलसिला फिर भी जारी रहा। फ़र्क़ इतना ही हुआ कि सफ़र में उनकी हालत और भी खराब होने लगी। वे खुले तौर पर तो ले जाये नहीं जा सकते थे, इसलिए उन्हें टॉडों पर ऊपर-नीचे पटककर लोगों की नजर से छिपा दिया जाता था। एक अमेरिकन लेखक कहता है—"कभी-कभी बर्फ़ की भरी गाडी (Toboggan) पर सवार होनेवालों की तरह उन्हें एक-दूसरे के ऊपर टाँग पर टाँग रखकर लाद दिया जाता था!" यह कितनी ख़ौफ़नाक बात होती होगी, इसका ख़याल करना भी दुश्वार है। उन जहाज़ों की इतनी गन्दी हालत हो जाती थी कि चार-पाँच बार के सफ़र के बाद उन्हें छोड़ देना पड़ता था। मगर मुनाफ़ा बहुत ज्यादा होता था और जब व्यापार का खूब जोर था, यानी अठारहवीं सदी के अख़ीर और उन्नीसवीं के शुरू में, तो हर साल अफ़रीका के ग़ुलामों के किनारे से एक लाख ग़ुलाम लेजाये जाते थे। याद रहे कि इतने आदमियों को लेजाने का यह मतलब था कि हब्शियों को पकड़ने के लिए जो छापे मारे जाते थे उनमें इनसे कहीं ज्यादा की मौत होती थी।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में या उसके आस-पास सभी बडे-बडे देशों ने इस व्यवसाय को क़ानून के खिलाफ़ ठहरा दिया। संयुक्तराज्यों ने भी ऐसा ही किया। इस तरह ग़ुलामी का व्यापार बन्द होगया, मगर अमेरिका में ग़ुलामी बन्द नहीं हुई, यानी वहाँ पुराने ग़ुलाम फिर भी ग़ुलाम ही बने रहे। और चूँकि ग़ुलामी जायज

थी, इसलिए मनाई होने पर भी गुलामों का व्यापार जारी रहा। जब ब्रिटेन ने दास-प्रथा भी उठा दी तब गुलामी के व्यापार के लिए न्यूयार्क मुख्य बन्दर हो गया।

यद्यपि उन्नीसवीं सदी के बीच तक कई वर्ष न्यूयार्क इस व्यवसाय का केन्द्र रहा, फिर भी अमेरिका के उत्तरी राज्य गुलामी के रिवाज के ख़िलाफ़ थे। इसके विपरीत, दक्षिण वालों को अपने बग़ीचों के लिए इन गुलामों की जरूरत थी। कुछ राज्यों नें गुलामी उठा दी और कुछ ने रहने दी। हब्शी गुलामी वाले राज्यों में से भागकर बिना गुलामी के राज्यों में चले जाते और उनके बारे में झगडे होते।

उत्तर और दक्षिण के आर्थिक हित जुदा-जुदा थे और उनके बीच १८३० ई० में ही चुंगी के मामले में कशमकश होगई। संघ से अलग होजाने की धमकियाँ दीगईं। राज्य अपने-अपने अधिकार छोड़ना नहीं चाहते थे और संघ-सरकार की बहुत ज्यादा दस्तन्दाज़ी पसन्द नहीं करते थे। देश में दो दल हो गये। एक राज्यों की सत्ता का तरफ़दार था, दूसरा मजबूत केन्द्रीय सरकार चाहता था। इन मतभेदों के कारण उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई बढ़ती गई और जहाँ कहीं नये राज्य संघ में शामिल होते थे वहीं यह सवाल उठता था कि वे किस तरफ़ का साथ देंगे। बहुमत किधर होगा? उत्तर की आबादी तेजी से बढ़ रही थी, क्योंकि योरप से लोग आ-आकर वहाँ बस रहे थे। इससे दक्षिण के लोगों को डर हुआ कि उत्तर की बढ़ी हुई संख्या उन्हें दबा लेगी और हर सवाल पर ज्यादा वोट या राय देकर उन्हें हरा देगी। इस तरह उत्तर और दक्षिण में खिंचाव बढ़ता गया।

इसी बीच, दक्षिण में गुलामी की प्रथा बिलकुल उठा देने का आन्दोलन खड़ा हुआ। इस आन्दोलन का मुख्य नेता विलियम लॉयड गैरीजन था। १८३१ ई० में गैरीजन ने गुलामी दूर करने के इस आन्दोलन के प्रचार के लिए 'लिबरेटर' (उद्धारक) नामक एक पत्र निकाला। इसके पहले ही अंक में उसने साफ़-साफ़ जाहिर कर दिया कि इस मामले में वह कोई समझौता नहीं करेगा और न नरम नीति रक्खेगा। उस अंक के कुछ वाक्य इतने मशहूर होगये हैं कि मैं उन्हें यहाँ देता हूँ:—

> "मैं सत्य के समान कटु और न्याय की तरह कठोर रहूँगा। इस विषय में मैं नरमी से सोचना, बोलना या लिखना नहीं चाहता। नहीं, नहीं; जिसके घर में आग लगी हो उसे भले ही धीरे-धीरे चिल्लाने को कहो, जिसकी पत्नी का सतीत्व नष्ट किया जा रहा हो उसे चाहे अपनी पत्नी को बचाने में नम्रता से काम लेने को कहो, जिस माता का शिशु आग में पड़ गया है उसे भी आहिस्ता-आहिस्ता बचाने को कहो, लेकिन मुझे मेरे इस काम में मुलायमियत से काम लेने को मत कहो। मैं बहुत उग्र हूँ, मैं गोलमोल बात नहीं कहूँगा, मैं क्षमा नहीं करूँगा, और न तिल भर पीछे हटूँगा। मेरी बात सुननी ही पड़ेगी।"

लेकिन यह वीर-वृत्ति थोडे-से लोगों तक ही सीमित थी। जो लोग गुलामी की प्रथा के ख़िलाफ़ थे उनमें से ज्यादातर यह नहीं चाहते थे कि गुलामी का रिवाज जहाँ है वहाँ उसमें दख़ल दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण का आपसी खिंचाव बढ़ता ही गया, क्योंकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और कशमकश ख़ास तौर से चुंगी के सवाल पर थी।

१८६० ई० में अब्राहम लिंकन संयुक्तराज्यों का राष्ट्रपति चुना गया। उसका चुनाव क्या हुआ, दक्षिण वालों को अलग होजाने का इशारा मिल गया। लिंकन गुलामी के रिवाज का विरोधी था, मगर उसने साफ़ कर दिया था कि जहाँ गुलामी पहले से है वहाँ उसे नहीं छेडा जायगा। मगर वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि यह नये राज्यों में भी फैले और इसे क़ानूनी रूप मिल जाय। इस आश्वासन से दक्षिण का सन्तोष नहीं हुआ और एक-एक करके कई राज्य संघ से अलग होगये। संयुक्तराज्य छिन्न-भिन्न हुआ चाहते थे। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयंकर स्थिति थी। उसने दक्षिण को राजी करके इस अंग-भंग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हें तरह-तरह के आश्वासन दिये कि दास-प्रथा बन्द नहीं की जायगी। उसने यहाँतक कह दिया कि गुलामी जहाँ है वहाँ उसे विधान में शामिल करके स्थायी बनाने को भी तैयार हूँ। असल में वह शान्ति की ख़ातिर किसी भी हद तक जाने को राजी था, मगर वह एक बात को मंजूर नहीं कर सकता था और वह यह कि संघ छिन्न-भिन्न होजाय। किसी राज्य का संघ से अलग होने का हक़ वह क़तई मानने को तैयार नहीं था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें बेकार रहीं। दक्षिण ने अलग होजाने का फ़ैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग हो भी गये। उनके साथ किनारे के कुछ और राज्यों की भी हमदर्दी थी। अलग होनेवाले राज्य अपनेको सम्मिलित राज्य (Confederate State) कहने लगे और उन्होंने जैफ़र्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। १८६१ ई० के अप्रैल में गृह-युद्ध छिड़ गया और पूरे चार वर्ष तक चलता रहा। उस समय बहुत-से भाई भाइयों से और मित्र मित्रों से लडे। लड़ाई के दौरान में दोनों तरफ़ बडी-बडी फ़ौजें खडी हो गई। उत्तर को बहुतेरी सहूलियतें थीं। उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी ज्यादा। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और ऐसा देश था जहाँ उद्योग-धंधे और कल-कारख़ाने ख़ूब बढ़े हुए थे, इसलिए उसके पास बहुत ज्यादा साधन थे और उसकी रेलें भी ज्यादा थीं। लेकिन दक्षिण के सैनिक और सेनापति अच्छे थे—ख़ासतौर पर जनरल ली बड़ा योग्य था। इसलिए शुरू-शुरू में दक्षिण की ही सारी विजय हुई। लेकिन अख़ीर में दक्षिण की

ताक़त कमजोर पड़ गई। उत्तर वालों की समुद्री फ़ौज ने दक्षिण का उसके योरप के बाजारों से ताल्लुक़ बिलकुल काट दिया और रुई और तम्बाकू का वाहर जाना रोक दिया। इससे दक्षिण के हाथ-पैर कट गये। लेकिन इसका असर लंकाशायर पर भी बहुत जवरदस्त हुआ। वहाँ रुई न पहुँचने से बहुतसी मिलें बन्द होगई। लंकाशायर के मजदूर बेकार होगये और उन्हें बडी मुसीबत उठानी पडी।

इस लड़ाई के बारे में अंग्रेज़ी लोकमत की आम तौर पर दक्षिण वालों के साथ हमदर्दी थी, या कम-से-कम धनिकवर्ग की राय दक्षिण की तरफ़ थी। सुधारक लोग उत्तरवालों के तरफ़दार थे।

गृह-युद्ध की असली वजह दास-प्रथा नहीं थी। जैसा मैं कह चुका हूँ, लिंकन अख़ीर तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहाँ कहीं है वहाँ उसका ख़याल रक्खा जायगा। झगड़े की जड़ तो असल में दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ विरोधी आर्थिक स्वार्थ थे और अख़ीर में लिंकन को संघ की रक्षा के लिए लड़ना पड़ा। युद्ध छिड़ जाने के बाद भी लिंकन ने दास-प्रथा के बारे में कोई साफ़ ऐलान नहीं किया, क्योंकि उसे डर था कि कहीं उत्तर के वे बहुत लोग जो गुलामी की प्रथा के तरफ़दार थे और किनारे के राज्य भड़क न उठें। हाँ, जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ती गई वैसे-वैसे वह साफ़ बातें करने लगा। पहले उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि मालिकों को मुआवजा देकर कांग्रेस गुलामों को आजाद करदे। बाद में उसने मुआवजा देने का विचार छोड़ दिया और आख़िर १८६२ ई० के सितम्बर में उसने जो मुक्ति की घोषणा निकाली उसमें यह ऐलान कर दिया कि १८६३ ई० की पहली जनवरी से सारे बाग़ी राज्यों के गुलाम आजाद होजायँगे। इस घोषणा के निकालने की ख़ास वजह शायद यह थी कि वह दक्षिण की ताक़त लड़ाई में कमजोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख गुलाम आजाद होगये और उनसे यह उम्मीद जरूर रक्खी गई थी कि सम्मिलित राज्यों में ये लोग बखेड़ा खड़ा करेंगे।

जब दक्षिणवाले बिलकुल थक गये तो १८६५ ई० में गृहयुद्ध ख़त्म हुआ। वैसे तो लड़ाई कभी भी हो तो भयंकर चीज ही होती है, मगर खानाजंगी तो और भी ख़तरनाक चीज है। चार वर्ष की इस जबरदस्त लड़ाई का बोझ सबसे ज्यादा राष्ट्रपति लिंकन पर पड़ा और उसका जो नतीजा हुआ वह भी बहुत कुछ उसीकी शान्त दृढ़ता के कारण ही हुआ। उसने सारी निराशाओं और मुसीबतों की परवा न की और अपना काम जारी रक्खा। उसे सिर्फ़ जीतने की ही धुन नहीं थी। वह यह भी चाहता था कि इस विजय में कम-से-कम बदगुमानी पैदा हो, ताकि जिस संघ के ख़ातिर वह लड़ रहा था वह हृदयों का सम्मेलन हो और कोरा जबरदस्ती से लदा हुआ मेल न हो।

इसलिए लड़ाई में विजयी होते ही उसने हारे हुए दक्षिण के साथ उदारता का वर्ताव करना शुरू कर दिया। लेकिन कुछ दिनों के भीतर ही किसी फिरे दिमाग़ के आदमी ने उसे गोली से उड़ा दिया।

अब्राहम लिंकन अमेरिका के बड़े-से-बड़े शूरवीरों में से है। उसका स्थान दुनियाभर के महान पुरुषों में भी है। शुरू में वह बहुत ही छोटा आदमी था। स्कूल में उसने थोड़ी-सी तालीम पाई थी। जो कुछ उसने सीखा ज्यादातर अपनी ही मेहनत से सीखा था। फिर भी वह बढ़ते-बढ़ते एक बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ और वक्ता बन गया और उसने मुसीबत के बहुत बड़े जमाने में अपने देश की नाव को पार लगाया।

लिंकन के मरने के बाद अमेरिका की कांग्रेस दक्षिणी गोरों के प्रति उतनी उदार नहीं रही, जितनी कि वह हो सकती थी। इन दक्षिणी गोरों को कई तरह की सजा दी गई और बहुतों का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियों को नागरिकता के पूरे हक़ देकर इस बात को अमेरिका के विधान में शामिल कर दिया गया। यह भी नियम बना दिया गया कि कोई राज्य किसी आदमी को उसकी जाति, रंग या पहले की गुलामी के कारण राय देने के हक़ से वंचित नहीं कर सकेगा।

हब्शी लोग अब क़ानून की रू से आजाद होगये और उन्हें राय देने का हक़ भी मिल गया। लेकिन उनकी माली हालत वही रही, इस कारण उन्हें बहुत कम फ़ायदा पहुँचा। आजाद किये गये हब्शियों में से किसीके पास जायदाद नहीं थी और उनके लिए क्या किया जाय, यह सवाल होगया। उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरों में जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे वहीं रहे। उनपर उनके पुराने गोरे दक्षिणी मालिकों का वैसा ही दबाव रहा। वे पुराने बग़ीचों में काम करते रहे और जो मजदूरी उनके गोरे अन्नदाता देदेते वही उन्हें लेनी पड़ती। दक्षिणी गोरों ने भी हर तरह के आतंक द्वारा हब्शियों को दबाये रखने के लिए अपना संगठन कर लिया। उन्होंने कूक्लक्स क्लैन नाम की एक ग़ैरमामूली ढंग की गुप्त-सी संस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्क़े पहन-पहनकर हब्शियों को डराते फिरते थे और उन्हें चुनाव में राय देने से भी रोकने लगे।

पिछले पचास वर्ष में हब्शियों ने कुछ तरक्क़ी की है। बहुतों के जायदाद भी होगई हैं और उनकी कई बढ़िया शिक्षण-संस्थायें हैं। फिर भी निश्चित रूप में उनकी जाति गुलाम है। संयुक्त राज्यों में उनकी तादाद एक करोड़ बीस लाख के क़रीब यानी सारी आबादी का दसवां हिस्सा है। जहां कहीं उनकी तादाद थोड़ी है वहां उन्हें बरदाश्त कर लिया जाता है। उत्तर के कुछ हिस्सों में कुछ ऐसा ही होता है।

मगर ज्योंही उनकी तादाद बढ़ने लगती है त्योंही उनपर बुरी तरह हमले होने लगते हैं और उन्हें यह अनुभव करा दिया जाता है कि पुराने गुलामों से उनकी हालत बहुत अच्छी नहीं है। होटलों, गिरजों, कालेज, बागों, स्नान करने के घाटों, ट्राम-गाड़ियों और भण्डारों तक में, सभी जगह, उन्हें गोरों से अलग रक्खा जाता है ! रेलों में उन्हें खास डिब्बों में बैठना पड़ता है। गोरों और हब्शियों में शादी की क़ानून से मनाई है। असल में तरह-तरह के विचित्र क़ानून हैं। अभी १९२६ ई० में ही वर्जीनिया राज्य ने एक क़ानून बनाकर गोरे और काले का एक आँगन में साथ-साथ बैठना भी मना कर दिया है।

कभी-कभी गोरों और हब्शियों में भयंकर दंगे होते हैं। दक्षिण में अक्सर ऐसे भयंकर मामले हो जाते हैं कि भीड़ किसी आदमी पर मुजरिम होने का शुबहा करके उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्हीं वर्षों में ऐसी घटनायें भी हुई हैं कि गोरे लोगों की भीड़ ने हब्शियों को खम्भे से बाँधकर जिन्दा जला दिया।

यों तो सारे अमेरिका में और खास तौर पर दक्षिणी राज्यों में हब्शियों की हालत अब भी बहुत दर्दनाक है। जब मजदूरों का मिलना कठिन हो जाता है तब अक्सर बेक़सूर हब्शियों को दक्षिण के कुछ राज्यों में किसी बनावटी जुर्म में जेल भेज दिया जाता है और फिर उन क़ैदियों को ठेके पर मजदूरी करने के लिए खानगी ठेकेदारों के हवाले कर दिया जाता है। यह बात खुद ही बहुत बुरी है, मगर इसके साथ और जो हालत होती हैं वह तो बहुत भयंकर है। इस तरह हम देखते हैं कि आखिर क़ानूनी आजादी मिल जाना ही कोई बहुत बड़ी बात नहीं होती। मगर एक बात में हब्शियों ने पश्चिमी दुनिया पर फ़िलहाल फतह हासिल कर ली है और वह है उनका 'जैज' (Jazz) संगीत।

क्या तुमने हैरियट बीचर स्टो की 'टॉम काका की कुटिया' पढ़ी है, या उसका नाम सुना है ? यह पुस्तक दक्षिणी राज्यों के पुराने जमाने के हब्शी गुलामों के बारे में है और इसमें उनकी दर्दनाक कहानी दी गई है। यह गृहयुद्ध से दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी और अमेरिका के लोगों को दास-प्रथा के खिलाफ खड़ा करने में इसका बड़ा असर पड़ा था।

: १३८ :

अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य

२८ फरवरी, १९३३

गृह-युद्ध ने अमेरिका में बहुत ज्यादा तादाद में नौजवानों की जानें लीं और वह कर्ज़ का बहुत भारी बोझ भी छोड़ गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और उमंगों से भरा था। इसकी तरक्की जारी रही। इस देश में प्राकृतिक सम्पत्ति का पार न था, ख़ासकर खनिज पदार्थ इसमें बहुत ज्यादा पाये जाते थे। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीजें आजकल व्यवसाय और सभ्यता की जड़ हैं, इस मुल्क में बहुत काफ़ी थीं। इस देश में जल-शक्ति भी इतनी ज्यादा थी कि खूब बिजली पैदा की जा सके। इस सिलसिले में नियागरा का जल-प्रपात तो तुम्हें याद आ ही जायगा। अमेरिका एक बहुत लम्बा-चौड़ा मुल्क था; इसकी आबादी औरों के मुक़ाबिले कम थी और हरेक आदमी के लिए आगे बढ़ने की गुंजाइश थी। तरक्की करके एक महान् व्यावसायिक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सहूलियतें इस देश में पाई जाती थीं। अमेरिका इस रास्ते पर बहुत तेजी के साथ तरक़्क़ी भी करने लगा। ईसवी सन् १८८० तक पहुँचते-पहुँचते अमेरिका का व्यवसाय विदेशी बाजारों में ब्रिटिश व्यवसाय का मुक़ाबिला करने लग गया था। ब्रिटेन ने वैदेशिक व्यापार पर सौ वर्ष से अपना जो प्रभुत्व यानी क़ब्ज़ा आसानी के साथ कर रक्खा था, अमेरिका और जर्मनी ने उसे ख़त्म कर दिया।

लोग इस देश में दूसरे देशों से आकर बसने लगे। योरप से सब तरह के लोग आये; जैसे जर्मन, स्कैंडीनेवियन, आयरिश, इटालियन, यहूदी, पोल वग़ैरा। इनमें से बहुत-से तो अपने देश में होनेवाले राजनैतिक जुल्मों से घबराकर आये थे और बहुत-से बेहतर रोजी और रोजगार की तलाश में। ज़रूरत से ज्यादा घनी आबादी वाले योरप ने अपनी फ़ाज़िल आबादी को अमेरिका में भेजना शुरू कर दिया। इस मुल्क में जातियों, राष्ट्रों, भाषाओं और धर्मों का एक असाधारण पचमेल पैदा होगया। योरप में ये लोग अलग-अलग रहते थे, हरेक की अपनी छोटी-छोटी जुदा दुनिया थी, एक-दूसरे की तरफ़ नफ़रत और डाह के भावों से भरे रहा करते थे। अमेरिका में इन लोगों ने एक-दूसरे को नय वातावरण में जाना, जहाँ पुरानी नफ़रतों का कोई ख़ास असर नहीं दिखाई देता था। अनिवार्य शिक्षा की एक समान प्रणाली ने इनकी राष्ट्रीय विषमताओं को घिसकर चौरस कर दिया और विभिन्न जातियों के इस चों-चों के मुरब्बे से अमेरिकन टाइप पैदा होने लगा। पुराने ऐंग्लो-सैक्सन लोग अपनेको ऊँची जाति का समझते

रहे। समाज के यही अगुआ थे। इनके बाद, किन्तु इनके क़रीब, उन लोगों का स्थान था जो उत्तरी योरप से आये थे। ये उत्तरी यूरोपियन लोग दक्षिण योरप से आये हुए लोगों को, ख़ासकर इटली के लोगों को, नीची नज़र से देखते थे और उन्हें 'डागो' (Dagos) कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो अलग थे ही। ये सब जातियों से नीचे समझे जाते थे और किसी भी गोरी क़ौम से मिलते-जुलते नहीं थे। पश्चिमी समुद्र के किनारे कुछ चीनी, जापानी और हिन्दुस्तानी आ बसे थे। ये लोग उस समय आये थे जब अमेरिका में मज़दूरों की माँग बहुत ज्यादा थी। एशिया की ये क़ौमें भी औरों से अलहदा ही रहीं।

रेल और तार के हर जगह फैल जाने से यह विशाल देश एक सूत्र में बँध गया। पुराने ज़माने में ऐसा होना नामुमकिन था, क्योंकि उस समय एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में हफ़्तों और महीनों लग जाते थे। हम देख चुके हैं कि पुराने ज़माने में एशिया और योरप में अक्सर बड़े-बड़े साम्राज्य क़ायम हुए, लेकिन वे एक धागे में इसलिए नहीं बँध सके थे कि आमदरफ़्त और संसर्ग की सहूलियतें नहीं थीं। साम्राज्य के मुख़्तलिफ़ हिस्से एक-दूसरे से बिलकुल अलग रहते थे और अपना जीवन पूरी आज़ादी के साथ गुज़ारते थे। इतनी बात ज़रूर होती थी कि वे सम्राट की मातहती क़बूल करते थे और उसे ख़िराज देते थे। ये साम्राज्य असल में एक सम्राट या शासक की मातहती में अनेक देशों के ढीले-ढाले गिरोह होते थे। इन सभी में आदर्शों या उसूलों का कोई समान दृष्टिकोण नहीं पाया जाता था। लेकिन अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र ने रेलवे और आमदरफ़्त के दूसरे ज़रियों की वजह से और एक-समान शिक्षा-प्रणाली के कारण अपने देश की अनेक जातियों में समान दृष्टिकोण पैदा कर दिया। ये अनेक जातियाँ धीरे-धीरे मिलकर एक जाति होगई। यह प्रवृत्ति अभीतक ख़त्म नहीं हुई है; मेल का यह सिलसिला अभीतक जारी है। इतने बड़े पैमाने पर सम्मिश्रण का कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

संयुक्तराष्ट्र ने योरप की पेचीदगियों और यूरोपीय ताक़तों की साज़िशों से दूर रहने की कोशिश की। संयुक्तराष्ट्र यह भी चाहता था कि योरप उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मामलात से अलग रहे। मैं तुम्हें 'मनरो सिद्धान्त' (Monroe Doctrine) के बारे में बता चुका हूँ। जब चन्द यूरोपियन शक्तियों ने अपनेको 'पवित्र मित्रदल' (Holy Alliance) का नाम देकर दक्षिण अमेरिका में स्पेन का साम्राज्य क़ायम रखने के लिए दख़ल देना चाहा, उस वक़्त अमेरिका के प्रेसीडेण्ट मनरो ने एक राजनैतिक उसूल का ऐलान किया था। वह यह कि सारे अमेरिका में संयुक्त-राष्ट्र किसी भी यूरोपियन शक्ति को फ़ौजी दस्तन्दाज़ी करने की इजाज़त न देगा।

इसीका नाम 'मनरो डाक्टरिन' पड़ा। इस उसूल ने नये पैदा हुए दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्रों को योरप के चंगुल से बचा लिया। इसकी वजह से इंग्लैण्ड से एक दफ़ा लड़ाई भी छिड़ गई, लेकिन अमेरिका इस सिद्धान्त पर, आज सौ बरस से ज्यादा होते हैं, डटा रहा है।

दक्षिण अमेरिका उत्तरी अमेरिका से बिलकुल जुदा था और सौ बरस के जमाने में इस भेद में कोई कमी नहीं हुई। उत्तर में कनाडा दिन-दिन संयुक्तराष्ट्र की तरह होता जाता है। लेकिन दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र वैसे नहीं बन रहे हैं। मैंने तुम्हें पहले बताया है कि दक्षिण अमेरिका के ये प्रजातन्त्र—और इनमें मैक्सिको को भी शामिल करलेना चाहिए, गो वह उत्तर अमेरिका में है—लैटिन प्रजातन्त्र कहलाते हैं। अमेरिका और मैक्सिको की सरहद दो भिन्न जातियों और संस्कृतियों को जुदा करती है। इस सरहद के दक्षिण में मध्य-अमेरिका की पतली पट्टी के उसपार और दक्षिण अमेरिका के विशाल महाद्वीपभर में, सभी जगह, जनता की भाषा स्पेनी और पुर्तगाली है। स्पेनी भाषा का ज्यादा जोर है। मेरा ख़याल है कि पुर्तगाली सिर्फ़ ब्राजिल में ही बोली जाती है। दक्षिण अमेरिका के कारण ही स्पेनी भाषा आज संसार की बडी भाषाओं में स्थान रखती है। लैटिन अमेरिका अब भी संस्कृति के सम्बन्ध में स्पेन का मुंह देखता है। संयुक्त अमेरिका और कनाडा में जो जातीय वर्ग-भेद पाये जाते हैं वे लैटिन अमेरिका में नहीं पाये जाते। स्पेनी लोगों और अमेरिका के आदिम निवासियों यानी रेडइंडियनों में, और कुछ हद तक हब्शियों के साथ, शादी-ब्याह आपस में बराबर होते हैं। इसकी वजह से यहाँ एक मिश्रित जाति पैदा होगई है।

सौ वर्षों से आजाद होते हुए भी लैटिन अमेरिका के ये प्रजातन्त्र शान्तिपूर्वक जिन्दगी बिताना पसन्द नहीं करते। समय-समय पर इन देशों में क्रान्ति होती है और सैनिक डिक्टेटर पैदा होते रहते हैं। यहाँकी हमेशा तब्दील होनेवाली राजनीति और सरकारों की प्रगति को समझना आसान नहीं है। दक्षिण अमेरिका के तीन बडे-बडे देश, अर्जेण्टाइन, ब्राजिल और चाइल हैं। इनको ए० बी० सी० देश भी कहते हैं, क्योंकि इनके नाम का पहला अक्षर क्रमशः ए० बी० सी० है। उत्तर अमेरिका में ख़ास लैटिन अमेरिकन देश मैक्सिको है।

'मनरो सिद्धान्त' के जरिये संयुक्तराष्ट्र ने लैटिन अमेरिका के मामलात में योरप को दख़ल देने से रोक दिया। लेकिन ज्यों-ज्यों संयुक्तराष्ट्र वाले खुद अमीर और खुशहाल होते गये, अपने विस्तार के लिए बाहर नये क्षेत्र की तलाश करने लगे। स्वभावतः इनकी आँखें पहले लैटिन अमेरिका पर पडीं, लेकिन ये लोग साम्राज्य बनाने के पुराने ढंग पर नहीं चले। इन्होंने लैटिन अमेरिका के किसी भी हिस्से पर

जबरदस्ती क़ब्ज़ा नहीं किया। इन लोगों ने इन देशों में अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनके बाजारों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इन्होंने दक्षिण में रेलवे, खान तथा दूसरे रोजगारों में अपनी पूंजी लगादी। सरकारों को, और कभी-कभी क्रान्तियों के समय एक-दूसरे के ख़िलाफ़ लड़नेवाले दलों को, कर्ज देना शुरू किया। 'इन्होंने' से मेरा मतलब अमेरिकन पूंजीपति और साहूकारों से है। अमेरिका की गवर्मेण्ट इनके पीछे इनकी मदद पर थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस दौलत की वजह से, जो इन्होंने लगा रक्खी थी या क़र्ज़ दे रक्खी थी, मध्य और दक्षिण अमेरिका की अनेक छोटी-छोटी सरकारों का नियंत्रण करने लगे। ये साहूकार इन देशों की एक पार्टी को धन या लड़ाई का सामान क़र्ज़ देकर और दूसरी पार्टी को मदद से इन्कार करके क्रान्ति तक पैदा करा सकते थे। इन साहूकारों और पूंजीपतियों के पीछे उत्तरी-अमेरिका की ताक़तवर सरकार थी। इसलिए दक्षिण अमेरिका के छोटे और कमजोर देश इनका क्या कर सकते थे ? कभी-कभी संयुक्तराष्ट्र ने इन प्रदेशों में शान्ति और अमन क़ायम रखने के बहाने किसी एक दल की मदद करने के लिए बाक़ायदा अपनी फ़ौजें भी भेजीं।

इस तरह अमेरिकन पूंजीपतियों ने दक्षिण अमेरिका के इन छोटे-छोटे देशों पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित कर लिया। अपने बैंक चलाये, रेलें जारी कीं और खानें खोदीं, और इन देशों से खूब मुनाफा उठाते रहे। लैटिन अमेरिका के बड़े देशों में भी पूंजी लगाये रहने की वजह से और मुद्रा पर अधिकार रखने के कारण इनका बहुत काफी असर था। इसका मतलब यह हुआ कि संयुक्तराष्ट्र ने इन देशों के धन पर या उसके बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह ग़ौर करने की चीज है, क्योंकि यह नये क़िस्म के साम्राज्य—आधुनिक ढंग के—साम्राज्य का नमूना है। इसे अदृश्य यानी आँख से न दिखाई देनेवाला साम्राज्य कहना चाहिए। यह आर्थिक साम्राज्य है, क्योंकि इस किस्म के साम्राज्य में साम्राज्य के जाहिरा चिन्ह न होते हुए भी देशों पर अधिकार रहता है और उनका शोषण किया जाता है। दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आजाद हैं। नक्शे को देखने से ये बड़े विशाल देश मालूम पड़ते हैं और इस बात का कोई भी निशान नहीं दिखाई देता कि किसी भी रूप में ये परतन्त्र होंगे, लेकिन इनमें से ज्यादातर मुल्कों पर संयुक्तराष्ट्र हावी है।

हमने अपने इतिहास की झलक में देखा है कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के साम्राज्य होते रहे हैं। इतिहास के शुरू में अगर एक जाति दूसरी जाति पर विजय पा जाती थी, तो उसका यह मतलब होता था कि हारी हुई जाति और भूमि

के साथ विजयी जो चाहे करे। विजयी लोग ज़मीन पर भी कब्ज़ा कर लेते थे और जनता पर भी; यानी हारे हुए लोग ग़ुलाम होजाते थे। यही आम रिवाज था। बाइबिल में हम पढ़ते हैं कि यहूदियों को बैबीलोनियन लोग ग़ुलाम बनाकर अपने देश पकड़ ले गये थे, क्योंकि यहूदी बैबीलोनियन लोगों से लड़ाई में हार गये थे। इस क़िस्म की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। धीरे-धीरे साम्राज्य का यह ढंग बदला और इसकी जगह पर दूसरे क़िस्म का साम्राज्य आगया, जिसमें सिर्फ़ ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया जाता था लेकिन जनता को ग़ुलाम नहीं बनाते थे; क्योंकि यह स्पष्ट होगया था कि ग़ुलाम बनाने की बनिस्बत टैक्स लगाकर या शोषण के अन्य साधनों से ग़ुलामों से ज्यादा आसानी के साथ पैसा निकाला जा सकता है। हममें से ज्यादातर लोग अभीतक इसी क़िस्म के साम्राज्य को साम्राज्य समझते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य, और हम लोगों का ख़याल है कि अगर अंग्रेज़ों के हाथ से हिन्दुस्तान की राजनैतिक हुकूमत निकल जाय तो हिन्दुस्तान आज़ाद हो जायगा। लेकिन अब तो साम्राज्य का यह रूप ख़तम होजाता है और इसकी जगह पर एक उन्नत और परिपूर्ण ढंग का साम्राज्य पैदा हो रहा है। सबसे नई तरह के इस साम्राज्य में हारे हुओं की ज़मीन पर भी क़ब्ज़ा नहीं किया जाता। ऐसे साम्राज्य तो सिर्फ़ देश की दौलत पर या उसकी उत्पत्ति के साधनों यानी पैदावार के ज़रियों पर अपना अधिकार जमाते हैं। इस ढंग से हारे देश का अच्छी तरह शोषण करके ख़ूब मुनाफ़ा भी उठाया जा सकता है और साथ ही उस देश पर हुकूमत करने या दमन करने की ज़िम्मेदारी से भी बचत हो जाती है। असली तौर से जनता और भूमि दोनों पर क़ब्ज़ा रहता है और कम-से-कम परेशानी से उन्हें वश में रक्खा जाता है।

इस तरह ज्यों-ज्यों ज़माना बीतता गया है, साम्राज्यवाद अपनेको पक्का और और ठोस करता गया है; और आधुनिक ढंग का साम्राज्य अदृश्य आर्थिक साम्राज्य है। जब ग़ुलामी का रिवाज मिट गया और उसके बाद जब सामन्ती ढंग की ग़ुलामी दूर हुई, तब लोगों का ख़याल था कि मनुष्य अब आज़ाद रहेंगे। लेकिन जल्दी ही यह मालूम होगया कि जनता को फिर वही लोग दुह रहे हैं और दबाये हुए हैं, जिनके हाथ में पैसे की ताक़त है। ग़ुलाम और आसामी न रहकर लोग मजदूरी के ग़ुलाम होगये। उनके लिए आज़ादी फिर भी दूर ही रही। यही हालत राष्ट्रों की भी है। लोग समझते हैं कि एक जाति का दूसरे पर राजनैतिक शासन ही सिर्फ़ एक मुसीबत है और अगर यह जाती रहे तो आज़ादी आप ही आप आजायगी। लेकिन यह बात सही नहीं मालूम होती, क्योंकि हम देखते हैं कि अनेक देश ऐसे हैं जो राजनैतिक दृष्टि से तो आज़ाद हैं लेकिन आर्थिक ग़ुलामी के कारण पूरी तौर पर दूसरे देश की मुट्ठी में

है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य तो बहुत प्रकट और स्पष्ट है। हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन का राजनैतिक शासन है। इस दीखनेवाले साम्राज्य के साथ-साथ और इसके एक आवश्यक अंग के रूप में ब्रिटेन का भारतवर्ष पर आर्थिक प्रभुत्व भी है। यह बिलकुल सम्भव है कि भारतवर्ष पर से ब्रिटेन का ऊपर से दीखनेवाला साम्राज्य बहुत दिन गुजरने के पहले ही जाता रहे, लेकिन आर्थिक शासन अदृश्य साम्राज्य के रूप में बना रहे। अगर ऐसी हालत हो तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रिटेन के जरिये हिन्दुस्तान का शोषण जारी है।

विजयी शक्ति के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद कम-से-कम परेशानी पैदा करनेवाला प्रभुत्व है। इसके कारण पराजितों में उतना असंतोष नहीं फैलता जितना राजनैतिक प्रभुत्व होने पर फैलता है। क्योंकि बहुत-से लोग इसे नहीं देख पाते। लेकिन जब इस प्रभुत्व का बोझ दबाने लगता है, तब लोग इसके बुरे असर को महसूस करने लगते हैं और जनता में क्रोध पैदा होने लगता है। लेकिन अमेरिका में आजकल संयुक्तराष्ट्र के प्रति कोई प्रेम नहीं, काफ़ी क्रोध पाया जाता है। बहुत बार कोशिश की गई कि लैटिन अमेरिकन क़ौमों को संगठित करके उत्तरी अमेरिका के प्रभुत्व को रोका जाय। लेकिन ये क़ौमें उस वक़्त तक ज्यादा कामयाबी हासिल नहीं कर सकतीं, जबतक इनके आपसी झगडे और इनकी अक्सर होती रहनेवाली महलों तक ही महदूद क्रान्तियाँ बन्द नहीं होतीं।

संयुक्तराष्ट्र का दीखनेवाला साम्राज्य फिलीपाइन के टापुओं पर है। मैंने तुम्हें अपने पहले ख़त में बताया था कि किस तरह अमेरिका ने इन टापुओं पर स्पेन की लड़ाई के बाद क़ब्जा कर लिया था। १८९८ ई० में अटलांटिक सागर के क्यूबा नामक टापू के बारे में यह लड़ाई शुरू हुई थी। क्यूबा आजाद होगया, लेकिन यह आजादी सिर्फ़ नाम की है। क्यूबा और हेटी दोनों पर अमेरिका का नियंत्रण है।

कुछ वर्ष हुए, पनामा की नहर खुली। यह मध्य-अमेरिका की एक छोटी-सी पट्टी है, जो प्रशान्तसागर और अटलांटिक सागर को मिलाती है। ५० वर्ष से ज्यादा गुजरे, स्वेज नहर को बनानेवाले फर्डिनेण्ड डी लेसेप्स ने इसकी योजना बनाई थी; लेकिन वह बेचारे परेशानी में फँस गये और अमेरिकन लोगों ने इस नहर को बनाया। अमेरिकन लोगों को मलेरिया और पीतज्वर के कारण बहुत कठिनाई में पड़ जाना पड़ा, लेकिन इन लोगों ने इन बीमारियों को मिटा देने का इरादा कर लिया था और उसमें ये सफल रहे। जिन-जिन जगहों पर मलेरिया के मच्छर पैदा होते थे, उनको और बीमारी फैलाने के दूसरे सारे जरियों को इन्होंने मिटा दिया और नहर के क्षेत्र को बिलकुल स्वास्थ्यवर्द्धक बना दिया। यह नहर पनामा के नन्हें-से प्रजातन्त्र के अन्दर है। लेकिन

संयुक्तराष्ट्र का इस नहर पर भी नियंत्रण है, और पनामा के छोटे-से प्रजातन्त्र पर भी। अमेरिका के लिए यह नहर बड़े फायदे की चीज़ है, नहीं तो जहाज़ों को दक्षिण अमेरिका के चारों ओर घूमकर जाना पड़ता। लेकिन फिर भी पनामा नहर का उतना महत्व नहीं, जितना स्वेज़ नहर का है।

इस तरह संयुक्तराष्ट्र दिन-दिन मज़बूत और अधिक दौलतमन्द होता गया। इस देश ने बहुत-सी चीज़ें पैदा कीं—जैसे करोड़पति लोग और आकाशचुम्बी महल। अमेरिकन लोगों ने बहुत-सी बातों में योरप की बराबरी करली और उससे आगे भी बढ़ गये। व्यावसायिक दृष्टि से ये लोग संसार की प्रमुख क़ौम होगये, और इनके यहां के मज़दूरों के रहन-सहन का ढंग और देशों की बनिस्बत ऊँचा होगया। इस ख़ुशहाली की वजह से १९वीं सदी के इंग्लैण्ड के समान इस देश में साम्यवाद और दूसरे उग्र विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिला। दो-चार अपवादों को छोड़कर अमेरिका के मज़दूर बहुत ठंडे और झगडों से अलग रहनेवाले थे। यहांके मज़दूरों को दूसरी जगहों की बनिस्बत बेहतर मज़दूरी मिलती है, इसलिए ये लोग भविष्य की संदेह से भरी हुई बेहतरी की उम्मीद में वर्त्तमानकाल के अपने निश्चित सुखों को ख़तरे में क्यों डालें? अमेरिका के मज़दूरों में ज्यादातर इटैलियन और दूसरे 'डागो' वर्ग के लोग थे (जैसा कि उन्हें हिक़ारत के लफ़्ज़ों में कहा जाता था)। ये लोग कमज़ोर और असंगठित थे और नफ़रत की नज़र से देखे जाते थे। जिन मज़दूरों की तनख़्वाहें ज्यादा थीं, वे भी इन 'डागो' से अपनेको अलग और ऊँचा समझते थे।

अमेरिका की राजनीति में दो दल पैदा हुए। एक 'रिपब्लिकन' (जनतन्त्रवादी) और दूसरा 'डेमोक्रेटिक' (प्रजासत्तावादी)। इंग्लैण्ड के समान, और बहुत हद तक उससे भी ज्यादा, यहां ये दोनों दल दौलतमन्दों के प्रतिनिधि थे। इनमें उसूलों का कोई विशेष झगड़ा नहीं था। इसे अगर नागनाथ और साँपनाथ का उदाहरण कहा जाय तो अनुचित न होगा।

जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तो यह हालत थी और अन्त में अमेरिका भी खिंचकर लड़ाई के भँवर में जा पड़ा।

: १३९ :

आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच संघर्ष के सातसौ वर्ष

४ मार्च, १९३३

आओ, अब अटलांटिक महासागर फिर पार करके पुरानी दुनिया में वापस चलें। मोटर या हवाई जहाज से आते हुए मुसाफिर को पहला मुल्क जो मिलता है, वह आयरलैण्ड है। इसलिए हम यहीं अपनी पहली मंजिल रक्खेंगे। यह हरा-भरा और सुन्दर टापू योरप के सबसे आखिरी पश्चिमी छोर पर अटलांटिक सागर में स्थित है। यह टापू छोटा-सा है और संसार के इतिहास की मुख्य धाराओं से दूर जा पड़ा है। लेकिन यद्यपि यह नन्हा-सा है, मगर इसका इतिहास अद्भुत और दिलचस्प घटनाओं से भरा है और पिछली अनेक सदियों से यह क़ौमी आजादी की लड़ाई में जबरदस्त क़ुरबानी की भावना और न थकनेवाली बहादुरी का सबूत देता आया है। एक नजदीकी ताक़तवर राष्ट्र के ख़िलाफ़ अपनी इस लड़ाई में आयर्लैण्ड ने धीरज का आश्चर्यजनक नमूना दुनिया के सामने रक्खा है। साढ़े सात सौ बरस से ज्यादा गुजरे, जब यह लड़ाई शुरू हुई थी और आजतक ख़त्म नहीं हुई। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद की असली सूरत चीन, हिन्दुस्तान और दूसरी जगहों में देख चुके हैं, लेकिन आयर्लैण्ड तो इसका शिकार बहुत पहले से हो रहा है। फिर भी इस देश ने कभी इस साम्राज्यवाद के सामने ख़ुशी से सिर नहीं झुकाया और क़रीब-क़रीब हरेक पीढ़ी में इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ बग़ावत करता रहा। इस देश के बहादुर पुत्रों ने स्वतंत्रता के लिए लड़ते-लड़ते प्राण दिये, या अंग्रेज अफ़सरों ने उन्हें फांसी पर लटका दिया। आयरिश लोगों की काफ़ी तादाद अपनी मातृभूमि को, जिसे वे बेहद चाहते थे, छोड़कर दूसरे देशों में जा बसी। बहुत-से इंग्लैण्ड से लड़नेवाली विदेशी फौजों में भरती होगये, ताकि वे उस मुल्क के ख़िलाफ अपनी ताक़त लगा सकें जिसने उनकी मातृभूमि को दबा रक्खा था और जो उसपर अत्याचार कर रहा था। आयर्लैण्ड के बहुतेरे निर्वासित यानी जलावतन लोग दूर-दूर देशों में फैल गये और जहाँ-जहाँ ये गये वहाँ-वहाँ अपने दिल में आयर्लैण्ड का कुछ हिस्सा लेते गये।

दुःखी लोग तथा सताई हुई, पामाल और लड़ाई में फँसी हुई क़ौमें, यानी वे तमाम लोग जो असन्तुष्ट हैं और जिन्हें वर्तमान में कुछ भी आनन्द नहीं, पुराने जमाने की याद में सुख अनुभव करते हैं और उसी बीते जमाने की याद में शान्ति की तलाश करते हैं। वे अपने गुजरे जमाने के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर कहते और सोचते हैं और अपने बीते बड़प्पन की याद करके सन्तोष पाते हैं। जब वर्तमान काल दुःख के अँधेरे से भरा होता है, गुजरे जमाने से सन्तोष और उत्साह पैदा करनेवाला आश्रय मिल जाता है। पुरानी शिकायतें क़ायम रहती हैं और लोग उनको नहीं भूलते। गुजरे हुए जमाने

की ओर इस तरह किसी राष्ट्र का बराबर देखते रहना उसकी तन्दुरुस्ती की निशानी नहीं है। स्वस्थ राष्ट्र और स्वस्थ देश वर्त्तमान काल में कर्म करते हैं और अपने भविष्य की तरफ़ देखते हैं, लेकिन जो आदमी या देश आज़ाद नहीं वह स्वस्थ भी नहीं होता। उसके लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह बीते हुए ज़माने की तरफ़ नज़र रक्खे और एक हद तक गुज़रे ज़माने में अपनी ज़िन्दगी का एक हिस्सा बितावे।

इसीलिए आयर्लैण्ड अभीतक अपने भूतकाल में अपनी ज़िन्दगी गुज़ारता है और आयरिश लोग अभीतक अपने उस गुज़रे ज़माने की याद में, जबकि वे आज़ाद थे, खुशी महसूस करते हैं। अपने देश की आज़ादी की अनेक लड़ाइयाँ और उसकी पुरानी शिकायतें उन्हें साफ़-साफ़ याद हैं। उन्हें आज से चौदह सौ बरस पुराना ज़माना याद आता है— ईसा की छठी सदी का, जब पश्चिमी योरप के लिए आयर्लैण्ड विद्या का केन्द्र था और जब यहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने आते थे। उस वक्त रोमन साम्राज्य का पतन हो चुका था; वंडाल और हूण लोग रोमन सभ्यता को चकनाचूर कर चुके थे। कहा जाता है कि उस ज़माने में आयर्लैण्ड एक ऐसा मुल्क था, जिसने योरप में विद्या का पुनरुद्धार होने तक संस्कृति की ज्योति जगाये रक्खी। ईसाई धर्म पहले आयर्लैण्ड में आया। कहा जाता है कि आयर्लैण्ड के आदि-सन्त सेण्ट पैट्रिक ईसाई मत को आयर्लैण्ड लाये थे। आयर्लैण्ड से ही यह धर्म उत्तरी इंग्लैण्ड में फैला। आयर्लैण्ड में बहुत-से मठ खुले। हिन्दुस्तान के पुराने आश्रमों और बौद्ध विहारों की तरह वे भी विद्या के केन्द्र थे, जहाँ खुली हवा में शिक्षा दी जाती थी। इन्हीं मठों से उत्तरी और पश्चिमी योरप में ईसाई मत का नया धर्म-प्रचार करने के लिए मिशनरी लोग जाते थे। आयरिश मठों में कुछ साधुओं ने बहुतेरी अच्छी किताबें लिखीं। डबलिन में आज भी इसी तरह की एक सुन्दर पाण्डुलिपि मौजूद है, जिसे 'बुक आफ केल्स' कहते हैं और जो अन्दाज़न बारह सौ बरस हुए तब लिखी गई थी।

छठी सदी से इधर दो-तीन सौ बरस तक के युग को बहुतेरे आयरिश लोग आयर्लैण्ड का सतयुग समझते हैं, जबकि गैलिक संस्कृति अपनी पूरी ऊँचाई पर थी। शायद बहुत ज़माना गुज़र जाने की वजह से यह युग ख़ास तौर से दिलचस्प मालूम होता है और जितना महान् यह असल में था उससे कहीं ज्यादा महान् दिखाई देता है। उस वक़्त आयर्लैण्ड कई जातियों में बँटा हुआ था और वे जातियाँ बराबर आपस में लड़ा-भिड़ा करती थीं। आपस में झगड़ते रहना, हिन्दुस्तान की तरह, आयर्लैण्ड की भी कमज़ोरी थी। इसके बाद डेन्स[१] और नार्समैन[२] आये और उन्होंने इंग्लैण्ड और

१. डेन्स—डेनमार्क के लोग।
२. नार्समैन—स्केण्डीनेविया का निवासी।

फ़ांस की तरह आयरिश लोगों को भी हरा कर देश के बहुत वडे हिस्से पर क़ब्जा कर लिया। ग्यारहवीं सदी के शुरू में 'ब्रियान वोरूना' नाम के मशहूर आयरिश राजा ने डेन्स लोगों को हराकर कुछ वक़्त के लिए आयर्लैण्ड को एक सूत्र में बाँध लिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद यह जाति फिर बिखर गई।

तुम्हें याद होगा कि नार्मनों[1] ने विजेता 'विलियम' की मातहती में ग्यारहवीं सदी में इंग्लैण्ड को जीता था। इन्हीं ऐंग्लो-नार्मनों ने सौ बरस के बाद आयर्लैण्ड पर धावा किया और जिस हिस्से पर क़ब्ज़ा किया उसका नाम 'पेल' रक्खा। शायद इसीसे अंग्रेज़ी भाषा में 'बियांड दि पेल' वाक्य प्रचलित हुआ है। 'पेल' के बाहर यानी जाति से अलग। ११६९ ई० के इस ऐंग्लोनार्मन हमले ने गैलिक संस्कृति को सख़्त धक्का पहुँचाया और इसी समय से आयरिश जातियों के साथ बराबर लड़ाई की शुरुआत होती है। ये लड़ाइयाँ, जो क़रीब सौ बरस के जारी रहीं, बहुत ज्यादा जंगली और क्रूर थीं। ऐंग्लो-नार्मन लोग, जिन्हें अब अंग्रेज़ कहना चाहिए, आयरिश लोगों को अर्द्ध-सभ्य जाति समझकर हमेशा नफ़रत की नज़र से देखते रहे। इन दोनों में जाति का भेद था ही—अंग्रेज़ लोग ऐंग्लो-सैक्सन जाति के थे और आयरिश केण्ट थे—बाद को इनमें धर्म का भी भेद पैदा होगया। अंग्रेज़ और स्काच प्रोटेस्टेण्ट होगये और आयरिश लोग अपने पुराने धर्म रोमन कैथलिक पर ही क़ायम रहे। इसलिए अंग्रेज और आयरिश लोगों की इन लड़ाइयों में जातीय (Racial) और मज़हबी लड़ाइयों की पूरी कटुता पाई जाती है। अंग्रेज़ों ने इरादा करके दोनों क़ौमों के मिलाप को रोका। एक क़ानून भी इस सम्बन्ध में बना—'किलकैनी का क़ानून', जिसके मुताबिक अंग्रेज़ और आयरिश में अन्तर्जातीय विवाह रोक दिया गया।

आयर्लैण्ड में एक ग़दर के बाद दूसरा ग़दर होता था और ये सब कठोर निर्दयता के साथ दबा दिये जाते थे। आयरिश लोग स्वभावतः अपने विदेशी शासकों और ज़ालिमों से नफ़रत करते थे और जब कभी इन्हें मौक़ा मिलता, और बेमौक़ा भी, ये लोग अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह कर बैठते थे। "इंग्लैण्ड की मुसीबत आयर्लैण्ड का सुअवसर है," यह पुरानी कहावत है। राजनैतिक और धार्मिक कारणों से आयर्लैण्ड अक्सर इंग्लैण्ड के दुश्मनों की, जैसे फ़ान्स और स्पेन की, तरफ़दारी करता रहता था। इससे अंग्रेज़ों को बहुत क्रोध होता था और वे समझते थे मानों किसीने पीछे से कटार भोंक दी। इसीलिए वे हर तरह के ज़ुल्म के साथ इनसे बदला लेते थे।

१. नार्मन—स्केण्डीनेविया की एक जाति जो दसवीं सदी की शुरुआत में उत्तरी फ़ांस में आकर बस गई और जिसने वहां नार्मण्डी की डची का निर्माण किया। इसका मामूली अर्थ नार्मण्डी का बाशिन्दा है।

रानी एलिज़ाबेथ के ज़माने में, सोलहवीं सदी में, यह तय किया गया कि आयलैंण्ड के सरकश वाशिन्दों की बाग़ी ताक़त को तोड़ने के लिए इनमें अंग्रेज़ ज़मींदार कायम कर दिये जायं, जो इन्हें बराबर दवाये रहें। इसलिए आयलैंण्ड की ज़मीन जव्त करली गई और वहाँ के पुराने ज़मींदारों की जगह पर अंग्रेज़ ज़मींदार क़ायम किये गये। इस तरह आयलैंण्ड किसानों का राष्ट्र बन गया, जिनके ज़मींदार विदेशी थे। ये ज़मींदार लोग आयरिश लोगों के लिए सैकडों बरस गुज़र जाने पर भी विदेशी ही बने रहे।

रानी एलिज़ाबेथ के वारिस जेम्स प्रथम ने आयरिश लोगों की शक्ति तोडने की कोशिश में एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने यह निश्चय किया कि आयलैंण्ड में विदेशी लोगों का बाक़ायदा उपनिवेश बना दिया जाय और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयलैंण्ड में अलस्टर के छहों ज़िलों की सारी ज़मीन जव्त करली। ज़मीन मुफ़्त में मिलने लगी और लेभग्गुओं के झुण्ड-के-झुण्ड स्काटलैंण्ड और इंग्लैण्ड से वहाँ पहुँच गये। इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड से आये हुए ये लोग ज़मीन लेकर यहीं बस गये और किसानी करने लगे। उपनिवेश की इस प्रवृत्ति को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद माँगी गई, और लन्दन वालों ने तो 'अलस्टर की बस्तियाँ' (Ulster Plantations) के लिए एक ख़ास संस्था ही बना दी थी। इसी वजह से उत्तर का 'डेरी' नाम का शहर आज 'लन्दन डेरी' कहलाता है।

इस तरह अलस्टर आयलैंण्ड में ब्रिटेन का एक पैवन्द बन गया और इसमें कुछ आश्चर्य नहीं अगर आयरिश लोगों को इस बात से बड़ा गुस्सा पैदा होता हो। ये नये अलस्टरी आयलैंण्ड के लोगों से नफ़रत करते थे और उन्हें नीच समझते थे। इंग्लैण्ड की यह कितनी आश्चर्यजनक चालाकी की साम्राज्यवादी हरकत थी कि उसने आयलैंण्ड के इस तरह एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दो हिस्से कर दिये। अलस्टर की गुत्थी अभी तक, तीन सौ बरस गुज़र जाने पर भी, नहीं सुलझ सकी है।

अलस्टर में इस उपनिवेश के क़ायम होजाने के बाद इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के दरमियान गृह-युद्ध शुरू हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ़ प्रोटेस्टैण्ट और प्यूरिटन थे; कैथलिक आयलैंण्ड स्वभावतः बादशाह की तरफ़ झुका। अलस्टर ने पार्लमेण्ट का साथ दिया। आयरिश लोग डरते थे और डरने की वजह भी थी कि प्यूरिटन लोग कैथलिक धर्म को नष्ट कर देंगे। इसलिए १६४१ में इन लोगों ने एक बहुत बड़ा विद्रोह खड़ा कर दिया। यह विद्रोह और इसका दमन पहले के विद्रोहों और दमन की बनिस्बत कहीं अधिक जंगली और क्रूर था। आयलैंण्ड के कैथलिक लोगों ने प्रोटेस्टेण्ट लोगों को बेरहमी से क़त्ल किया था। क्रामवेल ने इसका भयंकर बदला लिया।

आयरिश लोगों का कई दफ़ा क़त्लेआम हुआ, खास कर कैथलिक पादरियों का, और आयर्लैण्ड में आजतक क्रामवेल का नाम कटुता के साथ याद किया जाता है।

इस ज़ुल्म और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढी वाद आयर्लैण्ड में फिर बग़ावत और घरेलू लड़ाई उठ खडी हुई, जिसकी दो घटनायें मशहूर हैं। एक लन्दन-डेरी का और दूसरे लिमेरिक का घेरा। १६८८ ई० में आयर्लैण्ड के कैथलिक लोगों ने लन्दनडेरी के प्रोटेस्टैण्ट लोगों को घेर लिया। प्रोटेस्टेण्ट लोगों ने बहुत बहादुरी से मुक़ाबिला किया, हालाँकि उनके पास खाने की सामग्री भी नहीं थी और वे भूखों मर रहे थे। अंग्रेज़ी जहाज़ आखिर चार महीने के घेरे के बाद खाने की सामग्री और सहायता लाये।

१६९० ई० में लिमेरिक में बिलकुल इसका उलटा हुआ। वहाँ कैथलिक मत माननेवाले आयरिश लोगों को अंग्रेज़ों ने घेर लिया था। इस घेरे का वीर पुरुष पैट्रिक सार्सफील्ड था, जिसने बहुतसी दिक़्क़तों के होते हुए भी बहुत शान के साथ लिमेरिक की हिफ़ाज़त की। इस लड़ाई में आयर्लैण्ड की स्त्रियाँ भी लडीं और आयर्लैण्ड के गाँवों में आजतक सार्सफील्ड और उसके बहादुर जत्थे की वीरता के गाने गैलिक भाषा में गाये जाते हैं। सार्सफील्ड को अख़ीर में यह बहादुराना लड़ाई बन्द करनी पडी; लेकिन तब जब अंग्रेज़ों ने उससे सम्मानपूर्ण सुलह की। लिमेरिक के इस सुलहनामे की एक शर्त यह थी कि आयरिश कैथलिकों को पूरी नागरिक और मज़हबी आज़ादी दी जायगी।

लिमेरिक के इस सुलहनामे को अंग्रेज़ों ने, या यों कहो आयर्लैंड में बसे हुए अंग्रेज़ ज़मींदार के कुटुम्बों ने, तोड़ डाला। ये प्रोटेस्टेण्ट ज़मींदार डबलिन की मातहत पार्लमेण्ट पर हावी थे। लिमेरिक में कस्मिया वादा करने के बाद भी, इन्होंने कैथलिक लोगों को नागरिक या मज़हबी आज़ादी देने से इन्कार कर दिया। उलटे इन्होंने कुछ ख़ास क़ानून ऐसे बना दिये जिससे कैथलिक लोगों के साथ अन्याय होता था और जिससे आयर्लैंड के ऊन के व्यवसाय का सत्यानाश होगया। कैथलिक किसान बेरहमी से कुचल दिये गये। याद रक्खो कि यह कारंवाई चन्द विदेशी प्रोटेस्टेण्ट ज़मींदारों ने जनता की बहुत बडी तादाद के ख़िलाफ़ की थी, जो कैथलिक थी और जिसमें ज्यादातर किसान थे। लेकिन सब शक्ति तो इन अंग्रेज़ ज़मींदारों के हाथ में थी और ये लोग अपनी रियासतों से दूर रहते थे और अपने किसानों को इन्होंने अपने कारिन्दों और नौकरों की बेरहमी से भरी लालच के हाथ में छोड़ दिया था।

लिमेरिक की कहानी तो पुरानी है; लेकिन वादाख़िलाफ़ी के कारण क्रोध और विद्वेष की जो आग उस वक्त भड़की थी, वह अभीतक शान्त नहीं हुई है और आज भी

आयर्लैण्ड के राष्ट्रीय लोगों के सामने लिमेरिक की घटना अंग्रेजों की धोखाबाजी जबरदस्त मिसाल है। इस वादाखिलाफी, असहिष्णुता, दमन और जमींदारों अत्याचार के कारण उस वक्त आयर्लैण्ड की बहुत काफ़ी जनता दूसरे देशों में बसी। आयर्लैण्ड के चुने-चुने नवयुवक विदेशच ले गये और किसी भी ऐसे देश फौज में भर्ती होगये जो अंग्रेजों से युद्ध कर रहा हो। जहाँ भी कहीं अंग्रेजों के खिल लड़ाई होती, ये आयरिश नवयुवक वहाँ जरूर पहुँच जाते थे।

जोनाथन स्विफ्ट, जिसने 'गुलीवर्स ट्रावेल' नामक पुस्तक लिखी. है, इसी युग हुआ है। यह १६६७ से १७४५ तक जिन्दा रहा। इसने अपने देशवासियों को सलाह दी है। इस सलाह से अंग्रेजों के प्रति इसके क्रोध की मात्रा का अन्दाज लग जा सकता है। इसकी सलाह यह थी—"इनके (अंग्रेजों के) कोयले को छोड़कर व हरेक अंग्रेजी चीज जला डालो।" डबलिन में सेंट पैट्रिक गिरजे में चन्द पंक्तियाँ, जोनाथन स्विफ्ट की क़ब्र पर लिखी हैं, इससे भी ज्यादा कटु हैं। ये पंक्तियाँ श उसने खुद ही लिखी थीं।

Here lies the body of
Jonathan Swift
For thirty years Dean
Of this Cathedral
Where savage indignation can
No longer gnaw his heart.
Go, traveller, and
Imitate, if you can, one who
Played a man's part in defence
Of liberty.

"यहाँ जोनाथन स्विफ्ट का शरीर पड़ा हुआ है। वह ३० वर्ष तक इस गिर का डीन (अधिकारी) था। जंगली रोष उसके हृदय को काट न सका। यात्री! जाओ और कर सको तो उस आदमी का अनुकरण करो, जिसने आजाद की रक्षा में एक मर्द का पार्ट अदा किया है।"

१७७४ ई० में अमेरिका की आजादी की लड़ाई छिड़ी, और एटलांटिक के अंग्रेजी फ़ौज का भेजना जरूरी होगया। आयर्लैण्ड में कोई ब्रिटिश फ़ौज न रह और उधर फ्रान्सीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योंकि फ्रान्स ने भी हालैंड के खिल लड़ाई शुरू कर दी थी। इसलिए आयरिश कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ने रक्षा लिए वालंटियर (स्वयंसेवक) दल बनाना शुरू कर दिया। कुछ अरसे के लिए ये द अपना पुराना झगड़ा भूल गये; आपस में सहयोग करने लगे और इनको अपनी श का पता चल गया। एक दूसरे विद्रोह का खतरा इंग्लैण्ड के सामने खड़ा होगया अ इस डर से कि कहीं आयर्लैण्ड भी अमेरिका की तरह हाथ से न निकल जाय, इंग्लैण्ड

आयर्लैण्ड को स्वतन्त्र पार्लमेण्ट देदी। इस तरह उसूल की दृष्टि से तो आयर्लैण्ड, ब्रिटिश बादशाह के अधीन, इंग्लैण्ड से आजाद होगया, लेकिन आयरिश पार्लमेण्ट वही पुरानी और ज़मींदारों की संकीर्ण संस्था रही, जिसमें केवल प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जो कैथलिक लोगों पर पहले दवाव डालते रहे थे। कैथलिक लोगों पर अभीतक अनेक प्रकार की बन्दिशें थीं। हाँ, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना जरूर होगया था कि अब कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टेण्ट एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आते जाते थे। इस पार्लमेण्ट के नेता हेनरी ग्रेटेन, जो स्वयं प्रोटस्टेण्ट थे, यह चाहते थे कि कैथलिक लोगों पर जो बन्दिशें हैं, वे हटा दी जायँ; लेकिन इस बात में उनको बहुत कम कामयाबी हासिल हुई।

इसी दरमियान फ्रान्स में क्रान्ति होगई, और आयर्लैण्ड को उससे बहुत आशायें बँध गई। आश्चर्य तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे के बहुत नजदीक होते जाते थे। 'संयुक्त आयरिश' (United Irishmen) नाम की एक संस्था खुली, जिसका उद्देश यह था कि कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों में मेल-जोल पैदा कराया जाय और कैथलिक लोगों को आजादी दिलाई जाय। सरकार ने इस 'यूनाइटेड आयरिशमेन' नाम की संस्था को पसन्द नहीं किया और यह दबा दी गई। इसलिए हस्बमामूल होनेवाली अनिवार्य क्रान्ति १७९८ ई० में फिर भड़क उठी। यह क्रान्ति पहले की क्रान्तियों की तरह अलस्टर और देश के दूसरे हिस्सों के दरमियान की मजहबी लड़ाई नहीं थी। यह एक राष्ट्रीय क्रान्ति या बग़ावत थी, जिसमें कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों शामिल थे। इस क्रान्ति को भी अंग्रेजों ने दबा दिया और इसके वीर पुरुष उल्फ टोन को, विद्रोही होने के अपराध में, फांसी पर लटका दिया गया।

इस तरह अब यह स्पष्ट था कि आयर्लैण्ड में एक स्वतन्त्र पार्लमेण्ट बना देने से आयरिश लोगों की स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं आया था। अंग्रेजी पार्लमेण्ट भी उस समय एक संकीर्ण और दूषित संस्था थी, जिसमें रिश्वत देकर लोगों का चुनाव हुआ करता था और जिसकी बागडोर ज़मींदारों का एक छोटा-सा गुट और चन्द बड़े-बड़े व्यापारी अपनी मुट्ठी में रखते थे। आयरिश पार्लमेण्ट में भी यही सब दोष पाये जाते थे। इसके अलावा उसमें ख़ास ख़राबी यह थी कि वह पार्लमेण्ट कैथलिक देश में क़ायम होते हुए भी मुट्ठीभर प्रोटेस्टेण्टों के हाथ में थी। ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि आयरिश पार्लमेण्ट को ख़त्म कर दिया जाय और आयर्लैण्ड को ब्रिटेन से मिला दिया जाय। आयर्लैण्ड में इस प्रस्ताव का जोरों से विरोध किया गया, लेकिन डबलिन की पार्लमेण्ट के मेम्बरों ने बहुत बड़ी-बड़ी रक़में रिश्वत लेकर अपने ही वोट से अपनी पार्लमेण्ट को ख़त्म कर दिया। सन् १८०० ई० में "ऐक्ट आफ़ यूनियन"

(Act of Union) पास हुआ और इस तरह ग्रेटन की चन्द दिनों की पार्लमेण्ट का ख़ात्मा हो गया। उसकी जगह पर अब चुने जाकर कुछ आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लन्दन जाने लगे।

इस दूषित आयरिश पार्लमेण्ट के ख़ात्मे से शायद बहुत बड़ा नुकसान नहीं हुआ, सिवा इसके कि यह मुमकिन था कि कुछ दिन के बाद यह पार्लमेण्ट बेहतर हो जाती। लेकिन यूनियन ऐक्ट ने एक बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचाया और शायद यही नुक़सान पहुँचाने के लिए वह बनाया भी गया था। प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिकों के दरमियान उत्तर और दक्षिण में मेल-जोल की जो प्रवृत्ति चल रही थी वह ख़त्म होगई। प्रोटेस्टेण्ट अलस्टर ने बाक़ी आयर्लैण्ड से मुँह मोड़कर अपना रुख़ दूसरी तरफ़ कर लिया और ये दोनों हिस्से एक-दूसरे से अलग होकर अपने-अपने रास्ते पर चल पडे। इन दोनों में एक दूसरा फ़र्क़ और पैदा होगया। अलस्टर ने इंग्लैण्ड के ढंग पर आधुनिक व्यवसाय को अपना लिया। आयर्लैण्ड के बाक़ी हिस्से में खेती का ही जोर रहा; लेकिन खेती भी इस प्रदेश में तरक़्क़ी नहीं कर सकी, क्योंकि कृषि-सम्बन्धी क़ानून दूषित थे। आयरिश जनता दूसरे देशों में जाकर बराबर बस रही थी, इसलिए उत्तर तो व्यावसायिक हो गया लेकिन दक्षिण और पूर्व और ख़ास तौर से पश्चिम व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े और मध्य युग के जैसे ही बने रहे।

'ऐक्ट आफ यूनियन' के ख़िलाफ़ भी बग़ावत हुई। तेजस्वी नौजवान राबर्ट इम्मेट इस क्षणिक बलवे का नेता था, और इसने अपने अनेक पूर्वज देशवासियों के समान फाँसी के तख़्ते पर प्राण दिये।

आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट के 'हाउस आफ कामन्स' यानी साधारण सभा में जाते थे, लेकिन कोई कैथलिक नहीं जा सकता था। कैथलिक लोगों को न तो आयर्लैण्ड और न इंग्लैण्ड में पार्लमेण्ट के सदस्य बनने का हक़ था। ये बन्दिशें १८२९ ई० से टूटीं और तबसे ही कैथलिक लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट में बैठने के अधिकारी समझे गये। डैनियल ओ कॉनेल नाम के आयरिश नेता ने ये बन्दिशें तुड़वाई थीं, इसलिए उसे 'लिबरेटर' यानी 'उद्धारक' की पदवी दी गई। धीरे-धीरे एक दूसरी भी तब्दीली हुई। वोट देने का हक़ ज्यादा लोगों को दिया गया। चूंकि आयर्लैण्ड इंग्लैण्ड से मिला दिया गया था, इसलिए इन देशों पर एक ही क़ानून लागू था। इस कारण १८३२ ई० का मशहूर 'रिफार्म बिल' आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड दोनों पर लागू हुआ और इसी प्रकार बाद का मताधिकार यानी राय देने का क़ानून भी। इस तरह ब्रिटिश कामन्स सभा में आयरिश सदस्य का रूप बदलने लगा। जमींदारों के प्रतिनिधि से बदलकर वह कैथलिक किसानों और आयरिश राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि होगया।

ग़रीबी के कारण, जमींदारों से पीड़ित और लगान से दबे हुए आयर्लैण्ड के किसानों का मुख्य भोजन आलू ही था। ये लोग क़रीब-क़रीब सिर्फ़ आलू ही खाकर ज़िन्दगी बसर करते थे और आजकल के हिन्दुस्तानी किसानों की तरह इनके पास भी संचय का अभाव था। इनके पास कुछ भी नहीं बचता था। जिससे संकट के समय ये सहारा पा सकें। ये लोग जिन्दगी और मौत की सीमा पर अपनी जिन्दगी गुज़ारते थे और इनमें प्रतिरोध की कोई ताक़त बाक़ी नहीं बची थी। १८६४ ई० में आलू की फ़सल नष्ट होगई, जिसके कारण इस देश में ज़बरदस्त अकाल पड़ गया। लेकिन अकाल के होते हुए भी जमींदारों ने लगान वसूल किया और जो न दे सके उन किसानों को खेतों से बेदखल कर दिया। आयरिश लोगों की बहुत बड़ी तादाद अपनी मातृभूमि छोड़कर अमेरिका चली गई, और आयर्लैण्ड क़रीब-क़रीब उजड़ गया। बहुत-से खेत बेजुते पड़े रहे और चरागाह बन गये।

जोते और बोये जा सकनेवाले खेतों का भेड़ों के लिए चरागाह बनते रहने का यह सिलसिला आयर्लैण्ड में क़रीब सौ बरस से ज्यादा वक़्त तक जारी रहा और अभी हम लोगों के जमाने तक चलता रहा है। इसकी ख़ास वजह यह थी कि इंग्लैण्ड में ऊनी कपड़ों के कारखानें बढ़ रहे थे। जितनी ज्यादा मशीनें काम में आती थीं, उत्पत्ति उतनी ही बढ़ती थी और ऊन की उतनी ही ज्यादा जरूरत पड़ती थी। इसलिए आयर्लैण्ड के जमींदारों को खेतों की बनिस्बत, जिनमें किसान काम करते थे, चरागाहों से ज्यादा मुनाफा था जिनमें कि भेड़ें चरती थीं। चरागाहों में बहुत कम आदमियों की जरूरत पड़ती है। इनमें तो सिर्फ़ चन्द मजदूरों से, जो भेड़ों की निगरानी कर सकें, काम चल जाता है। इसलिए खेती करनेवाले मजदूर जमींदारों के लिए बेकार होगये और उन्होंने अपने यहांसे किसानों को निकाल दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में, जिसकी आबादी बहुत कम थी, हमेशा बहुत-से फाजिल और बेरोजगार लोग पाये जाते थे। इस कारण आबादी के घटने का सिलसिला भी जारी रहा। आयर्लैण्ड बस 'व्यवसायी' इंग्लैण्ड को कच्चा माल पहुँचाने का एक क्षेत्र बन गया। खेतों के चरागाह बनने का पुराना सिलसिला अब उलट गया है और हल को अब फिर अपना पुराना स्थान मिल रहा है। आश्चर्य तो यह है कि यह स्थिति उस व्यापारिक युद्ध का नतीजा है, जो पारसाल १९३२ ई० से इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के दरमियान जारी है।

उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में खेती की समस्या, अनुपस्थित यानी दूर रहनेवाले ताल्लुक़ेदारों के शिकार दुःखी किसानों की दुर्दशा, आयर्लैण्ड की मुख्य समस्या रही है। आख़ीर में ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि अनिवार्य तरीक़े से सब जमींदारियाँ ख़रीद कर और किसानों में बाँटकर जमींदारों को बिलकुल

ख़त्म कर दिया जाय। जमींदारों को कोई नुकसान नहीं रहा। उन्हें सरकार से अपनी जमींदारी के पूरे दाम मिल गये। किसानों को जमीन मिली; लेकिन क़ीमत के बोझ के साथ। किसानों को इन खेतों के दाम एकदम नहीं देने पड़े। तय यह हुआ कि छोटी-छोटी सालाना क़िस्तों में क़ीमत अदा की जाय। ये क़िस्तें अभीतक पूरी अदा नहीं हो सकी हैं और इनके बारे में इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के दरमियान आजकल बहस-मुबाहसा चल रहा है।

१७९८ ई० की क़ौमी बग़ावत के बाद सौ बरस से ज्यादा तक आयर्लैण्ड में कोई बड़ी बग़ावत नहीं हुई। पहले की सदियों के प्रतिकूल आयर्लैण्ड की उन्नीसवीं सदी इस बार-बार होनेवाली घटना से ख़ाली रही; लेकिन इसका कारण यह नहीं था कि लोगों में सन्तोष की भावना थी। लोगों में पिछले विद्रोह की, भीषण दुष्काल की और निर्जनता की थकावट थी। इस सदी के पिछले आधे हिस्से में किसी हद तक लोगों का ध्यान ब्रिटिश पार्लमेण्ट की तरफ़ झुका था, और उनको यह आशा बँधी थी कि शायद आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट के जरिये कुछ काम कर सकेंगे। लेकिन बहुत-से आयरिश लोग ऐसे भी थे, जो इस बार-बार होनेवाली बग़ावत की परिपाटी जिन्दा रखना चाहते थे। उनका ख़याल था कि केवल इसी ढंग से आयर्लैण्ड की आत्मा को स्वच्छ और अकलुषित रक्खा जा सकता है। अमेरिका में बसे हुए आयरिश लोगों ने आयर्लैण्ड की आजादी के लिए एक संस्था खोली। ये लोग, जिन्हें 'फेनियन' कहा जाता था, आयर्लैण्ट में छोटे-छोटे विद्रोह कराया करते थे, लेकिन जनता से इनका संसर्ग नहीं था और ये लोग बहुत जल्द पस्त कर दिये गये।

अब इस ख़त को मुझे ख़त्म कर देना चाहिए, क्योंकि लम्बा काफ़ी होगया है, हालांकि आयर्लैण्ड की कहानी अभीतक ख़त्म नहीं हुई है।

: १४० :

आयर्लैण्ड में होमरूल और सिनफेन

९ मार्च, १९३३

इतने सशस्त्र विद्रोहों के बाद और दुष्काल तथा दूसरी आफतों की वजह से, आयर्लैण्ड आजादी हासिल करने के इन साधनों से कुछ थक-सा गया था। उन्नीसवीं सदी के दूसरे आधे हिस्से में जब आयरिश जनता को ज्यादा तादाद में वोट देने का अधिकार मिला, तब अनेक राष्ट्रीय आयरिश कामन्स सभा के सदस्य चुने गये। जनता उम्मीद करने लगी कि शायद यही लोग आयर्लैण्ड की आजादी के लिए कुछ कर सकें,

और अब पुराने जमाने के सशस्त्र विद्रोह के बजाय आयरिश जनता पार्लमेण्टरी या वैध कामों की तरफ़ उम्मीद-भरी निगाह से देखने लगी।

उत्तर के अलस्टर में और आयर्लैण्ड के बाक़ी हिस्सों में फिर भेदभाव पैदा होगया था। जातीय (Racial) और धार्मिक विषमता तो क़ायम ही थी; इसके अलावा आर्थिक असमानता ज्यादा स्पष्ट होगई। इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड की तरह अलस्टर भी व्यावसायिक देश होगया था, और यहाँके कारख़ानों में बहुत काफ़ी माल बनता था। देश का बाक़ी हिस्सा कृषि-प्रधान, मध्यकालीन, उजाड़ और ग़रीब था। आयर्लैण्ड में फूट पैदा कर देने की इंग्लैण्ड की पुरानी नीति बहुत काफ़ी सफल हो चुकी थी। इस नीति में इतनी सफलता हुई थी कि बाद को जब खुद इंग्लैण्ड ने इस नीति को बदलना चाहा, तो वह भी नाकामयाब रहा। आयर्लैण्ड की आजादी के रास्ते में सबसे बड़ा काँटा अलस्टर था। खुशहाल और प्रोटेस्टेण्ट अलस्टर को डर था कि आयर्लैण्ड के आजाद होने पर ग़रीब कैथलिक आयर्लैण्ड उसे हज्म कर जायगा।

अब ब्रिटिश पार्लमेण्ट और आयर्लैण्ड में दो नये शब्द प्रचलित हुए। ये दो शब्द थे—होमरूल। आयर्लैण्ड ने अब 'होमरूल' माँगना शुरू किया। पिछले सात-सौ बरस की आजादी की माँग से यह माँग बहुत कम और जुदा थी। इसका मतलब यह था कि आयर्लैण्ड को एक मातहत पार्लमेण्ट दी जाय, जो स्थानीय मामलात का इन्तजाम करे और ख़ास-ख़ास महत्वपूर्ण विषयों पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट का ही शासन जारी रहे। बहुतेरे आयरिश लोग आजादी की पुरानी माँग को इस तरह घटा देने के तरफ़दार नहीं थे। लेकिन देश बग़ावत और विद्रोहों से तंग आगया था, इसलिए उसने बलवा करने की बहुतेरी फुटकर कोशिशों में हिस्सा लेने से इन्कार कर दिया।

ब्रिटिश कामन्स सभा में चार्ल्स स्टीवर्ट पारनेल नाम का एक आयरिश सदस्य था। यह देखकर कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के दोनों दल, कंजर्वेटिव और लिबरल यानी अनुदार और उदार, आयर्लैण्ड की तरफ जरा भी ध्यान नहीं देते, इस शख़्स ने निश्चय किया कि ऐसी बात की जाय, जिससे इन दोनों दलों का यह शरीफाना पार्लमेण्टरी खेल चल ही न सके। इसलिए दूसरे आयरिश सदस्यों की मदद से इसने लम्बे-लम्बे भाषणों से और दूसरे विघ्न डालनेवाले और विलम्ब करनेवाले साधनों से पार्लमेण्ट की कार्रवाई में अडंगे लगाना शुरू किये। अंग्रेज लोग इस ढंग से बहुत नाराज हुए। वे कहते थे कि पारनेल का यह रवैया न तो पार्लमेण्टरी दृष्टि और न शराफ़त के ख़याल से उचित है। लेकिन पारनेल के ऊपर इन ऐतराजों का कोई असर नहीं हुआ। वह पार्लमेण्ट में अंग्रेजों के बनाये हुए क़ायदों के मुताबिक़ अंग्रेजी पार्लमेण्टरी शरीफ़ाना खेल खेलने नहीं आया था, वह तो आयर्लैण्ड की सेवा करने आया था; और अगर मामूली तरीक़ों से

वह इस उद्देश में सफल नहीं हो सकता था, तो असाधारण साधनों का सहारा लेने में वह कोई ख़रावी नहीं देखता था। जो हो, इस बात में तो वह जरूर कामयाब रहा कि आयर्लैण्ड की तरफ उसने ध्यान आकर्षित करा दिया।

पारनेल ब्रिटिश कामन्स सभा में आयरिश होमरूल पार्टी का नेता होगया, और दोनों पुरानी ब्रिटिश पार्टियों के लिए उसकी पार्टी जान की आफ़त होगई। जब यह दोनों पार्टियाँ पार्लमेण्ट में क़रीब-क़रीब बराबर संख्या में होती थीं, आयरिश होमरूल वालों को महत्व मिल जाता था; क्योंकि वे किसी भी एक पार्टी से मिलकर उसका पलड़ा भारी कर सकते थे। इस तरह आयरिश सवाल हमेशा सामने रहा करता था। आख़िरकार ग्लैडस्टन आयर्लैण्ड को होमरूल देने के लिए राजी होगया और उसने सन् १८८६ ई० में कामन्स सभा के सामने होमरूल बिल पेश किया। इस बिल में यद्यपि स्वराज्य की योजना बहुत मामूली थी, फिर भी इसकी वजह से तूफान मच गया। कंजर्वेटिव यानी अनुदार दल के लोग तो इसके बिलकुल ख़िलाफ़ थे ही, ग्लैडस्टन की पार्टी यानी लिबरल या उदार लोग भी इसे पसन्द नहीं करते थे। लिबरल पार्टी इसी बात पर दो हिस्सों में बँट गई। एक हिस्सा जाकर कंजर्वेटिव लोगों से मिल गया और 'यूनियनिस्ट' के नाम से मशहूर हुआ। ये लोग यूनियनिस्ट इसलिए कहलाये कि आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड को ये एक ही शासन में संयुक्त रखना चाहते थे। होमरूल-बिल पार्लमेण्ट में गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन के शासन का भी ख़ात्मा होगया।

इसके सात बरस बाद, १८९३ ई० में, जब ग्लैडस्टन की उम्र ८४ बरस की थी, वह फिर ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रधान सचिव हुए, और फिर उन्होंने दूसरी मर्तबा होमरूल बिल पेश किया। यह बिल कामन्स सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ, लेकिन क़ानून बन सकनें के लिए तमाम बिलों का हाउस आफ लार्ड्स में भी मंजूर होना जरूरी है और हाउस आफ लार्ड्स संकुचित और प्रगतिविरोधी लोगों से भरा था। इस लार्ड सभा के सदस्यों का चुनाव नहीं होता। यह बड़े जमींदारों की एक पुश्तैनी सभा है, जिसमें कुछ पादरी (बिशप) लोग भी शामिल होते हैं। इस सभा ने होमरूल बिल को, जिसे कामन्स सभा ने मंजूर कर लिया था, नामंजूर कर दिया।

इस तरह पार्लमेण्टरी कोशिश से आयर्लैण्ड को वह चीज न मिली, जो वह चाहता था। फिर भी आयरिश क़ौमी दल या 'होमरूल पार्टी' पार्लमेण्ट में इस उम्मीद से काम करती रही कि शायद आगे कामयाबी हो जाय और आमतौर से यह पार्टी आयर्लैण्ड-निवासियों की विश्वासपात्र भी थी। लेकिन बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जिनका इन तरीक़ों से और ब्रिटिश पार्लमेण्ट से भरोसा जाता रहा था। कितने ही

आयरिश लोग संकीर्ण अर्थ में राजनीति से ऊब गये थे और सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों में लग रहे थे। बीसवीं सदी के शुरू-शुरू का ज़माना आयर्लैण्ड में सांस्कृतिक जागृति का युग था। ख़ासकर देश की पुरानी भाषा गैलिक को फिर से जिन्दा करने की खूब कोशिश की जा रही थी। इस गैलिक भाषा में बड़ा क़ीमती साहित्य पाया जाता था, लेकिन सदियों की अंग्रेज़ी हुकूमत ने इस भाषा को शहरों से निकाल दिया था और यह धीरे-धीरे ग़ायब हो रही थी। आयरिश राष्ट्रवादियों का यह ख़याल था कि उनका राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी संस्कृति की रक्षा अपनी ही ज़बान के ज़रिये कर सकता है। इसलिए इन लोगों ने पश्चिम के आयरिश गाँवों में से इस भाषा को खोज निकालने और इसको एक जिन्दा ज़बान बनाने के लिए बड़ी मेहनत की। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक गैलिक-लीग बनाई गई। सब जगहों पर, ख़ासकर ग़ुलाम देशों में, राष्ट्रीय आन्दोलन अपने देश की भाषा को ही अपना आधार बनाता है। जिस आन्दोलन की बुनियाद विदेशी भाषा पर होती है, वह जनता तक नहीं पहुँच सकता, और इसलिए जड़ नहीं पकड़ सकता। आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ी भाषा विदेशी भाषा नहीं रह गई थी। इस भाषा को सभी समझते थे और सभी बोलते थे। कम-से-कम गैलिक भाषा से तो इसका प्रचार हर हालत में ज्यादा था ही; इसपर भी आयरिश राष्ट्रीय दल ने आवश्यक समझा कि गैलिक भाषा फिर से जिन्दा की जाय, जिससे अपनी पुरानी सभ्यता से आयरिश लोगों का सम्बन्ध न टूटे।

उस समय आयर्लैण्ड में यह ख़याल फैला हुआ था कि ताक़त अन्दर से आती है; बाहर से नहीं। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के बारे में भ्रम ख़त्म हो रहा था और इसलिए कोशिश यह की जा रही थी कि राष्ट्र का निर्माण अधिक मजबूत बुनियाद पर किया जाय। बीसवीं सदी के शुरू का यह नया आयर्लैण्ड पुराने आयर्लैण्ड से बिलकुल जुदा था। इसकी इस नई जागृति यानी बेदारी का असर कई तरफ़ और अनेक क्षेत्रों में ज़ाहिर होने लगा—साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में, और, जैसा मैंने ऊपर बताया है, आर्थिक क्षेत्र में भी, जहाँ इस बात की कामयाबी के साथ कोशिश की गई कि किसानों में सहकारिता के उसूलों पर संगठन किया जाय।

लेकिन इन सब कारगुज़ारियों को चलानेवाली ताक़त आज़ादी की प्यास थी और यद्यपि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के आयरिश राष्ट्रीय दल में आयरिश जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। पार्लमेण्ट के आयरिश मेम्बरों को आयरिश जनता समझने लग गई थी कि बस ये लोग कोरे राजनीतिज्ञ हैं, जिन्हें भाषण देना बहुत पसन्द है लेकिन कुछ कर-धर सकने की इनमें ताक़त नहीं है। पुराने 'फेनियन'

लोगों का और दूसरों का भी, जो क़ौम की आजादी चाहते थे, इन पार्लमेण्टरी लोगों और इनके होमरूल में विश्वास था ही नहीं, अब नया और नौजवान आयर्लैण्ड भी पार्लमेण्ट से अपना मुँह मोड़ने लगा। अपनी मदद खुद कर लेने का भाव वातावरण में भर रहा था। लोग कहते थे कि इस खयाल को राजनीति में क्यों न जगह दी जाय ? सशस्त्र विद्रोह के विचार लोगों के दिलों में फिर पैदा होने लगे, लेकिन बग़ावत की इस इच्छा को एक नया 'टर्न' दिया गया। आर्थर ग्रिफिथ नाम के एक नौजवान आयरिश ने एक नये उसूल का प्रचार शुरू कर दिया, जिसे 'सिनफेन' कहते थे। 'सिनफेन' का अनुवाद अक्सर 'हम लोग अकेले' किया जाता है, लेकिन इसका सही तर्जुमा 'हम खुद' है।

इन शब्दों से हमें उस नीति का पता चलता है जो इस आन्दोलन के पीछे काम कर रही थी। सिनफेन वाले चाहते थे कि आयर्लैण्ड अपने ऊपर भरोसा करे और इंग्लैण्ड से किसी तरह की मदद या भीख न माँगे। ये लोग अन्दर से राष्ट्र की शक्ति का विकास करना चाहते थे और गैलिक आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागृति के पक्ष में थे। राजनैतिक क्षेत्र में ये फ़िजूल की पार्लमेण्टरी प्रवृत्ति को,जो उस समय चल रही थी, नापसन्द करते थे और उससे किसी तरह की उम्मीद नहीं रखते थे। साथ ही इनका खयाल यह भी था कि सशस्त्र बग़ावत मुमकिन नहीं है। ब्रिटिश सरकार से एक प्रकार के असहयोग के जरिये ये पार्लमेण्टरी प्रवृत्ति के बजाय सीधी लड़ाई (Direct action) के प्रचारक थे। आर्थर ग्रीफिथ ने हंगरी की मिसाल पेश की, जहाँ एक पीढ़ी पहले इसी तरह (निष्क्रिय प्रतिरोध) की नीति सफल हो चुकी थी और इसी प्रकार की नीति आयर्लैण्ड में भी चलाने की वकालत की।

पिछले १३ वर्षों में हमारे सामने, हिन्दुस्तान में, असहयोग के अनेक रूप आये हैं। अगर हम आयर्लैण्ड के इस असहयोग से अपने असहयोग की तुलना करें तो बडी दिलचस्प बात होगी। तमाम दुनिया जानती है कि हमारे आन्दोलन की बुनियाद अहिंसा थी, लेकिन आयर्लैण्ड के असहयोग में इस तरह की कोई बात नहीं पाई जाती थी। फिर भी उस असहयोग की ताक़त शान्तिमय निष्क्रिय प्रतिरोध में ही थी। इस संग्राम का भी असल में शान्तिमय होना जरूरी था।

सिनफ़ेन के खयालात धीरे-धीरे आयर्लैण्ड के नौजवानों में फैले। इन खयालात की वजह से आयर्लैण्ड में एकदम आग नहीं भड़की; क्योंकि अब भी बहुत-से आदमी ऐसे थे जिन्हें पार्लमेण्ट से उम्मीदें थीं, खासकर इसलिए कि १९०६ ई० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लिबरल पार्टी बहुत ज्यादा बहुमत से चुनकर फिर आ गई थी। कामन्स सभा में इस बहुमत के होते हुए भी लिबरल लोगों को हाउस आफ लार्ड्स

के स्थायी, संकीर्ण और यूनियनिस्ट बहुमत का मुक़ाविला करना पड़ता था। इसलिए इन दोनों हाउसों या सभाओं में बहुत ही जल्द संघर्ष पैदा होगया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि लार्ड लोगों की ताक़त कम करदी गई। आर्थिक माम-लात में इन लोगों की दस्तन्दाजी को कामन्स वाले इस तरह ख़त्म कर देते थे कि उस क़ानून को, जिसपर लार्ड सभा ऐतराज करती थी, अपने यहाँ मुतवातिर तीन बैठकों में पास कर लिया करते थे। इस तरह १९११ के पार्लमेण्ट क़ानून के जरिये लिबरल लोगों ने हाउस आफ़ लार्ड्स के दाँत तोड़ दिये। फिर भी लार्ड लोगों के हाथ में बहुत काफ़ी इख्तियारात बने रहे, जिससे वे कामन्स सभा के काम को रोक सकते और उसमें दस्तन्दाजी कर सकते थे।

लार्ड लोगों के अनिवार्य विरोध का इन्तजाम करके लिबरल लोगों ने फिर तीसरी बार होमरूल बिल पेश किया। लार्ड लोगों ने, जैसी उम्मीद थी, इसको फिर नामंजूर कर दिया। फिर कामन्स सभा ने इस क़ानून को तीन मर्त्तबा मुतवातिर पास करने की परेशानी उठाई। इस प्रकार १९१४ ई० में इस बिल ने क़ानून की शक्ल इख़्तियार की और यह सारे आयर्लेण्ड पर, जिसमें अलस्टर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पड़ता था कि आयर्लेण्ड को आख़िरकार होमरूल मिल ही गया, लेकिन इसमें बहुत-से अगर-मगर थे। जब १९१२–१३ में पार्लमेण्ट होमरूल के बारे में बहस-मुबाहसा कर रही थी, उत्तरी आयर्लेण्ड में आश्चर्यजनक घटनायें हो रही थीं। अलस्टर के नेता लोग इस बात का ऐलान कर रहे थे कि वे होमरूल को स्वीकार नहीं करेंगे, और अगर होमरूल का क़ानून पास भी होगया तो वे उसे न मानेंगे। ये लोग बग़ावत की बात करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू करदी। यह भी कहा गया कि इन्हें किसी विदेशी शक्ति को यानी जर्मनी को होमरूल के ख़िलाफ़ लड़ाई करने के लिए निमन्त्रित करने में संकोच न होगा। निस्संदेह यह स्पष्ट और वैधुद्ध राजविद्रोह था। इससे भी ज्यादा दिलचस्प बात तो यह थी कि कंजर्वेटिव यानी-अनुदार दल के नेताओं ने इस बग़ावत के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और बहुतों ने इसकी मदद की। अलस्टर में खुशहाल और धनी कंजर्वेटिव दल की तरफ़ से पैसा बरसने लगा। यह साफ़ जाहिर था कि वे लोग, जिन्हें ऊँचे वर्ग का कहा जाता है, तथा शासक दल के लोग और अनेक सैनिक अफ़सर भी, जो इसी वर्ग के थे, अलस्टर के साथ हैं। हथियार चोरी-चोरी आने लगे और स्वयंसेवकों को खुल्लमखुल्ला क़वायद सिखाई जाने लगी। अलस्टर में एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई, जो वक़्त आने पर शासन की जिम्मेदारी भी लेले। नोट करने की दिलचस्प बात यह है कि

अलस्टर के विद्रोहियों में से एक प्रमुख विद्रोही पार्लमेण्ट के एक मशहूर कंजर्वेटिव सदस्य एफ० ई० स्मिथ थे, जो वाद को लार्ड वरकेनहेड हुए और भारत-मंत्री बनाये गये और जिन्होंने दूसरे ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर भी काम किया।

इतिहास में बग़ावत मामूली घटना होती है और आयर्लैण्ड में तो ख़ासतौर से इनकी तादाद काफी से ज्यादा रही है। लेकिन अलस्टर-विद्रोह की ये तैयारियाँ हम लोगों के लिए ख़ासतौर से दिलचस्पी की चीज हैं; क्योंकि इन तैयारियों के लिए जो पार्टी ख़ास तौर से जिम्मेदार थी, वह वही पार्टी थी जो इस वात पर अभिमान करती रहती थी कि हम विधान को माननेवाले हैं और कंजर्वेटिव या अनुदार हैं। यही वह पार्टी थी जो हमेशा 'अमन और क़ानून' की वात करती रहती थी और उन लोगों को सख़्त सजायें देने के पक्ष में थी जो 'अमन और क़ानून' के ख़िलाफ़ जायें। लेकिन इसी पार्टी के ख़ास-ख़ास आदमी राज-विद्रोह की वात करते थे और सशस्त्र वग़ावत की तैयारी करते थे और इसके साधारण सदस्य इस प्रवृत्ति की रुपये से मदद करते थे। यह भी नोट करने की दिलचस्प वात है कि विद्रोह उस पार्लमेंट के ख़िलाफ़ संगठित किया जा रहा था, जो होमरूल विल पर विचार कर रही थी और जिसने वाद में होमरूल विल पास किया। इस पार्टी ने इस तरह प्रजातन्त्र-सिद्धान्त की जड़ पर ही हमला किया था और अंग्रेज लोगों की इस पुरानी शेख़ी को मिट्टी में मिला दिया था कि हम वैध कार्यों और क़ानून के शासन को माननेवाले हैं।

१९१२-१४ के अलस्टर-विद्रोह ने लच्छेदार और कपटपूर्ण वाक्यों के ऊपर से परदा हटा दिया और आधुनिक प्रजातन्त्र और सरकार के असली रूप को साफ-साफ सामने रख दिया। जवतक 'अमन और क़ानून' का मतलव यह था कि शासक वर्ग के अधिकारों की रक्षा होती रहे तबतक 'अमन और क़ानून' मुनासिव चीज थी। जव-तक प्रजासत्तात्मक शासन इन रिआयतों और विशेषाधिकारों में दख़ल नहीं देता था, इसे स्वीकार करने में उन्हें कोई ऐतराज नहीं था; लेकिन जव इन विशेषाधिकारों पर हमला हुआ, तो यह वर्ग लड़ने को तैयार होगया। इस तरह 'अमन और क़ानून' असल में दो सुन्दर शब्द थे, जिनका अर्थ था शासक वर्ग के विशेषाधिकार यानी ख़ास हक़ूक़। इससे यह साफ होगया कि ब्रिटिश सरकार असल में एक वर्ग की सरकार है, जिसे पार्लमेण्ट का वहुमत भी आसानी से अलग नहीं कर सकता। अगर बहुमत ऐसा कोई साम्यवादी क़ानून पास करने की कोशिश करे, जिससे इनके रिआयती हक़ों में कमी आती हो, तो प्रजातन्त्र के नियमों के ख़िलाफ़ भी ये लोग वग़ावत करने को तैयार थे। इन सब बातों का ख़याल रखना हमारे लिए अच्छा है। क्योंकि ये वातें सव देशों के बारे में कही जा सकती हैं, और इस वात का अन्देशा रहता है कि लच्छेदार बातों

और सुन्दर वाक्यों के माया-जाल में फँसकर कहीं हम असलियत को न भूल जायँ। इस बारे में दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र में, जहाँ अक्सर विद्रोह हुआ करते हैं, और इंग्लैण्ड में, जहाँका शासन स्थायी रहता है, कोई मौलिक फर्क नहीं पाया जाता। ब्रिटिश शासन में स्थिरता सिर्फ इसलिए है कि इंग्लैण्ड में शासक वर्ग ने अपनी जड़ इतनी मजबूत गाढ़ली है कि अभीतक कोई दूसरा वर्ग उसे हिला नहीं पाया। १९११ ई० में हाउस आफ लार्ड्स, जो इस वर्ग का एक क़िला था, कुछ कमजोर किया गया था। इसपर यह वर्ग घबरा गया और अलस्टर के बहाने विद्रोह करने को तैयार होगया था।

हिन्दुस्तान में 'अमन और क़ानून' का मन्त्र हमारे सामने रोज सुनाया जाता है और दिन में कई दफ़ा भी। इसलिए इसका असली अर्थ समझ लेना हमारे लिए जरूरी है। हम यह भी याद रक्खें तो अच्छा है कि हमको सलाह देनेवाले एक सज्जन, जो भारत-सचिव भी रहे हैं, अलस्टर-विद्रोह के नेता थे।

इस तरह अलस्टर हथियार और वालण्टियरों का इन्तजाम करके विद्रोह की तैयारी करने लगा और सरकार शान्तिपूर्वक देखती रही। इन तैयारियों के ख़िलाफ़ कोई आर्डिनेन्स नहीं निकाला गया। कुछ दिनों के बाद आयर्लैण्ड के बाक़ी हिस्से ने अलस्टर की नक़ल शुरू करदी और होमरूल के लिए और अगर जरूरत पडे तो अल-स्टर से लड़ने के लिए राष्ट्रीय वालण्टियरों का संगठन शुरू कर दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में दो मुक़ाबिले की फ़ौजें तैयार होगई। सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि ब्रिटिश शासक अलस्टर-विद्रोह के वालण्टियरों को सशस्त्र होते हुए देखकर आँखें मींच लेते थे, लेकिन 'राष्ट्रीय वालण्टियरों' को दबाने में ये लोग बहुत काफ़ी तेज और मुस्तैद दिखाई पड़ते थे, हालांकि ये 'राष्ट्रीय वालण्टियर' होमरूल के ख़िलाफ़ नहीं थे।

इन दोनों क़िस्म के वालण्टियरों में मुठभेड़ होजाना लाजिमी मालूम होने लगा, और इसका अर्थ था गृह-युद्ध। उसी समय १९१४ ई० के अगस्त में एक सबसे बड़ा महायुद्ध छिड़ गया और उसके सामने बाक़ी सब चीजें फीकी पड़ गई। होमरूल का बिल क़ानून जरूर बन गया, लेकिन उसमें यह शर्त्त लगादी गई थी कि युद्ध के बाद ही इस क़ानून पर अमल किया जाय। इस तरह होमरूल पहले के समान दूर ही बना रहा और युद्ध ख़त्म होने के पहले आयर्लैण्ड में बहुत कुछ होगया।

मैं अनेक देशों की अपनी कहानी महायुद्ध की शुरुआत तक लाकर ख़त्म कर रहा हूँ। आयर्लैण्ड के बारे में भी हम उस समय तक पहुँच चुके हैं, इसलिए अब आगे न बढ़ेंगे। लेकिन इस ख़त को ख़त्म करने के पहले एक बात मैं तुम्हें जरूर बता देना

चाहता हूँ। अलस्टर-विद्रोह के नेता अपनी हरकतों के लिए सजा पाने के बजाय बाद को इनाम के हक़दार समझे गये और वे ब्रिटिश शासक-मण्डली में वज़ीर बने और उन्होंने ब्रिटिश सरकार में ऊँचे-ऊँचे ओहदे पाये।

: १४१ :

मिस्र पर ब्रिटेन का क़ब्ज़ा

११ मार्च, १९३३

अमेरिका से हम लम्बी छलाँग मारकर और अटलाण्टिक महासागर पार करके आयर्लैण्ड पहुँच गये थे। अब हमें कूदकर एक तीसरे महाद्वीप अफ़रीका में पहुँचना है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक दूसरे शिकार मिस्र को देखना है। मैंने अपनी पिछली चिट्ठियों में तुम्हें मिस्र के प्राचीन इतिहास के बारे में कुछ लिखा था, लेकिन जो कुछ लिखा था वह बहुत मुख़्तसर और खण्डित था, क्योंकि मुझे खुद इस विषय का काफ़ी इल्म नहीं है। पर यदि मुझे अधिक मालूम होता तो भी यह मुमकिन नहीं कि हम प्राचीनकाल की चर्चा इस अवसर पर शुरू कर सकें। हम उन्नीसवीं सदी की अपनी कहानी क़रीब-क़रीब ख़त्म कर चुके हैं और अब बीसवीं सदी की सीमा पर पहुँच गये हैं और यहीं हमें क़ायम रहना जरूरी है। हम यह नहीं कर सकते कि कभी प्राचीन की ओर कभी नवीन काल की चर्चा करते रहें। इसके अलावा भी अगर मैंने हरेक देश के प्राचीन समय की कहानी शुरू करदी तो बताओ क्या ये ख़त कभी ख़त्म हो सकेंगे?

लेकिन तुम यह न समझो कि मिस्र का प्राचीन इतिहास कुछ नहीं है, क्योंकि क़ौमों में मिस्र की क़ौम बहुत पुरानी मानी जाती है और इसका इतिहास सब देशों के इतिहास से पुराना है। यह देश अपना समय छोटी-छोटी सदियों से नहीं बल्कि हजारों वर्षों की नाप से नापता रहा है। विस्मयजनक और चकित कर देनेवाली प्राचीन समय की टूटी-फूटी यादगारें अभीतक हमें इसके गुज़रे हुए जमाने की याद दिलाती हैं। प्राचीन चीजों और बातों की खोज के लिए मिस्र सबसे प्रथम और सबसे बड़ा क्षेत्र रहा है; और जैसे-जैसे बालू के नीचे से पत्थर के टुकड़े और स्तूप खोदकर निकाले गये हैं, उस जमाने का इतिहास ज्यादा-ज्यादा मालूम होता रहा है, जिसे गुजरे अब बहुत दिन होगये। पत्थरों और इमारतों को खोद-खोदकर निकालने का सिलसिला अभीतक जारी है और मिस्र के प्राचीन इतिहास में नई-नई बातें बराबर मालूम होती जा रही हैं, फिर भी हम अभीतक यह नहीं बता सकते कि मिस्र का इतिहास कबसे और कैसे शुरू होता है। किन्तु क़रीब सात हजार वर्ष गुजरे, नील नदी की घाटी में

सभ्य लोग रहा करते थे और उनका भी अपना पुराना सांस्कृतिक इतिहास था। ये लोग चित्रलिपि में लिखा करते थे; मिट्टी के सुन्दर वर्तन, कलश और हाथीदाँत, ताँबे सोने के नक्काशीदार वर्तन और सेलखली के काम बहुत अच्छा वनाते थे।

मक़दूनिया-निवासी सिकन्दर ने ईसाई संवत् के चारसौ वरस पहले जब मिस्र को जीता था तब, कहा जाता है, ३१ मिस्री राजवंश इस देश पर हुकूमत कर चुके थे। उस चार या पाँच हजार वर्ष के लम्बे युग में इस देश में कितने ही आश्चर्यजनक व्यक्ति—स्त्री और पुरुष—मशहूर हुए। ऐसा मालूम होता है मानों ये सब अभी-तक जिन्दा हैं। इन स्त्री-पुरुषों में अनेक कर्मवीर, विशाल मन्दिरों के निर्माणकर्त्ता, महान् स्वप्नदर्शी और विचारक, वडे-वडे सैनिक, निरंकुश और अत्याचारी राजा, सुन्दर महिलायें और अभिमानी तथा उद्धत शासक गुजरे हैं। अनेक सहस्राब्दियाँ हमारे सामने से गुज़र जाती हैं और हम देखते हैं कि इनमें फरोहा नरेशों की लम्वी सन्तति चल रही है। इस देश में स्त्रियों को पूरी आज़ादी थी और स्त्रियाँ राज-सिंहासन पर बैठ सकती थीं। मिस्र देश में पुरोहित समाज पर हावी थे और मिस्री लोग हमेशा भविष्य और परलोक की चिन्ता में फँसे रहते थे। मिस्र के विशाल पिरामिड, जिनकी रचना बेगार के मजदूरों ने की थी और जिनके वनाने में इन मजदूरों के साथ वडी वेरहमी दिखलाई गई थी, असल में फरोहा नरेशों के भविष्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से वनाये गये थे। ममी भी लाश को सुरक्षित रखने का ही एक तरीक़ा था। यह सब अन्धकारमय, क्रूर और सुख-रहित जान पड़ता है। हमें उस ज़माने की पुरानी चीजों में आदमियों के वनावटी वाल (विग) भी मिलते हैं, क्योंकि वे लोग अपना सिर मुँडाया करते थे। इसके अलावा लड़कों के खिलौने, गुड्डे, गेंद और हाथ-पैर हिलानेवाले छोटे जानवरों के खिलौने भी पाये जाते हैं। इन खिलौनों को देखकर हमें पुराने मिस्रियों की मानुषी भावनाओं की याद आजाती है, और ऐसा मालूम होता है कि यद्यपि उन लोगों को हुए अनेक युग वीत गये हैं फिर भी मानों वे हमारे पास ही हैं।

ईसवी सन् के पहले की छठी सदी में यानी वुद्ध के ज़माने के क़रीव-ईरानियों ने मिस्र को जीता और इसे अपने विशाल साम्राज्य का एक हिस्सा वना लिया, जो नील नदी के किनारे से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। ये लोग एकेमनीद वंश के राजा थे और इनकी राजधानी पारसीपोलिस थी। इन लोगों ने यूनान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन असफल रहे और इन्हें अख़ीर में सिकन्दर ने हरा दिया। ईरानियों की सख्त हुकूमत से छुटकारा दिलानेवाला समझकर मिस्र के लोगों ने सिकन्दर का स्वागत किया। सिकन्दरिया (अलेक्ज़ेण्ड्रिया) नगर के रूप में सिकन्दर अपनी यादगार छोड़ गया, और यह नगर यूनानी विद्या और संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र वन गया।

तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों में बंट गया था और मिस्र बतलीमूसी (Ptolemy) के हिस्से में आया था। बतलीमूसी बहुत जल्द मिस्री जलवायु में हिल-मिल गये और ईरानियों के ढंग के ख़िलाफ़ उन्होंने मिस्री रस्मरिवाज इख़्तियार कर लिया। ये लोग मिस्रियों की तरह आचार-व्यवहार करने लगे और जनता क़रीब-क़रीब यही समझने लगी कि बतलीमूसी राजवंश फरोहाओं के प्राचीन राजवंश का ही सिलसिला है। क्लियोपैट्रा बतलीमूसी वंश की अन्तिम रानी थी। इसकी मृत्यु के बाद, ईसाई सन् शुरू होने के चन्द वर्ष पहले, मिस्र रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त होगया।

मिस्र ने रोम से बहुत पहले ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। रोमन लोग इन मिस्री ईसाइयों पर बहुत अत्याचार करते थे, जिससे भागकर इन्हें रेगिस्तान में छिपना पड़ता था। इस तरह रेगिस्तानियों में अनेक खुफिया मठ पैदा होगये और इन मठों में रहनेवाले फकीरों द्वारा किये हुए चमत्कारों की आश्चर्यजनक और रहस्य-पूर्ण कहानियाँ उस ज़माने के ईसाई जगत् में ख़ूब प्रचलित थीं। बाद को जब सम्राट् कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म इख़्तियार कर लिया तब ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राजधर्म होगया। इन मिस्री ईसाइयों ने भी गैर-ईसाइयों से, जो पैगन कहे जाते थे और जो पुराने मिस्री धर्म को मानते थे, बड़ी बेरहमी और जुल्म के साथ बदला लेने की कोशिश की। सिकन्दरिया अब ईसाइयों का एक मशहूर विद्या-केन्द्र होगया, लेकिन राज-धर्म होने पर ईसाई धर्म अनेक मत-मतान्तरों में बँट गया, जो आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे और एक-दूसरे पर प्रभुत्व जमाने की कोशिश करते थे। ये ख़ूनी झगडे जान को आफत हो गये और आम लोग इन ईसाई मत-मतान्तरों से अच्छी तरह ऊब गये थे। इसलिए सातवीं सदी में जब अरब लोग एक नया धर्म लेकर आये, मिस्री जनता ने उनका स्वागत किया। यह भी एक वजह थी कि मिस्र और उत्तरी अफरीका में अरब लोगों ने इतनी आसानी से विजय पाली। अब फिर जुल्म का चक्कर चलने लगा। ईसाई धर्म और ईसाइयों पर बेरहमी से दमन होने लगा।

इस तरह मिस्र ख़लीफा के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। अरबी भाषा और अरबी संस्कृति तेज़ी से फैल गई; यहाँतक कि पुरानी मिस्री भाषा दब गई। दोसौ वर्ष बाद, नवीं सदी में, जब बग़दाद की ख़िलाफ़त और कमज़ोर पड़ी। मिस्र तुर्की हाकिमों की मातहती में अर्द्ध-स्वतंत्र यानी नीम-आज़ाद हो गया और तीनसौ वर्ष बाद क्रूसेड युद्ध यानी ईसाई जिहाद में मशहूर मुसलमान बहादुर सलादीन मिस्र का सुल्तान बन बैठा। सलादीन के बाद उसके एक वारिस ने काकेशस-क्षेत्र से बहुत-से तुर्की ग़ुलाम लाकर उन्हें अपना सैनिक बनाया। ये गोरे ग़ुलाम ममलूक कहलाते थे।

ममलूक का अर्थ है ग़ुलाम । ये ममलूक लोग फौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और इन लोगों का जत्था बहुत अच्छा था। चन्द साल के अन्दर ही ममलूक बग़ावत कर बैठे और इन्होंने अपने जत्थे के एक आदमी को मिस्र का सुल्तान बना दिया। इस तरह मिस्र में ममलूकों का राज्य शुरू हुआ, जो ढाई सदी तक रहा और अर्द्ध-स्वतन्त्र अवस्था में इसके बाद क़रीब तीनसौ बरस के और क़ायम रहा। इस तरह विदेशी ग़ुलामों के समूह ने मिस्र पर पाँचसौ वर्ष से ज्यादा समय तक राज्य किया। इतिहास में यह एक अद्वितीय और अजीब घटना है।

इन आदि-ममलूकियों ने मिस्र में अपनी कोई पुश्तैनी जाति या वर्ग नहीं बनाया। काकेशस की गोरी जाति के सबसे अच्छे आज़ाद ग़ुलामों को अपनेमें मिलाकर ये लोग अपनी तादाद बराबर बढ़ाते रहते थे। काकेशस जातियाँ आर्य हैं, इसलिए ममलूक भी आर्य थे। ये विदेशी लोग मिस्र की आबोहवा में नहीं फले-फूले और इनके वंश चन्द पुश्तों के बाद लुप्त होजाते थे। लेकिन चूंकि नये-नये ममलूक आते जाते थे, इस वर्ग की तादाद और ख़ासतौर पर इसकी ताक़त और इसका जीवट क़ायम रहा। इस तरह गोकि इन लोगों का कोई पुश्तैनी वर्ग नहीं था, फिर भी इनका एक उच्च वर्ग—शासक वर्ग—ज़रूर था, जो बहुत काफ़ी ज़माने तक क़ायम रहा।

सोलहवीं सदी के शुरू में कुस्तुनतुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिस्र पर क़ब्ज़ा कर लिया और ममलूक सुल्तान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक शासक लोग रईस वर्ग में बने ही रहे। बाद में जब योरप में तुर्क लोग कमज़ोर पडे, तब मिस्र कहने को तो उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूक लोग वहाँ अपनी मनमानी करते थे। अठारहवीं सदी के अख़ीर में जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्हीं ममलूकियों से मुठभेड़ हुई थी, और उसने इन्हींको शिकस्त भी दी थी। तुम्हें शायद वह क़िस्सा याद होगा जो मैंने तुम्हें ममलूक सरदार का सुनाया था। जब फ़्रांसीसी फौज मिस्र में पहुँची, तो मध्यकाल की रीति के अनुसार एक ममलूक सरदार फ़्रांसीसी फौज के सामने घोडे पर सवार जा पहुँचा और उसने चुनौती दी कि इस सेना का नेता मुझसे अकेले आकर जोर-आज़माई करले।

अब हम उन्नीसवीं सदी तक आगये। इस सदी के पहले आधे हिस्से में मिस्र पर मुहम्मदअली का प्रभुत्व रहा। यह अलबेनियन तुर्क था और मिस्र का 'खेदीव' यानी तुर्की गवर्नर था। मुहम्मदअली आधुनिक मिस्र का जन्मदाता समझा जाता है। पहली बात जो उसने की वह यह थी कि धोखे से ममलूकों को तलवार के घाट उतारकर उनकी ताक़त का ख़ात्मा कर दिया। इसने मिस्र में एक अँग्रेज़ी फौज को भी हराकर

अपनेको इस देश का स्वामी बना लिया और सिर्फ़ नाममात्र के लिए ही तुर्की सुलतान की अध्यक्षता स्वीकार करता रहा। मुहम्मदअली ने नई मिस्री फ़ौज तैयार की, जिसमें देशी किसानों की भरती की गई, ममलूकों की नहीं। इसने नई नहरें भी खुदवाई और रुई की खेती को प्रोत्साहन दिया, जो भविष्य में मिस्र का ख़ास रोजगार होगया। इसने इस बात की भी धमकी दी थी कि वह कुस्तुनतुनिया के नाम-मात्र के मालिक सुलतान को निकालकर कुस्तुनतुनिया को भी अपने शासन में ले लेगा। लेकिन ऐसा किया नहीं। हाँ, इसने सीरिया को मिस्र में मिला लिया।

मेहमतअली १८४९ ई० में ८० वर्ष की उम्र में मर गया। इसके वारिस कमजोर, फ़िज़ूलख़र्च और अयोग्य आदमी थे। लेकिन अगर वे बेहतर भी होते तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारों की लालच और यूरोपियन साम्राज्यवाद के लोभ का मुक़ाबिला कर सकना मुश्किल था। विदेशियों ने, ख़ासकर अंग्रेज और फ़्रान्सीसी साहूकारों ने, खेदीवों को उनके निजी ख़र्च के लिए बहुत ज्यादा सूद पर रक़में उधार दी थीं। जब वक्त पर सूद अदा न होसका, जंगी जहाज उसे वसूल करने के लिए भेजे गये। अन्तर्राष्ट्रीय चालबाजी की यह असाधारण कहानी है कि साहूकार और सरकार किस प्रकार दूसरे देश को लूटने और उसपर प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के साथ मिलजुलकर काम करते हैं। अनेक खेदीवों की अयोग्यता के होते हुए भी मिस्र ने काफ़ी तरक्क़ी करली थी, यहाँतक कि प्रमुख अंग्रेजी अख़बार 'टाइम्स' ने जनवरी १८७६ में लिखा था कि "मिस्र उन्नति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस देश ने ७० वर्ष में इतनी तरक्क़ी करली है, जितनी दूसरे देशों ने ५०० वर्ष में की।" लेकिन इन तमाम बातों के होते हुए भी विदेशी साहूकार, इस बात को जाहिर करते हुए कि मिस्र देश दिवालिया हो रहा है और विदेशी दस्तंदाजी की जरूरत है, चमडी निकालने पर भी तैयार होगये। विदेशी सरकारें, ख़ासकर अंग्रेजी और फ़्रान्सीसी सरकारें, तो हस्तक्षेप के लिए तुली बैठी थीं। इन्हें तो सिर्फ़ एक बहाना चाहिए था, क्योंकि मिस्र तो एक सोने की चिड़िया थी, उसे कोई कैसे हाथ से जाने देता? और यह बात भी थी कि मिस्र हिन्दुस्तान के रास्ते में पड़ता था।

इसी दरमियान स्वेज की नहर, जो मजदूरों से बडी बेरहमी के साथ बेगार ले-लेकर बनवाई गई थी, १८६९ ई० में खुल गई। (इस बात को जानने में तुम्हें दिलचस्पी होगी कि ईसाई सन् के शुरू होने से १४०० वर्ष पहले, पुराने मिस्र राजवंशों के जमाने में, इसी तरह की नहर लाल समुद्र और भूमध्यसागर के बीच में थी।) इस नहर के खुल जाने की वजह से योरप, एशिया और आस्ट्रेलिया का सारा व्यापार स्वेज से होकर गुजरने लगा और इस वजह से मिस्र का महत्व और बढ़

गया। इंग्लैण्ड के लिए इन नहर पर और मिस्र पर प्रभुत्व रखना बहुत जरूरी चीज होगई, क्योंकि हिन्दुस्तान और पूर्वी देशों में उसका बहुत गहरा स्वार्थ मौजूद था। बडी चालाकी की हरकत तो यह थी कि १८७५ ई० के अंग्रेज प्रधानमन्त्री डिजरेली ने दिवालिये खेदीव के स्वेज नहर के हिस्सों को बहुत कम क़ीमत पर ख़रीद लिया। इन हिस्सों में धन लगा देना केवल यही नहीं कि अपनी जगह पर काफ़ी मुनाफ़े की चीज रही हो बल्कि इसकी वजह से ब्रिटिश सरकार को नहर के ऊपर बहुत काफ़ी अख़्तियार होगया। मिस्र के नहर वाले बाक़ी हिस्से फ़्रान्सीसी साहूकारों को मिले। इस तरह मिस्र का नहर पर कोई माली अख़्तियार नहीं रह गया। इन हिस्सों से फ़्रान्सीसियों और अंग्रेजों ने बहुत ज्यादा मुनाफ़ा उठाया है और साथ-ही-साथ नहर के मालिक बने रहे हैं और मिस्र की जान को अपनी मुट्ठी में दबाये रक्खा। पार-साल, १९३२ ई० में, सिर्फ़ ब्रिटिश सरकार को ४० लाख पौंड असली लागत पर इस नहर से ३५ लाख पौंड मुनाफ़ा रहा है!

यह अनिवार्य था कि ये लोग इस देश पर और ज्यादा अख़्तियार जमाने की कोशिश करें और इसलिए १८७९ ई० से इन्होंने मिस्र के खानगी मामलात में बराबर दख़ल देना शुरू किया और आर्थिक नियंत्रण के लिए अपने आदमी रख दिये। स्वभावतः बहुतेरे मिस्रियों ने इससे बुरा माना और मिस्र को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त करने के लिए उत्सुक एक राष्ट्रीयदल पैदा होगया। इस दल के नेता एक नौजवान सैनिक अरबीपाशा थे, जिनका जन्म एक ग़रीब मजदूर कुटुम्ब में हुआ था और जो मिस्र की फ़ौज में मामूली सिपाही की शक्ल में भरती हुए थे। धीरे-धीरे इनका प्रभाव बढ़ा और ये मिस्र के युद्ध-सचिव होगये। युद्ध-सचिव की हैसियत से इन्होंने फ़्रान्सीसी और ब्रिटिश 'कन्ट्रोलरों' यानी नियंत्रण रखनेवालों के हुक्म की पाबन्दी करने से इन्कार कर दिया। विदेशियों के सामने सिर न झुकाने का जवाब इंग्लैण्ड ने युद्ध से दिया। १८८२ ई० में अंग्रेजी जल-सेना ने सिकन्दरिया नगर पर गोलाबारी की और उसे जला दिया। इस तरह पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता प्रकट करके और मिस्री फ़ौज को खुश्की पर भी हराकर अंग्रेजों ने मिस्र पर पूरा क़ब्ज़ा कर लिया।

इस तरह मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार की शुरुआत हुई। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से, यह एक असाधारण स्थिति थी। मिस्र तुर्की राज्य का एक प्रान्त या हिस्सा था। इंग्लैण्ड से तुर्की की मित्रता समझी जाती थी, इसपर भी इंग्लैण्ड ने बहुत इतमीनान के साथ उसके एक हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। ब्रिटेन ने मिस्र में अपना एक एजेण्ट मुक़र्रर कर दिया। मुग़ल बादशाहों की तरह या हिन्दुस्तान के बडे लाट के समान यह साहब हरेक के अफ़सर बन गये। खेदीव और उनके वजीर भी

इस ब्रिटिश एजेण्ट के सामने बेबस थे। मिस्र के पहले ब्रिटिश एजेण्ट मेजर बेरिंग थे, जिन्होंने मिस्र पर २५ वर्ष तक बराबर राज्य किया और बाद को लार्ड क्रोमर कहलाये। क्रोमर मिस्र का एक दबंग और निरंकुश शासक था। इसका पहला काम यह था कि विदेशी साहूकारों और हिस्सेदारों को मुनाफे की रक़म पहुँचा दे। इसने अपनी यह नीति बराबर बाक़ायदा जारी रक्खी और इस बात की हर जगह से तारीफ़ सुनने में आने लगी थी कि मिस्र की आर्थिक स्थिति बहुत मजबूत है। हिन्दुस्तान की तरह मिस्र में भी राज-प्रबन्ध में कुछ उन्नति की गई, लेकिन २५ वर्ष ख़त्म होने पर मिस्र का पुराना क़र्ज़ उतना ही बना रहा जितना शुरू में था। शिक्षा के लिए शासन ने कुछ भी नहीं किया और क्रोमर ने तो राष्ट्रीय विद्यालय का खोलना भी रोक दिया था। इसके विचारों का पता हमें इसके पत्र के एक वाक्य से चलता है, जो इसने १८९२ ई० में उस समय के ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड सेल्सबरी को लिखा था। इसने लिखा था—"खेदीव बहुत कट्टर मिस्री बन रहे हैं।" किसी मिस्र-निवासी का मिस्री की तरह व्यवहार करना लार्ड क्रोमर की दृष्टि में जुर्म था, जैसे किसी हिन्दुस्तानी के हिन्दुस्तानी की तरह व्यवहार करने पर ब्रिटिशों की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं और सजायें मिलती हैं।

मिस्र पर अंग्रेज़ों का यह अधिकार फ़्रांसीसियों को पसन्द नहीं था। इस लूट में इन्हें तो कोई हिस्सा मिला नहीं था। योरप की दूसरी ताकतें भी इस बात को पसन्द नहीं करती थीं, और इसके कहने की तो जरूरत ही नहीं कि मिस्री लोग तो अंग्रेज़ों की हुकूमत को बिलकुल नापसन्द करते थे। ब्रिटिश सरकार हरेक आदमी से यही कहती थी कि इस मामले में किसीको परेशान होने की जरूरत नहीं; हम तो मिस्र में सिर्फ़ चन्द दिनों के लिए हैं और बहुत जल्द इस मुल्क को छोड़कर चले जायेंगे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी तौर पर और बाक़ायदा बार-बार यह ऐलान किया कि हम मिस्र को खाली कर देंगे। यह संजीदा ऐलान क़रीब पचास दफ़े या इससे ज्यादा तो जरूर किया गया होगा। असल में इसकी गिनती याद रखना मुश्किल है। इतनी सब बातों पर भी अंग्रेज़ लोग मिस्र में चिपके रहे और आजतक चिपके हैं।

झगडे की बहुतेरी बातों के बारे में १९०४ ई० में अंग्रेज़ों ने फ़्रान्सीसियों से समझौता कर लिया। अंग्रेज़ इस बात पर राजी होगये कि फ़्रान्सीसी मोरक्को में जो चाहें करें। इसपर फ़्रान्सीसी मिस्र पर ब्रिटिश प्रभुत्व को मंजूर करने के लिए राजी होगये। लेन-देन का यह मुनासिब सौदा होगया। सिर्फ़ तुर्की से, जो मिस्र का अधिपति समझा जाता था, कोई सलाह-मशविरा नहीं किया गया; और मिस्र-निवासियों से तो इस मामले में बातचीत करने का कोई सवाल था ही नहीं।

इस जमाने के मिस्र में एक अजीब बात यह थी कि मिस्र की अदालतें विदेशियों पर मुकदमे नहीं चला सकती थीं। ये अदालतें इस काम के क़ाबिल नहीं समझी जाती थीं और विदेशियों को अपनी अदालतों में अपने मुकदमों का फ़ैसला कराने का हक़ था। इसलिए मिस्री हुकूमत की पहुँच के बाहर कितनी ही परदेसी अदालतें पैदा होगई थीं, जिनमें विदेशी जज होते थे और जिनके हृदयों में विदेशी स्वार्थ भी होता था। इन जजों में से एक बहुत कट्टर विदेशी जज ने इन अदालतों के बारे में लिखा है—"इन अदालतों के इन्साफ नें विदेशी गुट्ट की, जो देश को चूस रहा था, खूब सेवा की है।" मेरा विश्वास है कि मिस्र के विदेशी बाशिन्दे ज्यादातर टैक्सों से वरी रहते थे। क्या आनन्द की स्थिति थी; टैक्स न देना पड़े, जिस देश में रहें वहाँकी अदालत और वहाँके क़ानून की मातहती से बचे रहें, और साथ ही साथ मुल्क को दुहने की हरेक क़िस्म की आसानियाँ हों!

इस तरह ब्रिटेन मिस्र पर राज्य करता था और उसको चूसता था और ब्रिटेन के एजेण्ट और प्रतिनिधि अपनी रेजीडेन्सी में निरंकुश बादशाहों की तमाम शान व शौक़त के साथ मजे करते थे। ऐसी हालत में लाजिमी था कि राष्ट्रीयता बढ़े और सुधार का आन्दोलन जोर पकड़े। उन्नीसवीं सदी का सबसे बड़ा मिस्र का सुधारक जमालउद्दीन अफ़गानी था। यह धार्मिक नेता था, जो नये जमाने के सांचे में ढालकर इस्लाम को आधुनिक रंग देना चाहता था। यह इस बात का प्रचार करता था कि हर तरह की तरक्क़ी इस्लाम के अनुकूल है। इस्लाम को आधुनिक रूप देने की इसकी यह कोशिश उसी प्रकार की थी, जैसी हिन्दुस्तान में हिन्दू धर्म को आधुनिक बनाने के लिए हुई है। इन प्रवृत्तियों की बुनियाद यह होती है कि सुधारक लोग पुराने जमाने के चन्द मौलिक सिद्धान्तों को पकड़ लेते हैं और पुराने रस्म-रिवाज और व्यवस्था के नये मानी लगाते हैं। इस ढंग से आधुनिक ज्ञान पुराने धार्मिक ज्ञान का सहयोगी और सहायक बन जाता है। किन्तु यह ढंग वैज्ञानिक ढंग से बिलकुल जुदा है, क्योंकि वैज्ञानिक ढंग में हम किसी पुरानी बन्दिश में न फँसकर बहादुरी के साथ आगे बढ़ते हैं। बहरहाल जमालुद्दीन का असर सिर्फ मिस्र में ही नहीं बल्कि तमाम अरबी मुल्कों में भी बहुत ज्यादा था।

विदेशी व्यापार की तरक्क़ी के साथ मिस्र में एक नया मध्य-वर्ग पैदा होगया और इसीपर वहाँकी नवीन राष्ट्रीयता की नींव पड़ी। आधुनिक मिस्री नेताओं में सबसे बड़े महान पुरुष सैद जगलूलपाशा इसी वर्ग में पैदा हुए थे। मिस्र में ज्यादातर मुसलमानों की आबादी है, लेकिन अब भी इस देश में काप्ट लोग, जो ईसाई हैं, काफ़ी तादाद में पाये जाते हैं। ये काप्ट लोग पुराने मिस्रियों के विशुद्ध वंशज

हैं। इस नये मध्य-वर्ग में मुसलमान भी थे और काप्ट भी, और सौभाग्यवश इन दोनों में वैरभाव नहीं था। अंग्रेज़ों ने इन दोनों में फूट पैदा कराने की कोशिश की, लेकिन उन्हें बिलकुल सफलता नहीं हुई। अंग्रेज़ों ने राष्ट्रीय दल में भी फूट पैदा कराने की कोशिश की। कभी-कभी हिन्दुस्तान की तरह मिस्र में भी इन्हें कुछ नरम-दल वाले लोग लोग मिल जाते थे, जो इनके साथ सहयोग करते थे; लेकिन इसके बारे में मैं तुम्हें ज्यादा बातें बाद की चिट्ठियों में लिखूंगा।

जब अगस्त १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ, मिस्र की यह हालत थी। तीन महीनें बाद इंग्लैण्ड, फ़्रांस और इनके मित्रराष्ट्रों के ख़िलाफ़ तुर्की जर्मनी से मिल गया। इसपर इंग्लैण्ड नें मिस्र को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन इसमें कुछ दिक्कत पैदा होगई और मिस्र को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करने के बजाय यह ऐलान किया गया कि वह ब्रिटिश संरक्षण में है।

इतनी बात तो मिस्र के लिए हुई। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में अफरीका का बाक़ी हिस्सा भी यूरोपियन साम्राज्यवाद का शिकार होगया। इस मुल्क पर जोरदार दौड़ मच गई थी और इस विशाल महाद्वीप को यूरोपीय ताक़तों ने आपस में बाँट लिया। ये लोग गिद्धों की तरह इस महाद्वीप पर टूट पड़े और कभी-कभी इनमें आपस में दो-दो चोंचें भी होजाती थीं। कोई किसीकी रोक-थाम करने-वाला न था, लेकिन १८९६ ई० में इटली अबिसीनिया से हार गया। अगर तुम आज अफरीक़ा के नक़शे को देखो तो तुम्हें दिखाई देगा कि इसका ज्यादातर हिस्सा अँग्रेज और फ़्रांसीसियों के क़ब्ज़े में है और कुछ हिस्सा बेलजियम, इटालियन और पुर्तगालियों के पास है। जर्मन लोगों का भी युद्ध के पहले इस महाद्वीप में हिस्सा था। अफरीका में अब तो केवल दो स्वतंत्र राज्य रह गये हैं—पूर्व में अबिसीनिया और पश्चिमी किनारे पर लेबेरिया का छोटा-सा देश। मोरक्को पर तो फ़्रांस और स्पेन हावी हैं।

इन विशाल प्रदेशों पर किस तरह क़ब्ज़ा किया गया, इसकी कहानी तो बहुत लम्बी और भीषण है और अभी वह कहानी ख़त्म भी नहीं हुई है। इस महाद्वीप के शोषण के लिए, ख़ासकर रबर निकाने के लिए, जो साधन काम में लाये गये, वे बहुत भीषण थे। कई वर्ष हुए, बेलजियन कांगो में अत्याचार की दारुण कथा सुनकर सभ्य कहलानेवाला संसार काँप उठा था। निस्संदेह काले आदमी की क़िस्मत भयंकर रही है।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से तक अफरीका, जिसे 'अंधेरा महाद्वीप' कहा जाता था, क़रीब-क़रीब एक अज्ञात मुल्क था—ख़ासकर अन्दरूनी हालत के लिए।

इस रहस्यमय देश में अनेक दुस्साहस से भरे हुए और हृदय को थरथराने वाले सफर करने के बाद ही इसका सही नक़शा बनाया जा सका है। स्काटलैण्ड का एक पादरी, डेविड लिविंगस्टोन, इस देश की खोज करनेवाला सबसे बड़ा सैयाह था। वर्षों तक वह इस मुल्क में गायब रहा और बाहर की दुनिया को उसका कुछ पता न चला। इसके साथ-साथ हेनरी स्टेनली का भी नाम मशहूर है। हेनरी स्टेनली पत्रकार और सैयाह थे। यह डेविड लिविंगस्टोन की तलाश में उनके पीछे-पीछे गये थे और अन्त में लिविंगस्टोन इन्हें इस महाद्वीप के बीचोंबीच मिले।

: १४२ :

'योरप का मरीज़' टर्की

१४ मार्च, १९३३ ई०

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके टर्की में पहुँच जाना स्वाभाविक और आसान है। उन्नीसवीं सदी में उस्मानी तुर्कों का यूरोपियन साम्राज्य धीरे-धीरे बिखर गया। इसके पहले की सदी में ही पतन का आरम्भ हो चुका था। शायद तुम्हें याद होगा, मैंने वियेना के तुर्की मुहासिरे यानी घेरे का जिक्र तुमसे किया था और यह बताया था कि किस तरह कुछ दिनों के लिए तुर्कों की तलवार के सामने योरप काँप उठा था। पश्चिम के धर्मपरायण ईसाई यह समझते थे कि तुर्की लोग 'खुदा का क़हर" हैं, जो ईसाई संसार को उसके गुनाहों की सजा देने के लिए भेजे गये हैं। लेकिन वियेना से तुर्कों के आखिरी बार हार कर वापस आने के बाद से हवा बिलकुल बदल गई और इसके बाद से तुर्क लोग योरप में सिर्फ आत्म-रक्षा ही में लगे रहे। दक्षिण-पूर्वी योरप की अनेक क़ौमें, जिन्हें इन्होंने जीता था, काँटे की तरह इनको चुभ रही थीं। इन क़ौमों को मिलाने-जुलाने की इनकी तरफ़ से कोई कोशिश नहीं की गई; और अगर कोशिश होती भी तो शायद कामयाबी न होती, क्योंकि तुर्कों की सख्त और बोझीली हुकूमत के खिलाफ़ राष्ट्रीयता के खयाल जोर पकड़ रहे थे। उत्तर-पूर्व की दिशा में, ज़ार का रूस दिन-दिन फैलता और बड़ा होता जाता था और तुर्की प्रदेशों को दबाता जा रहा था। वह तुर्कों का पुश्तैनी और स्थायी दुश्मन होगया और क़रीब दोसौ वर्ष तक उनसे समय-समय पर युद्ध करता रहा, जिसके बाद ज़ार और सुलतान दोनों क़रीब-क़रीब साथ-ही-साथ ख़तम होगये और अपने साथ अपना-अपना साम्राज्य भी लेते गये।

साम्राज्यों की दृष्टि से उस्मानी साम्राज्य काफ़ी दिनों तक क़ायम रहा। एशिया-

माइनर में बहुत दिन क़ायम रहने के बाद सन् १३६१ ई० में इसकी बुनियाद योरप में पडी। हालाँकि कुस्तुनतुनियाँ १४५३ ई० तक तुर्कों के हाथ में नहीं आया, लेकिन आस-पास का सारा मुल्क इसके बहुत पहले तुर्कों की मातहती में आ चुका था। पश्चिमी एशिया में तैमूर के अचानक फट पड़ने से और उससे १४०२ ई० में अंगोरा में तुर्की सुलतान के बुरी तरह हार जाने की वजह से कुस्तुनतुनिया कुछ दिनों के लिए तुर्कों के क़ब्ज़े में आने से बच गया। लेकिन तुर्क लोग इस हार के बुरे असर से बहुत जल्द छूट गये। १३६१ ई० से हम लोगों के ज़माने तक यानी क़रीब साढ़े पाँचसौ वर्ष तक उस्मानी साम्राज्य क़ायम रहा है और यह काफ़ी लम्बा ज़माना होजाता है।

फिर भी मध्यकाल के ख़तम होने के बाद योरप में जो नई बातें और नई अवस्था पैदा हो रही थी, तुर्क उसमें फिट नहीं होते थे। व्यापार और व्यवसाय बढ़ रहा था। योरप के बडे-बडे कारख़ाने वाले शहरों में बडे पैमाने पर उत्पत्ति का इन्तज़ाम हो रहा था। तुर्क लोगों को इस क़िस्म के काम में कोई दिलचस्पी नहीं थी। ये लोग बडे अच्छे सैनिक होते थे; बडे सख़्त लड़नेवाले और नियंत्रण के माननेवाले होते थे। लेकिन छुट्टी के वक़्त आरामतलब और गुस्सा आजाने पर बेरहम और ख़ौफ़नाक होजाया करते थे। यद्यपि ये शहरों में बस गये थे और ख़ूबसूरत इमारतें बनाकर नगरों को अलंकृत कर रक्खा था, फिर भी अपनी ख़ानाबदोशों की पुरानी आदत बिलकुल नहीं छोडी थी और इनकी जिन्दगी पर उसका कुछ-न-कुछ असर बना ही रहता था। अगर तुर्क लोग अपने देश में इस तरह की जिन्दगी गुज़ारते तो शायद कोई हर्ज न था। लेकिन योरप या एशिया-माइनर के लिए जो नई परिस्थिति पैदा होरही थी उसमें इस क़िस्म की जिन्दगी बिलकुल उपयुक्त नहीं थी। तुर्क लोग नये ज़माने के मुताबिक़ अपनेको ढालना नहीं चाहते थे, इसलिए इन दोनों भिन्न प्रणालियों में बराबर खींचतान जारी रही।

उस्मानी साम्राज्य तीन महाद्वीपों को मिलाता था— योरप, एशिया और अफ़रीका। पूर्व और पश्चिम के दरमियान के सारे तिजारती रास्ते इसी साम्राज्य से होकर गुज़रते थे। अगर तुर्कों में व्यापारिक रुचि होती और इस काम के लिए उनमें आवश्यक क्षमता भी पाई जाती तो ये लोग अपने इस फ़ायदेमन्द मौक़े और स्थिति से फ़ायदा उठा सकते थे और इनकी एक बडी व्यापारिक क़ौम बन सकती थी। लेकिन इनमें इस क़िस्म की कोई रुचि या योग्यता नहीं थी, बल्कि ये लोग तो इस व्यापार को जानबूझकर दबाने की कोशिश करते थे—शायद इसलिए कि इन्हें यह अच्छा नहीं लगता था कि दूसरे इससे फ़ायदा उठायें। पुराने तिजारती रास्तों के इस तरह रुक जाने से एक हद तक मजबूर होकर योरप की समुद्री और तिजारती क़ौमों ने पूर्वी देशों तक

पहुँचने के लिए दूसरे रास्ते मालूम किये, और कोलम्बस ने पश्चिम और डायज और वास्कोडिगामा ने पूर्व के नये रास्ते खोज निकाले। लेकिन तुर्क लोग इन सब बातों की तरफ़ से बिलकुल उदासीन रहे और अपने साम्राज्य पर केवल नियंत्रण और सैनिक कुशलता से शासन जमाये रक्खा। नतीजा यह निकला कि तिजारती और धन पैदा करनेवाले कामकाज उस्मानी साम्राज्य के यूरोपियन हिस्से में ख़त्म होगये। किसी हद तक इसकी वजह धार्मिक और जातीय संघर्ष भी थी। तुर्क और बालकन की ईसाई क़ौमों में आपस का मजहबी और जातीय झगड़ा क्रूसेड के ज़माने से और उसके पहले से भी पुश्त-दर-पुश्त चला आता था। राष्ट्रीय विचारों के बढ़ने से यह आग और भी भड़क गई और आपस में बराबर झगड़ा होता रहा। उस्मानी साम्राज्य के यूरोपीय हिस्से किस तरह बरबाद होते जाते थे, इसकी एक मिसाल देता हूँ। जब यूनान १८२९ ई० में तुर्कों से आजाद हुआ, एथेन्स, जो बड़ा मशहूर पुराना शहर है, सिर्फ़ दो हजार बाशिन्दों का गाँव रह गया था (आज सौ वर्ष बाद इस शहर की आबादी ५ लाख से ज्यादा है।)

इन व्यापारिक और धन पैदा करनेवाली प्रवृत्तियों को छोड़ देने से तुर्क शासकों को खुद भी अख़ीर में नुक़सान पहुँचा। साम्राज्य के हाथ-पैर जब कमज़ोर और शिथिल होगये, तब साम्राज्य का दिल भी निर्बल और रोगी होगया। असल में ताज्जुब की बात तो यह है कि इन तमाम कशमकश और दिक्कतों के होते हुए भी यह साम्राज्य इतने दिनों तक जिन्दा रहा।

'जानिसारी' कई वर्षों तक उस्मानी सुलतानों की असली ताक़त रही। 'जानिसारी' तुर्की सिपाहियों की एक फौजी टुकडी थी। इसमें ग़ुलाम ईसाई हुआ करते थे, जिन्हें लड़कपन से बहुत सावधानी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जाँनिसारियों की बात सुनकर मिस्र के ममलूकों की याद आजाती है; लेकिन इन दोनों में फ़र्क़ है। यद्यपि जाँनिसारी लोग तुर्की सेना के रत्न थे, लेकिन मिस्र के ममलूकों की तरह ये कभी शासक नहीं हुए। ममलूकों की तरह इनकी भी कोई पुश्तैनी जाति नहीं थी। ये लोग ग़ुलाम थे, लेकिन इनको बहुत-सी रिआयतें मिली हुई थीं और ऊँची-ऊँची जगहें और बडे-बडे ओहदे इनके लिए महफूज रहते थे। इनकी औलाद आजाद मुसलमान होगई और इस रिआयती जत्थे में नहीं शामिल की जा सकी; क्योंकि यह जत्था सिर्फ़ ग़ुलामों के लिए ही था, जिसमें केवल गोरे ईसाई ग़ुलामों की ही भरती की जाती थी। ये सब बातें अब कितनी आश्चर्यजनक मालूम होती हैं! लेकिन याद रक्खो कि उस जमाने में मुसलमान मुल्कों में ग़ुलाम लफ़्ज के वह मानी नहीं थे जो आजकल लिये जाते हैं। ग़ुलाम क़ानून और ज़ाब्ते के ख़याल से तो ग़ुलाम समझे जाते थे, लेकिन अक्सर वे बहुत ऊँचे

ओहदे तक पहुँचते थे। तुम्हें दिल्ली के ग़ुलाम बादशाहों का तो ख़याल होगा ही। मिस्र के सुलतान सलादीन भी असल में ग़ुलाम थे। तुर्कों का ख़याल यह था कि शासक-वर्ग को ज्यादा-से-ज्यादा क़ाबिल बनाने के लिए उनको अच्छी तरह से तालीम देनी चाहिए। तुर्क लोग यह जानते थे, जैसा कि हरेक शिक्षक जानता है, कि तालीम देने का सबसे अच्छा ज़माना लड़कपन से कुछ साल बाद तक हुआ करता है। मुसलमान रिआया के बच्चों को छीन लेना, उनको अपने-अपने माता-पिता से बिलकुल अलग कर देना, और उनको ग़ुलाम बना लेना, शायद आसान काम नहीं था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को ले लेते थे। सुलतान के ग़ुलामों की गृहस्थी में इनको शामिल कर लिया जाता था और इनको सख़्त तालीम दी जाती थी। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये लोग बड़े होकर मुसलमान होजाते थे।

सुलतान लोग भी इसी तरीक़े पर पाले जाते थे। सुलतानों की शादी साधारण तरीक़े से नहीं होती थी। सावधानी से चुनी हुई ग़ुलाम लड़कियाँ उनके महल में भेज दी जाती थीं और वही इनके बच्चों की माँ होती थीं। अठारहवीं सदी की शुरुआत तक जितने सुलतान हुए, वे ग़ुलाम माताओं की ही औलाद थे, और उन्हें उसी तरह की सख़्त तालीम और कठोर नियंत्रण से गुज़रना पड़ता था जैसे घर के किसी भी दूसरे ग़ुलाम को।

सुलतान से लेकर नीचे तक ख़ास-ख़ास कामों को करने के लिए ग़ुलामों के इस सावधानी से किये हुए चुनाव, नियंत्रण और शिक्षा में किसी क़दर वैज्ञानिकता पाई जाती थी। इस वजह से राज्य की कुछ बातों में एक हद तक कुशलता पैदा होगई थी। इस वर्ग में नये ग़ुलामों का ख़ून बराबर मिलता रहता था और इसलिए कोई पुश्तैनी शासक वर्ग क़ायम नहीं हुआ। शायद इस साम्राज्य की प्रारम्भिक शक्ति इसी प्रणाली पर निर्भर थी। लेकिन ये सब बातें यूरोपीय या एशियाई परिस्थति को देखते हुए बिलकुल अनुकूल नहीं थीं। टर्की की यह प्रणाली सामन्त-प्रणाली भी नहीं थी, और यह उस प्रणाली से भी बहुत भिन्न थी जो योरप में सामन्तशाही की जगह पर क़ायम हो रही थी। इस प्रणाली की मातहती में और व्यापार या उद्योग ज्यादा न होने की वजह से, टर्की में कोई असली मध्यम वर्ग पनप न सका। फिर यह प्रणाली भी अपनी पुरानी शुद्धता के साथ सोलहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से के बाद नहीं चल सकी। ग़ुलामों के इस वर्ग में पुश्तैनी बात पैदा होगई और इन ग़ुलामों के लड़के अपने कुटुम्ब में बने रहने लगे। वे अपने पिता का ही पेशा करते थे। और कई तरीकों से भी यह प्रणाली धीरे-धीरे ढीली पड़ गई। लेकिन जड़ में जो बात थी, वह बनी रही और उसकी वजह से सदियों से नजदीकी ताल्लुक़ात रखते हुए भी टर्की

योरप से अलग और उसके लिए परदेशी बना रहा। ख़ुद टर्की के अन्दर की विदेशी जातियाँ अपना-अपना क़ानून और अपना-अपना गुट बनाये हुए एक-दूसरे से बिलकुल अलग रहीं।

इस असाधारण और पुरानी तुर्की प्रणाली के बारे में मैंने तुमको इतना ज्यादा इसलिए बताया है कि यह अपनी जगह पर एक अद्वितीय प्रणाली थी और उस्मानी साम्राज्य के निर्माण में इस प्रणाली का काफ़ी असर पड़ा था। ज़ाहिर है कि यह प्रणाली अब नहीं पाई जाती। अब तो यह इतिहास की बात है।

टर्की के पिछले दोसौ वर्षों का इतिहास उस कशमकश का इतिहास है जो उसने बराबर आगे बढ़नेवाले रूसियों के ख़िलाफ़ और पराजित क़ौमों के विद्रोह के ख़िलाफ़ जारी रक्खी। यूनान, रूमानिया, सर्विया बलगेरिया, माण्टेनिगरो, बोसनिया ये सब बालकन देश उस्मानी साम्राज्य के अंग थे। हम देख चुके हैं कि इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस की मदद से १८२९ ई० में यूनान उस्मानी साम्राज्य से अलग होगया। रूस स्लाव जाति का देश है, बालकन में बलगेरिया और सर्विया भी स्लाव जाति के हैं। ज़ार के रूस ने यह दिखाना चाहा कि हम बालकन के इन स्लाव लोगों के रक्षक और हमदर्द हैं। लेकिन रूस का असली प्रलोभन कुस्तुनतुनिया का नगर था और उसकी कूटनीति का सारा ज़ोर इसी बात पर था कि किसी तरह से आख़िर में साम्राज्य की यह प्राचीन राजधानी हाथ आ जाय। क्योंकि ज़ार अपनेको बिज़ैण्टाइन सम्राटों का वारिस समझता था। १७३० ई० में रूसी-तुर्की लड़ाइयों का सिलसिला शुरू हुआ और बीच-बीच में चन्द दिनों की सुलह के साथ यह १७६८, १७९२, १८०७, १८२८, १८५३, १८७७ और अन्त में १९१४ तक जारी रहा। १७७४ ई० में रूस ने टर्की से क्रीमिया छीन लिया और काले समुद्र तक पहुँच गया। लेकिन इससे कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ; क्योंकि काला समुद्र तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुंह पर कुस्तुनतुनिया की डाट लगी है। १७९२ और १८०७ में रूसी सरहद कुस्तुनतुनिया की तरफ़ बढ़ती गई और तुर्की सरहद पीछे हटती गई। जब यूनान की आज़ादी की लड़ाई छिड़ी तो ज़ार ने तुर्कों को अपनी इस परेशानी में फँसा देखकर उनपर हमला करके फ़ायदा उठाना चाहा था। अगर इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच में न पड़ जाते, तो ज़ार ने इस मौक़े पर कुस्तुनतुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया होता।

इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया ने टर्की को रूस से क्यों बचाया? टर्की के प्रेम से नहीं, बल्कि रूस की प्रतिद्वन्द्विता और डर की वजह से। मैं तुमको इसके पहले बता चुका हूँ की इंग्लैण्ड और रूस के दरमियान एशिया और दूसरी जगहों में पुश्तैनी रक़ाबत चलती रही। ख़ासकर हिन्दुस्तान को क़ब्ज़े में कर लेने से अंग्रेज़ लोग बिलकुल रूसी सरहद

तक पहुँच गये। और इन लोगों को, इस डर से कि ज़ार का रूस हिन्दुस्तान में न जाने क्या करेगा, बराबर ख़ौफ़नाक सपने दिखाई दिया करते थे; इसलिए अंग्रेज़ों की यह नीति थी कि रूस के रास्ते में विघ्न डालते रहें और उसे अपनी ताक़त न बढ़ाने दें। अगर कुस्तुनतुनिया पर रूस का क़ब्ज़ा होजाता तो उसे भूमध्यसागर में एक बढ़िया बन्दरगाह मिल जाता और वह हिन्दुस्तान के रास्ते के पास जंगी जहाज़ों का बेड़ा रख सकता था। इंग्लैण्ड इस ख़तरे में क्यों पड़े, इसलिए उसने रूस को इस बात का कभी मौक़ा नहीं दिया कि वह टर्की को कुचल दे। रूस को दूर रखने में आस्ट्रिया का भी मतलब था। आस्ट्रिया आज नन्हा-सा देश होगया है, लेकिन कुछ साल पहले यह बालकन प्रायद्वीप से मिला हुआ एक बड़ा साम्राज्य था और चाहता था कि जब टर्की के टुकड़े हों तो बालकन के प्रदेशों में से यह ख़ुद काफ़ी बड़ा हिस्सा दबा ले, इसलिए रूस का दूर रखना इसके लिए ज़रूरी था।

बेचारे टर्की की बुरी हालत थी। इसके ये ताक़तवर पड़ौसी इसी इन्तज़ार में बैठे रहते थे कि टर्की को कुछ हो कि ये उसपर टूट पड़ें और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें। १८५३ ई० में टर्की की तरफ़ इशारा करते हुए रूस के ज़ार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था : "हमारे पास एक बीमार है—बहुत ज्यादा बीमार है········ यह किसी समय अचानक हमारी गोद में मर जा सकता है।" यह वाक्य उस वक्त से मशहूर होगया और टर्की इसके बाद से 'योरप का बीमार' (Sick Man of Europe) कहा जाने लगा। लेकिन इस बीमार को मरते-मरते काफ़ी दिन लग गये।

उसी साल, १८५३ ई० में, ज़ार ने इस मरीज़ की जान निकाल लेने की दूसरी कोशिश की। इसकी वजह से रूस में क्रीमियन युद्ध शुरू होगया और टर्की बच गया। २१ वर्ष बाद; १८७७ ई० में, ज़ार ने फिर टर्की पर चोट की और उसे हरा दिया; लेकिन फिर विदेशी हस्तक्षेप की वजह से टर्की बच गया। कम-से-कम कुस्तुनतुनिया रूस के पंजे में न जा सका। टर्की की क़िस्मत का फ़ैसला करने के लिए १८७८ ई० में बर्लिन में एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें बिस्मार्क शामिल था और डिज़रेली भी। योरप के कितने ही मशहूर राजनीतिज्ञ भी इसमें बुलाये गये थे। इस सम्मेलन में इन लोगों ने एक-दूसरे को धमकियाँ दीं और एक-दूसरे के ख़िलाफ़ साज़िश की। इंग्लैण्ड तो रूस से युद्ध तक करने के लिए तैयार होगया था लेकिन अन्त में रूस ठण्डा पड़ गया। बर्लिन के इस सुलहनामे का यह नतीजा हुआ कि बलगेरिया, सर्बिया, रूमानिया और माण्टेनिगरो की बालकन रियासतें आज़ाद होगईं। आस्ट्रिया ने बोसीना और हरज़ीगोविना पर क़ब्ज़ा कर

नौजवान तुर्कों ने जिस सुलतान को १९०९ ई० में तख़्त से उतारा था, वह बड़ा दिलचस्प व्यक्ति था। उसका नाम था अब्दुल हमीद द्वितीय, और वह १८७६ई० में तख़्त पर बैठा था। उसे सुधार या नई ईजाद की कोई बात पसन्द नहीं थी, लेकिन वह अपने ढंग का योग्य आदमी था। उसकी शोहरत इस बात की थी कि वह बड़ी-बड़ी शक्तियों को एक-दूसरे से लड़ा देने में बेमिसाल आदमी है। तुम्हें याद होगा कि तमाम उस्मानी सुलतान ख़लीफ़ा यानी इस्लाम के धार्मिक प्रमुख भी होते थे। अब्दुलहमीद ने एक 'पैन इस्लामी' यानी अखिल इस्लामी आन्दोलन चलाकर अपनी इस हैसियत का फ़ायदा उठाना चाहा। यह ऐसा आन्दोलन था जिसमें दूसरे देश के मुसलमान लोग भी शामिल हो सकते थे और इस तरह अब्दुलहमीद को इनकी मदद मिल सकती थी। योरप और एशिया में इस अखिल इस्लामवाद की काफ़ी चर्चा रही, लेकिन इसकी बुनियाद मज़बूत नहीं थी और महायुद्ध ने इस आन्दोलन का बिलकुल ख़ातमा ही कर दिया। टर्की में राष्ट्रवाद ने 'अखिल इस्लामवाद' का विरोध किया और राष्ट्रवाद अधिक ताक़तवर साबित हुआ।

सुलतान अब्दुलहमीद योरप में बहुत बदनाम होगये, क्योंकि लोग समझते थे कि बलगेरिया, अरमीनिया और दूसरी जगहों के अत्याचार और क़त्लेआम के लिए यही ज़िम्मेदार हैं। ग्लैडस्टन इनको 'महान् हत्यारा' कहता था और इन अत्याचारों के बारे में उसने इंग्लैण्ड में एक बड़ा आन्दोलन चलाया था। तुर्क लोग ख़ुद इनके राज्य-काल को अपने इतिहास का सबसे अधिक 'अंधेरा ज़माना' मानते हैं। इनके ज़माने में बालक़न प्रायद्वीप में अत्याचार और क़त्लेआम नियमित-सी घटनायें थीं और दोनों पार्टियाँ इसमें हिस्सा लेती थीं। बालकन-निवासी और आरमीनियन तुर्कों को क़त्ल करने के उतने ही दोषी थे जितने तुर्क आरमीनियन लोगों के। स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने और राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने का यह तरीक़ा बहुत क्रूर और कठोर था। सदियों के धार्मिक और जातीय विद्वेष ने इन लोगों की प्रकृति में घर कर लिया था और वह भयंकर रूप में प्रकट होता था। आरमीनिया सबसे ज्यादा सताया गया था। अब आरमीनिया काकेशस के पास एक सोवियट प्रजातन्त्र है।

इस तरह बालकन युद्धों के बाद टर्की बिलकुल पस्त होगया और योरप में सिर्फ़ एक जगह उसके क़दम रखने के लिए बची। उसके साम्राज्य का बाक़ी हिस्सा भी बिखर रहा था। मिस्र सिर्फ़ नाम-मात्र के लिए उसका था। असल में उसपर क़ब्ज़ा ब्रिटेन का था, जो उसे चूस रहा था। लेकिन दूसरे अरब देशों में राष्ट्रीयता के चिन्ह ज़ाहिर होरहे थे। आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसी स्थिति में टर्की मायूस हो

जाय और उसकी आँखें खुल जायें। १९०८ ई० के उसके सारे बडे-बडे मनसूबे मिट्टी में मिल गये। उस समय जर्मनी इससे कुछ हमदर्दी जाहिर करता मालूम हुआ। उस वक़्त जर्मनी की आँखें पूर्व की तरफ़ थीं और वह सारे मध्य-पूर्व (Middle East) पर अपना प्रभाव जमाने का बुरा सपना देख रहा था। टर्की भी जर्मनी की तरफ़ झुका और उसके ताल्लुक़ात बढ़ने लगे। दूसरे बालकन युद्ध के ख़त्म होनें के सालभर के बाद, १९१४ ई० में जब महायुद्ध शुरू हुआ, स्थिति यह थी। टर्की की क़िस्मत में अवकाश नहीं लिखा था।

पुराने टर्की के बारे में पढ़ते हुए तुम्हें 'सब्लाइम पोर्ट' (Sublime Porte) का शब्द अकसर मिला होगा, जिसका अर्थ है तुर्की सरकार। मैं सोचा करता था कि इतना बढ़िया नाम इसका क्यों पड़ा? मालूम यह होता है कि जिस इमारत में पुरानी तुर्की सरकार का ख़ास दफ़्तर था उसका फाटक ऊँचा था, इसलिए तुर्की सरकार को ही लोग सब्लाइम पोर्ट (Sublime Porte) कहने लगे। लोग सरकारी दफ़्तरों का नामकरण इसी प्रकार करते हैं। इसमें ज्यादा शान मालूम होती है। ब्रिटिश सरकार को 'ह्वाइट हाल' कहते हैं। इसी तरह जहाँ ब्रिटिश प्रधानसचिव रहते हैं वह डाउनिंगस्ट्रीट कहलाता है और फ़्रान्स के वैदेशिक दफ़्तर को 'क्वे द ओर्जे' कहा जाता है।

लेकिन मेरा ख़याल है कि अब 'शानदार फाटक' जैसी कोई चीज बाक़ी नहीं रही। टर्की की राजधानी अब अंगोरा में है और कुस्तुनतुनिया, जो अब इस्तम्बोल कहलाता है, एक प्रान्तीय शहर होगया है।

: १४३ :

ज़ारों का रूस

१६ मार्च, १९३३

रूस आज सोवियट देश है और किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधि इसका राज्य चलाते हैं। बाज बातों में यह दुनिया का सबसे आगे बढ़ा हुआ देश है। असली हालत चाहे जो हो, यहाँके समाज और सरकार की इमारत 'सामाजिक समता के उसूल पर खडी की गई है। यह आज-कल की दशा है। लेकिन कुछ साल पहले और सारी उन्नीसवीं सदीभर रूस योरप का सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ और संकीर्ण देश था। यहाँपर निरंकुशता और तानाशाही अपने असली रूप में पाई जाती थी। पश्चिमी योरप में परिवर्तन और क्रान्ति के होते हुए भी जार लोग बादशाहों के

ईश्वरीय अधिकार के उसूल को मानते थे। यहाँका चर्च और पादरी-समुदाय, जो पुराना कट्टर यूनानी चर्च था (रोमन या प्रोटेस्टेण्ट नहीं), और जगहों के मुक़ाबिले में ज्यादा निरंकुश और हुकूमतपसन्द था और ज़ार की सरकार का ख़ास हिमायती और उसके हाथ की कठपुतली था। इस देश को 'पवित्र रूस' कहते थे और ज़ार हरेक का 'नन्हा गोरा पिता' (Little White Father) समझा जाता था। चर्च के आदमी और पादरी लोग इन कथाओं को आदमियों की बुद्धि को कुन्द करने के लिए और आर्थिक और राजनैतिक दशा से उनका ध्यान दूर हटाने के लिए काम में लाते थे। इतिहास में धर्म ने अजीब-अजीब साथी बनाये हैं।

'पवित्र रूस' का मुख्य प्रतीक 'नाउट' (Knout) यानी चाबुक था और एक विशेष पेशा 'पोग्रोम्स' (Pogroms) हुआ करता था। ज़ार के रूस ने दुनिया के सामने ये दो शब्द पेश किये हैं। 'नाउट' चाबुक को कहते थे, जिससे सर्फ़ यानी किसानों को या किसी दूसरे को सज़ा दी जाती थी और 'पोग्रोम्स' का मतलब था मारकाट, बरबादी और संगठित अत्याचार। अमली तौर से इसका मतलब होता था लोगों का, ख़ासकर यहूदियों का, क़त्लेआम। ज़ार के रूस के पास साइबेरिया का सुनसान और वीरान मैदान भी था। इस नाम के कहते ही हमें देशनिकाले, क़ैद और निराशा की याद आजाती है। साइबेरिया को राजनैतिक क़ैदी बहुत बडी तादाद में भेजे जाते थे और वहाँ देशनिर्वासित लोगों के बडे-बडे कैम्प और उपनिवेश पैदा होगये थे। इन कैम्पों और उपनिवेशों के पास आत्म-हत्या करनेवालों की क़ब्रें हुआ करती थीं। लम्बी तनहाई, जलावतनी और सज़ा मुश्किल से बर्दाश्त होती है। अनेक बहादुरों का दिमाग़ इनकी वजह से ख़राब होजाता है और इनके बोझ से शरीर टूट जाता है। दुनिया से अलग रहने के लिए और उन दोस्तों, साथियों और लोगों से जुदा रहने के लिए, जिनकी आशायें अपनी आशायें हैं या जो अपनी चिन्ताओं के बोझ को हलका करते हैं, आदमी में मानसिक शक्ति और अन्दरूनी गहराई होनी चाहिए, जो शान्त और निश्चल रक्खे और बर्दाश्त करने की हिम्मत दे। जिसने सिर उठाया, ज़ार के रूस ने उसको प्रहार करके नीचे गिरा दिया और जब-जब आज़ादी की कोशिश की गई तब-तब ज़ार के रूस ने उसे पस्त कर दिया। सफर को भी मुश्किल बना दिया गया था, जिससे स्वतंत्र विचार बाहर से आकर न फैल सकें। लेकिन आज़ादी की ख्वाहिश को जब दबाया जाता है तो वह सूद-दर-सूद के साथ उभरती है, और ऐसी हालत में जब वह आगे बढ़ती है तो बडी तेज़ी के साथ कूदकर चलती है जिससे कि पुराना रंग-ढंग चौपट होजाता है।

हमने पहले की चिट्ठियों में टर्की में, ईरान में, मध्य-एशिया में दूर के

पश्चिमी देशों में, यानी एशिया और योरप के बहुतेरे हिस्सों में, जार के रूस की राजनीति और कारगुजारियों की कुछ झलक देखी है। अब हम इन अलग-अलग कारगुजारियों को असली विषय के साथ जोडकर देखेंगे कि हमारे सामने कैसी तस्वीर आती है। रूस की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि इसके हमेशा दो मुख रहे हैं। एक पश्चिम की तरफ़, दूसरा पूर्व की तरफ़। अपनी इस स्थिति के कारण ही यह यूरेशियन शक्ति बनी है और अपने इतिहास के आख़िरी हिस्से में इसने कभी पूर्व और कभी पश्चिम में दिलचस्पी ली है। जब पश्चिम से भगाया गया तो यह पूर्व की तरफ़ चला और जब पूर्व की तरफ़ रोक दिया गया तो पश्चिम की तरफ़ पलट गया।

मैंने तुम्हें बताया है कि चंगेजखाँ का बनाया हुआ पुराना मंगोल साम्राज्य किस तरह से टूटा और किस तरह से मास्को के राजकुमार के नेतृत्व में रूसी राजवंशियों ने 'सुनहरे कबीले' के मंगोलों को अन्त में रूस से निकाल दिया। यह घटना चौदहवीं सदी के अख़ीर में हुई। धीरे-धीरे मास्को के राजकुमार सारे देश के निरंकुश शासक होगये और अपनेको जार (सीजर) कहने लगे। इन लोगों के रस्म-रिवाज और ख़यालात ज्यादातर मंगोलियन ही बने रहे और पश्चिमी योरप और इनमें कोई बात मिलती-जुलती नहीं थी। पश्चिमी योरप रूस को जंगली समझता था। १६८९ ई० में जार पीटर, जिसको पीटर महान् कहा गया है, तख़्त पर बैठा। उसने यह निश्चय किया कि रूस पश्चिम की तरफ़ झुके और उसने खुद यूरोपियन देशों में वहाँकी हालत समझने के लिए लम्बा दौरा किया। जो कुछ उसने देखा उसमें से ज्यादातर चीज़ों की उसने नक़ल की और अपने देश के जाहिल, बेदिल और झिझकते हुए अमीरों में यूरोपीय ख़यालात भर दिये। जनता तो बहुत ही पिछडी और दबी हुई थी। इसलिए जार के सामने इस बात का कोई सवाल ही नहीं था कि वे लोग सुधार के बारे में क्या राय रखते हैं। पीटर ने देखा कि उसके जमाने की बडी-बडी कौमें समुद्र पर बहुत ही मजबूत हैं। उसने समुद्री ताक़त का महत्त्व समझा; लेकिन रूस के पास, जो इतना लम्बा-चौड़ा था, सिवा आर्कटिक समुद्र के, जो बिलकुल बेकार था, किसी दूसरे समुद्र में बाहर निकलने के लिए कोई रास्ता नहीं था। इसलिए वह उत्तर-पश्चिम में बाल्टिक की ओर और दक्षिण में क्रीमिया की ओर बढ़ा। वह खुद क्रीमिया तक नहीं पहुँचा, लेकिन उसके बाद के जार वहाँतक पहुँचे। हाँ, वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक जरूर पहुँच गया और सेंटपीटर्सबर्ग नाम के शहर की बुनियाद डाली, जो एक नया पश्चिमी ढंग का शहर था। फिनलैण्ड की खाडी से दूर, जिससे होकर बाल्टिक में पहुँच सकते थे, यह शहर नेवा नदी के तट पर बसा हुआ था। उसने सेण्टपीटर्सबर्ग को अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उस पुरानी परिपाटी

को, जिसने मास्को को जकड़ रक्खा था, तोड़ने की कोशिश की । १७२५ ई० में पीटर मर गया ।

इससे आधी सदी से ज्यादा समय के बाद, १७८२ ई० में, रूस के एक दूसरे शासक नें इस मुल्क को पश्चिमी बनाना चाहा । यह एक स्त्री थी । इसका नाम कैथरीन द्वितीय था और इसको भी महान् की पदवी मिली है । यह एक असाधारण स्त्री थी—सख्त, बेरहम, क़ाबिल और अपनी खानगी जिन्दगी के बारे में बदनाम । अपने पति ज़ार को क़त्ल करके यह सारे रूस की निरंकुश शासक होगई थी और इसने चौदह वर्ष तक राज्य किया । यह अपनेंआपको संस्कृति की बहुत बडी संरक्षक ज़ाहिर करती थी और इसनें वाल्तेयर से दोस्ती भी करनी चाही, जिसके साथ इसका पत्र-व्यवहार तो होता ही था । इसनें किसी हदतक वर्साई के फ़्रांसीसी दरबार की नक़ल की थी और कुछ शिक्षा-सम्बन्धी सुधार भी किये थे; लेकिन ये सब बातें दिखाने के लिए और चोटी पर की गईं थीं । संस्कृति की नक़ल एकदम से नहीं की जा सकती; उसको तो बढ़नें का मौक़ा देना चाहिए । अगर कोई पिछडी हुई क़ौम किसी तरक्क़ी की हुई क़ौम की सिर्फ़ नक़ल करती है, तो वह असली संस्कृति के सोनें और चाँदी को बदलकर टीन बना देती है । पश्चिमी योरप की संस्कृति चन्द सामाजिक अवस्थाओं पर निर्भर थी । पीटर और कैथरीन ने इन अवस्थाओं को पैदा करने की कोशिश नहीं की, सिर्फ़ बाहरी ढाँचों की नक़ल करनी चाही । नतीजा यह हुआ कि इन तब्दीलियों का बोझ जनता पर पड़ गया और इससे किसानों की गुलामी मजबूत होगई और ज़ार की निरंकुशता भी बढ़ गई । इसकी तुलना अंग्रेज़ों के हिन्दुस्तान में आने से की जा सकती है । इन लोगों ने भी खर्चीले शासन की एक मशीन को हिन्दुस्तान में चलाने और क़ायम रखने की कोशिश की, लेकिन सामाजिक अवस्था में कोई तब्दीली पैदा करने की कोशिश नहीं की और न करते हैं । इतना ही नहीं, ये जान-बूझकर सामाजिक संकीर्णता और कट्टरता का पक्ष लेते हैं । इसी वजह से इनके आने के कारण सामन्त प्रथा और सामाजिक संकीर्णता और मजबूत होगई है ।

इसलिए ज़ार के रूस में जब एक रत्ती तरक्क़ी होती थी तो उसकी एक मन प्रतिक्रिया पैदा होजाती थी । रूसी किसान क़रीब-क़रीब ग़ुलाम थे । वे अपने-अपने खेतों से बँधे हुए थे और बग़ैर ख़ास हुक्म के इन खेतों को नहीं छोड़ सकते थे । शिक्षा चन्द अफ़सरों में और ज़मींदार वर्ग के कुछ दिमाग़ी आदमियों में महदूद थी । मध्यम वर्ग क़रीब-क़रीब था ही नहीं, और जनता बिलकुल अपढ़ और पिछडी हुई थी । पिछले ज़माने में अकसर किसानों नें ख़ूनी बलवे किये थे, लेकिन वे बलवे बहुत ज़्यादा ज़ुल्म

की वजह से आँख मूंदकर किये गये थे और इसीलिए फ़ौरन ही पस्त भी कर दिये गये। चोटी के लोगों में कुछ शिक्षा थी, इसलिए पश्चिमी योरप में फैले हुए ख़यालात जनता में भी टपक-टपक कर पहुँच गये थे। यह फ्रान्सीसी क्रान्ति और बाद में नेपोलियन का ज़माना था। तुम्हें याद होगा कि नेपोलियन के पतन से सारे योरप में प्रतिक्रिया पैदा होगई थी, और ज़ार अलेग्ज़ेण्डर प्रथम अपने तमाम बादशाहों की 'पवित्र गोष्ठी' के साथ इस प्रतिक्रिया का नेता था। इसका वारिस इससे भी बदतर था। आख़िज आकर नौजवान अफ़सरों और विद्वानों के एक जत्थे ने १८२५ ई० में बलवा कर दिया। ये सबके सब ज़मींदार वर्ग के थे और जनता या फ़ौज की इनको कोई मदद न थी। ये लोग भी पीस दिये गये। इनको 'डिसम्बरिस्ट' कहते हैं, क्योंकि इनका बलवा १८२५ ई० के दिसम्बर में हुआ था। यह विद्रोह रूस में राजनैतिक जागृति का पहला चिन्ह है। इसके पहले खुफ़िया राजनैतिक कमेटियाँ बनती थीं, क्योंकि ज़ार की सरकार ने हर तरह की सार्वजनिक राजनैतिक प्रवृत्तियाँ रोक रक्खी थीं। ये खुफ़िया कमेटियाँ बनती गईं और क्रान्ति के ख़यालात फैलते गये—खासकर दिमाग़ी आदमियों में और यूनीवर्सिटी के विद्यार्थियों में।

क्रीमियन युद्ध में हार जाने के बाद रूस में कुछ सुधार किये गये। १८६१ ई० में सर्फडम यानी किसानों की गुलामी का अन्त हुआ। किसानों के लिए यह बहुत बड़ी चीज़ थी, लेकिन इससे उनकी मुसीबतों में कोई ख़ास कमी नहीं आई; क्योंकि आज़ाद किसानों को इतनी ज़मीन नहीं दी गई थी कि वे अपनी गुज़र-बसर कर सकें। इसी दरमियान पढ़े-लिखों में क्रान्ति के विचार फैल रहे थे और उसीके साथ-साथ ज़ार की सरकार का इन विचारों के ख़िलाफ़ दमन भी जारी था। इस उन्नत शिक्षित वर्ग और किसानों के दरमियान कोई रिश्ता या सम्पर्क में आने के लिए समान क्षेत्र नहीं पाया जाता था। इसलिए १८७० ई० के क़रीब समाजवादी विचार के विद्यार्थियों ने, जो बहुत आदर्शवादी और अस्पष्ट थे, यह निश्चय किया कि किसानों में अपना प्रचार शुरू किया जाय और हज़ारों विद्यार्थी गाँवों में घुस पड़ें। किसान लोग इन विद्यार्थियों को नहीं जानते थे। वे इनपर अविश्वास करते थे और सन्देह करते थे कि शायद सर्फ़डम यानी किसानों की गुलामी को फिर क़ायम करने की इन लोगों की साज़िश है। इसलिए किसान लोग इन विद्यार्थियों में से बहुतों को, जो अपनी जानपर खेलकर आये थे, गिरफ्तार करके ज़ार की पुलिस के हवाले कर देते थे। जनता से सम्पर्क में आये बिना कोरी हवा में काम करने की यह एक अजीब मिसाल है।

किसानों के दरमियान इस पूरी असफलता से इन पढ़े-लिखे विद्यार्थियों को

बहुत धक्का पहुँचा। नाउम्मीदी और नफ़रत के आवेश में इन लोगों ने आतंकवाद का सहारा लिया; यानी बम फेंकने लगे और सरकारी अफ़सरों की हत्या करने लगे। यहींसे रूस में आतंकवाद और बम की शुरुआत होती है, जिसकी वजह से क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ एक नया रंग पकड़ती हैं। बम फेंकनेवालों का यह दल अपनेको 'बम वाला नरम दल' कहता था और इनके आतंकवादी संगठन का नाम 'जनता का संकल्प' था। यह नाम किसी हद तक अत्युक्ति से भरा था, क्योंकि इससे जिन लोगों का ताल्लुक़ था वे बहुत छोटे हिस्से के प्रतिनिधि थे। इस तरह दृढ़-प्रतिज्ञ नौजवानों और युवतियों के इन गिरोहों से ज़ार की सरकार की नई कशमकश शुरू हुई। दूसरी कम तादादवाली क़ौमों और पराजित जाति के लोग क्रान्तिकारी दल में आकर शामिल होने लगे और विप्लव की शक्ति बढ़ने लगी। सरकार इन जातियों और छोटी तादादवाली क़ौमों को बहुत सताती थी। ये लोग अपनी मातृभाषा खुल्लमखुल्ला नहीं बोल सकते थे। और दूसरे बहुत-से तरीक़ों से भी इनको ज़लील और परेशान किया जाता था। पोलैण्ड, जो बडे उद्योग-धंधों में रूस से ज्यादा आगे था, रूस का सिर्फ़ एक प्रान्त समझा जाता था और पोलैण्ड का नाम ही बिलकुल नाबूद होगया था। पोलिश भाषा का इस्तेमाल क़ानूनन रोक दिया गया था। जब पोलैण्ड का यह हाल था तो दूसरी छोटी तादाद वाली जातियों और क़ौमों से इससे कहीं ज्यादा बुरा बर्ताव किया ही जाता था। १८६० ई० में पोलैण्ड में बहुत बड़ा विद्रोह उठा, जिसे बडी बेरहमी और सख़्ती के साथ कुचल दिया गया। पचास हज़ार पोल देश-निर्वासित करके साइबेरिया भेज दिये गये। यहूदियों का बराबर 'पोग्रोम' यानी क़त्लेआम हुआ करता था, जिससे उनकी बहुत बडी तादाद दूसरे देशों में जा बसी।

यह स्वाभाविक बात थी कि अपनी-अपनी जाति पर ज़ार के इस दमन से क्रोधान्ध होकर यहूदी और दूसरी कौम के लोग रूस के आतंकवादियों में शामिल हो जायँ। यों यह आतंकवाद, जिसे निहिलिज्म कहते थे, फैलने लगा और सरकार ने ख़ूनी दमन से इसका मुकाबिला किया। राजनैतिक क़ैदियों का लम्बा ताँता साइबेरिया के वीरान की तरफ़ रवाना होने लगा और कितने ही फांसी पर चढ़ा दिये गये। इस ख़तरे से बचने के लिए ज़ार की सरकार ने एक अजीब तरकीब निकाली, जिसे उसने ग़ैरमामूली हद तक पहुँचा दिया। उसने आतंकवादियों और क्रान्तिकारियों में अपने उस्कानेवाले एजेण्ट (Agents-Provocateurs) दाख़िल कर दिये। ये लोग बम फेंकने के लिए बाकायदा प्रोत्साहन देते थे और कभी-कभी ख़ुद बम फेंकते थे, जिससे दूसरों को फाँस सकें। इनमें एक बहुत मशहूर एजेण्ट अज़ेफ़ था, जो बम फेंकनेवाले क्रान्तिकारियों में भी अगुआ था और साथ ही साथ रूसी ख़ुफ़िया पुलिस का एक

प्रधान अफ़सर भी था। इसके अलावा भी इस किस्म की और भी प्रमाणित घटनायें हैं, जिनमें ज़ार के खुफ़िया पुलिस के अफ़सरों ने पुलिस के एजेण्ट की हैसियत से बम फेंके हैं, जिससे दूसरे फँस जायें।

आतंकवादियों और दूसरे क्रान्तिकारियों ने ज़बरदस्ती सरकारी ख़ज़ाने पर छापा मारने का सिलसिला भी शुरू किया। ये लोग सरकारी इमारतों, रेलगाड़ियों, डाकख़ानों वग़ैरा पर धन के लिए छापा मारते थे। दो आदमी, जो आज दुनिया में बहुत मशहूर हैं, इन छापों में बहुत बड़ा हिस्सा लिया करते थे। एक स्टालिन जो आज रूस का क़रीब-क़रीब डिक्टेटर है, और दूसरा पिलसूडस्की जो पोलैण्ड का डिक्टेटर है। पिलसूडस्की आजकल तमाम साम्यवादियों, उग्रतावादियों और इसी तरह के लोगों के खिलाफ़ होरहा है। लेकिन १८८० ई० में और उसके बाद भी वह दूसरे ही ढंग का था। इसको ज़ार की जान लेने की कोशिश के जुर्म में फाँसा भी गया था और यह ५ वर्ष के लिए साइबेरिया भी भेजा गया था।

जब ये सब बातें होरहीं थीं, रूस का राज्य पूर्व की दिशा में बराबर बढ़ता जा रहा था और, जैसा मैंने तुमको बताया है, पैसफ़िक (प्रशांत) सागर तक पहुँच गया था। मध्य-एशिया में यह अफ़ग़ानिस्तान की सरहद तक पहुँच गया था और दक्षिण में तुर्की सरहद से टकराता था। १८६० ई० के बाद से दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि पश्चिमी उद्योग-धंधे बढ़ने लगे थे। यह तरक़्क़ी सिर्फ़ चन्द जगहों में ही हुई थी—जैसे पीटर्सबर्ग या उसके आसपास और मास्को में। लेकिन रूस का देश ज्यादातर कृषि-प्रधान ही रहा। जो कारखाने खुले थे, वे बिलकुल नये ढंग के थे और अंग्रेज़ों की देख-रेख में चलते थे। इसके दो नतीजे हुए। इन चन्द व्यावसायिक क्षेत्रों में रूसी पूँजीवाद की खूब तरक़्क़ी हुई और मज़दूरवर्ग भी इतनी ही तेज़ी से बढ़ गया। जैसा कि ब्रिटिश कारख़ानों में पुराने ज़माने में होता था, रूसी मज़दूरों को खूब चूसा जाता था और उनसे दिन-रात काम लिया जाता था। लेकिन इतना फ़र्क़ रूस में ज़रूर था कि अब समाजवाद और साम्यवाद के नये ख़यालात पैदा होगये थे। रूसी मज़दूरों का दिमाग़ ताज़ा था और इन ख़यालात को ग्रहण करने के लिए तैयार था। ब्रिटिश मज़दूर, जिनके पीछे पुरानी परम्परायें थीं, संकुचित थे और पुराने ख़यालात में फँसे हुए थे।

ये नये ख़यालात एक शकल इख़्तियार करने लगे और 'सोशल डेमाक्रेटिक लेबर पार्टी' (समाजवादी प्रजासत्तात्मक मज़दूर दल) बनी। यह मार्क्स के उसूलों के अनुसार बनी थी। मार्क्स को माननेवाले ये आतंकवाद के ख़िलाफ़ थे। मार्क्स के उसूलों के मुताबिक़ इनको मज़दूरवर्ग में क्रियात्मक जोश पैदा करना था, जिससे

वे अमल करें। इसी तरीक़े से अपना मक़सद हासिल किया जा सकता था। आतंक से किसी व्यक्ति को मार डालने से मजदूरवर्ग में इस तरह की क्रियात्मक उत्तेजना नहीं पैदा हो सकती थी, क्योंकि उद्देश्य जारशाही का विनाश था—जार या उसके वजीर की हत्या नहीं।

१८८० ई० के क़रीब एक नौजवान, जो बाद को सारी दुनिया में लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल में पढ़ने के जमाने में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में हिस्सा लेता था। १८८७ ई० में जब उसकी उम्र १७ वर्ष की थी, उसे बड़ा सख़्त धक्का लगा था। उसका बड़ा भाई अलेग्जेण्डर, जिससे वह बहुत प्रेम करता था, जार की हत्या करने की कोशिश के जुर्म में फांसी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा धक्का लगने पर भी लेनिन ने कहा था कि आतंकवाद से स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। स्वतंत्रता तो जनता की सामूहिक लड़ाई (Mass Action) से ही मिलेगी। दिल को मजबूत करके और कठोरता के साथ यह नौजवान अपनी पढ़ाई में लगा रहा। परीक्षा में शरीक हुआ और विशेषता के साथ पास हुआ। यह माद्दा और यह प्रकृति थी तीस वर्ष बाद आनेवाले क्रान्ति के जन्मदाता और नेता की।

मार्क्स का यह ख़याल था कि मजदूरवर्ग की क्रान्ति जर्मनी-जैसे उद्योग-प्रधान देश में शुरू होगी, जहाँका मजदूरवर्ग बड़ा और संगठित होगा। उसका ख़याल था कि रूस में तो यह होगा ही नहीं; क्योंकि यह पिछड़ा और मध्यकालीन था। लेकिन रूस में उसे नौजवान लोगों में सच्चे अनुयायी मिल गये, जिन्होंने उसकी बातों का बड़े उत्साह के साथ अध्ययन किया, जिससे कि वे अपनी दुर्दशा को ख़तम कर सकें। चूंकि जार के रूस में खुल्लमखुल्ला किसी प्रवृत्ति के चलाने का या वैध तरीक़े से कुछ करने का कोई रास्ता नहीं था, इसलिए ये लोग मजबूर होकर इस तरह विचार और अध्ययन करते थे। ये लोग बहुत बड़ी तादाद में जेल या साइबेरिया भेज दिये जाते थे या जलावतन कर दिये जाते थे। ये जहाँ जाते, मार्क्स के उसूलों का अध्ययन जारी रखते थे और क्रान्ति के दिन के लिए तैयारी करते थे।

रूस की इस कहानी को मैं अपने दूसरे ख़त में भी जारी रक्खूंगा।

: १४४ :

१९०५ की असफल रूसी क्रान्ति

१७ मार्च, १९३३

मार्क्स के अनुयायी यानी मार्क्सिस्ट रूसियों को—'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' को—१९०३ ई० में एक मुसीबत का सामना करना पड़ा। उन लोगों के सामने ए

प्रश्न आगया जिसका जवाब देना उनके लिए जरूरी था। यह सवाल हरेक दल के सामने, जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों या आदर्शों पर निर्भर होता है, किसी-न-किसी समय आता है और इसका उत्तर देना उसके लिए जरूरी होता है। सच तो यह है कि हरेक पुरुष और स्त्री को, जिनके कुछ सिद्धान्त और विश्वास होते हैं, ऐसे संकटों का जिन्दगी में एक दफ़ा नहीं कई दफ़ा मुक़ाबिला करना पड़ता है। सवाल यह था कि क्या हम अपने सिद्धान्तों पर बिलकुल अटल रहें और मजदूर-वर्ग की क्रान्ति करें, या मौजूदा परिस्थिति से ज़रा-सा समझौता करलें और भावी क्रान्ति के लिए जमीन तैयार करें? यह सवाल पश्चिमी योरप के क़रीब-क़रीब सब देशों में उठा था और हरेक जगह, कम या ज्यादा, इसकी वजह से सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी या इसी क़िस्म की पार्टियाँ कमजोर पड़ी थीं और उनमें अन्दरूनी झगड़ा पैदा हो गया था। जर्मनी में मार्क्स के अनुयायियों ने बहादुरी के साथ सिद्धान्त पर सोलह आने यानी पूरे तौर पर अटल रहने का ऐलान कर दिया, अर्थात् वे क्रान्ति के पक्ष में थे, लेकिन अमली सूरत में वे कुछ नीचे उतर आये थे और नरम हो गयेथे। फ्रांस में कितने ही मशहूर समाजवादियों ने अपनी पार्टी को छोड़ दिया और मंत्रिमण्डल में मंत्री बन गये थे। इसी तरह इटली, बेलजियम और दूसरी जगहों में भी हुआ था। ब्रिटेन में मार्क्सवाद कमजोर था और वहाँ सवाल ही नहीं उठा, इसपर भी मजदूर पार्टी का एक आदमी मिनिस्टर बना था।

रूस की हालत दूसरी ही थी,- क्योंकि वहाँ पार्लमेण्टरी यानी वैधानिक कार-गुजारियों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं थी। वहाँ कोई पार्लमेण्ट न थी। इसपर भी जारशाही के खिलाफ़ होनेवाली लड़ाई के ग़ैरक़ानूनी तरीक़ों के तर्क करने या छोड़ दिये जाने की उम्मीद थी और कुछ दिनों तक सिर्फ़ सिद्धान्तों का प्रचार जारी रखने का ख़याल होरहा था। लेकिन इस विषय में लेनिन के विचार स्पष्ट और निश्चित थे। वह अपनी माँग को कमजोर करने के लिए या कमजोरी के सम-झौते को तैयार नहीं था, क्योंकि उसे डर था कि ऐसा करने से कहीं अवसर गाँठनेवाले उसकी पार्टी में न भर जायें। पश्चिमी सोशलिस्ट पार्टियों ने जो ढंग इख्तियार किया था, उन्हें लेनिन देख चुका था और उसका उसपर अच्छा असर नहीं पड़ा था। उसने एक दूसरे सिलसिले में बाद को लिखा था, "पार्लमेण्टरी कारगुजारियाँ या चालें, जैसी पश्चिमी सोशलिस्ट करते या चलते हैं, कहीं ज्यादा नीचे गिरानेवाली हैं। इससे हरेक समाजवादी दल धीरे-धीरे छोटा-मोटा "टैमनी हाल" बन जाता है, जिसमें आपको नौकरी की तलाश करनेवाले और अपने ओहदे बढ़ानेवाले मिलेंगे।" (टैमनीहाल न्यूयार्क में है और राजनीतिक पतन या भ्रष्टाचार का एक प्रतीक अथवा

नमूना वन गया है।) लेनिन ने इस बात की परवा नहीं की कि उसके साथ कितने आदमी हैं। एक दफ़ा तो उसने यहाँतक कहा था कि अपनी पार्टी में अगर मुझे अकेले रहना पडे तो मैं अकेला रहना पसन्द करूँगा। उसका आग्रह तो इस बात पर था कि जो उसके दल में शरीक हों वे पूरी तरह साथ हों और क्रान्ति के लिए सव-कुछ न्यौछावर करने को तैयार हों और जनता की तालियों की भी परवाह न करें। वह विप्लव के विशेषज्ञों का एक दल तैयार करना चाहता था, जो आन्दोलन को कुशलता से चला सकें। हमदर्दी करनेवालों और अच्छे दिनों में मित्रता दिखानेवालों की उसे जरूरत नहीं थी।

यह रास्ता वडी मुसीवत का था और वहुतों का ख़याल था कि इसपर चलना अक्लमन्दी नहीं है। जीत तो वहरहाल लेनिन की रही और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी दो हिस्सों में वँट गई और दो नाम, जो वहुत मशहूर हो गये हैं, पैदा हो गये-- वोलशेविकी और मेनशेविकी। कुछ लोगों के लिए आजकल 'वोलेशेविक' शब्द वड़ा भयंकर होगया है, लेकिन इसका अर्थ सिर्फ़ वहुमत है। 'मेनशेविक' का अर्थ अल्पमत है। १९०३ की फूट के बाद सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में लेनिन का दल वहुमत में था, इसलिए वोलेशेविक कहलाता था और उसका मतलव वहुमत दल था। यह वात याद रखने की है कि उस समय ट्राटस्की, जिसकी उम्र २४ वर्ष की थी और जो १९१७ की क्रान्ति में लेनिन का दाहिना हाथ था, उस वक्त मेनशेविकों की तरफ़ था। लेकिन उसने मेनशेविकों का साथ बहुत जल्द छोड़ दिया।

ये वहस-मुवाहसे और भाषण रूस से बहुत दूर लन्दन में होते थे। रूसी पार्टी की बैठक लन्दन में इसलिए करनी पड़ती थी, क्योंकि जार के रूस में उसके लिए स्थान नहीं था और उसके वहुत ज्यादा सदस्य जलावतन थे या साइवेरिया से भागे हुए क़ैदी थे।

इसी दरमियान रूस में खुद आग सुलग रही थी। राजनैतिक हड़तालें इसकी निशानी थीं। मजदूरों की राजनैतिक हड़ताल का अर्थ है वह हड़ताल जो आर्थिक लाभ के वास्ते, जैसे मजदूरी वढ़ाने के लिए, न की गई हो, वल्कि सरकार की किसी राजनैतिक कार्रवाई के ख़िलाफ़ की गई हो। इसका मतलव मजदूरों में राजनैतिक चेतना का होना है। जैसे अगर हिन्दुस्तानी कारखानों के मजदूर इसलिए हड़ताल करें कि वापू गिरफ़्तार कर लिये गये या कोई दूसरा राजनैतिक अत्याचार किया गया है तो वह राजनैतिक हड़ताल कहलायगी। ताज्जुब की वात तो यह है कि पश्चिमी योरप में, जहाँ ट्रेडयूनियन और मजदूरों का संगठन वहुत शक्तिशाली था, इस क़िस्म की राजनैतिक हड़तालें वहुत कम होती थीं। यह भी होसकता है कि ऐसी

हड़तालों की वहाँ इसलिए कमी थी कि इनके नेता स्वार्थ के ख़ातिर कुछ नरम होगये थे। रूस में ज़ारशाही के लगातार जुल्मों से राजनैतिक पहलू हमेशा सामने रहता था। दक्षिण रूस में १९०३ ई० में भी अनेक राजनैतिक हड़तालें आप ही आप हुई थीं। यह आन्दोलन बहुत बडे पैमाने पर था; लेकिन चूंकि उसे नेता नहीं मिले, इसलिए दब गया।

अगले साल सुदूर पूर्व (Far East) में गड़बडी मची। मैंने तुम्हें दूसरे ख़त में लिखा था कि साइबेरिया में रेल की लम्बी लाइन उत्तरी एशिया के जंगलों को पार करते हुए प्रशांतसागर के बिलकुल तट तक कैसे बनाई गई, १८९४ ई० के बाद से जापान के साथ किस प्रकार मुठभेड़ होती रही, और १९०४-१९०५ में रूस-जापान युद्ध कैसे हुआ। मैंने तुम्हें 'रेड सण्डे (खूनी रविवार) के बारे में भी बताया है जो २२ जनवरी सन् १९०५ ई० को हुआ था जबकि ज़ार की फौज ने एक शान्त जलूस पर गोलियाँ चलाई थीं। यह जुलूस एक पादरी के नेतृत्व में 'लिटिल फादर' यानी ज़ार के पास रोटी माँगने गया था। इससे सारे देश में नफ़रत की एक ज़ोरदार लहर फैल गई और कई राजनैतिक हड़तालें हुई। सबसे अख़ीर में एक आम हड़ताल सारे रूस में होगई। नये ढंग की मार्क्सवादी क्रान्ति शुरू होगई थी।

जिन श्रमिकों ने हड़तालें की थीं, खासकर पीटर्सबर्ग मास्को जैसे बडे केन्द्रों में, उन्होंने हरेक ऐसे केन्द्र में सोवियट नाम की एक नई संस्था बनाई। पहले-पहल सोवियट आम हड़ताल चलाने के लिए बनाई हुई कमेटी को कहते थे। ट्राटस्की पीटर्सबर्ग की सोवियट का नेता होगया। ज़ार की सरकार पहले तो इन बातों से बिलकुल हकबका गई और किसी हद तक झुक भी गई और वैधानिक धारासभा और लोकतंत्र के अनुसार मताधिकार देने का वादा किया। ऐसा जान पड़ा मानों निरंकुशता का गढ़ टूट गया हो। किसानों की पिछली बग़ावतें जिस चीज को न पा सकीं थीं, आतंकवादी अपने बम से जिस चीज में सफल नहीं हुए थे, विधान के माननेवाले नरम दल के लिबरल लोग अपनी नपी-तुली दलीलों से जो नहीं कर सके थे, मजदूरों ने वह आम हड़ताल से करके दिखा दिया। ज़ारशाही को अपने इतिहास में पहली मर्तबा जनता के सामने सिर झुकाना पड़ा। बाद को यह विजय खोखली निकली, लेकिन इसपर भी मजदूरों के लिए इसका स्मरण अँधेरे में रोशनी के समान था।

ज़ार ने एक वैधानिक परिषद—'डूमा'—देने का वादा किया था। 'डूमा' का अर्थ है विचार करने की जगह; पार्लमेण्ट की तरह कोरी बातें बनाने की जगह नहीं (फ़्रांसीसी भाषा के पार्लर Parler से यह शब्द बना है)। इस वादे से नरम दल के लिबरल लोगों का जोश ठण्डा पड़ गया। वे लोग संतुष्ट होगये। लिबरल

लोग हमेशा संतुष्ट हो जाया करते हैं। जमींदार क्रान्ति से डरकर कुछ सुधारों पर राजी होगये, जिससे खुशहाल किसानों को फ़ायदा पहुँचा। इसके बाद ज़ार की सरकार ने असली क्रान्तिकारियों का मुक़ाबिला किया और उनकी कमज़ोरी समझकर उससे पूरा फ़ायदा उठाया। एक तरफ़ भूखे मज़दूर थे, जिन्हें राजनैतिक विधान में इतनी दिलचस्पी नहीं थी, जितनी रोटी और ज्यादा मज़दूरी के सवाल में थी, और जो अधिक ग़रीब किसान थे वे हमें "खेत दो" की ख़तरनाक आवाज़ उठाते थे। दूसरी तरफ़ क्रान्तिकारी लोग थे, जो खास तौर से राजनैतिक पहलू को देखते थे और पश्चिमी यूरोपियन ढंग की पार्लमेण्ट पाने की आशा रखते थे और जनता की भावना और असली माँग के बारे में ज्यादा विचार नहीं करते थे। बहुत-से ऊँचे दर्जे के कारीगर, जिन्होंने ट्रेड यूनियन का संगठन कर रक्खा था, क्रान्ति में शामिल होगये थे, क्योंकि वे राजनैतिक पहलू समझते थे। लेकिन आम तौर से शहरों और गाँवों में जनता इन बातों की तरफ से उदासीन थी। ज़ार की सरकार ने और पुलिस ने जनता के साथ उसी पुराने ढंग से व्यवहार किया जो तमाम निरंकुश लोग काम में लाते हैं। इन्होंने फूट पैदा कराई और इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलों के खिलाफ़ भड़का दिया। बदक़िस्मत यहूदी लोगों का रूसियों ने क़त्ल किया और आरमीनियन लोगों का तातारियों ने। क्रान्तिकारी विद्यार्थियों और अधिक ग़रीब मज़दूरों में मुठभेड़ें हुईं। देश के अनेक हिस्सों में इस तरह क्रान्ति की कमर तोड़ देने के बाद सरकार ने पीटर्सबर्ग और मास्को पर, जो क्रान्ति के तूफानी केन्द्र थे, हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियट आसानी से कुचल दी गई। मास्को में फ़ौज ने क्रान्तिकारियों की मदद की, और इसलिए पाँच दिन लड़ाई लड़ने के बाद ही सोवियट पूरी तरह दबाई जा सकी। इसके बाद बदला लेना शुरू हुआ। कहा जाता है कि सरकार ने मास्को में बग़ैर मुकदमा चलाये एक हज़ार आदमियों को फाँसी देदी और सत्तर हज़ार को जेल भेज दिया। सारे देश में इन मुख़्तलिफ़ बग़ावतों में क़रीब चौदह हज़ार आदमी मरे।

इस तरह हार और मुसीबत के साथ १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति का ख़ातमा हुआ। इसको १९१७ की क्रान्ति का, जो कामयाब रही, पेशख़ीमा कहा गया है। जनता की आन्तरिक भावना के जागृत होने और उसके किसी बड़े पैमाने पर काम कर सकने से पहले उसे "बड़ी-बड़ी घटनाओं की शिक्षा मिलनी जरूरी है।" १९०५ई० की घटनाओं से बहुत बड़ी क़ीमत देकर जनता को यह अनुभव मिला।

डूमा का चुनाव हुआ और मई १९०६ में इसकी बैठक हुई। डूमा कोई क्रांतिकारी जमात नहीं थी, लेकिन इतनी स्वतंत्र जरूर थी कि ज़ार इसे पसन्द नहीं करता था,

इसलिए उसने इसे ढाई महीने के बाद बरखास्त कर दिया। विद्रोह को कुचलने के बाद ज़ार को डूमा के क्रोध की कुछ परवा नहीं रह गई थी। डूमा के निकाले हुए डिपुटी या सदस्य, जो मध्य-वर्ग के विधान को माननेवाले लिबरल लोग थे, फ़िनलैण्ड भाग गये। यह पीटर्सबर्ग के बहुत नज़दीक था और ज़ार की अध्यक्षता में एक अर्द्धस्वतंत्र देश था। इन्होंने रूसियों से अपील की कि वे डूमा की बरख़ास्तगी के विरोध में टैक्स देने और फ़ौज में भरती होने से इन्कार करदें। लेकिन ये डिपुटी या डूमा के सदस्य जनता के सम्पर्क में बिलकुल नहीं थे, इसलिए इनकी अपील का कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे वर्ष, सन् १९०७ ई० में, डूमा का दूसरा चुनाव हुआ। पुलिस ने उग्र विचार के उम्मीदवारों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके और बाज़ वक्त उनको गिरफ्तार करके इस बात की बड़ी कोशिश की कि वे न चुने जायें। इसपर भी 'डूमा' ज़ार को पसन्द नहीं आई और उसने इसे भी ३ महीने बाद बरख़ास्त कर दिया। ज़ार की सरकार ने चुनाव के क़ानून में परिवर्तन करके ऐसे 'अवाञ्छनीय' आदमियों के चुने जाने का रास्ता रोक दिया, जिनको वह नहीं चाहता था। इसमें उसे कामयाबी हुई। तीसरी डूमा बहुत ऊँचे दर्जे के दक़ियानूसी लोगों की संकीर्ण जमात थी और उसकी ज़िन्दगी बहुत लम्बी रही।

तुम्हें यह ताज्जुब हो सकता है कि ज़ार ने इस कमज़ोर डूमा को बनाने की परेशानी क्यों उठाई जब कि उसमें यह ताक़त थी कि वह जैसा चाहता वैसा करके अपना काम चला सकता था और जब कि उसने १९०५ की क्रान्ति को पस्त कर दिया था। इसकी वजह एक हद तक यह थी कि वह रूस की चन्द छोटी जमातों, ख़ासकर अमीर ज़मींदारों और व्यापारियों को, सन्तोष देना चाहता था। देश की स्थिति भी ख़राब थी। इसमें शक नहीं कि जनता पस्त करदी गई थी, लेकिन वह नाराज़ और भरी बैठी थी। इसलिए यह मुनासिब समझा गया कि चोटी के अमीर लोगों को तो कम-से-कम मुट्ठी में रक्खा जाय। लेकिन अधिक महत्वपूर्ण कारण यूरोपियन देशों पर इस बात का असर डालना था कि ज़ार एक उदार सम्राट् है। ज़ार के कुशासन और अत्याचार की कहानी पश्चिमी योरप में हरेक आदमी की ज़बान पर थी। जब डूमा पहली मर्तबा बरख़ास्त की गई थी, हाउस ऑफ़ कामंस (इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट की सामान्य सभा) में ब्रिटिश लिबरल पार्टी के एक नेता ने कहा था—"डूमा मर गई, डूमा ज़िन्दाबाद!" इससे ज़ाहिर होता है कि डूमा के प्रति कितनी हमदर्दी थी। साथ ही उस समय ज़ार को रुपये की और बहुत काफ़ी रुपये की ज़रूरत थी। ख़ुशहाल फ़्रांसीसी उसे रुपया उधार देते आये थे। सच तो यह है कि ज़ार ने १९०५ की क्रान्ति को फ़्रांसीसी क़र्ज़ की मदद से ही कुचला था।

यह एक अजीब बात थी कि लोकतंत्रवादी फ्रांस निरंकुश रूस को क्रान्तिकारियों और उग्र विचार के लोगों को पस्त करने के लिए मदद दे ! लेकिन लोकतंत्रवादी फ्रांस का मतलब फ्रांसीसी साहूकार थे। बहरहाल बात को जाहिरा तौर से बनाये रहना जरूरी था और डूमा को क़ायम रखनें से जाहिरा तौर पर बात बनी रहती थी।

इस बीच योरप की और संसार की स्थिति जोरों के साथ बदल रही थी। रूस जब जापान से हार गया तो इंग्लैण्ड के दिल से रूस का भय जाता रहा। हाँ, जर्मनी की शक्ल में इंग्लैण्ड के लिए एक नया ख़तरा पैदा होगया था। व्यवसाय में और समुद्र पर, जिसमें अभीतक इंग्लैण्ड का ही इजारा था, जर्मनी पट्टीदार बनता जाता था। जर्मनी के डर से ही फ्रांस ने रूस को इतनी उदारता से क़र्ज़ दिया था। इस जर्मन ख़तरे नें दो पुरानें दुश्मनों को एक-दूसरे से गले मिलने को मजबूर कर दिया। १९०७ ई० में अंग्रेजी-रूसी सुलहनामे पर दस्तख़त हुए जिससे अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और दूसरी जगहों में इन दोनों के जितने झगडे थे वे तय होगये। बाद में इंग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस में समझौता (Entente) हुआ। बालकन में आस्ट्रिया रूस का प्रतिद्वन्द्वी था और आस्ट्रिया जर्मनी का दोस्त था। इसी तरह इटली कागज पर जर्मनी का दोस्त था। इस तरह से इंग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस के त्रिविध समझौते या गुट्ट का मुकाबिला जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट्ट से होगया, फ़ौजें लड़ाई की तैयारी करने लगीं और सीधे-सादे लोग सोते रहे। उन्हें यह पता नहीं था कि भविष्य में उनके सामने उनके लिए कितनी भयंकरता आनेवाली है।

१९०५ के बाद, रूस का यह जमाना प्रतिक्रिया का जमाना था। बोलशेविज्म और दूसरे क्रान्तिकारी तत्वों को पूरी तौर से कुचला जा चुका था। विदेशों में लेनिन की तरह कुछ निर्वासित बोलशेविक अपना काम धीरज के साथ चला रहे थे। किताबें और पुस्तिकायें लिखते थे और मार्क्स के उसूलों को बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार साँचे में ढालने की कोशिश करते थे। मेनशेविकों में अन्तर बढ़ता ही जाता था। मेनशेविक लोग अल्पसंख्यक नरमदल के मार्क्सवादी थे। मेनशेविक दल प्रतिक्रिया के जमाने में बहुत अधिक मशहूर होगया। और यद्यपि इसे अल्पसंख्यक दल कहा जाता है, पर सच तो यह है कि उस समय इस दल में कहीं ज्यादा आदमी शामिल थे। १९१२ से रूसी दुनिया में फिर एक नई तब्दीली पैदा होगई और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं और इसके साथ-साथ बोलशेविज्म भी बढ़ा। १९१४ के मध्य में पेट्रोग्रेड के वातावरण में क्रान्ति की चर्चा बहुत जोरों से होरही थी और १९०५ की तरह इस साल भी बहुत-सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। लेकिन क्रान्तियों की बनावट क्या खूब होती है ! बाद को यह पता चलता कि पीटर्सबर्ग की सात सदस्योंवाली एक

बोलशेविक कमेटी में तीन आदमी ऐसे थे जो जार के खुफिया विभाग के नौकर थे। बोलशेविकों की यह छोटी जमात डूमा में भी थी और मालिनोवस्की इसका नेता था। बाद में पता चला कि यह भी पुलिस का आदमी था, और लेनिन इसका विश्वास करता था।

अगस्त १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ और इसकी वजह से लोगों का ध्यान लड़ाई के मोरचों की तरफ़ खिंच गया और ख़ास-ख़ास काम करनेवाले अनिवार्य भरती में आगये और क्रान्तिकारी आन्दोलन मर गया। बोलशेविक लोग, जिन्होंने लड़ाई के ख़िलाफ़ अपनी आवाज उठाई, तादाद में थोडे थे और वे बहुत ज्यादा बदनाम होगये।

अब हम फिर अपने निश्चित स्थान यानी महायुद्ध पर आगये और यहीं हमें रुक जाना चाहिए। लेकिन इस ख़त को ख़त्म करने के पहिले मैं तुम्हारा ध्यान रूस के साहित्य और कला पर लेजाना चाहता हूँ। उसमें चाहे जो दोष रहे हों, बहुतसे लोग जानते हैं कि जार के रूस ने अदभुत नृत्य-कला को बनाये रक्खा था। जार के रूस ने उन्नीसवीं सदी में कितने ही बडे-बडे लेखक पैदा किये, जिन्होंने महान् साहित्यिक परिपाटी का निर्माण किया। उपन्यासों और छोटी कहानियों में इन लोगों ने आश्चर्यजनक कुशलता दिखाई है। इस सदी की शुरुआत में बायरन, शेली और कीट्स का समकालिक पुश्किन हुआ, जो रूस के कवियों में सबसे बड़ा माना जाता है। उन्नीसवीं सदी के उपन्यास-लेखकों में गोगल, तुर्गनेव, दास्तोवेस्की और चोखेव मशहूर हुए हैं और सबसे बड़ा तो लियो टाल्सटाय हुआ, जिसमें सिर्फ़ उपन्यास लिखने की ही प्रतिभा नहीं थी बल्कि जो एक धार्मिक और आध्यात्मिक नेता भी हो गया। उसका प्रभाव बहुत दूर तक फैल गया था। यह प्रभाव बापू पर भी पड़ा, जो उस समय दक्षिण अफ़रीका में थे। ये दोनों एक-दूसरे के सिद्धान्तों को पसन्द करते थे और इनमें आपस में चिट्ठी-पत्री भी होती थी। अहिंसा में दृढ़ विश्वास इन दोनों के संयोग का बन्धन था। टाल्सटाय के कथनानुसार ईसा की बुनियादी तालीम यही थी और बापू ने पुरानी हिन्दू किताबों से यही नतीजा निकाला था। टाल्सटाय पैग़म्बर बने रहे और उन्होंने अपने सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत किया, लेकिन दुनिया से दूर रहे। बापू ने इस जाहिरा तौर पर निषेधात्मक-सी दीखनेवाली चीज का हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ़रीका की सामूहिक समस्याओं के सम्बन्ध में अमली प्रयोग किया।

उन्नीसवीं सदी के रूसी लेखकों में से एक महान् लेखक अभीतक जिन्दा है। इसका नाम मैक्जिम गोर्की है।

: १४५ :

एक युग का अन्त

मार्च २२, १९३३

उन्नीसवीं सदी ! इन सौ वर्षों ने हमें कितने लम्बे अर्से तक रोक रक्खा । चार महीने से समय-समय पर मैं तुम्हें इस युग के बारे में लिखता आया हूँ और इससे जरा थक और ऊब गया हूँ और जब तुम इन ख़तों को पढ़ोगी तो शायद तुम भी ऊब जाओगी । मैंने तुमको यह बताते हुए इसका बयान शुरू किया था कि यह एक दिलचस्प और लुभावना ज़माना था, लेकिन कुछ समय के बाद आकर्षण भी घट जाता है । सच तो यह है कि हम उन्नीसवीं सदी से आगे बढ़ गये और बीसवीं सदी में बहुत दूर तक चले आये । १९१४ हमारी हद थी । इसी साल, जैसा कहा जाता है, युद्ध के भेड़िये योरप और संसार पर टूट पडे । इतिहास इस साल से एक नया रुख पकड़ता है । इस युग का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है ।

उन्नीससौ चौदह ! यह साल भी तुम्हारे वक़्त के पहले का है और फिर भी इसे गुज़रे उन्नीस वर्ष से कम ही हुए हैं । और इतने वर्ष मनुष्य के जीवन में भी कोई लम्बा ज़माना नहीं कहा जा सकता, इतिहास में तो और भी कम समझा जायगा । लेकिन दुनिया इतने ही थोडे वर्षों में इतनी ज्यादा तब्दील होगई है और अब भी तब्दील होती जा रही है कि मालूम होता है तब से बहुत बड़ा ज़माना गुज़र गया है और १९१४ तथा उसके पहले के साल अब पुराने इतिहास में मिल गये हैं और गुज़रे हुए ज़माने के हिस्से बन गये हैं, जिनके बारे में हम इतिहास की किताबों में पढ़ते हैं, और हम लोगों के ज़माने से बिलकुल जुदा चीज़ हैं । इन बडी-बडी तब्दीलियों के बारे में मुझे तुम्हें बाद को बताना होगा । मैं इस समय तुम्हें एक चेतावनी दूँगा । तुम स्कूल में भूगोल पढ़ रही हो और जो भूगोल तुम पढ़ रही हो वह उस भूगोल से बिलकुल मुख़्तलिफ़ चीज़ है जिसे १९१४ के पहले मैंने स्कूल में पढ़ा था । यह भी मुमकिन है कि इस भूगोल का बहुत-सा हिस्सा, जिसे आज तुम पढ़ रही हो, जल्द ही तुम्हें भूल जाना पडे, जैसा कि मुझे भूलना पड़ा । पुराने मुल्कों के निशानात और पुराने देश युद्ध के धुएँ में ग़ायब होगये और नये-नये निशानात और देश उन जगहों पर पैदा होगये, जिनके नाम याद रखना मुश्किल है । सैकडों शहरों के नाम रातों-रात बदल गये । सेण्टपीटर्सबर्ग पेट्रोग्राड होगया और फिर लेनिनग्राड । कुस्तुनतुनिया का नाम अब इस्तम्बोल होगया है । पेकिन अब पेपिंग कहलाता है और बोहेमिया का प्रेग अब जेकोस्लोवाकिया का प्रहा हो गया है ।

उन्नीसवीं सदी के बारे में लिखी हुई अपनी चिट्ठियों में मैंने आवश्यकता-वश महाद्वीपों और देशों का अलग-अलग बयान किया है। हमने मुख़्तलिफ़ पहलुओं पर और विविध आन्दोलनों के बारे में भी अलग-अलग विचार किया है। लेकिन तुम्हें याद रखना चाहिए कि ये सब बातें कमोवेश साथ-साथ होती रही हैं और इतिहास संसार-भर में अपने हज़ारों पैरों के साथ आगे बढ़ा है। विज्ञान और उद्योग, राजनीति और अर्थशास्त्र, अमीरी और ग़रीबी, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद, लोकतंत्र और समाजवाद, डारविन और मार्क्स, आज़ादी और ग़ुलामी, क़हत और महामारी, सुलह और जंग, सभ्यता और बर्बरता—इन सब चीज़ों का इस अद्भुत बनावट में अपना-अपना स्थान था, और इनमें से हरेक चीज़ का असर एक-दूसरी पर पड़ा है। अगर हम इस ज़माने या किसी दूसरे ज़माने की तस्वीर अपने मन के सामने खींचें तो वह तस्वीर बड़ी पेचीदा और कैलिडेसकोप यानी बच्चों की उस दूरबीन की तरह जिसमें तरह-तरह के रंगीन दृश्य दिखाई देते हैं बराबर तब्दील होनेवाली और हरकत करनेवाली होगी। लेकिन इस तस्वीर के बहुत-से हिस्से ऐसे होंगे जिनपर ग़ौर करना हमें अच्छा न लगेगा।

इस युग की सबसे बड़ी बात, जैसा कि हम देख चुके हैं, बड़ी मशीनों के सहारे बड़े पैमाने पर पूँजीपतियों के उद्योग-धन्धों की उन्नति थी। इस युग में उत्पत्ति किसी यांत्रिक शक्ति के ज़रिये से—जैसे पानी, भाफ या बिजली के ज़रिये से—की गई। इसका प्रभाव दुनिया के जुदा-जुदा हिस्सों में जुदा-जुदा हुआ है। यह प्रभाव प्रत्यक्ष भी हुआ और अप्रत्यक्ष भी। लंकाशायर में मशीनी करघों (Power looms) से होनेवाली कपड़े की उत्पत्ति से इतने दूर हिन्दुस्तान के गाँवों की स्थिति बिगड़ गई और बहुत-से रोज़गार ख़तम होगये। पूँजीवादी उद्योग बहुत तेज़ शक्तिवाला था। अपने स्वभाव के अनुसार वह बराबर बढ़ता ही गया और उसकी भूख कभी नहीं मिटी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता अधिक-से-अधिक चीज़ हथियाने की इच्छा थी। वह हमेशा इस बात की फ़िक्र में रहता था कि क्या पायें और क्या लेलें, और एक चीज़ पर अधिकार करने के बाद फिर दूसरी चीज़ों पर अधिकार जमाने की कोशिश करता था। व्यक्ति और राष्ट्र दोनों यही कोशिश करते थे। इस प्रणाली के अनुसार जो समाज बना उसे परिग्रही या अधिक-से-अधिक पाने की लालसा रखनेवाला समाज कहा जाता है। उद्देश हमेशा यही रहा कि ज्यादा-से-ज्यादा उत्पत्ति हो और मुनाफ़े की फ़ालतू पूँजी नये कारख़ाने खोलने, रेलें बनाने या दूसरी तरह के और रोज़गारों में लगाई जाय, और मालिक लोग तो सम्पन्न होते ही रहें। इस उद्देश्य को प्राप्त करने में बाक़ी दूसरी सब चीज़ें क़ुरबान करदी गईं। मज़दूर, जो इन उद्योगों से धन पैदा करता था,

सबसे कम फ़ायदे में रहता था, और इन मजदूरों को, जिनमें औरतें और बच्चे शामिल थे, अपनी हालत सुधारने के लिए भयंकर आफ़तों से गुजरना पड़ा है। और इस पूँजीवादी उद्योग के मुनाफ़े के लिए और उन क़ौमों के मुनाफ़े के लिए, जिनमें ये उद्योग पाये जाते थे, उपनिवेश और मातहत देश भी क़ुरबान कर दिये गये और चूस लिये गये।

इस तरह पूँजीवाद आँख बन्द करके और बेरहमी के साथ आगे बढ़ता गया और बहुत-से शिकार अपने पीछे छोड़ता गया। इसपर भी उसकी प्रगति धूमधाम से होती रही। विज्ञान की मदद से वह बहुत-सी बातों में कामयाब रहा और इस कामयाबी से दुनिया चकाचौंध होगई। ऐसा मालूम होता था, मानों यह प्रणाली उन कष्टों का शमन कर रही हो जो इसकी वजह से पैदा हुए हैं। इत्तफ़ाक से, कुछ जान-बूझकर नहीं, इस प्रणाली नें जिन्दगी की बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीजें भी पैदा कर दीं, लेकिन इस चमकदार और ख़ुशनुमा गिलाफ़ के नीचे बहुत-सी ख़राबियाँ छिपी थीं। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात यह हुई कि विषमता पैदा होगई। यह प्रणाली जितनी तरक़्क़ी करती गई विषमता भी उतनी ही बढ़ती गई। एक तरफ़ नितान्त दरिद्रता और दूसरी तरफ अत्यन्त सम्पन्नता, एक ओर गन्दे झोंपडे और दूसरी तरफ आकाश से बातें करनेवाले महल, एक ओर साम्राज्य और दूसरी ओर शोषित और मातहत उपनिवेश। योरप हावी था; एशिया और अफ्रीका के महाद्वीप चूसे जाते थे। इस सदी के ज्यादातर हिस्से में अमेरिका दुनिया के घटना-प्रवाह से अलग रहा। लेकिन वह तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था और अपनें वैभव और साधनों का निर्माण कर रहा था। योरप में इंग्लैण्ड अमीर, अभिमानी और पूँजीवाद का, ख़ासकर पूँजीवाद के साम्राज्य-सम्बन्धी पहलू का, सन्तुष्ट अगुआ था।

पूँजीवादी उद्योग की तरक़्क़ी और उसके सब चीजों को हथियाने के स्वभाव ने बहुत जल्द मामला नाजुक कर दिया। विरोध और आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और अख़ीर में मजदूरों की रक्षा के लिए उसपर कुछ बन्दिशें लगाई गईं। बडे-बडे कारख़ानों में शुरुआत में मजदूरों का, ख़ासकर स्त्रियों और बच्चों का, भयंकर शोषण होता था। स्त्रियों और बच्चों को मर्दों से ज्यादा नौकरियाँ दी जाती थीं, क्योंकि वे सस्ते पड़ते थे और उनसे कभी-कभी तन्दुरुस्ती को बिगाड़नेवाली और घिनौनी जगहों में १८ घण्टे काम लिया जाता था। आख़िरकार राज्य ने दख़ल दिया और क़ानून बनाये गये। इनको 'फ़ैक्ट्री क़ानून' कहते हैं और इनमें इस बात की दफ़ायें रक्खी गईं हैं कि मजदूरी के घण्टे परिमित कर दिये जायँ और कारख़ानों की परिस्थिति बेहतर बनाई जाय। इन क़ानूनों के जरिये स्त्रियों और बच्चों की

हिफ़ाजत खास तौर से की गई, लेकिन इनको मंजूर कराने में बहुत मुश्किल हुई औ बहुत वक्त लगा, क्योंकि कारखाने के मालिकों ने इनका जोरदार विरोध किया।

पूंजीवादी उद्योग ने साम्यवादी और समाजवादी विचार भी पैदा कर दिये इन विचारों ने नये उद्योगों को स्वीकार किया, लेकिन पूंजीवाद की बुनियाद क चुनौती दी। मजदूरों की संस्थायें, ट्रेडयूनियन और अन्तर्राष्ट्रीय जमातें तरक्क़ी कर लगीं।

पूंजीवाद से साम्राज्यवाद पैदा हुआ और पश्चिमी पूंजीवादी उद्योग के धक्के से पूर्वी देशों का बहुत दिनों से चला आनेवाला आर्थिक संगठन तहस-नहस होगया इन पूर्वी देशों में भी आहिस्ता-आहिस्ता पूंजीवादी उद्योग जड़ पकड़ गया और बढ़ लगा। इन देशों में पश्चिम के साम्राज्यवाद को चुनौती के रूप में राष्ट्रीयता भी पैद होगई।

इस तरह पूंजीवाद ने दुनिया को हिला दिया। और हालांकि इसकी वजह आदमियों को भयंकर तकलीफ़ें हुईं, लेकिन आम तौर पर यह प्रणाली फ़ायदेमन्द रही—कम-से-कम पश्चिम के लिए तो जरूर। इसके साथ-साथ भौतिक चीज़ों में बहुत तरक़्क़ी हुई और मनुष्य के कल्याण का आदर्श बहुत ऊँचा उठ गया। साधारण आदमी इतना महत्वपूर्ण होगया जितना वह पहले कभी नहीं समझा जाता था। अमली तौर पर तो उसे किसी चीज में भी कहने-सुनने या दख़ल देने का हक़ नहीं था, यद्यपि वोट देने का हक़ मिला था, लेकिन सिद्धान्त-रूप से राज्य में उसकी हैसियत बढ़ गई और इसके साथ-साथ उसमें आत्म-सम्मान की भावना भी बढ़ी। यह बात पश्चिमी देशों के लिए सही कही जा सकती है, जहाँ पूंजीवादी उद्योग ने जड़ पकड़ ली थी। ज्ञान का बहुत बड़ा संग्रह होगया, और विज्ञान ने अद्भुत बातें करके दिखा दीं। इसकी मदद से बनी हुई हज़ारों चीज़ों ने हरेक आदमी की जिन्दगी में बहुत-सी आसानियाँ पैदा करदीं। औषधियों ने, खासकर औषधि-विज्ञान के उस हिस्से ने जिससे बीमारियों की बाढ़ रोकी जाती है, और सफ़ाई ने बहुत-सी बीमारियों की जड़ काटना और उनका शमन करना शुरू कर दिया, जिनकी वजह से आदमी की जिन्दगी आफ़त में रहा करती थी—जैसे मलेरिया के पैदा होने का कारण और उसकी दवा मालूम की गई और अब इसमें जरा भी शक नहीं रह गया है कि अगर मुनासिब कार्रवाई की जाय तो यह रोग किसी भी क्षेत्र से मिटाया जा सकता है। मलेरिया अभीतक जारी है और हिन्दुस्तान में और दूसरी जगहों पर लाखों आदमी इसके शिकार होते हैं; लेकिन यह विज्ञान का दोष नहीं, दोष है लापरवाह सरकार और जाहिल जनता का।

शायद इस सदी का सबसे उल्लेखनीय पहलू यह था कि दूसरे देशों को माल भेजने और आमदरफ़्त के साधनों में बहुत तरक़्क़ी हुई। रेल, भाप के जहाज़, तार और मोटरगाड़ियों ने दुनिया को बिलकुल बदल दिया और दुनिया को इनसान के लिए ऐसी चीज़ बना दी जो वह कभी भी नहीं थी। दुनिया सिकुड़ गई और उसमें रहनेवाले एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आगये। वे एक-दूसरे के बारे में ज्यादा जानने लगे और अज्ञान की वजह से जो अनेक टट्टियाँ खडी थीं वे टूट गई। व्यापक विचार फैलने लगे, जिनकी वजह से सारी दुनिया में किसी क़दर समानता आगई। इस युग के अख़ीर में बेतार का तार और हवाई जहाज पैदा हुए। ये चीजें अब बहुत मामूली होगई हैं। तुम कई दफ़ा हवाई जहाज में बैठ चुकी हो और तुमने उसके बारे में बग़ैर कोई ख़ास विचार किये उसपर सफ़र किये हैं। बेतार के तार और हवाई जहाज की तरक्क़ी बीसवीं सदी और हमारे जमाने में हुई। लोग अकसर बैलून में बैठकर उडे थे, लेकिन अलिफ़लैला की उड़नेवाली परी और हिन्दुस्तानी कहानियों के उड़नखटोलों के अलावा कोई भी हवा से वजनी चीज पर बैठकर नहीं उड़ा था। विलबर और ऑरविले राइट नामके दो भाई, जो अमेरिकन थे, पहले लोग थे जो हवा से वजनी मशीन पर बैठकर उड़ने में कामयाब हुए। इसी मशीन को मौजूदा हवाई जहाज की जन्मदात्री समझना चाहिए। दिसम्बर १९०३ ई० में ये ३०० गज से भी कम उडे थे। लेकिन फिर भी इन्होंने ऐसी बात करली थी, जो पहले कभी नहीं हुई थी। इसके बाद उड़ने में बराबर तरक्क़ी होती रही और मुझे याद है कि जब १९०९ ई० में फ़ान्सीसी ब्लेरियट फ़ान्स से इंगलिश चैनल पार करके इंग्लैण्ड तक उड़ आया था, तो बड़ा तहलका मचा था। इसके बाद ही मैंने देखा कि पेरिस में एफ़िल टावर पर पहला हवाई जहाज उड़ा; और उसके बहुत साल बाद मई १९२७ में हम और तुम पेरिस में मौजूद थे, जब चार्ल्स लिण्डवर्ग चाँदी के तीर की तरह चमकता हुआ एटलांटिक पार करके आया और पेरिस के एयरोड्रम यानी हवाई जहाज के स्टेशन ली बूर्जे में उतरा।

ये सब बातें तो इस युग की तारीफ़ में हुई, जिसमें पूंजीवादी प्रयोग प्रमुख रहा है। इस सदी में मनुष्य ने निस्सन्देह अद्भुत काम किये। एक चीज और भी हुई जो तारीफ़ की बात समझी जा सकती है। ज्यों-ज्यों लालची और लोलुप पूंजीवाद बढ़ता गया, सहकारिता का आन्दोलन पैदा करके इसपर बन्दिश लगाई गई। सहकारिता का आन्दोलन यह था कि लोग चीजों की बिक्री और ख़रीद के लिए संगठन बना लेते हैं और जो मुनाफ़ा होता है उसे आपस में बाँट लेते हैं। पूंजीवाद का साधारण ढंग यह है कि इसमें इतनी जबरदस्त लाग-डाँट होती है कि हरेक आदमी दूसरे को

गिराने और उससे आगे निकल जाने की कोशिश करता है। सहकारिता का ढंग आपस का सहयोग है। तुमने बहुत-से कोआपरेटिव स्टोर (सहयुक्त भण्डार) देखे होंगे। कोआपरेटिव यानी सहकारिता का आन्दोलन योरप में उन्नीसवीं सदी में ख़ूब बढ़ा। शायद डेनमार्क के छोटे देश में इसकी कामयाबी सबसे ज्यादा हुई।

राजनैतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र के विचार बढ़े और अपनी पार्लमेण्टों और असेम्बलियों के लिए सदस्यों को चुनने में वोट देने का हक़ ज्यादा आदमियों को मिल गया। लेकिन यह मताधिकार सिर्फ़ मर्दों को ही मिला। स्त्रियाँ, चाहे वे कितनी ही क़ाबिल हों, इस अधिकार के लिए काफ़ी बुद्धिमान और उपयुक्त नहीं समझी जाती थीं। बहुत-सी स्त्रियों ने इसका विरोध किया और बीसवीं सदी की शुरुआत में उन्होंने इंग्लैण्ड में बहुत बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया। इस आन्दोलन को 'सफ़रेज' अर्थात् स्त्रियों के मताधिकार का आन्दोलन कहते थे। और चूंकि मर्दों ने इस आन्दोलन पर कोई ध्यान नहीं दिया और इसे गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया, इसलिए स्त्रियों ने जबरदस्ती और उद्दण्डता का रास्ता पकड़ा, ताकि लोगों का ध्यान इसकी तरफ़ खिचे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की कार्रवाई में झगड़ा करके ये लोग विघ्न डाल देती थीं और ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के मन्त्रियों पर चोट पहुँचाने के लिए हमले करती थीं, जिसके कारण इन मन्त्रियों को बराबर पुलिस के संरक्षण म रहना पड़ता था। बडे पैमाने पर संगठित उद्दण्डता और हिंसा भी हुई। बहुत-सी स्त्रियाँ जेल भेज दी गई। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भूख-हड़ताल शुरू की। इसपर उन्हें छोड़ दिया गया। फिर ज्योंही वे अच्छी हो जातीं, उनको जेल भेज दिया जाता था। पार्लमेण्ट ने इस काम के लिए एक ख़ास क़ानून बनाया था, जिसे लोग 'बिल्ली और चूहे का क़ानून' कहते थे। आन्दोलन करनेवालियों का यह ढंग इस बात में जरूर सफल रहा कि लोगों का ध्यान इस ओर खिंच गया। इसके कुछ वर्षों बाद महायुद्ध शुरू हुआ और स्त्रियों का वोट देने का हक़ मंजूर कर लिया गया।

स्त्रियों का यह आन्दोलन, जिसे फ़ेमिनिस्ट आन्दोलन कहते हैं, सिर्फ़ वोट माँगने तक ही परिमित नहीं था। माँग यह थी कि उनको हरेक बात में पुरुषों से बराबरी का हक़ मिले। पश्चिम में अभी हाल तक स्त्रियों की हालत बहुत ख़राब थी; उनके कोई अख़्तियारात नहीं थे। अंग्रेज स्त्रियों को क़ानून में यह हक़ नहीं मिला था कि अपने नाम से जायदाद रख सकें। सारी जायदाद, स्त्री की कमाई की भी, पति को मिल जाती थी। इस तरह क़ानूनी तौर से इन लोगों की आज की हिन्दू स्त्रियों से भी, जिनकी हालत काफ़ी बुरी है, बुरी हालत थी। पश्चिम में स्त्रियों की जाति को पराधीन समझा जाता था, जैसे बहुत-सी बातों में आज हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ समझी जाती हैं। वोट के लिए आन्दोलन शुरू होने के बहुत पहले स्त्रियों ने

और बातों में पुरुषों के साथ बराबरी के बर्ताव के लिए माँग पेश की थी। आख़िर-कार १८८० और ९० के बीच में इंग्लैण्ड में जायदाद की मिलकियत का कुछ हक़ स्त्रियों को मिला। स्त्रियाँ इस एक बात में एक हद तक इसलिए सफल रहीं कि कारख़ाने वाले इस बात को पसन्द करते थे। उनका ख़याल था कि अगर औरतों को अपनी कमाई अपने पास रखने का हक़ मिल जायगा तो कारख़ानों में काम करने के लिए उनको प्रोत्साहन मिलेगा।

हरेक तरफ़ हम बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ देखते हैं, लेकिन शासन-प्रणाली में कोई तब्दीली नहीं आई। बड़ी-बड़ी शक्तियाँ दग़ाबाज़ी और चालबाज़ी के ढंग पर चलती रहीं और बहुत दिन हुए फ़्लोरेंस के रहनेवाले मैक्याविली ने जो रास्ता बताया था, या १८०० वर्ष पहले हिन्दुस्तानी मंत्री चाणक्य ने जो मार्ग दिखाया था, उसीपर चलती रहीं। इनमें बराबर लाग-डाँट और प्रतिद्वन्द्विता होती रहती थी। गुप्त रूप से समझौते और सुलहनामे होते थे, और हरेक ताक़त हमेशा ऐसी बात की कोशिश करती रहती थी कि दूसरे से आगे बढ़ जाय। योरप, जैसा हमने देखा है, ज़बर-दस्त और उग्र रहा और एशिया निष्क्रिय। संसार की राजनीति में औरों के मुक़ाबिले में अमेरिका का हिस्सा बहुत थोड़ा रहा, क्योंकि वह अपनी ही झंझटों में फँसा हुआ था।

राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ 'हमारा देश, ग़लत या सही' का भाव बढ़ा। राष्ट्रों ने ऐसी बातों पर अभिमान करना शुरू किया जो अगर कोई व्यक्ति करता तो बुरा और दुष्ट समझा जाता। इस तरह से व्यक्तियों की और राष्ट्रों की नीति में एक अजीब विषमता पैदा होगई। दोनों में बहुत बड़ा फ़र्क़ आगया और जो बातें किसी व्यक्ति के लिए ख़राब समझी जाती थीं वही राष्ट्रों के लिए अच्छी समझी जाने लगीं। किसी व्यक्ति, पुरुष या स्त्री के लिए स्वार्थी, लालची, अभिमानी और भोंडापन बिलकुल बुरा और असह्य समझा जाता था; लेकिन बड़े-बड़े समूहों यानी राष्ट्रों के लिए देशभक्ति की आड़ में इन्हीं बातों की तारीफ़ होती थी और इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था, जैसे कि हम आज हिन्दुस्तान में देखते हैं कि साम्प्रदायिक मामलों में कितनी उद्दण्डता, स्वार्थ और भोंडापन पाया जाता है। किसी व्यक्ति में अगर ये बातें हों, तो कोई बर्दाश्त न करेगा। लेकिन अगर बड़ा समूह या बड़े राष्ट्र एक-दूसरे को क़त्ल करना भी शुरू करते हैं तो क़ाबिल तारीफ़ बात समझी जाती हैं। हाल के एक लेखक ने लिखा है और सही लिखा है कि "सभ्यता एक प्रकार का साधन है, जिसमें व्यक्ति अपने दोषों को अधिकाधिक बड़े समूहों और वर्गों को देता जाता है।"

इस ख़त को यहीं ख़त्म कर देना चाहिए, लेकिन यह कहानी तो दूसरे ख़त में भी जारी रहेगी।

: १४६ :

महायुद्ध की शुरुआत

२३ मार्च, १९३३

मैंने अपना पिछला ख़त तुम्हें इस बात को बताते हुए ख़त्म किया था कि राष्ट्र एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने में कितने अनैतिक और कुटिल थे। जहाँ भी मुमकिन था, वे एक-दूसरे के साथ कटु और असहिष्णुता का बर्ताव करना अपनी आज़ादी का चिन्ह समझते थे। कोई शक्ति ऐसी नहीं थी जो उनसे कहती कि तुम एक-दूसरे पर विश्वास करो, क्योंकि वे कहते थे कि हम आज़ाद हैं और हम अपने मामलों में दूसरों की दस्तन्दाज़ी कैसे पसन्द कर सकते हैं? उनकी हरकतों पर अगर कोई बन्दिश हो सकती थी तो वह नतीजे का डर था। इसलिए मज़बूतों की किसी हद तक इज़्ज़त होती थी और कमज़ोरों को धमकाया जाता था।

असल में यह राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता या लाग-डाँट पूँजीवादी उद्योग की तरक्क़ी का अनिवार्य परिणाम थी। हम यह तो देख ही चुके हैं कि बाज़ार और कच्चे माल की बढ़ती हुई माँग के कारण पूंजीवादी शक्तियाँ साम्राज्य के लिए दुनिया के चारों ओर घुड़दौड़ कर रही थीं। ये शक्तियाँ एशिया और अफरीका पर पिल पड़ीं और जितनी ज़मीन इन्हें मिल सकी, शोषण करने के लिए, उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। जब वे पृथ्वीभर में फैल चुकीं और फैलने को दूसरी जगह नहीं रह गई, तो ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ एक-दूसरे को घूरने लगीं और एक-दूसरे के मातहत देश पर लालचभरी निगाह डालने लगीं। एशिया, अफरीका और योरप में इन शक्तियों के दरमियान अकसर मुठभेड़ होजाती थी, और क्रोधाग्नि भभक उठती थी। इनमें से कुछ शक्तियाँ दूसरों से बेहतर हालत में थीं और इंग्लैण्ड तो, जो उद्योग में सबसे आगे था और जिसका साम्राज्य बहुत विस्तृत था, सबसे ज्यादा भाग्यवान मालूम पड़ता था। लेकिन इंग्लैण्ड भी सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि जितना ही ज्यादा जिसके पास होता है उतना ही ज्यादा वह और चाहता है। इंग्लैण्ड के 'साम्राज्य-निर्माताओं' के दिमाग़ में ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने की लम्बी-चौड़ी योजनायें चक्कर लगाया करती थीं। वे चाहते थे कि अफ़रीका में उनका अखण्ड साम्राज्य काहरा से केप तक, उत्तर से दक्षिण तक का, क़ायम होजाय। उद्योग में संयुक्तराष्ट्र और जर्मनी की लागडाँट से भी इंग्लैण्ड परेशान था। ये देश औद्योगिक माल इंग्लैण्ड से सस्ता बना रहे थे और इंग्लैण्ड के बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करते जाते थे।

जब भाग्यवान इंग्लैण्ड ही सन्तुष्ट नहीं था तो दूसरों का तो और भी ज्यादा

असन्तुष्ट होना लाजिमी था। खासकर जर्मनी बहुत असन्तुष्ट था। इसकी गिनती बड़ी शक्तियों में कुछ देरी से हुई थी और इसने देखा कि बढ़िया-बढ़िया फल हाथ से निकल गये। विज्ञान, शिक्षा और उद्योग में इसने बहुत बड़ी तरक़्क़ी की थी और साथ ही बहुत बड़ी फ़ौज भी जमा करली थी। मजदूरों से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक सुधार के कानूनों में भी यह और देशों से, जिनमें इंग्लैण्ड भी शामिल था, आगे था। जब जर्मनी सामने आया, दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियाँ पृथ्वी पर बहुत हद तक क़ब्जा जमा चुकी थीं और शोषण की गुंजाइश परिमित थी। फिर भी सख़्त मेहनत और आत्मानुशासन से जर्मनी उद्योगवाद और पूंजीवाद के युग की सबसे मजबूत और सबसे ज्यादा कुशल ताक़त बन गया। इसके व्यापारी जहाज हरेक बन्दरगाह में दिखाई देते थे और इसके अपने बन्दरगाह हैम्बर्ग और ब्रीमेन दुनिया के सबसे बड़े बन्दरगाहों में समझे जाते थे। जर्मनी के व्यापारिक बेड़े सिर्फ जर्मनी का ही माल दूर देशों को नहीं ले जाते थे, बल्कि इन्होंने और देशों के माल ले जाने के काम पर भी क़ब्जा कर लिया था।

कोई ताज्जुब नहीं कि यह नया साम्राज्यवादी जर्मनी इस सफलता को पालेनें बाद और अपनी शक्ति को समझते हुए अपनी और ज्यादा बढ़ती के रास्ते की रुकावटों पर दाँत किटकिटाकर रह जाता था। प्रशा जर्मन साम्राज्य का अगुआ था और प्रशा के जमींदार और सैनिक वर्ग, जिनके हाथ में ताकत थी, अपनी नम्रता के लिए कभी भी मशहूर नहीं रहे। ये लोग उग्र थे और इस बात का इन्हें फ़ख्र था कि हम निर्दयता के साथ उग्र हैं। इस उद्धत अकड़ और शेख़ी की भावना का आदर्श नेता इन्हें हायनज़ालर्न वंश के अपने सम्राट् क़ैसर विल्हेल्म द्वितीय के रूप में मिल गया। क़ैसर इस बात की इधर-उधर घोषणा करता रहता था कि जर्मनी दुनिया का लीडर होनेवाला है; उसे पृथ्वी पर स्थान मिलना चाहिए; उसका भविष्य सामुद्रिक ताक़त पर निर्भर है और उसका उद्देश्य सारी दुनिया में अपनी संस्कृति (Culture) का प्रचार करना है।

ये सब बातें इसके पहले भी और लोग और दूसरी क़ौमें कह चुकी थीं। इंग्लैंड का 'गोरे का कर्त्तव्य' (White Man's Burden) और फ़्रांस का 'सभ्यता सिखाने का धर्म' (Civilising Mission) और जर्मनी की संस्कार (Kulture) को एक ही थैली के चट्टेबट्टे समझना चाहिए। इंग्लैण्ड का दावा था कि वह समुद्री ताक़त में सबसे बढ़ा-चढ़ा है और उसका यह दावा असल में ठीक भी था। क़ैसर जर्मनी के बारे में भी वे ही बातें कहता था जो अनेक अंग्रेज इंग्लैण्ड के बारे में पहले कह चुके थे। लेकिन क़ैसर भद्दे तरीक़े से और शेख़ी के साथ कहता था। फ़र्क़ इतना था कि इंग्लैण्ड का

समुद्रों पर क़ब्ज़ा था, जर्मनी का नहीं। इसपर भी क़ैसर के हेकडी से भरे भाषण अंग्रेज़ों को बहुत बुरे लगते थे। इस बात का ख़याल तक कि कोई दूसरी क़ौम दुनिया की प्रमुख क़ौम बनने का विचार करे, अंग्रेज़ों को बहुत नागवार मालूम होता था। ऐसा सोचना एक क़िस्म का कुफ़्र था, इंग्लैण्ड पर आक्रमण था, जो अपनेको सब क़ौमों का अगुआ समझता था। समुद्र तो, सौ बरस पहले ट्रैफलगार में नेपोलियन की हार के बाद, इंग्लैण्ड का इजारा समझा जाता था। इसलिए अंग्रेज़ों को यह बात बहुत नामुनासिब मालूम होती थी कि जर्मनी या कोई दूसरी क़ौम उसको चुनौती दे। अगर ब्रिटेन समुद्र पर मजबूत न रहा, तो उसके दूर-दूर बिखरे हुए साम्राज्य की क्या दशा होगी?

क़ैसर की चुनौती और धमकियाँ तो काफ़ी बुरी थीं, लेकिन इससे बदतर बात यह थी कि उसने इन धमकियों के बाद ही अपनी जल-सेना बढ़ा दी। इस बात से अंग्रेज़ों का मिजाज बिगड़ गया और इन लोगों ने भी अपनी जल-सेना को बढ़ाना शुरू कर दिया। इस तरह इन दोनों में एक तरह की घुड़दौड़ शुरू होगई। दोनों देशों के अख़बारों ने एक ज़ोरदार आन्दोलन जारी कर दिया, जिसमें जंगी जहाज़ बढ़ाने की चीख़ मचाई गई और राष्ट्रीय विद्वेष की आग को बराबर भड़काया जाने लगा।

योरप में यह एक ख़तरे का हलक़ा था। इसके अलावा कई और भी ख़तरे के हलके थे। फ्रांस और जर्मनी तो पुराने दुश्मन थे ही। १८७० की हार की कटु स्मृति फ्रांसीसियों के दिलों में बराबर चुभती रहती थी और वे बदला लेने का सपना देखते थे। बालकन तो हमेशा ही बारूद का एक गोला था, जहाँ अनेक स्वार्थ आकर एक-दूसरे से टकराते थे। पश्चिमी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए जर्मनी ने भी टर्की से दोस्ती शुरू करदी। यह तजवीज की गई कि एक रेलवे बग़दाद तक बनाई जाय और इस शहर को कुस्तुनतुनिया और योरप से जोड़ दिया जाय। यह तजवीज़ बहुत मुनासिब थी, लेकिन चूंकि जर्मनी इस बग़दाद रेलवे को अपने हाथ में रखना चाहता था इसलिए राष्ट्रीय विद्वेष पैदा होगया।

धीरे-धीरे योरप में युद्ध का डर छा गया और आत्म-रक्षा के लिए शक्तियों ने अपने-अपने गुट्ट बनाने शुरू किये। बडी-बडी ताक़तें दो दलों में बँट गईं। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का त्रिगुट्ट (Triple Alliance) एक तरफ़ था और इंग्लैण्ड, फ़्रांस और रूस का त्रिगुट्ट (Triple Entante) दूसरी तरफ़ था। इटली पहले त्रिगुट्ट का एक उदासीन सदस्य था और वाक़या तो यह है कि लड़ाई होने पर उसने अपने वचन को तोड़कर दूसरे पक्ष का साथ दिया। आस्ट्रिया एक जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य था, नक़शे में बड़ा दीखता था, लेकिन परस्पर-विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण था। सुन्दर वियेना

इसकी राजधानी थी। यह संगीत, कला और विज्ञान का केन्द्र भी था। इसलिए असल में पहले त्रिगुट्ट में सिर्फ़ जर्मनी ही था। लेकिन यह बात तो माननी ही पडेगी कि परीक्षा का दिन आने के पहले कौन कह सकता था कि इटली और आस्ट्रिया की क्या सूरत होगी ?

इस तरह योरप में भय का राज्य होगया था और भय बहुत भयंकर चीज होती है। हरेक देश युद्ध की तैयारी करने लगा और अधिक-से-अधिक युद्ध की सामग्री इकट्ठी करने लगा। शस्त्रीकरण की दौड़ शुरू होगई। इस शस्त्रीकरण में सबसे अजीब बात यह है कि जब एक देश अपनी सेना बढ़ावे तब दूसरे देशों को भी मजबूरन बढ़ानी पड़ती है। बडे-बडे निजी कारख़ाने, जो तोप, जंगी जहाज, गोली-बारूद तथा युद्ध की और चीजें बनाते थे, मुनाफ़े में रहे और ख़ूब मोटे होगये। ये लोग एक क़दम और आगे बढ़ गये। इन्होंने युद्ध का भय फैलाना शुरू कर दिया, ताकि उससे प्रभावित होकर क़ौमें इनसे हथियार खरीदें। युद्ध-सामग्री के ये कारख़ाने बहुत दौलतमन्द और ताक़तवर थे, और इंग्लैण्ड, फ़्रांस, जर्मनी और दूसरे मुल्कों के अनेक बडे अफ़सर और मंत्री इनके हिस्सेदार थे। इसलिए इनकी सरसब्जी में इन लोगों का भी स्वार्थ था। युद्ध-सामग्री के कारख़ाने तभी सरसब्ज होते हैं जब लड़ाई का भय हो या लड़ाई छिड़ जाय। इसलिए आश्चर्यजनक स्थिति यह थी कि अनेक सरकारों के मंत्री और सरकारी अफ़सरों का लड़ाई करने में माली फ़ायदा था। इन कारख़ानों ने अनेक देशों में युद्ध का खर्च बढ़ाने के लिए बहुत-सी दूसरी तरकीबें भी कीं। इन्होंने जनता के मत पर असर डालने के लिए अख़बार निकाले, अकसर सरकारी अफ़सरों को रिश्वतें दीं और लोगों को भड़काने के लिए ग़लत ख़बरें फैलाईं। युद्ध-सामग्री का व्यवसाय भी क्या ही भयंकर चीज है! दूसरों की मौत से इसकी जिन्दगी है। युद्ध की वीभत्सता पैदा करने में इसे जरा भी संकोच नहीं होता, बल्कि उसे यह प्रोत्साहन देता है, ताकि उससे मुनाफ़ा कमा सकें। १९१४ ई० के महायुद्ध को जल्द लाने में इस व्यवसाय ने भी कुछ मदद की। आज भी यह अपनी पुरानी चाल चल रहा है।

मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि इधर लड़ाई की बातचीत हो रही थी और उधर सुलह की एक अजीब कोशिश जारी थी। ताज्जुब है कि सबमें रूस के जार निकोलस द्वितीय ने आगे बढ़कर शक्तियों के सामने यह तजवीज पेश की कि सब इकट्ठा होकर सार्वभौम शान्ति का युग शुरू करें। यह वही जार था, जो अपने साम्राज्य में हरेक उदार आन्दोलन को कुचलता रहता था और अपने क़ैदियों से साइबेरिया को आबाद कर रहा था। यह तो मजाक़-सा मालूम होता है कि वह शान्ति की बातचीत करे। लेकिन शायद वह सच्चे दिल से शान्ति की कोशिश कर

रहा होगा; क्योंकि उसके लिए शान्ति का मतलब था मौजूदा स्थिति का सदा के लिए बना रहना और उसकी निरंकुशता का क़ायम रहना। उसके निमंत्रण पर हालैण्ड के हेग शहर में दो शान्ति-परिषदें, एक १८९९ में और दूसरी १९०७ में, हुईं। इन परिषदों में कोई भी महत्त्व की बात नहीं हुई। शान्ति आसमान से तो एकदम नहीं टपक सकती। वह तो तभी आसकती है जब झगड़ों की जड़ हट जाय।

मैंने तुम्हें बडी शक्तियों की आपस की लागडाँट और भय के बारे में बहुत कुछ बताया है। ग़रीब छोटी क़ौमों को कोई नहीं पूछता, सिवा उस समय के जबकि वे शरारत करने लगती हैं! योरप के उत्तर में कुछ छोटे देश ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि वे इन लालची और लोलुप बडी शक्तियों से बिलकुल मुख़्तलिफ़ हैं। स्कैण्डीनेविया में नार्वे और स्वीडन हैं और उनके नीचे डेनमार्क है। ये देश आर्कटिक क्षेत्र से बहुत दूर नहीं हैं। ये बहुत ठंडे मुल्क हैं और इनमें रहना बहुत कठिन है। इनमें सिर्फ़ छोटी आबादी की परवरिश होसकती है। लेकिन चूंकि ये देश बडी शक्तियों के द्वेष और नफ़रत और लागडाँट के दायरे से बाहर हैं, इसलिए अपनी जिन्दगी शान्ति और सुलह के साथ बिताते हैं और अपनी ताक़त सभ्य तरीक़े से खर्च करते हैं। वहाँ विज्ञान खूब फलता-फूलता है और बहुत अच्छा साहित्य पैदा हुआ है। १९०५ ई० तक नार्वे और स्वीडन मिले हुए थे और एक राज्य थे। इस साल नार्वे ने जुदा हो जाने का और अपना जीवन अलग बिताने का निश्चय किया। इस तरह इन दो देशों ने शान्तिपूर्वक अपना सम्बन्ध तोड़ने का निश्चय कर लिया और उस समय से ये दो अलग आज़ाद राज्य रहे हैं। कोई लड़ाई नहीं हुई और न एक मुल्क ने दूसरे को मजबूर किया। दोनों स्नेही पडोसीं की तरह मित्र-भाव से रह रहे हैं।

नन्हे-से डेनमार्क ने बडी क़ौमों के सामने अपनी जल और स्थल सेना को तोड़कर एक उदाहरण पेश कर दिया है। यह किसानों का देश है—छोटे-छोटे खेतिहरों का, जहाँ अमीर और ग़रीब में ज्यादा फ़र्क़ नहीं। इस समता (Equalisation) की ज्यादातर वजह यह है कि सहकारिता का आन्दोलन यहाँ खूब बढ़ा है।

लेकिन योरप के सब छोटे मुल्क डेनमार्क की तरह शराफ़त के पुतले नहीं हैं। हालैण्ड खुद तो छोटा है, लेकिन ईस्टइंडीज़ में (जावा, सुमात्रा में) बहुत बड़े साम्राज्य पर क़ब्ज़ा रखता है। इसके बाद बेलजियम है, जो अफ़रीका में कांगो को चूसता रहता है। यूरोपियन राजनीति में इसका महत्व असल में इसकी स्थिति की बिना पर है। यह देश फ़्रांस और जर्मनी के रास्ते पर है और इन दोनों देशों में युद्ध छिड़ने पर इस मुल्क का घिसट आना क़रीब-क़रीब निश्चित है। तुम्हें वाटरलू की याद होगी, जो बेलजियम में ब्रसेल्स के पास है। इसी कारण से बेलजियम योरप का

अखाड़ा (cockpit) कहा गया है। ख़ास-ख़ास बडी शक्तियों ने यह समझौता किया था कि युद्ध छिड़से पर वे बेलजियम की तटस्थता को मानेंगी। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जब लड़ाई छिडी, तब यह समझौता और वादा टुकडे-टुकडे होगया।

लेकिन योरप में, या यों कहो कि दूसरी जगहों में, सबसे ख़राब और परेशानी पैदा करनेवाली क़ौमें वालकन की हैं। जातियों और राष्ट्रों का यह चोंचों का मुरब्बा, जिसके पीछे पुश्तहापुश्त से द्वेप और लाग-डाँट चली आ रही है, आपसी कशमकश और नफ़रत से भरा हुआ है। १९१२-१३ के वालकन-युद्ध ग़ैरमामूली तरीक़े पर ख़ूनी युद्ध थे और बहुत कम समय में और बहुत कम क्षेत्र में बहुत ज्यादा आदमी हताहत हुए थे। कहा जाता है कि शरणागत और भागते हुए तुर्कों पर बलगेरियन लोगों ने ख़ौफ़नाक जुल्म किये थे। तुर्कों का ख़ुद भी पुराना इतिहास ख़राब है। सर्विया, जो अब यूगोस्लेविया का एक हिस्सा है, हत्या के लिए ख़ूब बदनाम होगया था। अपनेको देशभक्त कहनेवालों के एक खुफिया हत्याकारी दल के एक गुट्ट ने, जिसे 'काला हाथ' (Black Hand) कहा जाता था और जिसमें राज्य के अनेक बडे-बडे अफ़सर भी शामिल थे, असाधारण रूप से ख़तरनाक़ कितने ही ख़ून किये थे। देश के राजा और रानी, राजा अलेग्जेण्डर और महारानी ड्रेगा, महारानी के कई भाई, प्रधानमंत्री और कुछ और लोग बहुत बुरे तरीक़े से क़त्ल कर दिये गये। यह सिर्फ़ महल तक महदूद एक क्रान्ति (Palace Revolution) थी। राजा के मरने पर उसकी जगह दूसरा आदमी राजा बना दिया गया।

इस तरह बीसवीं सदी का जब आरम्भ हुआ, योरप की हवा में बिजली की कड़क और चमक थी; और ज्यों-ज्यों दिन बीते, वातावरण अधिक तूफ़ानी होता गया। पेचीदगियाँ और गुत्थियाँ बढ़ने लगीं और योरप के जीवन के धागे में ज्यादा-से-ज्यादा गाँठें पड़ने लगीं, जो अख़ीर में लड़ाई के ज़रिये ही कटनेवाली थीं। सब शक्तियाँ यह उम्मीद करती थीं कि लड़ाई छिडेगी और उसके लिए ज़ोरों के साथ तैयारी करती थीं, लेकिन कोई भी युद्ध छेड़ने के लिए उत्सुक नहीं था। सब किसी-न-किसी हदतक लड़ाई से डरती थीं, क्योंकि कोई भी यक़ीनी तौर पर इस बात की पेशीनगोई नहीं कर सकता था कि लड़ाई का नतीजा क्या होगा। इसपर भी डर की वजह से सब राष्ट्र युद्ध की तरफ़ बढ़ते गये। जैसा मैंने तुमको बताया है, योरप के दोनों गुट्ट एक-दूसरे के ख़िलाफ़ बने रहे। इसी का नाम 'शक्तियों का समतौल' था; लेकिन यह बहुत नाजुक समतौल था, जो जरा-से धक्के से विगड़ जा सकता था। जापान का भी, गोकि वह योरप से बहुत दूर था और उसकी स्थानीय समस्याओं में उसे कोई ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, गुट्टबन्दी के और शक्तियों के इस समतौल के मामले में हाथ था;

क्योंकि वह इंग्लैण्ड का दोस्त था। इस दोस्ती का ख़ास उद्देश यह था कि पूर्व में, ख़ासकर हिन्दुस्तान में, ब्रिटेन के स्वार्थ सुरक्षित रहें। यह दोस्ती उस ज़माने में क़ायम हुई थी, जब अंग्रेज़ों और रूसियों की लाग-डाँट चल रही थी। और यद्यपि इंग्लैण्ड और रूस अब एक ही तरफ़ थे फिर भी वह दोस्ती बनी हुई थी। सिर्फ़ अमेरिका ही एक ऐसा मुल्क था जो योरप की इस गुट्टबन्दी और समतौल-प्रणाली से दूर रहा।

१९१४ में यह हालत थी। तुम्हें याद होगा कि इस मौक़े पर होमरूल बिल के बारे में इंग्लैण्ड को आयर्लैण्ड में बडी परेशानी का सामना करना पड़ रहा था। अलस्टर बग़ावत के लिए उतारू था; वालण्टियर लोग उत्तर और दक्षिण दोनों जगह कवायद कर रहे थे और आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। ऐसा हो सकता है कि जर्मन सरकार नें सोचा हो कि इंग्लैण्ड आयर्लैण्ड के झगडे में फँसा रहेगा और अगर कोई यूरोपियन युद्ध होगा तो वह दख़ल न देगा। लेकिन बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार अन्दर-ही-अन्दर फ़्रांस से वादा कर चुकी थी कि लड़ाई छिड़ने पर वह फ़्रांस का साथ देगी, हालाँकि यह बात लोगों को मालूम नहीं थी।

२८ जून १९१४—यह वह तारीख़ थी जिस दिन चिनगारी पैदा हुई और उसने आग भड़का दी। आर्च डयूक फ़्रांसिस फरडीनेण्ड आस्ट्रियन गद्दी का युवराज यानी वारिस था। वह बालकन में बोसनिया की राजधानी सेरावो गया था। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, यह बोसनिया वही देश था जिसको आस्ट्रिया ने चन्द साल पहले, जब नौजवान तुर्क अपने सुलतान से छुटकारा पानें की कोशिश कर रहे थे, अपने राज्य में शामिल कर लिया था। आर्च ड्यूक और उसकी स्त्री, जो उसके पास ही बैठी थी, खुली गाडी में सड़क पर जा रहे थे। उनपर गोली चलाई गई और वह और उसकी स्त्री दोनों मर गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता दोनों ग़ुस्से से पागल होगये और सर्विया की सरकार पर यह इलज़ाम लगाया कि इसमें उसकी शिरकत थी (सर्विया बोसनिया का पडोसी था)। सर्विया की सरकार ने इस बात से इन्कार किया। बहुत दिन बाद इस बारे में तहक़ीक़ात करनें से पता चला है कि यद्यपि सर्विया की सरकार पर इस हत्या की जिम्मेदारी नहीं थी, पर यह बात भी नहीं है कि इसकी तैयारी का उसे पता न रहा हो। इस कत्ल की जिम्मेदारी ज्यादातर सर्विया के 'काला-हाथ' नामी हत्यारे दल पर ही डालनी चाहिए।

आस्ट्रिया की सरकार ने कुछ तो ग़ुस्से से और कुछ नीति के कारण सर्विया के साथ बहुत ही सख़्ती का तर्ज़ेअमल इख़्तियार किया। उसने तय कर लिया था कि सर्बिया को हमेशा के लिए ज़लील कर दिया जाय और किसी बडी लड़ाई छिड़ने की

हालत में वह जर्मनी की मदद का भरोसा करता था। इसलिए सर्विया ने जब माफ़ी माँगी तो वह मंजूर नहीं की गई और २३ जूलाई १९१४ को आस्ट्रिया ने सर्विया के पास अपनी अन्तिम चुनौती (Ultimatum) भेज दी। पाँच दिन के बाद यानी २८ जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्विया के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया।

आस्ट्रिया की नीति उन दिनों एक अभिमानी और बेवकूफ़ मंत्री के हाथ में थी, जो लड़ाई पर तुला हुआ था। बूढ़े सम्राट् फ्रांसिस जोज़ेफ (जो १८४८ से आस्ट्रिया के राजसिंहासन पर थे) इस नीति से सहमत कर लिये गये थे और जर्मनी की मदद की मामूली सी बातचीत के यह मानी लगाये गये कि उसनें पूरे तौर से मदद करनें का वादा किया है। वाक़या तो यह है कि आस्ट्रिया के अलावा बडी ताक़तों में कोई भी ताक़त उस वक्त युद्ध के लिए उत्सुक नहीं थी। जर्मनी यद्यपि तैयार और झगड़ालू था, पर लड़ाई के लिए उत्सुक नहीं था। क़ैसर विलहेल्म द्वितीय ने आधे मन से इस लड़ाई को रोकने की कोशिश भी की। इंग्लैण्ड और फ़्रांस भी लड़ाई के लिए ज्यादा उत्सुक नहीं थे। रूसी सरकार का अर्थ था ज़ार, और वह कमज़ोर और बेवकूफ़ आदमी था। उसने अपने चारों ओर अपनी तबीयत के मुआफ़िक बेवकूफ़ और बदमाश लोगों को इकट्ठा कर रक्खा था, जो उसे कभी इस तरफ़ और कभी उस तरफ़ फिराते रहते थे। फिर भी इस आदमी के हाथ में लाखों की क़िस्मत थी। वह खुद तो लड़ाई के ख़िलाफ़ था, लेकिन उसके सलाहकारों ने उसे डरवा दिया कि देरी करने का नतीजा बुरा होगा और उसे इस बात पर राज़ी कर लिया कि फ़ौज को लड़ाई के लिए तैयार किया जाय। 'तैयारी' का मतलब था फ़ौज को लड़ने के लिए बुलाना, और रूस ऐसे विस्तृत देश में इस काम में बहुत दिन लग जाते। जर्मनी के हमले के डर से रूसी सेना की लड़ाई की तैयारी में तेज़ी आगई। सेना की तैयारी की, जो ३० जुलाई से शुरू हुई, ख़बर ने जर्मनी को डरा दिया और उसने यह मतालबा किया कि रूस उसे रोक दे। लेकिन युद्ध की इस विशाल मशीन को अब कौन रोक सकता था? दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी अपनी सेना तैयार करके रूस और फ़्रांस के ख़िलाफ लड़ाई की घोषणा करदी; और फ़ौरन ही विशाल जर्मन सेनाओं ने फ़्रांस जाने के लिए बेलजियम पर धावा कर दिया, क्योंकि यह रास्ता आसान था। बेचारे बेलजियम ने जर्मनी का कोई नुक़सान नहीं किया था। लेकिन जब राष्ट्रों में मौत और ज़िन्दगी के लिए लड़ाई होती है तो वे इस क़िस्म की छोटी-छोटी बातों और किये हुए वादों का ख़याल नहीं करते। जर्मन सरकार ने बेलजियम से इस बात की इजाज़त माँगी थी कि वह अपने देश से उसकी फ़ौज को जाने दे; लेकिन स्वभावतः यह प्रार्थना घृणापूर्वक नामंजूर करदी गई।

बेलजियम की तटस्थता के तोडे जानें की वजह से इंग्लैण्ड में और दूसरी जगहों पर भी बहुत शोर उठा और इंग्लैण्ड ने तो इसी बात को जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध छेड़ने की बुनियाद क़रार दिया। वाक़या तो यह है कि इंग्लैण्ड ने इस बारे में अपना फ़ैसला बहुत पहले ही कर लिया था। बेलजियम के सवाल का तो उसे एक अनुकूल बहाना मिल गया। अब तो यह भी पता चला है कि युद्ध के पहले के वर्षों में फ़्रांस ने भी यह योजना तैयार की थी कि जरूरत पड़ने पर वह जर्मनी पर चढ़ाई करने के लिए बेलजियम के रास्ते अपनी सेना ले जायगा। बहरहाल, इंग्लैण्ड ने सत्य और औचित्य का बहुत बड़ा संरक्षक होने का पाखण्ड किया, और जर्मनी के मुकाबिले में अपने को छोटी-छोटी क़ौमों का बहुत बड़ा हिमायती बताना चाहा। जर्मनी के ऊपर यह एतराज किया जाता था कि उसने अपने गम्भीर दादों और अहदनामों को रद्दी कागज का टुकड़ा समझा। ४ अगस्त की आधी रात को इंग्लैण्ड ने जर्मनी के खिलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया; लेकिन उसने इतनी पेशबन्दी की थी कि किसी दुर्घटना को रोकने के लिए 'ब्रिटिश एक्सपीडेशनरी फोर्स' (अंग्रेजों की हमला करनेवाली सेना) को इंग्लिश चैनल के पार एक दिन पहले ही रवाना कर दिया था। इसलिए हालाँकि दुनिया समझती थी कि इंग्लैण्ड के युद्ध में शामिल होने का सवाल अनिश्चित है, मगर ब्रिटिश फ़ौज योरप के प्रायद्वीप पर पहुँच चुकी थी।

बस अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, फ़्रांस और इंग्लैण्ड सबके सब युद्ध में फँस गये। और छोटा-सा सर्विया तो था ही, जिसे इस लड़ाई का तात्कालिक कारण कहना चाहिए। आस्ट्रिया और जर्मनी का मददगार इटली क्या करेगा? यह सवाल था; पर इटली अलग रहा। इटली इस बात को देखने लगा कि दोनों में किसकी तरफ़ जाने से फ़ायदा होगा। इटली ने सौदा करना शुरू किया और आख़िरकार छः महीने बाद निश्चित रूप से अपने पुराने मददगारों के खिलाफ़ फ़्रांस-इंग्लैण्ड-रूसी पक्ष में शामिल होगया।

इस तरह १९१४ के अगस्त महीनें की शुरुआत के दिनों में योरप की फ़ौजें इकट्ठी हुई और आगे बढ़ीं। ये फ़ौजें क्या थीं? पुराने जमानें में फ़ौज में पेशे वाले सिपाही हुआ करते थे। उस वक़्त ये स्थायी फ़ौजें हुआ करती थीं। फ़्रेंच राजक्रांति से इस बारे में बहुत तब्दीली होगई थी। जब इस क्रान्ति को विदेशी हमले से ख़तरा हुआ तो साधारण नागरिकों को भरती किया गया था और बहुत बड़ी तादाद में उनको क़वायद सिखाई गई थी। उस जमाने के बाद से योरप का रुख़ यह हो गया था कि एक तयशुदा तादाद की पेशेवाली और स्वेच्छा से भरती हुई इन दोनों सेनाओं के बजाय 'अनिवार्य सेना' की भरती की जाय। अनिवार्य सैनिक सेवा

(Conscription) उसे कहते हैं जिसमें देश के शारीरिक दृष्टि से भरती के क़ाबिल सब आदमी जबरदस्ती शामिल होने के लिए मजबूर किये जाते हैं। इसलिए जिस्मानी लिहाज से क़ाबिल आदमियों की इस व्यापक सैनिक भरती को फ़्रेंच क्रान्ति की उपज समझना चाहिए। यह प्रणाली योरप में सब जगह फैल गई और हरेक नौजवान को छावनी में रहकर दो वर्ष तक या इससे ज्यादा भी सैनिक शिक्षा लेनी पड़ती थी और बाद को जब हुक्म मिले तब उसे लड़ाई पर जाने के लिए आना पड़ता था। इस तरह लड़ाई में लगी हुई सेना का असल में अर्थ होता था राष्ट्र के समस्त नवयुवक। फ़्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में यही दशा थी और इन देशों में सेना को तैयार करने का मतलब यह था कि दूर-दूर गाँवों और क़स्बों में फैले हुए नौजवानों को उनके घरों से बुलाया जाय। इंग्लैण्ड में जब लड़ाई शुरू हुई तो इस तरह की अनिवार्य प्रणाली नहीं थी। अपनी जबरदस्त जल-सेना पर भरोसा करके इंग्लैण्ड ने अपनी स्थायी और ऐसी सेना को छोटी ही रक्खा था। लेकिन युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड ने भी और देशों की तरह अपनी नीति करली और सैनिक भरती को अनिवार्य कर दिया।

व्यापक सैनिक सेवा का मतलब यह था कि सारी क़ौम सशस्त्र लड़ाई के लिए तैयार थी। तैयारी के हुक्म का असर हरेक क़स्बे, गाँव और कुटुम्ब पर पड़ा। योरप के ज्यादातर हिस्से पर अगस्त की शुरुआत के दिनों में जिन्दगी ठिठक कर रह गई और लाखों नौजवान अपना-अपना घर छोड़कर चल दिये और फिर कभी वापस न जासके। जहाँ देखो फ़ौजें मार्च करती हुई दिखाई देती थीं, और सैनिकों की जय बोली जाती थी। देशभक्ति की भावना का जोर था। हृदय के तारों को लोगों ने सख़्त बना लिया था। लोगों में किसी क़दर हल्कापन भी था; क्योंकि उस वक्त लोग यह नहीं समझते थे कि आनेवाले सालों में कितनी भयंकरता है।

देशभक्ति के उत्साह में सभी बह गये। साम्यवादी, जो इतने जोरों के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें करते थे, और मार्क्सवादी भी, जो दुनियाभर के श्रमजीवियों के दुश्मन पूंजीवाद के ख़िलाफ़ एक होजाने की बात करते थे, देशभक्ति के आवेश में बह गये और पूंजीपतियों की इस लड़ाई में बडे उत्साह से शामिल हुए। ऐसे थोडे ही थे; जो अपनी जगह पर खडे रहे लेकिन लोग उनको नफ़रत की निगाह से देखते थे; उनको गालियाँ और अकसर सजायें भी देते थे। बहुत-से लोग तो दुश्मन की नफ़रत से पागल होगये थे। अंग्रेज और जर्मन मजूर एक-दूसरे को क़त्ल कर रहे थे और इन दोनों देशों के और लड़ाई में शामिल दूसरे देशों के विद्वान् लोग, वैज्ञानिक और प्रोफेसर, एक-दूसरे को गालियाँ देते और एक-दूसरे के ख़िलाफ भद्दे-से-भद्दे और बीभत्स किस्सों पर यक़ीन कर लेते थे।

इस तरह लड़ाई आरम्भ होने पर उन्नीसवीं सदी का युग ख़त्म हुआ। पश्चिमी सभ्यता के शान और शान्ति के साथ बहनेवाले प्रवाह को युद्ध की भँवर ने निगल लिया। पुरानी दुनिया हमेशा के लिए ख़त्म होगई और चार वर्ष से ज्यादा समय के बाद इस भँवर से एक नई चीज़ प्रकट हुई।

: १४७ :

हिन्दुस्तानः महायुद्ध शुरू होने के वक्त

२९ मार्च, १९३३

हिन्दुस्तान के बारे में तुम्हें लिखे हुए बहुत दिन होगये। इस विषय पर वापस आने और तुम्हें यह बताने का मुझे प्रलोभन हो रहा है कि महायुद्ध आरम्भ होने के समय हिन्दुस्तान की क्या दशा थी और मैंने इस प्रलोभन में आजाने का निश्चय भी कर लिया है।

कई लम्बी-लम्बी चिट्ठियों में हम लोग उन्नीसवीं सदी के हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य और हिन्दुस्तान की ज़िन्दगी के कुछ पहलुओं पर अच्छी तरह विचार कर चुके हैं। इस युग का जोरदार पहलू यह था कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का अधिकार मजबूत किया गया और साथ-ही-साथ देश का शोषण हुआ। हिन्दुस्तान को तीन क़ब्ज़ा करनेवाली फ़ौजों ने दबोच रक्खा था—सशस्त्र सैनिक, व्यापारिक, और सिविल। जाहिर है कि सशस्त्र सैनिकों में अंग्रेजी फ़ौजें थीं और अंग्रेज अफ़सरों की मातहती में हिन्दुस्तानी सिपाही थे, जो रुपये के लालच से भरती होते हैं। इसे विदेशी सेना कहना चाहिए, जो कि मुल्क के ऊपर क़ब्ज़ा रखने के लिए रक्खी गई। लेकिन इससे ज्यादा जबरदस्त दबाव सिविल सर्विस का था, जिसे अत्यन्त केन्द्रित और निरंकुश नौकरशाही कहना चाहिए। तीसरी फ़ौज व्यापारिक थी, जिसे इन दोनों से मदद मिलती थी। यह सबसे ज्यादा ख़तरनाक चीज थी, क्योंकि देश का सबसे ज्यादा शोषण यह ख़ुद करती थी या इसकी तरफ़ से होता था और देश को चूसने का इसका ढंग भी इतना प्रत्यक्ष नहीं था जितना कि दूसरी दोनों का था। बहुत दिनों तक, और कुछ हदतक आज भी, बड़े-बड़े प्रमुख हिन्दुस्तानी दो फ़ौजों पर ज्यादा एतराज करते रहे हैं, और तीसरी को उन्होंने इतना महत्व नहीं दिया।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का बराबर यह ध्येय रहा है कि स्थापित स्वार्थों (Vested interests) का एक वर्ग बनाया जाय। उन्होंने ख़याल किया कि यह वर्ग उन्हींका बनाया हुआ होगा, इसलिए उन्हींके भरोसे रहेगा और हिन्दुस्तान में

उनकी मदद करता रहेगा। इसी ख़याल से सामन्त राजाओं को मजबूत किया गया। बडे जमींदारों और तालुकेदारों का वर्ग बनाया गया। और यह कहकर कि सरकार मजहबी मामलों में तटस्थ है, सामाजिक कट्टरता को प्रोत्साहन दिया गया। देश के शोषण में इस वर्ग का अपना स्वार्थ था। और सच तो यह है कि यह बिना इस शोषण के जिन्दा भी नहीं रह सकता था। सबसे बड़ा वर्ग जो हिन्दुस्तान में बनाया गया वह ब्रिटिश पूँजीपतियों का था।

एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ लार्ड सैलिसबरी ने, जो हिन्दुस्तान के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट (भारत-सचिव) थे, एक वक्तव्य दिया था। वह अकसर उद्धृत किया गया है और उससे स्थिति पर काफ़ी रोशनी भी पड़ती है। मैं उसे यहाँ तुम्हारे सामने रखना चाहता हूँ। लार्ड सैलिसबरी ने सन् १८७५ ई० में कहा था—"चूंकि हिन्दुस्तान का ख़ून निकालना जरूरी है, इसलिए नश्तर उस हिस्से में लगाना चाहिए जहाँ ख़ून ज्यादा है या, कम-से-कम, काफ़ी है। नश्तर उन हिस्सों में न लगाना चाहिए जो ख़ून के अभाव से कमजोर होचुके हैं।"

हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों के क़ब्जे से और उस नीति के कारण जिसपर अंग्रेजों ने यहाँ अमल किया कई नतीजे निकले। कुछ ऐसे भी नतीजे निकले जिन्हें अंग्रेज पसन्द नहीं करते थे। लेकिन व्यक्ति अपने कामों के सारे नतीजों पर मुश्किल से अधिकार पा सकते हैं, और क़ौमों के लिए तो यह और भी मुश्किल होता है। अकसर यह होता है कि कुछ कारगुजारियों की वजह से नई ताक़तें पैदा होती हैं और यही ताक़तें कारगुजारियों का विरोध करती हैं और उनपर विजय पा जाती हैं। साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता पैदा होती है। पूंजीवाद की वजह से कारखानों और मिलों में मजदूरों की बडी तादाद जमा हो जाती है, और मजदूरों की यह तादाद संगठित होकर पूंजीपतियों का मुक़ाबिला करती है। सरकार का दमन, जो किसी आन्दोलन को दबाने या राष्ट्र को पस्त करने के लिए शुरू किया जाता है, अकसर उस राष्ट्र को पुष्ट कर देता है, उसे फ़ौलाद की तरह मजबूत बनाता है और अन्तिम विजय के लिए तैयार कर देता है।

हमने देखा है कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की व्यावसायिक नीति के कारण गाँवों की आबादी बढ़ गई। रोजगार न होने की वजह से ज्यादा-से-ज्यादा लोग शहरों से गाँवों में जाने लगे, जिससे जमीन पर बोझ बढ़ा और किसानों के खेत छोटे होने लगे। खेत इस हद तक छोटे हुए कि बहुतसे "बेमुनाफ़ा" (Uneconomic) होगये, यानी उनको जोतकर किसान अपनी जिन्दगी की मामूली जरूरियात के लिए थोडी-सी आमदनी भी नहीं कर सकता। लेकिन किसानों के पास कोई दूसरा चारा नहीं

था। ये लोग अपनी गुजर-वसर तभी कर सकते थे जबकि क़र्ज़ लेते जायँ। ब्रिटिश सरकार की जमीन-सम्बन्धी नीति ने स्थिति को बदतर कर दिया, ख़ासकर ताल्लुक़ेदारी और बड़े-बड़े जमींदारी हलकों में। इन हलकों में, और उन हलकों में भी जहाँ किसान जमीन का मालिक होता था, जमींदार का लगान न देने पर और सरकार की माल-गुजारी न अदा करने पर खेत का जोतनेवाला बेदख़ल कर दिया जाता था। इसकी वजह से, और इस कारण कि शहर से नये आनेवालों का जमीन पर बोझ बराबर बढ़ता गया, गाँवों में मजदूरों का एक बड़ा वर्ग पैदा होगया, जिसके पास कोई जमीन नहीं थी। और, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, अनेक भयंकर अकाल भी पड़े।

जमीन से वंचित यह बड़ा वर्ग खेती के लिए जमीन का भूखा था। लेकिन इतनी काफ़ी जमीन नहीं थी कि सबको मिल सके। जमींदारों ने जमीन की इस माँग से फ़ायदा उठाकर खेतों का लगान बढ़ा दिया। लेकिन कुछ क़ानून ऐसे मौजूद थे जो किसानों की रक्षा के लिए बनाये गये थे और उनकी वजह से एकदम लगान को एक ख़ास हद से ज्यादा बढ़ाना नामुमकिन था। लेकिन जमींदारों ने इस कठिनाई को कई तरीक़ों से सुलझा लिया और क़िस्म-क़िस्म के ग़ैरक़ानूनी मतालबे वसूल किये जाने लगे। मुझे बताया गया था कि अवध की एक ताल्लुक़ेदारी रियासत में पचास क़िस्म के ग़ैरक़ानूनी मतालबे वसूल होते थे। इनमें ख़ास 'नज़राना' था। यह वह रक़म है जिसे किसान खेत लेते वक़्त, शुरू में, जमींदार या ताल्लुक़ेदार को देता है। ग़रीब किसान इतनी रक़में कहाँसे अदा करता? बनिये से उधार लेकर जब क़र्ज़ चुकाने की कोई सम्भावना या शक्ति न दिखाई देती हो, उस वक़्त कर्ज़ लेना बेवक़ूफ़ी है; लेकिन ग़रीब किसान करे तो क्या करे? उसे कहीं से भी कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती और उसे जोतने के लिए जमीन चाहिए ही। इसलिए निराशा में भी आशा रखते हुए वह सोचता है कि शायद भविष्य कुछ अच्छा हो। नतीजा यह होता है कि कर्ज़ लेने पर भी अकसर किसान जमींदारों की माँग पूरी नहीं कर सकता। वह खेत से बेदख़ल कर दिया जाता है और उन मजदूरों के गिरोह में शामिल होजाता है जिनके पास जमीन नहीं होती।

खेत के मालिक किसान, मामूली किसान, और बेजमीन के मजदूर, सभी बनिये के शिकार होते हैं। ये क़र्ज़ से कभी छुटकारा पा ही नहीं सकते। जब कभी कुछ कमाते हैं, तो अदा कर देते हैं; लेकिन अदा की हुई उस रक़म को सूद खा जाता है और पुराना मूलधन ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इस बात के लिए बनियों पर बहुत कम बन्दिशें पाई जाती हैं कि वे किसानों को न मूँड सकें। नतीजा यह होता है कि किसान लोग बनिये के ग़ुलाम होकर रहते हैं। बेचारा किसान एक तरह से जमींदार और बनिया दोनों का ग़ुलाम होता है।

जाहिर है कि इस क़िस्म की वात वहुत दिनों तक नहीं चल सकती। एक वक़्त ऐसा आयगा जव किसान कोई भी रक़म अदा करने में विलकुल असमर्थ हो जायँगे। तव वनिये रुपया उधार देने से इनकार करेंगे और जमींदार भी कठिनाई में फँसे होंगे। यह ऐसी प्रणाली है कि जिसमें पतन और अस्थिरता के साफ़-साफ़ चिन्ह दिखाई देते हैं। सारे देश में किसानों के झगडे और फ़साद, जो हाल में हो रहे हैं, इस वात को सावित करते हैं कि अव यह प्रणाली विखर रही है और वहुत दिनों तक क़ायम न रह सकेगी। इस-उस जगह पैवन्द लगाने से यह प्रणाली वच नहीं सकती; क्योंकि अव इसका जमाना जाता रहा है। जरूरत यह है कि जमीन के वारे में विलकुल नई प्रथा चलाई जाय। दोष प्रथा का है, वनिये या जमींदार का नहीं।

मुझे डर है कि मैंने इस ख़त में उसी वात को दोहरा दिया जिसे मैंने एक दूसरे ढंग से पहले के ख़त में लिखा था। लेकिन मैं यह चाहता हूँ कि तुम समझो कि यही लाखों-करोडों दुखिया किसान हिन्दुस्तान है; मध्यम वर्ग के मुट्ठीभर आदमी नहीं, जो कि सामने आया करते हैं। मुझे अंदेशा है कि वहुत-से आदमी इसको भूल जाते हैं।

वेजमीन के वेदख़ल मजदूरों की वडी जमात की वजह से वडे-वडे कारखानों का चलना आसान होगया। क्योंकि ये कारख़ाने तभी चल सकते हैं, जव इनमें काम करने के लिए काफ़ी आदमी मिल सकें (और काफ़ी से ज्यादा भी)। जिस आदमी के पास जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा भी है, वह उसे नहीं छोड़ना चाहता। इसलिए कारखाना चलाने के लिए यह जरूरी है कि वेकार और वेजमीन लोगों की काफ़ी तादाद हो। ये लोग जितने ज्यादा होंगे, मिल-मालिकों के लिए इस वात में उतनी ही ज्यादा आसानी होगी कि मजदूरी घटाकर इनको अपने क़व्जे में रख सकें। इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि काफ़ी से ज्यादा होने चाहिएँ।

मेरा ख़याल है, मैंने तुमको वताया है कि इसी जमाने में एक नया मध्यमवर्ग धीरे-धीरे हिन्दुस्तान में पैदा हुआ और कुछ पूँजी कारवार में लगाने के लिए इकट्ठी की। इस तरह चूँकि पैसा था और मजदूर थे, कारखाने पैदा होगये। लेकिन हिन्दुस्तान में ज्यादातर पूँजी जो लगी है, विदेशी (अंग्रेजी) है। इन कारखानों को ब्रिटिश सरकार ने प्रोत्साहन नहीं दिया। ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी कि हिन्दुस्तान को विलकुल कृषक देश रक्खा जाय। वह इंगलैण्ड को कच्चा माल दे और इंगलैण्ड की वनी हुई चीजें खरीदे। ये कारख़ाने ब्रिटिश सरकार की इस नीति के विरुद्ध पड़ते थे। लेकिन स्थिति ऐसी थी, जैसा मैंने तुम्हें वताया है, कि वडी मशीनों से हिन्दुस्तान में काम शुरू होनेवाला था और ब्रिटिश सरकार आसानी से उसे रोक नहीं सकती थी। इस तरह सरकार के विरोध के वावजूद कारख़ाने वढ़ने लगे। सरकारी विरोध जाहिर

करने का एक ढंग यह था कि हिन्दुस्तान में जो मशीनें आती थीं, उनपर टैक्स लगा दिया जाता था। दूसरा ढंग यह था कि सूत के माल पर, जो हिन्दुस्तान में बनता था, चुंगी लगादी गई थी। हिन्दुस्तान की कपडे की मिलें जो कुछ माल बनाती थीं, उस-पर यह टैक्स लगता था।

जमशेदजी नसरवानजी ताता हिन्दुस्तान के शुरू के औद्योगिकों में सबसे बड़ा हुआ है। इसने बहुतसे उद्योग खोले, जिसमें सबसे बड़ा ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का था, जो इसने बिहार में साक्ची में खोला था। यह उद्योग १९०७ ई० से शुरू हुआ और १९१२ से चलने लगा। लोहे का उद्योग 'बुनियादी' उद्योग समझा जाता है। आजकल लोहे के ऊपर इतनी चीज़ें निर्भर हैं कि जिस देश में लोहे का उद्योग नहीं, वह ज्यादातर दूसरों के भरोसे रहता है। ताता का लोहे का कारखाना एक बहुत बड़ा कारबार है। साक्ची का गाँव अब जमशेदपुर का शहर होगया और थोडी दूर पर जो रेलवे स्टेशन है उसको तातानगर कहते हैं। लोहे के कारख़ाने लड़ाई के ज़माने में बहुत क़ीमती होजाते हैं, क्योंकि ये युद्ध की सामग्री बना सकते हैं। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार के लिए बडी खुशकिस्मती की बात थी कि जब महायुद्ध शुरू हुआ, ताता का कारख़ाना चल रहा था।

हिन्दुस्तानी कारख़ानों में मज़दूरों की दशा बहुत ख़राब थी। उन्नीसवीं सदी के शुरू में अंग्रेज़ी मिलों में मज़दूरों की जो हालत थी, वह यहाँ भी थी। मज़दूरी बहुत कम थी, क्योंकि बहुतसे ऐसे आदमी मिलते थे जिनके पास न ज़मीन थी और न कोई रोज़गार था और काम करने के घण्टे बहुत ज्यादा थे। १९११ ई० में पहला 'इण्डियन फैक्ट्री ऐक्ट' यानी 'भारतीय कारख़ानों का क़ानून' पास हुआ। इस क़ानून में भी पुरुषों के लिए बारह घण्टे और बच्चों के लिए छः घण्टे मुक़र्रर हुए।

जिनके पास ज़मीन नहीं थी वे सब मज़दूर इन मिलों में नहीं खप सके। इसलिए उनकी एक बहुत बडी तादाद चाय के खेतों में और दूसरे फार्मों में काम करने के लिए आसाम और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में चली गई। इन खेतों और फार्मों की अवस्था ऐसी थी कि जबतक ये लोग वहाँ काम करते थे, अपने मालिक के ग़ुलाम होकर रहते थे।

२० लाख से ज्यादा ग़रीब हिन्दुस्तानी मज़दूर विदेश चले गये। बहुत-से सीलोन (लंका) और मलाया के खेतों में काम करने के लिए गये। बहुत-से मारीशस के टापुओं में चले गये। कुछ ट्रिनीडाड गये, जो दक्षिण अमेरिका के उत्तर में है। कुछ फ़िजी गये, जो आस्ट्रेलिया के पास है। कुछ दक्षिण अफ़रीका और पूर्वी अफ़रीका और ब्रिटिश गायना (जो दक्षिण अमेरिका में है) चले गये। इन देशों में बहुत-सी जगहों में ये लोग 'इनडेंचर' (शर्तबंद) होकर गये थे, जिसका मतलब था कि क़रीब-क़रीब

गुलाम होकर गये थे। इनडेंचर एक दस्तावेज़ होता था, जिसमें इन मज़दूरों के साथ की हुई शर्तें लिखी रहती थीं, जिनके मुताविक ये लोग अपने मालिकों के गुलाम हो जाते थे। इनडेंचर की इस प्रथा से पैदा होनेवाली अनेक भयंकर घटनाओं का हाल हिन्दुस्तान में आने लगा, ख़ासकर फ़िजी से। इसपर हिन्दुस्तान में आन्दोलन शुरू हुआ और यह प्रथा तोड़ दी गई।

इतनी वात तो हुई किसानों-मज़दूरों की और उन लोगों की जो विदेश में मज़दूरी करने के लिए जाते थे। इनके अलावा इस देश की ग़रीव मूक और वहुत दिनों से कष्ट सहनेवाली जनता थी। वोलने-चालनेवाला वर्ग असल में नया मध्यम वर्ग था, जो अंग्रेज़ों के सम्वन्ध से पैदा हुआ था लेकिन जिसने उनपर आक्षेप करना शुरू कर दिया था। यह वर्ग तरक़्क़ी करने लगा और इसीके साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन भी वढ़ा। तुम्हें याद होगा कि यह राष्ट्रीय आन्दोलन १९०७–८ में वहुत जवरदस्त हो गया था। उस वक़्त एक सार्वजनिक आन्दोलन ने वंगाल को हिला दिया और हमारी काँग्रेस दो दलों यानी गरम दल और नरम दल में वँट गई। अंग्रेज़ों ने अपनी वही पुरानी नीति वरती। नरम दल को छोटे-मोटे सुधार देकर अपनेमें मिलाने की कोशिश की और गरम दल को पस्त कर देना चाहा। इसी समय एक नई वात सामने आई। अल्पसंख्यक होने की हैसियत से मुसलमानों ने अलहदा और विशेष राजनैतिक अधिकारों का दावा किया। यह सभी अच्छी तरह से जानते हैं कि सरकार ने मुसलमानों की इस माँग को प्रोत्साहन दिया, ताकि हिन्दुस्तान में फूट होजाय और राष्ट्रीयता की वाढ़ रुक जाय।

उस वक़्त व्रिटिश सरकार अपनी नीति में कामयाव हुई। लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दवाया जा चुका था। नरम दल के लोगों ने शासन में चन्द सुधारों को, जिनसे हिन्दुस्तानियों के हाथों में कुछ ताक़त नहीं आती थी, मंज़ूर करके प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया। इन सुधारों को उस समय के वाइसराय और सेक्रेटरी आफ़ स्टेट यानी भारत-सचिव के नाम पर 'मिण्टो-मार्ले सुधार' कहते हैं। थोड़े दिनों के वाद वंग-भंग मंसूख़ कर दिया गया। इससे वंगालियों का ग़ुस्सा कुछ ठण्डा पड़ गया। १९०७ के वाद राजनैतिक आन्दोलन वड़े आदमियों के छुट्टी के वक़्त का खेल था, जो अपने कमरे में कुर्सी पर वैठे-वैठे वातें वनाया करते थे। इस कारण १९१४ में, जव लड़ाई शुरू हुई, इस देश में कोई क्रियात्मक राजनैतिक जीवन नहीं था। काँग्रेस में सिर्फ़ नरम दल के आदमी थे, जो साल में एक दफ़ा इकट्ठा होकर चन्द काग़ज़ी प्रस्ताव पास कर दिया करते थे और फिर कुछ नहीं करते थे। राष्ट्रीयता का पारा वहुत नीचे आगया था।

पश्चिम के सम्पर्क में आने की वजह से राजनैतिक क्षेत्र के अलावा और क्षेत्रों पर भी कुछ असर पड़ा। जनता के विचारों पर नहीं, बल्कि नवीन मध्यमवर्ग के धार्मिक विचारों पर असर पड़ा और ब्राह्म-समाज और आर्यसमाज ऐसे आन्दोलन उठ खड़े हुए। जाति-पाँति प्रणाली की कट्टरता कम होने लगी। सांस्कृतिक जागृति ख़ासकर बंगाल में हुई। बंगाली लेखकों ने बंगला भाषा को हिन्दुस्तान की आजकल की भाषाओं में सबसे सम्पन्न बना दिया और बंगाल ने उसके सबसे बड़े हिन्दुस्तानी यानी रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया, जो हमारी ख़ुशक़िस्मती से अभीतक हमारे बीच मौजूद हैं। बंगाल ने विज्ञान में बड़े-बड़े आदमी पैदा किये—जैसे सर जगदीशचन्द्र बसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय। मैं तुम्हें एक भारतीय वैज्ञानिक का नाम और बताऊँगा, जो इन लोगों से उम्र में बहुत कम है। वह हैं सर चन्द्रशेखर व्यंकट रमण। सारी दुनिया इन नामों को जानती है। इस तरह हिन्दुस्तान हरेक चीज़ में, विज्ञान के हरेक क्षेत्र में, श्रेष्ठ बन रहा था; और यह तुम जानती ही हो कि योरप की महानता की बुनियाद विज्ञान रहा है।

मैं यहाँ एक दूसरे नाम का भी ज़िक्र करना चाहता हूँ। यह सर मुहम्मद इक़बाल का नाम है। यह उर्दू और ख़ासकर फ़ारसी के बड़े प्रतिभाशाली कवि हैं। इन्होंने राष्ट्रीयता पर कई सुन्दर कवितायें लिखी हैं। बदक़िस्मती से इन्होंने हाल में कविता लिखना छोड़ दिया और दूसरे काम में लगे हुए हैं।

महायुद्ध के पहले हिन्दुस्तान राजनैतिक दृष्टि से शान्त था; लेकिन एक दूर देश में हिन्दुस्तान की इज्जत के लिए एक वीरतापूर्ण और असाधारण लड़ाई हुई। दक्षिण अफ़रीका में हिन्दुस्तानी मजदूरों की काफ़ी तादाद थी और कुछ व्यापारी भी वहाँ जाकर बस गये थे। इन लोगों के साथ सैकड़ों तरीक़ों से बुरा बर्त्ताव किया जाता था और इनकी बेइज्जती की जाती थी, क्योंकि उस देश में क़ौमी ग़ुरूर बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इत्तफ़ाक़ से एक नौजवान हिन्दुस्तानी बैरिस्टर एक मुकदमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ़रीका गया। उसने अपने देशवासियों की हालत देखी तो वह बहुत अपमानित और दुखित हुआ। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि इनकी मदद के लिए जो कुछ हो सकेगा वह करूँगा। वर्षों तक वह बहुत ख़ामोशी के साथ काम करता रहा। उसने अपनी जायदाद और कारोबार छोड़ दिया और जिस काम को उसने अपने हाथ में लिया था उसीमें अपनेको पूरे तौर से लगा दिया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गांधी था। आज हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा इसे जानता है और याद करता है; लेकिन उस वक्त दक्षिण अफ़रीका के बाहर इसे कोई नहीं जानता था। मगर एकदम से इसका नाम सारे हिन्दुस्तान में बिजली की तरह फैल गया। लोग इसके बारे में और

इसकी बहादुराना लड़ाई के बारे में आश्चर्य, प्रशंसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने वहांके रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को और भी ज्यादा अपमानित करने की कोशिश की और बापू के नेतृत्व में जो आन्दोलन चला उसके सामने सरकार ने झुकने से इनकार किया। बडे ताज्जुब की बात थी कि ग़रीब, पद-दलित, जाहिल मजदूरों की एक जमात और छोटे-छोटे व्यापारियों का समुदाय, जो अपनी मातृभूमि से इतनी दूर हो, इस क़िस्म का बहादुरी का तर्जेअमल इख़्तियार करे। इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात यह थी कि इस लड़ाई में जिस राजनैतिक शस्त्र का इन्होंने इस्तेमाल शुरू किया, वह संसार के इतिहास में अनोखा था। हमनें अब तो इसके बारे में बहुत काफ़ी सुन लिया है। यह शस्त्र था बापू का सत्याग्रह। इसको अक्सर निष्क्रिय प्रतिरोध भी कहते हैं, लेकिन यह ग़लत तर्जुमा है, क्योंकि सत्याग्रह में काफ़ी कर्मण्यता पाई जाती है। सत्याग्रह में सिर्फ़ अविरोध ही नहीं है। अहिंसा इसका मुख्य अंग है। बापू ने इस अहिंसापूर्ण संग्राम से हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ़्रीका में खलबली मचा दी और जब हिन्दुस्तान के लोगों ने सुना कि उनके हजारों देशवासी, स्त्री और पुरुष, दक्षिण अफ़्रीका में खुशी-खुशी जेल गये, तो अभिमान और आनन्द से उनका हृदय गद्गद् होगया। हम अपने देश में अपनी असहायता और दासता पर मन-ही-मन लज्जित होने लगे और अपने देशवासियों के वीरतापूर्ण संघर्ष के इस उदाहरण ने हमारे आत्माभिमान को बढ़ा दिया। इस मसले पर हिन्दुस्तान एकदम से राजनैतिक दृष्टि से जग पड़ा। दक्षिण अफ्रीका को रुपया तेजी के साथ भेजा जाने लगा। जब बापू और दक्षिण अफ्रीका की सरकार का समझौता होगया, यह लड़ाई रुक गई। यद्यपि हिन्दुस्तानियों की उस समय यह एक असंदिग्ध विजय थी, फिर भी कितनी ही बन्दिशें हिन्दुस्तानियों पर अभीतक लगी हुई हैं और कहते हैं कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने समझौते की शर्तों का पूरा-पूरा पालन नहीं किया। प्रवासी भारतीयों का सवाल अभीतक हल नहीं हुआ, और जबतक हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो जाता, तबतक हल होगा भी नहीं। भला हिन्दुस्तानियों को दूसरे देशों में इज्जत कैसे मिल सकती है, जबकि अपने ही देश में उन्हें वह हासिल नहीं है? और जबतक अपने ही देश में आजादी हासिल करने में हमें कामयाबी नहीं मिलती, हम प्रवासी भारतीयों को कैसे मदद पहुँचा सकते हैं?

युद्ध से पहले के वर्षों में हिन्दुस्तान की यह हालत थी। १९११ में जब इटली ने तुर्की पर हमला किया तो हिन्दुस्तान में तुर्की के लिए बहुत हमदर्दी पैदा होगई, क्योंकि तुर्की को लोग एशियाई और पूर्वी शक्ति समझते थे और इस हैसियत से सारे हिन्दुस्तानियों की उसके साथ हमदर्दी थी। हिन्दुस्तानी मुसलमानों पर इसका ख़ास असर

पड़ा, क्योंकि ये लोग तुर्की के सुलतान को ख़लीफ़ा यानी धर्म का प्रमुख नेता मानते थे। उस जमाने में अखिल इस्लामवाद की कुछ चर्चा चली थी। इसे तुर्की के सुलतान अब्दुल-हमीद ने शुरू किया था। १९१२-१३ के बालकन युद्ध ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों में और भी ज्यादा हलचल पैदा करदी और अपने सद्भाव और मित्रता को ज़ाहिर करने के लिए डाक्टरों का एक दल, जिसे 'रेड क्रिसेंट मिशन' कहा गया है, हिन्दुस्तान से तुर्की के जख़्मी लोगों को मदद देने के लिए रवाना हुआ। हमारे सच्चे मित्र डाक्टर एम० ए० अन्सारी इस मिशन के नेता थे।

इसके बाद ही महायुद्ध शुरू हुआ और तुर्की उसमें फँसकर इंग्लैण्ड का दुश्मन बन गया। लेकिन यह चर्चा हमें युद्ध-काल तक पहुँचा देती है, इसलिए मुझे अब यहीं रुक जाना चाहिए।

: १४८ :

युद्ध : १९१४-१९१८

२१ मार्च, १९३३

मैं इस युद्ध के बारे में तुम्हें क्या लिखूँ, जिसे संसार-युद्ध या महायुद्ध कहा गया है और जो ४ वर्ष तक योरप, एशिया और अफ़रीका के कुछ हिस्सों को बरबाद करता रहा और जिसने लाखों जवानों का उठती जवानी में ही काम तमाम कर दिया। युद्ध का विषय ऐसा नहीं है कि उसपर खुशी के साथ विचार किया जा सके। यह बडी दुःखद चीज है। लेकिन अकसर इसकी तारीफ़ की जाती है और इसके गुण गाये जाते हैं। कहा जाता है कि जैसे आग सोने-चाँदी को खरा कर देती है वैसे ही युद्ध आलसी क़ौमों को, जो बहुत ज्यादा आराम और विलासिता की वजह से नाजुक और दूषित हो जाती हैं, मजबूत और खरा कर देता है। हमारे सामने बहादुरी और त्याग की बडी-बडी मिसालें पेश की जाती हैं, मानों युद्ध ही की वजह से ये सद्गुण पैदा होते हैं!

मैंने तुम्हारे साथ इस युद्ध के कुछ कारणों पर विचार किया है और बताया है कि पूँजीवादी औद्योगिक देशों की और साम्राज्य-शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता किस तरह टक्कर खागई और संघर्ष किस तरह अनिवार्य होगया। इन सारे देशों के उद्योगों के प्रमुख लोग किस तरह शोषण करने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्र और मौक़ा चाहते थे। बडे-बडे साहूकार किस तरह रुपया कमाने की फ़िक्र में थे और हथियारों के बनानेवाले किस प्रकार ज्यादा मुनाफ़ा चाहते थे। इसलिए ये लोग लड़ाई के लिए कूद पडे और इनके हुक्म पर और इनके तथा प्रतिनिधि बुजुर्ग राजनीतिज्ञों के हुक्म

पर राष्ट्रों के नौजवान एक-दूसरे का गला काटने के लिए आगे आगये। इन नौजवानों की बहुत बडी तादाद और इन सारे देशों की साधारण जनता इस बात को बिलकुल नहीं जानती थी कि युद्ध के क्या कारण हैं! असल में इस युद्ध से इनका कोई ताल्लुक़ नहीं था—चाहे सफलता होती या असफलता, हर हालत में इनका नुकसान ही था। यह अमीर आदमियों का जुआ था, जो उन्होंने लोगों की और ख़ासकर नौजवानों की जिन्दगी को दाव पर रखकर खेला था। लेकिन जबतक साधारण जनता लड़ने के लिए तैयार न हो, लड़ाई हो ही नहीं सकती। यूरोपिय महाद्वीप के सारे देशों में, जैसा कि मैंने तुमको बताया है, अनिवार्य सैनिक भरती की प्रणाली नहीं पाई जाती थी। इस क़िस्म की भरती तो बाद को लड़ाई के ज़माने में शुरू हुई। लेकिन जबरदस्ती से क्या होता है? ऐसी हालत में अगर लोग दिल से लड़ने को तैयार न हों तो उन्हें कोई जबरदस्ती नहीं लड़वा सकता।

इसलिए जितने राष्ट्र लड़ाई में शामिल हुए थे, सभी में इस बात की कोशिश की गई कि जनता के देश-प्रेम और उत्साह को भड़काया जाय। हरेक पक्ष दूसरे पक्ष को ज़ालिम कहता था और इस बात का बहाना करता था कि हम आत्म-रक्षा के लिए युद्ध कर रहे हैं। जर्मनी कहता था कि उसके चारों तरफ़ दुश्मनों की जंजीर बिछी हुई है और ये दुश्मन उसका गला घोंट देना चाहते हैं। वह रूस और फ़्रांस पर इस बात का इलज़ाम लगाता था कि इन्होंने उसके ऊपर हमला करके लड़ाई की शुरुआत करदी। इंग्लैण्ड यह वजह बताता था कि नन्हे-से बेलजियम की तटस्थता को जर्मनी वालों ने अन्यायपूर्वक तोड़ डाला, इसलिए नीति की दृष्टि से बेलजियम की रक्षा होनी चाहिए। सारे देश, जो इस लड़ाई में शामिल थे, अपनेको दूध का धुला बतलाते थे और सारा दोष दुश्मन के ऊपर डालते थे। हरेक राष्ट्र के लोगों को इस बात का यक़ीन दिला दिया गया था कि उनकी आजादी ख़तरे में है और उसकी रक्षा के लिए उन्हें युद्ध करना जरूरी है। हर जगह युद्ध का वातावरण पैदा करने में अख़बारों ने ख़ासतौर से मदद दी, जिसका मतलब यह हुआ कि शत्रु देश के रहने-वालों के बारे में लोगों के दिलों में सख़्त नफ़रत पैदा करदी।

पागलपन की यह लहर इतनी मजबूत थी कि जो चीज इसके सामने पडी वही बह गई। जनता के रोष को भीड़ के अन्दर उत्तेजित कर देना आसान काम था, लेकिन समझने-बूझनेवाले आदमी, स्त्री और पुरुष, जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि शान्त और गम्भीर मिजाज के थे, युद्ध में फँसे हुए देशों के लेखक, विचारक, प्रोफ़ेसर, वैज्ञानिक, सभी चक्कर में फँस गये और दुश्मन-देश के निवासियों से नफ़रत करने लगे और उनके ख़ून के प्यासे होगये। पादरी लोग और मजहबी

आदमी, जो शान्त लोग समझे जाते हैं, औरों की तरह ही खून के प्यासे थे, बल्कि उन लोगों से भी ज्यादा। शान्तिवादी और साम्यवादी भी अपनी बुद्धि खो बैठे और अपने उसूल भूल गये। सभी भूल गये, लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो नहीं भूले। हरेक देश में बहुत छोटी तादाद ऐसे आदमियों की भी थी जिन्होंने पागल बनने से इन्कार कर दिया और युद्ध का बुखार अपने ऊपर चढ़ने नहीं दिया। लोग इनपर हँसते थे और इनको बुज़-दिल कहते थे; और बहुतसे तो ऐसे थे जिन्हें जेलखाने भेज दिया गया, क्योंकि उन्होंने लड़ाई में काम करने से इनकार कर दिया था। इनमें से कुछ साम्यवादी थे, और कुछ मजहबी लोग थे, जैसे क्वेकर लोग जो लड़ाई को धार्मिक दृष्टि से बुरा समझते हैं। यह सच कहा गया है कि आजकल जब लड़ाई छिड़ती है, तो उसमें फँसे हुए आदमी पागल हो जाते हैं।

ज्यों ही लड़ाई शुरू हुई, अनेक देशों की सरकारों ने सचाई छिपाने के लिए और तरह-तरह की झूठी बातें फैलाने के लिए लड़ाई को बहाना बना लिया। लोगों की व्यक्तिगत आजादी भी दबा दी गई। दूसरी तरफ़ की बात तो बिलकुल ही नहीं बताई जाती थी, जिससे लोगों को सिर्फ़ किस्से का एक ही पहलू मालूम होता था और वह भी बहुत-कुछ बिगाड़कर बताया जाता था और अकसर तो बिलकुल झूठी बातें कही जाती थीं। इस तरीक़े से लोगों को बेवकूफ़ बनाना मुश्किल नहीं था।

शान्ति के जमाने में भी संकीर्ण राष्ट्रीय प्रचार और अख़बारों की मन-गढ़न्त बातें जनता को बेवकूफ़ बनाती रही थीं और उन्होंने लड़ाई के लिए जमीन तैयार कर-दी थी। युद्ध को खुद ही बडी आराधना की चीज बताया गया था। जर्मनी में, या यों कहो प्रशा में, युद्ध की तारीफ़ करना क़ैसर से लेकर नीचे तक जितने शासक थे उन सभी का परम-कर्तव्य बन गया था। युद्ध को उचित साबित करने के लिए विद्वत्तापूर्ण किताबें लिखी गई थीं और इस बात को साबित किया गया था कि युद्ध इनसान की जिन्दगी और तरक़्क़ी के लिए जरूरी है। क़ैसर की बहुत शोहरत होगई, क्योंकि वह हमेशा भोंडे तरीके से शेखी बघारा करता था। लेकिन इंग्लैण्ड में और दूसरे देशों में भी सैनिक और ऊँचे वर्ग के लोगों में इसी क़िस्म के ख़याल पाये जाते थे। रस्किन इंग्लैण्ड का उन्नीसवीं सदी का एक मशहूर लेखक हुआ है। उसकी किताबें बापू को बहुत पसन्द हैं और उसकी कुछ किताबें तुमने भी पढ़ी होंगी। असंदिग्ध रूप से शुद्ध हृदय के इस आदमी ने अपनी एक किताब में लिखा है :—

> "संक्षेप में बात यह है कि मैं देखता हूँ, सब बड़ी-बड़ी क़ौमों ने अपने शब्दों की सचाई और अपने विचारों की मजबूती युद्ध से सीखी और शान्ति में उसे खो दिया। युद्ध ने शिक्षा दी, शान्ति ने धोखा दिया। एक शब्द में यह कह सकते हैं कि बड़ी-बड़ी क़ौमें युद्ध से पैदा होती हैं और शान्ति में मर जाती हैं।"

इस वात को वताने के लिए कि रस्किन कितना साफ़ साम्राज्यवादी था, उसकी किताव से मैं एक दूसरा उद्धरण तुम्हारे सामने रक्खूंगा :—

"इंग्लैण्ड को यही वात करनी चाहिए, नहीं तो वह नष्ट होजायगा। उसे उपनिवेश वनाना चाहिए और जहाँ कहीं भी उसे ज़मीन का ऐसा वीरान हिस्सा मिले, जिसमें उपज हो सकती है, उसपर क़ब्ज़ा कर लेना चाहिए और उसे अपने उपनिवेशियों को यह वताना चाहिए कि समुद्री या खुश्की किसी ज़रिये से इंग्लैण्ड की ताक़त को वढ़ाना उनका पहला उद्देश्य है "

मैं एक दूसरा उद्धरण और देता हूँ। यह एक अंग्रेज़ अफ़सर की किताव से लिया गया है, जो ब्रिटिश सेना में मेजर जनरल होगया था। वह कहता है कि युद्ध में विजय उस वक्त तक विलकुल नामुमकिन है जवतक कि "जानवूझकर झूट न वोला जाय, झुठाई के काम न किये जायें और वातों को गोलमोल ढंग से और घुमा-फिराकर न वताया जाय।" उसके कथनानुसार कोई भी नागरिक, जो "इन साधनों पर अमल करने से इनकार करता है, अपने साथियों, अपने मातहतों और अपने देश के प्रति जान-वूझकर दग़ा करता है और इसके अलावा उसके लिए कुछ और नहीं कह सकते कि वह अत्यन्त घृणा-योग्य और वुज़दिल है। वडी क़ौमों के सामनें नीति-अनीति क्या चीज़ है, जवकि उनकी ज़िन्दगी ख़तरे में पडी हो ? हरेक क़ौम को चाहिए कि जवतक दुश्मन मर न जाय।" वह आघात पर आघात करती रहे, मुझे मालूम नहीं कि इन सव वातों के वारे में रस्किन क्या कहता। लेकिन यह न समझना कि यह अंग्रेज़ी मन का कोई ठीक नमूना है, या यह कि क़ैसर की लम्बी-चौडी स्पीचें साधारण जर्मनी की मनोदशा ज़ाहिर करती थीं। लेकिन वदक़िस्मती की वात तो यह है कि जो इस क़िस्म का विचार रखते हैं, अकसर उन्हीं के हाथ में अधिकार होता है और लड़ाई के ज़माने में वही आदमी सामने आजाते हैं।

आम तौर पर ऐसी साफ़-साफ़ वातें जनता के सामने नहीं कही जातीं और युद्ध के ऊपर एक मज़हवी गिलाफ़ चढ़ा दिया जाता है। इसलिए जव एक तरफ़ योरप में और दूसरी जगहों पर सैकडों मील तक युद्ध के मोरचे में वेतहाशा क़त्ल जारी था, उस क़त्ल को उचित सावित करने के लिए और लोगों को धोखे में रखने के लिए घर पर वडे सुन्दर और मधुर वाक्य वनाये जा रहे थे। कहा जाता था कि यह युद्ध आत्म-सम्मान और आज़ादी की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है; युद्ध ख़त्म करने के लिए यह लड़ा जा रहा है; और लोकतंत्र को सुरक्षित रखने के लिए, आत्मनिर्णय के लिए, छोटी क़ौमों कीआज़ादी के लिए यह लड़ाई लडी जा रही है। इसी दरमियान वहुत-से साहूकार और व्यवसायी और युद्ध-सामग्री वनानेवाले, जो घर पर वैठे रहते थे और इन नफ़ीस

जुमलों को देशभक्ति के साथ इस्तेमाल करके नौजवान आदमियों को लड़ाई की भट्टी में कूदने के लिए प्रेरित करते थे, बेहद मुनाफ़ा कमा रहे थे और करोड़पति होते जाते थे।

ज्यों-ज्यों लड़ाई महीने-पर-महीने और साल-पर-साल बढ़ती गई, और-और देश इसके अन्दर फँसते गये। गुप्त रूप से रिश्वतें पेश करके तटस्थ देशों को अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश दोनों ही तरफ़ के लोग करते थे। अगर ये रिश्वतें खुल्लम-खुल्ला पेश की गई होतीं तो वे ऊँचे आदर्श और नफ़ीस जुमले, जिनको मकान की छतों पर से चिल्लाया जाता था, ख़त्म होगये होते। इंग्लैण्ड और फ़ान्स की रिश्वत देने की ताक़त जर्मनी से ज्यादा थी, इसलिए तटस्थ, लोग जो लड़ाई में शामिल हुए। ज्यादातर अंग्रेज, फ़ान्सीसी और रूसियों की तरफ़ आये। जर्मनी के पुराने मददगार इटली को मित्र-राष्ट्रों ने, एक गुप्त सन्धि करके और उसमें यह वादा करके कि इटली को एशियामाइनर में और दूसरी जगहों पर उपनिवेश दिये जायँगे, अपनी तरफ़ मिला लिया। रूस के साथ भी एक गुप्त सन्धि हुई थी, जिसमें उसे कुस्तुनतुनिया देने का वादा किया गया था। दुनिया को आपस में बाँटने का यह काम बहुत ही रोचक और दिलचस्प था। ये गुप्त समझौते मित्र-राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के सार्वजनिक वक्तव्यों के बिलकुल ख़िलाफ़ जाते थे और शायद इन समझौतों के बारे में किसीको पता भी न चलता, अगर रूसी बोलशेविकों ने अधिकार पाने पर इनको प्रकाशित न कर दिया होता।

अख़ीर में मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ एक दर्जन या इससे ज्यादा देश आगये थे। संक्षेप के लिए मैं अंग्रेज-फ़्रांसीसी पक्ष को मित्र-पक्ष कहूँगा। मित्र-पक्ष में ब्रिटेन था, उसका साम्राज्य था और इसके अलावा फ़्रांस, रूस, इटली, अमेरिका, बेलजियम, सर्बिया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल थे। मुमकिन है कि एक या दो और रहे हों, जिनका नाम मुझे याद नहीं। जर्मन-पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगेरिया थे। अमेरिका तीसरे वर्ष लड़ाई में शामिल हुआ। अगर हम इन बातों का खयाल न भी करें तो भी जाहिर है कि मित्र-पक्ष के साधन जर्मन पक्ष से कहीं ज्यादा थे। इसके पास आदमी ज्यादा थे, पैसे ज्यादा थे, अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री बनाने के कारख़ाने ज्यादा थे, और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि समुद्रों के ऊपर इन लोगों का अधिकार था जिसकी वजह से तटस्थ देशों की सामग्री से ये आसानी के साथ फ़ायदा उठा सकते थे। मित्र-पक्ष अमेरिका से युद्ध-सामग्री और खाने-पीने का सामान ले सकता था और पैसा भी उधार ले सकता था, क्योंकि समुद्र की ताक़त उसके हाथ में थी। जर्मनी और उसके मित्र चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे और जकड़े हुए थे। जर्मनी के सहायक देश कमजोर थे और उसकी ज्यादा मदद नहीं कर

सकते थे। वे जर्मनी के ऊपर एक़ तरह का बोझ थे, जिसको खड़ा रखने के लिए उसे हमेशा टेका और सहारा लगाना पड़ता था। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से जर्मनी दुनिया के अधिकांश हिस्से से अकेला लड़ रहा था। हरेक दृष्टि से यह संघर्ष बहुत ज्यादा असमान कहा जा सकता है, फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुकाबिले में डटा रहा और विजय के नजदीक बराबर पहुँचता रहता था। हर साल विजय कभी इधर और कभी उधर आती हुई दिखाई देती थी। एक अकेले राष्ट्र की यह कोशिश आश्चर्यजनक थी, और सिर्फ़ इसलिए मुमकिन हो सकी कि जर्मनी ने शानदार सैनिक मशीन तैयार कर रक्खी थी। अख़ीर में जब जर्मनी और उसके साथी अन्तिम रूप से पराजित हो चुके थे, जर्मन सेना उस समय भी संगठित थी और उसका अधिकांश हिस्सा विदेशी ज़मीन पर था।

मित्र-पक्ष में लड़ाई का सबसे ज्यादा बोझ फ्रांसीसी सेना पर पड़ा और फ्रांसीसी लोगों ने ही लाखों नौजवानों की जिन्दगी खोकर जर्मन सैनिक मशीन का मुक़ाबिला किया। इंग्लैण्ड को बड़ी सहायता इस बात की थी कि उसके पास जल-सेना थी और सामुद्रिक शक्ति थी। कूटनीतिज्ञता और प्रचार में भी उसने मदद दी। जर्मनी को अपनी सेना पर अभिमान था और वह तटस्थ देशों से व्यवहार करने में और प्रचार के तरीक़ों में बहुत ही ज्यादा अनगढ़ साबित हुआ। इसमें ज़रा भी शक नहीं कि लड़ाई के ज़माने में इंग्लैंड ने ग़लत बातों के प्रचार की कुशलता और क़ाबलियत तथा झुठाई में दुनिया को मात कर दिया। रूस, इटली और दूसरे सहायक देशों ने इसके मुक़ाबिले में बहुत मामूली हिस्सा लिया और लड़ाई के मामलात में उनके कारनामें बहुत उल्लेखनीय नहीं रहे। फिर भी रूस को सारे देशों से ज्यादा नुक़सान हुआ। अमेरिका अन्त में लड़ाई में शामिल हुआ और उसके आने की वजह से ही जर्मन लोग अन्तिम तौर पर पस्त होगये।

लड़ाई के शुरू महीनों में अमेरिका और इंग्लैण्ड में बहुत खिचाव था, और इस बात का कभी-कभी ज़िक्र होजाता था कि इनमें लड़ाई होजायगी। खिचाव की वजह यह थी कि इंग्लैण्ड अमेरिका के सामुद्रिक व्यापार में दस्तन्दाज़ी करता था, क्योंकि उसे शक था कि अमेरिका के जहाज़ जर्मनी को माल पहुँचाते हैं। इसपर ब्रिटिश प्रचार-विभाग ने काम करना शुरू किया और अमेरिका को अपनी तरफ़ मिला लेने की खास कोशिश की। पहली बात जो इन लोगों ने हाथ में ली, वह जर्मनों के अत्याचारों के बारे में प्रचार था। जर्मन सेना ने बेलजियम में क्या किया, इसकी भयंकर कहानियाँ बना-बनाकर फैलाई गईं। इसका नाम रक्खा गया था जर्मन हूणों क़ी भीषणता। इन क़िस्सों में कुछ ऐसे भी थे जो अंशतः घटनाओं पर निर्भर थे, जैसे

लूवेन की यूनिर्वासिटी और पुस्तकालय की तबाही। लेकिन ज्यादातर ये क़िस्से बिलकुल मनगढ़न्त हुआ करते थे। एक आश्चर्यजनक क़िस्सा यह कहा जाता था कि जर्मन लोगों ने लाशों का एक कारख़ाना खोल रक्खा है। दुश्मन देशों की जनता के प्रति हरेक देश में इतनी घृणा थी कि वह सब बातों पर यक़ीन करने को तैयार था।

तुम्हें ब्रिटिश प्रचार के विस्तार और पैमाने का कुछ अन्दाजा इस बात से लग सकता है कि अमेरिका में ब्रिटिश वार मिशन यानी युद्ध-प्रचार-विभाग में ५०० अफ़सर और दस हजार आदमी काम करते थे। यह तो सरकारी इन्तजाम था। इसके अलावा ग़ैर-सरकारी काम बेहद होता था। इस प्रचार-कार्य के लिए उचित और अनुचित सब क़िस्म के तरीक़े काम में लाये जाते थे। स्वीडन के स्टाकहाल्म में अंग्रेजों ने सरकारी तौर पर एक अंग्रेज संगीतालय खोल रक्खा था, जिसमें ये लोग लोगों का तरह-तरह से मनोरजंन कराया करते थे, ताकि स्वीडन के बाशिन्दों की सद्भावना इनकी तरफ़ होजाय। इस प्रचार ने और जर्मनों की पनडुब्बी की कार्रवाइयों ने, जिसके बारे में मैं बाद को कुछ बताऊँगा, अमेरिका को मित्र-दल के पक्ष में आने में बडी मदद दी। लेकिन तसफ़िया करनेवाली बात तो पैसे की थी।

लड़ाई बडी ख़र्चीली चीज है। यह भयंकर रूप से ख़र्चीला व्यापार है। लड़ाई में बहुमूल्य सामान की विशाल मात्रा लग जाती है और उसके बदले सिर्फ़ बरबादी मिलती है। दौलत पैदा करने के ज्यादातर काम इसकी वजह से रुक जाते हैं और लोगों की सारी ताक़त तबाही और बरबादी के लिए जमा होजाती है। इतना सारा धन कहाँसे आता था? पहली बात तो यह है कि मित्र-पक्ष में इंग्लैण्ड और फ्रांस ही ऐसे देश थे जिनकी माली हालत अच्छी कही जा सकती थी। यही नहीं कि ये अपनी लड़ाई का सारा ख़र्चा बरदाश्त करते रहे हों बल्कि अपने मददगारों को भी धन और युद्ध-सामग्री उधार देकर उनकी मदद करते थे। कुछ दिनों के बाद पेरिस बोल गया। उसके आर्थिक साधन ख़त्म होगये। इसके बाद लन्दन ने अकेले सारे मित्र-पक्ष को धन से मदद देनी शुरू की। लड़ाई के दूसरे साल के खत्म होने तक लन्दन भी बोल गया। इसलिए १९१६ के अन्त में फ़्रांस और इंग्लैण्ड दोनों की साख ख़त्म हो चुकी थी। इसपर अंग्रेजों की एक मण्डली, जिसमें उनके बडे-बडे राजनीतिज्ञ शामिल थे, आर्थिक सहायता माँगने के लिए अमेरिका गई। अमेरिका उधार देने के लिए राजी होगया और उसके बाद से अमेरिका के पैसे से मित्र-पक्ष की लड़ाई जारी रही। मित्र-पक्ष के ऊपर अमेरिका का क़र्जा दिन दूना और रात चौगुना होने लगा और बढ़कर विस्मय-जनक संख्या तक पहुँच गया। ज्यों-ज्यों कर्ज बढ़ा, अमेरिका के बडे-बडे बैंक और साहूकार, जिन्होंने उधार दिया था, मित्र-पक्ष की विजय के लिए अधिकाधिक उत्सुक

होते गये। उन्होंने सोचा कि अगर जर्मनी ने मित्र-पक्ष को हरा दिया तो वह बेशुमार रक़म कैसे मिलेगी जिसे अमेरिका ने मित्र-पक्ष को उधार दे रक्खा है ? अमेरिका के महाजनों की जेब पर आ बनी और उन्होंने ऐसी हालत में जो मुनासिब समझा किया। इस बात का ख़याल अमेरिका में बढ़ने लगा कि वह लड़ाई में मित्र-पक्ष का साथ दे और अन्त में अमेरिका ने साथ दिया।

आजकल हम अमेरिकन क़र्ज़ के बारे में बहुत-कुछ सुनते हैं और अख़बारों में भी इसकी ख़ूब चर्चा रहती है। यह क़र्ज़, जो इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की गर्दन में चक्की की तरह लटका हुआ है और जिसे ये अब अदा नहीं कर सकते, लड़ाई के ज़माने में लिया गया था। अगर यह रुपया उस वक्त न मिला होता तो इनकी साख बिलकुल जाती रहती और शायद अमेरिका इनका साथ भी न देता।

मैं अब यहाँ ठहर जाऊँगा। अगले ख़त में मैं तुम्हें यह बतलाऊँगा कि लड़ाई के दौरान में क्या हुआ और लड़ाई कैसे ख़त्म हुई।

: १४६ :

महायुद्ध की गति

१ अप्रैल, १९३३

जब अगस्त १९१४ के शुरू में लड़ाई आरम्भ हुई, सारी दुनिया फ़्रांस की उत्तरी सरहद और बेलजियम की तरफ देखने लगी। जर्मन फ़ौजें आगे बढ़ती जाती थीं और उनके रास्ते में जितनी रुकावटें पड़तीं उन सबको कुचलती जाती थीं। थोडी देर के लिए नन्हे-से बेलजियम ने इन्हें रोका, इसपर नाराज़ होकर इन लोगों ने आतंक पैदा करनेवाली हरकतों से बेलजियन लोगों को डराना चाहा। मित्र-पक्ष ने इन्हीं बातों के आधार पर अत्याचार की कहानियाँ बनाई थीं। जर्मन फ़ौजें पेरिस की तरफ़ बढ़ीं; फ़्रांस की सेना इनके सामने ठहर न सकी और छोटी-सी ब्रिटिश सेना हटाकर एक तरफ़ करदी गई। लड़ाई शुरू होने के एक महीने के अन्दर ही ऐसा मालूम होता था कि पेरिस की क़िस्मत का फ़ैसला होगया। फ़्रांसीसी सरकार अपने दफ्तरों और अपनी क़ीमती चीज़ों को दक्षिण में बोर्डियो को ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनों ने समझा कि हमने लड़ाई जीत ली। अगस्त के अख़ीर में पश्चिमी मोर्चे यानी फ़्रांसीसी मोर्चे पर यह हालत थी।

इसी बीच रूसी फौजें पूर्वी प्रशा पर हमला कर रही थीं। इस बात की कोशिश की गई कि जर्मनों का ध्यान पश्चिमी मोर्चे से हट जाय। फ़्रांस और इंग्लैण्ड में रूसी

स्टीमरोलर (भाप से चलनेवाला बड़ा बेलनदार इंजिन) के ऊपर बहुत आशायें बाँधी गई थीं। यह कहा जाता था कि यह बेलन बेलते-बेलते बर्लिन पहुँचेगा। रूसी सिपाहियों के पास काफ़ी अस्त्रशस्त्र नहीं थे और उनके अफ़सर बिलकुल नालायक़ थे, और उनके पीछे जार की बेईमान सरकार थी। एकाएक जर्मन लोग रूसियों पर टूट पड़े और एक बहुत बडी रूसी सेना को पूर्वी प्रशा की झीलों और दलदलों में फँसाकर बरबाद कर दिया। इस बडी जर्मन विजय को 'टैननबर्ग की लड़ाई' कहते हैं; और इस विजय के साथ जिस ख़ास सेनापति का नाम जुड़ गया है वह वान हिण्डनबर्ग[1] था, जो आजकल जर्मन लोकतंत्र का राष्ट्रपति है।

यह बडी भारी विजय जरूर थी, लेकिन एक तरह से जर्मन फौजों का इससे बड़ा नुक़सान हुआ। इस विजय को प्राप्त करने के लिए और इस बात से डरकर कि रूसी लोग पूर्व में कुछ बढ़ रहे हैं, जर्मनों ने अपनी कुछ फौज फ्रांस से हटाकर रूस की तरफ़ भेज दी। इसकी वजह से पश्चिमी मोर्चे पर उनका जोर कुछ कम होगया और फ्रांसीसी फ़ौज ने आगे बढ़नेवाले जर्मनों को पीछे हटा देने की जबरदस्त कोशिश की। सितम्बर १९१४ के शुरू में मार्न (Marne) की लड़ाई में उन्होंने जर्मनों को पचास मील पीछे हटा दिया। पेरिस बच गया और फ्रांसीसियों और अंग्रेजों को साँस लेने का मौक़ा मिल गया।

जर्मनों ने फिर आगे बढ़ने की कोशिश की और वे क़रीब-क़रीब कामयाब हो चुके थे, लेकिन फिर रोक लिये गये। इसके बाद दोनों फ़ौजें अपनी-अपनी जगह पर डट गई और खन्दक खोदकर नये किस्म की लड़ाई (Trench warfaae) शुरू हुई। एक क़िस्म की जिच-सी होगई थी। यह खन्दकी लड़ाई पश्चिमी मोर्चे पर तीन वर्ष से ज्यादा तक और क़रीब-क़रीब लड़ाई के ख़त्म होने तक जारी रही। बडी-बडी फ़ौजें छछूँदर की तरह जमीन में बिल बनाकर रहती थीं और एक-दूसरे को बेदम करने की कोशिश करती थीं। जर्मन और फ्रांसीसी सेनायें इस मोर्चे पर शुरू से ही लाखों की तादाद में रहीं,—और अंग्रेजों की भी छोटी-मोटी फ़ौज इस मोर्चे पर तेजी से तादाद में बढ़ती गई—यहाँतक कि इसकी भी तादाद लाखों तक पहुँच गई।

पूर्व के या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल रही। रूसी फ़ौजें आस्ट्रियन लोगों को बार-बार शिकस्त देती थीं, लेकिन जर्मनों से हमेशा हार जाया करती थीं। इस मोर्चे पर मरने और जख्मी होनेवालों की तादाद बहुत ही ज्यादा थी। यह न समझना कि पश्चिमी मोर्चे पर इस ख़न्दकी लड़ाई की वजह से कम आदमी काम आये। आदमियों की जिन्दगी के साथ आश्चर्यजनक लापरवाही से खेल खेला

१. अब इनकी मृत्यु हो चुकी है।

जाता था और दुश्मन के मजबूत मोर्चे पर हमला करते के लिए लाखों आदमी मौत के मुंह में जानबूझकर ढकेल दिये जाते थे और इसका कोई नतीजा नहीं निकलता था।

युद्ध के दूसरे अनेक रंगमंच भी थे। तुर्कों ने स्वेज की नहर पर हमला करना चाहा, लेकिन पीछे हटा दिये गये। मिस्र, जैसा मैंने तुम्हें पहले बताया है, १९१४ के दिसम्बर में ब्रिटिश संरक्षकता में लेलिया गया था। फ़ौरन ही ब्रिटेन ने वहाँकी नई व्यवस्थापक सभा को स्थगित कर दिया और जिन लोगों पर शक था उन्हें जेलख़ाने में भर दिया। राष्ट्रीय अख़बार दबा दिये गये और पाँच आदमी से ज्यादा एक जगह इकट्ठा नहीं हो सकते थे। मिस्र की 'सेंसर प्रणाली' को लन्दन के टाइम्स ने 'बर्बर कठोरता से भरी हुई' बताया था। इस देश में सारी लड़ाई भर फ़ौजी क़ानून जारी रहा।

ब्रिटेन ने तुर्की के जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य के कई कमजोर हिस्सों पर हमला किया। पहले इराक़ पर और फिर फिलस्तीन और सीरिया पर। अरबस्तान में अंग्रेज़ों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना से फ़ायदा उठाया और धन और सामग्री की गहरी रिश्वत की मदद से तुर्की के ख़िलाफ़ अरबों में बग़ावत पैदा करदी। इस बग़ावत की जिम्मेदारी ख़ासतौर से अरबस्तान में अंग्रेज़ों के एक प्रतिनिधि कर्नल टी० ई० लारेंस की थी। उस वक्त से इसके बारे में यह मशहूर होगया है कि यह एक रहस्यपूर्ण यानी भेदों से भरा हुआ व्यक्ति है और एशिया के कितने ही आन्दोलनों के पीछे इसकी साज़िश है।

लेकिन तुर्की के मर्मस्थल पर सीधा हमला १९१५ की फरवरी में शुरू हुआ, जबकि ब्रिटिश जल-सेना ने दर्रे दानियाल में घुसकर कुस्तुनतुनिया पर क़ब्ज़ा करना चाहा। अगर इस बात में ये लोग कामयाब होगये होते, तो इन्होंने लड़ाई में तुर्की का ख़ात्मा ही नहीं कर दिया होता बल्कि पश्चिमी एशिया से जर्मन लोगों का असर भी ख़त्म कर देते। लेकिन ये नाकामयाब रहे। तुर्की ने बहादुरी से लड़ाई की और एक दिलचस्पी की क़ाबिले ग़ौर बात यह है कि इस लड़ाई में मुस्तफ़ा कमालपाशा का बहुत बड़ा हाथ रहा। क़रीब सालभर तक अंग्रेज़ों ने गैलीपोली में यह कोशिश जारी रक्खी। बाद को बहुत नुक़सान उठाकर ये वहाँसे हट गये।

पश्चिमी और पूर्वी अफ़रीका के जर्मन-उपनिवेशों पर भी मित्र-पक्ष ने हमला किया। ये उपनिवेश जर्मनी से बिलकुल अलग थे और इनको कोई मदद नहीं मिल सकती थी। धीरे-धीरे ये पस्त होगये। चीन में कियानचाव के प्रदेश पर, जिसे जर्मनी ने चीन से हड़प लिया था, जापान ने आसानी से क़ब्ज़ा कर लिया। जापान के सामने कोई रुकावट नहीं थी और सुदूर-पूर्व में कुछ लड़ाई का साज-बाज भी नहीं था। इस-

लिए उसने चीन को डरा-धमका कर तरह-तरह की फायदेमन्द रिआयतों और अधिकारों को हासिल करने में अपना वक़्त लगाया।

इटली ने कई महीने तक लड़ाई की गति देखी और यह समझने की कोशिश की कि कौन पक्ष जीतेगा। अख़ीर में उसने यह निश्चय किया कि जीतने की ज्यादा सम्भावना मित्र पक्ष की है। इसलिए उसने मित्र पक्ष की रिश्वतों को मंजूर कर लिया और एक गुप्त समझौता होगया। मई १९१५ में इटली बाक़ायदा लड़ाई में, मित्र-पक्ष में, शामिल होगया। दो वर्ष तक इटैलियन और आस्ट्रियन एक दूसरे के सामने डॅटे रहे और कोई नतीजा न निकला। इसके बाद जर्मन लोग आस्ट्रियनों की मदद के लिए आ गये और इटैलियन इनके सामने पस्त हो गये। जर्मन और आस्ट्रियन मिलकर क़रीब-क़रीब वेनिस तक पहुँच गये।

अक्तूबर १९१५ में बलगेरिया जर्मनी से मिल गया। इसीके बाद ही आस्ट्रिया और जर्मनी की संयुक्त सेना ने बलगेरिया की मदद से सर्विया को बिलकुल पस्त कर दिया। सर्विया का राजा अपनी बची-खुची फ़ौज लेकर अपने देश से भागकर मित्र-पक्ष के जहाजों में जा छिपा और सर्विया जर्मनों के क़ब्ज़े में आगया।

रूमानिया ने बालकन की लड़ाई में जो रुख़ इख़्तियार किया था उससे उसकी यह ख़ास शोहरत हो गई थी कि वह हमेशा मौक़े से फ़ायदा उठाने के घात में रहता है। दो वर्ष तक उसने महायुद्ध की गति देखी और आख़िरकार अगस्त १९१६ में, यह मित्र-दल की तरफ़ आ गया। इसे बहुत जल्द ही इस काम की सजा मिल गई। जर्मन फ़ौज इसके ऊपर टूट पडी और इसको दबोच लिया। रूमानिया भी आस्ट्रिया और जर्मनी की मातहती में आ गया।

इस तरह जर्मनी और आस्ट्रिया ने,-जिन्हें मध्य यूरोपियन ताक़तों के नाम से पुकारा जा रहा था, बेलजियम पर, उत्तर पूर्व में फ्रांस के एक हिस्से पर, पोलैण्ड, सर्विया और रूमानिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। युद्ध के अनेक रंगमंचों पर भी इनकी विजय हुई थी। लेकिन लड़ाई का केन्द्र पश्चिमी मोर्चे और समुद्र पर था, और इन जगहों पर इनकी स्थिति में कोई प्रगति नहीं हो रही थी। इस मोर्चे पर प्रतिद्वन्द्वी फ़ौजें मृत्यु की गोद में खेल रही थीं यानी मरने-मारने के लिए गुथीं पडी थीं। समुद्र पर मित्र-पक्ष हावी था। लड़ाई की शुरूआत में कुछ जर्मन क्रूज़र इधर-उधर फिरे थे और इन्होंने मित्र-पक्ष के जहाजों की आमद-रफ़्त में दख़ल भी दिया था। इनमें से एक मशहूर 'एमडन' भी था जिसने मदरास पर भी गोले बरसाये थे, लेकिन यह एक छोटी-सी बात थी। मित्रपक्ष समुद्री रास्तों पर हावी था, और इस घटना की वजह से उनकी इस स्थिति में कोई फ़र्क नहीं आया। समुद्र पर क़ब्ज़ा रखने की वजह से

मित्रपक्ष ने इस बात की कोशिश की कि मध्य-यूरोपीय शक्तियों को यानी जर्मन, आस्ट्रिया वग़ैरा को बाहरी दुनिया से खाने-पीने की सामग्री या दूसरी चीज़ें बिलकुल न मिलें। इस रोक-थाम की वजह से जर्मनी और आस्ट्रिया के ऊपर बड़ा भयंकर संकट आ पड़ा क्योंकि भोजन के पदार्थ मुश्किल से मिलने लगे और सारी आबादी भूखों मरने लगी।

इसके जवाब में जर्मनों ने पनडुब्बियों (सबमेरीनों) के ज़रिये से मित्रपक्ष के जहाज़ों को डुबोना शुरू किया। यह पनडुब्बी की लड़ाई इतनी कामयाब रही कि इंग्लैण्ड में भी भोजन की चीज़ें बहुत कम पहुँचने लगीं और अकाल पड़ने का ख़तरा होगया। १९१५ के मई के महीने में एक जर्मन-पनडुब्बी ने लुसीटानिया नाम के एक एटलांटिक महासागर में चलने वाले विशाल अंग्रेज़ी जहाज़ को डुबा दिया। बहुत से आदमी इसीमें डूब गये। बहुत से अमेरिकन भी इसमें डूबे और इसकी वजह से अमेरिका में बहुत नाराज़ी और गुस्सा पैदा हो गया।

जर्मनी ने इंग्लैण्ड के ऊपर हवाई जहाज़ से भी हमला किया। चांदनी रात में बड़े-बड़े ज़ेपलिन हवाई जहाज़ लन्दन के ऊपर और उन जगहों पर, जहां गोले-बारूद बनते थे, बम फेंकने आते थे। इसके बाद सामान्य हवाई जहाज़ों ने बम फेंकना शुरू किया। हवाई जहाज़ की भन्नाहट का सुना जाना, हवाई जहाज़ों पर गोला मारने वाली तोपों का दगना और लोगों का तहख़ानों में अपने बचाव के लिए भागकर घुसना लन्दन के लिए मामूली बात हो गई। शहरी (Civil) जनता पर इस तरह गोला बरसाने के कारण अंग्रेज़ों में बहुत रोष पैदा हुआ और उनका यह रोष सही था, क्योंकि इस क़िस्म की गोलाबारी बड़ी भयंकर चीज़ होती है। लेकिन जब अंग्रेज़ी हवाई जहाज़ हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम की सरहद पर या इराक़ में बम फेंकते हैं या उस शैतानी ईजाद को, जिसे देर से फूटने वाला बम कहते हैं, गिराते हैं, तो ब्रिटेन में ज़रा भी रोष पैदा नहीं होता। इसे ये लोग पुलिस का काम कहते हैं और शान्ति के ज़माने में भी अकसर इसका प्रयोग करते रहते हैं।

इस तरह महीने-पर-महीने बीतते गये और लड़ाई चलती रही, और जिस तरह से जंगल की आग टिड्डियों को भस्म करती है उसी तरह यह मनुष्यों का भस्म करती रही, और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये यह अधिक विनाशकारी और बर्बर होती गई। जर्मन लोगों ने ज़हरीली गैस से लड़ना शुरू किया और बहुत जल्द दोनों तरफ़ से ज़हरीली गैस इस्तेमाल होने लगी। बम फेंकने के लिए हवाई जहाज़ों का ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल होने लगा। और इसके बाद पहले-पहल अंग्रेज़ों ने टैंक[1] का इस्तेमाल

१. टैंक—लोहे की चादरों से ढकी, सब फौजी सामान से भरी मोटरगाड़ी जिसमें

शुरू किया। टैंक बहुत बड़ी भयंकर मशीन होती है जो हर एक चीज पर रेंग सकती है। मोर्चों पर लाखों आदमी काम आये, और इनके पीछे देश के अन्दर औरतें और बच्चे भूख और दरिद्रता की यातना में पिस गये। जर्मनी और आस्ट्रिया में खास तौर से, नाकेबन्दी की वजह से, लोग बुरी तरह भूखों मरने लगे। सहनशीलता की परीक्षा शुरू होगई। इस मुसीबतों की परीक्षा में कौन पक्ष ज्यादा दिन तक क़ायम रह सकेगा, यही सवाल सामने आ गया। कौन सेना दूसरे को पहले थका देती है, क्या मित्र-पक्ष की नाकेबन्दी की वजह से जर्मन लोगों की हिम्मत टूट जायगी, क्या जर्मन पनडुब्बियों की कारगुजारियों से इंग्लैण्ड भूखों मरने लगेगा और उसका साहस और जीवट खतम हो जायगा? हरेक देश में मुसीबत और बलिदान के बड़े-बड़े उदाहरण दिखाई पड़े। लोग सोचने लगे कि क्या यह सारा भयंकर त्याग और कष्ट फिजूल जायगा? क्या हम उन लोगों के बलिदान को भूल जायें जो मर गये और दुश्मन के सामने सर झुका दें? युद्ध के पहले के दिन बहुत दूर मालूम होने लगे; लड़ाई के कारण भी लोग भूल गये, सिर्फ़ एक चीज पुरुषों और स्त्रियों के दिमाग़ में रह गई थी—विजय और बदला लेने की ख्वाहिश।

प्रसिद्ध फ्रेंच कवि एदमाँ रोस्ताँ ने लिखा था :—

Je ne veux que vior la victoire,
Ne me demandez pas : "Apres."
Apres, je veux bien la nuit noire
Et le sommeil sous les cypres.

अर्थात् "मैं सिर्फ़ विजय देखना चाहता हूँ। उसके बाद क्या होगा, यह मुझसे न पूछो। बाद में मैं अँधेरी काली रातें और सरो के वृक्षों के नीचे सोना पसंद करूँगा।"

इस कवि की आशा ज्यों-की-त्यों पूरी हुई। विजय के तीन हफ़्ते के अन्दर वह मर गया।

जो लोग किसी सिद्धान्त के लिए शहीद हो चुके हैं उनका आह्वान बड़ा भयंकर होता है। जिसके दिल में जरा-सा भी जोश है इस आह्वान के सामने कैसे रुक सकता है? लड़ाई के इन आख़री सालों में हर जगह अन्धकार का राज्य था। लड़ाई में शामिल देशों में हरेक घर रंज और अफ़सोस में डूबा हुआ था। लोग थके हुए थे; उनकी आँखें खुल गई थीं; लेकिन वे कर क्या सकते थे, सिवाय इसके कि झंडा ऊँचा रक्खें। एक ब्रिटिश अफ़सर मेजर मैकी की बनाई हुई इस प्रभावशाली कविता को पढ़ो

पहियों पर मोटी सांकलें होती हैं जिसके कारण यह ऊँची नीची जगहों पर भी चल सकती हैं।

और इसकी कल्पना करो कि लड़ाई के उस अन्धकारमय और संकटपूर्ण जमाने में उसकी क़ौम के पुरुष और स्त्रियों के दिल पर, जिन्होंने इसे पढ़ा होगा, क्या असर पड़ा होगा। याद रक्खो कि इसी क़िस्म की कवितायें कई भाषाओं और अनेक मुल्कों में लिखी गई थीं—

We are Dead. Short days ago
We lived, felt down, saw sunset glow,
Loved and were loved, and now we lie
In Flanders Fields.

यानी—

"(आज) हम मुर्दा हैं। पर चन्द दिन पहले हम जीवित थे; उषा का अनुभव करते थे और सूर्यास्त की चमक को देखते थे। प्यार करते थे और प्यार किये जाते थे। और आज हम फ्लैण्डर्स की युद्धभूमि पर पड़े हुए हैं। आज हम मुर्दा हैं।"

Take up our quarrel with the foe:
To you from failing hands we throw
The Torch; be yours to hold it high.
If you break faith with us who die
We shall not sleep though Poppies grow
In Flanders Fields

"दुश्मन के साथ चलनेवाले हमारे इस युद्ध को अब तुम ग्रहण करो। हम अपने इन बेकाम हाथों से यह मशाल तुम्हें सौंपते हैं। अब इसे ऊँचा और प्रज्वलित रखना तुम्हारा काम है। यदि तुमने हम मरने वालों के साथ विश्वास घात किया तो हम कभी सोयेंगे नहीं। (हमारी आत्मा को शान्ति न मिलेगी) चाहे फ्लैण्डर्स के मैदानों में पपी के पौधे भले ही उग आवें।"

१९१६ के अन्त में मित्र-पक्ष कुछ मजबूत होता दिखाई दिया। इनके नये टैंकों ने पश्चिमी मोर्चे पर उन्हें कुछ मजबूती दी थी। जेपलिन हवाई जहाज, जो इंग्लैण्ड पर हमला करते थे टूटने लगे। जर्मन-पनडुब्बियों के होते हुए भी तटस्थ देशों के जहाजों पर काफ़ी खाने का सामान इंग्लैण्ड पहुँच जाता था। सन् १९१६ की मई में उत्तरी समुद्र में एक जहाजी युद्ध हुआ था। इसे जेटलैण्ड की लड़ाई कहते हैं। इस लड़ाई में कुल मिलाकर अंग्रेजों को कामयाबी मिली। इधर जर्मनी की नाकेबन्दी से आस्ट्रिया और जर्मनी के लोग भूखों मरने लगे थे। ऐसा जान पड़ता था कि समय ही मध्य यूरोपीय शक्तियों के ख़िलाफ़ है और फुर्ती से कुछ कर दिखाने की जरूरत मालूम हुई। जर्मनी ने समझौते के लिए भी कुछ इशारा किया था, लेकिन मित्र-पक्ष इसके लिए बिलकुल तैयार न हुआ। मित्रपक्ष की सरकारें अपनी गुप्त संधियों से अनेक देशों के बँटवारे के लिए बंधी हुई थीं और जब तक पूरी विजय न होजाती, संतुष्ट नहीं हो सकती थीं।

अमेरिका के राष्ट्रपति उडरो विल्सन ने सुलह कराने की कोशिश की थी, लेकिन वह नाकामयाब रहे।

इस पर जर्मन-नेताओं ने यह निश्चय किया कि अपनी पनडुब्बी का युद्ध तेजी से चलावें और इस तरह से इंग्लैंड को भूखों मार कर उसको नीचा दिखा दें। इस ख़याल से इन लोगों ने १९१७ की जनवरी में इस बात का ऐलान किया कि चन्द समुद्रों में वे तटस्थ जहाज भी डुबा देंगे। यह इसलिए किया गया था कि तटस्थ लोग इंग्लैंड में खाने-पीने का सामान न पहुँचावें। इस ऐलान से अमेरिका बहुत नाराज हुआ। वह इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकता था कि उसके जहाज इस तरह डुबो दिये जायँ। इसलिए लड़ाई में शामिल हो जाना उसके लिए अनिवार्य होगया। जर्मन-सरकार ने जब हरेक जहाज को पनडुब्बी से डुबाने का अपना निश्चय किया होगा, तब यह बात उसे जरूर मालूम रही होगी। शायद उसका यह ख़याल रहा हो कि अब कोई दूसरा चारा नहीं और इस ख़तरे को उठाना ही पडेगा, या उसनें यह सोचा हो कि मित्र पक्ष को अमेरिकन पूंजीपति काफी धन दे ही रहे हैं। बहरहाल १९१७ की अप्रैल में अमेरिका ने लड़ाई की घोषणा कर दी और इसके मैदान में आजाने से जर्मनों की हार निश्चित होगई। अमेरिका के पास विस्तृत वसीले थे और जब दूसरी क़ौमें थक चुकी थीं इससे एक नई स्थिति पैदा होगई।

अमेरिका के युद्ध में शामिल होने के पहले एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हो चुकी थी। १५ मार्च १९१७ को रूस की पहली क्रान्ति के कारण ज़ार को अपनी गद्दी छोड़नी पडी थी। मैं तुम्हें इस क्रान्ति के बारे में अलग लिखूंगा। मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि इस क्रांति की वजह से युद्ध में बड़ा फ़रक़ पड़ गया। रूस जर्मन शक्तियों के ख़िलाफ़ बिलकुल नहीं लड़ सकता था-और इसका मतलब यह होगया कि जर्मनी में पूर्वी मोर्चे पर लड़ने की चिन्ता जाती रही। वह अपनी पूर्वी फ़ौजों का ज्यादातर हिस्सा अब पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हें अंग्रेज और फ्रांसीसियों के ख़िलाफ़ लड़ा सकता था। एक दम से स्थिति जर्मनी के लिए बहुत अनुकूल होगई। अगर उसे रूस की क्रान्ति की ख़बर उसके होने के छः-सात हफ्ता पहले मालूम होगई होती तो कितना फ़रक पड़ गया होता! शायद तब पनडुब्बियों की लड़ाइयों को वह तेज न करता और अमेरिका तटस्थ रहता। रूस के युद्ध-क्षेत्र से बाहर रहने पर और अमेरिका के तटस्थ होते हुए यह बहुत मुमकिन था कि जर्मनी अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी सेनाओं को कुचल डालता। फिर भी जर्मनों की ताक़त पश्चिमी मोर्चे में बढ़ गई और जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रपक्ष और तटस्थ देश के जहाजों को ज्यादा तादाद में नष्ट कर डाला।

रूस की क्रान्ति से जर्मनी को मदद मिल रही थी, फिर भी जर्मनी में अन्दरूनी

कमज़ोरी पैदा करने का यह सबसे बड़ा कारण हुआ। पहली क्रान्ति के आठ महीने भी नहीं हुए थे कि दूसरी क्रान्ति हो गई और अधिकार सोवियट और बोलशेविकों के हाथ में आ गया, जिनकी पुकार सुलह की थी। इन लोगों ने सारी लड़नेवाली क़ौमों के सैनिकों और मजदूरों से शान्ति के लिए अपील की और यह बताया कि यह लड़ाई पूंजीपतियों की लड़ाई है, और मजदूरों को इस बात की इजाजत न देनी चाहिए कि वह साम्राज्यवादियों के उद्देशों की पूर्ति के लिए अपने को नष्ट करावें। यह आवाज और यह अपील मोर्चे पर दूसरी क़ौमों के सिपाहियों तक भी पहुंची और इसका बहुत काफ़ी असर हुआ। फ्रांसीसी सेना में कई बलवे हो गये, जिन्हें अधिकारियों ने दबा दिया। जर्मन सिपाहियों पर इससे भी ज्यादा असर हुआ था क्योंकि बहुत-सी जर्मन पलटनों ने क्रान्ति के बाद रूसियों से दोस्ती करली थी। जब ये पलटनें पश्चिमी मोर्चे को तब्दील की गई, तब इस नये संदेश को वे अपने साथ ले गई और इसे दूसरी पलटनों में फैलाया। जर्मनी लड़ाई से थका हुआ था और बिलकुल निरुत्साह हो रहा था। रूस से आये हुए ये बीज ऐसी जमीन पर गिरे जो इनको लेने के लिए तैयार थी। इस तरीक़े से रूसी क्रान्ति ने जर्मनी को अन्दरूनी तरीक़े पर कमज़ोर कर दिया।

लेकिन जर्मनी के फौजी अफ़सरों ने इन चेतावनिय़ों की तरफ़ से अपनी आँखें बिलकुल बन्द करली थीं। इन्होंने सोवियट रूस से सुलह तो की लेकिन उसको दबाकर उसे जर्मनी के साथ एक अपमानजनक समझौता करने को मजबूर किया। सोवियट रूस ने इस समय यही मंजूर कर लिया, क्योंकि उसके पास कोई दूसरा चारा नहीं था और वह हर हालत में सुलह चाहता था। मार्च १९१८ में जर्मन फ़ौज ने पश्चिमी मोर्चे पर अपना आख़िरी विशाल प्रयत्न आरम्भ किया। अंग्रेज और फ्रांसीसियों के मोर्चों को तोड़ दिया, अनेक सेनाओं को नष्ट कर डाला और फिर मार्न (Marne) नदी तक पहुँच गई जहाँ से वह ३½ बरस पहले पीछे हटा दी गई थी। यह बड़ा भगीरथ प्रयत्न था लेकिन यह आख़िरी प्रयत्न था। इसके बाद जर्मनी पस्त होगया। इसी दरमियान अटलांटिक पार करके अमेरिका की फौजें आ गई और अपने कटु अनुभव के आधार पर पश्चिमी मोर्चे की सारी मित्रपक्ष की सेनायें अंग्रेज, फ्रांसीसी और अमेरिकन एक मुख्य सेनापति की मातहती में कर दी गईं ताकि पूरा-पूरा सहयोग हो सके और संगठित तौर पर प्रयत्न किये जा सकें। फ्रेंच मार्शल फ़ोक (Foch) पश्चिम में मित्र-पक्ष की सारी सेनाओं का मुख्य सेनापति बना दिया गया। १९१८ के बीच तक हवा निश्चित तौर से बदल चुकी थी। मित्र-पक्ष के हाथ में ताक़त पहुँच चुकी थी और ये लोग बढ़ते गये और जर्मनों को पीछे हटाते गये। अक्तूबर के ख़तम होने तक लड़ाई का ख़ात्मा हो चुका था और युद्ध बन्द करने की बातचीत होने लगी थी।

४ नवम्बर को कील में जर्मन जल-सेना में ग़दर हो गया। इसके ५ दिन के बाद वर्लिन में जर्मन-प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। उसी दिन यानी ४ नवम्बर को क़ैसर विलियम द्वितीय ने बडी बेइज्जती के साथ और भोंडे तरीक़े से जर्मनी से निकलकर हालैंड के लिए प्रस्थान किया और उसीके साथ होएनज़ोलर्न राजवंश भी ख़तम हो गया। चीन के मंचुओं के समान "ये शेर की तरह गरजते हुए दाख़िल हुए थे, लेकिन साँप की पूँछ की तरह ग़ायब होगये।"

११ नवम्बर १९१८ को लड़ाई बन्द हुई। जो सुलह हुई वह अमेरिका के राष्ट्र-पति विलसन की १४ शर्तों (Fourteen Points) पर निर्भर थी। ये १४ शर्तें बहुत हद तक इन सिद्धान्तों पर निर्भर थीं कि छोटे राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय; निःशस्त्रीकरण हो; कोई गुप्त समझौता न किया जाय; सारी शक्तियाँ रूस को मदद दें और राष्ट्र-संघ वनाया जाय। आगे चलकर हम देखेंगे कि विजेताओं ने कितनी आसानी से इन १४ वातों को भुला दिया।

लड़ाई ख़तम होगई, लेकिन इंग्लैण्ड की जल-सेना ने जर्मनी की नाकेवन्दी जारी रक्खी। भूख से तड़पते हुए जर्मनी की स्त्रियों और बच्चों को खाना पहुँचाने की इजाज़त नहीं थी। छोटे-छोटे बच्चों के प्रति भी इस आश्चर्यजनक घृणा और प्रतिहिंसा की भावना को मशहूर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, देश सेवक, बडे-बडे अख़बार और अपने को उदार दल का समाचारपत्र कहने वाले भी प्रोत्साहन देते थे। उस समय इंग्लैण्ड के प्रधान सचिव लायड जार्ज उदार दल के थे। लड़ाई का सवा चार वर्ष का इतिहास निर्दयतापूर्ण अत्या-चारों से भरा पड़ा है। और फिर भी सुलह के बाद जर्मनी की इस नाकेबन्दी का जारी रखना अपनी शुद्ध निर्दयता में वेमिसाल है। लड़ाई ख़तम हो चुकी थी और सारा मुल्क भूखों मर रहा था। छोटे-छोटे बच्चे भूख से तड़प रहे थे और जान-बूझकर और जवरदस्ती इनको खाने का सामान नहीं पहुँचने दिया जाता था। लड़ाई की वजह से हमारे दिमाग़ किस तरह ख़राव जाते हैं और हममें पागलपन से भरी हुई घृणा किस हदतक समा जाती है! जर्मनी के पुराने चान्सलर वेथमैन हॉलवेग ने कहा था—"हमारी सन्तान और हमारी सन्तानों की सन्तान इंग्लैंड की नाकेवन्दी को याद रक्खेगी, जिसे इंग्लैण्ड ने जवर्दस्ती हमारे ख़िलाफ़ जारी कर रक्खा है और जो वेरहमी में पैशाचिक कही जा सकती है।"

वडे-वडे राजनीतिज्ञ और ऊँचे-ऊँचे ओहदों के आदमी इस नाकेवन्दी को पसन्द करते थे। लेकिन वेचारा अंग्रेज सैनिक, जो असल में लड़ा था, इस दृश्य को नहीं देख सकता था। राइनलैण्ड के कोलोन में समझौते के वाद एक अंग्रेज़ी सेना रखदी गई थी, इस सेना के सेनापति ने प्रधान सचिव लायड जार्ज के पास तार भेजा और उसमें

बताया कि "जर्मन स्त्री और बच्चों की तकलीफ़ों को देखकर ब्रिटिश फ़ौज पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है।" लड़ाई बन्द होने के ७ महीने बाद तक इंग्लैण्ड ने जर्मनी की नाकेबन्दी क़ायम रक्खी।

कई वर्षों तक लड़ते रहने की वजह से लड़ने वाली क़ौमें जानवर हो गई थीं। बहुत से लोगों के हृदय से सद्भावना ख़तम हो चुकी थी, और साधारण आदमी आधे बदमाश होगये थे। उद्दंडता और घटनाओं को जानबूझ कर तोड़-मरोड़ कर बयान करना लोगों के लिए मामूली बात थी और इनका दिल प्रतिहिंसा और घृणा की भावना से भरा हुआ था।

लड़ाई का तलपट क्या था, कोई अभी तक इसे नहीं जानता। हिसाब लगाया जारहा है। मैं तुम्हें कुछ आँकडे बताता हूँ जिससे तुम्हें यह मालूम होगा कि आजकल युद्ध का क्या मतलब होता है।

युद्ध में घायलों और मरे हुओं की पूरी संख्या निम्नलिखित आँकी गई है—

मृत सैनिक (जिनका पता है)	१,००,००,०००
सैनिक जिनके बारे में समझा जाता है कि मारे गये	३०,००,०००
ग़ैर-सैनिक जो मारे गये	१,३०,००,०००
ज़ख़्मी	२,००,००,०००
क़ैदी	३०,००,०००
लड़ाई के अनाथ	९०,००,०००
लड़ाई की विधवायें	५०,००,०००
देश छोड़कर भागे हुए	१,००,००,०००

इन विशाल आँकडों को देखो और इस बात की कल्पना करने की कोशिश करो कि इनके पीछे कितनी मानुषी यातना छिपी हुई है। इनको जोड़ डालो। सिर्फ़ मरे हुए और ज़ख़्मियों की तादाद ४ करोड़ और ६० लाख होती है जो कि युक्तप्रांत की सारी आबादी के बराबर है।

और इस लड़ाई में नक़द कितना ख़र्च हुआ, इसका भी हिसाब लगाया जा रहा है। अमेरिकन तख़मीना यह है कि मित्र-पक्ष का ४० अरब ९९ करोड़ ९६ लाख पौंड और जर्मन-पक्ष का १५ अरब १२ करोड़ २३ लाख पौंड ख़र्च हुआ। दोनों को जोड़ डालो, कुल ख़र्च ५६ अरब पौंड हुआ। इन आँकडों को हम अच्छी तरह से समझ नहीं सकते, क्योंकि हमारी रोज़ाना की जिन्दगी से ये बिलकुल परे मालूम होते हैं। इनसे हमें ज्योतिष के आँकडे याद आ जाते हैं जब हम सूरज या सितारे का पृथ्वी से फ़ासला जानने की कोशिश करते हैं। कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लड़ाई में शामिल पुरानी

क़ौमें, विजयी और पराजित दोनों बराबर ही, लड़ाई के ख़र्चे के बुरे असर से अभी तक परेशान हैं।

'युद्ध ख़त्म करने के लिए युद्ध', 'लोकतन्त्र के लिए दुनिया में रास्ता साफ करने के लिए युद्ध', 'आत्म निर्णय का युद्ध' 'स्वतन्त्रता' और 'उच्च आदर्शों का युद्ध' ख़तम होगया था। इंग्लैण्ड, फ़्रांस, अमेरिका, इटली और इनके छोटे-मोटे पिछलग्गु (रूस इनसे अलग था) विजयी हुए थे। इन ऊँचे और महान् आदर्शों को क्रियात्मक रूप में कैसे लाया गया, यह हम बाद को देखेंगे। फिलहाल तो हम अंग्रेज कवि साउदे की एक कविता उद्धृत करेंगे जो उसने एक पुरानी और दूसरे मौक़े की विजय के बारे में लिखी थी—

"And everybody praised the Duke
Who this great fight did win"
"But what good came of it at last ?"
Quoth little Peterkin.
"Why; that I can not tell", said he,
"But 'twas a famous victory."

यानी "हरेक ड्यूक की, जिसने इस बड़ी लड़ाई में विजय प्राप्त की थी, तारीफ़ कर रहा था। पर छोटे से पेटरकिन ने पूछा कि 'आखिर इससे फ़ायदा क्या हुआ ?' उसने कहा—'क्यों ? यह तो मैं नहीं बता सकता पर यह एक गौरवपूर्ण विजय थी।'

: १५० :

रूस से ज़ारशाही का ख़ात्मा

७ अप्रैल, १९३३

लड़ाई की गति का बयान करते हुए मैंने रूसी क्रान्ति और युद्ध पर उसके प्रभाव का जिक्र किया था। युद्ध पर उसने जो असर डाला वह तो पड़ा ही परंतु संसार के इतिहास में भी यह क्रान्ति अपने क़िस्म की एक अनोखी और विशाल घटना हुई है। यद्यपि यह अपने क़िस्म की पहली क्रान्ति थी, पर मुमकिन है कि बहुत दिनों तक यह अपने क़िस्म की अकेली क्रान्ति न बनी रहे; क्योंकि यह दूसरे देशों के लिए एक क़िस्म का चैलेंज या चुनौती बन गई है और सारी दुनिया के बहुतेरे क्रान्तिकारियों के सामने एक नमूना पेश कर गई है। इसलिए इसकी गहरी छानबीन करनी चाहिए। निस्सन्देह महा-युद्ध का यही सबसे बड़ा नतीजा था, हालाँकि जिन राजनीतिज्ञों ने और सरकारों ने दुनिया को लड़ाई में धकेला था, वे इसे ज़रा भी नहीं चाहते थे और उन्हें इसका ख़याल

भी नहीं था। या यह कहना शायद ज्यादा सही हो, कि इसका जन्म उस आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थिति से हुआ था जो रूस में पाई जाती थी। युद्ध की वजह से पैदा होनेवाली मुसीबतों और नुक़सानों ने परिस्थिति को तेज़ी के साथ संकटपूर्ण बना दिया और क्रान्ति के महापुरुष और अद्भुत बुद्धिवाले लेनिन ने इसका फ़ायदा उठाया।

१९१७ में रूस में असल में दो क्रान्तियाँ हुईं—एक मार्च में और दूसरी नवम्बर में। या इस सारे युग को हम क्रान्ति का निरन्तर प्रवाह कह सकते हैं और ये दो तारीखें ऐसी हैं जबकि प्रवाह ऊँची-से-ऊँची सतह पर पहुँच गया था।

मैंने रूस-सम्बन्धी पिछले ख़त में १९०५ की क्रान्ति का जिक्र किया है। यह क्रान्ति भी लड़ाई और पराजय के समय पैदा हुई थी। इसे बेरहमी के साथ दबा दिया गया और ज़ार की सरकार ने आज़ादी के साथ निरंकुशता की अपनी जीवन-यात्रा जारी रक्खी। सब क़िस्म के आज़ाद ख़यालों को खुफ़िया पुलिस से पता चलाकर यह सरकार दबा देती थी। मार्क्स के अनुयायी और ख़ासकर बोलशेविक कुचल दिये गये और इनके ख़ास-ख़ास आदमी, और औरतें भी, या तो साइबेरिया के मैदानों में भेज दिये गये या उन्होंने विदेशों में जाकर शरण ली। लेकिन इन लोगों की, जो विदेशों में रहते थे, इस छोटी-सी तादाद ने भी अपना प्रचार जारी रक्खा और लेनिन के नेतृत्व में अध्ययन करते रहे। ये लोग मार्क्स के उसूलों के कट्टर माननेवालों में थे; लेकिन मार्क्स के उसूल जर्मनी और इंग्लैण्ड जैसे उद्योग-प्रधान देशों को नज़र में रखकर बनाये गये थे। रूस अभीतक मध्यकालीन और कृषिप्रधान देश था। बड़े-बड़े शहरों में मामूली व्यवसाय और उद्योग-धंधे थे। लेनिन ने रूस की परिस्थिति को नज़र में रखकर मार्क्स के मुख्य सिद्धान्तों को नई शक्ल देनी शुरू की। इस विषय पर उसने बहुत काफ़ी लिखा और रूसी निर्वासितों में ख़ूब बहस-मुबाहिसा होता रहा। इस तरह इन लोगों ने अपने को क्रान्ति के उसूलों में पक्का बना लिया। लेनिन का यह विश्वास था कि अगर कोई काम करना हो तो उसे विशेषज्ञों और उस हुनर के जाननेवालों से कराना चाहिए, केवल उत्साहियों और जोशीले लोगों से काम न चलेगा। अगर क्रान्ति की कोशिश करना है तो, उसकी राय थी कि, इस काम के लिए लोगों को अच्छी तरह तालीम देनी चाहिए, और तैयार करना चाहिए ताकि जब काम का वक्त आये उनके दिमाग़ साफ़ हों और वे जानते हों कि हमें क्या करना है। इसलिए लेनिन और उसके साथियों ने १९०५ के बाद दमन के भयंकर युग को अगले आन्दोलन के लिए अपने को तैयार करने में लगाया।

१९१४ में रूस में शहरी मज़दूरवर्ग जगने लगा था और फिर क्रान्तिकारी हो रहा था। बहुत-सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। इसके बाद लड़ाई शुरू होगई और

सब लोगों का ध्यान उसीमें लग गया और सबसे आगे बढ़े हुए कार्यकर्त्ता सिपाही बनाकर मोर्चे पर भेज दिये गये। लेनिन और उसके दल ने (ज्यादातर नेता रूस के बाहर निर्वासित थे) लड़ाई का शुरू से ही विरोध किया। और देशों के साम्यवादियों की तरह ये लोग वहाँ नहीं गये। इन्होंने उसे पूंजीवादियों का युद्ध बताया, जिससे मज़दूरों को कोई ताल्लुक़ नहीं था, सिवा इसके कि मजदूर लोग उससे फ़ायदा उठाकर अपनी आज़ादी पा सकते थे।

समर-भूमि में रूसी फ़ौज को बहुत बड़े-बड़े नुकसान हुए। शायद जितनी फ़ौजें लड़ाई में थीं, उनमें सबसे ज्यादा इसीको नुक़सान उठाना पड़ा। आम तौर पर फ़ौजी लोग ज्यादा अक्लमन्द नहीं होते तिसपर रूसी सेनापति तो और भी नालायक़ थे। रूसी सिपाहियों के पास काफ़ी हथियार नहीं थे; अकसर उनके पास लड़ाई की सामग्री भी नहीं होती थी, और न लड़ने में उनको पीछे से मदद दी जाती थी। ये लोग दुश्मनों पर दौड़ा दिये जाते थे और लाखों की तादाद में काम आजाते थे। इधर पेट्रोग्रेड में, जिसे पहले सेंटपीटर्सबर्ग कहते थे, और दूसरे बड़े शहरों में बेहद मुनाफ़ा होरहा था और सट्टे से लोग मालामाल होरहे थे। ये देशभक्त सट्टेवाले और मुनाफ़ा उठानेवाले इस बात की बहुत ज़ोर से चीख़-पुकार मचाते थे, कि लड़ाई अख़ीर तक लड़ी जाय। अगर लड़ाई स्थायी होजाती तो निस्सन्देह इनके बहुत अनुकूल होता; लेकिन सिपाही और मजदूर और किसान, जिनमें से कि सिपाही भरती होते थे, पस्त हो चुके थे, भूखों मर रहे थे और बहुत असन्तुष्ट थे।

ज़ार निकोलस बहुत बेवकूफ़ आदमी था और अपनी स्त्री ज़ारीना के असर में बहुत ज्यादा रहता था, जो कि उसीकी तरह बेवकूफ़ लेकिन उससे ज्यादा दृढ़ निश्चय की स्त्री थी। इन दोनों ने अपने चारों तरफ़ बेवकूफ़ों और बदमाशों को इकट्ठा कर लिया और किसीकी हिम्मत नहीं पड़ती थी कि इनपर आक्षेप करे। मामला इस हद तक पहुँचा कि एक घृणित बदमाश, जिसका नाम ग्रीगोरी रासपुटीन था, ज़ारीना का ख़ास आदमी बन गया और ज़ारीना के ज़रिये से ज़ार के मुँह लग गया। रासपुटीन (रासपुटीन के मानी हैं 'गन्दा कुत्ता') एक ग़रीब किसान था, जो घोड़े चुराने के जुर्म में फँस गया था। उसने निश्चय किया कि साधू का वेष बनाना चाहिए और फ़क़ीरी के लाभदायक पेशे को इख़्तियार करना चाहिए। हिन्दुस्तान की तरह रूस में भी इस ढंग से बहुत आसानी के साथ रुपया पैदा किया जा सकता था। उसने लम्बे-लम्बे बाल बढ़ा लिये और ज्यों-ज्यों उसके बाल बढ़े, त्यों-त्यों उसकी शोहरत भी बढ़ी—यहांतक कि वह ज़ार के दरबार तक पहुँची। ज़ार और ज़ारीना का लड़का, जो ज़ारविच कहलाता था, किसी क़दर हमेशा बीमार रहता था। रासपुटीन ने किसी-

न-किसी ढंग से ज़ारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह लड़के को अच्छा कर देगा। उसकी क़िस्मत जग गई और वह ज़ार और ज़ारीना पर बहुत जल्द हावी होगया। इसीके इशारे पर ऊँची-से-ऊँची नियुक्तियाँ होती थीं। इसका जीवन अत्यन्त पतित था और यह बड़ी-बड़ी रक़में रिश्वत में लिया करता था; फिर भी यह कई वर्षों तक हावी रहा।

हरेक आदमी रासपुटीन से बेज़ार था। नरम दल और उच्च वर्ग के लोगों ने भी शोर मचाना शुरू किया और इस बात की चर्चा होने लगी कि राजमहल के अन्दर क्रान्ति कर दी जाय, यानी दूसरा ज़ार ज़बरदस्ती गद्दी पर बिठा दिया जाय। इसी दरमियान ज़ार निकोलस ने अपनेको अपनी सेना का मुख्य सेनापति बना लिया था और हरेक चीज़ को चौपट कर रहा था। १९१६ के ख़त्म होने के चन्द दिन पहले ज़ार के कुटुम्ब के एक आदमी ने रासपुटीन को मार डाला। उसे खाना खाने के लिए बुलाया गया और उससे कहा गया कि तुम अपने को खुद गोली मार लो। रासपुटीन ने इन्कार किया। इसपर उसे गोली मार दी गई। रासपुटीन के क़त्ल का सब लोगों ने स्वागत किया और समझ लिया कि बला टली; लेकिन ज़ार की ख़ुफ़िया पुलिस ने इस घटना के आधार पर बेहद अत्याचार किये।

संकट बढ़ने लगा। पेट्रोग्रेड में अकाल पड़ गया और खाने के लिए बलवे होने लगे; इसके बाद मार्च के शुरू में मज़दूरों की चिर यातना के बीच से आप ही आप क्रान्ति पैदा हुई, जिसकी कोई आशा न थी। मार्च महीने के ५ दिनों में, यानी ८ से १२ मार्च के बीच में, क्रान्ति की विजय रही। यह कोई राजमहल के अन्दर की बात नहीं थी और न यह कोई संगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी चोटी के नेताओं ने बाक़ायदा व्यवस्था की हो। यह क्रान्ति नीचे से उभड़ी थी; बहुत ज्यादा सताये हुए मज़दूरों में से और बिना किसी ज़ाहिरा व्यवस्था या नेतृत्व के अन्धों की तरह रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़ी थी। अनेक क्रान्तिकारी दल, जिनमें स्थानीय बोलशेविक भी थे, हक्का-बक्का रह गये और सोचने लगे कि क्रान्ति को किस रास्ते पर ले जायें? जनता ने खुद ही अपना रास्ता निकाल लिया, और जिस समय इन्होंने पेट्रोग्रेड के सिपाहियों को अपनी तरफ़ कर लिया, विजय इनकी होगई। यह क्रान्तिकारी जनता असंगठित भीड़ नहीं थी जो लूट-मार के लिए उतारू हो, जैसे कि पहले के किसानों के बलवे हुआ करते थे। मार्च की इस क्रान्ति के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका नेतृत्व कारख़ाने के मज़दूरों ने किया जो कि इतिहास में अपने क़िस्म की पहली चीज़ है, और इन मज़दूरों में यद्यपि उस समय कोई मशहूर नेता नहीं था, बहुत से ऐसे अप्रसिद्ध कार्यकर्त्ता थे, जिन्हें लेनिन के दल में ट्रेनिंग यानी तालीम मिल चुकी थी। लेनिन और दूसरे लोग या तो जेल में थे या जलावतन थे।

दर्जनों कारखानों के इन अज्ञात कार्यकर्ताओं ने सारे आन्दोलन को मजबूती दी और उसे निश्चित मार्ग पर चलाया।

इस जगह पर हमें औद्योगिक जनता (Industrial masses) काम करती हुई दिखाई देती है। किसी दूसरी जगह यह बात नहीं देखी गई थी। रूस एक बिलकुल खेतिहर मुल्क था और यहाँ कृषि भी मध्यकालीन ढंग से चलाई जाती थी। इस देश में नये जमाने के उद्योग-धंधे या कल-कारखाने बहुत कम थे और जो थे भी वे चन्द शहरों में केन्द्रित थे। पेट्रोग्रेड में बहुत-से कारखाने थे और मिल में काम करने वाले मजदूरों की काफ़ी बडी आबादी थी। मार्च की क्रान्ति पेट्रोग्रेड के इन्हीं मजदूरों और इस शहर में रक्खी हुई पलटन का ही काम था।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई दी। स्त्रियों ने सबसे पहले आगे क़दम बढ़ाया। कपडे की मिलों की स्त्रियाँ, जो मजदूरी करती थीं, जलूस बनाकर शहरों में फिरीं। दूसरे दिन हड़ताल बढ़ी। बहुत-से मर्द मजदूरों ने काम छोड़ दिया। रोटी के लिए चीख़-पुकार शुरू हुई और "निरंकुशता का नाश हो!" का नारा लगाया जाने लगा। जुलूस के इन मजदूरों को पस्त करने के लिए अफ़सरों ने कज्ज़ाकों की फ़ौज भेजी। यही पुराने जमाने में जारशाही के ख़ास मददगार रहे थे। कज्जाकों ने जनता को इधर-उधर भगा दिया, लेकिन गोली नहीं चलाई। मजदूरों को यह देखकर बडी ख़ुशी हुई कि कज्जाक लोग असल में सरकारी नक़ाब के पीछे दोस्ती दिखा रहे हैं। फ़ौरन ही जनता का जोश बढ़ गया और उसने कज्जाकों से दोस्ती करने की कोशिश की। लेकिन पुलिस से घृणा रही और उस पर पत्थर फेंके गये। तीसरे दिन यानी १० मार्च को कज्जाकों के साथ दोस्ती की भावना और भी बढ़गई और यह अफ़वाह फैल गई कि क़ज्जाकों ने पुलिस पर गोली चलाई है जोकि जनता को गोलियों से मार रही थी। इसके बाद पुलिस सड़कों पर से हट गई। स्त्री कार्यकर्त्ताओं ने सैनिकों के पास जाकर उनसे जोरदार अपील की और सिपाहियों की संगीनें आसमान की तरफ़ होगईं।

दूसरे दिन यानी ११ मार्च को रविवार था। मजदूर लोग शहर के बीचों-बीच इकट्ठे हुए। पुलिस ने उनपर छिपी हुई जगहों से गोलियाँ चलाईं। कुछ फौजी सिपाहियों ने भी जनता पर गोलियां चलाईं। जनता उस पलटन के बैरक में गई और इस बात की सख़्त शिकायत की। फ़ौज के दिल पर असर पड़ा और वह जनता की रक्षा के लिए अपने नानकमिशण्ड अफ़सरों की मातहती में बाहर निकल आई। यह पलटन गिरफ़्तार कर ली गई, लेकिन गिरफ्तारी बहुत देर से हुई। १२ मार्च को और पलटनों में भी ग़दर होगया और ये लोग अपनी मशीनगन और राइफलें लेकर बाहर निकल

आये। सड़कों पर खूब गोलियाँ चलीं। यह कहना मुश्किल था कि कौन किसको मार रहा है। इसके बाद फ़ौजी सिपाहियों और मजदूरों ने कुछ मंत्रियों को पकड़ लिया; बाक़ी तो भाग गये थे। इन लोगों ने पुलिस और खुफ़िया पुलिस के आदमियों को गिरफ्तार कर लिया था। और जेलों से पुराने राजनैतिक क़ैदियों को भी छोड़ दिया था।

पेट्रोग्रेड में क्रान्ति की विजय रही। इसके बाद शीघ्र ही मास्को में क्रान्ति हुई। गाँव ग़ौर से यह हालत और हलचल देख रहे थे। धीरे-धीरे किसानों ने भी नई व्यवस्था मंजूर करली, लेकिन उत्साह के साथ नहीं। इनके सामने सिर्फ़ दो सवाल थे; एक तो इन्हें जमीन मिल जाय और दूसरे शान्ति रहे।

जार का क्या हुआ? इस घटनापूर्ण जमाने में उसकी क्या हालत थी? वह पेट्रोग्रेड में नहीं था। वह बहुत दूर एक छोटे-से क़स्बे में रह रहा था, जहाँ से मुख्य सेनापति की हैसियत से वह अपनी सेनाओं को हिदायतें देता रहता था। लेकिन उसका जमाना ख़तम हो चुका था। पके फल की तरह यह टपक पड़ा और किसीने देखा भी नहीं। यह महान् शक्तिशाली जार, रूस का सबसे बडा निरंकुश शासक, जिसके सामने लाखों काँपते थे, पवित्र रूस का पिता, इतिहास की रद्दी की टोकरी में ग़ायब हो गया। कितने ताज्जुब की बात है कि बडी-बडी प्रणालियां, जब उनका जमाना ख़तम हो जाता है और वह अपना काम कर चुकती हैं, किस तरह ख़तम हो जाती हैं! जब जार ने सुना कि मजदूरों ने हड़ताल करदी है और पेट्रोग्रेड में बलवा हुआ है, तो उसने फ़ौजी क़ानून की घोषणा कर दी। सेनापति ने यह घोषणा तो बाक़ायदा निकाल दी, लेकिन शहर में इसे फैलाने वाला या इसकी नोटिस चिपकाने वाला कोई न मिला। सरकार की मशीन यानी व्यवस्था टुकडे-टुकडे हो गई थी। जार ने इन घटनाओं से आँखें बन्द करके पेट्रोग्रेड आने की कोशिश की। लेकिन रेलवे के मजदूरों नें इसकी ट्रेन रास्ते में रोक ली। जारीना ने, जो उस वक्त पेट्रोग्रेड के बाहर की बस्ती में रह रही थी, जार के नाम एक तार भेजा। यह तार तारघर से वापस आगया और उसके पीछे यह नोट था—"यह आदमी कहाँ है, इसका पता नहीं।"

मोर्चे पर जो सेनापति थे और पेट्रोग्रेड के नरम दल के नेताओं ने इन घटनाओं से डरकर और इस उम्मीद में कि जो कुछ बचे, बचा लेना चाहिए, जार से गद्दी छोड़ने की प्रार्थना की। जार ने गद्दी छोड़ दी और अपनी जगह के लिए अपने एक रिश्तेदार को नामजद कर दिया। लेकिन अब आगे कोई जार होने वाला नहीं था, रोमनोफ का राजवंश तीन सौ बरस के निरंकुश शासन के बाद रूसी रंग-मंच से हमेशा के लिए प्रस्थान कर गया।

उच्च वर्ग के रईस, ज़मींदार, मध्यमवर्ग के ऊपर के दर्जे के आदमियों, यहाँ तक कि सुधारक और उदार दल के आदमियों ने भी मज़दूरों के इस उभार को अद्भुत भय से देखा। जब इन्होंने यह देखा कि वह सेना, जिसके ऊपर ये भरोसा करते थे, मज़दूरों से मिल गई तो ये बिलकुल असहाय हो गये। इनको यह निश्चय नहीं था कि विजय किस पक्ष की होगी, क्योंकि यह मुमकिन था कि ज़ार कोई फ़ौज लेकर लड़ाई के मोर्चे पर वापस आये और विद्रोह को दबा दे। इसलिए एक तरफ़ मज़दूरों का डर, दूसरी तरफ़ ज़ार का और इसके अलावा अपनी बचत करने की फ़िक्र से इन लोगों की दशा बहुत दयनीय और मुसीबत की हो गई थी। डूमा यानी पार्लमेण्ट में ज़मींदारों और उच्च वर्ग के लोगों का बोलबाला था। मज़दूर भी इससे कुछ आशा करते थे, लेकिन इस संकट के मौक़े पर नेतृत्व करने के बजाय या कुछ कार्रवाई करने के बजाय, इसके अध्यक्ष और सदस्य बैठे-बैठे काँपते और डरते रहे और यह निश्चय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी दरमियान सोवियट ने रूप धारण करना शुरू किया। मज़दूरों के प्रतिनिधियों के साथ सैनिकों के प्रतिनिधि भी आ गये, और नई सोवियट ने विशाल टाराइड राज-महल का एक हिस्सा अपने क़ब्ज़े में कर लिया। इस राज महल के एक हिस्से में डूमा भी थी। मज़दूरों और सैनिकों को अपनी विजय पर बहुत उत्साह था। लेकिन सवाल यह उठा कि अब किया क्या जाय? इन्होंने अधिकार तो हासिल कर लिया, लेकिन, इस अधिकार को चलावे कौन? यह बात इन लोगों की समझ में नहीं आई थी कि सोवियट यानी इनकी पंचायत ख़ुद ही शासन चला सकती है। इस लोगों ने यह बात व्यर्थ ही मानली थी कि मध्यमवर्ग को ही शासन करना चाहिए। इसलिए सोवियट की तरफ से डूमा के पास एक डेपूटेशन यानी प्रतिनिधि मण्डल गया और उससे प्रार्थना की कि आप लोग शासन शुरू कीजिए। डूमा के अध्यक्ष और सदस्यों ने यह समझा कि यह डेपूटेशन उन्हें गिरफ़्तार करने आया है। इनके मन में शासन का भार उठाने की कोई ख़्वाहिश नहीं थी, और इस काम में जो ख़तरा था उससे ये डरते भी थे। लेकिन ये लोग करें तो क्या करें? सोवियट के डेपूटेशन ने आग्रह किया और इन लोगों को इन्कार करते हुए डर मालूम हुआ। इसलिए बहुत बे-दिली से और परिणामों से डरते हुए डूमा की एक कमिटी ने शासन की बागडोर हाथ में लेना मंज़ूर किया। लेकिन बाहरी दुनिया को मालूम होता था कि डूमा ही क्रान्ति का संचालन कर रही है। कैसी अजीब घोटाले की बात थी! अगर हम किसी कहानी में ऐसी बात पढ़ें तो मुश्किल से यक़ीन करेंगे। लेकिन घटनायें कल्पनाओं से अकसर अनोखी होती हैं।

डूमा की कमिटी ने जिस अस्थाई सरकार की रचना की थी, वह बहुत ही संकीर्ण विचार की थी और उसका प्रधान मन्त्री एक 'प्रिंस' या ऊँचे रईसी ख़ानदान का

व्यक्ति था। इसी मकान के दूसरे हिस्से में सोवियट की सभायें होती थीं और वे अस्थायी सरकार के काम में बराबर दस्तन्दाजी करती रहती थीं, लेकिन सोवियट खुद शुरू में एक नरम संस्था थी और बोलशेविक लोग इसके अन्दर मुट्ठी भर थे। इस तरह से दो सरकारें हो गई थीं, एक अस्थायी सरकार और दूसरी सोवियट। इन दोनों के पीछे क्रान्तिकारी जनता थी, जिसने क्रान्ति करके दिखा दी थी और इस क्रान्ति से बडी-बडी आशायें रखती थी। भूखी और लड़ाई से परेशान जनता को नई सरकार ने सिर्फ़ एक बात बताई कि उसे तब तक लड़ाई जारी रखनी चाहिए जबतक जर्मन लोग हार न जाँय। लोग सोचने लगे कि क्या इसी बात के लिए हमने क्रान्ति की थी और जार को निकाला था?

इसी अवसर पर, १७ अप्रैल को लेनिन रंगमंच पर आ गया। सारी लड़ाई भर यह स्वीजरलैण्ड में था और जब उसने क्रान्ति की बात सुनी, तो रूस पहुँचने लिए बड़ा उत्सुक होगया। लेकिन पहुँचता कैसे? अँग्रेज और फ़्रान्सीसी अपने मुल्कों से इसे गुजरने की इजाजत नहीं देते थे और न जर्मन और आस्ट्रियन ही। आख़िरकार अपने मतलब से जर्मन सरकार इस बात पर राजी हो गई कि एक बन्द रेल गाडी में उसे स्वीजरलैण्ड से रूस तक पहुँचा दे। जर्मन लोगों को यह उम्मीद थी और उम्मीद करने की वजह भी थी कि रूस में लेनिन के पहुँच जानें से अस्थायी सरकार और युद्ध की पार्टी कमजोर पड़ जायगी, क्योंकि लेनिन लड़ाई के ख़िलाफ़ था और जर्मन लोग इस बात से फ़ायदा उठाना चाहते थे। इनको यह कल्पना भी नहीं थी कि यह क्रान्तिकारी, जिसको कोई जानता भी नहीं, योरप और दुनिया को हिला देनेवाला है।

लेनिन के दिमाग़ में कोई शक-शुबहा नहीं था। इसकी आँखें जनता की मनोवृत्ति को समझने में बहुत कुशल थीं। इसका दिमाग़ सुलझा हुआ था, और यह बदलती हुई स्थिति में अच्छी तरह से सोचे-समझे हुए सिद्धान्तों का प्रयोग कर सकता था। यह दृढ़ निश्चय का आदमी था, जो अपने बनाये हुए रास्ते पर डटा रहता था और तात्कालिक परिणाम की परवाह नहीं करता था। जिस दिन वह आया, उसी दिन उसने बोलशेविक दल को खूब फटकारा, उनकी अकर्मण्यता पर ऐतराज किया और जोरदार वाक्यों में उनका कर्तव्य बताया। इसका भाषण बिजली की तरह चुभ गया और साथ-ही-साथ इसने जान भी पैदा कर दी। इसने कहा था—"हम लोग दग़ाबाज नहीं हैं। हम अपनी बुनियाद जनता की जागृति पर ही क़ायम कर सकते हैं। अगर अल्प संख्या में रहना जरूरी होगा तो रहेंगे। कुछ समय के लिए नेतृत्व छोड़ देना अच्छा है। अल्प संख्या में रहने से हमें न डरना चाहिए।" इस तरह यह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा और समझौता करने से इन्कार करता

रहा। जो क्रान्ति अभीतक बिना नेता के, बिना राह दिखानेवाले के, चल रही थी, अन्त में सनाथ हो गई। नेता मिल गया, समय ने आदमी पैदा कर दिया।

सवाल यह है कि वह कौन-सा सिद्धान्त का भेद था, जिसकी वजह से इस अवसर पर बोलशेविक लोग मेनशेविकों और दूसरे क्रान्तिकारी दलों से अलग थे? लेनिन के आने के पहले स्थानीय बोलशेविक लोग किस वजह से अकर्मण्य हो रहे थे और सोवियट ने अधिकार पा जाने के बाद इसे पुरानी और संकीर्ण डूमा को सुपुर्द कर देना क्यों मुनासिब समझा? मैं इन सवालों में बहुत गहरा नहीं जा सकता, लेकिन अगर हम १९१७ के रूस और पेट्रोग्रेड के बराबर तब्दील होनेवाले नाटक को समझना चाहते हैं, तो हमें इन सब बातों पर कुछ ग़ौर ज़रूर करना होगा।

मनुष्य के परिवर्तन और विकास के बारे में कार्लमार्क्स का सिद्धान्त 'इतिहास की भौतिक या पदार्थवादी व्याख्या' कहलाता है। इसके मुताबिक जब पुरानी सामाजिक प्रणाली अपने समय के परे पहुँच जाती है, इसकी जगह पर नये सामाजिक रूप पैदा होते हैं। चीजों की उत्पत्ति के ढंग ने जैसे-जैसे उन्नति की, समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन भी धीरे-धीरे उसके अनुकूल बनता गया। यह बात इस तरह से हुई कि शोषित वर्ग में और शोषक या शासक वर्ग के बीच बराबर संघर्ष जारी रहा। इससे पश्चिमी योरप में पुराना सामन्त वर्ग ख़त्म हो गया और उसकी जगह पर मध्यम वर्ग आ गया। यही वर्ग आज इंग्लैण्ड, फ़्रांस, जर्मनी वग़ैरा देशों में आर्थिक और राजनैतिक ढाँचे को चलाता है। अब इस वर्ग की जगह पर मजदूर वर्ग आयेगा। रूस में सामन्त वर्ग अभी तक हावी था और जिस परिवर्तन की वजह से पश्चिमी योरप में मध्यम वर्ग हावी हुआ था, वह परिवर्तन रूस में अभी तक नहीं हुआ था। इसलिए मार्क्स के मानने वाले कितने ही लोग यह सोचते थे कि रूस को लाज़मी तौर से पहले मध्यम वर्ग के अधिकार में जाना होगा, पार्लमेण्ट की मंजिल से गुज़रना होगा और फिर इसके बाद कहीं मजदूरों की प्रजातंत्र की आख़री मंजिल मिलेगी। इनका ख़याल था कि बीच की मंजिल को कूदकर पार नहीं किया जा सकता। लेनिन ख़ुद १९१७ के मार्च की क्रान्ति से पहले मध्यम मार्ग की नीति का मानने वाला था। उसने यह लिखा था कि अगर जार और जमींदारों के ख़िलाफ़ मध्यम मार्ग में क्रान्ति करानी है तो किसानों से सहयोग करना चाहिए और मध्यम वर्ग का विरोध न करना चाहिए।

बोलशेविक, मेनशेविक और मार्क्स के सिद्धान्तों के सभी माननेवालों के दिल में यह ख़याल जम गया था कि अंग्रेजी या फ़्रांसीसी नमूने का मध्यवर्गीय प्रजा सत्तात्मक लोकतन्त्र क़ायम किया जाय। मजदूरों के मशहूर नुमाइन्दे या प्रतिनिधि भी

इसे अनिवार्य समझते थे और इसीलिए सोवियट ने अधिकार को अपने हाथ में रखने की बजाय ड्रूमा के सपुर्द करना मुनासिब समझा। ये लोग जैसा, हम सब लोगों का अकसर हाल होता है, अपने ही सिद्धान्त के गुलाम होगये थे। इन्हें यह नहीं दिखाई पड़ता था कि एक नई स्थिति पैदा होगई है, जिसमें एक दूसरी नीति पर चलने की जरूरत है। कम-से-कम पुरानी नीति को नये साँचे में ढालना चाहिए। जनता नेताओं से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी। मेनशेविक लोग, जिनके हाथ में सोवियट थी, यहाँ तक कहते थे कि मजदूर वर्ग को उस समय किसी क़िस्म का सामाजिक सवाल उठाना ही नहीं चाहिए। इसका तात्कालिक कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि राजनैतिक स्वतंत्रता हासिल कर लें। बोलशेविक लोग अपनी घात में थे। संकोच और फूंक-फूंककर क़दम रखने की नीति के होते हुए भी मार्च की क्रान्ति सफल रही।

लेनिन के आने पर सारी बातें बदल गईं। उसने फ़ौरन ही स्थिति को समझ लिया। सच्चे नेता की अद्भुत बुद्धि उसमें थी। उसने मार्क्स के कार्यक्रम को स्थिति के अनुसार नया रूप देकर सामने रख दिया। अब यह तय हुआ कि मजदूर वर्ग ग़रीब किसानों के साथ मिलकर पूंजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई करे। बोलशेविक लोगों ने तुरन्त तीन बातों की पुकार शुरू की :—

(१) प्रजासत्तात्मक लोकतन्त्र (२) रियासतों की जब्ती, और (३) मजदूरों के लिए ८ घण्टे का दिन। फौरन ही इन पुकारों की वजह से किसान और मजदूरों के लिए लड़ाई एक असली चीज बन गई। संघर्ष इनके लिए कोई अनिश्चित या खोखला आदर्श नहीं रह गया, बल्कि आशा और जीवन की एक वास्तविक चीज बन गया।

लेनिन ने बोलशेविक लोगों के लिए यह नीति बनाई कि वे मजदूरों के बहुमत को अपने पक्ष में करें और सोवियट पर अपना क़ब्जा करलें। इसके बाद सोवियट अस्थायी सरकार से अधिकार छीन ले। लेनिन की यह राय नहीं थी कि फ़ौरन ही दूसरी क्रान्ति शुरू की जाय। उसका आग्रह यह था कि अस्थायी सरकार को उलटने के पहले मजदूरों के बहुमत को अपनी तरफ़ मिला लेना चाहिए और सोवियट पर कब्जा कर लेना चाहिए। जो लोग अस्थायी सरकार से समझौता करना चाहते थे, वह उनके बहुत सख़्त ख़िलाफ़ था। उसके मतानुसार यह बात क्रान्ति के साथ दग़ा करने की थी। वह उन लोगों के भी सख़्त खिलाफ़ था जो सरकार को ठीक वक्त के पहले तोड़ने के लिए उतावले हो रहे थे। उसका कहना था :—

"A moment of action is no time to aim 'a wee bit too far to the left.' We look upon that as the greatest crime, disorgnisation."

अर्थात् "काम करने का वक़्त बहुत ज्यादा आगे और दूर की गरम बातों पर

लक्ष्य करने में खोना ठीक नहीं है। इसे हम बहुत बड़ा जुर्म और क्रान्ति की ताक़तों को छिन्न-भिन्न कर देना समझते हैं।"

इस तरह शान्तिपूर्वक लेकिन न मिटनेवाली कर्म-रेखा की तरह बर्फ़ का यह टुकड़ा, जिसके अन्दर धधकती हुई आग छिपी हुई थी, अपने निश्चित ध्येय की तरफ़ बढ़ने लगा।

: १५१ :

बोलशेविक अधिकार छीन लेते हैं

९ अप्रैल, १९३३

क्रान्ति के ज़माने में इतिहास बड़े लम्बे क़दम बढ़ाकर चलता है। ऊपर-ऊपर तेज़ी के साथ परिवर्तन होते ही हैं, लेकिन इससे भी बड़ा परिवर्तन जनता के हृदय में पैदा हो जाता है। जनता किताबों से बहुत कम सीखती है, क्योंकि उसको किताबी शिक्षा का ज्यादा मौक़ा नहीं मिलता, और किताबें अकसर छिपाती ज्यादा हैं और बताती कम हैं। जनता का स्कूल अनुभव का, ज्यादा कठोर पर ज्यादा सच्चा, स्कूल होता है। लोगों के हार्दिक अभिप्राय पर जो परदा पड़ा रहता है वह क्रान्ति के युग में, ताक़त हासिल करने की जिन्दगी और मौत की लड़ाई के बीच हट जाता है, और तब हमें वह असलियत दिखाई दे जाती है, जिस पर समाज की बुनियाद होती है। इसलिए १९१७ के घटनापूर्ण साल में रूस में जनता ने, और ख़ासकर शहर के कारख़ानों के मज़दूरों ने, जो क्रान्ति के बीच में थे, घटनाओं से सबक़ सीखा और उनमें रोज़ाना तब्दीलियाँ होती रहीं।

कहीं कोई स्थिरता या समतौल नहीं था। जीवन स्फूर्ति से भरा था और बदल रहा था। जनता और वर्ग अलग-अलग रास्ते पर और जुदी-जुदी दिशाओं में बढ़ रहे थे और एक दूसरे को घसीट रहे थे। ऐसे भी लोग उस वक्त तक पाये जाते थे जो ज़ार की शासन-प्रणाली को फिर से वापस लाने की उम्मीद करते थे और उसके लिए षड्यंत्र रचते थे। लेकिन इस वर्ग का कोई महत्व नहीं था और हम इसकी उपेक्षा कर सकते हैं। असली लड़ाई अस्थायी सरकार और सोवियट के बीच थी; फिर भी सोवियट में ज्यादातर लोग सरकार के साथ सहयोग और समझौता करने के पक्ष में थे। ये समझौता करनेवाले लोग राजसत्ता और शासन की बागडोर हाथ में लेने से डरते थे। सोवियट में एक शख़्स ने कहा था—"सरकार की जगह कौन लेगा। हम? लेकिन हमारे हाथ तो कंपते हैं……।" इसी क़िस्म की आवाज़ हमें हिन्दुस्तान में भी ऐसे बहुत-से लोगों के मुँह से सुनाई पड़ती है, जिनके हाथ लूले या

बेकाम हो गये हैं, और जिनके दिल थर्रा गये हैं। लेकिन जब वक्त आता है तब मजबूत हाथ और पक्के दिल के आदमियों की कमी नहीं रहती।

दोनों तरफ़ के समझौता चाहने वाले लोग बचाने की चाहे जितनी कोशिश क्यों न करते, पर अस्थायी सरकार और सोवियट के बीच संघर्ष का होना लाजिमी था। सरकार लड़ाई जारी रख कर मित्र राष्ट्रों को और जायदाद की हिफ़ाजत करके रूसी उच्च या मालिक वर्ग को खुश रखना चाहती थी। सोवियट जनता के सम्पर्क में ज्यादा थी, इसलिए उसने यह देख लिया था कि जनता शान्ति चाहती है, किसान जमीन चाहते हैं और मजदूरों की भी बहुत-सी मांगें हैं—जैसे दिन में काम के आठ घण्टे वग़ैरा। इस तरह सरकार को सोवियट ने बेकार और पस्त कर दिया था और जनता ने सोवियट को, क्योंकि जनता राजनैतिक दलों और उनके नेताओं से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी।

इस बात की कोशिश हुई कि सोवियट के ज्यादा अनुकूल सरकार बनाई जाय और एक उग्र परिवर्तनवादी वकील और जबर्दस्त भाषण देने वाला राजनीतिज्ञ करेंस्की सरकार का प्रधान सदस्य हो गया। उसने एक समझौते की सरकार बनाई, और इस सकार के लिए सोवियट के मेंशेविक लोगों ने, जिनका बहुमत था, प्रतिनिधि भेजे। इसने इस बात की भी सख्त कोशिश की कि जर्मनी पर हमला करके इंग्लैंण्ड और फ़्रांस को खुश रक्खे। लेकिन इस बात में वह नाकामयाब रहा क्योंकि लोग लड़ाई के लिए तैयार न थे।

इसी दरमियान अखिल रूसी सोवियट कॉंग्रेस के अधिवेशन पेट्रोग्रेड में हो रहे थे और बाद की हरेक कॉंग्रेस पहले के अधिवेशनों से ज्यादा उग्र होती जाती थी। बोलशेविक मेम्बर ज्यादा से ज्यादा तादाद में चुन कर आते थे और दो बडे दल यानी मेनशेविक और सोशल रेवोल्यूशनरी यानी सामाजिक क्रान्तिकारी (किसान पार्टी) का बहुमत अब कम हो गया था। ख़ासतौर पर पेट्रोग्रेड के मजदूरों में बोलशेविक लोगों का असर बहुत बढ़ गया। सारे देश में सोवियट बन गये थे और वे तबतक सरकार का हुक्म मानने को तैयार नहीं होते थे, जबतक उसपर सोवियट की भी मंजूरी न हो। अस्थायी सरकार के कमजोर होने की एक वजह यह भी थी कि रूस में कोई मजबूत मध्यमवर्ग नहीं था।

इधर राजधानी में अधिकार के लिए खींचतान जारी थी, उधर किसानों ने सारा क़ानून अपने हाथ में ले लिया। जैसा मैंने तुम्हें बताया है, ये किसान मार्च की क्रान्ति से बहुत खुश नहीं थे मगर वे इसके खिलाफ भी नहीं थे। वे इन्तजार कर रहे थे और स्थिति समझ रहे थे। लेकिन बडी-बडी रियासतों के जमींदारों ने, इस डर से कि उनकी जायदाद जब्त कर ली जायगी, अपनी रियासत को छोटे-छोटे

टुकडों में बांट दिया और दिखलाने के लिए दूसरों के नाम कर दिया, जो अपने नाम से इस जायदाद को उनके लिए बनाये रखते। इन लोगों नें अपनी जायदाद का बहुत-सा हिस्सा विदेशियों के हाथ बेच भी डाला। इस तरह उन्होंने अपनी जायदाद बचानी चाही। किसान इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे और उन्होंने सरकार के सामने यह मांग पेश की कि जमीन की बिक्री क़ानून से रोक दी जाय। सरकार हिचकचाई; सोचने लगी कि क्या किया जाय ? वह किसी पार्टी को नाराज़ करना नहीं चाहती थी। इस पर किसानों ने खुद कार्रवाई करनी शुरू कर दी। अप्रैल के महीने में कुछ किसानों नें अपने जमींदारों को गिरफ्तार करके रियासतों पर क़ब्ज़ा कर लिया और उन्हें आपस में बांट लिया। वे सैनिक, जो मोर्चे से वापस आये थे (और वे किसान ही थे), इस बात में आगे रहे। यह मामला बढ़ता गया, यहाँ तक कि सारी जमीन पर आम तौर पर जनता का क़ब्ज़ा हो गया। जून के महीने में साइबेरिया के मैदानों में कोई बडे जमींदार नहीं थे, इसलिए किसानों ने गिरजों और मठों से लगी हुई जमीन पर क़ब्ज़ा कर लिया।

नोट करनें लायक़ बात यह है कि बडी-बडी रियासतों की यह जब्ती किसानों ने खुद अपने मन से की और बोलशेविक क्रान्ति के कई महीने पहले यह बात होगई थी। लेनिन की यह राय थी कि संगठित रूप से जमीन किसानों को तुरन्त दे दी जाय। वह इस बात के पक्ष में नहीं था कि अराजकता के ढंग से, जो किसान, जहाँ चाहे मनमानी जमीन ले ले। इस तरह जब कुछ दिन बाद बोलशेविक लोगों के हाथ में सरकार आई, रूस मौरूसी और दखिलकार किसानों का देश बन चुका था।

लेनिन के आने के ठीक एक महीने बाद एक दूसरा मशहूर निर्वासित शख्स पेट्रोग्रेड आया। इसका नाम ट्राटस्की था। यह न्यूयार्क से वापस आया था और इसे रास्ते में अंग्रेजों नें रोक रक्खा था। ट्राटस्की पुराने बोलशेविकों के गिरोह का नहीं था और न वह अब मेनशेविक ही था, लेकिन वह बहुत जल्द लेनिन की तरफ़ आ गया और पेट्रोग्रेड की सोवियट का एक जोरदार नेता बन गया। यह बडा अच्छा वक्ता था, बहुत अच्छा लेखक था और इसमें बिजली की बैटरी की तरह ताक़त और स्फूर्ति भरी हुई थी। लेनिन के दल को इससे बडी मदद मिली। इसकी आत्म-कथा से, जो 'माई लाइफ़' (मेरा जीवन) नाम से अंग्रेजी छपी है, मैं एक लम्बा उद्धरण इस जगह पर दूंगा। इसमें उसने 'माडर्न सर्कस' नाम के मकान में हुई उन सभाओं का जिक्र किया है जिनमें उसने भाषण दिया था। यह उद्धरण उसके सिर्फ़ सुन्दर लेख का नमूना ही नहीं है, बल्कि इससे हमारी आंखों के सामने पेट्रोग्रेड के १९१७ के क्रान्तिकारी दिनों की जीती जागती और स्पष्ट तस्वीर आ जाती है।

."The air, intense with breathing and waiting, fairly exploded with shouts and with the passionate yells peculiar to the Modern Circus. Above and around me was press of elbows, chests and heads. I spoke from out of a warm cavern of human bodies; whenever I stretched out my hands I would touch some one, and a grateful movement-in response would give me to understand that I was not to worry about it, not to break off my speach but to keep on. No speaker, no matter how exhausted, could resist the electric tension of that impassioned human throng. They wanted to know, to understand, to find their way. At times it seemed as if I felt, with my lips, the stern inquisitiveness of this crowed that had become merged into a single whole. Then all arguments and words thought out in advance would break and recede under the imperative pressure of sympathy, and other words, other arguments, utterly unexpected by the orator but needed by these people, would emerge in full array from . my sub-consciousness. On such occasions I felt as if I was listening to the speaker from the outside, trying to keep pace with his ideas, afraid that, like a somnambulist, he might fall off the edge of the roof at the sound of my conscious reasoning."

"Such was the Modern Circus. It had its own contours, fiery, tender and frenzied. The infants were peacefully sucking the breasts from which approving or threatening shouts were coming. The whole crowd was like that, like infants clinging with their dry lips to the nipples of the revolution. But this infant matured quickly."

यानी, "इस सभा का वातावरण लोगों के इन्तज़ार और साँस लेने की वजह से बहुत गरम था, लेकिन जोशीले नारों से और जयध्वनि से, जो माडर्न सर्कस की एक खासियत थी, यह वातावरण अशान्त हो जाता था। मेरे ऊपर और मेरे चारों तरफ़ घुटनों, सीनों और सरों का जमघट था, और मैं उनसे दबता जाता था। मैं मनुष्य-शरीरों की बनी हुई गुफा की गर्मी से बोल रहा था। जब जब मैं अपने हाथ फैलाता था, कोई-न-कोई छू जाता था। इसके जवाब में उधर से जो हरकत होती थी वह इस बात के लिए मुझे विश्वास दिलाती थी कि मुझे अपना भाषण जारी रखना चाहिए और इसके लिए व्याख्यान को रोकने की कोई ज़रूरत नहीं। कोई व्याख्यान देने वाला, चाहे वह कितना ही थक क्यों न गया हो, आदमियों की भीड़ की उत्साह से भरी हुई इस बिजली की धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। लोग समझना चाहते थे, जानना चाहते थे, और अपना रास्ता निकालना चाहते थे। सारी भीड़ एक परिपूर्ण चीज़ हो गई थी और इसके कठोर

कौतूहल को कभी-कभी मैं अपने होठों से अनुभव करता था। ऐसी हालत में पहले से सोची हुई तमाम युक्तियाँ, शब्द और विचार खतम हो जाते थे और जनता की सहानुभूति के बोझ के नीचे दब जाते थे। दूसरे शब्द, दूसरी दलीलें, जिन्हें बयान करने की मैं ज़रा भी आशा नहीं रखता था, लेकिन जिन्हें जनता सुनना चाहती थी, मेरे हृदय के अन्दर से ज़ोरों के साथ उबलने लगती थीं। ऐसे अवसरों पर मुझे ऐसा मालूम होता था कि मानों कोई दूसरा आदमी बाहर व्याख्यान दे रहा है और मैं सुन रहा हूँ। ऐसा मालूम होता था कि मानों मैं उसके विचारों के साथ-साथ चलना चाहता हूँ, लेकिन वह डरता था कि अगर कहीं मैंने अपनी बुद्धि से सोची हुई दलीलें पेश कीं तो यह न हो कि यह दूसरा व्याख्यान-दाता सोते में चलने वाले आदमी की तरह छत के नीचे गिर जाय।

"माडर्न सर्कस इस तरह का था। इसकी रूप-रेखा नाज़ुक मगर पागलपन और उत्साह से अलंकृत थी। बच्चे शान्ति के साथ स्तनों से दूध पी रहे थे जिनसे मंजूरी और धमकी की जोशीली आवाज़ें आ रही थीं। सारी जनता दुधमुंहे बच्चे के समान क्रान्ति के स्तनों से अपने सूखे होठों से दूध पी रही थी। लेकिन यह बच्चा बहुत तेज़ी के साथ बढ़ गया।"

इस तरह क्रान्ति का हमेशा बदलने वाला नाटक पेट्रोग्रेड में और रूस के दूसरे शहरों और गाँवों में चलने लगा। यह दुधमुंहा बच्चा बढ़ा और बड़ा हो गया। लड़ाई की भयंकर बोझ की वजह से हर जगह आर्थिक विनाश के चिन्ह दिखाई दे रहे थे; फिर भी मुनाफ़ा उठाने वाले लोग लड़ाई से खूब मुनाफ़ा उठा रहे थे!

सोवियट में और कारखानों में बोलशेविक लोगों का प्रभाव और ताक़त बढ़ती गई। इससे घबड़ाकर करेंस्की ने उनको दबाने की कोशिश की। लेनिन के ख़िलाफ़ पहले-पहल बहुत जोरों के साथ आन्दोलन चला और यह कहा जाने लगा कि लेनिन तो जर्मन लोगों का भेजा हुआ आदमी है और वह रूस में उत्पात मचाने के लिए भेजा गया है। लोगों से कहा जाता था कि देखो स्वीज़रलैण्ड से लेनिन बिना जर्मन लोगों की मदद के ही जर्मनी से होकर रूस में कैसे आ सकता है। लेनिन मध्यवर्ग के लोगों में बहुत बदनाम हो गया और वे लोग उसे देशद्रोही समझने लगे। करेंस्की ने जर्मनी का दूत और देशद्रोही होने का जुर्म लगाकर लेनिन की गिरफ्तारी का वारण्ट निकाला। लेनिन खुद यह चाहता था कि उसपर मुकदमा चले ताकि वह इस अपराध को ग़लत साबित कर सके। लेकिन उसके साथी इस बात से सहमत नहीं हुए और उसे छिप जाने पर मजबूर किया। ट्राटस्की भी गिरफ़्तार कर लिया गया था, लेकिन बाद में पेट्रोग्रेड सोवियट के दबाव डालने पर छोड़ दिया गया। बहुत से दूसरे बोलशेविक भी पकडे गये; उनके अख़बार दबा दिये गये और ऐसे कार्यकर्त्ताओं के हथियार छीन लिये गये जो बोलशेविकों के प्रति हमदर्दी रखने वाले समझे जाते थे।

इन कार्यकर्त्ताओं का ढंग ज्यादा से ज्यादा गरम और अस्थायी सरकार के लिए ख़तरनाक होता जाता था और ये इस सरकार के ख़िलाफ़ बडे-बडे प्रदर्शन भी कर चुके थे।

क्रांति के ख़िलाफ़ एक नया आन्दोलन शुरू हुआ यानी जब प्रतिक्रांति ने सिर उठाया तब इस नाटक में एक नया दृश्य सामने आ गया। एक बुड्ढा जनरल, जिसका नाम कार्नीलफ़ था, सारी क्रान्ति को और अस्थायी सरकार को कुचलने के लिए अपनी फ़ौज के साथ राजधानी की ओर बढ़ा। शहर के नजदीक पहुँचते-पहुँचते उसकी सेना ग़ायब हो गई। सिपाही लोग क्रान्तिकारियों की तरफ़ चले गये।

घटनायें बहुत तेजी से घट रही थीं। सोवियट साफ़-साफ़ सरकार की प्रतिद्वन्द्वी होती जाती थी। अकसर वह सरकार की आज्ञाओं को रद्द कर देती थी या ख़िलाफ़ हुक्म निकालती थी। इस समय स्मानलो इंस्टिटचूट में सोवियट का दफ़्तर था और वहीं पेट्रोग्रेड की क्रांति का भी केन्द्र था। इस जगह पहले रईसों की लड़कियों का एक प्राइवेट स्कूल था।

लेनिन पेट्रोग्रेड की सरहद पर आया और वोलशेविकों ने निश्चय किया कि अस्थायी सरकार से सत्ता छीन लेने का वक्त आ गया है। बग़ावत के सारे प्रबन्ध की जिम्मेदारी ट्राटस्की को सौंपी गई। एक-एक बात सावधानी से पहले से ही निश्चय कर ली गई और यह भी तय हो गया कि किन-किन महत्व की जगहों पर और कब क़ब्ज़ा किया जायगा। सातवीं नवम्बर बलवे की तारीख़ मुक़र्रर हुई। इस दिन सोवियट्स की अखिल रूसी कांग्रेस होने वाली थी, लेनिन ने इसी तारीख़ को मुक़र्रर किया। इसकी जो वजह बताई, वह बहुत दिलचस्प है। उसने कहा:—

"६ नवम्बर की तारीख़ बहुत पहले होगी। ग़दर के लिए अखिल रूसी आधार का होना ज़रूरी है। ६ तारीख़ को कांग्रेस के सब प्रतिनिधि न आ पाये होंगे। इसके विपरीत अगर तारीख़ मुकर्रर करें तो बहुत देर हो जायगी, क्योंकि उस तारीख़ तक कांग्रेस संगठित हो जायगी और जनता की किसी भी बडी जमात का फुर्ती के साथ एक निश्चित कार्रवाई कर सकना मुश्किल होता है। इसलिए हमें ७ ही तारीख़ को, जिस दिन कांग्रेस का पहला अधिवेशन होगा, क्रान्ति करनी चाहिए, ताकि हम कांग्रेस से कह सकें कि "लो, अधिकार यह है। इसका जो कुछ करना हो करो।"

इस तरह से क्रान्ति के स्पष्ट बुद्धि वाले विशेषज्ञ ने कहा था, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि क्रान्ति की कामयाबी अकसर छोटी-छोटी महत्वशून्य घटनाओं पर निर्भर होती है।[1]

१. सात नवम्बर के बारे में यह कहानी एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो उस समय पेट्रोग्रेड में था, लिखी है। लेकिन कुछ लोग जो उस समय वहाँ मौजूद थे

७ नवम्बर आई और सोवियट-सिपाहियों ने जाकर सरकारी इमारतों, ख़ासकर तार-घर, टेलीफोन, एक्सचेंज और सरकारी बैंक वग़ैरा घात और जुगत की जगहों, पर क़ब्ज़ा कर लिया। किसी ने कोई मुक़ाबिला नहीं किया। "अस्थायी सरकार हवा में ग़ायब हो गई," इन शब्दों में एक अंग्रेज़ प्रतिनिधि ने इंग्लैण्ड को सरकारी रिपोर्ट भेजी थी।

लेनिन नई सरकार का प्रमुख यानी प्रेसीडेण्ट हुआ और ट्राटस्की वैदेशिक सचिव। दूसरे दिन यानी ८ नवम्बर को लेनिन सोवियट कांग्रेस में शामिल होने के लिए स्मालनी इंस्टीट्यूट को गया। शाम का वक़्त था। कांग्रेस ने इस नेता का बहुत ज़ोरों के साथ स्वागत किया। रीड नाम के एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो इस मौक़े पर मौजूद था, इस बात का वर्णन किया है कि जब 'महान लेनिन' प्लेटफार्म पर आया, वह कैसा दीखता था—

"एक छोटे क़द का गठीला व्यक्ति, जिसके कन्धों पर एक बड़ा सिर रक्खा हुआ था—बहादुरी और स्फूर्ति से भरा हुआ! छोटी-छोटी आंखें, गुमठी-सी नाक, चौड़ा मुँह और बड़ी ठुड्ढी, मूँछ-दाढ़ी घुटी हुई, पर उसकी पुरानी और आगे मशहूर होने वाली दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल निकल रहे थे। फटे-पुराने कपड़े और पैजामा टाँगों से ज्यादा लम्बा। इसमें कोई ऐसी प्रभावशाली बात नहीं पाई जाती थी कि कोई भी उसे अपना आदर्श बनावे। पर यह एक आश्चर्यजनक लोकप्रिय नेता था, जो सिर्फ़ अपनी बुद्धि की वजह से नेता बना था—निर्लेप, गम्भीर, कट्टर और निस्संग। उसमें कोई दिलचस्प सनक भी नहीं पाई जाती थी। लेकिन इसमें बड़े-बड़े ख़यालों और गहरी बातों को सीधी-सादी ज़बान में समझा सकने और किसी स्थिति का विश्लेषण करके यानी उसे टुकड़े-टुकड़े करके लोगों को समझाने की ताक़त थी। और कुशाग्र बुद्धि के साथ-साथ उसमें महान् बौद्धिक साहस भी था।"

साल भर के अन्दर ही यह दूसरी क्रांति हो गई और अभी तक शान्तिपूर्ण बनी रही। शासनाधिकार के बदलने में बहुत कम ख़ून गिरा। मार्च की क्रान्ति में इससे ज्यादा लड़ाई हुई थी और आदमी मारे गये थे। मार्च की क्रान्ति आप ही आप और असंगठित रूप से हुई थी। नवम्बर की क्रांति को सोच-विचार कर संगठित किया गया था। इतिहास में यह पहला मौक़ा था जबकि ग़रीब से ग़रीब वर्ग के प्रतिनिधि, ख़ासकर मिलों के मजदूर, देश के शासन के प्रमुख बने थे। लेकिन इन लोगों को इतनी आसानी

उसको नहीं मानते। लेनिन छिपे हुए था और उसे डर था कि दूसरे बोलशेविक नेता कहीं समझौता न कर लें और मौके को हाथ से खो दें। इसलिए वह बराबर उनको आगे क़दम बढ़ाने के लिए मजबूर करता रहता था। चूँकि ७ तारीख़ को मामला नाज़ुक हो गया यह कार्रवाई उस वक्त कर ली गई।

से सफलता मिलने वाली नहीं थी। तूफ़ान इनके चारों तरफ़ इकट्ठा हो रहा था और भयंकर वेग के साथ इनके ऊपर फट पड़ने वाला था।

लेनिन को और उसकी नई बोलशेविक सरकार को किस स्थिति का मुक़ाबिला करना पड़ा? जर्मन-युद्ध अभी तक जारी था यद्यपि रूसी सेना छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और इस सेना के लड़ने की कोई सम्भावना बाक़ी नहीं रह गई थी। सारे देश में अशान्ति फैली हुई थी। सिपाहियों और लुटेरों की टोलियाँ देश भर में फिर-फिर कर मन-माना जो चाहती थीं, करती थीं। आर्थिक ढाँचा टूट चुका था, खाने का सामान कम पड़ गया था और लोग भूखों मर रहे थे। लेनिन के चारों ओर पुरानी प्रणाली के प्रतिनिधि मौजूद थे, जो इस बात के लिए तैयार बैठे थे कि क्रान्ति को कुचल दें। राज्य का संगठन पूंजीपतियों की प्रणाली का था और पुराने सरकारी अफ़सर नई सरकार के साथ सहयोग करने से इनकार करते थे। बैंकर या साहूकार लोग रुपया देने को तैयार नहीं थे। यहाँ तक कि तारघर वाले तार नहीं देते थे। इतनी कठिन स्थिति थी कि बहादुर-से-बहादुर आदमी पस्त हो जाय।

लेनिन और उसके साथियों ने ज़ोरों से काम करना शुरू किया। पहली फ़िक्र इस बात की थी कि जर्मनी के साथ सुलह कर ली जाय। उन्होंने फ़ौरन ही लड़ाई को बन्द कराने का इन्तज़ाम कर लिया। ब्रेस्ट लिटोस्क में दोनों देशों के प्रतिनिधि मिले। जर्मन लोग अच्छी तरह जानते थे कि बोलशेविक लोगों में लड़ने की ताक़त नहीं रही है, इसलिए अपने अभिमान और बेवकूफ़ी की वजह से उन्होंने नें बडी अपमान-जनक और सख़्त माँगें पेश कर दीं। बोलशेविक लोग हालांकि सुलह करने के लिए बहुत उत्सुक थे लेकिन इन मांगों को देखकर अवाक् रह गये। बहुतों की तो यह राय हुई कि सुलह की शर्तें नामंजूर करदी जायं, लेकिन लेनिन हर हालत में सुलह करने के पक्ष में था। कहते हैं कि ट्राटस्की को, जो सुलह की इस कान्फ्रेंस का एक रूसी प्रतिनिधि था, जर्मन लोगों के एक उत्सव में शाम के कपडे पहन कर बुलाया गया। वह बहुत घबड़ाया और सोचने लगा कि मज़दूरों के प्रतिनिधि के लिए यह कहाँ तक मुनासिब होगा कि बडे अमीर आदमियों की पोशाक पहन कर जाय। उसने लेनिन को तार दिया और उससे सलाह पूछी। लेनिन ने फ़ौरन ही जवाब दिया—"अगर सुलह के काम में सहायता मिले तो तुम लँहगा पहन कर भी जा सकते हो।"

इधर सोवियट सुलह की शर्तों के लिए बहस-मुबाहिसे कर रही थी, उधर जर्मन लोग पेट्रोग्रेड की तरफ़ बढ़ने लगे और उन्होंने सुलह की शर्तों को पहले से ज्यादा सख़्त कर दिया। आख़िर लेनिन की सलाह को सोवियट ने मान लिया और मार्च १९१८ में ब्रेस्ट लिटोस्क के सुलहनामे पर दस्तख़त हो गये, हालाँकि सोवियट इस

सुलहनामे को घृणा की दृष्टि से देखती थी। इस सुलहनामे के आधार पर रूस के राज्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा पश्चिम में जर्मनी ने ले लिया। लेकिन सुलह तो हर हालत में करनी जरूरी थी, क्योंकि जैसा लेनिन कहता था—"फ़ौज ने अपने क़दमों से सुलह के पक्ष में राय डाली है।"

सोवियट ने पहले इस वात की कोशिश की कि महायुद्ध में जितनी शक्तियाँ फँसी हुई हैं सव से सुलह हो जाय। शासन हाथ में लेने के दूसरे ही दिन उसने सारी दुनिया के साथ सुलह करने की घोषणा निकाली और इस वात को विलकुल साफ़ कर दिया कि जार के खुफ़िया अहदनामों के अनुसार जो कुछ अधिकार रूस को मिलते, उसकी यह दावेदार नहीं हैं। उसने यह भी कहा कि कुस्तुनतुनिया तुर्कों के पास रहे और कोई दूसरा देश न छीना जाय। लेकिन सोवियट की तजवीज का किसी ने जवाव नहीं दिया क्योंकि लड़ने वाले दोनों दल जीतने की आशा रखते थे और युद्ध के जीते हुए देशों से फ़ायदा उठाना चाहते थे। इसमें शक नहीं की सोवियट की इस तरह तजवीज पेश करने की एक मंशा यह भी थी कि उसके सिद्धान्तों का प्रचार हो। वह चाहती थी कि हरेक देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाहियों पर असर पड़ जाय और दूसरे देशों में सामाजिक क्रान्ति पैदा हो जाय, क्योंकि ये लोग संसार भर में क्रान्ति करना चाहते थे और इनका ख़याल था कि इसी तरीक़े से ये अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकेंगे। मैंने तुम्हें इसके पहले वताया है कि फ़्रान्स और जर्मनी की फ़ौजों पर सोवियट के प्रचार का वड़ा असर पड़ा था।

लेनिन व्रेस्ट लिटोस्क के सुलहनामे को एक चन्दरोजा मामला समझता था, जो वहुत दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता था और यही हुआ भी। ९ महीने वाद ज्योंही जर्मनी को मित्र-पक्ष के लोगों ने पश्चिमी मोर्चे पर हरा दिया, सोवियट ने इस सुलहनामे को मन्सूख़ कर दिया। लेनिन असल में चाहता था कि थके हुए मजदूर और किसानों को, जो फ़ौज में थे, जरा-सा आराम और साँस लेने का मौक़ा मिल जाय ताकि वे अपने घरों को वापस जा सकें और अपनी आँखों से देख सकें कि क्रान्ति ने उनके लिए क्या किया है। वह चाहता यह था कि किसान लोग यह समझने लगें कि जमींदार ख़तम हो गये और जमीन उनकी हो गई। वह चाहता था कि मिल के मजदूर भी यह समझने लगें कि उनका शोषण करनेवाले ख़तम हो गये। इससे वे क्रान्ति के लाभ अच्छी तरह समझने लगेंगे और उसकी रक्षा करने के लिए उत्सुक होंगे, साथही वे यह भी समझ जायेंगे कि उनके असली दुश्मन कौन हैं। लेनिन के ऐसे ख़यालात थे, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि गृह-युद्ध आनेवाला है। यह नीति वाद को वहुत सफलतापूर्वक सही साबित हुई। किसान और मजदूर लड़ाई के मैदान से अपने-अपने खेतों और

मिलों को वापस गये। वे लोग न बोलशेविक थे, न साम्यवादी, लेकिन वे क्रान्ति के बड़े कट्टर हिमायती हो गये, क्योंकि वे क्रान्ति की वजह से जो कुछ प्राप्त कर चुके थे, उसे छोड़ना नहीं चाहते थे।

इधर जर्मन लोगों से किसी-न-किसी तरह समझौता करने की कोशिश हो रही थी, उधर बोलशेविक नेताओं ने देश की अन्दरूनी हालत पर ध्यान देना शुरू किया। फ़ौज से निकले हुए अफ़सरों और साहसी ले-भग्गुओं की काफ़ी तादाद ऐसी थी जिनके पास मशीनगनें और लड़ाई का सामान था। ये लोग लुटेरेपन का व्यवसाय चला रहे थे। बड़े-बड़े शहरों में दिन दहाड़े गोलियाँ चलाकर लूटमार करते थे। पुराने आतंकवादी दल के कुछ लोग भी थे, जो सोवियट को पसन्द नहीं करते थे और बड़ी परेशानी पैदा कर रहे थे। सोवियट सरकार ने इन सब लुटेरों और दूसरों को जोरों से दबा दिया और पस्त कर दिया।

सोवियट शासन को इससे ज्यादा ख़तरा अनेक सिविल सर्विस के लोगों से यानी पुराने सरकारी नौकरों से हुआ। इनमें से बहुतेरे ऐसे थे, जो बोलशेविकों की मातहती में या उनसे सहयोग करके किसी तरह भी काम करने को तैयार नहीं थे। लेनिन ने यह सिद्धान्त निश्चित कर दिया कि, जो काम न करे वह खाना भी न खाय, जो काम न करे उसे रोटी न मिले। तमाम सरकारी नौकर, जिन्होंने सहयोग नहीं दिया, फ़ौरन बरख़ास्त कर दिये गये। बैंकरों ने अपनी तिजोरियाँ खोलने से इन्कार कर दिया। इस पर तिजोरियाँ डाइनामाइट यानी बम से खोल दी गईं। लेकिन पुरानी प्रणाली के सरकारी अफ़सरों के प्रति, जो सहयोग करने से इन्कार करते थे, लेनिन की घृणा का सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि जब मुख्य सेनापति ने बोलशेविक सरकार के हुक्म को मानने से इनकार कर दिया, तो वह पाँच मिनिट में बरखास्त कर दिया गया। और पाँच मिनिट के अन्दर क्राइलेन्को नाम का नौजवान बोलशेविक लेफ्टीनेण्ट प्रमुख सेनापति बना दिया गया!

इन तब्दीलियों के होते हुए भी रूस का पुराना ढांचा बहुत कुछ ज्यों-का-त्यों बना रहा, किसी विशाल देश को एक दम से समाजवादी बनाना आसान काम नहीं होता और यह सम्भव है कि रूस में परिवर्तन की प्रगति को कई साल लग गये होते अगर घटना ने मजबूरी पैदा न कर दी होती। जिस तरह किसानों ने ज़मींदारों को भगा दिया था, मजदूरों ने भी कई जगहों पर अपने पुराने मालिकों से नाराज हो कर उनको निकाल दिया और उनके कारख़ानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। सोवियट इन कारख़ानों को पुराने पूँजीपतियों को किसी तरह वापस नहीं कर सकती थी इसलिए उसने इन पर कब्ज़ा कर लिया। कई जगहों पर इन पूँजीपतियों ने गृह-युद्ध के जमाने

में, जो बाद को हुआ, अपने कारख़ानों की मशीनों को तोड़ने की कोशिश की। ऐसी हालत में सोवियट सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और इन कारख़ानों की हिफ़ाज़त के लिए मिलों पर क़ब्ज़ा करना पड़ा। इस तरीक़े से उत्पत्ति के साधनों को पंचायती बनाने की प्रगति में यानी मिलों को सरकारी अधिकार में लाने के काम में ख़ास तौर से तेज़ी पैदा हो गई, जितनी तेज़ी कि शायद साधारण स्थिति में नहीं हो सकती थी।

सोवियट शासन के पहले ९ महीनों में रूसी जनता के जीवन में बहुत फ़रक़ नहीं आया। बोलशेविकों ने आक्षेपों को भी बरदाश्त किया और गालियां भी सहीं। बोलशेविकों के ख़िलाफ़ अख़बार निकलते रहे। जनता आम तौर से भूखों मरती थी, लेकिन अमीरों के पास अब भी बहुत काफ़ी पैसा व्यसन और शान दिखाने के लिए मौजूद था। होटलों में रात को नाच-गाने होते थे और वहाँ ख़ूब भीड़ लगती थी। घुड़दौड़ और दूसरे खेल-कूद पहले की तरह ही जारी थे। बड़े-बड़े शहरों में बड़े-बड़े अमीर ख़ूब दिखाई देते थे और सोवियट सरकार के पतन की आशा में खुल्लमखुल्ला ख़ुशियाँ मनाते हुए दिखाई देते थे। ये लोग, जोकि जर्मनी के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रखने में इतनी ज्यादा देश-भक्ति जाहिर करते थे, अब इस बात पर उत्सव करने लगे कि जर्मन लोग पेट्रोग्रेड की तरफ़ बढ़ते चले आ रहे हैं। ये लोग इस आशा में कि जर्मन सेनायें इनकी राजधानी पर कब्ज़ा कर लेंगी, बहुत प्रसन्न थे। विदेशियों के राज्य का डर इनके हृदय में इतना नहीं था, जितनी सामाजिक क्रान्ति की घृणा। यह बात हमेशा होती है, ख़ास तौर से तब, जब मामला वर्गों का होता है। हम हिन्दुस्तान में आज यही देखते हैं। यहाँ भी बहुत-से ऐसे आदमी हैं, जो विदेशी हुकूमत को बेहतर समझते हैं, इस बात के मुक़ाबिले में कि विशेषाधिकार और स्वत्व, जो अब इनको मिले हुए हैं, इनके हाथ से जाते रहें।

जनता का जीवन पहले ही जैसा था और इस समय बोलशेविकों का कोई आतंक भी नहीं था। मास्को का मशहूर नाच बराबर होता था और थियेटरों में ख़ूब भीड़ लगती थी। जब पेट्रोग्रेड पर जर्मनों के कब्ज़ा कर लेने का ख़तरा पैदा हुआ, सोवियट सरकार मास्को चली आई। उस समय से मास्को सोवियट की राजधानी रहा है। मित्र पक्ष के राजदूत अभी तक रूस में थे। जब यह अन्देशा हुआ कि पेट्रोग्रेड पर जर्मनों का क़ब्ज़ा हो जायगा, वे पेट्रोग्रेड से भाग गये और जाकर 'वोलोगडा' में, जो एक छोटा सा क़स्बा है, आराम के साथ मजे में बस गये। वे लोग यहाँ रहते थे और तरह-तरह की अफ़वाहें, जो इनके पास पहुँचती थीं, सुनकर बराबर परेशान और बेचैन रहा करते थे। वे बराबर ट्राटस्की से पूछते रहते थे कि अफ़वाहें कहाँ तक सही हैं। इन पुराने राजदूतों की इस मानसिक परेशानी से ट्राटस्की बहुत परेशान हो

गया और इसने वोलगडा के हिज़ एक्सेलेंसियों की मानसिक वेचैनी को शान्त करने के लिए एक ब्रोमाइड का नुस्खा लिखना चाहा। डाक्टर लोग हिस्टीरिया और वेचैनी से पीड़ित लोगों की मानसिक परेशानी को ठंडा करने के लिए ब्रोमाइड देते हैं।

ऊपर-ऊपर ज़िन्दगी जरूर साधारण थी, लेकिन इस ज़ाहिरा शान्ति के नीचे अनेक धारायें अनुकूल और प्रतिकूल बहती थीं। कोई भी इस वात की उम्मीद नहीं करता था और वोलशेविक लोगों को भी इसकी उम्मीद नहीं थी कि वे बहुत दिनों तक क़ायम रह सकेंगे। हरेक आदमी साजिश में लगा था। जर्मन लोगों ने दक्षिण रूस में यूक्रेन में एक रियासत क़ायम कर रक्खी थी जो इनके हाथ की कठपुतली थी और सुलह हो जाने पर भी ये लोग सोवियट को वरावर धमकाते रहते थे। मित्र-पक्ष जरूर जर्मनों से नफ़रत करता था, लेकिन वह बोलशेविकों से और भी ज्यादा नफ़रत करता था। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने सोवियट कांग्रेस को १९१८ के शुरू में प्रेम-सन्देश भेजा था, लेकिन वाद को मालूम होता है कि वह इस वात पर पछताया और उसने अपने ख़याल वदल दिये। इस तरह से मित्र-पक्ष के लोगों ने निजी तौर पर, क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के विरोध में जो आन्दोलन था उसकी सहायता की और उसको रुपये-पैसे से मदद दी। वे छिपे-छिपे क्रान्तिकारी दल के ख़िलाफ़ काम भी करते थे। विदेशी जासूसों से मास्को भरा पड़ा था। अंग्रेज़ी ख़ुफ़िया पुलिस का ख़ास आदमी, जो ब्रिटेन का सवसे वड़ा जासूस समझा जाता था, सोवियट सरकार को परेशान करने के लिए भेजा गया था। जिन वडे-वडे आदमियों को उनकी जायदाद से वंचित कर दिया गया था, वे मित्र-पक्ष के रुपये से क्रान्ति के विरुद्ध वरावर आन्दोलन भड़काते रहते थे।

१९१८ के मध्य के क़रीव यह हालत थी। सोवियट की जान कच्चे धागे से लटक रही थी।

: १५२ :

सोवियट की विजय

११ अप्रैल, १९३३

जुलाई १९१८ के महीने में रूस की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। वोलशेविक लोगों पर जो जाल फेंका गया था वह सिकुड़ता जाता था और वे उसमें फँसते जाते थे। दक्षिण में यूक्रेन से जर्मनों की चढ़ाई का डर था और मित्र पक्ष के लोग जेकोस्लोवेकिया के लड़ाई के पुरानें क़ैदियों की एक वडी तादाद को इस वात का प्रोत्साहन दे रहे थे कि वह मास्को पर टूट पडे। फ़्रान्स में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महा

युद्ध अभी तक जारी था लेकिन सोवियट रूस में विचित्र दृश्य यह दिखाई देता था कि जर्मन शक्तियाँ और मित्र दल दोनों अलग-अलग एक ही काम में यानी बोलशेविकों को कुचलने में लगे थे। इस स्थान पर हमें फिर यह बात दीख जाती है कि श्रेणी-सम्बन्धी घृणा राष्ट्रीय घृणा से कितनी ज्यादा ताक़तवर होती है और राष्ट्रीय घृणा स्वयं काफ़ी विषैली और कटु हुआ करती है। इन शक्तियों ने रूस के ख़िलाफ़ सरकारी तौर पर युद्ध की घोषणा नहीं की थी, लेकिन सोवियट को परेशान करने के इन्होंने बहुत से तरीक़े निकाल लिये थे, ख़ास कर ऐसे नेताओं को हथियारों से और पैसे से मदद देते थे और उनको प्रोत्साहन दिया करते थे जो क्रान्ति के ख़िलाफ़ थे। ज़ार से बहुत पुराने सेनापतियों ने सोवियट के ख़िलाफ़ लड़ाई शुरू कर दी।

ज़ार और उसका कुटुम्ब पूर्वी रूस में यूरल पहाड़ों के नज़दीक एक स्थानीय सोवियट की निगरानी में क़ैदी बना कर रक्खे गये थे। जेक सेनाओं के इस प्रदेश की तरफ़ बढ़ने की वजह से स्थानीय सोवियट डर गई। वह घबड़ा गई कि कहीं ज़ार छुड़ा न लिया जाय और क्रान्ति के खिलाफ़ एक बड़ी ताक़त न बन जाय। इसलिए उन्होंने क़ानून को अपनी तबीयत के मुताबिक़ काम में लाकर सारे कुटुम्ब को गोली से मार दिया। इससे मालूम होता है कि सोवियट की केन्द्रीय कमेटी का ज़ार और ज़ार के क़त्ल के में कोई हाथ न था। लेनिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से ज़ार के और दया की दृष्टि से उसके कुटुम्ब के क़त्ल के ख़िलाफ़ था। चूंकि यह हरकत हो चुकी थी, केन्द्रीय सरकार ने इसका समर्थन किया। शायद मित्र-पक्ष की सरकार इस घटना से और भी बिगड़ गई और वह पहले से ज्यादा विरोध करने के लिए तैयार हो गई।

अगस्त के महीने में स्थिति बदतर हो गई और दो घटनायें ऐसी हुईं जिनकी वजह से क्रोध, निराशा और आतंक पैदा हो गया। एक घटना तो यह थी कि लेनिन को मारने की कोशिश की गई और दूसरी यह कि उत्तर रूस में आर्चेजिल पर मित्र पक्ष की फ़ौजें पहुच गईं। मास्को में बड़ी जोरदार सनसनी फैल गई। मालूम होता था कि बस सोवियट का ख़ात्मा होने वाला है। मास्को को खुद दुश्मनों ने चारों तरफ़ से घेर लिया था। जर्मन, जेक और क्रान्तिकारियों के खिलाफ़ जो दल थे वे इसके चारों ओर पड़े थे। मास्को के चारों तरफ़ सिर्फ़ चन्द जिलों में ही सोवियट का राज्य था और मित्र-पक्ष की सेना के उतर पड़ने से इसका भी ख़ात्मा निश्चित हो गया। बोल-शेविकों के पास कोई बड़ी फ़ौज नहीं थी। ब्रेस्ट लिटोस्क के समझौते के अभी सिर्फ़ ५ महीने ही गुजरे थे और पुरानी फ़ौज का ज्यादा हिस्सा खेती-किसानी में लग गया था। मास्को में खुद बहुत से षड्यन्त्र पैदा हो गये थे और बुर्जुआ यानी मध्यम वर्ग के लोग खुल्लमखुल्ला खुशियां मना रहे थे कि सोवियट का ख़ातमा होने वाला है।

नौ महीने की उम्र वाले सोवियट प्रजातन्त्र की यह भयंकर दशा थी। बोलशेविक लोग निराशा और भय में फँस गये और जब इन्होंने देखा कि अब मरना ही है तो सोचा कि लड़ते हुए ही प्राण क्यों न दिये जाँय। १२५ वर्ष पहले जिस तरह नये फ़्रान्सीसी प्रजातन्त्र ने किया था वैसे ही ये चारों तरफ़ से घिर गये और रास्ता न पाने वाले जंगली जानवर की तरह वे अपने दुश्मन पर टूट पडे। न तो क्षमा की बात रही, न दया की। सारे देश में फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया। और सितम्बर की शुरुआत में केन्द्रीय सोवियट कमेटी ने 'ख़ूनी आतंक' (Red Terror) की घोषणा की। 'सारे देशद्रोहियों का क़त्ल और विदेशी हमला करने वालों के ख़िलाफ़ निर्दयतापूर्ण युद्ध' यह उनकी पुकार थी। उन्होंने निश्चय किया कि हम अपने दुश्मनों के ख़िलाफ़ चाहे वह देश के अन्दर के हों या बाहर के, डटकर लड़ेंगे। अब सोवियट का मुक़ाबिला दुनिया से और अपने ही देश के संकीर्ण दल से पड़ गया। 'सैनिक साम्यवाद' का युग आ गया और सारा देश एक क़िस्म का फ़ौजी कैम्प बन गया। लाल सेना के संगठन के लिए हरेक क़िस्म की कोशिश की गई और यह काम ट्राटस्की को सौंपा गया।

यह सितम्बर-अक्तूबर १९१८ की बात है, जबकि पश्चिम में जर्मनों की युद्ध की मशीन टूट रही थी और लड़ाई बन्द करने की चर्चा चल रही थी। प्रेसीडेण्ट विलसन ने अपनी १४ शर्तें पेश कर दी थीं, जिनके बारे में कहा जाता था कि उनमें मित्र-पक्ष का सब मतलब आ गया था। इनमें से एक बात यह थी कि रूस की सारी जमीन पर से मित्र-पक्ष की फ़ौजें हटा ली जायँ और मित्र-पक्ष की मदद से रूस को अपनी उन्नति का पूरा-पूरा मौक़ा दिया जाय। मित्रपक्ष के लोगों का रूस में हस्तक्षेप करना और वहाँ अपनी फौजों को उतार देना, इस सिद्धान्त पर एक अनुपम टीका कही जा सकती है। बोलशेविक सरकार ने प्रेसीडेण्ट विलसन के पास एक नोट भेजा और जोरों के साथ उनकी १४-शर्तों पर ऐतराज किया। उसने लिखा:—

"आप पोलैण्ड, सर्विया, बेलजियम और आस्ट्रिया-हंगरी के लोगों की आजादी की मांग पेश करते हैं, लेकिन ताज्जुब यह है कि आपकी मांगों में आयर्लैण्ड, मिस्र, हिन्दुस्तान और फिलीपाइन द्वीपों की आजादी का कोई जिक्र नहीं है।"

११ नवम्बर १९१८ को मित्रपक्ष और जर्मनपक्ष में सुलह हो गई और सुलहनामे पर दस्तख़त भी हो गये, लेकिन रूस में १९१९ और १९२० भर गृह-युद्ध चलता रहा। अकेले दम सोवियट ने बहुत से दुश्मनों का मुक़ाबिला किया। एक वक्त ऐसा था जब सोवियट के ऊपर सत्रह मुख़्तलिफ़ मोर्चों से हमले हुए थे। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, जापान, इटली, सर्विया, जेकोस्लोवेकिया, रूमानिया, बालकन स्टेट्स, पोलैण्ड और सैकड़ों रूसी सेनापति, जो क्रान्ति के ख़िलाफ़ थे, सोवियट पर हमला कर रहे थे और लड़ाई

पूर्वी साइबेरिया से लेकर बाल्टिक और क्रीमिया तक जारी थी। बार-बार यही मालूम होता था कि सोवियट का ख़ात्मा हुआ। मास्को खुद खतरे में था और पेट्रोग्रेड दुश्मन के हाथ में जाने ही वाला था। लेकिन सोवियट ने हरेक नाजुक मौक़े पर विजय पाई और हरेक विजय के साथ उसकी ताक़त और उसका आत्म-विश्वास बढ़ता गया।

क्रान्तिकारियों के ख़िलाफ दल का एक नेता एडमिरल कोलचक था। वह अपने-को रूस का शासक कहता था। मित्र-दल के लोग उसको शासक मानते थे और उसकी बडी मदद करते थे। जनरल ग्रेव्ज अमेरिका की सेना के सेनापति थे और कोलचक की सेना को मदद दे रहे थे। उनके कथन से पता चलता है कि एडमिरल कोलचक साइबेरिया में कैसी-कैसी हरकतें करता था। यह अमेरिकन जनरल लिखता है :—

"भयंकर हत्यायें की गई; लेकिन ये हत्यायें, जैसा दुनिया समझती है, बोल-शेविकों ने नहीं कीं। मैं यह सचाई के साथ कह सकता हूँ कि पूर्वी साइबेरिया में अगर बोलशेविकों ने एक हत्या की है तो उनके ख़िलाफ़ दल ने उसके मुक़ाबिले में सौ हत्यायें की हैं।"

तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि बडे-बडे राजनीतिज्ञ बडे-बडे राष्ट्रों के मामलात को कितने कम ज्ञान पर चलाते हैं और लड़ाई तथा सुलह करते हैं। लायड जार्ज उस वक्त ब्रिटेन का प्रधान सचिव था और योरप में शायद सबसे ज्यादा प्रभावशाली आदमी उस वक्त वही था। हाउस आफ कामन्स में रूस पर व्याख्यान देते हुए उसने कोलचक और दूसरे सेनापतियों का जिक्र किया। जहाँ उसने जनरल कोलचक का जिक्र किया वहाँ जनरल ख़ारकफ़ का भी जिक्र कर दिया। पर ख़ारकफ़ कोई जनरल नहीं था। ख़ारकफ़ तो एक मशहूर शहर का नाम है, जो यूक्रेन की राजधानी है। भूगोल की प्रारंभिक बातों से इस प्रकार अपरिचित होते हुए भी इन राजनीतिज्ञों ने योरप को टुकडे-टुकडे कर दिया और एक नया नकशा तैयार कर दिया !

मित्र-दल ने भी रूस की नाकेबन्दी की और यह नाकेबन्दी इतनी कामयाब रही कि सन् १९१९ भर रूस विदेशों से न तो कुछ ख़रीद सका, न बेच सका।

इन तमाम बडी-बडी कठिनाइयों और अनेक शक्तिशाली दुश्मनों के होते हुए भी सोवियट रूस जिन्दा रहा और विजयी रहा। इतिहास में यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात हुई है। वह कैसे कामयाब हुआ ? इसमें कोई शक नहीं कि अगर मित्रपक्ष संयुक्त रहते और बोलशेविक लोगों को कुचलने पर तुल जाते तो शुरू के दिनों में उन्हें कुचल सकते थे। जर्मनी को हराने के बाद, उनके पास विशाल सेना ख़ाली हो गई थी। लेकिन इन सेनाओं का किसी दूसरी जगह पर और ख़ासकर सोवियट के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करना आसान नहीं था। ये सब सेनायें लड़ाई से थक गई थीं और अगर

विदेशों में जाकर फिर लड़ने को कहा जाता तो शायद इन्कार कर देतीं। मजदूरों में इस नवीन रूस के लिए बडी हमदर्दी थी और मित्र-दल की सरकारें इस बात से डरती थीं कि अगर सोवियट के ख़िलाफ़ खुल्लमखुल्ला लड़ाई छेड़ दी गई तो मुमकिन है देश के अन्दर ही गड़बड़ मच जाय। योरप क्रान्ति के किनारे पहुँच चुका था। तीसरी बात यह थी कि मित्रदल के लोगों में आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। जब सुलह हुई, इनमें आपस में लड़ाई-झगड़ा शुरू होगया। इन सब बातों की वजह से मित्र-दल बोलशेविकों को ख़त्म करने के लिए कोई दृढ़ प्रयत्न नहीं कर सका। ये लोग अप्रत्यक्ष रूप से बोलशेविकों का ख़ात्मा करना चाहते थे। कोशिश इनकी यह थी कि कोई दूसरा लड़ाई लडे जिसे ये रुपये-पैसे से, अस्त्र-शस्त्र से और सलाह-मशविरे से मदद दें। इनको पूरा यक़ीन था कि सोवियट चल न सकेगी।

इन सब बातों की वजह से सोवियट को निस्सन्देह बहुत मदद मिल गई और उसको अपनेको मजबूत बनाने के लिए वक्त मिल गया। लेकिन यह ख़याल करना कि बोलशेविकों की विजय बाहर की परिस्थिति की वजह से हुई, बोलशेविकों के साथ अन्याय करना है। विजय की असली वजह तो यह थी कि रूस की जनता में आत्म-विश्वास था, श्रद्धा थी, आत्म-त्याग था और दृढ़ संकल्प था। आश्चर्य की बात तो यह है कि यही रूसी लोग हर जगह पर आलसी, जाहिल, सिद्धान्त-भ्रष्ट और किसी महान् प्रयत्न के लिए अयोग्य समझे जाते थे। आजादी एक क़िस्म की आदत है और अगर हम बहुत दिनों तक इस आदत से वंचित रहें तो हम इसे भूल जाते हैं। इन जाहिल रूसी किसानों और मजदूरों को बिलकुल मौक़ा नहीं मिलता था कि इस आदत पर अमल कर सकें। लेकिन रूस में उस समय ऐसे क़ाबिल नेता पाये जाते थे कि उन्होंने इन असहाय लोगों को एक मजबूत और संगठित क़ौम बना दिया जिसे अपने सिद्धान्तों में पूरा विश्वास और अपने ऊपर पूरा भरोसा था। कोलचक और उसके संगी-साथी हार गये, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि बोलशेविक नेताओं में दृढ़ता और योग्यता पाई जाती थी, बल्कि इसलिए कि रूसी कोलचक और उसके साथियों की बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे। ये उन्हें पुरानी प्रणाली का प्रतिनिधि समझते थे जो कि इनके नये पाये हुए अधिकार और हाल में मिली हुई जमीन को छीनने के लिए आये थे। इसलिए किसानों ने यह निश्चय किया कि मरते दम तक इन अधिकारों की रक्षा करेंगे।

सबसे ऊपर और ज्यादा अख़्तियार रखनेवाला आदमी लेनिन था। रूसियों के लिए यह शख़्स देवता होगया। उनकी आशाओं और उमंगों का नुमाइन्दा; ऐसा बुद्धिमान जो हरेक परेशानी से निकलने का ढंग जानता था और इसे कोई भी

चीज परेशान नहीं कर सकती थी और न डिगा सकती थी। इसके बाद इस जमाने में ट्राटस्की समझा जाता था (जो आजकल रूस में वदनाम होगया है)। ट्राटस्की लेखक और वक्ता था। उसे सेना के संगठन का पहले से कोई अनुभव नहीं था। पर उसने गृहयुद्ध और नाकेवन्दी के होते हुए भी एक बडी सेना के संगठन का काम शुरू किया। ट्राटस्की ख़तरे की परवा न करनेवाला बड़ा वहादुर आदमी था और लड़ाई में वह अकसर अपनी जान ख़तरे में डाल देता था। वुज़दिलों और अनुशासन के ख़िलाफ़ काम करनेवालों के लिए उसके पास ज़रा भी दया नहीं थी। गृहयुद्ध के एक नाज़ुक मौक़े पर उसने यह आज्ञा निकाली थी :—

"मैं चेतावनी देता हूँ कि अगर फ़ौज का कोई टुकड़ा वग़ैर हुक्म के पीछे हटेगा तो पहले कमीसरी मार दिया जायगा और उसके वाद कमाण्डर। इनकी जगहों पर वहादुर और निर्भीक सिपाही मुक़र्रर किये जायंगे। वुज़दिल, डरपोक और देशद्रोही गोली से न वच सकेंगे। सारी लाल सेना के सामने मैं इस वात का गम्भीरतापूर्वक वादा करता हूँ।"

और उसने अपने वादे को पूरा किया।

ट्राटस्की ने अक्तूवर १९१९ में एक फ़ौजी हुक्म निकाला था। वह भी बड़ा दिलचस्प है, क्योंकि उससे जाहिर होता है कि वोलशेविक लोग हमेशा जनता को और पूंजीपति सरकारों को दो चीज मानते रहे और कभी उन्होंने राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं रक्खा। हुक्म यह है :—

"But, even to-day, when we are engaged in a bitter fight with Yudenich, the hireling of England, I demand that you never forget that there are two Englands. Besides the England of profits, of violence, bribery and blood-thirstiness, there is the England of labour, of spiritual power, of high ideals of international solidarity. It is the base and dishonest England of the Stock Exchange manipulators that is fighting us. The England of labour and the people is with us."

अर्थात् "आज भी, जव कि हम इंग्लैण्ड के पिट्ठू यूडनिच से कठोर लड़ाई लड़ रहे हैं, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम कभी इस वात को न भूलो कि इंग्लैण्ड दो हैं। एक इंग्लैण्ड है मुनाफ़ाख़ोरों का, ज़ालिमों का, रिश्वत लेनेवालों का, और ख़ून के प्यासों का। दूसरी तरफ़ एक दूसरा इंग्लैण्ड है मज़दूरों का, आध्यात्मिक शक्ति का और अन्तर्राष्ट्रीय दृढ़ता के लिए ऊँचे आदर्शों का। जो इंग्लैण्ड हमसे लड़ाई कर रहा है वह शेयर वाज़ार का कमीना, वेईमान इंग्लैण्ड है। जनता का, मज़दूरों का इंग्लैण्ड हमारे साथ है।"

जिस दृढ़ता के साथ लाल सेना लड़ाई गई, उसका अन्दाजा नीचे लिखी हुई

घटना से हो सकता है। जिस वक्त यूडनिच ने पेट्रोग्रेड को घेर लिया और यह शहर उसके हाथ में जाने ही वाला था, उस वक्त रक्षा-समिति ने एक आज्ञा निकाली—"पेट्रोग्रेड की रक्षा ख़ून का आख़िरी क़तरा बहाकर भी करनी चाहिए। गज़भर भी पीछे न हटना चाहिए और शहर के अन्दर दुश्मन आजाय तो शहर की गलियों में भी लड़ाई जारी रखनी चाहिए।"

रूस के मशहूर लेखक मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि लेनिन ने ट्राटस्की के बारे में एक दफ़ा यह कहा था—"मुझे तुम कोई दूसरा आदमी ऐसा दिखा दो जो साल-भर के अन्दर एक नमूने की सेना संगठित करके दिखा दे और सेना के विशेषज्ञों का सम्मानपात्र भी होजाय। हमें ऐसा आदमी मिला हुआ है; हमारे पास सब कुछ है और चमत्कार अब भी घटित होनेवाले हैं।"

यह लाल सेना दिन-दूनी और रात-चौगुनी तरक्क़ी करती गई। बोलशेविकों के अख़्तियार पाने के थोड़े ही दिन बाद, दिसम्बर १९१७ में, ४ लाख ३५ हज़ार आदमी इस सेना में शामिल हो चुके थे। ब्रेस्ट लिटोस्क के बाद इस सेना का बहुत कुछ हिस्सा ज़रूर ग़ायब होगया और उसको नये सिरे से बनाना पड़ा। सन् १९१९ के मध्य में इस सेना में १५ लाख आदमी पहुँच गये थे और सालभर बाद यही सेना ५३ लाख आदमियों की होगई।

ट्राटस्की रूस का बहुत बड़ा नायक होगया। लेकिन वह इतना सहृदय नहीं था जितना लेनिन था और इसीलिए लोग इसे उतना प्यार नहीं करते थे जितना लेनिन को। लेनिन को छोड़कर उसकी किसी दूसरे पुराने बोलशेविक से नहीं पटती थी। लेनिन के मरने के बाद ही इन लोगों में आपस में झगड़ा होगया और ट्राटस्की, जो क्रान्ति का वीर पुरुष था और जिसने लाल सेना का निर्माण किया था, रूस से निर्वासित कर दिया गया।

१९१९ के ख़त्म होते-होते सोवियट ने निश्चित रूप से गृह-युद्ध में अपने दुश्मनों को नीचा दिखा दिया था; लेकिन लड़ाई एक साल तक और क़ायम रही और नाज़ुक मौक़े आते रहे। १९२० में पोलैण्ड के नये राज्य से रूस की लड़ाई छिड़ गई। जर्मनों की पराजय के बाद पोलैण्ड का नया राज्य बन गया था। लेकिन ये सब लड़ाइयाँ १९२० के ख़त्म होते-होते समाप्त होगईं और रूस को कुछ शान्ति मिल गई।

इसी दरमियान अन्दरूनी कठिनाइयाँ बढ़ चुकी थीं। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और दुष्काल ने देश की बहुत बुरी हालत कर डाली थी। उपज बहुत ज़्यादा घट गई थी, क्योंकि जब प्रतिद्वन्द्वी सेनायें देश को रौंद रही हों, तब न तो किसान खेत जोत सकता है और न मज़दूर मिलों में चीज़ों को बना सकता है। सैनिक साम्यवाद की

वजह से मुल्क किसी-न-किसी तरह ख़तरे से बचा था, लेकिन हरेक को अपनी पेटी कसनी पडी थी और यह काम आगे चलकर बहुत कठिन होगया। किसानों को खेतों से ज्यादा उपज पैदा करने की कोई उत्सुकता नहीं थी, क्योंकि वे कहते थे कि जब राज्य ज्यादा पैदा हुआ अन्न खुद ही लेलेगा तो ज्यादा पैदा करने की परेशानी हम क्यों उठायें? स्थिति बडी कठिन और भयानक होती जाती थी। जहाज़ के सिपाहियों ने पीटर्सबर्ग के क़रीब क्रांसटाट में बलवा कर दिया था। पीटर्सबर्ग में भी हड़तालें हुई थीं।

लेनिन ने, जिसमें यह अद्भुत गुण था कि वह सिद्धान्तों को मौजूदा स्थिति के अनुसार ढाल सकता था, फ़ौरन क़दम आगे बढ़ाया। उसने सैनिक साम्यवाद का ख़ात्मा किया और एक नई नीति चलाई, जिसका नाम था 'नई आर्थिक नीति'। इसकी वजह से किसान को पैदा करने और अपने माल को बेचने की ज्यादा आज़ादी मिल गई। इस नीति का अर्थ यह था कि किसी हद तक साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार ये लोग पीछे हट रहे थे; लेकिन लेनिन नें, यह कहकर कि यह कार्रवाई अस्थायी रूप से की जा रही है, उसे उचित बताया। निस्सन्देह जनता को इसकी वजह से कुछ मदद मिली; लेकिन जल्द ही रूस को एक दूसरी भयंकर आपत्ति का सामना करना पड़ गया। रूस में दुष्काल पड़ा; दक्षिण-पूर्व रूस के बहुत बडे क्षेत्र में पानी न बरसने की वजह से फसल नष्ट होगई। यह बड़ा भयंकर दुष्काल था और बडे-से-बडे दुष्कालों में से एक दुष्काल कहा जा सकता है। लाखों आदमी भूखों मर गये। चूंकि कई सालों की मुतवातिर लड़ाई, गृह-युद्ध, नाकाबन्दी और आर्थिक पतन के बाद यह दुष्काल पड़ा था और सोवियट सरकार को इतना समय नहीं मिला था कि वह शान्ति-पूर्वक अपना कार्यक्रम चला सके, इसलिए मुमकिन था कि इस दुष्काल की वजह से सरकार का ढांचा बैठ जाता। लेकिन सोवियट जिस प्रकार इसके पहले की आफ़तों को पार कर गई थी, इस आफ़त से भी ज़िन्दा निकल आई। यूरोपियन सरकारों के प्रतिनिधियों की एक कान्फ़्रेंस हुई, जिसमें इस बात पर विचार करना था कि दुष्काल पीड़ितों को क्या मदद दी जाय। इस कान्फ़्रेंस ने यह निश्चय किया कि जबतक सोवियट सरकार इस बात का वादा नहीं करती कि ज़ार के लिये हुए कर्ज़ को अदा करेगी, उस समय तक कोई मदद नहीं दी जा सकती। दया की प्रवृत्ति से महाजनी की प्रवृत्ति ज्यादा मजबूत निकली और रूसी माताओं की ओर से अपने मरते हुए बच्चों की रक्षा के लिए की हुई अपील को भी किसीने नहीं सुना। लेकिन अमेरिका ने कोई शर्त नहीं की और बडी मदद की।

इंग्लैण्ड और दूसरे यूरोपियन देशों ने रूस के दुष्काल में मदद देने से इन्कार कर दिया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि वे सोवियट का और तरह से

वहिष्कार कर रहे थे। १९२१ की शुरुआत में एक अंग्रेज-रूसी व्यापारिक संधि हुई थी और वहुतसे देशों ने इस उदाहरण का अनुकरण भी किया था और सोवियट के साथ व्यापारिक संधियाँ भी की थीं।

पूर्वी देशों—जैसे चीन, तुर्की, फारस और अफ़ग़ानिस्तान—के साथ सोवियट की नीति वहुत उदार रही। जार के प्राप्त किये हुए पुराने अधिकारों को उसने छोड़ दिया और बहुत दोस्ताना बर्ताव करने की कोशिश की। यह वात इसलिए की गई थी, क्योंकि उसका सिद्धान्त था कि शोषित और पराधीन जातियों को स्वतंत्रता दी जाय। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण अभिप्राय उसका यह था कि सोवियट की अपनी स्थिति मजबूत होजाय। साम्राज्यवादी राष्ट्र, मसलन इंग्लैण्ड, सोवियट रूस की उदारता की वजह से अकसर परेशानी में पड़ जाते थे। पूर्वी देश तुलना करने लगते थे, जिसमें इंग्लैंड की और दूसरी क़ौमों की वदनामी होती थी।

१९१९ में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हुई, जिसके वारे में मुझे जरूर बताना चाहिए। कम्यूनिस्ट पार्टी यानी साम्यवादी दल ने मास्को में 'थर्ड इण्टरनेशनल' (तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ) क़ायम किया। मैंने तुम्हें पहले के खतों में वताया है कि कार्ल मार्क्स ने 'फर्स्ट इण्टरनेशनल' वनाया था और सेकण्ड इण्टरनेशनल १९१४ में लड़ाई शुरू होने के मौके पर अनेक वीरतापूर्ण शब्दों के वाद ख़त्म होगया। वोलशेविकों का कहना था कि पुराने साम्यवादियों और मजदूरों की पार्टियों ने, जिनसे मिलकर यह 'सेकण्ड इण्टरनेशनल' वना था, मजदूरों को धोखा दिया, इसलिए इन लोगों ने 'थर्ड इण्टरनेशनल' वनाया, जिसका आदर्श निश्चित रूप से क्रान्तिकारी था। यह इसलिए बनाया गया कि बोलशेविक साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के खिलाफ़ और उन मौके से फ़ायदा उठानेवाले साम्यवादियों के ख़िलाफ़ युद्ध कर सकें जो सड़क के वीच से चलने की नीति को मानते हैं। इस इण्टरनेशनल को 'कामिण्टर्न' कहते हैं, जो कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल का संक्षिप्त है। इसने वहुत देशों में खूब प्रचार किया है। जैसा इसके नाम से जाहिर होता है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, जिसमें अनेक देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि शामिल हैं। लेकिन चूँकि रूस ही एक ऐसा देश है जिसमें कम्यूनिज्म यानी साम्यवाद को विजय मिली है, इस संस्था में यानी कामिटर्न में रूसी ज्यादा हैं। 'कामिण्टर्न' दूसरी चीज है और सोवियट दूसरी चीज है। हालांकि बहुतसे आदमी ऐसे हैं जो दोनों संस्थाओं के प्रमुख समझे जाते हैं। चूंकि 'कामिण्टर्न' एक ऐसी संस्था है जो खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारी साम्यवाद फैलाने के लिए क़ायम है, साम्राज्यवादी कौमें इसके सख़्त ख़िलाफ़ हैं और अपने देशों में इसके काम को दवाने के लिए हमेशा कोशिश करती हैं।

सेकण्ड इटण्रनेशनल ('मजदूरों और समाजवादियों की इण्टरनेशनल') को लड़ाई के बाद योरप में फिर से जिन्दा किया गया। बहुत हद तक, कम-से-कम सिद्धान्त-रूप में, सेकण्ड और थर्ड इण्टरनेशनल का उद्देश्य एक ही है। लेकिन इनके विचार और इनके काम करने के तरीक़ों में बहुत भेद है और इनमें आपस में बहुत लड़ाई है। ये अपने दुश्मन पूंजीवाद पर इतना आक्रमण नहीं करते और उससे इतनी लड़ाई-झगड़ा नहीं करते जितना आपस में लड़ते हैं और एक-दूसरे से लड़ाई-झगड़ा करते हैं। 'सेकण्ड इण्टरनेशनल' अब एक शरीफ़ और भले मानुषों की संस्था बन गई है और योरप की सरकारों के मन्त्रिमण्डल के अनेक सदस्य इसके सदस्य हैं। तीसरा इण्टर-नेशनल अभीतक क्रान्तिकारी है और इसलिए अभीतक भले मानुषों की संस्था नहीं बन सका है।

रूस में गृह-युद्ध के ज़माने में लाल आतंक (Red Terror) और श्वेत आतंक (White Terror) अपनी कठोर निर्दयता के लिए बराबर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे और ग़ालिबन श्वेत आतंक ने इस मामले में लाल आतंक को मात कर दिया। साइबेरिया में कोलचक के अत्याचारों के बारे में अमेरिकन सेनापति के वर्णन से, जिसे मैं पहले दे चुका हूँ, और दूसरे वर्णनों से भी यही नतीजा निकलता है। लेकिन इसमें भी शक नहीं कि लाल आतंक भी बहुत कठोर था और बहुतसे निर्दोष आदमी इसके शिकार हुए। बोलशेविक लोग, जिनपर चारों तरफ़ से हमला हो रहा था और जो चारों तरफ़ जासूसों और षड्यन्त्रों से घिरे हुए थे, ज़रासे शुबहे के ऊपर घबरा जाते थे और बडी सख़्ती से सज़ा देते थे। बोलशेविकों की राजनैतिक पुलिस, जिसको चेका कहते थे, इस अत्याचार के लिए बदनाम होगई। यह चेका हिन्दुस्तान की खुफ़िया पुलिस की तरह की चीज़ थी, लेकिन इसके अख़्तियारात ज्यादा थे।

यह ख़त लम्बा होता जाता है और इसे ख़त्म करने के पहले मैं तुम्हें लेनिन के बारे में कुछ बता देना चाहता हूँ। अगस्त १९१८ में, जब उसकी जान लेने की कोशिश की गई थी, उसे गहरी चोट लगी थी। इसपर भी लेनिन ने ज्यादा विश्राम नहीं लिया। वह बहुत जोरों के साथ काम कर रहा था और १९२२ की मई में उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया, जो अनिवार्य था। कुछ दिन आराम करने के बाद उसने फिर काम शुरू कर दिया, लेकिन ज्यादा दिनों तक काम नहीं कर सका। १९२३ में उसका स्वास्थ्य पहले से भी ज्यादा ख़राब होगया और इस बीमारी से वह नहीं बच सका। २१ जनवरी १९२४ को मास्को के नज़दीक उसका प्राणान्त होगया।

बहुत दिनों तक उसका शरीर मास्को में रक्खा रहा। जाडे का मौसम था और रासायनिक पदार्थों से शरीर को सुरक्षित रक्खा गया था। सारे रूस-भर से और

साइबेरिया के दूर-दराज मैदानों से जन-साधारण के प्रतिनिधि आते थे—किसान और मजदूर मर्द, औरत और बच्चे—और अपने प्यारे कामरेड यानी साथी को, जिसने उन्हें गहरे गड्ढे से बाहर निकाला था और अधिक खुशहाल जिन्दगी की तरफ़ जाने का रास्ता दिखाया था, अन्तिम सम्मान और आदर देकर चले जाते थे। इन लोगों ने मास्को के सुन्दर रेड स्क्वायर में एक सीधा-सादा और श्रृंगार-शून्य मक़बरा उसके लिए बना दिया है और एक शीशे के बक्स में उसका शरीर अभीतक रक्खा हुआ है। हर शाम को वहाँपर लोगों का ताँता लगा रहता है और लोग चुपचाप उसका दर्शन करके चले जाते हैं। लेनिन को मरे हुए अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, फिर भी वह अपनी मातृभूमि रूस में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में एक प्रबल सिद्धान्त बन गया है। ज्यों-ज्यों जमाना गुजरता है, लेनिन महत्तर बनता जाता है। वह संसार के अमर लोगों की टोली का एक सदस्य होगया है। पेट्रोग्रेड का नाम लेनिनग्रेड होगया और रूस में क़रीब-क़रीब हर घर में लेनिन के लिए एक कोना मुक़र्रर है या लेनिन की तस्वीर है। लेकिन लेनिन जिन्दा है—तस्वीरों और यादगारों के रूप में नहीं, बल्कि उस विशाल कार्य के रूप में, जो उसने करके दिखा दिया। लेनिन जिन्दा है करोड़ों मजदूरों के हृदय में, और उसका उदाहरण उनकी जिन्दगी में नई जान फूंकता है, जिसकी वजह से उन्हें बेहतर दिन देखने की आशा है।

यह न समझ लेना कि लेनिन कोई अमानुषी मशीन था जो अपने काम में लगा रहता था और किसी दूसरी बात का ख़याल नहीं करता था। निस्सन्देह वह अपने काम में और अपने जीवन के उद्देश्य में बिलकुल तल्लीन था, फिर भी उसे अहंकार नहीं था। वह एक सिद्धान्त की मूर्त्ति था, फिर भी वह मनुष्य-जैसा था, और सबसे बड़ा मानुषी गुण उसमें यह था कि वह दिल खोलकर हँस सकता था। लॉक हार्ट मास्को में अंग्रेजों का एजेण्ट था और उस जमाने में, जबकि सोवियट खतरे में थी, वह वहीं रहता था। उसने लिखा है कि, चाहे जो हो लेनिन हमेशा हँसमुख दिखाई देता था। "मुझे जितने सार्वजनिक नेताओं से कभी भी मिलने का मौक़ा मिला है उन सबमें लेनिन का स्वभाव मुझे सबसे ज्यादा निर्लेप मालूम हुआ। वह अपनी बातचीत और अपने काम में सरल और स्पष्ट, लम्बी-चौडी बातों और दिखावे से नफ़रत करनेवाला था। वह संगीत का प्रेमी था—इतना प्रेमी कि अक्सर वह डरा करता था कि संगीत-प्रेम की वजह से कहीं उसके ऊपर बुरा असर न पड़ जाय और वह अपने काम-काज में मुलायम न हो जाय।"

लेनिन के एक साथी ने, जिसका नाम लूना चार्स्की था और जो कई वर्षों तक बोलशेविकों के शिक्षा-विभाग का कमीसार यानी मंत्री रह चुका था, लेनिन के बारे

में एक दफ़ा एक अजीव वात कही थी। वह कहता था कि पूंजीपतियों के प्रति लेनिन का व्यवहार बिलकुल वैसा ही है जैसा हजरत ईसा का रुपया उधार देनेवालों के प्रति था, जिन्हें उसने मन्दिर से निकाल दिया था। वह कहता था कि अगर हजरत ईसा आज जिन्दा होते तो वोलशेविक होते। ग़ैर-मजहवी आदमियों के लिए यह उपमा वडी आश्चर्यजनक है।

लेनिन ने एक दफ़ा स्त्रियों के वारे में कहा था—"कोई मुल्क आजाद नहीं हो सकता, जबकि आधी आवादी रसोईघर में क़ैद रहे"। एक दफ़ा वह कुछ बच्चों को खिला रहा था, तब उसने एक बहुत अच्छी वात कही। उसके पुराने दोस्त मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि उसने कहा—"इन लोगों की जिन्दगियाँ हम लोगों से ज्यादा आनन्दमय होंगी। इन्हें उन सब वातों का अनुभव नहीं करना पडेगा, जिसको हम सह चुके हैं। इनकी जिन्दगी में इतनी निर्दयता नहीं पाई जायगी।" निस्सन्देह हम सबको ऐसी ही आशा करनी चाहिए।

मैं इस ख़त को हाल के एक रूसी छन्द को देकर ख़त्म करूँगा। यह कोरस में गाने के लिए है। जिन लोगों ने इस संगीत को सुना है, वे कहते हैं कि इसमें जीवन और शक्ति भरी हुई है और यह गाना क्रान्तिकारी जनता की भावना का प्रतिरूप है। इसके अंग्रेजी अनुवाद में भी इस भावना की कुछ पुट आजाती है। इस गाने का नाम 'अक्तूवर' है, जिसका मतलव है नवम्बर सन् १७ की वोलशेविक क्रान्ति। उस जमाने में रूस का पंचांग असंशोधित था और पश्चिमी पंचांग से १३ दिन पीछे था। इस पंचांग के अनुसार मार्च सन् १७ की क्रान्ति फरवरी में हुई थी। इसलिए इसे फरवरी की क्रान्ति कहते हैं और इसी तरह वोलशेविक क्रान्ति, जो नवम्बर सन् १७ की शुरुआत में हुई, अक्तूवर की क्रान्ति कहलाती है। रूस ने अपना पंचांग अब वदल दिया है और संशोधित पंचांग चलाया है; लेकिन ये पुराने नाम अभीतक जारी हैं।

'अक्तूवर' गीत का अंग्रेजी अनुवाद यह है :

We went, asking for work and for bread,
Our hearts were oppressed with anguish,
The chimneys of the factories pointed toward the sky,
like tired hands without strength to make a fist.
Louder than the common, the silence was broken by the words
of our grief and our pain.
O Lenin! the desire of calloused hands.
We have understood, Lenin, we have understood that our lot is
a struggle! Struggle! Struggle!
You led us to the last fight. Struggle!

You gave us the victory of labour.
And no one shall take away from us this victory over ignorance and oppression.
No one ! No one ! Never ! Never !
Let everyone be young and brave in the struggle, because the name of our victory is October !
October ! October !
October is a messenger from the sun.
October is the will of the revolting centuries !
October ! It is a labour, it is a joy and a song.
October ! It is good fortune for the fields and machines !
Here is the banner name of the young generation and Lenin !

अर्थात्, "हम रोटी और काम की भीख माँगते ही जाते थे। हमारे हृदय दुःख से पीड़ित और शिथिल थे। अँगूठा दिखाने की ताकत से हीन हाथों की तरह कारखानों की चिमनियाँ आकाश की तरफ़ इशारा कर रही थीं। हमारे दुःख और दर्द के शब्दों से शान्ति, मामूली तरीक़े की बनिस्बत कहीं ज्यादा, भंग हो रही थी। टूटे हुए हाथों की आकांक्षा-सा ओ लेनिन ! हमने समझ लिया है; लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमें लड़ना, लड़ना और लड़ना है। तुमने अंतिम लड़ाई तक हमें पहुँचाया। तुमने हमें श्रमिकों की विजय दी और कोई अज्ञान और अत्याचार पर उस विजय को हमसे छीन नहीं सकता। कोई नहीं ! कोई नहीं ! कभी नहीं ! कभी नहीं ! लड़ाई में, संघर्ष में हरेक को युवा और बहादुर होने दो; क्योंकि हमारी विजय का नाम 'अक्तूबर' है। अक्तूबर ! अक्तूबर ! अक्तूबर सूर्य का संदेश-वाहक है। अक्तूबर विद्रोही शताब्दियों का संकल्प है। अक्तूबर ! यह श्रम है, आनन्द है, गान है। अक्तूबर ! यह खेतों और मशीनों का सौभाग्य है। यह युवा पीढ़ी और लेनिन के नाम का झण्डा है।"

: १५३ :

जापान चीन को दबाता है

१४ अप्रैल, १९३३

जिस समय महायुद्ध चल रहा था, सुदूर पूर्व के देशों में कुछ घटनायें ऐसी हुईं जिनपर ध्यान देना हमारे लिए जरूरी है। इसलिए अब मैं तुम्हें चीन की बात बताऊँगा। चीन के बारे में अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हें चीन में प्रजातंत्र के स्थापित होने की बात बताई थी और उन झगड़ों का भी ज़िक्र किया था जो इसके बाद हुए। फिर से साम्राज्य क़ायम करने की कोशिशें की गईं। लेकिन वे नाकामयाब रहीं। प्रजातंत्र भी सारे देश पर अपनी हुकूमत क़ायम करने में नाकामयाब रहा,

या यों कहो कि कोई एक सरकार सारे देश में हुकूमत क़ायम नहीं कर सकी। उस वक्त से अभीतक कोई एक शासन ऐसा नहीं बन सका जिसने सारे चीन पर बेरुटके शासन किया हो। कुछ सालों से इस देश में दो मुख्य सरकारें क़ायम रही हैं—दक्षिण में डाक्टर सनयात सेन और उनका राष्ट्रीय दल काउ-मिन-तांग हावी था। उत्तर में युआन-शी-काई सेनापति था और इसके बाद सेनापतियों और सैनिकों का एक ताँता था। इन सैनिक दुस्साहसियों को तूशन कहते थे और हाल के सालों में ये लोग चीन की जान पर आफ़त रहे हैं।

चीन इस तरह लगातार अशान्ति और अव्यवस्था की दुःखद अवस्था में रहा और अकसर उत्तर और दक्षिण में या तूशनों में गृह-युद्ध होते रहे। साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए बहुत बढ़िया अवसर था। इन्होंने साजिशें शुरू कीं और कभी एक पार्टी या एक तूशन की सहायता करके और कभी दूसरे तूशन को मदद करके आपस की फूट से ये शक्तियाँ फ़ायदा उठाने की कोशिश करने लगीं। तुम्हें याद होगा कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में भी इसी तरह अपना राज्य क़ायम किया था। यूरोपियन शक्तियों ने इस अवसर से फ़ायदा उठाया और एक तूशन को दूसरे तूशन से लड़ाने लगीं। लेकिन सुदूर पूर्व में इनकी ये हरकतें इनकी अपनी खुद की मुसीबतों और महायुद्ध के कारण बहुत जल्द रुक गईं।

लेकिन जापान का यह हाल नहीं हुआ। युद्ध की ख़ास लड़ाई बहुत दूर हो रही थी और जापान ने यह देखा कि चीन में वह अपनी पुरानी कारगुज़ारियाँ बिलकुल निर्विघ्न जारी रख सकता है। सच तो यह है कि उस हालत में उसे बहुत अच्छा मौक़ा मिल गया, क्योंकि दूसरी शक्तियाँ और कामों में लगी हुई थीं और हस्तक्षेप नहीं कर सकती थीं। उसने जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध की घोषणा सिर्फ़ इस-लिए करदी कि चीन में क्यानचांग में जर्मनों को जो अधिकार मिले हुए थे, वह छीन ले और चीन के अन्दर और आगे बढ़ सके।

चीन के बारे में जापान की नीति पिछले ४० वर्षों से एकसमान रही है। ज्योंही उसकी सेना नये ढंग से संगठित होगई और उसने अपने देश के व्यवसायों की उन्नति करली, उसने यह निश्चय कर लिया कि अब जापान को चीन पर प्रभुत्व जमा लेना चाहिए। उसको फैलने के लिए और अपने व्यवसायों को बढ़ाने के लिए विस्तार की ज़रूरत थी। कोरिया और चीन दोनों ही नजदीक थे और कमज़ोर थे, मानों अपने शोषण और गुलामी के लिए दुनिया को निमंत्रित कर रहे हों। जापान की पहली कोशिश १८९४-९५ में हुई, जबकि उसने चीन से लड़ाई शुरू की। वह कामयाब हुआ; लेकिन इतना नहीं, जितना चाहता था; क्योंकि यूरोपियन शक्तियों

ने मुख़ालफ़त की। फिर १९०४ में रूस के साथ संघर्ष हुआ, जो ज्यादा कठोर था। इसमें भी वह कामयाब रहा और कोरिया और मंचूरिया में मजबूती से जम गया। उसके थोड़े दिन बाद ही कोरिया पर क़ब्ज़ा कर लिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य का एक अंग बन गया।

मंचूरिया फिर भी चीन का हिस्सा बना रहा। यह देश चीन के तीन पूर्वीय प्रांतों में से है। जापानियों ने इस देश में सिर्फ़ उन सब रिआयतों को अपने हाथ में लेलिया जो रूसियों को मिली हुई थीं; उस रेलवे पर भी क़ब्ज़ा कर लिया, जो रूसियों ने बनाई थी और जिसे उस वक्त 'चीनी ईस्टर्न रेलवे' कहते थे। इस रेलवे का नाम बदलकर 'दक्षिणी मंचूरियन रेलवे' कर दिया गया। अब जापान ने मंचूरिया को मजबूती से दबोचना शुरू किया। इसी दरमियान चीन के बाक़ी घने बसे हुए हिस्से के लोग इस रेलवे की वजह से इधर झुके और चीनी किसान इस प्रदेश में टूट पड़े। सोयाबीन नाम की चीज मंचूरिया में खूब पैदा होती है और इस चीज के गुणों की वजह से सारे संसार में इसकी माँग बढ़ी। इससे एक क़िस्म का तेल भी पैदा होता है। इस सोयाबीन की खेती के लिए बहुत से लोग आकर बसने लगे। इस तरह इधर जापानी लोग ऊपर से मंचूरिया की आर्थिक मशीन पर पूरा-पूरा अधिकार पाने की कोशिश कर रहे थे, उधर चीनी लोग दक्षिण से फटे पड़ते थे और देश में बसते जा रहे थे। पुराने मंचू लोग चीनी किसानों की इस बाढ़ में बिल्कुल डूब गये और अपनी संस्कृति में और दृष्टिकोण में पूरे-पूरे चीनी होगये।

जापान को चीन में प्रजातंत्र का आगमन पसन्द नहीं आया। उसे हरेक चीज, जिससे चीन को मजबूती मिल सकती थी, नापसन्द थी, और उसकी कूटनीतिज्ञता का सारा उद्देश्य यही था कि कहीं चीन सुसंगठित होकर एक मजबूत राज्य न बन जाय। इसलिए वह एक तूशन की मदद करके दूसरे तूशन के खिलाफ़ उसे लड़ाने में बहुत दिलचस्पी लेता रहा, जिससे देश के अन्दर बदअमनी क़ायम रहे।

जापान पर या पश्चिमी शक्तियों पर इस बात के लिए दोषारोपण करना सरल है कि उन्होंने इस बात की जान-बूझकर कोशिश की कि चीन में शान्ति न हो सके। दोष उनका जरूर है, फिर भी असल वजह चीन की खुद अपनी कमजोरी थी, जैसे हिन्दुस्तान में जब-जब अंग्रेजी सरकार राष्ट्रीय दल के अन्दर फूट पैदा करने में सफल रही है तब-तब असली कारण राष्ट्रवादियों की कमजोरी ही रहा है। सिर्फ़ यह बात कि अंग्रेज फूट कराने की इस नीति में सफल हुए, इस बात की परिचायक है कि कम-से-कम इस विषय में ये लोग सबसे आगे बढ़े हुए हैं।

चीन के नवजात प्रजातंत्र के सामने बड़ी-बड़ी भीषण समस्यायें थीं। सवाल

सिर्फ़ इतना ही नहीं था कि मृतप्राय शाही सरकार से राजनैतिक सत्ता छीन ली जाय, क्योंकि कोई राजनैतिक सत्ता छीनने को बाक़ी ही नहीं थी। कोई केन्द्रीय शक्ति थी ही नहीं। उसे तो पैदा करना था। पुराना चीन नाम मात्र के लिए साम्राज्य था, वास्तव में वह अनेक स्वशासित क्षेत्रों का समूह था, जो बहुत कमज़ोरी के साथ आपस में बँधे हुए थे। प्रान्त कोई कम कोई ज्यादा स्वतंत्र थे, और इसी प्रकार क़स्बे और शहर। केन्द्रीय सरकार या सम्राट की हुकूमत लोग मानते थे, लेकिन यह सरकार स्थानीय मामलों में दखल नहीं देती थी। कोई यूनिटरी स्टेट यानी ऐसी सरकार नहीं थी जिसके हाथ में सब प्रान्तों को एक शासन में जोड़ने की शक्ति होती और जो सारे देश में एक नीति से हुकूमत चला सकती। राजनैतिक दृष्टिकोण से असल में यह राज्य बडी कमज़ोरी से बँधे हुए प्रदेशों का समूह था, जो पश्चिमी उद्योगों और साम्राज्यवादियों की लालच के सम्पर्क से बिखर रहा था। लोग महसूस करते थे कि अगर चीन को जिन्दा रहना है तो उसे एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य होना चाहिए, जिससे शासन की प्रणाली सब जगह एक-सी हो। नया प्रजातंत्र इसी क़िस्म का राज्य क़ायम करना चाहता था। यह एक नई चीज़ थी और इसलिए प्रजातंत्र के सामने यह एक बहुत बडी समस्या बन गई। चीन में सड़क, रेलवे और आमदरफ़्त के उपयुक्त साधन नहीं थे। इसकी वजह से उसकी राजनैतिक एकता में बडी भारी अड़चन पड़ती थी।

पुराने ज़माने में चीन के लोग राजनैतिक शक्ति को ज्यादा महत्व नहीं देते थे। उनकी सारी विशाल सभ्यता संस्कृति पर निर्भर थी और वह जीवन-यात्रा की कला ऐसे ढंग से सिखाती थी जिस ढंग से पहले कभी नहीं सिखाई गई। चीनी लोग अपनी इस पुरानी संस्कृति में इतने डूबे हुए थे कि जब इनका राजनैतिक और आर्थिक ढांचा बिखरा तब भी ये अपनी पुरानी संस्कृति के रस्म-रिवाजों से चिपटे रहे। जापान ने जान-बूझकर पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी रंग-ढंग अख़्तियार किया था और फिर भी वह दिल में सामन्तवादी था। चीन सामन्तवादी नहीं था; यह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक भावना से परिपूर्ण था। विज्ञान और व्यवसाय में पश्चिम की उन्नति की तरफ़ वह बडे कौतूहल से देखता था, फिर भी वह उधर नहीं झुका जिधर जापान झुका। इसमें शक नहीं कि चीन के रास्ते में बहुत-सी ऐसी कठिनाइयाँ थीं जो जापान के रास्ते में नहीं थीं। लेकिन चीन के दिल में एक संकोच भी था और वह यह कि कोई बात ऐसी न करो जिससे पुरानी संस्कृति से बिलकुल नाता टूट जाय। चीन का मिजाज फ़िलासफ़रों यानी दार्शनिकों का मिजाज था और फ़िलासफ़र लोग तेज़ी से काम नहीं करते। उसके मन में बहुत ज़ोरदार उबाल पैदा होगया था और

है, क्योंकि जिन समस्याओं का उसे मुक़ाबिला करना था वे केवल राजनैतिक समस्यायें ही नहीं थीं बल्कि आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, शिक्षा-सम्बन्धी और दूसरे प्रकार की भी थीं।

और फिर दूसरी बात यह भी है कि चीन और हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देशों के विस्तार की वजह से ही कठिनाइयाँ पैदा होजाती हैं। ये देश महाद्वीप के समान हैं और महाद्वीपों में जो बोझ होता है वह इन देशों में भी पाया जाता है। जब कोई हाथी गिर पड़ता है तो उसको उठने में देर लगती है। बिल्ली या कुत्ते की तरह वह कूदकर नहीं बैठ जाता।

जब महायुद्ध शुरू हुआ, जापान तुरन्त मित्र-राष्ट्रों के साथ शामिल होगया और जर्मनी से लड़ाई का ऐलान कर दिया। उसने कियानचान पर क़ब्ज़ा कर लिया और शांटुंग प्रान्त पर, जिसमें कियानचान स्थित है, अन्दर की तरफ़ फैलने लगा। इसका मतलब यह था कि जापानी ख़ास चीन पर हमला कर रहे हैं। इसमें जर्मनी के ख़िलाफ़ लड़ने का कोई सवाल नहीं था, क्योंकि जर्मनी का इस इलाक़े से कोई ताल्लुक़ नहीं था। चीनी सरकार ने नम्रतापूर्वक उनसे चले जाने को कहा। जापानियों ने कहा--'यह उद्दण्डता है, और झट २१ माँगों का एक सरकारी खरीता पेश कर दिया।

ये '२१ मांगें' मशहूर होगईं। मैं यहाँ उन्हें नहीं लिखूंगा। उनका तात्पर्य यह था कि चीन में--ख़ास तौर पर मंचूरिया, मंगोलिया और शांटुंग प्रान्तों में--सब तरह के अधिकार और सुविधायें जापान के सुपुर्द कर दी जायें। इन माँगों को मंजूर कर लेने से चीन अमली तौर पर जापान की एक बस्ती या उपनिवेश होजाता। कमज़ोर उत्तरी चीनी सरकार ने इन माँगों पर एतराज़ किया, पर वह ताक़तवर जापानी फ़ौज के ख़िलाफ़ क्या कर सकती थी? और फिर उत्तर की यह चीनी सरकार ख़ुद भी जनता में लोकप्रिय नहीं थी। फिर भी उसने एक काम किया, जिससे मदद मिली। उसने ज़ापनी माँगों को प्रकाशित कर दिया। इससे तुरन्त ही चीन में ज़बरदस्त विरोध खड़ा हो गया, और दूसरी शक्तियाँ भी, यद्यपि वे लड़ाई में मशग़ूल थीं, घबरा गईं। अमेरिका ने ख़ास तौर पर विरोध किया। इसका नतीजा यह निकला कि जापान ने कुछ माँगें हटालीं और कुछ में तरमीम करके उन्हें हलका बना दिया और चीनी सरकार को उन्हें मई १९१५ में मंजूर कर लेनें पर मजबूर किया। इससे चीन में जापान के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त भावना पैदा होगई।

अगस्त १९१७ में, यानी महायुद्ध शुरू होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रों में शामिल होगया और उसने भी जर्मनी के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर

दिया। यह एक हास्यास्पद बात थी, क्योंकि चीन जर्मनी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। उसका मतलब असल में मित्र-राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त करना और यों जापान के भावी खतरों से अपनी रक्षा करना था।

इसके थोडे ही दिन बाद, नवम्बर १९१७ में, बोलशेविक क्रान्ति आगई और इसके पश्चात् सारे उत्तरी एशिया में बडी अव्यवस्था फैल गई। साइबेरिया सोवियट और सोवियट-विरोधी शक्तियों के बीच एक युद्धभूमि यानी मैदानेजंग बन गया। 'सफ़ेद' रूसी जनरल कोलचक सोवियट के ख़िलाफ़ साइबेरिया से ही लड़ता था। सोवियट-विजय से घबराकर जापानियों ने साइबेरिया में एक बडी फ़ौज भेजी। ब्रिटिश और अमेरिकन फौजें भी वहाँ भेजी गई। कुछ वक्त के लिए साइबेरिया और मध्य-एशिया से रूस का प्रभाव नष्ट होगया। ब्रिटिश सरकार ने तो इन इलाक़ों से रूस की मर्यादा को एकदम नष्ट कर देने की दिलोजान से कोशिश की। मध्य-एशिया के हृदय काशग़ार में अंग्रेजों ने बोलशेविकों के ख़िलाफ़ प्रचार करने के लिए एक बेतार के तार का स्टेशन भी खोल दिया।

मंगोलिया में भी सोवियट और सोवियट-विरोधी लोगों में एक ख़ूंख़ार लड़ाई हुई। १९१५ में, जब महायुद्ध जारी था, ज़ारशाही रूस की मदद से मंगोलिया ने चीन-सरकार से आन्तरिक मामलों में काफ़ी आज़ादी हासिल करली थी। फिर भी चीन का उसपर प्रभुत्व तो था ही और मंगोलिया के वैदेशिक सम्बन्धों की दृष्टि से रूस को भी वहाँ पैर जमाने का मौक़ा मिल गया था। यह एक अजीब व्यवस्था थी। सोवियट राजक्रांति के बाद मंगोलिया में गृह-युद्ध शुरू होगया और तीन वर्ष या उससे भी ज्यादा वक्त तक लड़ने के बाद वहाँ की सोवियट जीत गई। मंगोलिया की वर्तमान स्थिति तो और भी अजीब है। यह सोवियट यूनियन से सम्बद्ध एक स्वतंत्र प्रजातंत्र है, फिर भी, मेरा ख़याल है कि यह चीन की छत्रछाया को मानता है।

मैंने महायुद्ध के बाद होनेवाले शान्ति-सम्मेलन के बारे में अभीतक नहीं बताया है। उसका जिक्र फिर एक दूसरे ही ख़त में करना पडेगा। फिर भी यहाँ मैं इतना कहदूं कि इस कान्फ़्रेंस या सम्मेलन में बडी ताक़तों ने, जिनसे ख़ासतौर पर इंग्लैण्ड, फ़्रांस और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का मतलब होता है, तय किया कि चीन का शांटुंग प्रान्त जापान को दे दिया जाय। यों महायुद्ध के फल-स्वरूप उन्हींके मित्र चीन को अपने देश का एक हिस्सा जापान को दे देने को मजबूर किया गया। इसकी वजह युद्ध के जमाने में इंग्लैण्ड, फ्रांस और जापान के बीच हुई एक गुप्त संधि थी। कारण कुछ भी रहा हो, चीन के साथ इस तरह की धोखेबाजी को चीनी राष्ट्र ने बहुत नापसन्द किया और चीन के लोगों ने पेकिंग की सरकार से साफ़-साफ़ कह दिया कि

अगर वह इस मामले में समझौता करेगी तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी चीजों के सख्त बहिष्कार की घोषणा कर दी गई और जगह-जगह जापान के ख़िलाफ़ दंगे हुए। चीनी सरकार (जिससे मेरा मतलब पेकिंग की उत्तरी सरकार से है, क्योंकि वही प्रधान सरकार थी) ने शांति के संधिपत्र (Peace Treaty) पर दस्तख़त करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद संयुक्तराष्ट्र के वाशिंगटन नगर में एक कान्फ्रेंस हुई, जिसमें शांटुंग का सवाल भी उठा। इस कान्फ्रेंस में वे सब शक्तियाँ शरीक थीं जिनकी सुदूरपूर्व के सवालों में दिलचस्पी थी या स्वार्थ थे और वे अपनी जल-सेनाओं की ताक़त पर बहस करने को शामिल हुई थीं। जहाँतक चीन और जापान का ताल्लुक़ था, १९२२ की इस वाशिंगटन कान्फ्रेंस से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले। जापान चीन को शांटुंग लौटा देने पर राज़ी होगया। इस तरह एक सवाल, जो चीनी जनता को हिला रहा था, हल होगया। शक्तियों में दो और महत्वपूर्ण राज़ीनामे भी हुए।

इनमें से एक अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, जापान और फ़्रांस के बीच था और 'फोर-पावर पैक्ट' (चार ताक़तों का राज़ीनामा) के नाम से पुकारा जाता था। इन चारों ताक़तों ने प्रशांतमहासागर के अपने अधिकृत स्थानों की सम्मिलित रक्षा का वादा किया, यानी इस बात का वादा किया कि वे एक-दूसरे के इलाक़ों पर हाथ न डालेंगे। दूसरा राज़ीनामा 'नाइन पावर ट्रीटी' यानी 'नौ राष्ट्रों की संधि' के नाम से मशहूर हुआ। यह कान्फ्रेंस में शामिल हुए सब राष्ट्रों के बीच था। इसमें ये नौ राष्ट्र थे—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, बेलजियम, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, हालैण्ड, पोर्चुगाल और चीन। इस संधि की पहली धारा इन शब्दों के साथ शुरू हुई थी:—

"To respect the sovereignty, the independence and the territorial and administrative integrity of China..............."

अर्थात् "चीन के प्रभुत्व, स्वतंत्रता और प्रादेशिक एवं शासन संबन्धी अखंडता या एकता के सम्मान के लिए......"

मैं तुम्हें 'फोर पावर पैक्ट' और 'नाइन पावर ट्रीटी' के बारे में इसलिए बता रहा हूँ कि ये दोनों बातें इस वक्त बार-बार हमारे सामने आ रही हैं और अख़बारों में अकसर उनका जिक्र किया जाता है। ये दोनों राज़ीनामे चीन को भावी आक्रमणों से बचाने के लिए थे। वे सहूलियतें हासिल करने और इलाक़ों को हड़प लेने के पुराने खेल को, जो अबतक शक्तियाँ खेलती रही थीं, बन्द करने की ग़रज़ से किये गये थे। पश्चिमी ताक़तें महायुद्ध के बाद के अपने ही सवालों को हल करने में मशग़ूल थीं और उस वक्त चीन में उनकी कोई दिलचस्पी न थी। इसीलिए आत्म-नियंत्रण का

यह आर्डिनेंस पैदा हुआ जिसको लेकर उन्होंने पवित्र शपथ ग्रहण की। जापान भी इस प्रतिज्ञा में शामिल हुआ, यद्यपि यह बात उसकी उस नीति के ख़िलाफ़ पड़ती थी जो वह कई वर्षों से चला रहा था। पर बहुत साल नहीं बीते थे कि यह बात स्पष्ट होगई कि सारे राज़ीनामों और वादों के बावजूद जापान की पुरानी नीति जारी है। अन्तर्राष्ट्रीय पाखण्ड और झूठ का यह एक असाधारण उदाहरण रहा है। जब मैं यह ख़त लिख रहा हूँ, चीन पर जापान का हमला जारी है। जो कुछ हो रहा है, उसके पार्श्वचित्र को समझाने के लिए ही मैं तुम्हें वाशिंगटन कान्फ्रेंस तक ले गया था।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस के वक्त के क़रीब ही साइबेरिया से विदेशी फ़ौजें अन्तिम रूप में हटाई गईं। जापानी सबसे अख़ीर में गये। तुरंत ही वहाँ सोवियट बन गई और रूस के सोवियट प्रजातंत्र संघ में शामिल होगई।

रूसी सोवियट ने जन्म के कुछ ही दिनों बाद चीनी सरकार को सूचित कर दिया था कि दूसरी साम्राज्यवादी ताक़तों के साथ ज़ारशाही रूस को चीन से जो ख़ास सहूलियतें मिली थीं उन सबको वह छोड़ देने को तैयार है। साम्राज्यवाद और साम्यवाद साथ-साथ नहीं चल सकते और इसके अलावा भी सोवियट ने पूर्वी देशों के प्रति, जो पश्चिमी शक्तियों द्वारा बहुत दिनों से शोषित हो रहे थे, जानबूझकर उदारतापूर्ण नीति इख़्तियार की थी। यह सिर्फ़ सदाचरण ही नहीं था बल्कि सोवियट रूस के लिए अच्छी और मुनासिब नीति भी थी, क्योंकि इस नीति ने पूर्व में उसके कई मित्र पैदा कर दिये। सहूलियतें छोड़ देने का सोवियट रूस का प्रस्ताव बिना किसी शर्त के था; उसने उसके बदले कोई माँग नहीं की। इतने पर भी चीनी सरकार सोवियट से व्यवहार करने में डरती थी कि कहीं पश्चिमी योरप की शक्तियाँ नाराज़ न हो जायें। पर आख़िरकार रूसी और चीनी प्रतिनिधि मिले और १९२४ में उनके बीच एक राज़ीनामा हुआ। जब इस राज़ीनामे का पता चला तो फ़्रांसीसी, अमेरिकन और जापानी सरकारों ने पेकिंग की सरकार के पास अपना विरोध ज़ाहिर किया और पेकिंग सरकार इतनी डर गई कि उसने राज़ीनामे पर किये हुए अपने प्रतिनिधियों के दस्तख़त से इनकार कर दिया। ऐसी बुरी खाई में पेकिंग सरकार पड़ गई थी। इसपर रूसी प्रतिनिधि ने राज़ीनामे का सारा मसविदा छाप दिया। इससे बड़ी सनसनी फैली। शक्तियों के सम्पर्क में पहली बार चीन के साथ आदर और सम्मान का व्यवहार किया गया था और उसके अधिकार स्वीकार किये गये थे। यह एक बड़ी शक्ति से उसकी पहली बराबरी की संधि थी। चीनी जनता इससे खुश हुई और सरकार को इसपर दस्तख़त करने पड़े। साम्राज्यवादी ताक़तों का इसे नापसंद करना लाज़िमी था, क्योंकि इसने उन्हें बड़े बुरे रूप में दुनिया के सामने पेश किया। जब

सोवियट रूस ने उदारता के साथ सब सहूलियतें छोड़ दीं, तब वे अपनी सब विशेष सुविधाओं से चिपटी रहीं।

सोवियट सरकार ने डॉ० सनयातसेन की दक्षिणी चीन की सरकार से भी, जिसकी राजधानी कैण्टन थी, बातचीत शुरू की और दोनों में एक समझौता हुआ। इस दरमियान एक तरह का हलका गृह-युद्ध उत्तर और दक्षिण के बीच, और उत्तर के मुख़्तलिफ़ सिपहसालारों में, जारी था। ये उत्तरी तूशन, या महातूशन जैसा कि कुछ कहे जाते थे, किसी कार्यक्रम या सिद्धान्त के लिए नहीं लड़ते थे; वे अपनी निजी सत्ता के लिए लड़ते थे। कभी-कभी कई मिलकर एक संगठन बना लेते और दूसरे पक्ष से लड़ते थे। पर इनका पक्ष बदलता रहता था और बाहर के लोगों को इन सदा बदलते रहनेवाले संगठनों से बडी हैरत होती थी। ये तूशन, या फ़ौजी जांबाज, अपनी निजी फ़ौजें खडी करते थे, प्राइवेट टैक्स लगाते थे और अपनी निजी लड़ाइयां जारी रखते थे; और इन सबका बोझ बहुत दिनों से दुःख पानेवाली बेचारी चीनी जनता पर पड़ता था। यह कहा जाता था कि इन बडे तूशनों में से कुछ के पीछे विदेशी ताक़तें थीं। ख़ास तौर पर जापान का नाम लिया जाता था। शंघाई की बडी-बडी व्यापारिक पेढ़ियों से भी उनके पास दौलत और मदद आती थी।

बस एक प्रकाश का स्थान दक्षिण था, जहां सनयातसेन की सरकार क़ायम थी। उसके अपने आदर्श थे, अपनी एक नीति थी, और यह लुटेरों का मामला नहीं था जैसाकि उत्तरी तूशनों की कई सरकारें थीं। १९२४ में काउ-मिन-तांग यानी जनता के दल का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और डॉ० सन ने उसके सामने एक मैनीफेस्टो यानी घोषणापत्र पेश किया। इस मैनीफेस्टो में उन्होंने उन सिद्धान्तों को लिखा था, जिनके अनुसार वह राष्ट्र को चलाना चाहते थे। यह मैनीफेस्टो और ये सिद्धान्त तबसे काउ-मिन-तांग का आधार रहे हैं और यह समझा जाता है कि अब भी राष्ट्रीय सरकार की आम नीति उसीके मुताबिक़ चलाई जाती है।

मार्च १९२५ ई० में, चीन की सेवा में अपनी जिन्दगी गुजारने और चीनी जनता का प्रेमपात्र होने के बाद, डॉ० सनायतसेन की मृत्यु हुई।

: १५४ :

युद्ध-काल में भारत

१६ अप्रैल, १९३३

ब्रिटिश साम्राज्य का एक हिस्सा होने के नाते हिन्दुस्तान का महायुद्ध से सीधा ताल्लुक़ था। पर हिन्दुस्तान के अन्दर या उसके आस-पास कहीं वास्तविक युद्ध नहीं लड़ा जा रहा था। फिर भी महायुद्ध ने हिन्दुस्तान के मामलों पर कई तरह से असर डाला। यह असर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह का था। इसकी वजह से यहाँ बहुतेरी तब्दीलियाँ हुई। मित्र-राष्ट्रों की मदद करने में उसके साधनों का पूरी तरह इस्तेमाल किया गया।

यह हिन्दुस्तान की लड़ाई न थी। हिन्दुस्तान की जर्मन शक्तियों से कोई दुश्मनी न थी, बल्कि तुर्की के साथ तो काफ़ी हमदर्दी भी थी। पर इस मामले में हिन्दुस्तान के लिए कोई चारा न था। वह सिर्फ़ ब्रिटेन का एक मातहत देश था, इसलिए उसे भी अपने साम्राज्यवादी मालिक के साथ क़तार में खड़ा होने को मजबूर होना पड़ा। इस तरह, देश में काफ़ी विरोध होने के बावजूद, हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तुर्कों, मिस्रियों और दूसरों के ख़िलाफ़ लड़ना पड़ा, जिससे पश्चिमी एशिया में हिन्दुस्तान का नाम बहुत ही नापसन्द किया जाने लगा और उसकी बड़ी बदनामी हुई।

जैसा मैंने तुम्हें किसी पहले के ख़त में बताया है, महायुद्ध के शुरू में हिन्दुस्तान में राजनीति शिथिल-सी थी। लड़ाई शुरू हो जाने से लोगों का ध्यान राजनीति की तरफ़ से और ज्यादा हट गया और फिर युद्ध के जमाने में जारी किये हुए नियमों, प्रतिबन्धों और दूसरे बन्धनों के कारण वास्तविक राजनैतिक काम बहुत मुश्किल हो गया। युद्ध का जमाना सरकारों के लिए हरेक को दबाने और अपनी मनमानी करने का अवसर काफ़ी बड़ा बहाना बन जाता है। अगर कोई छूट होती है तो सिर्फ़ ख़ुद उनके लिए होती है; वे जो चाहें कर सकती हैं। सेंसर बैठ जाता है, जो सत्य का गला घोंट देता है; अक्सर झूठी बातों का प्रचार करता है और लोगों को अपनी राय ज़ाहिर करने या टीका-टिप्पणी करने से रोकता है। क़रीब-क़रीब हर तरह की क़ौमी कार्रवाई पर नियंत्रण रखने के लिए ख़ास तरह के क़ानून और क़ायदे (रेगुलेशन) बनाये जाते हैं। लड़ाई में शामिल होने या लड़ने वाले सब देशों में ऐसा किया गया और लाज़िमी तौर पर हिन्दुस्तान में भी ऐसा ही हुआ। यहां 'डिफेंस ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट' यानी 'भारत-रक्षा क़ानून' नाम का एक क़ानून पास किया गया। इस तरह युद्ध या उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी बातों की सार्वजनिक आलोचना का दरवाज़ा

अच्छी तरह बन्द कर दिया गया। फिर भी इनके पीछे, पार्श्वभूमि में, जर्मन ताक़तों और ख़ासकर तुर्की के साथ लोगों की आम हमदर्दी थी। यह कहना शायद ज्यादा सही होगा कि लोग चाहते थे कि ब्रिटेन को मुंह की खानी पड़े। इस तरह की नपुंसक इच्छा उन लोगों के लिए स्वाभाविक थी जो ख़ुद बुरी तरह पस्त कर दिये गये थे। पर इस इच्छा को सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं किया गया।

ऊपर तो हवा में चारों तरफ़ ब्रिटेन के प्रति वफ़ादारी की आवाज़ थी। ज्यादातर वफ़ादारी का यह शोर-गुल हिन्दुस्तानी राजाओं और उन मध्यम श्रेणी के कुछ लोगों के द्वारा उठता था जो सरकार के सम्पर्क में थे। कुछ हद तक बोर्जुआ यानी मध्यम वर्ग भी प्रजातंत्र और राष्ट्रों की स्वतंत्रता और आज़ादी के उन ऐलानों में, जो मित्र-राष्ट्र कर रहे थे, फँस गया था। शायद यह सोचा गया कि ये ऐलान हिन्दुस्तान पर भी लागू होंगे और उम्मीद की जाती थी कि इस वक़्त मुसीबत की घड़ियों में ब्रिटेन को जो मदद दी जायगी उसका बाद में मुनासिब इनाम मिलेगा। कुछ भी हो, हिन्दुस्तान का इस मामले में कोई बस न था और कोई दूसरा आसान रास्ता भी न था, इसलिए उसने भी बुरी चीज़ का अच्छे-से-अच्छा इस्तेमाल करना ही ठीक समझा।

हिन्दुस्तान में ऊपर-ऊपर दिखाई पड़नेवाली इस वफ़ादारी की उन दिनों इंग्लैण्ड में बड़ी तारीफ़ हुई और बार-बार कृतज्ञता भी प्रकट की गई। जिन लोगों के हाथ में सत्ता थी उन्होंने कहा कि इसके बाद इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान को 'नये दृष्टिकोण' से देखेगा।

पर हिन्दुस्तान में भी और विदेशों में भी कुछ हिन्दुस्तानी ऐसे थे जिन्होंने 'वफ़ादारी' का यह रुख इख़्तियार नहीं किया। वे, बहुमत की तरह, चुपचाप बैठे भी नहीं रहे। पुरानी आयरिश कहावत के मुताबिक़ उनका विश्वास था कि इंग्लैण्ड की मुसीबत ही उनके देश के लिए सुअवसर है। ख़ास तौर पर जर्मनी और योरप के दूसरे मुल्कों में रहनेवाले कुछ हिन्दुस्तानी बर्लिन में इसलिए इकट्ठे हुए कि इंग्लैण्ड के दुश्मनों को मदद देने के उपाय किये जायँ और इसके लिए एक कमेटी भी बनाई। जर्मन सरकार, स्वाभाविक रूप से, हर तरह की मदद हासिल करने को उत्सुक थी। इसलिए उसने इन हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारियों का स्वागत किया। बाक़ायदा एक राज़ीनामा लिखा गया और उसपर दोनों पक्षों—जर्मन सरकार और हिन्दुस्तानी कमेटी—की तरफ़ से दस्तख़त हुए। इस राज़ीनामे में और बातों के साथ एक बात यह थी कि हिन्दुस्तानियों ने युद्ध में इस शर्त पर जर्मन सरकार की मदद करने का वादा किया कि फ़तह हासिल होने पर जर्मनी हिन्दुस्तान की आज़ादी पर ज़ोर देगा। इस हिन्दुस्तानी कमेटी ने सारे युद्ध-काल में जर्मनी की तरफ़ से काम किया। इसने

बाहर लड़ने के लिए भेजी गई हिन्दुस्तानी फ़ौजों में प्रचार किया और इसके काम का क्षेत्र अफ़ग़ानिस्तान और सीमाप्रान्त तक फैल गया था। पर इसके सिवा कि उन्होंने अंग्रेजों की परेशानी को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया हो, और कुछ ज्यादा ये हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारी न कर सके। समुद्र के रास्ते, हिन्दुस्तान में अस्त्र-शस्त्र भेजने की कोशिश की गई, पर उसे भी अंग्रेजों ने नाकामयाब कर दिया। लड़ाई में जर्मनी के हार जाने से इस कमेटी और उसकी उम्मीदों का अपने-आप ख़ात्मा होगया।

हिन्दुस्तान के अन्दर भी क्रान्तिकारियों की थोडी-बहुत कार्रवाई जारी रही और षड्यंत्र के मुक़दमों के लिए ख़ास अदालतें—स्पेशल ट्रिब्यूनल्स—बनाई गईं। बहुत-से आदमियों को फांसी दी गई, और बहुतों को लम्बी सजायें हुईं। उस वक़्त के सजा पाये हुए कुछ आदमी आज १७ वर्ष बाद भी जेलों में पडे हुए हैं!

ज्यों-ज्यों युद्ध आगे बढ़ा, और जगहों की तरह, यहां भी कुछ लोगों ने गहरा मुनाफ़ा उठाया। पर ज्यादातर आदमियों का बोझ बढ़ता गया और लोगों में असंतोष भी बढ़ने लगा। लड़ाई के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आदमियों की माँग बढ़ती ही जा रही थी और फ़ौज में भरती का काम बडे ज़ोर से होने लगा। रंगरूट लानेवालों को हर तरह के इनाम और प्रलोभन दिये गये और ज़मींदारों को अपने काश्तकारों में से तयशुदा तादाद में आदमी देने को मजबूर किया गया। पंजाब में ख़ास तौर पर भरती के मामले में जबरदस्ती का यह तरीक़ा इख़्तियार किया गया। हिन्दुस्तान से जितने आदमी फ़ौज में भरती करके लड़ाई के जुदा-जुदा मोर्चों पर लड़ने और दूसरे फ़ौजी मेहनत-मजूरी के कामों पर भेजे गये, उनकी तादाद दस लाख से ज्यादा थी। जिन आदमियों का इन भरतियों से ताल्लुक था, उन्होंने इन जबरदस्ती के तरीक़ों पर बड़ा ऐतराज किया, और ऐसा ख़याल किया जाता है कि पंजाब में महायुद्ध के बाद जो दुर्घटनायें हुईं उनमें एक वजह यह भी थी।

पंजाब पर एक दूसरे तरीक़े से भी असर पड़ा। बहुतेरे पंजाबी और ख़ासकर सिख संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के केलीफोर्निया प्रान्त और पश्चिमी कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया में जाकर बस गये थे। प्रवासियों का तांता तबतक लगा रहा, जबतक अमेरिकन और कनैडियन अधिकारियों ने उसे रोक नहीं दिया। ऐसे प्रवासियों की राह में दिक़्क़तें पेश करने के ख़याल से कनाडा की सरकार ने यह नियम बना दिया कि सिर्फ़ वे ही प्रवासी कनाडा में आ सकेंगे जो एक बन्दरगाह से यहांके किसी बन्दरगाह तक सीधे आवें और रास्ते में कोई जहाज न बदलें। यह नियम हिन्दुस्तानी प्रवासियों को रोकने की ग़रज से ही बनाया गया था, क्योंकि उनको चीन या जापान में लाज़िमी तौर पर जहाज बदलने पड़ते थे। इसपर एक सिख, बाबा गुरुदत्तसिंह,

ने एक पूरा जहाज, जिसका नाम 'कोमागाता मारू' था, सीधे कनाडा भेजने का इन्तजाम किया। वह अपने साथ बहुत बडी तादाद में प्रवासियों को कनाडा के 'वैंकुवेर' तक ले गये। इस तरह से उन्होंने कनैडियन क़ानून की शर्त पूरी कर दी थी, फिर भी कनाडा उन्हें वहाँ आने देना नहीं चाहता था। किसी प्रवासी को वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वे लोग उसी जहाज में लौटा दिये गये और वे बडी मुसीबत में और ग़ुस्से से भरे हुए हिन्दुस्तान लौटे। कलकत्ता के पास वजबज में पुलिस से एक लड़ाई ही होगई और कई आदमी, खासकर सिख, मारे गये। बाद में इनमें से कई सिखों के पीछे खुफ़िया पुलिस छाया की तरह लगी और सारे पंजाब में उन्हें दौड़ाती रही। इन लोगों ने भी पंजाब में गुस्सा और असंतोष पैदा किया। 'कोमागाता मारू' की घटना पर सारे हिन्दुस्तान में नाराजी जाहिर की गई।

युद्ध के उन दिनों में होनेवाली सब बातों की जानकारी मुश्किल है, क्योंकि उस जमाने में 'सेंसर' के कारण बहुतसे समाचार छपने नहीं पाते थे, इसलिए तरह-तरह की बेसिर-पैर की अफ़वाहें फैला करती थीं। फिर भी यह मालूम है कि सिंगापुर में एक हिन्दुस्तानी रेजीमेण्ट में बग़ावत होगई थी। इसके अलावा और भी बहुत-सी जगहों में छोटे-मोटे काण्ड हुए।

लड़ाई के लिए आदमी देने और दूसरी तरह की मदद के अलावा हिन्दुस्तान को नक़द धन भी बहुत देना पड़ा। इसे हिन्दुस्तान की तरफ़ से दी जानेवाली 'भेंट' के नाम से पुकारा गया। एक मौक़े पर क़रीब डेढ़ अरब रुपये इस तरह दिये गये और दूसरे मौक़े पर भी एक बहुत बडी रक़म दी गई। एक ग़रीब देश से इस तरह जबरदस्ती वसूल किये गय धन को 'भेंट' कहना ब्रिटिश सरकार की मजाकपसन्द तबीयत का एक नमूना है!

अभीतक मैंने तुमसे जो कुछ कहा है वह, जहाँतक हिन्दुस्तान का ताल्लुक़ है, युद्ध के मामूली नतीजों तक ही महदूद रहा है। पर युद्ध-काल की स्थितियों के कारण इनसे कहीं ज्यादा मौलिक एक परिवर्तन होगया। युद्ध के जमाने में, और देशों की तरह ही, हिन्दुस्तान का वैदेशिक व्यापार भी अव्यवस्थित होगया। बहुत बडी तादाद में जो ब्रिटिश माल हिन्दुस्तान में आता था वह युद्ध के कारण बहुत कम होगया। जर्मन पनडुब्बियाँ भूमध्य महासागर और अटलांटिक महासागर में जहाजों को डुबा रही थीं और इस स्थिति में व्यापार जारी रखना मुमकिन न था। इस तरह हिन्दुस्तान को अपना इंतजाम करना पड़ा और अपनी जरूरतें पूरी करनी पडीं। उसे युद्ध के लिए जरूरी बहुत-सी चीजें भी सरकार के लिए तैयार करनी पडीं। इस तरह हिन्दुस्तानी उद्योग तेजी से बढ़ने लगे। इसमें कुछ, कपडे और जूट की तरह,

पुराने थे और कुछ नये थे। ताता के लोहे और फ़ौलाद के कारखाने का, जिसके प्रति अभीतक सरकार ने वडी उपेक्षा का वर्ताव किया था, महत्व बहुत वढ़ गया, क्योंकि उसमें युद्ध की सामग्री तैयार की जा सकती थी। उसका संचालन कमोवेश सरकारी नियंत्रण में होता था।

इसलिए युद्ध के वर्षों में हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों को, जिनमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों थे, खुला क्षेत्र मिल गया। वाहरी प्रतिद्वंद्विता या लाग-डाँट बहुत कम थी। उन्होंने इस मौक़े का खूब उपयोग किया और ग़रीव हिन्दुस्तानी जनता का पेट काटकर खूब फ़ायदा उठाया। चीजों का दाम चढ़ा दिया गया और कल्पना में न आ सकने वाला मुनाफ़ा (डिविडेण्ड) वाँटा गया। लेकिन जिन मजदूरों की मेहनत से यह मुनाफ़ा हुआ, उनकी दुःखजनक स्थिति में बहुत ही थोडी तब्दीली हुई। उनकी मजदूरी थोडी वढ़ी, पर इस वढ़ती के मुक़ाविले जिन्दगी की जरूरी चीजों का दाम कहीं ज्यादा वढ़ गया, इसलिए उनकी हालत पहले से भी ज्यादा खराव होगई।

लेकिन पूंजीपति खूब मालदार होते गये और उन्होंने मुनाफ़े से खूब धन जमा किया, जिसे वे फिर उद्योगों में लगाना चाहते थे। पहली वार हिन्दुस्तानी पूंजीपति इतने ताक़तवर हुए कि सरकार पर दवाव डाल सकें। इस दवाव के अलावा घटनाओं के जोर ने भी युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानी उद्योगों को मदद देने पर मजवूर किया। देश के वढ़ते हुए उद्योगीकरण यानी कल-कारखानों की स्थापना के लिए विदेश से ज्यादा मशीनरी मँगाने की जरूरत हुई, क्योंकि ऐसी मशीनरी उस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं वन सकती थी। इस तरह वने हुए माल की जगह इंग्लैण्ड से मशीनरी आने लगी।

इन सव वातों के कारण हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति में वड़ा परिवर्तन होगया; सौ वर्ष से चली आती हुई पुरानी नीति छोड़नी पडी और उसकी जगह नई नीति इख्तियार करनी पडी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनेको नई और वदली हुई स्थिति के मुताविक़ वनाने के लिए अपना चेहरा पूरी तरह तब्दील कर लिया। तुमको मेरी वे वातें याद होंगी जो मैंने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के शुरू के दिनों के वारे में तुम्हें लिखी थीं। पहली अवस्था अठारहवीं सदी की अवस्था थी, जो लूट और यहाँ से नक़द माल उठा लेजाने की अवस्था थी। उसके वाद दूसरी अवस्था आई जव ब्रिटिश हुकूमत खूब मजवूती के साथ क़ायम होगई। यह अवस्था सौ वर्षों से ज्यादा वक्त यानी युद्ध तक वनी रही। यह हिन्दुस्तान को कच्चे माल का एक क्षेत्र और ब्रिटेन के वने माल का एक वाज़ार वना रखने के लिए थी। हर तरह से इस देश में वड-वडे उद्योगों की स्थापना को अनुत्साहित किया गया और हिन्दुस्तान के आर्थिक

विकास को रोका गया। युद्ध-काल में तीसरी अवस्था आई, जब ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में बड़े उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दिया; और यह प्रोत्साहन इस बात को जानते हुए दिया गया कि यह कुछ हद तक ब्रिटिश उद्योगों के ख़िलाफ़ पड़ेगा। यह साफ़ है कि अगर हिन्दुस्तान के वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय तो लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसाय को उसी अंश में धक्का पहुँचेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान लंकाशायर का सबसे अच्छा ग्राहक रहा है। तब ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में ऐसा परिवर्तन क्यों किया, जिससे लंकाशायर और दूसरे ब्रिटिश उद्योग को नुक़सान पहुँचे ? मैं तुम्हें दिखा ही चुका हूँ कि लड़ाई के कारण किस प्रकार उसके हाथ बँध गये थे। हमें परिवर्तन के इन कारणों पर विस्तार के साथ विचार करना चाहिए :

१. युद्ध-काल की माँगों ने ऐसा करने को मजबूर किया और हिन्दुस्तान में औद्योगीकरण यानी बड़े-बड़े कल-कारख़ानों को प्रगति दी।

२. इसने हिन्दुस्तानी पूंजीपति वर्ग को बढ़ाया और मज़बूत किया। उन्होंने उद्योगों की बाढ़ के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सहूलियतों की माँग शुरू की। इसने उनकी फालतू दौलत को नये धन्धों में लगाने का मौक़ा दिया। अब ब्रिटेन उनकी बिलकुल उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं था, क्योंकि ऐसा करने से उनके विरोधी हो जाने और बढ़ते हुए उग्र और क्रान्तिकारी विचार के लोगों के मददगार बन जाने की संभावना थी। इसलिए अगर मुमकिन हो तो बढ़ने को कुछ सहूलियतें देकर उनको ब्रिटिश पक्ष में बनाये रखना वाञ्छनीय था।

३. इंग्लैण्ड का पूंजीवादी वर्ग भी अपनी फालतू दौलत को अविकसित देशों में लगाना चाहता था, क्योंकि वहाँ ज्यादा मुनाफ़ा होता था। इंग्लैण्ड में तो कल-कारख़ानों और उद्योग-धंधों की ऐसी भरमार होगई थी कि वहाँ पूंजी लगाने की सहूलियतें बहुत कम थीं। वहाँ मुनाफ़ा अब उतना ज्यादा नहीं मिलता था और फिर मजदूरों का आन्दोलन वहाँ ख़ूब अच्छी तरह संगठित था, जिससे अकसर मजूरों के साथ झगड़े खड़े होजाया करते थे। अविकसित देशों में मजूर कमजोर होता है, इसलिए मजदूरी कम देनी पड़ती है और मुनाफ़ा ज्यादा होता है। लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश पूंजीपतियों को ब्रिटेन के मातहत अविकसित देशों——जैसे हिन्दुस्तान——में पूंजी लगाना ज्यादा पसंद था। इस तरह ब्रिटिश पूंजी हिन्दुस्तान में आई और इससे और भी औद्योगीकरण हुआ, यानी और भी कल-कारख़ाने खुले।

४. महायुद्ध के अनुभवों से यह मालूम होगया कि सिर्फ़ बहुत ऊँचे औद्योगिक देश ही प्रभावशाली ढंग से लड़ाई लड़ सकते हैं। ज़ारशाही रूस आख़िरकार युद्ध में इसलिए पस्त होगया कि उसका काफ़ी तौर पर औद्योगीकरण नहीं हुआ था और

उसे दूसरे मुल्कों पर निर्भर रहना पड़ा। इंग्लैण्ड को भय है कि आगामी युद्ध सोवियट रूस के साथ होगा और हिन्दुस्तान की सरहद पर लड़ा जायगा। अगर हिन्दुस्तान के पास अपने बड़े-बड़े उद्योग न होंगे तो ब्रिटिश सरकार सरहद पर भलीभांति लड़ाई न लड़ सकेगी। यह एक बहुत बड़ा खतरा लेना होगा। इसलिए भी हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण जरूरी है।

इन कारणों से मजबूर होकर ब्रिटिश नीति में तब्दीली का निश्चय किया गया। ब्रिटेन की बृहत्तर साम्राज्य सम्बन्धी नीति (Larger Imperial Policy) के लिए यह जरूरी था, फिर लंकाशायर और कुछ दूसरे ब्रिटिश उद्योगों को भले ही नुकसान पहुँचे। ब्रिटेन ने तो यह जाहिर किया कि यह परिवर्तन हिन्दुस्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार के अत्यधिक प्रेम और उसकी भलाई की इच्छा का परिणाम है। इस नीति का निश्चय कर लेने के बाद ब्रिटेन ने ऐसा उपाय किया कि हिन्दुस्तान के नये उद्योगों का नियंत्रण ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथ में रहे। महरबानी दिखाते हुए हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों को छोटा हिस्सेदार बनाया गया।

१९१६ ई० में, जब महायुद्ध चल रहा था, एक 'इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन' नियुक्त किया गया। दो वर्ष बाद इसने रिपोर्ट पेश की जिसमें सिफारिश की गई कि सरकार को उद्योगों को उत्तेजन देना चाहिए और कृषि में नये औद्योगिक तरीक़ों को चलाना चाहिए। इसने इस बात की भी सिफ़ारिश की कि सारे देश को प्रारम्भिक शिक्षा देने की कोशिश की जानी चाहिए। जैसा कि इंग्लैंड में कारख़ानों की बढ़ती के शुरू के दिनों में हुआ था, होशियार और कारीगर मजदूर पैदा करने के लिए आम जनता को प्रारम्भिक शिक्षा देना उचित समझा गया।

युद्ध ख़त्म होने पर इस कमीशन के बाद और भी बहुत-से कमीशन और कमेटियाँ आईं। यह भी सुझाया गया कि बाहरी माल पर कर लगाकर भी हिन्दुस्तानी उद्योगों की रक्षा की जानी चाहिए। इन करों को टैरिफ कहा जाता है। इन सब बातों को हिन्दुस्तानी उद्योगों के पक्ष में एक बडी विजय समझा गया। पर जरा ध्यान से परीक्षा करने पर कई मजेदार बातें मालूम हुईं। विदेशी पूंजी को उत्तेजन देने का प्रस्ताव पास किया गया था और विदेशी पूंजी का मतलब असल में ब्रिटिश पूंजी था। बस, इस देश में ब्रिटिश पूंजी का प्रवाह बहने लगा; वह न सिर्फ उसका प्रधान हिस्सा हो गई, बल्कि सब जगह छा गई। बड़े-बड़े उद्योगों में अधिकांश ब्रिटिश पूंजी लगाई गई। इसलिए संरक्षण कर (टैरिफ) और संरक्षण (प्रोटेक्शन) का असल मतलब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी का संरक्षण होगया। इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का महान् परिवर्तन ब्रिटिश पूंजीपति के लिए कुछ वैसा बुरा साबित नहीं हुआ।

उसको एक अच्छा संरक्षित बाज़ार मिल गया था, जिसमें वह अपना व्यापार फैला सकता था और मजदूरों को कम मज़दूरी देकर खूब मुनाफ़ा उठा सकता था। एक दूसरे तरीक़े पर भी यह उसके लिए मुफीद साबित हुआ। हिन्दुस्तान, चीन, मिस्र और दूसरे ऐसे देशों में जहाँ मजदूरी की दर बहुत नीची थी, अपनी पूंजी लगाने के बाद उसने इंग्लैण्ड के मजदूरों को भी मजदूरी कम करने की धमकी दी। और अगर अंग्रेज मजदूर ने मजदूरी में कमी करने की बात का विरोध किया तो पूंजीपति ने कहा कि उसे मजबूर होकर बडे दुःख के साथ इंग्लैण्ड में अपना कारखाना बन्द कर देना पडेगा और वह और कहीं दूसरी जगह अपनी पूंजी लगायेगा।

हिन्दुस्तान के उद्योगों पर नियन्त्रण रखने के लिए हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ने और भी कई उपाय किये। यह एक जटिल विषय है और जब मैं इसके बारे में लिखता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं फिसलती जमीन पर हूँ। इसलिए हमें इन बातों पर परेशान होने की जरूरत नहीं। पर एक बात का जिक्र मैं कर देना चाहता हूँ। आधुनिक उद्योग में बैंक बड़ा ज़बरदस्त हिस्सा लेते हैं, क्योंकि बडे-बडे व्यापारियों को अक्सर रुपये-सम्बन्धी साख की जरूरत पड़ती है। बडे-से-बड़ा व्यापार भी फेल किया जा सकता है, अगर उसे रुपये उधार मिलने या उसकी साख कायम रखने की सहूलियतें न दी जायें। चूंकि बैंक ही यह 'क्रेडिट' (उधार या साख) दे सकते हैं, इसलिए तुम कल्पना कर सकती हो कि उनके हाथ में कितनी ज़बरदस्त ताक़त होती है। वे किसी व्यवसाय को बना और बिगाड़ सकते हैं। महायुद्ध के बाद ही ब्रिटिश सरकार ने कई बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इंडिया के नाम से एक बड़ा बैंक बनाया। यह बैंक पूरे तौर पर सरकार के नियन्त्रण में है और देश के दूसरे छोटे बैंकों पर इसका बहुत काफी नियंत्रण है। इस तरह सरकार हिन्दुस्तानी उद्योगों और व्यापारी पेढ़ियों पर अपना काफ़ी क़ब्ज़ा रख सकती है।

हिन्दुस्तानी उद्योगों के लिए अंग्रेज लोग जो महान् कार्य कर रहे थे (और हम देख ही चुके हैं कि यह महान् कार्य कैसा था) उसके लिए बतौर इनाम या पुरस्कार उन्होंने अपने माल को तरजीह दिये जाने की माँगें कीं। इसे कभी-कभी 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' (साम्राज्य के माल को तरजीह देने की नीति) कहा जाता है। इसका मतलब यह था कि अगर हिन्दुस्तानी उद्योगों को संरक्षण देने के लिए विदेशी माल पर कर या टैरिफ़ लगाना हो तो ब्रिटिश माल पर अपेक्षाकृत कम टैक्स लगाया जाय, या बिलकुल ही टैक्स न लगाया जाय, जिससे यहाँ के बाजार में ब्रिटिश माल को दूसरे विदेशी माल से ज्यादा सुविधायें मिलें। अभी हाल में तरजीह दिये जाने की इस नीति को चलाने में वे कामयाब हुए हैं।

युद्ध-काल में हिन्दुस्तानी पूंजीपति वर्ग और ऊँचे मध्यमवर्ग की बढ़ती हुई ताक़त का असर राजनैतिक आन्दोलन पर भी पड़ा। राजनीति युद्ध के पहले या युद्ध के जमाने की शुरुआत की ख़ुमारी से वाहर निकल पडी और स्वशासन की माँग की जाने लगी। अपनी लम्बी सज़ा काटने के बाद लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आये। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि उस वक़्त राष्ट्रीय महासभा या नेशनल कांग्रेस माडरेट यानी उदार दल के हाथ में थी। उस वक़्त वह एक छोटी-सी संस्था थी, जिसका जनता से बहुत कम सम्पर्क था और जिसका बिलकुल प्रभाव नहीं था। चूंकि अधिक प्रगतिशील राजनीतिज्ञ काँग्रेस में नहीं थे, इसलिए उन्होंने होमरूल लीगों का संगठन किया। ऐसी दो लीगें बनाई गईं—एक लोकमान्य तिलक द्वारा, दूसरी श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा। कुछ वर्षों तक श्रीमती बेसेण्ट ने हिन्दुस्तान की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया और उनकी बोलने और किसी बात की वकालत करने की महान् शक्ति ने राजनीति में लोगों की दिलचस्पी बढ़ा दी। सरकार ने उनके प्रचार को इतना ख़तरनाक समझा कि उन्हें, और उनके दो साथियों को, कुछ महीनों तक नज़रबन्द रक्खा। वह कलकत्ता में कांग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्ष हुईं। वह काँग्रेस की अध्यक्ष बननेवाली पहली स्त्री थीं। कुछ वर्षों बाद श्रीमती सरोजनी नायडू काँग्रेस की दूसरी महिला-अध्यक्ष हुईं थीं।

१९१६ में कांग्रेस के दोनों दलों, माडरेटों और उग्रतावादियों, में समझौता हो-गया और १९१६ में लखनऊ में क़ांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें दोनों शरीक हुए। यह समझौता थोडे ही समय तक क़ायम रहा। दो वर्षों के अन्दर ही फिर झगड़ा होगया और माडरेट, जो अब अपनेको लिबरल यानी उदार-मतवादी कहते हैं, कांग्रेस से अलग होगये और अभीतक अलग ही हैं।

१९१६ की लखनऊ-क़ांग्रेस से राष्ट्रीय महासभा का पुनरुत्थान शुरू होता है। तबसे आगे बराबर उसका महत्व और उसकी ताक़त बढ़ती गई, और अपने इतिहास में पहली बार वह मध्यमवर्ग एक राष्ट्रीय संगठन बन सका। तब भी इसका आम जनता से कोई ताल्लुक़ न था और आम लोगों ने तबतक इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली जबतक कि उसमें बापू का आगमन नहीं हुआ। इस तरह माडरेट या उग्रतावादी दोनों, कमोबेश, एक ही यानी मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। माडरेट लोग थोडे-से खुशहाल लोगों और सरकारी नौकरियों के नज़दीक रहनेवालों के प्रतिनिधि थे। वे खुद भी ज्यादातर खुशहाल थे और सरकारी नौकरियों में थे या उनके साथ उनके ताल्लुक़ात थे। उग्रतावादियों के साथ मध्यमवर्ग के ज्यादातर लोगों की हमदर्दी थी और उसमें कितने ही बेकार प्रतिभावान या बुद्धिजीवी लोग थे। ये बुद्धिजीवी (जिन-

से मेरा मतलब बहुत कुछ पढ़े-लिखे लोगों से है) संगठित हुए और इन्हींमें से क्रान्तिकारियों को भी रंगरूट मिले। माडरेटों और उग्रपंथियों के आदर्श या लक्ष्य में कोई ज्यादा फ़र्क़ नहीं था। दोनों ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर स्वशासन की बात करते थे और दोनों उस वक़्त इसका एक हिस्सा भी लेनें को तैयार थे। यह जरूर था कि उग्रपंथी माडरेटों की बनिस्बत जरा बड़ा हिस्सा माँगते थे और अपनी माँग को जोरदार भाषा में प्रकट करते थे। मुट्ठीभर क्रान्तिकारी जरूर पूरी आजादी चाहते थे, पर उनका कांग्रेस के नेताओं पर बहुत कम प्रभाव था। माडरेटों और उग्रपंथियों में असली फ़र्क़ यह था कि पहला अधिपतियों यानी मालदारों (Haves) और उनके सहारे रहनेवाले लोगों का दल था और उग्रपंथियों में ऐसे लोग भी बहुत काफ़ी तादाद में थे जो अपहृत थे और जिनके पास खुशहाल जिन्दगी के जरिये न थे। लाजिमी तौर पर दूसरे दल ने देश के नौजवानों को ज्यादा आकर्षित किया। इन नौजवानों में से ज्यादातर काम की जगह कड़ी भाषा के प्रयोग को ही काफ़ी समझते थे। पर मैं यहाँ यह कह दूं कि यह जो मैंने एक आम बात बताई है वह दोनों तरफ़ के कई व्यक्तियों पर लागू नहीं होती। उदाहरण के तौर पर गोपालकृष्ण गोखले का नाम लिया जा सकता है, जो माडरेटों के एक बड़े ही योग्य और आत्मत्यागी नेता थे और वह मालदार नहीं थे। उन्होंने लोक-सेवक-समिति (सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी) क़ायम की। पर न तो माडरेटों का, न उग्रपंथियों का, असली शोषित और अपहृत लोगों (Have-nots) यानी मजदूरों और किसानों से कोई ताल्लुक़ था। हाँ, तिलक आम जनता में जरूर लोकप्रिय थे।

१९१६ की लखनऊ-कांग्रेस हिन्दू-मुस्लिम एकता के कारण भी महत्वपूर्ण थी। कांग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार पर खड़ी थी, पर अमल में वह एक हिन्दू संस्था थी, क्योंकि इसमें ज्यादातर हिन्दू ही थे। युद्ध के कुछ साल पहले, सरकार के बढ़ावा देने पर, शिक्षित मुसलमानों ने आलइंडिया मुस्लिम लीग क़ायम की थी। यह संस्था मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखनें के लिए खोली गई थी, पर यह धीरे-धीरे कांग्रेस की तरफ़ बढ़ती गई और लखनऊ में दोनों के बीच, हिन्दुस्तान के भावी विधान के बारे में, एक समझौता होगया। इसे कांग्रेस-लीग योजना कहा जाता था और दूसरी बातों के साथ इसमें मुसलमानों के अल्पमत के लिए स्थान (सीट) सुरक्षित रखने की भी तजवीज थी। यह कांग्रेस-लीग योजना दोनों का संयुक्त कार्यक्रम बन गई और देश की माँग के रूप में स्वीकार की गई। इसके ख़यालात मध्यमवर्ग के ख़यालात थे, क्योंकि उस वक्त मध्यमवर्ग ही राजनैतिक मामलों में दिलचस्पी लेता था। इस योजना के आधार पर आन्दोलन बढ़ता गया।

मुसलमान जो राजनीति में इतनी दिलचस्पी लेने लगे थे और कांग्रेस के साथ मिलकर काम कर रहे थे, उसकी वजह यह थी कि ब्रिटेन के तुर्की के साथ लड़ने से वे खीझ उठे थे। तुर्की के साथ हमदर्दी रखने और जोरों से उसका इजहार करने के कारण दो मुसलमान नेता, मौलाना शौक़तअली और मुहम्मदअली, युद्ध के शुरू में ही नजरबन्द कर दिये गये थे। मौलाना अबुलकलाम आजाद भी नजरबन्द कर दिये गये थे। उनकी नजरबन्दी की वजह यह थी कि अरब देशों से उनके गहरे ताल्लुक़ात थे, जहाँ वह अपनी किताबों और लेखों के कारण बड़े लोकप्रिय थे। इन सब बातों से मुसलमानों का खीझना और गुस्सा होना लाजिमी था और वे सरकार से अधिकाधिक दूर हटते गये।

चूंकि हिन्दुस्तान में स्वशासन की माँग बढ़ती गई, ब्रिटिश सरकार ने कई वादे किये और हिन्दुस्तान में जाँच शुरू करदी, जिससे जनता का ध्यान उधर खिंच गया। १९१८ की गरमी के दिनों में उस वक्त के भारत-सचिव और वाइसराय ने एक संयुक्त रिपोर्ट पेश की—जो उनके नामों से 'मांटेगू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट' करके मशहूर हुई—जिसमें हिन्दुस्तान में कुछ सुधारों और परिवर्तनों के प्रस्ताव किये गये थे। तुरन्त ही इन प्रस्तावों पर देश में बड़ी बहस छिड़ गई। कांग्रेस ने जोरों के साथ उनका विरोध किया और उन्हें अपर्याप्त यानी नाकाफ़ी बताया। लिबरलों ने उनका स्वागत किया और उन्हींकी वजह से वे कांग्रेस से अलग होगये। कुछ समय पहले से ही वे नये तौर-तरीक़े के कांग्रेसमैनों के साथ तकलीफ़ महसूस कर रहे थे।

जब युद्ध ख़त्म हुआ तब हिन्दुस्तान की यह हालत थी। हर जगह तब्दीलियों का जबरदस्त इन्तजार था। राजनैतिक 'बैरोमीटर'[१] ऊँचा उठ रहा था और मुलायम, विश्रामदायक, अप्रभावशाली और हिचकिचाहट से भरी हुई कानाफूसियों की जगह उग्रपंथियों की ज्यादा विश्वास से भरी हुई, उग्र, सीधी और स्पष्ट चिल्लाहट ले रही थी। पर माडरेट और उग्रपंथी दोनों राजनीति और शासन के बाहरी ढाँचे के बारे में ही बोलते थे; उनकी पीठ पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद देश के आर्थिक जीवन पर चुपचाप अपना क़ब्जा क़ायम करता जा रहा था।

१. बैरोमीटर—वायु का भार बतानेवाला यंत्र

: १५५ :

योरप का नया नक्शा

२१ अप्रैल, १९३३

थोडे में महायुद्ध की प्रगति का विचार करने के बाद हम लोगों ने रूस की क्रान्ति की सैर की और उसके बाद महायुद्ध के जमाने में हिन्दुस्तान की क्या हालत थी इसपर भी ग़ौर कर लिया। अब हमें फिर 'आर्मिस्टीज' यानी महायुद्ध को बन्द करने के सुलहनामे की तरफ़ लौट चलना चाहिए और यह देखना चाहिए कि विजयी शक्तियों या राष्ट्रों का बर्ताव कैसा रहा। जर्मनी पस्त होगया था और बेदम पड़ा था। क़ैसर जर्मनी छोड़कर भाग गया था और प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी गई थी। इतने पर भी जर्मन फौज को पूरी तरह से अशक्त या बेकाम कर देने के इत्मीनान के लिए सुलहनामे (Armistice) में बहुतेरी कडी शर्तें रक्खी गई थीं। इनके मुताबिक जर्मन फौज को न सिर्फ उन प्रदेशों से हट जाना पड़ा जिनपर युद्ध के जमाने में हमला करके उसने क़ब्ज़ा कर लिया था, बल्कि उसे अलसेस-लॉरेन और राइन तक फैला हुआ जर्मनी का हिस्सा भी ख़ाली कर देना पड़ा। यह शर्त रक्खी गई कि मित्र-राष्ट्र राइनलैण्ड यानी कोलोन (Cologne) के इर्द-गिर्द के प्रदेश पर क़ब्ज़ा कर लेंगे। जर्मनी को अपने बहुतेरे सामरिक या लड़ाकू जहाज़ों और अपनी सब 'यू' नौकाओं (जर्मनी सबमेरीनें या पनडुब्बियाँ इसी नाम से मशहूर थीं) से हाथ धोना पड़ा। इनके अलावा उसे अपनी हज़ारों तोपें, हवाई जहाज, रेलवे इंजिन, लारियाँ और दूसरी कितनी-ही चीज़ें छोड़ देनी पडीं।

उत्तर फ़्रांस के काम्पेन वन में, जहाँ उस सुलहनामे पर दस्तख़त हुए थे, एक स्मारक है, जिसपर ये वाक्य लिखे हुए हैं :—

"Ici le November 11, 1918, succomba le criminel orgueil de L'Empire Allemand Vaincu par les peoples libres qu'il pretendait asservir."

अर्थात्, "यहां, ११ नवम्बर १९१८ को, आज़ाद क़ौमों (जिन्हें जर्मनी ने ग़ुलाम बनाना चाहा था) द्वारा पराजित जर्मन साम्राज्य के अपराधी अभिमान का अन्त हो गया।"

इसमें कोई शक नहीं कि कम-से-कम ऊपरी तौर पर तो जर्मन साम्राज्य का ख़ात्मा होगया और प्रशा का फ़ौजी ग़ुरूर टूट चुका था। इसके भी पहले रूसी साम्राज्य का अन्त होचुका था और वहाँका रोमनोफ़ राजवंश उस स्टेज से हटा दिया गया था जिसपर वह इतने लम्बे अर्से तक बदकारियाँ कर रहा था। इस

महायुद्ध से एक तीसरे साम्राज्य और पुराने राजघराने, यानी हैप्सवर्ग खानदान के आस्ट्रिया-हँगरी के साम्राज्य, का भी खात्मा हो गया। लेकिन इसके वाद भी दूसरे कई साम्राज्य वच रहे, क्योंकि वे विजेताओं में से थे और विजय ने उनके ग़ुरूर में कोई कमी नहीं की, न उन लोगों के प्रति, जिन्हें उन्होंने ग़ुलाम वना रक्खा था, उनमें कुछ ज्यादा उदारता या इंसाफ़ का ख़याल ही पैदा किया।

विजयी मित्र-राष्ट्रों ने सन् १९१९ ई० में पेरिस में अपना 'शान्ति-सम्मेलन' (Peace Conference) किया। उनके हाथों पेरिस में दुनिया का भविष्य गढ़ा जानेवाला था और कई महीनों तक इस मशहूर शहर पर दुनिया की आँखें लगी रहीं। दूर और नजदीक से सभी तरह के आदमी वहाँ सफ़र करके पहुँचे। अपनेको वहुत महत्वपूर्ण समझनेवाले राजनीतिज्ञ और राजनैतिक आदमी वहाँ जमा हुए; कितने ही कूटनीतिज्ञ, विशेषज्ञ, वडे-वडे फ़ौजी आदमी, रुपया लगानेवाले साहूकार, और मुनाफ़ा उठानेवाले लोग वहाँ पहुँच गये। और इन सवके साथ सहायकों, टाइपिस्टों और क्लर्कों की भीड़-की-भीड़ थी। पत्रकारों की जमात तो थी ही। अपनी आज़ादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के जैसे आयर्लैण्ड, मिस्र, अरव और दूसरे कितने ही जिनका नाम भी पहले नहीं सुनाई पड़ा था—प्रतिनिधि भी वहाँ पहुँचे थे। पूर्वी योरप के कई राष्ट्रों के प्रतिनिधि भी वहाँ आये थे, जो चाहते थे कि आस्ट्रियन और तुर्की साम्राज्यों के भग्नावशेष यानी खण्डहरों से अपने लिए अलग राष्ट्रों का निर्माण करें। इनके अलावा वहुत-से लेभग्गू भी जमा हुए थे। दुनिया का नये ढंग पर वँटवारा होने जा रहा था और गिद्ध इस मौक़े पर चूकना नहीं चाहते थे।

'शान्ति-सम्मेलन' से वडी उम्मीदें थीं। लोगों का ख़याल था कि महायुद्ध के भयंकर अनुभव के वाद न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति का कोई उपाय किया जायगा। आम जनता अव भी युद्ध के जवरदस्त वोझ को महसूस कर रही थी और मजदूरों में वहुत ज्यादा असंतोष था। जिन्दगी की ज़रूरी चीजों के दाम वहुत चढ़ गये थ और इसकी वजह से आम लोगों की मुसीवतव हुत वढ़ गई थी। सन् १९१९ ई० में योरप में आनेवाली सामाजिक क्रान्ति के कितने ही चिन्ह साफ़ दिखाई दे रहे थे। रूस का उदाहरण लोगों को ख़ास तौर पर अपनी तरफ़ खींच रहा था।

वर्साई के उस हाल में, जहाँ ठीक अड़तालीस वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य का ऐलान किया गया था, होनेवाले शान्ति-सम्मेलन का यह पार्श्वचित्र था। इतने वडे सम्मेलन का रोज़-वरोज मिलना मुश्किल था, इसलिए वह कई कमेटियों में वाँट दिया गया। ये कमेटियाँ अपनी प्राइवेट या गुप्त वैठकें करती थीं और इस चालाकी के परदे के पीछे उनके झगडे और षड्यन्त्र चलते रहते थे। सम्मेलन

का नियंत्रण मित्र-राष्ट्रों की 'कौंसिल ऑफ़ टेन' (Council of Ten) यानी 'दस की समिति' करती थी, जिसमें दस राष्ट्रों के प्रतिनिधि थे। बाद में वह घटाकर पांच की करदी गई, जिसमें संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका), ब्रिटेन, फ़्रांस, इटली और जापान दुनिया के पंच महाराष्ट्र (Big Five) थे। कुछ दिनों बाद जापान भी इसमें से निकल गया और सिर्फ़ 'कौंसिल ऑफ़ फ़ोर' यानी चार राष्ट्रों की कौंसिल रह गई। अख़ीर में इटली भी इससे हट गया और सिर्फ़ तीन महाराष्ट्र (Big Three) रह गये—अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस। राष्ट्रपति विल्सन, लायड जार्ज और क्लेमेंशो क्रमशः इन तीनों देशों के प्रतितिधि थे और इन तीन आदमियों के कन्धों पर दुनिया को नये साँचे में ढालने और उसके भयावने ज़ख्मों को अच्छा करने का महान् कार्य आपड़ा। यह कार्य महापुरुषों और देवताओं के लायक़ था और ये तीनों इनसे कहीं भिन्न या दूसरे ढंग के थे। जिन लोगों के हाथों में ताक़त होती है—जैसे बादशाह, राजनीतिज्ञ, सिपहसालार और इसी तरह के दूसरे लोग—उनका अख़बारवाले इतना ज्यादा विज्ञापन करते और उनकी तारीफ़ का कुछ ऐसा पुल बाँध देते हैं कि आम लोगों को वे विचार और कार्य में असाधारण और देव सरीखे जान पड़ते हैं। उनके चारों ओर एक तरह का प्रकाश का घेरा लोगों को दिखाई पड़ने लगता है और अपने अज्ञान या नावाक़फ़ियत के कारण हम उनमें बहुत-से ऐसे गुणों की कल्पना कर लेते हैं जिनका उनमें नाम-निशान भी नहीं होता। घनिष्ट परिचय में आने या नज़दीक से देखने के बाद वे बहुत मामूली आदमी निकलते हैं। एक मशहूर आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था कि अगर दुनिया को मालूम होजाय कि कितनी कम बुद्धि से उसपर हुकूमत की जाती है तो वह स्तब्ध या हैरतज़दा रह जायगी। इस तरह ये तीन महान् लोग (The Big Three) हालांकि बडे दीखते थे, पर उनका दृष्टिकोण बहुत संकुचित था और वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से बेख़बर थे—यहाँतक कि उन्हें भूगोल का भी ज्ञान न था।

राष्ट्रपति उडरो विल्सन बडे लोकप्रिय थे और उनकी चारों तरफ़ बडी प्रशंसा हो रही थी। उन्होंने अपने व्याख्यानों और नोटों में इतने ख़ूबसूरत और आदर्श से भरे हुए वाक्यों का प्रयोग किया था कि लोग उन्हें आनेवाली नई आज़ादी का पैग़म्बर समझने लगे। ग्रेटब्रिटेन के प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने भी बहुतेरे सुन्दर वाक्यों का इस्तेमाल किया, पर उनको लोग अवसरवादी या मौक़े से अपना मतलब गाँठनेवाला समझते थे। 'शेर' (Tiger) नाम से पुकारे जानेवाले क्लेमेंशो को आदर्शों और लम्बे-चौडे वाक्यों से कोई मतलब न था। वह तो फ़्रांस के पुराने दुश्मन जर्मनी को हर तरह से कुचलना और अपमानित करना चाहता था, ताकि फिर वह सिर न उठा सके।

यों ये तीनों एक-दूसरे से लड़ते और एक-दूसरे को अपनी-अपनी तरफ़ खींचते रहे। इनमें से हरेक पर सम्मेलन में और वाहर से भी न जाने कितने आदमियों का दवाव और ज़ोर पड़ रहा था। फिर इन सवके पीछे सोवियट रूस की छाया फैल रही थी। सम्मेलन में न रूस और न जर्मनी का कोई प्रतिनिधि था, पर सोवियट रूस की हस्ती ही पेरिस में इकट्ठा हुई पूंजीवादी ताक़तों के लिए वरावर एक चुनौती-सी थी।

आख़िरकार लायड जार्ज की मदद से क्लेमेंशो की जीत हुई। विल्सन जो चीज़ सवसे ज्यादा चाहता था, वह—एक राष्ट्र-संघ—उसे मिल गई और इस वारे में सवकी मंजूरी मिल जाने पर वह और सव वातों में झुक गया। कई महीनों के तर्क और वहस-मुवाहसे के वाद शान्ति-सम्मेलन में मित्र-राष्ट्र सुलहनामे के एक मस्विदे पर सहमत हुए और आपस में एकमत हो जाने के वाद उन्होंने जर्मन प्रतिनिधियों को अपना हुक्म या फ़ैसला सुनाने के लिए वुलाया। ४४० धाराओं का यह लम्बा-चौड़ा सुलह का मस्विदा जर्मनों के गले ठूंस दिया गया और उनसे उसपर दस्तख़त करने को कहा गया। उनके साथ कोई तर्क-वितर्क या वहस-मुवाहसा नहीं हुआ और न उन्हें उस मस्विदे में किसी तरह का संशोधन या रद्दोवदल करने का ही मौक़ा दिया गया। यह तो एक जवरदस्ती और ज़ोर के वल पर की गई सुलह थी; या तो जर्मनों को ज्यों-का-त्यों इसे क़वूल कर लेना था या नामंजूरी का परिणाम भुगतने के लिए तैयार होना था। नये जर्मन प्रजातंत्र के प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया और दी गई अवधि के आख़िरी दिन वर्साई की संधि पर दस्तख़त किये।

आस्ट्रिया, हंगरी, वलगेरिया और तुर्की के साथ मित्र-राष्ट्रों ने अलग-अलग संधियां कीं। तुर्की के साथ होनेवाले सुलहनामे को उस वक़्त के सुलतान ने तो मान लिया था, पर कमालपाशा और उसके वहादुर साथियों की जवरदस्त मुख़ालफ़त की वजह से वह वाद में नाकामयाव होगया। पर उसकी एक अलग कहानी है, जो मैं किसी दूसरे पत्र में तुम्हें सुनाऊँगा।

इन सुलहनामों से क्या तब्दीलियाँ हुईं? ज्यादातर प्रादेशिक परिवर्तन पूर्वी योरप, पश्चिमी एशिया और अफ़रीका में हुए। अफ़रीका के जर्मन उपनिवेशों को मित्र-राष्ट्रों नें लड़ाई के इनाम के तौर पर हथिया लिया। इसमें इंग्लैण्ड के हाथ में सवसे अच्छे हिस्से आये। ब्रिटेन वहुत दिनों से अफरीका के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपनें साम्राज्य का जो सपना देख रहा था वह पूर्वी अफरीका में टंगानिका के हाथ आजाने से पूरा होगया, क्योंकि अव उत्तर में मिस्र से लेकर दक्षिण में केप तक ब्रिटेन का ही क़ब्ज़ा था।

योरप में वहुतेरी तब्दीलियाँ होगईं और वहुत-से नये राज्य या राष्ट्र नक़्शे पर आगये। किसी पुराने नक़्शे का नये से मुक़ाविला करो तो तुम्हें देखते ही इन

तब्दीलियों का पता लग जायगा। कई तब्दीलियाँ तो रूसी क्रान्ति का परिणाम थीं, क्योंकि बहुत-सी क़ौमें, जो रूस की सरहदों पर बसी हुई थीं, सोवियट से अलहदा होगईं और उन्होंने अपनी आज़ादी का ऐलान कर दिया। सोवियट सरकार ने उनके आत्म-निर्णय के अधिकार को मंजूर कर लिया और उनकी स्वतंत्रता में दख़ल नहीं दिया। योरप के नये नक़्शे को देखो। आस्ट्रिया-हंगरी का बड़ा राज्य एकदम ग़ायब होगया है और उसकी जगह पर कई छोटे देश और राज्य पैदा होगये हैं, जिन्हें 'आस्ट्रियन विरासत वाले राज्य' (Austrian Succession States) कहते हैं। इनमें आस्ट्रिया भी एक है, जो अपने पहले विस्तार का एक छोटा टुकड़ा-सा रह गया है और जिसकी राजधानी वियेना का बड़ा शहर है। इनमें दूसरा देश हंगरी है। यह भी पहले से बहुत छोटा होगया है। तीसरा ज़ेकोस्लोवेकिया है, जिसमें पहले का बोहेमिया शामिल कर दिया गया है। इसके अलावा युगोस्लेविया का, जो हमारा पुराना पर दुःखदाई दोस्त है, एक हिस्सा रह गया है; सर्विया इस तरह मिट गया है कि पहचाना नहीं जाता। कुछ हिस्से रूमानिया, पोलैण्ड और इटली को मिल गये हैं। मतलब यह कि अच्छी तरह चीर-फाड़ और बांट-बखरा किया गया।

और आगे, उत्तर की तरफ़ एक और नया राज्य पैदा होगया है। या यों कहना ज्यादा सही होगा कि एक पुराना राज्य फिर से आ गया है। यह पोलैण्ड है। यह प्रशा, रूस और आस्ट्रिया से कई प्रदेश लेकर और उन्हें जोड़कर बनाया गया है। पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने का रास्ता देने के लिए एक ग़ैरमामूली बात की गई। जर्मनी या प्रशा के दो टुकडे कर दिये गये और इन दोनों के बीच पोलैण्ड को जमीन का एक टुकड़ा, जिससे होकर वह समुद्र तक जा सकता था, दिया गया। पश्चिमी रूस से पूर्वी प्रशा को जाने में इस टुकडे को पार करना पडता है। इसी टुकडे के नजदीक डैनज़िग का मशहूर शहर है। इसे एक स्वतंत्र नगर बना दिया गया है। यानी इसपर न जर्मनी का क़ब्ज़ा है, न पोलैण्ड का; वह खुद ही एक राज्य है और उसपर सीधे राष्ट्र-संघ का नियंत्रण है।

पोलैण्ड के उत्तर में लिथुएनिया, लटविया, इस्टोनिया और फिनलैण्ड के बाल्टिक राज्य हैं। ये सब पुराने ज़ार के साम्राज्य के वारिसों में से हैं। ये छोटे-छोटे राज्य हैं, पर हरेक की संस्कृति और भाषा अलग है। शायद तुमको यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि लिथुएनियन लोग आर्य हैं (जैसी कि योरप में और भी कई क़ौमें हैं) और उनकी भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है। यह बडी महत्वपूर्ण बात है जिसे हिन्दुस्तान में बहुत-से लोग नहीं महसूस करते, और जिससे हमें उन बंधनों की याद आती है जो दूर-दूर की क़ौमों को एक सूत्र में बाँधते हैं।

योरप में सिर्फ़ एक तब्दीली और हुई; अलसेस-लॉरेन का प्रान्त फ़्रान्स को दे दिया गया। कुछ और तब्दीलियाँ भी हुईं, पर मैं उनका जिक्र कर तुम्हें तंग न करूँगा। अब तुमने देख लिया है कि इन तब्दीलियों के कारण बहुत-से नये राज्य पैदा होगये, जिनमें से ज्यादातर बिलकुल छोटे हैं। अब पूर्वी योरप बाल्कन-सा होगया है, इसीलिए अक्सर यह कहा जाता है कि शांति की संधियों ने योरप को 'बाल-कनाइज्ड' (Balkanised) कर दिया या बाल्क़न-की-सी शक्ल में बदल दिया। अब बहुत-सी नई सीमायें या सरहदें पैदा होगई हैं और इन छोटे राज्यों में अक्सर झगडे चलते रहते हैं। यह देखकर हैरत होती है कि वे किस तरह एक-दूसरे से नफ़रत करते हैं। डैन्यूब नदी की घाटी वाले देशों में खास तौर से यह हालत है। इसकी ज्यादातर जिम्मेदारी मित्र-राष्ट्रों पर है, जिन्होंने योरप का बिलकुल ग़लत तरीक़े पर बँटवारा किया और बहुत-सी नई समस्यायें पैदा करदीं। बहुतेरी छोटी और कम तादाद वाली क़ौमों पर विदेशी सरकारों का क़ब्ज़ा है जो उन्हें दबाती और उनपर अत्याचार करती रहती हैं। पोलैण्ड का काफ़ी बड़ा हिस्सा असल में उक्रैन का है और इस हिस्से के ग़रीब उक्रैनियनों को जबरदस्ती पोलिश बनाने के लिए उनपर तरह-तरह के अत्याचार किये गये हैं। इसी तरह जुगोस्लेविया, रूमानिया और इटली में भी छोटी तादाद वाली विदेशी क़ौमें हैं और उनके साथ बराबर बुरा और भद्दा बर्ताव किया जाता है। दूसरी तरफ़ आस्ट्रिया और हंगरी की हड्डी-हड्डी जुदा करदी गई और उनके अपने लोग उनसे छीन लिये गये हैं। विदेशी हुकूमत में रहनेवाले इन प्रदेशों में राष्ट्रीय आन्दोलनों और झगडों का बराबर खडे होते रहना स्वाभाविक है।

फिर इस नक़्शे पर निगाह डालो। तुम देखोगी कि फिनलैंड, इस्टोनिया, लटविया, लियुएनिया, पोलैण्ड और रूमानिया के राज्यों के सिलसिले के कारण रूस पश्चिमी योरप से एकदम अलहदा होगया है। जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, इन राज्यों में ज्यादातर वर्साई की सुलह से नहीं बनाये गये, बल्कि वे रूसी क्रान्ति के परिणाम थे। जो हो, मित्र-राष्ट्रों ने इनका स्वागत किया और खुशी जाहिर की। इसकी वजह यह थी कि वे रूस को ग़ैरबोलशेवी योरप से अलग करते थे। वे 'स्वच्छता का घेरा' (Cordon Sanitaire जिससे छूत के रोगों को एक जगह से दूसरी जगह फैलने से रोका जाता है) थे, जो बोलशेविज्म के छूत के रोग को रोकने में मददगार हो सकते थे। ये सब बाल्टिक राज्य यानी बाल्टिक समुद्र के आस-पास के राज्य ग़ैरबोलशेवी हैं, वरना वे सोवियट फेडरेशन में शामिल होजाते।

पश्चिमी एशिया में पुराने तुर्की साम्राज्य के कुछ हिस्सों पर यूरोपीय शक्तियों की ललचाई हुई आँखें पड़ीं। महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजों ने यह वादा करके तुर्की

के ख़िलाफ़ अरवों में वग़ावत करा दी थी कि वे अरवस्तान, फ़िलस्तीन और सीरिया को मिलाकर एक संयुक्त अरव राष्ट्र का निर्माण करेंगे। जब अरवों से यह वादा किया जा रहा था, तभी इन प्रदेशों को आपस में वाँट लेने की एक गुप्त संधि भी अंग्रेज फ्रांसीसियों से कर रहे थे। यह कोई यश की वात न थी और वर्तमान ब्रिटिश प्रधान मंत्री रैम्से मैकडानल्ड[१] ने इसे 'भद्दे दोरंगीपन' की एक कहानी कहकर पुकारा था। पर यह दस वर्ष पहले की वात है, जब वह मंत्री नहीं थे और कभी-कभी सच वोलने की जुर्रत कर सकते थे।

जब ब्रिटिश सरकार ने न सिर्फ़ अरवों के साथ किया हुआ वादा तोड़ने की कोशिश की वल्कि फ़्रांस से की हुई गुप्त संधि से भी आँखें फेरनी चाहीं, तव इसका एक अजीव कारण था। उनके दिमाग़ में एक महान् मध्यपूर्वी साम्राज्य का स्वप्न पैदा हुआ—ऐसे साम्राज्य का जो हिन्दुस्तान से मिस्र तक फैला हुआ हो। यानी वह वीच के वहुत वड़े हिस्से को हथिया कर हिन्दुस्तान के साम्राज्य को अपने अफ़रीका के राज्य से मिला देना चाहते थे। यह एक वड़ा ही ललचाने वाला और जबरदस्त सपना था। फिर भी उसके पूरा होने में उस वक्त कोई ज्यादा दिक़्क़त मालूम नहीं होती थी। १९१९ के उस जमाने में ब्रिटिश फौजों ने इन सव प्रदेशों—फ़ारस, इराक़, फ़िलस्तीन, अरवस्तान के कुछ हिस्सों और मिस्र पर क़ब्जा कर रक्खा था। वे सीरिया से फ़्रांस को वाहर रखने की कोशिश कर रही थीं। कुस्तुनतुनिया शहर भी अंग्रेजों के क़ब्जे में था। पर १९२०, १९२१ और १९२२ में जो घटनायें हुईं उनसे यह सपना टूट गया। ब्रिटिश मंत्रियों की इस महत्वाकांक्षा से भरी योजना को पीछे से सोवियट और आगे से कमालपाशा ने ख़त्म कर दिया।

किन्तु इतने पर भी ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया के कई प्रदेशों—इराक़ और फ़िलस्तीन—में अपना अधिकार क़ायम रक्खा और रिश्वत और दूसरे तरीक़ों का इस्तेमाल करके अरवस्तान में होनेवाली घटनाओं पर भी असर डालने की कोशिश की। सीरिया फ्रांसीसियों के क़ब्जे में आगया। अरव देशों की नई राष्ट्रीयता और आजादी के लिए उनकी लड़ाई के वारे में मैं फिर कभी तुम्हें वताऊंगा।

अव हमें फिर वर्साई की संधि की तरफ़ लौट चलना चाहिए। इस संधि या सुलह ने यह फ़ैसला किया कि जर्मनी युद्ध छेड़ने के लिए कसूरवार है। इस तरह इस सुलहनामे पर दस्तख़त कराके जर्मनों से उनके अपने कसूर को जवरदस्ती मनवा लिया गया। ऐसी ज़ोर-ज़वरदस्ती की मंजूरी की कोई ज्यादा क़ीमत नहीं, इससे कटुता पैदा होती है, जैसी कि इस मामले में हुई भी।

जर्मनी को निःशस्त्र होने का भी हुक्म दिया गया। उसे सिर्फ छोटी सेना, ज्यादातर पुलिस के काम के लिए, रखने की अनुमति दी गई। उसे अपना सारा समुद्री बेड़ा मित्र-राष्ट्रों के सुपुर्द कर देना पड़ा। जब जर्मन बेड़ा सौंपने के लिए लेजाया जा रहा था, तब बेडे के जर्मन अफ़सरों और आदमियों ने यह तय किया कि अंग्रेजों को सौंपने से अच्छा यही है कि उसे डुबो दिया जाय। यह फ़ैसला उन्होंने अपनी जिम्मेदारी पर किया; यानी इस फ़ैसले से जर्मन-सरकार का कोई सरोकार न था। इस फ़ैसले के मुताबिक जून १९१९ में 'स्केपाल्फो' पर, जब ब्रिटिश लोग थोडी ही दूर रह गये थे और बेडे पर क़ब्जा करने की तैयारी कर रहे थे, सारा जर्मन बेड़ा अपने ही नाविकों द्वारा डुबा दिया गया।

इसके अलावा युद्ध में मित्र-राष्ट्रों को जो नुक़सान उठाना पड़ा था उसका हरजाना भी जर्मनी को देना था। इसे रिपेयरेशन या क्षति-पूर्ति कहा जाता था और तबसे यह शब्द योरप के ऊपर छाया-सा लटक रहा है। सुलहनामे में कोई निश्चित रक़म तय नहीं की गई थी, लेकिन उसमें उसका निश्चय करने की तजवीज़ रक्खी गई थी। इस तरह से मित्र-राष्ट्रों को युद्ध का हरजाना देने की जिम्मेदारी लेना एक बड़ा जबरदस्त मामला था। उस वक्त जर्मनी एक पराजित और उजड़ा हुआ देश था और अपनी घरेलू जिन्दगी को सम्हालने की बडी-बडी समस्यायें उसके सामने थीं। उनके अलावा मित्र-राष्ट्रों की क्षति का बोझ उठा लेना एक असम्भव काम था, जिसके पूरा होने की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। पर मित्र-राष्ट्र घृणा और बदले की भावना से भर रहे थे और न सिर्फ मांस नोंचना चाहते थे बल्कि ज़मीन पर लोटते हुए जर्मनी के खून की आखरी बूंद तक पी जाना चाहते थे। इंग्लैंड में लायड जार्ज ने 'क़ैसर को फाँसी दे दो' का नारा उठाकर ही पार्लमेण्ट के चुनाव में फतह हासिल की थी और फ़्रांस में तो इससे भी ज्यादा बदले की कटु भावनायें थीं।

सुलह की इन धाराओं का सारा मतलब बस यह था कि हर संभव उपाय से जर्मनी को बाँध दिया जाय, उसे निकम्मा कर दिया जाय और ऐसा कर दिया जाय कि फिर वह सिर न उठा सके या मजबूत न हो सके। उसे पीढ़ियों तक मित्र-राष्ट्रों का आर्थिक गुलाम रखने और उससे हर साल खिराज की शक्ल में बडी-बडी रक़में ऐंठते रहने की तजवीज की गई थी। इतिहास का यह बिलकुल साफ़ सबक़ कि किसी बडी क़ौम को लम्बे अर्से तक यों बाँध रखना मुमकिन नहीं है, इन बडे-बडे राजनीतिज्ञों के, जिन्होंने प्रतिहिंसा या बदले की इस शान्ति की नींव रक्खी थी, ध्यान में नहीं आया। आज वे इसके लिए पछता रहे हैं।

अन्त में तुमको मुझे राष्ट्रपति विल्सन की सन्तान उस राष्ट्रसंघ के बारे में

भी कुछ बताना चाहिए जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया के सामने पेश किया। ख़याल था कि यह स्वतन्त्र और स्वशासित यानी आज़ाद और खुदमुख्तार राज्यों का संघ होगा। इसका उद्देश्य न्याय और प्रतिष्ठा के आधार पर परस्पर सम्बन्ध क़ायम करके भविष्य में युद्धों का प्रतीकार करना और दुनिया की क़ौमों में बौद्धिक और भौतिक सहयोग को बढ़ाना था। उद्देश्य तो बिला किसी शुबहे के तारीफ़ के क़ाबिल था। संघ के हरेक सदस्य-राष्ट्र ने यह मंजूर किया कि वह एक सहयोगी राष्ट्र से तबतक युद्ध न छेड़ेगा जबतक कि शान्तिपूर्ण समझौते की सारी कोशिशें और सम्भावनायें नाकाम साबित न हो जायें और इसके बाद भी नौ महीने बीत जाने के बाद ही युद्ध का सहारा लेगा। यह तजवीज की गई कि अगर कोई सदस्य-राष्ट्र इस प्रतिज्ञा को तोड़ेगा तो और राष्ट्र उससे किसी तरह का आर्थिक सम्बन्ध न रक्खेंगे। काग़ज पर लिखा हुआ यह सब बहुत अच्छा लगता है; पर व्यवहार में बात इसके बिलकुल खिलाफ़ हुई। यह याद रखने की बात है कि सिद्धान्त या उसूल में भी संघ ने युद्ध का अन्त करने की कोशिश नहीं की। हाँ, उसने लड़ाई के रास्तों में दिक्क़तें पैदा करने की कोशिश जरूर की, ताकि वक्त गुजर जाने और समझौते के प्रयत्नों से युद्ध का जोश-खरोश कम हो जाय। युद्ध के कारणों को दूर करने की उसने कोशिश नहीं की।

राष्ट्र-संघ में एक तो असेम्बली थी, जिसमें सब सदस्य-राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व मिला था; दूसरी कौंसिल थी, जिसमें महाशक्तियों के स्थायी प्रतिनिधि होते थे और कुछ प्रतिनिधि असेम्बली द्वारा भी चुने जाते थे। इसका एक सेक्रेटरियट (मंत्रि-कार्यालय) रक्खा गया, जिसका सदर मुक़ाम, जैसा तुम जानती हो, जेनेवा में है। कामों के दूसरे भी कई विभाग थे। एक अन्तर्राष्ट्रीय मजूर कार्यालय, जो मजूरों के सवालों पर ग़ौर करता था; दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत (Permanent Court of International Justice), जिसका स्थान हेग में रक्खा गया; तीसरी बौद्धिक सहयोग के लिए एक कमेटी। राष्ट्रसंघ के साथ ही सब काम शुरू नहीं हुआ; कई काम बाद में बढ़ाये गये।

राष्ट्रसंघ का मूल विधान वर्साई-संधि में शामिल था। इसे ही 'राष्ट्रसंघ का शर्तनामा' (Covenant of the League of Nations) कहते हैं। इस शर्तनामे में यह तजवीज भी थी कि राष्ट्र की रक्षा के लिए जितनी सेना की जरूरत हो उतनी ही रक्खी जाय और सब राष्ट्र अपनी सेना को घटाकर कम-से-कम करदें। जर्मनी का निःशस्त्रीकरण (जो जबरदस्ती किया गया) इस दिशा में पहला क़दम समझा गया और यह तय हुआ कि दूसरे देश उसका अनुकरण करेंगे। यह भी कहा गया कि किसी

राज्य के हमला करने पर उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई की जायगी। पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि 'हमला' (Aggression) किसे कहा जायगा। जब दो क़ौमें या राष्ट्र लड़ते हैं तो उनमें से हरेक दूसरे को क़सूरवार बताता और उसे आक्रामक या हमलावर (Aggressor) कहता है।

महत्वपूर्ण मामलों का फैसला राष्ट्रसंघ सर्वसम्मति से ही कर सकता था। इसलिए अगर एक भी सदस्य-राष्ट्र किसी प्रस्ताव के ख़िलाफ़ राय दे तो वह गिर जाता था। इसका मतलब यह था कि बहुमत का कोई दबाव नहीं था। इसका यह भी मतलब था कि राष्ट्रीय सरकारें आज़ाद हैं और क़रीब-क़रीब उतनी ही ग़ैर-जिम्मेदार हैं जितनी पहले थीं। राष्ट्रसंघ उनपर किसी महाराष्ट्र की तरह हावी नहीं था। इस तजवीज़ ने राष्ट्रसंघ को बहुत कमज़ोर बना दिया और व्यवहार में उसे सिर्फ़ एक सलाह देनेवाली संस्था का रूप दे दिया।

कोई भी स्वतंत्र राष्ट्र संघ में शामिल हो सकता था, लेकिन चार देश साफ़ तौर पर अलग कर दिये गये थे : जर्मनी, अस्ट्रिया, तुर्की यानी पराजित देश, और बोलशेवी रूस। पर यह तजवीज़ की गई थी कि बाद में, कुछ शर्तों पर, वे शामिल किये जा सकते हैं। ताज्जुब तो यह है कि हिन्दुस्तान राष्ट्रसंघ के मूल सदस्यों में से एक हुआ। यह संघ के नियम के बिलकुल ख़िलाफ़ था, क्योंकि उसके मुताबिक सिर्फ़ आज़ाद और ख़ुदमुख़्तार मुल्क ही सदस्य हो सकते थे। पर 'हिन्दुस्तान' का मतलब हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार से था और इस चालाकी से ब्रिटिश सरकार को एक और प्रतिनिधि मिल गया। दूसरी तरफ़ अमेरिका ने, जो एक तरह से राष्ट्रसंघ को जन्म देनेवाला था, इसमें शामिल होने से साफ़ तौर पर इनकार कर दिया। अमेरिकन लोग राष्ट्रपति विल्सन के कामों और यूरोपियन साज़िशों व झगड़ों से ऊब गये और उन्होंने इससे अलग ही रहने का फैसला किया।

बहुत-से लोग राष्ट्रसंघ की तरफ़ उत्साह और इस उम्मीद से देख रहे थे कि वह हमारी आजकल की दुनिया के झगड़ों का ख़ात्मा कर देगा, या कम-से-कम उसमें बहुत ज्यादा कमी कर देगा और शान्ति और बहुतायत का युग ले आयगा। संघ को लोकप्रिय बनाने और सवालों पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ग़ौर करने की आदत डालने के लिए बहुत-से देशों में राष्ट्रसंघ सम्बन्धी संस्थायें बनाई गईं। दूसरी तरफ़ बहुत-से लोगों ने संघ को एक बड़ी धोखे और साज़िश की ऐसी चीज़ बताया जो बड़ी शक्तियों की स्वार्थ से भरी हुई योजनाओं को पूरा करने के लिए बनाई गई थी। अब हमने इसका कुछ व्यावहारिक अनुभव भी प्राप्त कर लिया है और शायद इसकी उपयोगिता की जाँच करना अब कहीं आसान है। संघ की हस्ती १९२० के नये दिन

(१ जनवरी) से शुरू हुई थी और अबतक इसे सवातेरह वर्ष वीत चुके हैं (मैं यह अप्रैल १९३३ में लिख रहा हूँ) । इसमें शक नहीं कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के इतिहास में यह कोई लम्बी अवधि नहीं है; फिर भी संघ को कई तरह से अविश्वसनीय साबित करने के लिए इतना वक़्त काफ़ी है । यह ठीक है कि इसने आजकल की जिन्दगी की मुख्तलिफ़ गलियों में अच्छा काम किया है और यही बात कि अन्तर्राष्ट्रीय सवालों पर विचार करने के लिए इसने राष्ट्रों---या यह कहना ज्यादा सही होगा कि उनको सरकारों---को एक जगह जमा किया है, पुराने तरीक़ों पर एक तरक़्की ही है; पर शान्ति रखने या युद्ध की संभावना को कम करने के अपने असल उद्देश्य को पूरा करने में यह बिलकुल नाकामयाब हुआ है ।

राष्ट्रसंघ के बारे में राष्ट्रपति विल्सन का असल मतलब चाहे जो रहा हो, पर इसमें शक नहीं कि महाशक्तियों के, ख़ासकर इंग्लैण्ड और फ़्रांस के, हाथ में संघ एक अस्त्र या हथियार रहा है । इसका असल काम वर्तमान व्यवस्था को क़ायम रखना है । यह राष्ट्रों के बीच न्याय और प्रतिष्ठा यानी इन्साफ़ और ईमान की बात करता है, पर यह जाँच नहीं कर करता कि क्या वर्तमान सम्बन्ध इन्साफ़ और ईमानदारी पर क़ायम हैं ? यह राष्ट्रों के 'घरू या अन्दरूनी मामलों' (Domestic Affairs) में दस्तन्दाजी न करने का ऐलान करता है । किसी साम्राज्यवादी ताक़त के मातहत देश इसके लिए 'अन्दरूनी या घरेलू मामले' हैं । इसलिए जहाँतक संघ का ताल्लुक़ है तहाँतक यह कहा जा सकता है कि वह इन ताक़तों द्वारा इनके साम्राज्यों को सदा मातहत या गुलाम बनाये रखने का समर्थन करता है । इसके सिवा जर्मनी और तुर्की से लिये हुए नये प्रदेश भी मित्र-राष्ट्रों को इसने 'मैण्डेट' यानी 'शासनादेश' के नाम पर सौंप दिये हैं । यह 'मैण्डेट' या 'शासनादेश' शब्द राष्ट्रसंघ की मनोवृत्ति को ठीक-ठीक जाहिर करता है, क्योंकि यह एक नये और खुशनुमा नाम के नीचे पुराने साम्राज्यवादी शोषण के ही सिलसिले को सूचित करता है । मजा तो यह है कि ऐसा समझ लिया गया है कि ये 'मैण्डेट' या 'शासनादेश' इन प्रदेशों की जनता की इच्छा के अनुसार ही दिये गये हैं । इन दुखिया क़ौमों में से कई ने तो इन शासनादेशों के ख़िलाफ़ बग़ावत भी की है और काफ़ी अर्से तक ख़ूनी लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं । उन्होंने तबतक इनके ख़िलाफ़ आवाज बुलन्द की है जबतक कि वे बम-वर्षा और तोपों की मार से झुकने को मजबूर नहीं कर दी गई हैं । सम्बन्धित जनता की राय जानने का यह तरीक़ा रहा है !

ख़ूबसूरत लफ्ज और जुमले इस्तेमाल किये गये हैं । साम्राज्यवादी ताक़तें 'मैण्डेटेड' या 'शासनादेशप्राप्त' इन प्रदेशों के बाशिन्दों की 'ट्रस्टी' रही हैं और संघ

का काम यह देखना रहा है कि ट्रस्ट या थाती की शर्तें पूरी की जा रही हैं या नहीं। सच पूछो तो इससे मामला और बिगड़ गया है। ये शक्तियां जो चाहती करती रही हैं, पर ऊपर से उन्होंने पाखंड से भरा हुआ चोंगा पहन रक्खा है और असावधान लोगों के अन्तःकरण को शिथिल और अचेत कर दिया है। जब किसी छोटे राष्ट्र ने संघ का किसी तरह अपमान किया, तब संघ ने कड़ाई से काम लिया और अपनी बेरुखी से उसे सज़ा देने की कोशिश की है; पर जब किसी बड़ी ताक़त ने उसका अपमान किया, तब संघ वहांसे नज़र हटाकर दूसरी तरफ़ देखने लगा है, या कम-से-कम उसने अपराध की गुरुता घटाने की कोशिश की है।

इस तरह महाशक्तियों ने संघ पर अपना नियंत्रण रक्खा है, जब स्वार्थ साधने की ज़रूरत हुई तब उसका इस्तेमाल किया है और जब उपेक्षा करने में ही ज्यादा मसलहत या फ़ायदा मालूम पड़ा तब उसकी उपेक्षा की है। शायद दोष संघ का नहीं था, दोष उस प्रणाली का था जो अपनी प्रकृति के कारण संघ को बरदाश्त करनी पड़ी। साम्राज्यवाद का तत्त्व ही मुख्तलिफ़ ताक़तों के बीच की जबरदस्त प्रतिद्वंद्विता और प्रतियोगिता यानी लाग-डांट है, क्योंकि इनमें से हरेक जहांतक मुमकिन हो वहांतक ज्यादा-से-ज्यादा दुनिया का शोषण करना चाहती है। अगर किसी समाज के सदस्य बराबर एक-दूसरे की जेब से धन लूटने की कोशिश करते रहें, या एक-दूसरे का गला काटने के लिए अपने चाक़ू तेज़ करते रहें, तो उनके बीच कुछ ज्यादा सहयोग की उम्मीद नहीं की जा सकती और न समाज की ज्यादा तेज़ तरक्क़ी की ही आशा की जा सकती है। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जन्मदाताओं और अभिभावकों के ज़बरदस्त गिरोह के होते हुए भी संघ कमज़ोर और निर्जीव होगया।

वर्साई में सुलह की बहसों के सिलसिले में जापानी सरकार की तरफ़ से यह प्रस्ताव रक्खा गया था कि सुलहनामे में जातीय समानता (Racial Equality) को स्वीकार करने की एक धारा रक्खी जाय पर यह मंज़ूर नहीं किया गया। मगर किसी तरह चीन से कियाचाउ देकर जापान के आंसू पोछ दिये गये। बृहत्त्रय (The 'Big Three') ने चीन जैसे कमज़ोर दोस्त के ख़र्चे पर उदारता दिखाई। इसलिए चीन ने सुलहनामे पर दस्तख़त नहीं किये।

ऐसी यह 'वर्साई की संधि' थी, जिसने 'युद्ध को ख़त्म करने के लिए लड़े गये युद्ध' का ख़ात्मा कर दिया। पिछले चौदह वर्षों का इतिहास इस सन्धि पर एक काली टीका है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ श्री फिलिप स्नाउडन (अब वाइकौण्ट स्नाउडन) ने, जो कुछ ही दिन पहले तक इंग्लैण्ड के अर्थसचिव थे, इस सन्धि पर निम्नलिखित टीका की थी:—

"The Treaty should satisfy brigands, imperialists and militarists. It is the death-blow to the hopes of those who expected the end of the war to bring peace. It is not a peace treaty, but a declaration of another war. It is the betrayal of democracy and the fallen in the war. The treaty exposes the true aims of the Allies."

अर्थात्, "यह सुलहनामा लुटेरों, साम्राज्यवादियों और सैन्यवादियों को संतुष्ट कर सकता है। यह उन लोगों की उम्मीदों पर बिजली का गिरना है जो शान्ति के लिए युद्ध का अन्त करने की आशा करते थे। यह शान्ति की संधि नहीं है बल्कि दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह प्रजातंत्रवाद और युद्ध में शहीद हुए लोगों के प्रति विश्वासघात है। सन्धि ने मित्र-राष्ट्रों के असली मतलब को साफ़-साफ़ ज़ाहिर कर दिया है।"

प्रकट है कि अपनी घृणा और अभिमान यानी नफ़रत और ग़ुरूर में मित्र-राष्ट्र अपनी सीमा से कहीं आगे बढ़ गये थे। अभीसे वे इसके लिए काफ़ी पछता रहे हैं और सन्धि पर फिर से ग़ौर करने और उसे बदलने की बातचीत भी होने लगी है। पर, शायद, अब बहुत देर हो गई है।

यह ख़त कितना लम्बा होगया!

: १५६ :

महायुद्ध के बाद की दुनिया

२६ अप्रैल, १९३३

अब हम अपने सफ़र की आख़िरी मंज़िल में हैं; हम आज यानी वर्तमान की दहलीज पर हैं। हमें महायुद्ध के बाद की दुनिया पर ग़ौर करना है। अब हम अपने ही जमाने में हैं—या निश्चय ही तुम्हारे जमाना में! यह आख़िरी मंज़िल है और, जहाँतक वक्त का सवाल है, बहुत छोटी मंज़िल है, पर यह एक मुश्किल सफ़र है। महायुद्ध ख़त्म होने के बाद से इसे सिर्फ़ साढ़े चौदह साल हुए हैं; और हम इतिहास के जिन लम्बे युगों पर विचार कर चुके हैं उनके मुक़ाबिले में यह समय का कितना छोटा टुकड़ा है? लेकिन हम बिलकुल इसके साथ गुंथे हुए हैं और इतने नजदीक से इसके बारे में ठीक राय क़ायम करना बहुत मुश्किल है। हम इसे ठीक तौरपर देखने और अंकित करने की प्रवृत्ति नहीं पैदा कर सकते और न वह स्थिर निष्पक्षता या निस्संगता ही प्राप्त कर सकते हैं जो इतिहास चाहता है। बहुतेरी घटनाओं के बारे में हम बहुत ज्यादा उत्तेजित हैं, इसलिए छोटी बातें हमें बडी मालूम पड़ सकती हैं और बडी बातों में से कई का हम पूरा महत्त्व समझने से वंचित रह जा सकते हैं। हम वृक्षों की बहु-

बाबत में अपनेको खो दे सकते हैं और जंगलों को ठीक तौर पर देखने से वंचित हो सकते हैं।

फिर यह जानने की मुश्किल भी आती है कि हमें घटनाओं के महत्त्व को कैसे नापना चाहिए। हमें इसके लिए किस गज का इस्तेमाल करना चाहिए? यह जाहिर है कि यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि हम चीज़ों और घटनाओं पर किस तरह निगाह डालते हैं। एक दृष्टिकोण से कोई घटना हमें महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ सकती है और दूसरी दृष्टि से वही घटना बिलकुल महत्वशून्य और नाचीज मालूम होगी। मुझे भय है कि कुछ सीमा तक मैंने तुमको लिखे हुए अपने ख़तों में इस सवाल को दरगुजर किया है; मैंने इसका स्पष्ट और उचित जवाब नहीं दिया है। मेरे सामान्य दृष्टिकोण ने उन सब बातों को रंगीन बना दिया है जिनकी बाबत मैंने लिखा है। इन्हीं युगों और घटनाओं के बारे में दूसरा आदमी शायद बिलकुल जुदी बातें लिखता।

इस वक्त मैं इस सवाल की गहराई में नहीं जाना चाहता कि इतिहास के बारे में हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। खुद मेरा दृष्टिकोण हाल के इन वर्षों में बहुत ज्यादा बदल गया है। और जैसे इस और दूसरी चीज़ों के बारे मैंने अपने ख़यालात बदले हैं वैसे ही दूसरे बहुत-से लोगों ने बदले हैं। क्योंकि महायुद्ध ने हर चीज और हर आदमी को बुरी तरह झकझोर दिया है। इसने पुरानी दुनिया को पूरी तरह से उलट दिया और तबसे हमारी यह ग़रीब पुरानी दुनिया, बग़ैर कुछ ज्यादा कामयाबी के, फिर से उठने की कोशिश कर रही है। इसने विचारों की सारी प्रणाली को, जिसपर हम बढ़े थे, हिला दिया है और आधुनिक समाज और सभ्यता के आधार के बारे में ही हममें शंकायें पैदा करदी हैं। हमने नौजवानों का भयंकर संहार देखा; हमने झूठ, हिंसा, पशुता या हैवानियत और विनाश देखा और हैरत में आगये कि यह सभ्यता का ख़ात्मा तो नहीं है। रूस में सोवियट उठ खड़ा हुआ; यह एक नई चीज, एक नई समाज-व्यवस्था और प्राचीन के प्रति एक चुनौती थी। दूसरे भी बहुत-से ख़यालात हवा में फैल रहे थे। यह विशृंखल होने या बिखरने का जमाना था; यह शंका और प्रश्नों यानी शुबहे और सवालों का जमाना था, जो तेज तब्दीलियों के युग में सदा आता है।

महायुद्ध के बाद के दिनों पर इतिहास की तरह ग़ौर करने में ये सब बातें दिक़्क़त पेश करती हैं। लेकिन जहाँ हम मुख्तलिफ़ तरह के विश्वासों और विचारों पर बहस कर सकते, उनकी सचाई पर सवाल उठा सकते और उनमें से किसीको महज इसलिए मानने से इनकार कर सकते हैं कि वे पुराने हैं, वहाँ हम विचारों से खिलवाड़ करने और हमें क्या करना चाहिए, इसके बारे में खूब अच्छी तरह सोचने से छुटकारा पाने

का इसे कोई बहाना नहीं बना सकते। दुनिया के इतिहास में परिवर्तन के ऐसे युग ख़ासतौर पर शरीर और मन से काम लेने का आवाहन करते हैं। ये ऐसे जमाने होते हैं जब जीवन के शुष्क कार्यक्रम में ताजगी आजाती है और साहसिकता हमें पुकारती है और हम सब नई व्यवस्था के निर्माण में अपना हिस्सा ले सकते हैं। ऐसे वक्तों में नौजवानों ने हमेशा प्रधान अभिनय किया है, क्योंकि वे बदलते हुए ख़याlात और हालात के मुताबिक अपनेको उन लोगों की बनिस्बत कहीं ज्यादा आसानी से मोड़ सकते हैं जो बूढ़े या पुराने हैं और अपने प्राचीन विश्वासों में जम गये और कठोर होगये हैं।

शायद यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम महायुद्ध के बाद के इस जमाने की जरा विस्तार से परीक्षा करें। लेकिन मैं चाहता हूँ कि इस ख़त में इस जमाने का सरसरी तौर पर सिंहावलोकन करूँ। नेपोलियन के पतन के बाद के उन्नीसवीं सदी के हमारे सिंहावलोकन की तुम्हें याद होगी। लाज़िमी तौर पर १८१५ ई० की "वियेना की शान्ति' (The Peace of Vienna) और उसके परिणामों पर ध्यान जाता है और १९१९ ई० की वर्साई की शान्ति और उसके परिणामों के साथ उसकी तुलना करने का मन होता है। वियेना की शान्ति सुखदाई न थी; उसने योरप में आगे होनेवाली लड़ाइयों का बीज बोया। अनुभव से कुछ न सीखने के कारण हमारे राजनीतिज्ञों ने वर्साई की शान्ति को उससे भी बुरा बना दिया, जैसा कि हम पिछले ख़त में देख चुके हैं। महायुद्ध के बाद के वर्षों पर इस कही जाने वाली शान्ति की काली छाया बड़े घने रूप में पड़ती रही है।

तब इन पिछले चौदह वर्षों की बड़ी-बड़ी घटनायें कौन-सी हैं? मेरी समझ में अपने महत्व में सबसे पहली और ध्यान खींचनेवाली घटना सोवियट यूनियन या यू० एस० एस० आर० यानी 'यूनियन आफ़ सोशलिस्ट एण्ड सोवियट रिपब्लिक्स' (समाजवादी एवं सोवियट प्रजातंत्र-संघ) का उदय और संगठन है। मैं उन दिक्कतों में से कुछ का जिक्र तुमसे कर चुका हूँ जो सोवियट रूस को दुनिया में अपनी हस्ती कायम रखने की लड़ाई में बर्दाश्त करनी पड़ी हैं। इन दिक्कतों के बीच भी उसकी विजय इस सदी का एक आश्चर्य है। एशिया में जहाँ-जहाँ पहले का जारशाही साम्राज्य फैला हुआ था वहाँ-वहाँ यानी प्रशान्त महासागर तक फैले हुए साइबेरिया और भारतीय सीमा को छूनेवाले मध्यएशिया में सोवियट शासन-प्रणाली कायम होगई। अलग-अलग सोवियट प्रजातंत्र कायम हुए, पर सब मिलकर एक संघ में शामिल होगये और यही अब यू० एस० एस० आर० है। यह यूनियन या संघ योरप और एशिया के लम्बे-चौड़े हिस्सों में फैला हुआ है, जो अपने क्षेत्रफल में सारी दुनिया के क्षेत्रफल का छठा हिस्सा

है। क्षेत्रफल तो बहुत बड़ा है, पर सिर्फ क्षेत्रफल के बडे होने का कोई खास मतलब नहीं होता और फिर रूस और उससे भी कहीं ज्यादा मध्यएशिया और साइबेरिया बहुत पिछड़े हुए देश थे। सोवियट ने दूसरा चमत्कार जो किया वह यह था कि उसने इन प्रदेशों के बड़े-बड़े हिस्सों को अपनी नई योजनाओं से कुछ-का-कुछ बना दिया। लिखित इतिहास में किसी जाति की इतनी तेज तरक्की का दूसरा कोई उदाहरण नहीं मिलता। मध्य-एशिया के सबसे ज्यादा पिछडे हुए देश भी इतनी तेजी से आगे बढे हैं कि हम हिन्दुस्तान के बाशिन्दों को ईर्ष्या हो सकती है। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय तरक्की शिक्षा और उद्योग-धंधों में हुई है। पाँच वर्ष वाली योजना के जरिये, जिसकी अवधि हाल ही में पूरी हुई है, रूस का बडी तेजी से उद्योगी-करण हुआ है और बेशुमार कारखाने खडे होगये हैं। इन सब बातों का जनता पर बड़ा जबरदस्त बोझ पड़ा है और लोगों को अपने आराम की चीजों—यहांतक कि जिन्दगी की जरूरियात का भी त्याग करना पड़ा है, ताकि उनकी आमदनी का ज्यादा हिस्सा प्रथम समाजवादी देश के निर्माण में लगाया जा सके। ज्यादातर बोझ किसानों पर पड़ा है और जब मैं यह खत लिख रहा हूँ तब एक मुसीबत का साल उनके सिर पर दौड़ा आ रहा है।

इस आगे बढ़ते हुए सोवियट प्रदेश और अपनी बराबर बढ़ती हुई मुसीबतों वाले पश्चिमी योरप के बीच का अन्तर बहुत साफ़ और उल्लेखनीय है। अपनी सारी दिक्कतों के साथ अब भी, पश्चिमी योरप रूस से ज्यादा मालदार है। अपने वैभव के लम्बे जमाने में इसने अपने अन्दर बहुत ज्यादा चर्बी बढ़ा ली थी, जिसपर यह कुछ वक्त तक गुजर कर सकता है। लेकिन हर मुल्क पर कर्जे का जो बोझ है, वर्साई संधि के मुताबिक जर्मनी से ली जाने वाली हरजाने की रकम, और छोटी-बडी ताकतों में सदा चलने वाले झगडे और लाग-डांट ने ग़रीब योरप की बडी बुरी हालत कर दी है। इन कठिनाइयों और मुसीबतों से निकलने का रास्त ढूंढने के लिए एक के बाद एक कान्फ्रेंस होती रही हैं पर कोई रास्ता नहीं निकला है और स्थिति दिन-दिन ख़राब होती जाती है। आज सोवियट रूस की पश्चिमी योरप से तुलना या मुकाबिला करना बहुत बड़ा बोझ सिर पर रखने पर जिन्दगी और स्फूर्ति से भरे हुये एक नौजवान का उस बूढ़े आदमी से मुकाबला करना है जो उम्र रहते लाजिमी तौर पर गुरूर के साथ आगे तो चल रहा है पर जिसमें कोई आशा या स्फूर्ति बाकी नहीं रही है।

ऐसा मालूम पड़ता था कि महायुद्ध के बाद संयुक्तराष्ट्र अमेरिका इस छूत से बच गया है। दस वर्ष तक वह बडे जोरों से वैभव में बढ़ता और तरक्की करता गया। साहूकारी के धन्धे में इंग्लैण्ड के दबदबे को उसने युद्ध के जमाने में ख़त्म कर दिया था। अब अमेरिका दुनिया का ऋणदाता या साहूकार था और सारी दुनिया उसकी ऋणी

थी। आर्थिक दृष्टि से देखें तो एक तरह से वह सारी दुनिया पर हावी था और वह दुनिया से मिलनेवाले खिराज पर आराम के साथ जिन्दगी बसर कर सकता था, जैसे कुछ हद तक पहले इंग्लैण्ड कर चुका था। पर इसमें दो दिक्कतें आगईं। कर्जदार देश बड़ी बुरी हालत में थे और अपना क़र्ज नकद अदा नहीं कर सकते थे। सिर्फ एक ही ढंग से वे क़र्ज अदा कर सकते थे कि कारखानों में चीजें बनायें और उन्हें अमेरिका भेजें। लेकिन अमेरिका इस खयाल को पसन्द नहीं करता था कि उसके यहाँ विदेशी माल आवे और इसी ख़याल से उसने विदेशी माल को देश के अन्दर आने से रोकने के लिए गहरी चुंगी लगा दी। तब बेचारे कर्जदार देश कर्ज कैसे अदा करते? एक शानदार रास्ता निकाला गया। अमेरिका का जो कर्ज है उसका सूद उसे मिलता रहे इसके लिए (वह क़र्जदार देशों को) और कर्ज देगा। यह कर्ज वसूल करने का एक गैर-मामूली तरीका था क्योंकि इसका मतलब तो ऋणदाता या साहूकार का और कर्ज देते जाना और यों कर्ज को बढ़ाना था। यह काफी तौर पर जाहिर होगया कि ज्यादातर क़र्जदार देश अपना क़र्ज कभी चुका न सकेंगे, तब एकाएक अमेरिका ने क़र्ज देना बन्द कर दिया और सारी प्रणाली भरभराकर एकदम से बैठ गई। और एक अजीब बात हुई। अमेरिका, लबालब सोने से भरा हुआ मालदार अमेरिका बेशुमार बेकार श्रमिकों या मजूरों का देश होगया, उद्योग-धंधों के पहिये एकाएक चलने बंद होगये और चारों तरफ़ तबाही फैल गई।

जब मालदार अमेरिका की इतनी बुरी हालत थी तो योरप की हालत का अन्दाज आसानी से किया जा सकता है। हरेक देश ने चुंगी की दीवारें या रोक खडी करके विदेशी माल को देश के अन्दर आने से रोकने की कोशिश की और 'सिर्फ़ देशी माल ख़रीदो' इसका प्रचार किया। हर देश दूसरे मुल्कों को अपना माल तो बेचना चाहता था पर उनसे ख़रीदना न चाहता था, या कम-से-कम जितना मुमकिन हो उतना ही ख़रीदना चाहता था। ऐसी बातें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ख़ात्मा किये बिना ज्यादा दिन तक नहीं चल सकतीं, क्योंकि व्यापार-व्यवसाय तो विनिमय या बदले पर ही चलते हैं। इस नीति को आर्थिक राष्ट्रवाद कहते हैं। यह और उग्र राष्ट्रीयता की दूसरी कितनी ही बातें सभी देशों में फैल गईं। ज्यों-ज्यों व्यापार-धन्धे कमजोर पड़ते गये, हर देश की दिक्कतें बढ़ती गईं और बडी साम्राज्यवादी ताक़तों ने बाहर के अपने साम्राज्यों का ज्यादा-से-ज्यादा शोषण करके और अपने देश में मजूरों की मजूरी में कमी करके किसी तरह काम बनाने की कोशिश की। दुनिया के मुख़्तलिफ़ हिस्सों का शोषण करने की इच्छा और प्रयत्न में प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादों की एक-दूसरे से ज्यादा टक्कर होने लगी। उधर राष्ट्रसंघ बगुलाभगत की तरह शान्ति

की बातें करता और उसके लिए अमली तौर पर कुछ करता-धरता न था, इधर युद्ध का भूत दिन-दिन नजदीक आता हुआ दिखाई देता था। वस, फिर अनिवार्य दीख पड़नेवाले युद्ध के लिए शक्तियों में गुटबन्दी शुरू होगई।

आज भी, जब मैं यह ख़त लिख रहा हूँ, हम उस महान् मन्दी के बीच में हैं जिसने विश्व के पूंजीवाद को गिरा दिया है। मामूली हालत में लौटने के लिए जोरों के साथ उपाय ढूंढे जा रहे हैं। मैं नहीं जानता कि कोई उपाय निकलेगा। हो सकता है कि पूंजीवाद अपनी इस आकस्मिक बीमारी से उबरने की कोई दवा ढूंढले, पर इसमें बड़ा शुबहा है कि वह फिर पूरी तरह स्वस्थ या तन्दुरुस्त हो सकेगा। साम्यवादी विश्लेषण अपनेको ठीक साबित करता मालूम पड़ रहा है और पूंजीवाद अपने ही अन्दरूनी विरोधों से ख़त्म हो रहा है और अगर इस बार की मुसीबत उसे न मार सकी तो बाद की दूसरी मुसीबत मार देगी। ताज्जुब तो यह है कि यद्यपि सब पूंजी-वादी देश सोवियट यूनियन से नफ़रत करते हैं, पर उसे गिरा या दबा देने के लिए आपस में एका तक नहीं कर सकते।

इस तरह हम उस महान् युग के ख़ात्मे के नजदीक पहुँच गये जिसमें पूंजीवादी सभ्यता का पश्चिमी योरप और अमेरिका पर बोलबाला रहा और उसने बाक़ी दुनिया पर भी अपना दबदबा क़ायम रक्खा। महायुद्ध के बाद के पहले दस वर्ष तक यह मालूम पड़ता था कि शायद पूंजीवाद फिर उठ खड़ा हो और एक दूसरे लम्बे युग के लिए ताक़तवर होजाय। पर पिछले तीन वर्षों ने इसे बहुत सन्देहजनक बना दिया है। न सिर्फ़ पूंजीवादी राष्ट्रों की आपसी प्रतिद्वंद्विता या लाग-डांट ख़तरे की सीमा तक बढ़ गई है बल्कि हर राज्य में श्रेणी-संघर्ष यानी मजदूरों और पूंजीपति स्वामी-वर्ग के, जिसका सरकारों पर नियंत्रण है, बीच कशमकश गहरी होती जाती है। इसलिए बडी ताकतों के बीच राष्ट्रीय युद्ध और हर देश में गृह-युद्ध होने के ख़तरे बढ़ते जाते हैं। ज्यों-ज्यों हालत बुरी होती जाती है, स्वामी-वर्ग उठते हुए मजूरों को कुचलने का आख़िरी प्रयत्न कर रहा है। इसने फैसिज्म की शक्ल इख़्तियार करली है। जहाँ श्रेणी-संघर्ष बहुत जोरदार और ख़तरनाक होगया है और पूंजीपति या स्वामी-वर्ग अपनी विशेष सुविधा की स्थिति से अलग कर दिये जाने के ख़तरे में है वहाँ फैसिज्म पैदा होगया है।

महायुद्ध के बाद शीघ्र ही इटली में फैसिज्म शुरू होगया। जब मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्टों ने क़ब्जा हासिल किया, तब मजदूर अशान्त और उग्र हो रहे थे। तबसे इटली पर बराबर फैसिस्टों का क़ब्जा है। फैसिज्म का मतलब नंगी स्वेच्छा-चारिता है। यह प्रजातंत्र-प्रणाली की खुलेआम निन्दा करता है। थोड़ा-बहुत फैसिस्ट

तरीका योरप के बहुत-से देशों में फैल गया है और वहाँ डिक्टेटरशिप (किसी एक आदमी या वर्ग का सर्वेसर्वा हो जाना) आम बात हो गई है। सबसे बाद में फैसिस्ट बननेवाला देश जर्मनी है, जहाँ १९१८ में घोषित कम-उम्र प्रजातंत्र का ख़ात्मा कर दिया गया है और मजदूरों के आन्दोलन को नष्ट कर देने के लिए बिलकुल जंगली तरीकों का इस्तेमाल किया गया है।

इस तरह योरप में फैसिज्म और साम्यवाद का सामना है और इसके साथ ही पूंजीवादी ताक़तें एक-दूसरे को घूरती हैं और एक-दूसरे से लड़ाई की तैयारी कर रही हैं। फिर पूंजीवाद ऐश्वर्य या बहुतायत और ग़रीबी का दृश्य साथ-साथ दिखाता है। एक तरफ़ खाना सड़ रहा है, यहाँतक कि फेंका और नष्ट किया जा रहा है, और दूसरी तरफ़ लोग भूखों मर रहे हैं।

योरप में एक पुराना देश—स्पेन—पिछले कुछ वर्षों के अन्दर प्रजातन्त्र की शक्ल में बदल गया है और उसने अपने हैप्सबर्ग-बोर्बन खानदान के बादशाह को निकाल बाहर किया है। इस तरह इस वक़्त योरप और दुनिया में एक बादशाह कम होगया है।

मैंने पिछले चौदह वर्षों की तीन प्रधान घटनाओं का बयान तुमसे किया है:— १. सोवियट यूनियन, २. अमेरिका का दुनिया पर आर्थिक नियंत्रण और उसकी वर्तमान विपत्ति, और ३. यूरोपियन उलझन। इस जमाने की चौथी मुख्य घटना पूर्वी देशों की पूर्ण जागृति और अपनी आजादी हासिल करने की उनकी जबरदस्त कोशिश है। इस युग में दुनिया की राजनीति में पूर्व ने निश्चित रूप से प्रवेश किया है। इन पूर्वी राष्ट्रों या क़ौमों पर दो हिस्सों में ग़ौर किया जा सकता है। एक हिस्से में वे देश हैं जो स्वतन्त्र समझे जाते हैं, और दूसरे में किसी साम्राज्यवादी शक्ति के मातहत औपनिवेशिक या दूसरी तरह के देश शामिल हैं। एशिया और उत्तरी अफ़रीका के इन सब देशों में राष्ट्रीयता ने बड़ा जोर पकड़ा है और बडी ताक़तवर होगई है और आजादी के ख़यालात उग्र यानी जबरदस्त होगये हैं। इन सबमें जबरदस्त आन्दोलन हुए हैं और कई देशों में तो पश्चिमी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ बग़ावतें भी हुई हैं। इन देशों में से बहुतों को सोवियट यूनियन से सीधी मदद मिली है और इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि उनको अपनी लड़ाई के बडे ख़तरनाक मौक़ों पर सोवियट यूनियन से नैतिक समर्थन और सहायता मिली है।

एक गिरे हुए और कमजोर राष्ट्र का बड़ा ही उल्लेखनीय पुनर्जन्म हुआ। यह राष्ट्र तुर्की था और इसका ज्यादातर श्रेय मुस्तफ़ा कमालपाशा को है। यह वह बहादुर नेता था जिसने उस वक़्त भी झुकने से इनकार किया, जब सब बातें उसके

ख़िलाफ़ थीं। उसने अपने देश की न सिर्फ़ आजादी हासिल की, बल्कि उसे पूरे तौर पर आधुनिक यानी नये ढंग का बना दिया—यहांतक कि कोई पहचान नहीं सकता कि यह वही पुराना तुर्की है। उसने सुलतानियत, ख़िलाफ़त, स्त्रियों के परदे और बहुतेरे पुराने रिवाजों का ख़ात्मा कर दिया है। सोवियट का नैतिक और व्यावहारिक समर्थन यानी अमली ताईद उसके लिए बडी मददगार साबित हुई। ब्रिटिश प्रभाव से छुटकारा पाने की अपनी कोशिशों में फारस को भी सोवियट से मदद मिली। वहाँ भी रिजाखाँ नामक एक मजबूत और ताक़तवर आदमी उठ खड़ा हुआ, और वही अब बादशाह है। इसी अवधि या जमानें में अफ़ग़ानिस्तान भी पूर्ण स्वतन्त्रता या मुकम्मल आजादी हासिल करने में कामयाब हुआ।

अरबस्तान को छोड़कर और सब अरब देश अब भी विदेशी हुकूमत के नीचे हैं। अरबों को एक कर दिये जाने की माँग अभीतक पूरी नहीं की गई है। अरबस्तान का ज़्यादातर हिस्सा सुलतान इब्नसऊद के शासन-तले स्वतन्त्र होगया है। क़ाग़ज पर तो इराक़ भी स्वतन्त्र है, पर असल में वह ब्रिटेन के प्रभाव और नियंत्रण में है। फिलस्तीन और ट्रांसजोर्डन के छोटे राज्य ब्रिटिश शासनादेश में और सीरिया फ्रांसीसी शासनादेश में है, यानी इन देशों में राष्ट्रसंघ के आदेश से ब्रिटेन और फ्रांस का शासन है। सीरिया में फ्रांसीसियों के ख़िलाफ़ एक जबरदस्त और बहादुराना बग़ावत हुई, और वह कुछ हदतक कामयाब भी हुई। मिस्र में भी ब्रिटिश हुकूमत के ख़िलाफ़ बलवे हुए और लम्बे अर्से तक आजादी की लड़ाई चलती रही। यह लड़ाई आज भी चल रही है, गोकि मिस्र स्वतन्त्र कहलाता है और ब्रिटेन के हाथ की कठपुतली एक सुलतान वहाँ बादशाहत करता है। उत्तर-अफरीका के सुदूर पश्चिम मोरक्को में भी अब्दुलकरीम के नेतृत्व में आजादी के लिए बडी बहादुराना लड़ाई हुई। उसने स्पेनवालों को निकाल बाहर करने में कामयाबी हासिल की, पर बाद में फ्रांसीसियों की पूरी ताक़त ने उसे कुचल दिया।

एशिया और अफ़रीका में होनेवाली आजादी की ये लड़ाइयाँ यह बताती हैं कि पूर्व के सुदूर देशों में कैसे एक ही वक़्त में नई भावना लोगों—स्त्री-पुरुषों—के मन पर असर डाल रही थी। इनके बीच दो देश ऊँचे खडे हैं, क्योंकि उनका सारी दुनिया के लिए महत्त्व है। ये चीन और हिन्दुस्तान हैं। इन दोनों में से किसी एक में भी एकाएक कोई गहरा परिवर्तन होने से वह दुनिया की सारी बडी ताक़तों की प्रणाली पर असर डालता है; दुनिया की राजनीति में उसका जबरदस्त नतीजा हुए बिना नहीं रह सकता। इस तरह हम देख सकते हैं कि चीन और हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई सिर्फ़ इन्हीं देशों के बाशिन्दों की राष्ट्रीय या घरू लड़ाई नहीं है। चीन की

सफलता का मतलब एक ताक़तवर राष्ट्र का निकलकर मैदान में आना है, जो ताक़तों के वर्तमान समतौल में बड़ा फ़र्क़ पैदा कर देगा और जिससे साम्राज्यवादी ताक़तों के चीन के शोषण का अपनेआप ख़ात्मा हो जायगा। इसी तरह हिन्दुस्तान की कामयाबी का मतलब एक जबरदस्त और महान् राष्ट्र का रंगमंच पर आना है और इससे तुरन्त ब्रिटिश साम्राज्य का ख़ात्मा होजायगा।

पिछले दस वर्षों में चीन में बहुत-से उतार-चढ़ाव हुए हैं। काउ-मिन-तांग और चीनी साम्यवादियों में जो एका हुआ था वह टूट गया और तबसे चीन 'तूशन' और दूसरी तरह के लुटेरे सरदारों या सिपहसालारों का शिकार रहा है। विदेशी स्वार्थों और हितों ने बराबर उनकी मदद की है, क्योंकि वे चीन में गड़बड़ी क़ायम रखना चाहते हैं और इसीमें उनका फ़ायदा है। पिछले दो वर्षों से तो जापान ने सचमुच चीन पर चढ़ाई ही करदी और उसके कई सूबों पर क़ब्ज़ा कर लिया है। यह अनियमित लड़ाई अभीतक चल रही है। इस बीच चीन के भीतर के कई प्रदेश साम्यवादी होगये हैं और उनमें एक तरह की सोवियट सरकार क़ायम हो गई है।

हिन्दुस्तान में पिछले चौदह वर्ष घटनाओं से भरे रहे हैं। इस जमाने में एक उग्र पर शान्तिपूर्ण राष्ट्रीयता उठी है। महायुद्ध के बाद जब बड़े-बड़े सुधारों की उम्मीदें लोगों के दिलों में उठ रही थीं, तब हमने पंजाब में फ़ौजी क़ानून (मार्शललॉ) और जलियाँवाला बाग़ का वह भयानक क़त्लेआम देखा। इसकी खीझ और तुर्की और खिलाफ़त के बारे में मुसलमानों के विरोध से बापू (गांधीजी) के नेतृत्व में १९२० से १९२२ तक का असहयोग-आन्दोलन पैदा हुआ। १९२० के बाद से बापू भारतीय राष्ट्रीयता के एकमात्र असन्दिग्ध नेता रहे हैं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह हिन्दुस्तान में गांधी-युग रहा है और उनके शान्तिपूर्ण विद्रोह के उपायों ने अपने नयेपन और सामर्थ्य (efficacy) से दुनिया का ध्यान आकर्षित किया है। बीच के विधायक कामों और तैयारी के कुछ वर्षों के बाद १९३० में फिर आज़ादी की लड़ाई शुरू हुई, जब कांग्रेस ने साफ़-साफ़ पूर्ण स्वतंत्रता या मुकम्मल आज़ादी का ध्येय अपनाया। तबसे हम लोग, बीच की चन्दरोज़ा सुलह के अलावा, सत्याग्रह की लड़ाई, जेलों का भरना और बहुत-सी दूसरी चीजें, जिन्हें तुम जानती हो, देखते रहे हैं। इस बीच ब्रिटिश नीति यह रही है कि छोटे-छोटे सुधार देकर अगर मुमकिन हो तो कुछ लोगों को अपनी तरफ मिला लिया जाय और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल दिया जाय। वह नीति अब भी चल रही है, लेकिन फिर भी हमारी लड़ाई असंन्दिग्ध रूप से जारी है।

दो वर्ष पहले बरमा में भूखे किसानों की एक बड़ी बग़ावत हुई और बड़ी

बेरहमी के साथ कुचल दी गई। जावा और डचइंडीज़ में भी बलवा हुआ। अख़बारों से मालूम होता है कि स्याम में भी कुछ उथल-पुथल और तब्दीली हुई है और राजा के अधिकार सीमित कर दिये गये हैं। फ्रांसीसी इण्डोचीन में भी राष्ट्रीयता जग रही है।

इस तरह हम देखते हैं कि सारे पूर्व में राष्ट्रीयता अपनी अभिव्यक्ति के लिए लड़ रही है और कई देशों में इसके साथ साम्यवाद का भी कुछ रंग मिल गया है। इन दोनों यानी राष्ट्रीयता और साम्यवाद के बीच सिवा इसके कोई सामान्य या यकसाँ बात नहीं है कि दोनों साम्राज्यवाद से नफ़रत करते हैं। यूनियन के बाहर और भीतर के सब पूर्वी देशों के प्रति सोवियट रूस की बुद्धिमत्तापूर्ण और उदार नीति के कारण अ-साम्यवादी देशों में से भी कई उसके दोस्त बन गये हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, आज़ादी और स्वतंत्रता की तरफ़ हिन्दुस्तान के बढ़ने का मतलब ही ब्रिटिश साम्राज्य का ख़त्म होजाना है। इसमें शक नहीं कि अगर हिन्दुस्तान की इस आज़ादी की लड़ाई को छोड़ दें तो भी निश्चितरूप से ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट होता चला जा रहा है। 'एलिस इन वण्डरलैण्ड' नाम की किताब की चेशायर बिल्ली की तरह यह मिटता जा रहा है; पर मुस्कराहट बची हुई है और यह बहादुराना मुस्कराहट है। एक बड़े राष्ट्र को गिरते हुए देखना बड़ा दुखःदायी या करुणापूर्ण होता है। अपने ज़माने में इंग्लैण्ड महान् रहा है और उसकी पुरानी ताक़त के सब ज़रिये एक-एक करके उससे कटते जा रहे हैं। इस वक्त वह अपनी जमा की हुई दौलत पर जी रहा है और यह दौलत इतनी काफ़ी है कि कुछ दिनों तक यह खेल चल सकता है। अंग्रेज़ों के सामने जो बहुतेरी दिक्क़तें हैं उनका सामना करने की हिम्मत का उनमें अभाव नहीं है। साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड ऊपर से अपनी वही पुरानी टीम-टाम बनाये रखने की ज़बरदस्त क़ोशिश कर रहा है—उस बूढ़ी औरत की तरह जो कभी ख़ूबसूरत थी पर अब उसे जवानी को पार किये बहुत दिन हो चुके हैं फिर भी वह पेण्ट और पाउडर की मदद से अपनेको ख़ूबसूरत और नौजवान दिखाने की कोशिश करती है। पर इस शाही औरत के पतन के पीछे मज़दूरों और उनका साथ देनेवाले बहुतेरे विद्वानों का एक दूसरा इंग्लैण्ड भी है और भविष्य इन्हीं लोगों का है।

हाल के इन वर्षों की एक मुख्य विशेषता स्त्रियों का बहुतेरे क़ानूनी, सामाजिक और परम्परागत-बन्धनों से, जिनमें कि वे जकड़ी हुई थीं, छुटकारा है। पश्चिम में महायुद्ध ने इस बात में बड़ी मदद की। पूर्व में भी तुर्की से हिन्दुस्तान और चीन तक स्त्रियाँ जाग उठी हैं और राष्ट्रीय और सामाजिक कामों में बहादुरी के साथ हिस्सा ले रही हैं।

ऐसा यह युग है जिसमें हम रह रहे हैं। हर रोज परिवर्तन, महत्वपूर्ण घटना, राष्ट्रों के झगड़े, पौण्ड और डालर के द्वंद्वयुद्ध, सोवियट पर पूंजीपतियों का क्रोध और सोवियट का उनसे वदला, बढ़ती हुई ग़रीवी और लाचारी और श्रेणी-संघर्ष यानी मालदारों और ग़रीव श्रमिकों की कशमकश की खबर आती ही रहती है; और इन सबके ऊपर युद्ध की लगातार बढ़ती हुई काली छाया है।

यह इतिहास का एक उथल-पुथल का जमाना है और ऐसे वक्त में जिन्दा होना और अपना हिस्सा अदा करना—फिर चाहे वह हिस्सा देहरादून-जेल का एकान्त ही क्यों न हो—बड़ी अच्छी और खुशक़िस्मती की वात है।

: १५७ :

प्रजातंत्र के लिए आयलैंण्ड की लड़ाई

२८ अप्रैल, १९३३

अब हम हाल के वर्षों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर जरा तफ़सील के साथ ग़ौर करेंगे। मैं आयलैंण्ड से शुरू करता हूं। विश्व-इतिहास और विश्व-शक्तियों की दृष्टि से योरप के सबसे पश्चिम के इस छोटे-से देश का इस समय कोई ज्यादा महत्व नहीं है। पर यह बहादुर और दुर्दमनीय यानी किसी तरह न दबनेवाला देश है और ब्रिटिश साम्राज्य की सारी ताक़त इसकी आत्मा को कुचलने या इसे झुकाकर. मातहती क़बूल कराने में कामयाब नहीं हुई है। इस वक़्त यह भी ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश में मदद देनेवाली एक चीज है।

आयलैंण्ड के बारे में जो पिछला खत मैंने तुम्हें लिखा था उसमें मैंने होमरूल-बिल का जिक्र किया था। यह बिल ब्रिटिश पार्लमेण्ट से ठीक महायुद्ध शुरू होने के पहले पास हुआ था। अल्सटर के प्रोटेस्टेण्ट नेताओं और इंग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया और इसके खिलाफ़ वाक़ायदा एक बग़ावत का संगठन किया गया। इसपर दक्षिणी आयलैंण्ड के बाशिन्दों ने भी जरूरत आ पड़ने पर अल्सटर से लड़ने के लिए अपने 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक' दल बनाये। मालूम पड़ता था कि आयलैंण्ड में गृह-युद्ध होने ही वाला है। इसी मौक़े पर महायुद्ध आगया और सबका ध्यान बेलजियम और उत्तर-फ्रांस की युद्ध भूमि की तरफ़ खिंच गया। पार्लमेण्ट के आयरिश नेता युद्ध में अपनी तरफ से मदद देने को तैयार होगये, पर उनका देश इस तरफ से उदासीन था और उसे युद्ध में मदद देने की कोई उत्सुकता न थी। इस बीच अल्सटर के 'बाग़ियों' को ब्रिटिश सरकार में ऊँचे-ऊँचे ओहदे दिये गये और इससे आयलैंण्ड वालों का असन्तोष और ज्यादा बढ़ गया।

आयर्लैण्ड में असन्तोष बढ़ता गया और इसके साथ यह अनुभूति या एहसास भी पैदा हुआ कि इंग्लैण्ड की लड़ाई में आयर्लैण्ड वालों को क़ुरबानी न की जाय। जब इंग्लैण्ड की तरह आयर्लैण्ड में भी अनिवार्यरूप से फ़ौज में शामिल होने का क़ानून (Conscription) बनाने का प्रस्ताव सामने आया (जिसके अनुसार सब स्वस्थ नौजवानों को फ़ौज में शामिल होना पड़ता) तो सारा देश आग-बबूला होगया और जबरदस्त विरोध किया गया। यहाँतक कि जरूरत पड़ने पर आयर्लैण्ड ने जोर-जबरदस्ती से भी उसे रोकने की तैयारी की।

१९१६ के ईस्टर-सप्ताह में डबलिन में एक बग़ावत होगई और आयरिश प्रजातंत्र का ऐलान कर दिया गया। चन्द दिनों की लड़ाई के बाद अंग्रेजों ने इसे कुचल दिया और इस चन्दरोजा बग़ावत में हिस्सा लेने के जुर्म में फ़ौजी क़ानून के मुताबिक़, बाद में, आयर्लैण्ड के कुछ सबसे बहादुर और अच्छे नौजवानों को गोली मार दी गई। यह बग़ावत, जो 'ईस्टर-विद्रोह' के नाम से मशहूर है, अंग्रेजों को चुनौती देने का कोई गंभीर प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। असल में यह दुनिया के सामने यह दिखा देने की एक बहादुराना कोशिश थी कि अब भी आयर्लैण्ड प्रजातंत्र का सपना देखता है और अपनी इच्छा से ब्रिटेन की मातहती क़बूल करने से इन्कार करता है। इस बग़ावत के पीछे जो बहादुर नौजवान थे उन्होंने दुनिया के सामने यह बात जाहिर करने के लिए जान-बूझकर अपनेको कुरबान कर दिया। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार की कोशिश में कामयाबी न होगी, पर उम्मीद करते थे कि उनकी कुरबानी बाद में रंग लायगी और आजादी को नजदीक लायगी।

इस बग़ावत के समय एक आयरिश जर्मनी से आयर्लैण्ड में अस्त्रशस्त्र लाने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया। यह आदमी सर रोजर केसमेण्ट था, जो बहुत दिनों से ब्रिटेन के राजदूत-विभाग में था। लन्दन में केसमेण्ट पर मुक़दमा चला और उसे फाँसी की सजा दी गई। अदालत में मुजरिम के कठघरे में खड़े हुए उसने अपना जो बयान पढ़ा, वह बड़ा ही जोशीला और हृदय-स्पर्शी था और उसमें आयरिश आत्मा की उग्र देशभक्ति तड़प रही थी।

बग़ावत तो असफल हुई, पर उसकी नाकामयाबी में ही उसकी विजय थी। इसके बाद ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से जो दमन शुरू हुआ उसने और ख़ासकर नौजवान नेताओं के गिरोह को गोली मार दिये जाने के काम ने आयरिश लोगों पर बड़ा गहरा असर डाला। ऊपर से आयर्लैण्ड शान्त दीखता था; पर अन्दर-ही-अन्दर क्रोध की आग भड़क रही थी और बहुत जल्द वह 'सिनफ़ीन' की शक्ल में सामने आई। सिनफ़ीन-भावना बड़ी तेजी से फैली। शुरू में इसे बहुत कम कामयाबी हुई थी, पर अब यह जंगल की आग की तरह फैल गई।

महायुद्ध ख़त्म होने के बाद सारे ब्रिटिश टापू में लंदन की पार्लमेण्ट के लिए चुनाव हुए। आयर्लैण्ड में सिनफ़ीन-दलवालों ने ज्यादातर स्थानों (सीटों) पर क़ब्ज़ा कर लिया और पुराने नेशनलिस्टों को, जो अंग्रेज़ों से कुछ सहयोग के तरफ़दार थे, निकाल बाहर किया। पर सिनफीनों ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकों में शामिल होने के लिए अपनेको नहीं चुनवाया था। उनकी नीति बिलकुल जुदा थी; वे असहयोग और बायकाट यानी बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये चुने हुए सिनफीनर लंदन की पार्लमेण्ट से दूर ही रहे और उसकी जगह १९१९ में डबलिन में उन्होंने अपनी प्रजातंत्र की असेम्बली बनाली। उन्होंने आयरिश प्रजातंत्र का ऐलान कर दिया और अपनी असेम्बली या धारा-सभा का नाम 'डेल आयरीन' रक्खा। समझा जाता था कि यह सारे आयर्लैण्ड के लिए है, जिसमें अल्सटर भी शामिल था, पर स्वभावतः अल्सटरवाले इससे अलग रहे। उनका कैथलिक आयर्लैण्ड से कोई प्रेम न था। 'डेल आयरीन' ने डि वेलरा को अध्यक्ष या राष्ट्रपति और ग्रिफिथ्स को उपाध्यक्ष चुना। उस वक्त नये प्रजातंत्र के ये दोनों अध्यक्ष ब्रिटिश जेलों में थे।

इसके बाद एक असाधारण लड़ाई शुरू हुई। यह लड़ाई आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच होनेवाली पिछली सब लड़ाइयों से बिलकुल नये और जुदा तरीक़े की थी। थोडे-से स्त्री-पुरुषों ने, जिनके साथ उनके देशवालों की हमदर्दी थी, ज़बरदस्त दिक़्क़तों के बीच यह लड़ाई लडी। एक बहुत बड़ा और संगठित साम्राज्य उनके ख़िलाफ़ था। सिनफीन आन्दोलन ऐसा असहयोग था जिसमें हिंसा की पुट थी। इन लोगों ने अंग्रेज़ी संस्थाओं के बायकाट का प्रचार किया और जहाँ मुमकिन था अपनी संस्थायें खोलीं। मामूली क़ानूनी अदालतों की जगह इन्होंने पंचायती अदालतें (Arbitration Courts) क़ायम कीं। गाँवों में पुलिस चौकियों के ख़िलाफ़ छापा मारने की लड़ाई (Guerilla Warfare) होती रही। सिनफ़ीन क़ैदियों ने जेलों में भूख-हड़ताल करके ब्रिटिश सरकार को बहुत तंग किया। सबसे मशहूर भूख-हड़ताल, जिसने आयर्लैण्ड को हिला दिया, कार्क के लार्डमेयर टेरेन्स मैक्स्विनी की थी। जब वह जेल में रक्खा गया तो उसने ऐलान किया कि वह जिन्दा या मुरदा होकर जेल से बाहर निकलेगा और खाना छोड़ दिया। ७५ दिन के अनशन के बाद उसकी मृत्यु हुई और उसका मुरदा शरीर जेल से बाहर लाया गया।

माइकेल कालिन्स सिनफ़ीन बग़ावत का संगठन करनेवालों में एक मशहूर नेता था। सिनफ़ीन चालों से आयर्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार काफ़ी हदतक अव्यवस्थित और लंगडी होगई और गाँववाले जिलों में तो उसकी हस्ती भी नाम को ही थी। धीरे-धीरे दोनों तरफ़ से हिंसा का सहारा लिया जाने लगा और कई बार बदला

लिया गया। आयर्लैण्ड में भेजने के लिए एक खास ब्रिटिश फ़ौजी दल भरती किया गया। इन लोगों को ऊँची तनख़ाह दी जाती थी और इनमें महायुद्ध की फ़ौजों से वर्खास्त किये हुए खूँखार लोग ही ज्यादा थे। यह फ़ौज अपनी वर्दी के रंग के कारण 'ब्लैक एण्ड टैन' (काली और पीली-भूरी) के नाम से मशहूर हुई। इस फ़ौज ने लोगों को बुरी तरह क़त्ल करना शुरू किया। ये सिपाही अकसर लोगों को सोते हुए ही गोली से मार देते थे। इस तरह का दमन इसलिए किया जाता था कि सिन-फ़ीन झुककर मातहती क़बूल कर लेंगे। पर उन्होंने मातहती क़बूल करने से इन्कार किया और छापे की लड़ाई जारी रक्खी। इसपर 'ब्लैक और टैन' फ़ौज ने भयंकर बदला लेना शुरू किया। उसके सैनिक गाँव-के-गाँव और शहरों के बडे-बडे हिस्से जलाकर खाक कर देते। आयर्लैण्ड एक ऐसा मैदान बन गया जिसमें दोनों दल हिंसा और बरबादी में एक-दूसरे को मात देने की कोशिश करने लगे। एक दल के पीछे एक साम्राज्य की संगठित शक्ति थी और दूसरे के पीछे मुट्ठीभर आदमियों का फ़ौलादी निश्चय था। १९१९ से अक्तूबर १९२१ तक, दो वर्षों तक, इंग्लैण्ड-आयर्लैण्ड के बीच यह लड़ाई चलती रही।

इस बीच, १९२० ई० में, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने जल्दी-जल्दी एक नया होमरूल-बिल पास किया। पुराना विधान, जो महायुद्ध शुरू होने के कुछ ही दिन पहले पास हुआ था और जिसने अल्सटर में क़रीब-क़रीब बग़ावत खडी करदी थी, छोड़ दिया गया। नये बिल ने आयर्लैण्ड को दो हिस्सों में बाँट दिया: अल्सटर या उत्तरी आयर्लैण्ड और बाक़ी देश। इनके लिए अलग-अलग पार्लमेण्टों की व्यवस्था हुई। आयर्लैण्ड एक छोटा देश है और उसे दो हिस्सों में बाँट देने से वे हिस्से बहुत छोटे होगये। उत्तर में अल्सटर में नई पार्लमेण्ट बन गई, पर दक्षिण या बाक़ी आयर्लैण्ड में किसीने होमरूल-क़ानून की तरफ़ ध्यान न दिया। वहाँके लोग तो सिनफ़ीन बग़ावत में ही फँसे हुए थे।

अक्तूबर १९२१ ई० में ब्रिटिश मिनिस्टर लायड जार्ज ने सिनफ़ीन नेताओं से थोडे दिनों के लिए लड़ाई बन्द करने की अपील की, ताकि समझौते की संभावना के बारे में बातचीत की जा सके। यह बात मान ली गई। इसमें कोई शुबहा नहीं कि अगर ब्रिटेन चाहता तो अपने महान् साधनों से सारे देश को वीरान कर देता और अन्त में सिनफ़ीन-आन्दोलन को कुचल देता; पर अपनी इस दमन-नीति के कारण वह अमेरिका और दूसरे मुल्कों में बहुत बदनाम होता जा रहा था। अमेरिका में रहने-वाले आयरिश लोगों और ब्रिटिश उपनिवेशों से आयर्लैण्ड में आन्दोलन और लड़ाई जारी रखने के लिए खूब धन आ रहा था। पर इसके साथ ही सिनफ़ीनर भी थक गये थे; उनपर बड़ा जबरदस्त बोझ पड़ रहा था।

इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के प्रतिनिधि लन्दन में मिले और दो महीनों के बहस-मुबाहसे के बाद दिसम्बर १९२१ ई० में एक अस्थायी या काम-चलाऊ समझौते पर दस्तख़त हुए। इसने आयरिश प्रजातन्त्र को तो मंजूर नहीं किया, पर आयर्लैण्ड को एक-दो बातों के अलावा इतनी आज़ादी दी जितनी उस समय तक किसी भी उपनिवेश को हासिल नहीं थी। इतने पर भी आयरिश प्रतिनिधि इसे मंजूर करने को तैयार न थे और उन्होंने इसे तब मंजूर किया जब इंग्लैण्ड ने साफ़-साफ़ धमकी दी कि यदि इसे मंजूर न किया जायगा तो खौफ़नाक लड़ाई छिड़ जायगी।

आयर्लैण्ड में इस सुलह को लेकर बड़ी चख़-चख़ मची। कुछ इसके पक्ष में थे, दूसरे इसके सख्त खिलाफ़ थे। इस सवाल पर सिनफीन दल के दो टुकड़े होगये। आख़िरकार डेल आयरीन (आयर्लैण्ड की पार्लमेण्ट) ने इस सन्धि को मंजूर किया और आयरिश फ़्री स्टेट का, जिसे आयर्लैण्ड में सरकारी तौर पर सावर स्टेट आयरीन (Saorstat Eireann) कहा जाता था, आविर्भाव हुआ। पर इससे सिनफ़ीन-दल के पुराने कार्यकर्ताओं में गृह-युद्ध छिड़ गया। 'डेल आयरीन' के प्रेसीडेंट डि वेलरा इंग्लैण्ड के साथ संधि करने के खिलाफ़ थे। और भी बहुत-से लोग उनके साथ थे। ग्रिफिथ्स, माइकेल कालिन्स और दूसरे लोग उनके पक्ष में थे। कितने ही दिनों तक देश में गृह-युद्ध मचा रहा। जो लोग सन्धि और फ़्रीस्टेट के पक्ष में थे उनको विरोधियों को दबाने में ब्रिटिश सरकार ने भी मदद दी। प्रजातन्त्रवादियों ने माइकेल कालिन्स को गोली मार दी, इसी तरह बहुतेरे प्रजातन्त्रवादी नेताओं को फ़्रीस्टेटवालों ने भी गोली से मार दिया। जेल प्रजातन्त्रवादियों से भरे हुए थे। यह सब गृह-युद्ध और आपसी नफ़रत आयर्लैण्ड की आजादी की बहादुराना लड़ाई में एक दुःखपूर्ण वृद्धि थी। अंग्रेजी नीति की विजय हुई। जहाँ उसकी फौजी ताकत बेकाम साबित हुई थी वहाँ अब एक आयरिश अपने ही भाई दूसरे आयरिश से लड रहा था और कुछ हद तक इंग्लैंड चुपचाप एक दल की मदद कर रहा था और इस नये झगडे की तरफ़ सन्तोष के साथ देख रहा था।

धीरे-धीरे गृह-युद्ध ख़त्म होगया, पर प्रजातन्त्रवादी फ़्रीस्टेट को मंजूर करने को तैयार न हुए। वे प्रजातन्त्रवादी भी जो डेल यानी फ़्रीस्टेट की पार्लमेण्ट में चुन लिये गये थे वहाँ जाने को तैयार न थे, क्योंकि वे वफ़ादारी की शपथ, जिसमें बादशाह का जिक्र आता था, लेने से इन्कार करते थे। इसलिए डि वेलरा और उनका दल 'डेल' से अलग रहा और फ़्रीस्टेट दल ने फ़्रीस्टेट के प्रेसीडेंट कासग्रेव के नेतृत्व में प्रजातन्त्रवादियों को कई तरफ़ से कुचलने की कोशिश की।

आयरिश फ़्रीस्टेट के निर्माण से ब्रिटेन की साम्राज्य-राजनीति (Imperial

politics) में बहुत बड़े-बड़े परिणाम निकले। आयरिश सन्धि ने आयर्लैण्ड को क़ानूनन उससे कहीं ज्यादा स्वतंत्रता दे दी थी जितनी कि उस वक्त और ब्रिटिश उपनिवेशों को हासिल थी। ज्योंही आयर्लैण्ड को यह स्वतंत्रता मिली, दूसरे उपनिवेशों को भी अपनेआप वह स्वतंत्रता मिल गई और औपनिवेशिक मर्यादा के ख़याल में तब्दीली हुई। इंग्लैण्ड और उपनिवेशों के बीच कई इम्पीरियल कान्फ्रेंसें या साम्राज्य-परिषदें हुईं और उपनिवेशों में ज्यादा स्वतंत्रता की दिशा में बढ़ने की कितनी ही तब्दीलियाँ हुईं। आयर्लैण्ड अपने दृढ़ प्रजातंत्रवादी आन्दोलन के साथ पूर्ण स्वतंत्रता की दिशा में जा रहा था। यही हालत दक्षिण अफरीका की थी जहाँ कि बोअर लोगों का बहुमत था। इस तरह उपनिवेशों की स्थिति बदलती और सुधरती जा रही थी—यहाँतक कि उनको ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ़ नेशन्स (ब्रिटिश राष्ट्रसंघ) में इंग्लैण्ड के साथ भाईचारे या एक तरह की बराबरी का दर्जा मिल गया। सुनने में यह अच्छा लगता है और इसमें शुबहा नहीं कि इंग्लैण्ड की बराबरी के राजनैतिक दर्जे की तरफ़ यह प्रगति है, पर यह बराबरी व्यावहारिक या अमली की बनिस्बत सैद्धान्तिक ही ज्यादा है। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश ब्रिटेन और ब्रिटिश पूंजी के साथ बँधे हुए हैं और उनपर आर्थिक दबाव डालने के कई तरीक़े हैं। इसके साथ ज्यों-ज्यों उपनिवेशों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनके आर्थिक हित इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों से टकराते जाते हैं। इस तरह साम्राज्य धीरे-धीरे कमज़ोर होता जाता है। साम्राज्य के फट और टूट जाने के खौफ़ से ही इंग्लैण्ड ने बन्धनों को ढीला करना और उपनिवेशों की राजनैतिक बराबरी का उसूल मंजूर किया। मौक़े पर इतना आगे बढ़ जाने से उसने बहुत कुछ बचा लिया। पर यह ज्यादा दिन तक काम नहीं दे सकता। उपनिवेशों को इंग्लैण्ड से अलग रखनेवाली शक्तियाँ अपना काम कर रही हैं; मुख्यतः ये आर्थिक शक्तियाँ हैं और ये शक्तियाँ बराबर साम्राज्य को कमजोर कर रही हैं। इसी कारण और इंग्लैण्ड के निश्चित पतन के कारण ही मैंने तुमको ब्रिटिश साम्राज्य के नष्ट हो जाने की बात लिखी थी। मगर उपनिवेशों के लिए इंग्लैण्ड के साथ ज्यादा दिन तक बँधे रहना मुश्किल है—हालांकि उनकी परम्परायें और संस्कृति एक है और जाति (Race) भी एक है; तब फिर हिन्दुस्तान के लिए उसके साथ बँधे रहना कितना मुश्किल होगा ? क्योंकि हिन्दुस्तान के आर्थिक हितों का तो इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों से सीधा संघर्ष है और इनमें से एक को दूसरे के सामने झुकना ही पड़ेगा। इस तरह स्वतंत्र हिन्दुस्तान के लिए इस बात की संभावना नहीं की जा सकती कि वह इस सम्बन्ध को मंजूर करेगा; क्योंकि इसका लाजिमी नतीजा अपनी आर्थिक नीति को ब्रिटेन के कब्जे में कर देना होगा।

इस तरह ब्रिटिश कामनवेल्थ या आज़ाद उपनिवेशों का, ग़रीब और ग़ुलाम हिन्दुस्तान का नहीं, मतलब राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र इकाइयाँ हैं। पर ये इकाइयाँ भी अभीतक ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्य के मातहत हैं। आयरिश संधि का मतलब ब्रिटिश पूँजी द्वारा, कुछ हद तक, आयर्लैण्ड के शोषण का जारी रहना था और यही असल में प्रजातंत्र के लिए आन्दोलन करने की वजह थी। डि वेलरा और प्रजातंत्रवादी ग़रीब किसानों, नीचे के मध्यमवर्ग और ग़रीब बुद्धिशालियों के प्रतिनिधि थे; कासग्रेव और फ्रीस्टेट दलवाले मालदार मध्यमवर्ग और मालदार किसानों के प्रतिनिधि थे और इन दोनों पिछले वर्गों की ब्रिटिश व्यापार में दिलचस्पी थी और ब्रिटिश पूँजी की उनमें दिलचस्पी थी।

कुछ वक़्त के बाद डि वेलरा ने अपनी लड़ाई का पैंतरा बदल दिया। वह और उनका दल 'डेल आयरिन' में चुनकर गये और वफ़ादारी की शपथ भी ली। शपथ लेने के साथ उन्होंने इसका भी ऐलान कर दिया कि ऐसा हम महज़ ज़ाब्ते की ख़ातिर कर रहे हैं और ज्योंही हमारा बहुमत होजायगा, हम इस शपथ को निकाल बाहर करेंगे। दूसरे चुनाव में, १९३२ के शुरू में, डि वेलरा का फ्रीस्टेट पार्लमेण्ट में बहुमत होगया और तुरन्त उसने अपने कार्यक्रम के मुताबिक काम शुरू कर दिया। प्रजातंत्र क़ायम करने के लिए लड़ाई तो जारी रहनी ही थी, पर अब लड़ाई का तरीक़ा बदल गया था। डि वेलरा ने वफ़ादारी की शपथ को तोड देने का प्रस्ताव किया और ब्रिटिश सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि अब हम जमीन का कोई सालाना भत्ता (Lánd annuity) नहीं देंगे। मैं समझता हूँ कि मैं तुमको इस भत्ते के बारे में बता चुका हूँ। जब आयर्लैण्ड में बडे-बडे जमींदारों से जमीन ली गई तो उनको अच्छा-ख़ासा मुआवजा दिया गया और बाद में थोड़ा-थोड़ा करके यह रक़म उन किसानों से ली जाती थी जिन्होंने कि जमीन ली थी। एक पीढ़ी से यह सिलसिला चल रहा था और फिर भी जारी था। डि वेलरा ने कहा कि अब हम कोई रक़म न देंगे।

तुरन्त इसपर इंग्लैण्ड में एक वावेला मच गया और ब्रिटिश सरकार से संघर्ष हुआ। पहले उसने यह कहकर विरोध किया कि डि वेलरा का वफ़ादारी की शपथ को ख़त्म कर देना १९२१ की आयरिश सन्धि के ख़िलाफ़ है। डि वेलरा ने कहा कि अगर आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड बराबर के देश (Sister Nations) हैं, जैसा कि उपनिवेशों के बारे में कहा जाता है, और अगर हरेक को अपना विधान बदलने की आज़ादी है, तब ज़ाहिर है कि आयर्लैण्ड अपने विधान में वफ़ादारी की शपथ रख सकता या उसे निकाल दे सकता है और इस तरह इसमें १९२१ की सन्धि का अब कोई सवाल नहीं उठता। अगर आयर्लैण्ड को यह अधिकार नहीं है तो वह उस हद तक इंग्लैण्ड के अधीन है।

दूसरी बात यह हुई कि ब्रिटिश सरकार ने सालाना भत्ता बन्द कर देने पर और भी जोरदार विरोध किया और कहा कि यह समझौते और जिम्मेदारी को तोड़ना और जबरदस्त वादाख़िलाफ़ी है। डि वेलरा ने इससे इन्कार कर दिया और इसपर क़ानूनी बहस-मुबाहसा हुआ, जिससे हमें कोई सरोकार नहीं है। जब इस तरह का क़ानूनी झगड़ा खड़ा हो तो साफ़ तरीक़ा यह है कि निष्पक्ष पंचायत से मामला तय कर लिया जाय। दोनों दलों ने पंचायती फ़ैसले के लिए रजामन्दी जाहिर की; पर एक अजीब दिक़्क़त पैदा हुई। ब्रिटिश सरकार ने कहा कि पंचायती बोर्ट (Arbitration Tribuual) में साम्राज्य के अन्दर के ही आदमी होने चाहिएँ। डि वेलरा ने ऐसे किसी बन्धन को मानने से इन्कार कर दिया; उसने हेग की अन्तर्राष्ट्रीय अदालत (Permanent Court of Justic) या किसी दूसरी पंचायत का, जिसमें विदेशी रक्खे जा सकें, प्रस्ताव किया। उसने साफ़ कह दिया कि साम्राज्य वालों पर हमारा विश्वास नहीं है। इस प्रस्ताव को ब्रिटिश सरकार ने नामंजूर कर दिया। यह एक वाहियात-सी बात मालूम होती है कि दो सरकारें पंचायत के आदमियों के चुनाव के छोटे-से मसले पर झगड़ बैठें। पर इसके पीछे और भी बहुत-कुछ था जो आँखों से नहीं दिखाई देता। एक तरफ प्रजातंत्र की मंजिल तक पहुँचने का आयरिश लोगों का दृढ़ निश्चय था और दूसरी तरफ उसे रोकने का ब्रिटेन का पक्का इरादा था।

जब सालाना क़िस्त देने का वक्त आया और वह नहीं दी गई तो इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के ख़िलाफ़ एक नई लड़ाई छेड़ दी। यह आर्थिक युद्ध था। इंग्लैण्ड में आनेवाले आयरिश माल पर इस ख़याल से गहरी चुंगी लगा दी गई कि वह आयरिश किसान, जिसका माल इंग्लैण्ड आता है, बरबाद होजाय और आयरिश सरकार को समझौता करने के लिए मजबूर करे। जैसी कि इंग्लैण्ड की आदत है, उसने दूसरे पक्ष को मजबूर करने के लिए अपना सोटा चलाया; पर ऐसे तरीक़े अब उतने फायदेमन्द नहीं रहे जितने कि पहले थे। आयरिश सरकार ने ब्रिटेन से आयर्लैण्ड में आनेवाले माल पर भारी चुंगी लगाकर इसका बदला लिया। पिछले साल से यह आर्थिक युद्ध जारी है और किसानों और दोनों तरफ के उद्योग-धन्धों को इससे बड़ा नुक़सान पहुँचा है। लेकिन अपमानित राष्ट्रीयता और शान दोनों पार्टियों में से किसीके भी झुकने में बाधक हैं।

कुछ महीने हुए, १९३३ के शुरू में, आयर्लैण्ड में नये चुनाव हुए थे जिससे ब्रिटिश सरकार को और झेंपना पड़ा। डि वेलरा इस बार पहले से भी ज्यादा कामयाब हुआ और उसके पक्ष में पहले से कहीं ज्यादा बहुमत था। इससे यह जाहिर होगया कि दबाव डालने की ब्रिटिश नीति कामयाब नहीं हुई। मजेदार बात तो यह है कि एक तरफ़ तो ब्रिटिश सरकार क़र्ज़ न चुकाने की वजह से आयरिश लोगों को बुरा-

भला कहती थी; पर दूसरी तरफ़ खुद अमेरिका को क़र्ज चुकाना नहीं चाहती थी।

इस वक्त डि वेलरा आयरिश सरकार का प्रधान है और वह अपने देश को क़दम-क़दम प्रजातंत्र की तरफ़ लेजा रहा है। वफ़ादारी की शपथ ख़तम हो चुकी है; सालाना क़िस्तें बिलकुल बन्द करदी गई हैं; पुराना गवर्नर-जनरल भी चला गया और डि वेलरा ने अपने दल के एक सदस्य को इस ओहदे पर, जिसका अब कोई महत्व नहीं है, नियुक्त किया है। प्रजातंत्र क़ायम करने की लड़ाई चल ही रही है, पर अब तरीक़े बदल गये हैं और सदियों पुराना इंग्लैण्ड-आयर्लैण्ड का झगड़ा जारी है और आज यह एक आर्थिक युद्ध की शक्ल में बदल गया है।

आयर्लैण्ड जल्द ही प्रजातंत्र हो सकता है। पर रास्ते में एक बड़ी दिक़्क़त है। डि वेलरा और उसका दल चाहता है कि सारा आयर्लैण्ड एक संयुक्त आयर्लैण्ड हो और सारे देश का एक प्रजातंत्र, एक केन्द्रीय सरकार हो। इसमें वह अल्सटर को भी शामिल करना चाहता है। आयर्लैण्ड इतना छोटा है कि उसका दो हिस्सों में बँट जाना अच्छा नहीं। डि वेलरा के सामने यह बड़ा ज़बरदस्त सवाल है कि अल्सटर को बाक़ी आयर्लैण्ड में मिलजाने को कैसे राज़ी किया जाय। ज़ोर-ज़बरदस्ती से यह हो नहीं सकता। १९१४ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ज़बरदस्ती दोनों को मिलाना चाहा था तो वह कोशिश बग़ावत में जाकर ख़त्म हुई और फ़्रीस्टेट अल्सटर पर ज़बदरस्ती नहीं कर सकता, न ऐसा करने का उसका ख़याल ही है। डि वेलरा की उम्मीद है कि वह अल्सटर की सदिच्छायें यानी दोस्ती हासिल कर सकेगा और यों दोनों में एका हो जायगा। इसमें आशावाद ही ज्यादा हैं और असलियत कम है, क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट अल्सटर का अब भी कैथलिक आयर्लैण्ड के प्रति ज़बरदस्त अविश्वास है। हाँ, दोनों का एका तब हो सकता है जब देश के दोनों हिस्सों की सरकारों में मज़दूर वर्ग की प्रधानता होजाय, क्योंकि उनमें कोई धार्मिक झगड़ा नहीं होगा।

: १५८ :

नवीन तुर्की का उत्थान

७ मई, १९३३

मैंने कई दिनों से तुम्हें कोई ख़त नहीं लिखा है। और बातों ने मेरा ध्यान खींच लिया था और मेरी ज़िन्दगी के सीधे सिलसिले में ख़लल पड़ गया था। बापू फिर अनशन करने जा रहे हैं--एक लम्बा और भयंकर अनशन, और मेरा मन उड़-उड़कर यरवडा-जेल को जाता है और मैं भविष्य के अन्धकार को भेदकर देखने की कोशिश करता हूँ। पर उससे मुझे यहाँ देहरादून-जेल में कोई मदद नहीं मिलती, इसलिए मुझे

अपने काम पर वापस आजाना चाहिए और बीती घटनाओं के दीख पड़नेवाले खाके को तुम्हारे सामने पढ़ने के लिए रखना चाहिए।

पिछले ख़त में मैंने प्रजातंत्र के लिए आयर्लैण्ड की बहादुराना लड़ाई की चर्चा की थी। आयर्लैण्ड और तुर्की में कोई ख़ास ताल्लुक़ तो नहीं है, पर आज मेरे दिमाग़ में नये तुर्की का ख़याल आगया है, इसलिए मैं उसीके बारे में तुम्हें लिखने जा रहा हूँ। आयर्लैण्ड की तरह इसने भी ज़बरदस्त दिक्क़तों के बीच अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ी है। हम देख ही चुके हैं कि महायुद्ध के फल-स्वरूप तीन साम्राज्य—रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी—ख़त्म होगये। तुर्की में हम चौथे बड़े साम्राज्य—उस्मानी साम्राज्य का विनाश देखते हैं। उस्मान और उसके वारिसों ने ६०० वर्ष पहले इस साम्राज्य की नींव डाली और इसे बनाया था। इस तरह उसका खानदान रूस के रोमनोफ़ों या प्रशा और जर्मनी के हायनज़ालर्नो से कहीं पुराना था। वह तेरहवीं सदी के शुरू-शुरू के हैप्सबर्गों का समकालिक था और ये दोनों प्राचीन राजवंश एकसाथ मिट गये।

महायुद्ध में जर्मनी के घुटना टेकने के कुछ दिनों पहले ही तुर्की पस्त होगया था और उसने मित्र-राष्ट्रों के साथ एक अलग आर्मिस्टीज़ (युद्ध बन्द करने की सुलह) की थी। देश क़रीब-क़रीब तहस-नहस हो चुका था, साम्राज्य ख़त्म होगया था और सरकार की मशीनरी या व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक़ और अरब देश अलग हो चुके थे और ज़्यादातर मित्र-राष्ट्रों के मातहत थे। ख़ुद कुस्तुनतुनिया पर मित्र-राष्ट्रों का नियंत्रण था और इस बड़े शहर के सामने ही बास्फ़ोरस में, विजयी शक्ति के अभिमान से भरे हुए निशान की तरह ब्रिटिश लड़ाकू जहाज़ लंगर डाले हुए खड़े थे। हर जगह अँग्रेज़ी, फ़्रांसीसी और इटालियन फ़ौजें भरी थीं और चारों तरफ़ ब्रिटिश खुफ़िया विभाग का जाल बिछा हुआ था। तुर्की क़िले तोड़कर ज़मीन पर गिराये जा रहे थे और जो तुर्की फ़ौज बची थी उससे हथियार रखवा लिये जा रहे थे। अनवरपाशा, तलाअतबेग और दूसरे नौजवान तुर्की नेता दूसरे मुल्कों को भाग गये थे। सुलतान की गद्दी पर कठपुतली-सा ख़लीफ़ा वहीदउद्दीन बैठा हुआ था, जो इस वीरानी में अपनेको बचाना चाहता था, फिर चाहे उसके देश का कुछ भी हो। कठपुतली-सा दूसरा आदमी, जिसे ब्रिटिश सरकार चाहती थी; वज़ीरआज़म या प्रधान मंत्री बनाया गया और तुर्की पार्लमेण्ट तोड़ दी गई।

१९१८ के अख़ीर और १९१९ के शुरू में तुर्की की यह हालत थी। तुर्क थक-कर बिलकुल बेदम हो रहे थे और उनकी 'स्पिरिट' कुचल दी गई थी। याद रक्खो कि उनको कैसी भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। महायुद्ध के इन चार

वर्षों के पहले बालकन युद्ध हो चुका था और उसके भी पहले इटली से लड़ाई हो चुकी थी; और यह सब उस नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद ही हुआ, जिसने सुलतान अब्दुलमजीद को निकाल दिया था और एक पार्लमेण्ट क़ायम कर दी थी। तुर्कों ने सदा ग़ज़ब की सहन-शक्ति का परिचय दिया है, पर यह लगातार आठ वर्षों की लड़ाई उनके लिए भी बहुत ज्यादा थी—किसी भी क़ौम के लिए ज्यादा होती। इसलिए उन्होंने सारी उम्मीदें छोड़ दीं और अपनेको क़िस्मत के भरोसे छोड़कर मित्र-राष्ट्रों के फ़ैसले का इन्तज़ार करने लगे।

इससे दो साल पहले, युद्ध के दरमियान, मित्र-राष्ट्रों ने इटली से एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसमें एशियामाइनर का पश्चिमी हिस्सा और स्मर्ना इटली को देने का वादा किया गया था। इसके पहले, क़ाग़ज़ पर, कुस्तुनतुनिया रूस की नज़र किया जा चुका था और अरब देशों को आपस में बाँट लेने की बात तय हो चुकी थी। एशियामाइनर इटली को देने के आख़िरी गुप्त समझौते पर रूस की रज़ामन्दी भी ज़रूरी थी, पर इटली की बदक़िस्मती से ऐसा होने के पहले ही रूस में बोलशेविकों ने अपनी ताक़त जमाली और इसका नतीजा यह हुआ कि वह समझौता मंजूर न हो सका और इटली मित्र-राष्ट्रों पर कुढ़कर रह गया।

ऐसी हालत थी। सुलतान से लेकर नीचे तक सब तुर्क पस्तहिम्मत दिखाई देते थे। आख़िरकार 'योरप का रोगी' मर चुका था—कम-से-कम ऐसा मालूम पड़ता था। पर मुट्ठीभर तुर्क ऐसे थे जिन्होंने क़िस्मत या परिस्थितियों के आगे झुकने से इन्कार किया, फिर चाहे उनका विरोध कितना ही मामूली मालूम हो। कुछ दिनों तक वे चुप-चाप काम करते रहे; मित्र-राष्ट्रों के नियंत्रण में जो शस्त्रागार थे उन्हींसे वे अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री लेते और कालासागर के रास्ते जहाजों से उसे अनातोलिया (एशियामाइनर) के अन्दरूनी हिस्से में भेजते रहे। इन गुप्त कार्यकर्ताओं में प्रधान मुस्तफ़ा कमालपाशा था, जिसका नाम मेरे कई ख़तों में पहले ही आ चुका है।

अंग्रेज़ मुस्तफ़ा कमाल को ज़रा भी नहीं चाहते थे। उनका उसपर सन्देह था और वे उसे गिरफ़्तार करना चाहते थे। सुलतान भी, जो असल में अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली था, उसे नहीं चाहता था। पर उसने (सुलतान नें) यह ज्यादा अच्छी बात समझी कि उसे (मुस्तफ़ा कमाल को) देश के अन्दर कहीं दूर भेज दिया जाय। इसलिए कमालपाशा पूर्वी अनातोलिया में फ़ौजों का इन्सपेक्टर जनरल बना दिया गया। सच पूछो तो वहाँ कोई ख़ास फ़ौज निरीक्षण या देखभाल के लिए नहीं थी। और उसके ओहदे का असली मतलब यह था कि वह मित्र-राष्ट्रों की मदद करे और तुर्की सिपाहियों से हथियार ले ले। यह कमाल के लिए बड़ा ही अच्छा मौक़ा था।

वह इस नियुक्ति पर उछल पड़ा और तुरन्त अनातोलिया के लिए रवाना होगया। यह अच्छा ही हुआ कि वह तुरन्त चला गया; क्योंकि उसके जाने के चन्द ही घण्टे बाद सुलतान ने अपना विचार बदल दिया था। एकाएक कमाल का ख़ौफ़ उसपर सवार होगया और उसने आधी रात के वक़्त कमाल को रोकने के लिए अंग्रेज़ों के पास सन्देश भेजा। पर तबतक चिड़िया उड़ गई थी।

कमालपाशा और मुट्ठीभर दूसरे तुर्कों ने अनातोलिया में राष्ट्रीय प्रतिरोध यानी क़ौमी मुख़ालफ़त का संगठन करना शुरू किया। शुरू में उन्होंने बहुत धीरे-धीरे और सावधानी से काम किया और वहाँ ठहरी हुई फ़ौज के अफसरों को मिलाने की कोशिश की। ऊपर से वे सुलतान के एजेण्ट की तरह काम करते थे, पर कुस्तुन-तुनिया से आये हुए हुक्मों की कोई परवा न करते थे। घटनायें जिस तरीक़े पर घट रही थीं उससे उन्हें मदद मिल रही थी। काकेशश में अंग्रेजों ने एक आर्मीनियन प्रजातंत्र क़ायम किया था और उसमें तुर्की के पूर्वी सूबों को मिला देने का वादा किया था। अब आर्मीनियन प्रजातंत्र सोवियट यूनियन का एक हिस्सा है। आर्मीनियनों और तुर्कों में बड़ी दुश्मनी थी और पहले कितनी ही बार वे एक-दूसरे को क़त्ल कर चुके थे। जब-तक तुर्कों के हाथ में ताक़त थी तबतक, और खास तौर से अब्दुलहमीद के वक़्त में, उन्होंने आर्मीनियनों को इस ख़ूंख़ार खेल में खूब सताया था। इसलिए अब तुर्कों के आर्मीनियनों के मातहत होने का मतलब उनका पूरा विनाश था। इससे उन्होंने लड़ना ही अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी सूबों के तुर्क कमालपाशा की अपीलों को सुनने के लिए अच्छी तरह तैयार थे।

इस बीच, एक दूसरी और ज्यादा महत्वपूर्ण घटना ने तुर्कों को जगा दिया। १९१९ के शुरू में इटली ने फ्रांस और इंग्लैण्ड के साथ किये हुए अपने गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अभीतक पूरा नहीं हो सका था। उसने एशियामाइनर में फ़ौजें भेजनी शुरू कीं। इंग्लैण्ड और फ़्रांस को यह बिलकुल अच्छा न लगा। वे इस वक़्त इटालियनों को बढ़ाना नहीं चाहते थे। क्या करना चाहिए, इसका फ़ैसला न कर सकने की वजह से उन्होंने यूनानी फ़ौजों को स्मर्ना पर क़ब्ज़ा कर लेने की इजाजत दे-दी, जिससे इटालियनों के रास्ते में दिक्क़त पेश की जा सके।

यूनानियों को इसके लिए क्यों चुना गया? फ्रांसीसी और अंग्रेजी फ़ौजें लड़ते-लड़ते थक चुकी थीं और उनमें बग़ावत के ख़यालात फ़ैल रहे थे। वे चाहती थीं कि जल्द-से-जल्द उन्हें फ़ौजी काम से छुट्टी दे दी जाय ताकि वे घर जा सकें। यूनानी लोग नजदीक ही थे और यूनान सरकार एशियामाइनर और कुस्तुनतुनिया को अपने राज्य में मिला लेने और पुराने बिज़ेण्टियन साम्राज्य को फिर से खड़ा करने का सपना

देख रही थी। दो बडे योग्य यूनानी उस समय के इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री और मित्र-राष्ट्रों की समिति में बडे शक्तिमान लायड जार्ज के दोस्तों में से थे। इनमें से एक वेनेज़िलो था जो बीच-बीच में कई वार यूनान का प्रधान मंत्री रह चुका था। दूसरा वड़ा रहस्यमय या भेदिया आदमी है। इस वक़्त वह सर बेसिल ज़हरोफ़ के नाम से मशहूर है, गोकि उसका असली नाम बेसिलोस ज़कारिया था। १८७७ में, जब वह बहुत कम उम्र का था, वह बालकन में अस्त्र-शस्त्र बनानेवाली एक ब्रिटिश कम्पनी का एजेण्ट वन गया। जब महायुद्ध ख़त्म हुआ तो वह योरप में और शायद दुनियाभर में सबसे मालदार आदमी था और बडे-बडे राजनीतिज्ञ और सरकारें उसका आदर करने में गौरव का अनुभव करते थे। उसे बडी-बडी अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी उपाधियाँ दी गई थीं; उसके पास बहुत-से अख़बार थे और वह पीछे रहकर सरकारों की नीतियों पर बहुत ज्यादा असर डाला करता था। जनता को उसके बारे में कोई इल्म न था और वह अपनेको शोहरत और प्रचार से दूर रखता था। वह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार या पूंजी लगानेवाले का नमूना था, जो बहुतेरे देशों और प्रभावों के बीच अपनेको वेफिक्र और घर-जैसा महसूस करता है और कुछ हद तक विविध प्रजासत्तात्मक देशों की सरकारों पर नियंत्रण या क़ब्ज़ा भी रखता है। ऐसे देशों की जनता अपना शासन आप करने की भावना पर फूलती है, पर उनके पीछे असली ताक़त उस अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की होती है जो ज़ाहिरा तौर पर दिखाई नहीं देती।

ज़हरोफ़ इतना मालदार और ताक़तवर कैसे होगया? उसका काम सब तरह के अस्त्र-शस्त्र यानी लड़ाई का माल बेचना था और यह ख़ास तौरपर बालकन में एक मुनाफे का काम था। पर बहुत-से लोगों का विश्वास है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे व्यापार और राजनीति में बडी मदद मिली और बार-बार होनेवाली लड़ाइयों से उसे करोडों का फ़ायदा हुआ और यों वह आजकल का एक महान् रहस्यमय 'देव' (Giant) होगया। वह अभीतक जिन्दा है, हालांकि इस वक़्त (१९३३ में) उसकी उम्र ८४ वर्ष की होगी। वह माण्टकार्लो में रहता है।

इस वेहद मालदार भेदिया आदमी और वेनेज़िलो ने लायड जार्ज को इस बात पर रजामन्द कर लिया कि एशियामाइनर में यूनानी फ़ौजें भेजी जायें। ज़हरोफ़ ने इसपर पूंजी लगाने का वादा किया। यह उसका ऐसा व्यापार था जिसमें उसे फ़ायदा नहीं हुआ, क्योंकि कहा जाता है कि इसमें उसने दस करोड़ डालर खो दिया। यह रक़म उसने तुर्की युद्ध में यूनानियों को दी थी। यह रक़म ४० करोड़ रुपये के बराबर थी, पर इसे देने पर भी ज़हरोफ़ का काम मज़े से चलता रहा।

यूनानी फ़ौजें ब्रिटिश जहाजों में भरकर एशिया-माइनर के पार भेजी गईं और मई १९१९ में स्मर्ना में उतरीं। वे ब्रिटिश, फ़्रांसीसी और अमेरिकन लड़ाकू जहाजों के परदे या हिफ़ाजत में भेजी गई थीं। तुर्की का मित्र-राष्ट्रों की इस भेंट, इस यूनानी फ़ौज नें जोर-शोर से क़त्लेआम शुरू कर दिया। चारों तरफ़ हाहाकार मच गया और आतंक का ऐसा राज्य फैल गया कि जिससे लड़ाई में थकी हुई दुनिया का सड़ियल अन्तः-करण भी काँप गया। खुद तुर्की में इसका बड़ा जबरदस्त असर पड़ा, क्योंकि तुर्कों ने देख लिया कि मित्र-राष्ट्र उनके लिए कैसी बदक़िस्मती लाये हैं। और फिर अपने पुराने दुश्मन और प्रजा यूनानियों द्वारा ऐसा बुरा बर्ताव और क़त्ल किया जाना! तुर्कों का हृदय क्रोध से जल उठा और राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। यह ठीक ही कहा गया है कि यद्यपि कमालपाशा इस आन्दोलन का नेता था, पर स्मर्ना में यूनानियों का क़ब्जा इसका जन्मदाता था। बहुत-से तुर्की अफसर, जो उस वक्त तक हिचकिचाहट में पडे हुए थे, आन्दोलन में शामिल होगये, यद्यपि इसका मतलब सुलतान की हुक्म-अदूली या अवज्ञा थी। क्योंकि सुलतान ने अब मुस्तफ़ा कमाल की गिरफ़्तारी का हुक्म निकाल दिया था।

सितम्बर १९१९ ई० में अनातोलिया के सिवास मुकाम पर चुने हुए प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस हुई। इसने नये आन्दोलन का समर्थन किया और कमाल की अध्यक्षता में एक कार्यसमिति—एग्जिक्यूटिव कमेटी—बनाई गई। एक 'राष्ट्रीय पैक्ट' भी पास हुआ, जिसमें मित्र-राष्ट्रों के साथ सुलह करने के लिए जरूरी कम-से-कम शर्तें थीं। इन शर्तों में पूर्ण स्वतंत्रता या मुकम्मल आजादी की शर्त भी थी। क़ुस्तुनतुनिया में सुलतान पर इनका असर पड़ा और वह कुछ डर भी गया। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन करने का वादा किया और चुनाव का हुक्म दिया। इन चुनावों में सिवास-कांग्रेस वाले लोग बहुमत से चुने गये। कमालपाशा ने क़ुस्तुनतुनिया के आदमियों का विश्वास न किया और उसने नये चुने हुए पार्लमेण्ट के सदस्यों को वहाँ जाने से मना कर दिया। किन्तु उन्होंने उसकी सलाह न मानी और रऊफ़बेग के नेतृत्व में इस्तम्बोल (अब मैं भविष्य में इसी नाम से क़ुस्तुनतुनिया को पुकारूँगा) गये। उनके ऐसा करने की एक वजह यह थी कि मित्र-राष्ट्रों ने यह ऐलान कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बोल में सुलतान की अध्यक्षता में होगी तो हम उसे मंजूर कर लेंगे। खुद कमाल नहीं गया, हालांकि वह भी पार्लमेण्ट का सदस्य (डेपुटी) था।

नई पार्लमेण्ट की बैठक जनवरी १९२०ई० में इस्तम्बोल में हुई और उसने तुरन्त सिवास-कांग्रेस में बनाये गये 'नेशनल पैक्ट' को मंजूर कर लिया। इस्तम्बोल में मित्र-राष्ट्रों के जो प्रतिनिधि थे उन्होंने यह बात बिलकुल पसन्द न की, और पार्लमेण्ट द्वारा

की हुई और भी बहुत-सी बातें उन्हें पसंद न आईं। इसलिए छः हफ़्ते के बाद उन्होंने अपनी उन्हीं मामूली और भद्दी चालों से काम लेना शुरू किया जो उन्होंने मिस्र और दूसरी जगहों में चली थीं। अंग्रेज सेनापति इस्तम्बोल में घुस गया, शहर पर क़ब्जा कर लिया, फ़ौजी कानून जारी कर दिया, रऊफ़बेग सहित ४० राष्ट्रीय डेपुटियों को गिरफ़्तार कर लिया और उन्हें माल्टा को निर्वासित यानी जलावतन कर दिया। अंग्रेजों की ये शरीफ़ाना कारगुजारियाँ यह दिखाने के लिए थीं कि 'नेशनल पैक्ट' को मित्र-राष्ट्रों ने मंजूर नहीं किया है।

फिर तुर्की में खूब उत्तेजना फैली। अब यह काफ़ी तौरपर साफ़ होगया था कि सुलतान अंग्रेजों के हाथ में एक कठपुतली है। बहुत-से तुर्की डेपुटी निकल भागे और अंगोरा पहुँच गये। वहाँ पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय सभा' (Grand National Assembly of Turkey) रक्खा। उसने अपनेको देश की सरकार की शक्ल में घोषित किया और ऐलान कर दिया कि सुलतान और इस्तम्बोल की उसकी सरकार उसी दिन से ख़त्म होगई जिस दिन अंग्रेजों ने शहरपर क़ब्ज़ा कर लिया।

सुलतान ने कमालपाशा और दूसरे लोगों को बाग़ी ऐलान किया और उनको फाँसी की सजा का हुक्म देकर इसका बदला लिया। सुलतान ने यह भी सूचित किया कि जो आदमी कमाल और उसके दूसरे साथियों को मार डालेगा, वह एक पवित्र कर्त्तव्य पूरा करेगा और उसे इस दुनिया और दूसरी दुनिया में भी इनाम मिलेगा। याद रक्खो कि सुलतान ख़लीफ़ा यानी मुसलमानों का धार्मिक नेता भी था और उसके जरिये निकाला हुआ यह मौत का खुला निमंत्रणपत्र बड़ा ख़ौफ़नाक था। कमालपाशा सिर्फ़ एक बाग़ी ही न, था, जिसकी तलाश में सरकारी आदमी पडे हुए हों, बल्कि दीन को छोड़ देनेवाला आदमी भी था जिसे कोई धर्मान्ध आदमी क़त्ल कर सकता था। सुलतान ने अपनी ताक़त-भर राष्ट्रवादियों को कुचलने के सारे उपाय किये। उसने उनके ख़िलाफ़ 'जिहाद' या धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया और उनसे लड़ने के लिए एक 'ख़लीफ़ा का फ़ौजी दस्ता' बनाया गया। मजहबी आदमी बग़ावत पैदा कर देने के लिए भेजे गये। जगह-जगह बलवे हुए और कुछ वक़्त तक सारे तुर्की में गृह-युद्ध छिड़ गया। यह शहर-शहर और भाई-भाई के बीच बडी बुरी लड़ाई थी और दोनों तरफ़ बडी बेरहमी से काम लिया गया।

इस बीच स्मर्ना में यूनानी लोग इस तरह का वर्ताव कर रहे थे मानों वे स्थायी रूप से देश के मालिक हैं और मालिक भी बडे जंगली हैं। उन्होंने उपजाऊ और हरी-भरी घाटियों और मैदानों को उजाड़ दिया और हजारों गृहहीन तुर्कों को

वहाँ से खदेड़ दिया। तुर्कों ने उनका कोई जोरदार मुक़ाबिला नहीं किया, इसलिए वे बढ़ते गये।

राष्ट्रवादियों (नेशनलिस्टों) के लिए ऐसी स्थिति का सामना करना कुछ सुखदायी नहीं था—घर में उनके खिलाफ़ मजहब की ताक़त लिये हुए लड़ा जानेवाला गृह-युद्ध और उधर उनसे लड़ने के लिए आगे बढ़ते हुए विदेशी आक्रमणकारी। फिर सुलतान और यूनानी दोनों के पीछे मित्र-राष्ट्र थे, जो जर्मनी के ऊपर फतह पाकर सारी दुनिया पर हावी होगये थे। लेकिन कमालपाशा का अपने देशवासियों के प्रति यह नारा था—'जीतो या नष्ट हो जाओ।' जब एक अमेरिकन ने उससे पूछा कि राष्ट्रवादी अगर नाकामयाब हुए तो तुम क्या करोगे, तब उसने जवाब दिया—"जो क़ौम जिन्दगी और आजादी के लिए बड़ी-से-बड़ी और आख़री कुर्बानियाँ करती है वह नाकामयाब नहीं होती। नाकामयाबी का मतलब तो यह है कि क़ौम मर चुकी है।"

अगस्त १९२० में वह सुलहनामा प्रकाशित हुआ जिसे मित्र-राष्ट्रों ने ग़रीब तुर्की के लिए बनाया था। इसे 'सेवरे की सन्धि' कहा गया। यह तुर्की स्वतंत्रता का ख़ात्मा था; आजाद राष्ट्र के रूप में तुर्की को मौत की सजा दी गई। सिर्फ़ देश के टुकड़े-टुकड़े ही नहीं कर दिये गये बल्कि ख़ुद इस्तम्बोल में रहकर नियंत्रण रखने के लिए मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ से एक कमीशन नियुक्त किया गया। सारे देश में शोक छागया और हड़ताल और प्रार्थना के साथ राष्ट्रीय शोक का दिन मनाया गया। उस दिन सारे काम बन्द रहे। काले बार्डरों के साथ अख़बार निकले। पर सुलतान के प्रतिनिधियों ने तो सुलहनामे पर दस्तख़त कर ही दिये थे। हाँ, राष्ट्रवादियों ने उसे हिक़ारत के साथ ठुकरा दिया था और सुलहनामे के प्रकाशित होने का यह नतीजा हुआ कि उनकी ताकत बढ़ गई और इस गहरी बेइज्जती से अपने देश को बचाने के लिए ज्यादा-से ज्यादा तुर्क तैयार होने लगे।

पर इस सुलहनामे को बाग़ी तुर्की पर लागू कौन करता? मित्र-राष्ट्र ख़ुद ऐसा करने को तैयार न थे। उन्होंने अपनी फ़ौजों को असंघटित कर दिया था और ये सिपाही बड़ी खीझ में थे। फिर पश्चिमी योरप के देशों में वातावरण में अब भी क्रान्ति और विद्रोह के ख़यालात थे। इसके अलावा युद्ध की लूट के बँटवारे के बारे में ख़ुद मित्र-राष्ट्रों में कलह और झगड़े पैदा होगये थे। पूर्व में इंग्लैण्ड और कुछ हदतक फ़्रांस को एक ख़तरनाक स्थिति का सामना करना था। फ़्रेंच मैण्डेट या शासनादेश के नीचे सीरिया में जबरदस्त असंतोष पैदा होगया था और आगे वहाँ आफ़त खड़ी होने की संभावना थी। मिस्र में एक ख़ूनी बग़ावत हो चुकी थी, जिसे अंग्रेजों ने दबा दिया था। हिन्दुस्तान में १८५७ के ग़दर के बाद पहली महान् बग़ावत, यद्यपि वह

शांतिपूर्ण थी, बढ़ रही थी। यह बापू के नेतृत्व में होनेवाला असहयोग-आन्दोलन था, और इसका एक मुख्य आधार ख़िलाफ़त का सवाल और तुर्की के साथ किया गया बुरा वर्ताव था।

इस तरह हम देखते हैं मित्र-राष्ट्र खुद तुर्की पर इस सुलह को जबरदस्ती लागू करने की स्थिति में न थे और न वे इसीके लिए तैयार थे कि तुर्की राष्ट्रवादियों द्वारा उसको खुलेआम कुचल दिया जाय। ऐसी हालत में उन्होंने अपने मित्र वेनीजेलो और जहरोफ़ की तरफ़ देखा और ये दोनों यूनान की तरफ़ से इस काम की जिम्मेदारी उठाने के लिए पूरी तरह तैयार थे। किसीको यह उम्मीद नहीं था कि ये शिथिल और गिरे हुए तुर्क ज्यादा तंग करेंगे और एशिया माइनर का इनाम कुछ कम ललचानेवाला न था। और ज्यादा यूनानी फ़ौजें वहाँ भेजी गई और बडे पैमाने पर यूनानी-तुर्की युद्ध शुरू हुआ। १९२० के गरमी और पतझड़ तक तो यूनानियों की जीत होती रही और उन्होंने अपने सामने से तुर्कों को खदेड़ दिया। अपने टूटे-फूटे साधनों से एक जबरदस्त और बहादुर फ़ौज तैयार करने की कमालपाशा और उसके साथियों ने रात-दिन कोशिश की। उनको मदद मिली, और वह भी ऐसे मौक़ेपर जबकि उनको उसकी बडी जरूरत थी। सोवियट रूस ने उनकी अस्त्र-शस्त्र यानी लड़ाई के सामान और धन से मदद की। इंग्लैण्ड इन दोनों का दुश्मन था।

ज्यों-ज्यों कमाल की ताक़त बढ़ती गई, मित्र-राष्ट्रों को लड़ाई के फैसले या नतीजे के बारे में शुबहा होने लगा और उन्होंने सुलह की अच्छी शर्तें पेश कीं। पर ये शर्तें भी इतनी अच्छी न थीं कि कमाल के दल के लोग उन्हें मंजूर करते, इसलिए उन्होंने उन्हें ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रों ने यूनानी-तुर्की युद्ध से हाथ खींच लिया और अपनी उदासीनता यानी तटस्थता का ऐलान कर दिया। पहले तो उन्होंने यूनानियों को इसमें फँसाया: और बाद में उन्हें ख़न्दक में छोड़कर अलग हो रहे। यहाँतक कि फ़्रांस और कुछ हद तक इटली ने खुफ़िया तौर पर तुर्कों से दोस्ती गाँठने की कोशिश की। अंग्रेज अब भी थोडे-बहुत, पर ग़ैर-सरकारी तौर पर, यूनानियों के साथ रहे।

१९२१ की गरमी के दिनों में यूनानियों ने तुर्कों की राजधानी अंगोरा पर क़ब्जा करने की जबरदस्त कोशिश की। वे कस्बे पर क़स्बे फ़तह करते और उनपर क़ब्जा जमाते हुए अंगोरा के नजदीक तक आ पहुँचे, पर आख़िर सक़रिया नदी पर रोक दिये गये। इस नदी के पास, तीन हफ़्ते तक, दोनों फ़ौजों ने एक-दूसरे का जबरदस्त मुक़ाबिला किया; किसीको किसी तरह की छूट या मुग़ालता नहीं दिया गया और दोनों सदियों की चली आती हुई जातीय कटुता के साथ एक-दूसरे से लडीं। यह लड़ाई

सहन-शक्ति की भयंकर कसौटी बन गई। तुर्क किसी तरह डटे रहे और अन्त में यूनानी पीछे हट गये। जैसा उनका क़ायदा था, यूनानी फ़ौज पीछे लौटते वक़्त हर चीज़ को, जो उसके रास्ते में पड़ी, आग लगाती और बरबाद करती गई और उसने दो सौ मील तक के उपजाऊ देश को वीरान कर दिया।

सक़रिया नदी की लड़ाई में तुर्क जीत तो गये, पर यह हलकी जीत थी। यह कोई अन्तिम विजय न थी, फिर भी इसे आधुनिक इतिहास की महत्वपूर्ण और निर्णायक लड़ाइयों में गिना जाता है। इसका मतलब बहाव का उलट जाना था। फिर यह पूर्व और पश्चिम के बीच होनेवाली उन बड़ी लड़ाइयों में से एक थी जिन्होंने पिछले दो हज़ार वर्षों या ज़्यादा समय से एशिया-माइनर की एक-एक इंच मिट्टी को इंसान के ख़ून से सींचा है।

दोनों फ़ौजें बेदम हो रही थीं, इसलिए दोनों सुस्ताने और फिर से अपना संगठन करने के लिए बैठ गईं। पर कमालपाशा की क़िस्मत का सितारा बुलन्द हो रहा था। फ़्रांसीसी सरकार ने अंगोरा के साथ सुलह करली। अंगोरा और सोवियट के साथ भी एक सुलह हो गई थी। फ़्रांस की मंज़ूरी मुस्तफ़ा कमाल के लिए एक बड़ी नैतिक और भौतिक सहायता थी। इससे सीरिया की सरहदों पर की तुर्की फौजों को यूनान के ख़िलाफ़ लड़ने की छुट्टी मिल गई। ब्रिटिश सरकार अबतक उस कठपुतली सुलतान और ख़त्म हो रही इस्तम्बोल-सरकार का समर्थन कर रही थी और फ़्रांसीसी सुलह से उसे धक्का लगा।

अगस्त १९२२ ई० में, एकाएक पर बड़ी होशियारी से तैयारी करने के बाद, तुर्की फौज ने यूनानियों पर हमला कर दिया और उनको समुद्र में खदेड़ दिया। आठ दिनों के अन्दर यूनानियों को १६० मील पीछे हटना पड़ा; पर पीछे हटते वक्त भी रास्ते में मिलनेवाले हर तुर्की मर्द, औरत और बच्चे को मारकर उन्होंने अपना बदला लिया। तुर्क भी वैसे ही बेरहम थे और बहुत कम यूनानियों को क़ैदी रखते थे। इन यूनानी क़ैदियों में यूनानी प्रधान सेनापति और उसके स्टाफ़ के लोग थे। यूनानी फौज का ज़्यादातर हिस्सा स्मर्ना से समुद्र के रास्ते भाग गया, पर स्मर्ना शहर जला दिया गया।

कमालपाशा ने अपनी फ़ौजों के साथ इस्तम्बोल की तरफ़ बढ़ते हुए अपनी फतह जारी रक्खी। शहर से थोड़ी ही दूर पर, चनक मुक़ाम पर, ब्रिटिश फौजों ने उसे रोक दिया और सितम्बर १९२२ में कुछ दिनों तक तुर्कों और ब्रिटेन के बीच लड़ाई छिड़ने की बात होती रही, पर अंग्रेज़ों ने क़रीब-क़रीब तुर्कों की सारी शर्तें मानलीं और युद्ध बन्द करने की तजवीज़ या सुलहनामे (Armistice) पर दस्तख़त होगये। इस सुलह-

नामे में मित्र-राष्ट्रों ने वादा किया कि थ्रेस में जितनी भी यूनानी फ़ौज है वह सब देश से हटवा दी जायगी। नये तुर्की के पीछे सदा सोवियट रूस का भूत रहा और मित्र-राष्ट्र ऐसी लड़ाई छेड़ना नहीं चाहते थे जिसमें रूस तुर्की की मदद करे।

मुस्तफ़ा कमाल की विजय हुई और १९१९ के मुट्ठीभर बाग़ी महाशक्तियों के प्रतिनिधियों से बराबरी की हैसियत से मिले। इस बहादुर टुकडी को बहुतेरी परिस्थितियों से मदद मिली थी, जिनमें युद्ध के बाद की प्रतिक्रिया, मित्र-राष्ट्रों की आपसी फूट या झगडे, हिन्दुस्तान और मिस्र की बिगड़ती हुई हालत में अंग्रेजों का फँस जाना, सोवियट रूस की मदद और अंग्रेजों द्वारा की हुई बेइज्ज़ती ये बातें मुख्य थीं। पर इन सबके ऊपर उनकी विजय का श्रेय उनके फ़ौलादी इरादे, आज़ाद होने के उनके निश्चय और तुर्की किसानों और सिपाहियों की सैनिक यानी लड़ाकू विशेषताओं को ही है।

लुसान में एक शान्ति-सम्मेलन हुआ और कई महीनों तक चलता रहा। इंग्लैण्ड के घमण्डी और शासनप्रिय प्रतिनिधि लार्ड कर्ज़न और बहरे एवं फूले हुए इस्मतपाशा के बीच अच्छी-ख़ासी पैंतरेबाज़ी हुई। इस्मातपाशा मुस्कराता रहता था और जो कुछ सुनना नहीं चाहता था उसे सुनने से इनकार कर देता था, जिससे कर्ज़न बड़ा चिढ़ता था। कर्ज़न को हिन्दुस्तान के वाइसराय वाले तरीक़ों से काम लेने की आदत पड़ गई थी; वह यों भी शान-शौकत का आदमी था; इसलिए उसने उन्हीं हाकिमाना तरीक़ों से काम लिया जिनका बहरे और मुस्कराते हुए इस्मत पर कोई असर नहीं पड़ा। चिढ़कर और झुंझलाकर कर्ज़न लौट आया और सम्मेलन टूट गया। बाद में फिर सम्मेलन हुआ, पर इस बार कर्ज़न की जगह दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। सिर्फ़ एक को छोड़कर 'नेशनल पैक्ट' में बताई हुई तुर्की की सारी शर्तें मान ली गईं और जुलाई १९२३ में लुसान की सन्धि पर दस्तख़त होगये। इस बार फिर सोवियट रूस के समर्थन और मित्र-राष्ट्रों की आपसी ईर्ष्या से तुर्की को मदद मिली।

कमालपाशा, ग़ाज़ी यानी विजयी, को उन सब बातों में कामयाबी हुई जिनके लिए उसने लड़ाई शुरू की थी। शुरू से ही उसने अपनी कम-से-कम माँगों का ऐलान कर दिया था और विजय की घडी में भी उनपर टिका रहा। उसनें अरबस्तान, इराक़, फ़िलस्तीन और सीरिया वग़ैरा ग़ैरतुर्की मुल्कों पर तुर्की साम्राज्य का ख़याल बिलकुल छोड़ दिया था। वह सिर्फ़ तुर्कों के देश यानी ख़ास तुर्की को आज़ाद करना चाहता था। वह नहीं चाहता था कि तुर्क दूसरी क़ौमों के बारे में दस्तन्दाज़ी करें; पर वह यह भी नहीं चाहता था कि तुर्की में किसी तरह का विदेशी दख़ल हो। इस तरह तुर्की एक संयुक्त और एक ही जाति यानी तुर्कों का देश बन गया। कुछ वर्षों के बाद,

यूनानियों के प्रस्ताव पर आबादियों का एक ग़ैर-मामूली अदला-बदला हुआ। अनातोलिया में जो यूनानी बच रहे थे वे यूनान भेज दिये गये और बदले में यूनान के तुर्क तुर्की में लाये गये। इस तरह क़रीब पंद्रह लाख यूनानियों का बदला हुआ। इन यूनानियों और तुर्कों के ज्यादातर कुटुम्ब क्रमशः अनातोलिया और यूनान में पीढ़ियों से रहते आये थे। यह क़ौमों का अजीब विच्छेद था और इससे तुर्की का आर्थिक जीवन बिलकुल तितर-बितर होगया, क्योंकि यूनानियों का व्यापार में बहुत ज्यादा हिस्सा था। पर इससे तुर्की और ज्यादा एक-जातीय (Homogenous) होगया। और शायद इस वक़्त यह एशिया या योरप के देशों में सबसे ज्यादा एक-जातीय है।

मैंने ऊपर कहा है कि लुसान-सन्धि से तुर्कों की एक के सिवा सब माँगें पूरी हो गईं। यह अपवाद 'विलायत' या इराक़ की सीमा के नजदीक का मोसल प्रदेश था। चूंकि दोनों दल इस सवाल पर एकमत नहीं हो सके, इसलिए यह मामला राष्ट्र-संघ के पास भेज दिया गया। मोसल अपने तेल और ख़ासकर अपनी सैनिक स्थिति के कारण बड़ा महत्वपूर्ण था। मोसल के पहाड़ों पर क़ब्ज़ा होने का मतलब कुछ हद तक तुर्की, इराक़, फारस, यहांतक कि रूस के काकेशश पर भी हावी होना था। साफ़ तौर पर तुर्की के लिए यह महत्वपूर्ण था। ब्रिटेन के लिए भी यह उतना ही महत्वपूर्ण था, क्योंकि हिन्दुस्तान को जानेवाले ख़ुश्की और हवाई रास्तों की रक्षा और सोवियट रूस के ख़िलाफ़ हमला या बचाव करने के लिए यह बहुत जरूरी था। अगर तुम नक़्शे में देखो तो तुम्हें मालूम होगा कि मोसल कैसी महत्वपूर्ण स्थिति में है। इस सवाल पर राष्ट्र-संघ ने ब्रिटेन के पक्ष में फ़ैसला किया। तुर्कों ने उस फ़ैसले को मानने से इनकार कर दिया और फिर लड़ाई की बातचीत होने लगी। उसी वक़्त, दिसम्बर १९२५ ई० में, एक नई रूसी-तुर्की सन्धि हुई थी। पर अंगोरा की सरकार ने आख़ीर में राष्ट्र-संघ का फ़ैसला मान लिया और मोसल इराक़ के नये राज्य में शामिल कर लिया गया। इराक़ वैसे तो स्वतंत्र समझा जाता है, पर असल में यह ब्रिटेन का एक रक्षित या मातहत राज्य है और इसमें ब्रिटिश अधिकारी और सलाहकार भरे हुए हैं।

मुझे अच्छी तरह याद है कि जब ग्यारह साल पहले हम लोगों ने यूनानियों पर मुस्तफ़ा कमाल की महान् विजय की ख़बर सुनी थी तो हम कितने ख़ुश हुए थे। यह अगस्त १९२२ में हुआ अफ़ियम क़ुराहिसार का युद्ध था, जब कमाल ने यूनानी मोर्चे को तोड़कर यूनानी फ़ौज को स्मर्ना और समुद्र में खदेड़ दिया। हममें से बहुत-से लोग उस वक़्त लखनऊ ज़िला जेल में थे और हम लोगों ने जो कुछ मिला उसीसे अपनी जेल की बैरकों को सजाकर तुर्की की विजय का जलसा मनाया था और शाम को रोशनी करने की भी हलकी-सी कोशिश की थी।

: १५६ :

मुस्तफ़ा कमाल का अतीत से विच्छेद

८ मई, १९३३

हमने हार के अँधेरे ज़माने से लेकर विजय के दिनतक तुर्कों की क़िस्मत का मुला-हज़ा किया है और बड़े ताज्जुब के साथ देखा है कि मित्र-राष्ट्रों, ख़ासकर अंग्रेज़ों, ने उनको कुचलने और कमज़ोर कर देने के लिए जिन उपायों का सहारा लिया उनसे तुर्कों पर बिलकुल उलटा असर पड़ा और उन उपायों ने राष्ट्रवादियों को मज़बूत कर दिया और आगे के प्रतिरोध लिए उन्हें फौलादी बना दिया। मित्र-राष्ट्रों की तुर्की के टुकड़े करने की कोशिश, स्मर्ना में यूनानी फ़ौजों का भेजा जाना, मार्च १९२० का ब्रिटेन का वह आकस्मिक पैंतरा, जब राष्ट्रवादी नेता गिरफ़्तार करके जलावतन कर दिये गये, राष्ट्रवादियों के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों का कठपुतली सुलतान का समर्थन—इन सब बातों ने तुर्कों का गुस्सा और ज़ोश बढ़ाने में मदद की। किसी बहादुर क़ौम को कुच-लने और अपमानित करने का लाज़मी तौर पर यही नतीजा या असर होता है।

मुस्तफ़ा कमाल और उसके साथियों ने जो फ़तह हासिल की थी, उसका क्या किया? कमालपाशा पुराने रिवाजों से चिपके रहने में विश्वास नहीं रखता था; वह तुर्की को पूरे तौरपर बदल डालना चाहता था। पर अपनी फ़तह के बाद यद्यपि वह ख़ूब लोकप्रिय था फिर भी उसे बहुत सावधानी से धीरे-धीरे आगे बढ़ना पड़ा, क्योंकि लम्बे ज़मानें से चली आ रही परम्परा और धर्म पर खड़े हुए पुराने तरीक़ों को ख़त्म कर देना आसान काम नहीं है। वह सुलतानियत और ख़िलाफ़त दोनों को ख़त्म कर देना चाहता था, पर उसके बहुत-से साथी उससे सहमत न थे और सामान्य तुर्की जनता के ख़यालात भी शायद ऐसी तब्दीली के ख़िलाफ़ थे। हाँ, कठपुतली सुलतान वहीदउद्दीन को कोई नहीं चाहता था। उसे लोग ऐसा देशद्रोही समझते थे जिसने अपने देश को विदेशियों के हाथ बेच देने की कोशिश की थी और उससे नफ़रत करते थे। बहुत-से लोग एक तरह की वैधानिक सुलतानियत और ख़िलाफ़त चाहते थे और असली सत्ता या ताक़त नेशनल असेम्बली के हाथ में रखने का समर्थन करते थे। कमालपाशा को ऐसा कोई समझौता पसन्द न था; इसलिए वह मौक़े का इन्तज़ार करने लगा।

सदा की तरह अंग्रेज़ों की वजह से वह मौक़ा जल्द आगया। जब लुसान के शान्ति-सम्मेलन की तैयारी हो रही थी तब ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बोल में सुलतान के पास न्यौता भेजा और शान्ति की शर्तें तय करने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजने को लिखा और सुलतान से यह अनुरोध भी किया कि यह न्यौता अंगोरा को भी दोहरा दिया जाय। अंगोरा की राष्ट्रीय सरकार के साथ (जिसने लड़ाई जीती थी) इस तरह के

भद्दे वर्ताव और जान-बूझकर कठपुतली सुलतान को आगे बढ़ाने की इस कोशिश ने तुर्कों में एक सनसनी पैदा करदी और तुर्कों को क्रुद्ध कर दिया। उन लोगों को यह शुबहा हो गया कि कहीं देशद्रोही सुलतान और अंग्रेजों के बीच फिर कुछ साजिश तो नहीं हो रही है। मुस्तफ़ा कमाल ने मौक़ा देखकर इस ख़याल का फ़ायदा उठा लिया और नवम्बर १९२२ ई० में नेशनल असेम्बली से सुलतानियत को तोड़ देने का फ़ैसला करा लिया। लेकिन खुद खिलाफ़त जिन्दा रही और यह ऐलान किया गया कि वह उथमान (उस्मान) घराने के हाथ में रहेगी। इसके बाद ही भूतपूर्व सुलतान वहीदउद्दीन के खिलाफ़ भारी देश-द्रोह के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया। उसने सार्वजनिक मुक़दमे का सामना करने की बनिस्वत देश से भाग जाना ही अच्छा समझा। वह एक अंग्रेजी एम्बुलेंसकार (मरीजों या घायलों को ढोने वाली मोटर गाडी) में छिपकर भाग गया। यह कार उसे एक ब्रिटिश लड़ाकू जहाज तक पहुँचा आई। नेशनल असेम्बली ने उसके चचेरे भाई अब्दुलमजीद को नया ख़लीफ़ा चुना, जो बिना किसी राजनैतिक शक्ति के एक दिखाऊ धर्माध्यक्ष था।

दूसरे साल, १९२३ में, बाक़ायदा तुर्की प्रजातंत्र का ऐलान हुआ और अंगोरा राजधानी बनाई गई। मुस्तफ़ा कमाल राष्ट्रपति चुना गया और उसने सारी ताक़त अपनेमें केन्द्रित करली, यानी डिक्टेटर (सर्वेसर्वा) बन गया। असेम्बली उसके आदेशों या हुक्मों का पालन करती थी। अब उसने बहुतेरे पुराने रिवाजों पर हमला करना शुरू किया। वह मजहब के बारे में कुछ ज्यादा शरीफाना सलूक नहीं करता था। बहुत-से लोग, ख़ास तौरपर मजहबी लोग, उसके तरीक़ों और उसकी डिक्टेटरशिप से असंतुष्ट होगये। ये लोग नये ख़लीफा के, जो खुद एक शान्त और सीधा आदमी था, इर्द-गिर्द जमा होगये। कमालपाशा को यह सब पसन्द न आया। उसने ख़लीफ़ा के साथ बहुत हलका वर्ताव किया और अगला बड़ा क़दम बढ़ाने के लिए उचित अवसर का इन्तजार करने लगा।

फिर उसे जल्द ही यह मौक़ा मिल गया, और वह कुछ अजीब ढंग से आया। लन्दन से आगाखाँ और एक भूतपूर्व हिन्दुस्तानी जज अमीरअली दोनों का संयुक्त पत्र उसे मिला। इन लोगों ने लाखों-करोड़ों हिन्दुस्तानी मुसलमानों के नाम पर बोलने का दावा करते हुए ख़लीफ़ा के साथ किये हुए वर्ताव का विरोध किया और अनुरोध किया कि उसकी मर्यादा की इज्जत की जानी चाहिए और उसके साथ ज्यादा अच्छा वर्ताव किया जाना चाहिए। इन दोनों ने इस ख़त की नक़ल इस्तम्बोल के कई अख़बारों को भी भेज दी और असली पत्र के अंगोरा पहुँचने के पहले ही नक़ल इन अख़बारों में छप गई। इस ख़त में कोई अनुचित बात न थी; पर कमालपाशा ने इस

मौक़े को हाथ से जाने देना अच्छा न समझा और इस ख़त को लेकर एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उसने ऐलान किया कि यह तुर्की में भेद यानी तफ़रक़ा पैदा करने की दूसरी अंग्रेजी साजिश है। कहा गया कि आगाख़ाँ अंग्रेजों का ख़ास एजेण्ट है; वह इंग्लैण्ड में रहता है, उसकी ख़ास दिलचस्पी अंग्रेजी घुड़दौड़ में है और अंग्रेज राजनीतिज्ञों से उसका खूब हेलमेल है। वह कट्टर मुसलमान भी नहीं है और मुसलमानों के एक फ़िरक़े का प्रधान है। यह भी कहा गया कि महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजों ने पूर्व में पासंग बराबर रखने के लिए एक दूसरे सुलतान—ख़लीफ़ा का रूप देकर उसका उपयोग किया और प्रचार करके उसकी शान और इज्जत बढ़ाई तथा उसे हिन्दुस्तानी मुसलमानों का नेता बनाने की कोशिश इसलिए की कि उन्हें क़ब्जे में रक्खा जा सके। अगर आगाख़ाँ को ख़लीफ़ा से इतनी हमदर्दी थी तो उसने युद्ध के जमाने में, जब अंग्रेजों के ख़िलाफ़ 'जिहाद' या पवित्र ऐलान किया गया था, खलीफ़ा का समर्थन क्यों नहीं किया ? उस वक्त उसने खलीफ़ा के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ दिया था।

इस तरह कमालपाशा ने इस संयुक्त पत्र के ऊपर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। लन्दन से यह ख़त भेजते वक्त इसके लेखकों ने इन नतीजों का ख़याल भी न किया होगा। कमालपाशा ने आगाख़ाँ के बारे में जो बातें कहीं उनसे लोग आगाख़ाँ को अच्छा नहीं समझ सकते थे। जिन ग़रीब इस्तम्बोली सम्पादकों ने इस ख़त को छपा दिया था वे देशद्रोही और इंग्लैण्ड के एजेण्ट बताये गये और उन्हें सख्त सजायें दी गईं। इस तरह लोगों में गहरा जोश और दूसरी साजिश का ख़ौफ़ पैदा करके कमालपाशा ने नेशनल असेम्बली में ख़िलाफ़त को तोड़ देने का एक बिल पेश कराया जो उसी रोज, मार्च १९२४ ई० में, पास होगया। यों आधुनिक रंगमंच से एक पुरानी संस्था या परम्परा, जिसने इतिहास में बहुत बड़ा पार्ट खेला था, ख़त्म होगई। अब कोई 'ईमानदारों का सरदार', कम-से-कम जहाँतक तुर्की का ताल्लुक़ था, नहीं रह गया, क्योंकि तुर्की एक दुनियावी राज्य बन गया; यानी राज्य का किसी मजहब के प्रति कोई आग्रह नहीं रह गया।

कुछ ही वक़्त पहले, जब महायुद्ध के बाद ख़िलाफ़त के प्रति अंग्रेजों ने धमकी से भरा रुख़ इख़्तियार किया था, हिन्दुस्तान में जबरदस्त तहरीक हुई थी। सारे देश में ख़िलाफ़त कमेटियाँ बन गई थीं और मुसलमानों के इस आन्दोलन में हिन्दुओं की बड़ी तादाद इस ख़याल से शामिल होगई थी कि ब्रिटिश सरकार इस्लाम के प्रति अन्याय कर रही है। अब तुर्की ने खुद जान-बूझकर ख़िलाफ़त का ख़ात्मा कर दिया था; इस्लाम बिना ख़लीफ़ा के होगया था। कमालपाशा की यह निश्चित राय थी कि तुर्की को मजहब की बिना पर अरब देशों या हिन्दुस्तान से कोई रिश्ता नहीं रखना

है। वह अपने देश के लिए या ख़ुद अपने लिए इस्लाम का नेतृत्व नहीं चाहता था। मिस्र और हिन्दुस्तान के लोगों के अनुरोध पर भी उसने ख़लीफ़ा बनने से इनकार कर दिया था। उसकी नज़र पश्चिम में योरप की तरफ़ थी और वह चाहता था कि जितनी जल्द मुमकिन हो तुर्की पश्चिमी रंग में रंग जाय। वह पैन-इस्लामी यानी सब मुसल-मान देशों का एक संगठन बनाने के ख़याल के बिलकुल विरुद्ध था। उसके सामने पैन-टयूरेनियनिज्म यानी टयूरन या तुर्क जाति की तरक्क़ी का नया आदर्श था। मतलब यह कि इस्लाम के लम्बे-चौडे पर शिथिल अन्तर्राष्टीय आदर्श पर उसने शुद्ध राष्ट्रीयता के ज्यादा मज़बूत और ठोस बन्धनों को तरजीह दी।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि अब तुर्की एक-जातीय देश होगया था, और उसमें विदेशी तत्त्व बहुत कम रह गये थे। पर पूर्वी तुर्की में इराक़ और फारस की सरहद पर अब भी एक ग़ैर-तुर्की जाति थी। यह एक तरह की ईरानी ज़बान बोलनेवाली बहुत पुरानी जाति थी जिसे कुर्द कहते थे। कुर्दिस्तान, जिसमें ये लोग रहते थे, कई टुकडों में बँटकर तुर्की, फ़ारस, इराक़ और मोसल प्रदेश में मिल गया था। तीस लाख कुर्दों में से क़रीब आधे अब भी ख़ास तुर्की में थे। १९०८ की नौजवान तुर्क क्रान्ति के बाद ही उनमें नये ढंग का राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। वर्साई के शान्ति-सम्मेलन में भी कुर्द प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता यानी क़ौमी आज़ादी की माँग की थी।

१९२५ ई० में तुर्की के कुर्द प्रदेश में एक बड़ा बलवा होगया। यह वही वक़्त था जब मोसल के मामले को लेकर इंग्लैण्ड और तुर्की में तनातनी बढ़ रही थी। मोसल ख़ुद ही कुर्द का एक प्रदेश था और उस हिस्से से लगा हुआ था जिसमें बलवा खड़ा हुआ था। तुर्कों ने स्वभावतः यह अन्दाज़ लगाया कि इस बलवे के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है और ब्रिटिश एजेण्टों ने कमालपाशा के सुधारों के ख़िलाफ़ कट्टर मज़हबी कुर्दों को भड़काया है। यह कहना मुमकिन नहीं है कि ब्रिटिश एजेण्टों का इस बलवे से कोई ताल्लुक़ था या नहीं, गोकि यह बात स्पष्ट थी कि उस मौक़े पर तुर्की में कुर्द बलवे का ब्रिटिश सरकार ने स्वागत किया। जो हो, इतना तो साफ़ था कि इस बलवे का ज्यादातर ताल्लुक़ मज़हबी कट्टरता से था और यह भी साफ़ है कि इसमें कुर्द राष्ट्रीयता का भी बड़ा हिस्सा था। संभवतः राष्ट्रीय भाव ही सबसे ज़ोर पर था।

कमालपाशा ने तुरन्त ही आवाज़ बुलन्द की कि तुर्की क़ौम ख़तरे में है, क्योंकि कुर्दों के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है। उसने नेशनल असेम्बली से एक क़ानून पास कराया। इस क़ानून में कहा गया था कि बोलकर या लिखकर लोगों को भड़काने के लिए मज़-हब का इस्तेमाल करना ज़बरदस्त देश-द्रोह का जुर्म समझा जायगा और उसके लिए

सबसे कड़ी सजा दी जायगी। मस्जिदों में उन मजहबी बातों का पढ़ाना भी बन्द कर दिया गया जिनसे प्रजातंत्र के प्रति लोगों की भक्ति या वफ़ादारी में कुछ फ़र्क़ आने की संभावना थी। इसके बाद उसने बड़ी बेरहमी से कुर्दों को कुचल दिया और हज़ारों की तादाद में उनका फ़ैसला करने के लिए स्वतंत्रता की ख़ास अदालतें (Special Tribunals of Independence) क़ायम कीं। शेख़ सईद, डाक्टर फ़ुआद और दूसरे बहुत-से कुर्द नेता फाँसी पर चढ़ा दिये गये। वे ओठों पर कुर्दिस्तान की आजादी का नाम लेते-लेते मरे।

इस तरह तुर्कों ने, जो कुछ ही दिन पहले अपनी आजादी के लिये लड़ रहे थे, अपनी आजादी की माँग करनेवाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि कैसे रक्षणात्मक राष्ट्रीयता उग्र और आक्रामक राष्ट्रीयता (Aggressive Nationalism) में तब्दील हो जाती है और किस तरह आजादी की लड़ाई दूसरों को गुलाम बनाने और दूसरों पर प्रभुता क़ायम करने की शक्ल में बदल जाती है। १९२९ ई० में फिर कुर्दों का एक बलवा हुआ और फिर वह, कम-से-कम उस वक़्त, कुचल दिया गया। हमेशा के लिए तो भला कोई उस क़ौम को कैसे कुचल सकता है, जो आजादी की माँग पर डटी हुई है और उसकी क़ीमत चुकाने को तैयार है ?

इसके बाद कमालपाशा ने उन सब लोगों की तरफ़ नजर डाली जिन्होंने नेशनल असेम्बली में या उसके बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। एक डिक्टेटर की ताक़त या सत्ता की भूख सदा उसके इस्तेमाल के साथ बढ़ती जाती है; वह कभी सन्तुष्ट या तृप्त नहीं होती, न वह किसी क़िस्म की मुख़ालफ़त बरदाश्त कर सकती है। मुस्तफ़ा कमाल ने भी सब तरह के विरोध पर नाराजगी जाहिर की और इसी वक़्त किसी धर्मान्ध द्वारा उसका ख़ून करने की कोशिश से मामला बिलकुल ख़राब होगया। स्वतंत्रता की अदालतें सारे तुर्की में घूम-घूमकर उन सब लोगों को सख़्त सजा देने लगीं जो ग़ाजी पाशा की मुख़ालफ़त करते थे। यहाँतक कि असेम्बली के बड़े-से-बड़े लोग और कमाल के पुराने नेशनलिस्ट साथी भी, विरोध में होने पर, नहीं बख़्शे गये। रऊफ़ बेग, जिसे अंग्रेजों ने माल्टा को निर्वासित या जलावतन कर दिया था, और जो बाद में तुर्की का प्रधान मंत्री हुआ, अपनी ग़ैरहाजिरी में ही दण्डित हुआ। बहुत-से दूसरे महत्वपूर्ण नेता और सिपहसालार, जो आजादी की लड़ाई में बहादुरी के साथ लड़े थे, बेइज्जत किये गये और उनको सजा दी गई और कुछ फांसी पर चढ़ा दिये गये। उनके ख़िलाफ़ इलजाम यह लगाया गया कि उन्होंने राज्य की रक्षा के विरुद्ध कुर्दों के साथ और शायद पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड के साथ भी षड्यंत्र किया था।

सब विरोध को ख़त्म कर देने के बाद मुस्तफ़ा कमाल अब एकमात्र डिक्टेटर था और इस्मतपाशा उसका दाहिना हाथ था। अब उसने अपने कई विचारों को, जो अभीतक उसके दिमाग़ में भरे हुए थे, अमली शक्ल देना शुरू किया। उसने बहुत छोटी बात से सुधार शुरू किया पर वह एक नमूने की बात थी। उसने 'फ़ेज़' यानी तुर्की टोपी पर हमला किया, जो तुर्कों और कुछ हद तक मुसलमानों का प्रतीक या निशान हो गई थी। उसने फ़ौज के साथ बहुत सम्हलते हुए शुरुआत की। फिर भी वह ख़ुद हैट लगाकर जनता के सामने उपस्थित हुआ, जिससे भीड़ को बडी हैरत हुई और उसने 'फ़ेज़' पहनने को अपराध क़रार देकर उसका ख़ात्मा किया। टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना महज़ एक पागलपन मालूम होता है। ज्यादा महत्व की बात यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि वह जो सिर के ऊपर है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी बातें बडी बातों का प्रतीक या निशान बन जाती हैं और कमालपाशा ने ग़रीब 'फेज़' के रूप में पुराने रिवाज और कट्टरता पर हमला किया। इस सवाल पर दंगे हुए। उन्हें दबा दिया गया और विरोधियों और दंगाइयों को सख़्त सजायें दी गईं।

पहले पैंतरे में फतह पाने के बाद मुस्तफ़ा कमाल ने आगे एक क़दम और रक्खा। उसने सब मठ और धर्मस्थान बन्द कर दिये या तोड़ दिये और उनका सारा धन राज्य के लिए जब्त कर लिया। जो दरवेश इन स्थानों या मठों में रहते थे उन्हें अपनी रोजी के लिए काम और मेहनत करने को कहा गया। यहाँतक कि उनका खास तरह की पोशाक पहनना भी बन्द कर दिया गया।

इसके भी पहले मुसलमानी मजहबी स्कूल तोड़ दिये गये और उनकी जगह राज्य के ग़ैरमजहबी स्कूल क़ायम कर दिये गये थे। तुर्की में बहुत-से विदेशी स्कूल-कालेज थे। उनको भी अपनी मजहबी तालीम बन्द करने को मजबूर होना पड़ा। अगर वे इनकार करते तो उन्हें एकदम से बन्द कर दिया जाता। इन विदेशी स्कूलों में तुर्की विषय अनिवार्य कर दिये गये।

कानून में भी ऊपर से नीचे तक तब्दीली हुई। अभीतक बहुतेरी बातों में क़ानून कुरान की शिक्षाओं पर, जिसे 'शरियत' कहते हैं, आश्रित था। अब स्विस सिविल कोड (स्वीजरलैंड का दीवानी क़ानून), इटालियन पेनल कोड (इटली का दण्ड-विधान) और जर्मन कमर्शल कोड (जर्मनी का व्यापारिक विधान) का ज्यादातर हिस्सा लेकर कानून बनाया गया। इसका मतलब व्यक्तिगत क़ानून (Personal law), जिसके मुताबिक शादी, विरासत वग़ैरा का काम चलता था, में पूरी तब्दीली हो जाना था। इन बातों के बारे में पुराना इस्लामी क़ानून बदल दिया गया। एकसाथ कई औरतों से शादी करने का रिवाज उठा दिया गया।

दूसरा परिवर्तन, जो पुराने मजहबी रिवाजों के खिलाफ़ गया, इनसान की शक्ल-सूरत को लेकर ड्राइंग, चित्रकला और मूर्तिकला को बढ़ाना या उत्साहित करना था। इस्लाम इस चीज को नहीं मानता। मुस्तफ़ा कमाल ने इस काम के लिए, लड़के-लड़कियों को कला सिखानेवाले स्कूल खोले।

'नौजवान तुर्क' आन्दोलन के जमाने से ही तुर्की स्त्रियों ने आजादी की लडाई में बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। कमालपाशा उनको हर तरह के बन्धनों से छुड़ाकर आजाद करने के लिए बडे उत्सुक थे। एक 'नारी-अधिकार रक्षण सभा' यानी स्त्रियों के हकूक़ को महफूज रखनेवाली सभा खोली गई और उनके लिए कई कामों या पेशों के दरवाजे खोल दिये गये। पहले परदा और घूंघट पर जोरदार हमला किया गया और दोनों बडी तेजी के साथ ग़ायव होगये। स्त्रियों को घूंघट फाड फेंकनें के लिए सिर्फ मौक़ा और सहूलियत देने की जरूरत है। कमालपाशा ने उनको यह मौक़ा दिया और वे वाहर निकल आईं। उसने यूरोपियन नाच को वडा उत्तेजन दिया। वह न सिर्फ खुद इसका शौक़ीन था वल्कि उसकी समझ से यह औरतों की आजादी और पाश्चात्य सभ्यता का प्रतिनिधित्व था। हैट और नृत्य प्रगति और सभ्यता के नारे बन गये। ये पश्चिम के मामूली प्रतीक थे, पर कम से कम उन्होंने, सतहपर तो खूब काम किया और तुर्की ने अपनी टोपी, अपनी पोशाक और अपनी जिन्दगी का तरीक़ा वदल दिया। परदानशीन औरतों की पीढी-की-पीढ़ी चन्द सालों के वीच वकीलों, मास्टरों, डाक्टरों और जजों में तब्दील होगई। यहाँतक कि इस्तम्वोल की सडकों पर पुलिस औरतें भी हैं। यह देखने में बडा मजा आता है कि एक चीज दूसरे पर कैसे असर डालती है। लैटिन वर्णमाला को मंजूर कर लेने से तुर्की में टाइपराइटरों का इस्तेमाल वहुत ज्यादा वढ़ गया और इसका मतलव यह हुआ कि ज्यादा शार्टहैंड टाइपिस्टों की जरूरत हुई, जिससे स्त्रियों को भी ज्यादा नौकरियाँ मिलने लगीं।

जहां लटकों को मजहवी मदरसों में रटकर सव कुछ याद कर लेने का पुराना तरीका सिखाया जाता था वहाँ उनको मुख़्तलिफ़ तरीक़ों पर अपना विकास करके आत्मविश्वासी और योग्य नागरिक बनाने पर जोर दिया जाने लगा। एक उल्लेखनीय संस्था 'शिशु-सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल, एक हफ्ते तक, हरेक सरकारी अधिकारी हटा दिये जाते और उनकी जगह लडके काम करते और सारे राज्य का इन्तजाम लडकों के जरिये चलाया जाता। मैं नहीं जानता कि वह व्यवस्था किस तरीक़े पर की जाती है, पर यह आकर्षक धारणा यानी अपनी तरफ खींचनेवाला खयाल है और मुझे विश्वास है कि कुछ लडके चाहे कितने ही वेवकूफ़ और अनुभवहीन हों, वे उससे ज्यादा वेवकूफ़ी नहीं कर सकते जितनी हमारे वडी उम्र के मनहूस

और बडे गंभीर तथा पवित्र दिखाई देनेंवाले शासक और अधिकारी करते हैं।

एक छोटी-सी, पर तुर्की के शासकों के नये दृष्टिकोण को जाहिर करनेवाली, तब्दीली यह हुई कि सलाम करने के रिवाज को धीरे-धीरे हटा दिया गया। यह कहा गया कि 'हैण्ड शेकिंग' (हाथ मिलाना) स्वागत का ज्यादा सभ्य तरीक़ा है और आगे से उसीको अपनाना चाहिए।

इसके बाद कमालपाशा ने तुर्की भाषा, या जैसा कि वह कहता था उसमें आये हुए विदेशी तत्वों पर एक जबरदस्त हमला किया। तुर्की जबान अरबी लिपि में लिखी जाती थी, जो ऊर्दू या फ़ारसी लिपि से मिलती-जुलती थी। कमालपाशा ने इन दोनों को विदेशी और मुश्किल बताया। ऐसे ही सवाल मध्यएशिया में सोवियट यूनियन के सामने भी पेश हुए थे, क्योंकि कई तातारी क़ौमों की लिपि अरबी या फ़ारसी से ली हुई लिपि थी। १९२४ में सोवियट ने इस सवाल पर विचार करने के लिए बाकू में एक कान्फ़्रेंस की और यह तय हुआ कि मध्यएशिया की मुख्तलिफ़ तातारी जबानों के लिए लैटिन लिपि ग्रहण की जाय। इसका मतलब यह कि जबानें तो वही रहीं पर वे लैटिन या रोमन लिपि में लिखी जाने लगीं। चिन्हों की एक खास प्रणाली निकाली गई, जिससे इन जबानों के खास स्वरों या शब्दों को ठीक तौर से जाहिर किया जा सके। मुस्तफा कमाल का भी ध्यान इस तरीके की तरफ़ गया और उसने इसे सीखा। उसने इसका प्रयोग तुर्की जबान पर किया और इसके पक्ष में व्यक्तिगत रूप से एक जबरदस्त आन्दोलन शुरू कर दिया। कई वर्षों के प्रचार और तालीम के बाद क़ानून के जरिये एक तारीख़ मुक़र्रर करदी गई जिसके बाद अरबी लिपि का इस्ते-माल क़ानूनन बन्द कर दिया गया और उसकी जगह लैटिन लिपि लाजिमी या अनि-वार्य कर दी गई। अखबार, किताबों और दूसरी सब चीजों का लैटिन लिपि में छपना जरूरी होगया। १६ से ४० वर्ष की उम्र के हर व्यक्ति को स्कूल में जाकर लैटिन लिपि सीखनी पडी। जो अधिकारी इसे नहीं जानते थे उन्हें बर्खास्त किया जा सकता था। अपनी सजा पूरी करनें के बाद भी कैदी तब तक न छोडे जाते जबतक वह नई लिपि सीख न लेते। एक डिक्टेटर, फिर अगर लोकप्रिय हुआ तो, कहीं निकलनें का रास्ता नहीं देता। शायद थोडी ही सरकारें यों जनता की जिन्दगी में इतना ज्यादा दखल देने की हिम्मत करेंगी।

इस तरह तुर्की में लैटिन लिपि क़ायम होगई, पर जल्दी ही दूसरी तब्दीली आई। पता चला कि अरबी और फ़ारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नहीं लिखे जा सकते। उनके खास स्वर या 'नुआंन्स' (nuances) यानी भावों के सूक्ष्म अन्तर इसमें जाहिर नहीं किये जा सकते। शुद्ध तुर्की शब्द इतने अच्छे या संस्कृत

नहीं थे; वे ज्यादा रूखे, कर्णकटु, सीधे और जोरदार थे और नई लिपि में आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह तय हुआ कि तुर्की जबान से अरबी फ़ारसी के शब्द निकाल दिये जायँ और उनकी जगह पर शुद्ध तुर्की शब्द रक्खे जायँ। इस फ़ैसले के पीछे एक राष्ट्रीय कारण भी था। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, कमालपाशा जहाँ तक मुमकिन हो, तुर्की को अरबी और पूर्वी प्रभावों से अलग रखना चाहता था। अरबी और फ़ारसी शब्दों और जुमलों और मुहावरों से भरी हुई पुरानी तुर्की जबान शाही उस्मानी दरबार की शानशौक़त से भरी जिन्दगी के लिए ठीक हो सकती थी, पर नये जोरदार तुर्की प्रजातंत्र के लिए वह ठीक नहीं समझी गई। इस तरह अच्छे और मँजे हुए शब्द छोड़ दिये गये और विद्वान प्रोफ़ेसर और दूसरे लोग किसानों की जबान सीखने और पुरानी तुर्की जबान से शब्दों की तलाश करने के लिए गाँवों में गये। अभीतक तब्दीली हो रही है। उत्तरी हिन्दुस्तान में हमारे लिए ऐसी तब्दीली का मतलब पुराने दरबारी जीवन की एक यादगार-सी लखनऊ और दिल्ली की अलंकृत पर बनावटी हिन्दुस्तानी को छोड़कर बहुतेरे ग्रामीण या 'गँवारू' शब्दों को ग्रहण, करना होगा।

भाषा की इन तब्दीलियों की वजह से शहरों और आदमियों के नामों में भी तब्दीली हुई। जैसा तुम जानती हो, अब कुस्तुनतुनिया इस्तम्बोल हो गया है, अंगोरा अंकारा बन गया है और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की में आदमियों के नाम ज्यादातर अरबी से लिये होते हैं। मुस्तफ़ा कमाल खुद एक अरबी नाम है। नई प्रवृत्ति शुद्ध तुर्की नाम रखने की चल पड़ी है।

एक और तब्दीली, जिससे आफ़त और मुसीबत आई, यह थी कि नमाज और अजाँ भी तुर्की जबान में होने का क़ानून बना दिया गया। मुसलमान सदा से नमाज मूल अरबी में ही पढ़ते रहे हैं; आज भी हिन्दुस्तान में उसकी यही सूरत है। इसलिए कितने ही मौलवियों और मस्जिदों के मुहाफ़िजों ने कहा कि यह अनुचित है और उन्होंने अरबी में ही नमाज पढ़ना जारी रक्खा। इस सवाल पर कई दंगे हुए और अब भी होते रहते हैं, पर कमालपाशा की मातहती में तुर्की सरकार ने दूसरे विरोधों की तरह इसे भी कुचल दिया है।

पिछले दस वर्षों की इन महान् सामाजिक उथल-पुथल ने जनता की जिन्दगी को बिलकुल बदल दिया है और पुराने रिवाजों और मजहबी बातों से अलग, एक नई पीढ़ी का विकास हो रहा है। गोकि ये तब्दीलियाँ काफ़ी बड़ी और महत्वपूर्ण हैं, पर उनसे देश के आर्थिक जीवन में कुछ ज्यादा फ़र्क नहीं पड़ा है। सिरे पर की चंद तब्दीलियों के अलावा उसका आधार वही है जो पहले था। कमालपाशा अर्थशास्त्री

ाँ है और न वह उन बडी तब्दीलियों के पक्ष में है जो सोवियट रूस में हुई हैं। लिए यद्यपि उसकी सोवियट रूस से राजनैतिक दोस्ती है, पर आर्थिक दृष्टि से वह म्यवाद से दूर रहता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके राजनैतिक और सामाजिक चार महान् फ्रेंच राज्यक्रान्ति के अध्ययन से बने हैं।

पेशेवर वर्ग को छोड़कर अभीतक तुर्की में कोई जोरदार मध्यमवर्ग नहीं है। ानियों और दूसरे विदेशी वर्गों के देश के बाहर भेज दिये जाने से व्यापारिक जीवन ज़ोर पड़ गया है। पर तुर्की सरकार अपनी आर्थिक आज़ादी को क़ुरबान करने जगह राष्ट्रीय ग़रीबी और धीरे-धीरे होनेवाले औद्योगिक विकास को कहीं ज्यादा पसंद करती है। चूंकि उसे डर है कि ज्यादा तादाद में विदेशी पूंजी देश में आने से आर्थिक आज़ादी को क़ुरबान करना पडेगा और बाद में उसकी वजह से विदेशों की लूट जारी हो जायगी, इसलिए उसने विदेशियों को उद्योग-व्यवसाय खोलने के मामले में अनुत्साहित किया है। विदेशी माल पर भारी चंगी लगाई गई है। कई उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होगया है, यानी जनता की तरफ़ से सरकार उनपर क़ब्ज़ा रखती और उन्हें चलाती है। रेलवे तेज़ी से बन रही है।

खेती में कमालपाशा की ख़ासतौर पर दिलचस्पी है, क्योंकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र और फ़ौज की रीढ़-सा रहा है। नमूने के खेत (माडल फार्म) बनाये गये हैं; ट्रैक्टरों (इंजिन से चलनेवाले बडे हलों) का प्रचार किया गया है और किसानों की सहयोग-समितियों को उत्तेजन दिया गया है।

आज, बाक़ी दुनिया की तरह, तुर्की भी महान् मंदी के चक्कर में फँसा हुआ है और अपनी गुज़र करना उसके लिए मुश्किल होरहा है। ग़ाज़ीमुस्तफ़ा कमाल पाशा देश का सर्वेसर्वा बना हुआ है, और यद्यपि कभी-कभी जहाँ-तहाँ बलवे और दंगे हो जाते हैं पर कोई ज्यादा जोरदार विरोध नहीं दिखाई देता है। कमाल १८८० में पैदा हुआ था और इस वक्त भी जीवन के मध्याह्न में है और उसके सामने कई वर्षों का काम फैला हुआ है।

: १६० :

हिन्दुस्तान गाँधीजी का अनुसरण करता है

११ मई, १९३३

अब मैं तुम्हें हिन्दुस्तान की हाल की घटनाओं के बारे में कुछ बताऊँगा। स्वभावतः दूसरे मुल्कों में होनेवाली घटनाओं की बनिस्बत इनमें हमारी ज्यादा दिलचस्पी है, और इसलिए मुझे अपने ऊपर नियंत्रण रखना पडेगा कि कहीं मैं बहुत ज्यादा

ब्यौरे की वातों में न चला जाऊँ। हमारी निजी दिलचस्पी के अलावा, जैसा मैं तुम्हें वता चुका हूँ, आज हिन्दुस्तान दुनिया की वडी समस्याओं या सवालों में से एक है। यह साम्राज्यवादी हुकूमत का एक नमूनेदार (Typical) और ऊँचे दर्जे का पुराना देश है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सारा ढाँचा इसपर खड़ा रहा है और इस सफल ब्रिटिश उदाहरण से दूसरे देश भी साम्राज्यवादी दुस्साहसिकता यानी कमजोर देशों को गुलाम वनाने और उनका शोषण करने के रास्ते पर चलने को ललचे हैं।

मैंने हिन्दुस्तान पर लिखे अपने पिछले ख़त में तुमसे उन तब्दीलियों का ज़िक्र किया है जो युद्ध के ज़माने में यहाँ हुईं। उसमें मैंने हिन्दुस्तानी उद्योगों और हिन्दुस्तानी पूँजीपति-वर्ग की वढ़ती और हिन्दुस्तानी उद्योगों के प्रति ब्रिटिशनीति के परिवर्तन की वात भी लिखी थी। हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड पर पड़नेवाला औद्योगिक और व्यापारिक दवाव वढ़ रहा था और राजनैतिक दवाव में भी वढ़ती हो रही थी। सारे पूर्व में एक राजनैतिक जागरण हो रहा था और युद्ध के वाद सारी दुनिया में क्षोभ और वेचैनी फैली हुई थी। हिन्दुस्तान में कभी-कभी हिंसात्मक क्रान्तिकारी घटनायें हो जाती थीं। जनता को वडी-वडी उम्मीदें थीं। ब्रिटिश सरकार ख़ुद समझ रही थी कि कुछ-न-कुछ करना चाहिए। उसने जाँच के वाद राजनैतिक क्षेत्र में कुछ तब्दीली करने की तजवीजें की थीं, जो माण्टेगू-चेल्म्सफोर्ड रिपोर्ट में वताई गई थीं। आर्थिक क्षेत्र में उसने वढ़ते हुए मध्यमवर्ग के सामने कुछ टुकडे फेंक दिये थे, पर इस वात की होशयारी रक्खी थी कि सत्ता और शोषण के क़िले उसीके हाथ में रहें।

युद्ध के वाद कुछ दिनों तक व्यापार फूलता-फलता रहा और वडी भारी समृद्धि का ज़माना आया जिसमें लोगों ने, ख़ासकर वंगाल के जूटवालों ने, ख़ूव मुनाफ़ा उठाया। इसमें तो सालाना मुनाफ़े की दर (Dividend) अक्सर सौ फ़ी सदी से भी ऊँची हो जाती थी। चीज़ों के दाम चढ़ गये और कुछ सीमा तक, पर चीज़ों के दाम की वढ़ती के मुक़ाविले कम, मजदूरी की दर भी वढ़ गई। दाम चढ़ जाने से वह मालगुज़ारी भी वढ़ गई जो काश्तकार ज़मींदार को देता था। इसके वाद मन्दी आई और व्यापार विगड़ने लगा। उद्योगों में लगे मजदूरों और काश्तकारों की हालत वहुत ख़राव होगई और असन्तोष ज़ोरों से वढ़ने लगा। इस दिन-दिन विगड़ती हुई हालत की वजह से कारख़ानों में वहुतेरी हड़तालें हुईं। अवध में, जहाँ ताल्लुक़ेदारी प्रणाली में ख़ासतौर से काश्तकारों की हालत वहुत ख़राव थी, क़रीव-क़रीव अपने-आप एक ज़ोरदार किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पढ़े-लिखे छोटे मध्यमवर्गों में वेकारी वढ़ गई और उनको वडी मुसीवत का सामना करना पड़ा।

युद्ध के वाद के ज़माने के शुरू दिनों की यह आर्थिक पार्श्वभूमि थी, और

अगर तुम इसका ख़याल रक्खो तो बाद की राजनैतिक घटनाओं के समझने में तुम्हें मदद देगी। देश में एक उग्र या सैनिक 'स्पिरिट' थी जो मुख़्तलिफ़ सूरतों में अपनेको जाहिर कर रही थी। उद्योग-धंधों में लगे हुए मजूर अपने मज़दूर-संघ बना रहे थे और बाद में उन्होंने अखिल-भारतीय मजूर संघ कांग्रेस (All India Trade Union Congress) का संगठन किया। छोटे-छोटे जमींदार और अपनी जमीन पर मिल्कियत रखनेवाले किसान सरकार से असन्तुष्ट थे और राजनैतिक कार्रवाई की तरफ़ झुक रहे थे। काश्तकार भी, चोट खाये हुए कीडे की तरह, उलटने की कोशिश कर रहे थे और मध्यमवर्ग, ख़ासतौर से उनमें वे लोग जो बेकार थे, निश्चित रूप में राजनीति की तरफ़ और उनमें से मुट्ठीभर क्रान्तिकारी कार्यो की तरफ़ झुक रहे थे। इन हालतों से हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और दूसरे सब एकसमान प्रभावित हुए थे, क्योंकि आर्थिक स्थितियाँ मजहबी तफ़ावत की तरफ़ बहुत कम ध्यान देती हैं। पर इन बातों के अलावा मुसलमान तुर्की के ख़िलाफ़ होनेवाली लड़ाई और इस शंका से ज्यादा उत्तेजित हो रहे थे कि कहीं ब्रिटिश सरकार 'जज़ीरत–उल–अरब' और उसके मक्का, मदीना और जरूसलम वग़ैरा पवित्र शहरों पर क़ब्ज़ा न करले। याद रक्खो कि जरूसलम यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों—तीनों का तीर्थस्थान है।

हिन्दुस्तान युद्ध के बाद इन्तजार कर रहा था। वह खीझ से भराहुआ बल्कि उग्र था। उसे ज्यादा उम्मीद तो न थी, फिर भी कुछ आस लगी थी। कुछ ही महीनों के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के पहले फल, जिनकी तरफ लोग बडी आस लगाय हुए थे, क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए ख़ास क़ानून बनाने की तजवीज की सूरत में सामने आगये। ज्यादा आजादी की जगह ज्यादा दमन आया। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर बनाये गये थे और रालट बिल के नाम से मशहूर हैं। पर बहुत जल्द वे सारे देश में 'काले बिल' (Black Bills) के नाम से पुकारे गये; हर जगह हर हिन्दुस्तानी, यहाँतक कि बहुत ज्यादा माडरेट लोगों द्वारा भी उनकी निन्दा की गई। उनमें सरकार और पुलिस को बहुत ज्यादा अख़्तियारात दे दिये गये थे। उनके मुताबिक़ पुलिस को अख़्तियार था कि जिससे वह नाराज हो या जिसपर उसका शुबहा हो उसे गिरफ्तार कर सकती, बिना मुक़दमा चलाये जेल में रख सकती और खुफ़िया मुक़दमा चला सकती थी। उस वक्त इन बिलों के बारे में एक मशहूर बयान यह था— "न वकील, न अपील, न दलील।" उधर बिलों की मुख़ालफ़त बढ़ती और जोरदार होती गई, इधर राजनैतिक क्षितिज पर एक नई चीज, एक छोटा-सा बादल प्रकट हुआ और तेजी से बढ़ने और फैलने लगा—यहाँतक कि उसने सारे भारतीय आकाश को ढक लिया।

यह नया तत्त्व—यह बादल मोहनदास करमचन्द गांधी था। वह युद्ध-काल में दक्षिण अफ़रीका से हिन्दुस्तान लौटा था और अपने साथियों के साथ साबरमती में एक आश्रम बनाकर रहता था। वह राजनीति से दूर रहता था। यहांतक कि उसने युद्ध के लिए सिपाहियों की भरती करने में सरकार की मदद की थी। दक्षिण अफ़रीका के अपने सत्याग्रह-युद्ध के कारण वह हिन्दुस्तान में अच्छी तरह मशहूर हो चुका था। १९१७ में (मैं यह सब याददाश्त के सहारे लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीख़ें ग़लत भी हो जायें) उसनें बिहार के चम्पारन जिले के निलहे गोरों के जुल्म के ख़िलाफ़ बडी कामयाबी के साथ दुखिया और पीड़ित काश्तकारों का नेतृत्व किया था। बाद में उसने गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों का साथ दिया था। १९१९ ई० के शुरू में वह बडे जोर से बीमार पड़ा। वह इस बीमारी से उठा ही था कि देश में राउलट बिल से कोहराम मच गया। उसने भी इस आम मुख़ालफ़त में अपनी आवाज मिलादी।

लेकिन उसकी आवाज दूसरों से कुछ जुदा थी। यह शान्त और धीमी थी, फिर भी सर्वसाधारण के शोर के ऊपर सुनाई देती थी। यह मुलायम और नम्र थी, फिर भी इसमें कहीं फौलाद (यानी फौलाद जैसा कड़ापन) छिपा हुआ था। यह मीठी और अपील से भरी हुई थी, फिर भी इसमें कोई दृढ़ और डरावनी चीज थी। उसमें इस्तेमाल किया हुआ हरेक लफ़्ज अर्थ से भरा हुआ था और उसके पीछे एक जबर-दस्त सचाई मालूम पड़ती थी। शान्ति और मित्रता यानी सुलह और दोस्ती की जबान के पीछे शक्ति और क्रिया की काँपती हुई छाया थी और ग़लती के आगे न झुकने का निश्चय था। अब तो हम इस आवाज से परिचित होगये हैं; हमनें पिछले चौदह वर्षों में कितनी ही बार इसे सुना। पर फरवरी और मार्च १९१९ में यह आवाज हमारे लिए नई थी। हम ठीक तरह नहीं जानते थे कि इसका क्या करना चाहिए, पर हम पुलकित हो उठे। निन्दा की हमारी शोरगुल-भरी राजनीति से यह कुछ एक बिलकुल जुदी चीज थी—उस राजनीति से जो सदा विरोध के फिजूल और बेअसर प्रस्तावों में, जिनपर कोई ज्यादा ध्यान न देता था, ख़त्म होती थी। पर यह उससे जुदा चीज थी। यह क्रिया की लड़ाई की राजनीति थी, बातचीत और बहस-मुबाहसे की राजनीति नहीं।

बापू ने उन लोगों की एक सत्याग्रह-सभा बनाई जो चुने हुए क़ानून को तोड़ने और उसके लिए जेल जानें को तैयार थे। उस वक़्त यह बिलकुल नया ख़याल था और हममें से बहुत-से इससे जोश में भर उठे और कितने ही सहमकर पीछे हट गये। आज तो यह (जेल) घटनाओं के लिए मामूली और सामान्य स्थान बन गया है और हममें से बहुतों के लिए हमारी जिन्दगी का एक निश्चित और नियमित हिस्सा बन गया है।

जैसा उनका क़ायदा है, बापू ने वाइसराय को एक नम्रतापूर्ण अपील और चेतावनी भेजी। जब उन्होंने देखा कि सारे हिन्दुस्तान के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार क़ानून पास करने पर तुली हुई है, तो उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में एक शोक-दिवस या मातम का दिन मनाने को कहा। तय हुआ कि उस दिन हड़ताल की जाय; सारे कारबार बंद रहें और सभायें की जायें। बिलों के क़ानून बन जाने के बाद का पहला रविवार इसके लिए चुना गया। इस दिन सत्याग्रह आन्दोलन की शुरुआत होने वाली थी और यों ६ अप्रैल १९१९ का रविवार सारे देश, शहरों और गाँवों में सत्याग्रह-दिवस के रूप में मनाया गया। यह अपने ढंग का पहला अखिल-भारतीय यानी सारे हिन्दुस्तान में होनेवाला प्रदर्शन था और यह बडा शानदार और प्रभावशाली रहा, जिसमें सब तरह के लोगों और जातियों ने हिस्सा लिया। हममें से जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिए काम किया था वे इसकी कामयाबी पर हैरत में आ गये। हम लोग सिर्फ शहर के थोडे लोगों तक पहुँच सके थे. पर हवा में एक नई 'स्पिरिट' आ गई थी और किसी तरह से वह संदेश हमारे विशाल देश के दूर-दूर के गाँवों तक पहुँच गया। पहली मर्तबा गाँववालों और शहरातियों ने बहुत बडे पैमाने पर एक राजनैतिक प्रदर्शन में हिस्सा लिया।

६ अप्रैल के एक हफ्ते पहले, तारीख़ के बारे में ग़लतफ़हमी होजाने से, दिल्ली ने ३१ मार्च को पडनेवाले रविवार के दिन ही हड़ताल मनाई थी। वे दिन दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों में भाईचारे की मुहब्बत के दिन थे और आर्यसमाज के मशहूर नेता स्वामी श्रद्धानन्द के जामा मस्जिद में बडी-बडी सभाओं के सामने भाषण देने का पवित्र दृश्य दिखाई पड़ा। ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने सड़कों पर जमा ज़बरदस्त भीड़ को तितर-बितर करने की कोशिश की और उसपर गोलियाँ भी चलादीं, जिससे कई आदमी मारे गये। अपने संन्यासी के वेश में लम्बे और महान् स्वामी श्रद्धानन्द ने, चाँदनी चौक में, खुले हुए सीने और न झपकनेवाली आँखों से गुरखों की किरचों का सामना किया। उन्होंने उन गुरखों की किरचों पर फतह हासिल की और इस घटना से सारा हिन्दुस्तान पुलकित हो उठा। पर इसकी 'ट्रेजेडी'—दुःख से भरी बात—यह है कि आठ से कम ही वर्षों बाद अपनी बीमारी में चारपाई पर पडे-पडे वह एक धर्मान्ध मुसलमान के हाथों, छुरा भोंककर, मार डाले गये!

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह-दिवस के बाद घटनायें तेज़ी से घटीं। जब अमृतसर में १० तारीख़ को निरस्त्र और नंगे सिर भीड़ पर, जो अपने नेताओं डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल की गिरफ़्तारी पर दुःख प्रकट करने के लिए इकट्ठी हुई थी, फौज ने गोली चलादी और कई आदमी मारे गये, तो एक दंगा होगया। भीड़ ने पाँच

या छः निर्दोष अंग्रेज़ों को, जो अपने दफ़्तरों में बैठे हुए थे, मारकर और उनके बैंकों के मकानों को जलाकर इसका पागलपन से भरा हुआ बदला लिया। उसके बाद तो जैसे पंजाब पर एक परदा छा गया। वह बाक़ी हिन्दुस्तान से ज़बरदस्त सेंसर के ज़रिये अलग कर दिया गया; मुश्किल से वहांकी कोई ख़बर आती थी और लोगों का इस सूबे में जाना या वहां से बाहर आना बड़ा मुश्किल था। वहां मार्शलला यानी फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया था और उसका हाहाकार कई महीनों तक जारी रहा। हफ़्तों और महीनों की हाहाकार-भरी चुप्पी के बाद धीरे-धीरे परदा उठा और उन ख़ौफ़नाक घटनाओं की सच्ची बातें लोगों को मालूम पड़ीं।

मैं यहां तुमसे पंजाब के फ़ौजी क़ानून की भयंकरताओं का ज़िक्र न करूँगा। अमृतसर के जलियाँवाला बाग़ में १३ अप्रैल को जो क़त्लेआम हुआ उसे सारी दुनिया जानती है। वहां उस मौत के पिंजडे में, जिससे भागने या बचने का कोई रास्ता न था, हज़ारों आदमी मारे गये और ज़ख़्मी हुए। अमृतसर लफ़्ज़ ही 'क़त्लेआम' का समानार्थवाची होगया है। यह हत्याकाण्ड तो बुरा था ही, पर सारे पंजाब में ऐसी और भी, और इससे भी अधिक लज्जाजनक, बातें हुईं।

इतने वर्षों के बाद भी इस सब बर्बरता और भयंकरता को क्षमा कर देना मुश्किल है, फिर भी इसे समझने में कोई मुश्किल नहीं है। अपनी हुकूमत के तरीक़े या स्वभाव के कारण हिन्दुस्तान में अंग्रेज सदा यह महसूस करते हैं कि वे किसी ज्वालामुखी के किनारे पर बैठे हुए हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान के दिल व दिमाग़ को बहुत कम समझा है और समझने की कोशिश भी शायद ही कभी की है। वे अपने लम्बे-चौडे और जटिल संगठन और उसके पीछे की फ़ौजी ताक़त पर विश्वास रखकर अपनी ज़िन्दगी अलग बसर करते रहे हैं। पर उनके सारे विश्वास के पीछे सदा किसी अज्ञात चीज़ का भय है और डेढ़ सौ वर्षों की हुकूमत के बाद भी हिन्दुस्तान उनके लिए एक अज्ञात प्रदेश है। उनके मन में १८५७ के ग़दर की स्मृतियां ताज़ा हैं और वे महसूस करते हैं कि जैसे वे एक अजीब, अपरिचित और विरोधी देश में रहते हैं जो किसी भी वक्त उनपर टूट सकता और उनके टुकडे-टुकडे कर दे सकता है। उनके ख़यालात की यह आम बुनियाद है। जब उन्होंने एक ऐसा बड़ा आन्दोलन देश में उठते हुए देखा जो उनके ख़िलाफ़ था, तो उनकी शंका बढ़ गई। जब १० अप्रैल को अमृतसर में हुए ख़ूनी कारनामों की ख़बर पंजाब के बडे-बडे अधिकारियों के पास लाहौर पहुँची तो वे स्थिर न रह सके। उन्होंने समझा कि १८५७ के ग़दर की तरह यह भी बडे पैमाने पर होनेवाली ख़ूनी बग़ावत है और सब अंग्रेज़ों की जान ख़तरे में है। उन्हें ख़ून दिखाई दिया और इसलिए उन्होंने जनता पर आतंक पैदा करना चाहा। जालियाँवाला-

बाग़ का हत्याकाण्ड, फ़ौजी कानून और बाद की घटनायें उनकी इसी मानसिक स्थिति रुख़ का परिणाम थीं।

कोई एक डरे हुए आदमी के बुरे बर्ताव को, फिर चाहे उसके डर का कोई वास्तविक कारण न भी हो, समझ सकता है, यद्यपि उसे माफ़ नहीं कर सकता। पर इससे भी ज्यादा हैरत और ग़ुस्सा हिन्दुस्तान को इस बात पर हुआ कि जनरल डायर ने, जो अमृतसर में हुई गोलीबारी और हज़ारों ज़ख़्मी आदमियों के प्रति जंगली उपेक्षा या लापरवाही के लिए जिम्मेदार था, कई महीने बाद भी बड़े अपमानजनक ढंग से अपने किये हुए कामों को ठीक बताया। ज़ख़्मी आदमियों के प्रति उसने अपनी उपेक्षा के बारे में कहा—"यह मेरा काम नहीं था।" इंग्लैण्ड में कुछ आदमियों और सरकार ने डायर की बड़ी हलकी आलोचना की थी। पर ब्रिटिश शासक-वर्ग का सामान्य रुख़ हाउस ऑफ़ लार्ड्स (पार्लमेण्ट की सरदार सभा) की बहस में दिखाई पड़ा, जिसमें जनरल डायर की प्रशंसा की झड़ी लगा दी गई। इन सब बातों ने हिन्दुस्तान में ग़ुस्से की आग को तेज रक्खा और पंजाब के ज़ुल्मों को लेकर सारे देश में कटुता छा गई। सरकार और कांग्रेस दोनों ने जाँच-कमेटियाँ बैठाईं कि वे पता लगावें कि पंजाब में असल में क्या घटनायें हुईं। देश ने उनकी रिपोर्ट का इन्तज़ार किया।

उस साल से १३ अप्रैल हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय दिवस रहा है और ६ अप्रैल से १३ अप्रैल, यानी आठ दिन तक, राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है। अब जालियाँवाला बाग़ एक राजनैतिक तीर्थ बन गया है। इस वक़्त यह बड़ी ख़ूबसूरती के साथ बनाया गया बाग़ है और इसकी ज्यादातर पुरानी भयंकरता दूर हो गई है, पर स्मृतियाँ वहाँकी हवा में अब भी छा रही हैं।

विचित्र संयोग से उस साल, दिसम्बर १९१९ में, कांग्रेस अमृतसर में हुई। दादू इसके सभापति थे और इसके सबसे नन्हे दर्शकों में से एक इन्दिरा प्रियदर्शिनी भी थी! इस कांग्रेस में कोई महत्वपूर्ण निश्चय नहीं हुआ, क्योंकि जाँच-कमेटियों की रिपोर्ट और नतीजे का इन्तज़ार था। पर यह साफ़ ज़ाहिर था कि कांग्रेस बदल गई है। अब उसका एक सार्वजनिक रूप होगया था और इसमें एक नई और कुछ पुराने कांग्रेसमैनों के लिए ख़तरनाक या चिन्ता-जनक ताक़त आगई थी। उसमें लोकमान्य तिलक भी आये थे, जो सदा की तरह किसी तरह का समझौता करने या झुकने के ख़िलाफ़ थे। यह कांग्रेस में उनका आख़िरी आना था, क्योंकि दूसरी कांग्रेस के पहले ही उनकी मृत्यु होनेवाली थी। उसमें बापू थे, जो सर्वसाधारण में लोकप्रिय थे और कांग्रेस और भारतीय राजनीति पर अपने प्रभुत्व के लम्बे युग की शुरुआत कर रहे थे। इस कांग्रेस में जेलों से छूटे हुए वे बहुतेरे नेता आये थे, जिन्हें

फ़ौजी क़ानून के दिनों में षड्यंत्र के भयंकर मुक़दमों में फँसाकर लम्बी सजायें दी गई थीं पर क्षमादान मिलने से छोड़ दिये गये थे। इनमें मशहूर अलीबन्धु (स्व० मौलाना मुहम्मदअली और शौक़तअली) भी थे जो कई वर्षों की नजरबन्दी के बाद हाल में ही छोडे गये थे।

दूसरे साल कांग्रेस ने ग़ोता मारा और बापू का असहयोग का कार्यक्रम मंजूर किया। कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें यह पास हुआ और बाद में नागपुर के सालाना जलसे में पक्के तौर पर स्वीकार किया गया। यह कार्यक्रम पंजाब और ख़िलाफ़त के जुल्मों को दूर करने के आधार पर बनाया गया था और बाद में उनके साथ स्वराज्य का प्रश्न भी जोड़ दिया गया। पंजाब के जुल्मों को दूर करने का मतलब वहाँके क़सूरवार अफ़सरों को सजा देना था। लड़ाई का तरीक़ा बिलकुल शान्तिपूर्ण---या जैसाकि उसे कहते थे अहिंसात्मक---था और सरकार को उसके शासन और हिन्दुस्तान के शोषण में मदद देने से इनकार करना इसका आधार था। विदेशी सरकार से मिले हुए ख़िताबों, सरकारी उत्सवों, अदालतों, सरकारी स्कूलों और कालेजों और माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के मुताबिक़ बनी नई कौंसिलों का बायकाट इसमें शामिल था। वकीलों को भी अदालतों का बायकाट करना था। यह तजवीज की गई थी कि बाद में दीवानी और फ़ौजी नौकरियों का भी बायकाट किया जायगा और टैक्स देने से इनकार कर दिया जायगा। रचनात्मक काम की दिशा में चर्खा और खादी का प्रचार और सरकारी अदालतों की जगह पंचायतें क़ायम करना रक्खा गया। और बडी महत्वपूर्ण बातें, जिनपर जोर दिया गया, हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओं के बीच से छुआछूत को दूर करना था।

कांग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया और कुछ काम करनेलायक़ संस्था बन गई। उसने सर्वसाधारण के लिए अपनी सदस्यता का दरवाजा भी खोल दिया।

अभीतक कांग्रेस जो कुछ करती रही थी उससे यह कार्यक्रम बिलकुल ही जुदा था। बल्कि सारी दुनिया के लिए यह एक नई बात थी, क्योंकि दक्षिण अफ़रीका में जो सत्याग्रह हुआ था उसका दृष्टिकोण और क्षेत्र बहुत छोटा था। अब इस कार्यक्रम का मतलब कुछ लोगों के लिए---जैसे वकीलों, जिन्हें वकालत छोड़ने को कहा गया था, और विद्यार्थियों, जिन्हें अपने कालेजों का बायकाट करना था, के लिए---तुरन्त बहुत बडी क़ुरबानी करना था। इसकी जाँच करना भी मुश्किल था, क्योंकि तुलना के लिए कोई पैमाना न था। इसमें ताज्जुब की बात नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेस-नेता इसमें शामिल होने से हिचकिचाये और शंकित होउठे। उनमें सबसे बडे नेता लोकमान्य तिलक थे, जिनकी मृत्यु कुछ ही पहले हो चुकी थी। दूसरे बडे

काँग्रेस-नेताओं में से सिर्फ़ दादू ने आन्दोलन की शुरुआत में गाँधीजी का समर्थन किया। पर औसत काँग्रेसमैन, मामूली आदमी या सर्वसाधारण जनता के उत्साह के बारे में कोई सन्देह न था। वापू जैसे उन्हें बहा या उड़ा ले गये या उनपर कोई जादू कर दिया। सर्वसाधारण ने 'गांधीजी की जय' के नारे से आसमान गुंजाकर अहिंसात्मक असहयोग के नये सिद्धान्त के प्रति अपनी मंजूरी जाहिर की। मुसलमान भी औरों की तरह उत्साह से भर रहे थे। अलीवन्धुओं के नेतृत्व में ख़िलाफ़त कमेटी ने इस प्रोग्राम को काँग्रेस के भी पहले मान लिया था। जल्द ही सर्वसाधारण के उत्साह और आन्दोलन की शुरू की कामयावियों को देखकर ज्यादातर पुराने काँग्रेस-नेता इसमें आ गये।

मैं इन ख़तों में, इस आन्दोलन के गुण-दोष अर्थात् अच्छाइयों और ख़रावियों, या इसके पीछे के तत्त्वज्ञान की जाँच नहीं कर सकता। यह एक वड़ा पेचीदा सवाल होगा। और शायद इसके जन्मदाता गाँधीजी के सिवा दूसरा कोई अच्छी तरह या संतोष-जनक रीति से इसे नहीं कर सकता। फिर भी हमें वाहरी आदमी की निगाह से इसे देखना चाहिए और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह इतनी तेजी और कामयावी के साथ क्यों फैल गया।

विदेशी शोषण में सर्वसाधारण जनता पर पड़नेवाले आर्थिक बोझ या दवाव और दिन-पर-दिन उनकी विगड़ती हुई हालत और मध्यम वर्गों में वढ़ती हुई वेकारी की चर्चा मैं तुमसे कर चुका हूँ। इसके लिए उपाय क्या था? राष्ट्रीयता के वढ़ने से लोगों का ध्यान राजनैतिक स्वतंत्रता की तरफ़ गया। लोगों ने समझा कि आजादी की सिर्फ़ इसीलिए जरूरत नहीं है कि आश्रित और ग़ुलाम होना वेइज्जती और शर्म की वात है; वह सिर्फ़ इसीलिए जरूरी नहीं है कि तिलक के लफ्जों में 'वह हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हमें उसे हासिल करना चाहिए', वल्कि अपनी क़ौम या राष्ट्र पर ग़रीवी का जो बोझ है उसको कम करने के लिए भी उसकी जरूरत है। जाहिर था कि चुपचाप वैठकर इस उम्मीद के साथ उसका इन्तजार करने से कि वह अपने-आप आ जायगी, वह नहीं मिल सकती। इसके साथ यह वात भी साफ़ जाहिर थी कि सिर्फ़ विरोध और प्रार्थना करने के तरीक़े, जिसपर कभी कम कभी जरा ज्यादा जोश से काँग्रेस अभीतक चल रही थी, एक क़ौम के लिए न सिर्फ़ उसकी मर्यादा या इज्जत के प्रतिकूल थे वल्कि फ़िजूल और वेअसर भी थे। इतिहास में ऐसे तरीक़ों से काम-यावी हासिल करने या शासन और सुविधा-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता छोड़ने पर मजवूर करने की कोई मिसाल न थी। इतिहास ने तो हमें वताया कि ग़ुलाम क़ौमों या वर्गों को उनकी आजादी हिंसात्मक विद्रोह यानी ख़ूनी वलवों और वग़ावत से ही हासिल हुई है।

पर सशस्त्र विद्रोह का हिन्दुस्तानी क़ौम के लिए कोई सवाल ही न था। हम निरस्त्र थे और हममें से ज्यादातर लोग हथियारों का इस्तेमाल करना भी नहीं जानते थे। इसके अलावा, हिंसात्मक संघर्ष या लड़ाई में ब्रिटिश सरकार या किसी भी राज्य की संगठित शक्ति उससे कहीं ज्यादा थी जितनी उसके ख़िलाफ़ खडी की गई कोई ताक़त होती। फ़ौजों में बलवा हो सकता था। पर निरस्त्र क़ौम बग़ावत नहीं कर सकती थी और न हथियारबन्द दलों और ताक़तों का सामना कर सकती थी। दूसरी तरफ़ व्यक्तिगत आतंकवाद यानी कुछ अफ़सरों को बम या पिस्तौल से मार डालना एक दिवालिये का कार्यक्रम था। यह जनता को नैतिक दृष्टि से गिरानेवाला था और यह सोचना महज़ ख़ामख़याली था कि यह एक ज़बरदस्त संगठित सरकार को हिला सकता है—फिर व्यक्तियों को वह चाहे कितना ही भयभीत क्यों न कर दे। जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, इस तरह व्यक्तिगत हिंसा रूसी क्रान्तिकारियों को भी छोड़ देनी पडी थी।

तब क्या बचता था? रूस अपनी क्रान्ति में कामयाब हो चुका था और उसने मज़दूरों का एक प्रजातंत्र क़ायम कर लिया था। उसका तरीक़ा फ़ौज की मदद से सर्वसाधारण की लड़ाई का तरीक़ा था। पर रूस में भी सोवियटों को कामयाबी उस वक़्त हासिल हुई थी जब महायुद्ध के कारण देश और पुरानी सरकार तहस-नहस हो रही थी और मुख़ालफ़त के लिए कुछ बचा न था। इसके अलावा उस ज़माने में हिन्दुस्तान में बहुत थोडे लोग रूस या मार्क्सवाद के बारे में कुछ जानते या मज़दूरों और किसानों के दृष्टिकोण से कुछ सोचते थे।

इसलिए इन सब तरीक़ों से हम कहीं न पहुँचते थे और इस बेइज्जती की ग़ुलामी की असह्य हालत से निकलने का कोई रास्ता नज़र नहीं आता था। जो लोग भावुक थे वे बडी ज़बरदस्त बेचारगी और मायूसी महसूस करते थे। यह वक़्त था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम पेश किया! आयर्लैण्ड के सिनफीन की तरह इसने हमें अपने पैरों खड़ा होना और अपनी ताक़त का निर्माण करना सिखाया और ज़ाहिर था कि सरकार पर दबाव डालने का यह एक बड़ा प्रभावशाली तरीक़ा है। सरकार हिन्दुस्तानियों के सहयोग, फिर चाहे वह सहयोग अपनी इच्छा से हो या अनिच्छा से हो, पर ही ज्यादातर खडी थी और अगर वह सहयोग हटा लिया जाय और बायकाट पर अमल किया जाय तो सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बिलकुल मुमकिन था कि सरकार का सारा ढाँचा बैठ जाय। मगर असहयोग वहाँतक न पहुँचे तो भी इसमें कोई शुबहा न था कि वह सरकार पर ज़बरदस्त दबाव डाल सकता और साथ-साथ जनता की ताक़त बढ़ा सकता है। यह पूरे तौर पर शान्तिपूर्ण था। फिर भी यह सिर्फ़ एक अप्रतिरोध (Non-Resistance)

नहीं था। सत्याग्रह अन्याय या ज़ुल्म के प्रतिरोध का एक निश्चित, यद्यपि अहिंसात्मक, तरीक़ा था। असल में यह एक शान्तिपूर्ण बग़ावत थी, युद्ध-कला का एक सबसे सभ्य तरीक़ा था, और फिर भी राज्य के लिए ख़तरनाक था। यह सर्व-साधारण के लिए अपनी ताक़त पहचानने और अपने अस्तित्व की रक्षा करने का एक प्रभावशाली रास्ता था और हिन्दुस्तानी जनता या क़ौम की विशेष प्रतिभा के अनुकूल था। यह हमारी स्थिति या वर्ताव को बहुत अच्छा रखता था और विरोधी या दुश्मन को ग़लती में डाल देता था। इसने हमारा वह भय दूर कर दिया था जो हमें कुचल रहा था और हम शासकों से इतनी निडरता से आँखें मिलाकर देखने लगे जैसा हमने कभी न देखा था और उनसे अपने दिल की बातें पूरे तौर पर और साफ़-साफ़ करने लगे। हमारे मन से एक बड़ा बोझ उठ गया और बोलने और काम करने की आज़ादी ने हमें आत्मविश्वास और शक्ति से भर दिया। फिर शान्तिपूर्ण तरीक़े के कारण वह भयंकर रूप से कटु जातीय और राष्ट्रीय घृणा काफी हद तक रुक गई जो ऐसी लड़ाइयों के साथ हमेशा पैदा होती और बढ़ती है, और इससे आख़री निबटारा आसान होगया।

इसलिए इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने, जिसके साथ गांधीजी का महान् व्यक्तित्व था, देश की कल्पना को ही जगा दिया और उसे आशा से भर दिया। यह फैलता गया और इसके स्पर्श से पुरानी कमज़ोरियाँ दूर होगईं। नई कांग्रेस ने देश के ज़्यादातर शक्तिमान तत्त्वों को अपनी तरफ खींच लिया और उसकी ताक़त और मर्यादा बढ़ गई।

इस दरमियान नये माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के मुताबिक़ नई कौंसिलें और असेम्बलियाँ बन चुकी थीं। माडरेटों ने, जो अब लिबरल नाम से पुकारे जाते हैं, उनका स्वागत किया था और उनमें मिनिस्टरी और दूसरे अधिकार के ओहदों को मंजूर कर लिया था। वे अमली तौर पर क़रीब-क़रीब सरकार में ही घुल-मिल गये थे और उनके पीछे जनता का बल न था। कांग्रेस ने इन कौंसिलों का बायकाट किया था, इसलिए देश में उनकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया। सबकी आँखें बाहर गाँवों और शहरों में होनेवाली लड़ाई की तरफ लगी हुई थीं। पहलीबार बहुत बड़ी तादाद में कांग्रेस-कार्यकर्ता गाँवों में पहुँचे थे। वहाँ कांग्रेस कमेटियाँ क़ायम की थीं, और गाँव वालों की राजनैतिक जागृति में मदद कर रहे थे।

मामला तूल पकड़ गया था और लाज़िमी तौर पर दिसम्बर १९२१ में भिड़न्त होगई। यह मौक़ा प्रिंस ऑफ़ वेल्स के हिन्दुस्तान आने का था। इस आगमन का कांग्रेस ने बायकाट किया था। सारे हिन्दुस्तान में बहुत बड़ी तादाद में गिरफ्तारियाँ हुई और

हजारों राजनैतिक क़ैदियों से जेलें भर गईं। हममें से ज्यादातर लोगों को जेल के अन्दर का पहला अनुभव उसी वक़्त हुआ। यहाँतक कि कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजन दास भी गिरफ्तार कर लिये गये और अहमदाबाद का कांग्रेस-अधिवेशन उनकी जगह हकीम अजमलखाँ की सदारत में हुआ। पर गांधीजी उस वक़्त गिरफ्तार नहीं किये गये और आन्दोलन बढ़ता गया। उन लोगों की तादाद जो अपनेको गिरफ्तारी और जेल के लिए पेश कर रहे थे, उससे हमेशा ज्यादा रही जितने कि गिरफ्तार किये जाते थे। चूँकि मशहूर नेता और कार्यकर्ता जेल भेज दिये गये, इसलिए नये, अनुभव-हीन और कभी-कभी अवांछनीय आदमियों ने (यहाँतक कि खुफिया पुलिस के आदमियों ने भी!) उनका स्थान ग्रहण किया; इससे कुछ अव्यवस्था और हिंसा भी हुई। १९२२ के शुरू में, युक्तप्रान्त में गोरखपुर के नजदीक चौरी-चौरा में किसानों की एक भीड़ और पुलिस के बीच भिड़न्त होगई। किसानों ने पुलिस चौकी को, जिसके भीतर कुछ पुलिस सिपाही भी थे, जला दिया। बापू को इस और दूसरी चन्द घटनाओं से बहुत दुःख हुआ, क्योंकि इनसे मालूम होता था कि आन्दोलन हिंसात्मक होता जा रहा है। इसलिए, उनकी राय मानकर, काँग्रेस-कार्यसमिति ने असहयोग का क़ानून तोड़नेवाला कार्यक्रम स्थगित कर दिया। इसके थोड़े ही दिनों बाद खुद बापू भी गिरफ्तार कर लिये गये, उनपर मुकदमा चला और उन्हें ६ वर्ष की सजा दी गई। यों असहयोग-आन्दोलन की पहली अवस्था ख़त्म हुई।

: ११ :

उन्नीस सौ बीस के बाद का भारत

१४ मई, १९३३

जब १९२२ ई० में सविनय अवज्ञा स्थगित कर दी गई तब असहयोग-आन्दोलन की पहली अवस्था ख़त्म हुई; पर, उसके स्थगित कर दिए जाने से, बहुत-से काँग्रेस-मैनों को बड़ा असन्तोष हुआ। बहुत बड़ी जागृति होगई थी और क़रीब-क़रीब तीस-हजार आदमी क़ानून तोड़ कर जेल गये थे। क्या इन सब बातों का कुछ विचार नहीं करना था और क्या आन्दोलन को एकाएक, बिलकुल बीच में, उद्देश्य पूरा होने के पहले, सिर्फ इसलिए स्थगित कर देना था कि कुछ जोशीले किसानों ने चौरीचौरा में बुरा बर्ताव किया था? आन्दोलन का उद्देश्य ख़िलाफ़त और पंजाब के जुल्मों और अन्यायों को ठीक करवाना और स्वराज्य हासिल करना था। ख़िलाफ़त का सवाल तुर्की में होनेवाली घटनाओं और कमालपाशा की कारगुजारियों से अपने आप ख़त्म

होगया था। पंजाब का सवाल स्वराज्य के बडे सवाल में मिल गया था; पर स्वराज्य अब भी बहुत दूर था। दिल्ली और मुख्तलिफ़ सूबों में खिलौने-सी कौंसिलें थीं, जिनका कांग्रेस ने बायकाट किया था। इन कौंसिलों के पास बहुत कम असली ताक़त थी; उनके कुछ सदस्य सरकारी अधिकारी थे, कुछ सरकार के नामजद किये हुए थे, और चुने हुए सदस्य भी सीमित मताधिकार यानी थोडे वोटरों की राय से चुने गये थे। तब क्या किया जाता ? उस वक्त गाँधीजी भी जेल में थे।

कांग्रेस ने इस सवाल पर गौर करने के लिए 'सिविल डिसओबिडियंस इनक्वायरी कमेटी' यानी 'सविनय अवज्ञा जाँच समिति' नाम की एक कमेटी नियुक्त की। सारे हिन्दुस्तान का दौरा करने और लम्बे बहस-मुबाहसे के बाद कमेटी ने जो रिपोर्ट पेश की उसकी वजह से काँग्रेस एक-दूसरे का विरोध करनेवाले दो दलों में बँट गई। एक दल जिसे परिवर्तनवादी दल कहा जाता था, असहयोग के बायकाट वाले कार्यक्रम में तब्दीली करने का तरफ़दार था और चाहता था कि कौंसिलों का बायकाट उठा लिया जाय; यानी वे कांग्रेसवालों के नई असेम्बलियों और कौंसिलों में जाने के तरफ़दार थे। उनका कहना था कि काँग्रेसवालों को वहाँ सरकार से सहयोग करने के लिए नहीं बल्कि कौंसिलों के अन्दर से सरकार के काम में अडंगा डालने के लिए जाना चाहिए। दूसरा यानी अपरिवर्तनवादी दल इस तब्दीली के खिलाफ़ था। चूंकि शुरू में काँग्रेस में अपरिवर्तनवादियों का बहुमत था, इसलिए कौंसिलों पर कब्जा करने के तरफ़दार दूसरे दल ने काँग्रेस के अन्दर दूसरी एक पार्टी कायम की। इसका नाम 'स्वराज्य दल' रक्खा गया और इसके मुख्य जन्म दाता देशबन्धु चित्तरंजन दास और दादू थे। समय पाकर इस दल का प्रभाव बढ़ गया और उसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया।

इस स्वराज्य दल को १९२३ के चुनाव में काफ़ी कामयाबी हासिल हुई और सभी कौंसिलों में स्वराजी बडी तादाद में चुने गये। पर सरकारी और नामजद सदस्यों की भारी तादाद के कारण बहुत ही कम कौंसिलों में उनका स्पष्ट बहुमत हो सका। इसलिए उन्होंने कौंसिल के अन्दर अपने काम के लिए और दलों से दोस्ती करनी शुरू की। इसका मतलब उन दलों के साथ समझौता और राजनैतिक सौदा हुआ जो ज्यादा नरम थे और उतनी दूर तक जाने को तैयार न थे। इसका मतलब अरुचिकर समझौता और आदर्शों का झुकाना था। इसका मतलब उन स्वराजी सदस्यों का, जो कौंसिलों में गये थे, सर्वसाधारण जनता की आवाज से विछुड़ना भी था, क्योंकि वे अपनी नकली पार्लमेंण्टों के तौर-तरीकों और छोटी-मोटी चालों में ज्यादा फँसते गये। उन्होंने कुछ जोरदार प्रस्ताव पास किये और साल का बजट पास करने से इन्कार कर दिया। सरकार ने उनके प्रस्तावों की उपेक्षा की और वाइसराय ने

बजट को सर्टीफाई यानी मंजूर कर लिया। ताक़त प्रस्तावों और वोटों का विषय नहीं थी, वह दूसरी बातों पर आश्रित थी। स्वराजी प्रस्तावों ने बडी हलचल पैदा की; पर यह जाहिर होगया कि उन पर जोर डालने या उन्हें पास कराने के लिए कुछ और भी करना पडेगा।

१९२० के बाद के जमाने में हिन्दुस्तान को जो मुख्तलिफ़ ताकतें और आन्दोलन हिला रहे थे, उन्हें समझने की हमें कोशिश करनी चाहिए। सबसे बड़ा सवाल हिन्दू-मुस्लिम सवाल था। तनातनी बढ़ रही थी और उत्तरी हिन्दुस्तान में मस्जिदों के आगे बाजा बजाने के हक़ जैसे छोटे सवालों पर कई जगह दंगे हो चुके थे। असहयोग के जमाने की उस दर्शनीय एकता के बाद यह एक अजीब और आकस्मिक परिवर्तन था। यह कैसे होगया और उस एकता का आधार क्या था ?

राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार मुख्यतः आर्थिक मुसीबत और बेकारी था। इसकी वजह से सभी वर्गों में ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ एक सामान्य भावना और स्वराज्य की स्पष्ट इच्छा पैदा होगई थी। यह विरोधी भाव ही जुदा-जुदा वर्गों के बीच एक मिलानेवाली कडी था। इसलिए सबने मिलकर आन्दोलन किया। पर इन विविध वर्गों का उद्देश्य अलग-अलग था। हर जमात के लिए स्वराज्य का एक जुदा अर्थ था—बेकार मध्यम वर्ग नौकरी या धन्धा चाहता था, किसान जमींदार द्वारा थोपे हुए अपने अनेक बोझों से राहत चाहता था, इसी तरह अलग-अलग जमातें अलग-अलग बातें चाहती थीं। मुसलमान इन सवालों पर एक मजहबी जमात की नजर से देखते हुए शामिल हुए थे। खास तौर पर खिलाफ़त के लिए उनकी जमात-की-जमात आन्दोलन में आ गई थी। यह एक शुद्ध मजहबी सवाल था, जिससे सिर्फ़ मुसलमानों पर असर पड़ता था। जो मुसलमान नहीं थे उनका इससे कुछ मतलब न था। पर बापू ने इसको ग्रहण किया और दूसरों को भी इसके ग्रहण करने को उत्साहित किया, क्योंकि वह मुसीबत में पडे भाई की मदद करना अपना फ़र्ज समझते थे। इससे उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को नजदीक लाने की भी उम्मीद की थी। इस तरह आम तौर पर मुसलमानों का दृष्टिकोण मुस्लिम राष्ट्रीयता या मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण था, सच्ची राष्ट्रीयता का नहीं। हाँ, उस वक्त इन दोनों तरह की राष्ट्रीयताओं के बीच की कशमकश जाहिर नहीं थी।

दूसरी तरफ़ राष्ट्रीयता की हिन्दू धारणा निश्चितरूप से हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना थी। इस मामले में हिन्दू राष्ट्रीयता और सच्ची राष्ट्रीयता के बीच ठीक-ठीक रेखा खींचना आसान नहीं था। दोनों एक-दूसरे से घुल-मिल गई थीं, क्योंकि सिर्फ़ हिन्दुस्तान ही हिन्दुओं का एक देश है और यहाँ उनका बहुमत है। इसलिए हिन्दुओं

के लिए मुसलमानों की बनिस्बत पूर्ण राष्ट्रवादी की शक्ल में जाहिर होना ज्यादा मुमकिन था, हालांकि हरेक अपनी ख़ास तरह की राष्ट्रीयता का हामी था।

तीसरे वह चीज थी जिसे सच्ची या भारतीय राष्ट्रीयता कहा जा सकता है और जो ऊपर बताई हुई दोनों मजहबी और साम्प्रदायिक राष्ट्रीयताओं से बिलकुल एक-जुदा चीज थी। यह उस तरह की राष्ट्रीयता थी जो पश्चिमी देशों में दिखाई पड़ती है और ठीक-ठीक कहें तो यही एक रूप है जिसे आजकल के अर्थ में राष्ट्रीयता कहा जा सकता है। इस तीसरी जमात में हिन्दू, मुसलमान और दूसरे लोग भी थे। १९२० से १९२२ तक, असहयोग आन्दोलन के जमाने में ये तीनों जमातें या तीनों तरह की राष्ट्रीयतायें एकसाथ मिल गई थीं। तीनों रास्ते अलग-अलग थे, पर थोडी देर के लिए समानान्तर दौड़ रहे थे।

१९२१ के सामूहिक आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार हैरत में आगई। उसे इसका नोटिस काफ़ी पहले मिल चुका था, पर वह यह नहीं सोच सकी कि इसके साथ क्या सलूक करना चाहिए या इसे कैसे सम्हालना चाहिए। उसने देखा कि वह अपनी गिरफ्तारी और सजा के पुराने सीधे तरीक़े से इसे दबा नहीं सकती, क्योंकि कांग्रेस खुद यही बात (गिरफ्तारी या सजा) चाहती थी। इसलिए उसके ख़ुफिया विभाग ने अन्दर से कांग्रेस को कमजोर करने का तरीक़ा निकाला। पुलिस एजेण्ट और खुफिया विभाग के आदमी काँग्रेस कमेटियों में पहुँचे और झगड़ा पैदा कर दिया। उन्होंने हिंसा को उत्तेजना दी, जिससे असहयोग के शान्तिपूर्ण उपायों में बाधा पडी और अव्यवस्था पैदा होगई। इस विचित्र तरह की शान्तिपूर्ण लड़ाई और हिंसा को साथ-साथ चलाना साफ़-साफ़ नामुमकिन था। हरेक दूसरे में दख़ल डालती थी या दूसरे के काम में दिक्क़त पेश करती थी। सरकारी अधिकारियों और खुफ़िया विभाग का दूसरा तरीक़ा यह था कि वे साधुओं और फ़क़ीरों के वेश में अपने खुफ़िया एजेण्टों को साम्प्रदायिक झगडे और दंगे खडे करने को भेजते थे।

ऐसे उपाय सदा ही उन सरकारों द्वारा किये जाते हैं जो जनता की स्वीकृति के बग़ैर जबरदस्ती उसपर हुकूमत करती हैं। साम्राज्यवादी सरकारों का कार-बार उन्हींके भरोसे चलता है। ऐसे उपायों को कामयाबी हासिल होती है, इससे जनता की कमजोरी और पिछडे होने का ही ज्यादा सबूत मिलता है, सरकार की गुनहगारी का उतना नहीं। दूसरे देश की जनता में भेद पैदा कर देना और उन्हें एक-दूसरे से लड़ाकर और यों कमजोर करके उनका शोषण करना खुद ही बड़प्पन और श्रेष्ठतर या बेहतर संगठन की निशानी है। यह नीति तभी कामयाब हो सकती है जब दूसरे पक्ष में फूट और झगडे हों। यह कहना कि ब्रिटिश सरकार ने

हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम सवाल पैदा किया, साफ़तौर पर झूठ होगा; पर उसने इसे क़ायम रखने या दोनों जातियों के मेल को अनुत्साहित करने की जो लगातार कोशिश की है, उसकी उपेक्षा करना भी ग़लत होगा।

असहयोग-आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने के वाद, १९२२ ई० में, ऐसी साजिशों के लिए जमीन अनुकूल थी। एक सख़्त लड़ाई के वाद, जो विना किसी नतीजे के एकाएक ख़त्म होगई, उसकी प्रतिक्रिया हो रही थी। तव वे मुख़्तलिफ़ सड़कें, जो एक-दूसरे के समानान्तर चल रही थीं, एक-दूसरे से दूर होने और भिन्न दिशाओं में जाने लगीं। ख़िलाफ़त का सवाल अव था ही नहीं। हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के जमाने में जनता के सामूहिक उत्साह से दब गये थे, अव मौक़ा देखकर फिर उठ खड़े हुए और सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने लगे। मध्यमवर्ग के वेकार मुसलमानों ने महसूस किया कि हिन्दुओं ने सव नौकरियों पर क़ब्जा जमा रक्खा है और हमारे रास्ते में काँटे हैं। इसलिए उन्होंने अपने वारे में जुदा वर्ताव करने और हर चीज में अलग हिस्सा दिये जाने की माँग की। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम सवाल में नौकरियों का झगड़ा और मध्यम श्रेणी का सवाल था। पर इसका असर सर्वसाधारण पर पड़ा।

सव मिलाकर हिन्दू कुछ अच्छी हालत में थे। अंग्रेजी तालीम को जल्दी इख़्तियार करने की वजह से ज्यादातर सरकारी ओहदों और कामों पर वही नियुक्त हुए। वे मुसलमानों की वनिस्वत मालदार भी थे। गाँव का वैंकर या साहूकार, वनिया था जो छोटे जमींदारों और काश्तकारों का शोषण करता था और धीरे-धीरे उन्हें विलकुल वेहाल या भिखमंगा कर देता था और तव ख़ुद उनकी जमीन पर क़ब्जा कर लेता था। वनिया हिन्दू और मुसलमान काश्तकारों और जमीन वालों में कोई भेद नहीं करता और उनका एक-सा ही शोषण करता है, पर उसके मुसलमानों के शोषण ने, ख़ासकर उन सूबों में जिनमें किसान ज्यादातर मुसलमान थे, साम्प्रदायिक रुख इख़्तियार किया। मशीन की वनी चीजों ने संभवतः हिन्दुओं की वनिस्वत मुसलमानों पर ज्यादा चोट की, क्योंकि मुसलमानों में कारीगर ज्यादा थे। इन सव वातों ने हिन्दुस्तान की दोनों वड़ी जातियों में कटुता बढ़ाने और उस मुस्लिम राष्ट्रीयता को मजवूत वनाने में मदद की जो देश की वनिस्वत जाति की तरफ़ देखती थी।

साम्प्रदायिक नेताओं की माँगें ऐसी थीं कि सच्ची राष्ट्रीय एकता की सारी उम्मीदों की जड़ पर चोट करती थीं। उन्हींके साम्प्रदायिक तरीक़े पर उनका मुक़ाविला करने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक संस्था सामने आई। यद्यपि वे अपनेको सच्चे राष्ट्रवादी—नेशनलिस्ट—कहते थे, पर दरअसल वे उतने ही संकीर्ण और साम्प्रदायिक

थे जितने कि दूसरे। उनकी राष्ट्रीयता हिन्दू छाप की थी। कुछ हद तक मालिक या खुशहाल (Haves) होने के कारण उन्होंनें 'सर्वहारा' या साधनहीन (Have-nots) लोगों के साथ अपनी चीजों की शिरकत यानी बँटवारा करना नापसन्द किया। इसमें शक नहीं कि असल में मालदारों (Haves) की तो एक तीसरी ही पार्टी थी और वह शासक शक्ति यानी हुकूमत करनेवाली ताक़त थी। वह टुकडों पर की इस लड़ाई का मजा लेती और फ़ायदा उठाती थी और असली खाना उसीके हाथ रहता था।

संस्था की हैसियत से और सामूहिकरूप में कांग्रेस साम्प्रदायिक संस्थाओं से अलग रही, पर कांग्रेसमैनों में से बहुतों को उनकी छूत लग गई। असली राष्ट्रवादियों––नेशनलिस्टों––ने इस साम्प्रदायिक पागलपन को रोकने की कोशिश की, पर उनको बहुत कम कामयाबी हुई और बडे-बडे दंगे हुए।

इस अंधाधुंधी को बढ़ाने के लिए एक तीसरी तरह की वर्गीय राष्ट्रीयता या फिरक़ेवाराना क़ौमियत उठ खडी हुई। यह सिक्ख राष्ट्रीयता थी। गुजरे हुए जमाने में सिक्खों और हिन्दुओं के बीच का फ़र्क़ बहुत धुंधला था। राष्ट्रीय जागृति ने जानदार सिक्खों को हिला दिया और वे अपनी एक ख़ास और जुदा हस्तीके लिए कोशिश करने लगे। उनमें एक बहुत बडी तादाद भूतपूर्व सिपाहियों की थी और इन लोगों ने एक छोटी पर बहुत अच्छी तरह संगठित जाति को, जो हिन्दुस्तान की ज्यादातर जमातों की तरह बातूनी न थीं बल्कि क्रियाशील थी, कठोर बना दिया। उनमें से ज्यादातर पंजाब में अपनी जमीन के मालिक किसान (जमींदार) थे और क़स्बों के बंकरों और शहरी स्वार्थों की वजह से उनपर मुसीबत आती थी। अलग वर्ग की सूरत में स्वीकार किये जाने की उनकी मांग के पीछे असली उद्देश्य यह था। शुरू में 'अकाली' आन्दोलन ने मजहबी सवालों या गुरुद्वारों की जायदाद पर क़ब्जा करने में दिलचस्पी लेनी शुरू की। अकाली-आन्दोलन नाम इसलिए पड़ा कि सिखों में अकाली सबसे क्रियाशील और जोरदार थे। इस सवाल पर सरकार से उनकी भिड़न्त होगई और अमृतसर के नजदीक 'गुरु-का-बाग़' में उन्होंनें साहस और सहनशीलता का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया। पुलिस ने अकाली जत्थों को बडी बुरी तरह मारा, पर उन्होंने एक क़दम पीछे न हटाया और न पुलिस पर हाथ चलाया। आख़िरकार अकालियों की विजय हुई और गुरुद्वारों और मठों पर उनका क़ब्जा होगया। तब वे राजनैतिक क्षेत्र में आये और अपने लिए बडी-बडी मांगें करने में दूसरे साम्प्रदायिक वर्गों से होड़ करने लगे।

मुख़्तलिफ़ जातियों या, जैसा मैंने कहा है, जातीय या वर्गीय राष्ट्रीयताओं की ये संकुचित साम्प्रदायिक भावनाएँ बडी दुःखद मालूम पड़ती थीं और सचमुच ही वैसी

थीं। फिर भी वे काफ़ी स्वाभाविक थीं। असहयोग ने हिन्दुस्तान को पूरी तरह से हिला दिया था और इन जातियों या वर्गों की जागृति और हिन्दू, मुसलमान और सिख राष्ट्रीयतायें उसका पहला नतीजा थीं। और भी बहुत-सी छोटी जमातें थीं जिनमें चेतना पैदा हुई। इनमें 'दलितवर्ग' नाम से पुकारे जानेवाले लोग भी थे। ये लोग एक जमाने से ऊँचे दर्जे के हिन्दुओं के जरिये दवा दिये गये थे और ज्यादातर खेतों में काम करनेवाले बेजमीन मजदूर थे। यह स्वाभाविक था कि जब उनमें चेतना आई तब अपनी बहुतेरी बाधाओं या असमर्थताओं से छुटकारा पाने की जबरदस्त इच्छा भी उनमें पैदा हुई और उन हिन्दुओं के प्रति कटुतापूर्ण क्रोध उनमें भर गया जिन्होंने सदियों से उनको दवा रक्खा था।

हरेक जागृतवर्ग राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की तरफ़ अपने ही स्वार्थों की रोशनी में देखता था। एक वर्ग या जाति हमेशा खुदगर्ज होती है, जैसे एक राष्ट्र भी स्वार्थी होता है, यद्यपि जाति या क़ौम में व्यक्ति निःस्वार्थ दृष्टिकोण रख सकते हैं। इस तरह हर वर्ग अपने हिस्से से बहुत ज्यादा चाहता था और संघर्ष का होना लाजिमी था। एक रुपये को पच्चीस या तीस आनों में तक़सीम करना मुमकिन नहीं है। ज्यों-ज्यों अन्तर्साम्प्रदायिक कटुता बढ़ी, हर वर्ग के ज्यादा जोशीले साम्प्रदायिक नेता आगे आते गये, क्योंकि गुस्से के वक़्त हरेक वर्ग अपना प्रतिनिधि उसी आदमी को चुनता है जो अपने वर्ग की माँगों को सबसे आगे और ऊँची रखता है और दूसरे वर्गों को सबसे ज्यादा गाली दे सकता है। इससे मामला और खराव होजाता है। सरकार ने इस कशमकश को बहुत-से तरीक़ों से, ख़ास तौरपर उग्र साम्प्रदायिक नेताओं को उत्साहित करके, बढ़ाया; इस तरह जहर फैलता गया और हम ऐसे शैतानी घेरे में फँस गये जिससे निकलने का कोई रास्ता दिखाई न देता था। इसे हिन्दुस्तान में अल्पमत का सवाल कहा जाता था और यह स्वराज्य के लिए एक जबरदस्त वाड़ होगया था।

जब ये शक्तियाँ और विनाशक प्रवृत्तियाँ हिन्दुस्तान में बढ़ रही थीं, गाँधीजी यरवडा-जेल में बडे जोर से बीमार पड़ गये और अपेंडिसाइटीज के लिए उनका आपरेशन हुआ। १९२४ के शुरू में वह जेल से छोड़ दिये गये। साम्प्रदायिक झगडों से वह बडे दुखी थे और कई महीनों वाद होनेवाले एक दंगे से उनको इतना धक्का लगा कि उन्होंने इक्कीस दिन का अनशन किया। तुम उनके इस अनशन के वक़्त दिल्ली में मौजूद थीं और शायद तुम्हें उसकी याद होगी। शान्ति क़ायम करने के लिए कई एकता-सम्मेलन हुए, पर उनका कोई ख़ास नतीजा न निकला।

इन साम्प्रदायिक झगडों और वर्गीय या जातीय राष्ट्रीयताओं का असर यह हुआ कि कांग्रेस और कौंसिलों की स्वराजपार्टी दोनों कमज़ोर होगई। स्वराज्य का

आदर्श अँधेरे में पड़ गया, क्योंकि ज्यादातर लोग अपने-अपने वर्ग की भाषा में सोचते और बोलते थे। चूंकि कांग्रेस किसी भी वर्ग की तरफ़दारी करने से अपनेको बचा रही थी, इसलिए उसपर सम्प्रदायवादियों द्वारा हर तरफ़ से हमला हो रहा था। यहाँ-तक कि अख़ीर में कांग्रेस के कितने ही मशहूर कार्यकर्ता भी साम्प्रदायिक राजनीति में फँस गये। इन दिनों कांग्रेस का ख़ास कार्यक्रम शान्ति के साथ संगठन करना और खादी का था और इसने उसे किसान जनता के सम्पर्क में रक्खा।

असेम्बली और कौंसिलों के स्वराजी या कांग्रेस दल और भी ज्यादा गिर गये। क्योंकि आम जनता का जीवनदायी स्पर्श उनसे छूट गया था। साम्प्रदायिक झगडे ने उन्हें कमज़ोर कर दिया, पर कौंसिलों के सदस्यों के सामने सरकार जो बहुत तरह के प्रलोभन बराबर रख रही थी वे उनके लिए इससे भी ज्यादा ख़तरनाक साबित हुए। उनके सामने न सिर्फ़ मिनिस्टरी और ओहदे थे, बल्कि बेशुमार कमेटियों और कमीशनों की मेम्बरी और सरकारी ख़र्चे से कभी-कभी योरप की सैर कर आने का प्रलोभन भी था। कांग्रेस ने मिनिस्टरी और दूसरे पदों का बायकाट किया था और वह आख़ीर तक इस नीति पर डटी रही। पर दूसरे मामलों में इसमें भी कमजोरी आगई और एक क़दम के बाद दूसरा क़दम बढ़ता गया। कौंसिलों के बहुत-से कांग्रेसी सदस्यों ने अपनी स्थिति का, जिसे उन्होंने कांग्रेस की मदद के ज़रिये हासिल किया था, अपने निजी फ़ायदे के लिए नाजायज इस्तेमाल किया। कुछ ने, योरप के मजदूर नेताओं की तरह, उन ऊँचे सरकारी ओहदों तक पहुँचने के लिए इसरो सीढी का काम लिया जहाँ से वे कांग्रेस-आन्दोलन को कुचलने में सरकार की मदद करते!

राबर्ट ब्राउनिंग की 'खोया हुआ नेता' (The Lost Leader) नाम की एक छोटी-सी भावपूर्ण कविता है, उसमें से चन्द लाइनें मैं यहाँ दूंगा :—

> Just for a handful of silver he left us,
> Just for a riband to stick in his coat—
> Found the one gift of which fortune bereft us,
> Lost all the others she lets us devote;
> They, with the gold to give, doled him out silver,
> So much was theirs who so little allowed:
> How all our copper had gone for his service!

अर्थात् —"सिर्फ़ चांदी के चन्द टुकड़ों के लिए उसने हमें छोड़ दिया—बस अपने कोट पर (उपाधि या तमग़े का) एक फ़ीता लगाने के लिए। उसने सिर्फ़ एक चीज़ पाई, जिससे क़िस्मत ने हमें महरूम रक्खा था, और उन सबको खो दिया जो उसने (क़िस्मत ने) हमें उसे अर्पित करने को दी थीं। जिनके पास देने के लिए सोना था उन्होंने उसे चाँदी के टुकड़े दिये; उनके पास बहुत था, पर इतना थोड़ा

दिया। उसकी सेवा के लिए किस तरह सारा ताँवा—सारे पैसे—हमने दे दिया था !"

ऊपर मैंने अपनी साम्प्रदायिक मुसीवतों के वारे में तुमको जरा विस्तार से लिखा है, क्योंकि १९२० के वाद की हमारी राजनैतिक जिन्दगी में उनका महत्वपूर्ण भाग रहा है। फिर भी हमें उनके वारे में अतिशयोक्ति या ज्यादा वढ़ाकर वात नहीं करनी चाहिए। आजकल उनको उससे ज्यादा महत्व देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है जितना कि देना चाहिए और एक मुसलमान लड़के और हिन्दू लड़के में होनेवाला हरेक झगड़ा साम्प्रदायिक समझ लिया जाता है और हरेक छोटे दंगे का वड़ा प्रचार किया जाता है। हमें याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान एक वहुत वड़ा देश है और हजारों कस्वों और गाँवों में हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के साथ वडी शान्तिपूर्वक रहते हैं और उनके वीच कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं है। आमतौर पर इस तरह के झगडे थोडे-से शहरों में ही होते हैं, यद्यपि कभी-कभी वे गाँवों में भी फैल जाते हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक सवाल असल में मध्यम श्रेणी का सवाल है, और चूंकि हमारी राजनीति पर मध्यम वर्ग—कांग्रेस में, कौंसिलों में, अखवारों में, और दूसरे सव तरह के कामों में—हावी है, इसलिए इसको ज्यादा और अनुचित महत्व मिल जाता है। किसान वोलना—अपने को व्यक्त या जाहिर करना—नहीं जानते, अभी हाल के चन्द सालों से ही वे गाँवों की कांग्रेस कमेटियों और किसान-सभाओं और इस तरह की दूसरी संस्थाओं में हिस्सा लेने लगे हैं और यों उनकी राजनैतिक हस्ती शुरू ही हुई है। शहरों के, खास तौर पर वडे-वडे कारखानों के, मजदूर ज्यादा जागृत हैं और उन्होंने मजदूर-संघ की शक्ल में अपना संगठन भी कर लिया है। पर कारखानों के ये मजदूर, और उनसे भी ज्यादा किसान, मध्यम श्रेणी से आये हुए व्यक्तियों की तरफ़ ही अपने नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन के लिए देखते हैं। अव हमें यह देखना है कि उस जमाने में सर्वसाधारण जनता, किसानों और कारखानों के मजदूरों की क्या हालत थी।

महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योगों में जो तेजी की तरक्क़ी हुई थी वह शान्ति के वाद भी कुछ वर्षो तक जारी रही। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी भरने लगी और नये कारखानों और उद्योगों को चलाने के लिए वहुत-सी नई कम्पनियों की रजिस्ट्री हुई। खास तौर पर वडी औद्योगिक पेढ़ियों और कारखानों में विदेशी पूंजी लगी थी। इस तरह वडे उद्योगों पर अमली तौर पर ब्रिटिश पूंजीवादियों का नियंत्रण क़ायम हो गया था। कुछ साल हुए तव अन्दाज लगाया गया था कि हिन्दुस्तान में व्यवसाय करनेवाली कम्पनियों की ८७ प्रतिशत पूंजी ब्रिटिश थी, और संभवतः यह अन्दाज भी कम ही है। इस तरह हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन का वास्तविक आर्थिक प्रभुत्व या नियंत्रण

बढ़ गया। बड़े-बड़े शहर गाँवों के बल पर नहीं, छोटे शहरों के बल पर, यानी उनकी हानि करके, खड़े होगये। कपड़े का उद्योग ख़ास तौर पर बढ़ गया और इसी तरह खाने-पीने की चीज़ों के दामों में भी बढ़ती हुई।

बढ़ते हुए औद्योगीकरण यानी बड़े-बड़े कल-कारख़ाने की बढ़ती के नये सवालों पर ग़ौर करने के लिए सरकार ने बहुतेरी कमेटियाँ और कमीशन बैठाये। इन कमेटियों और कमीशनों ने सिफ़ारिश की कि विदेशी पूंजी को उत्साहित करना चाहिए। इन्होंने आम तौर पर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश औद्योगिक स्वार्थों के प्रति पक्षपात किया। हिन्दुस्तानी उद्योगों की रक्षा के लिए एक टैरिफ़ बोर्ड बनाया गया। पर, जैसा कि मैंने कहा है, इस संरक्षण का मतलब बहुत-से मामलों में हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी का संरक्षण है। इन संरक्षित चीज़ों का दाम स्वभावतः बाज़ार में बढ़ गया, क्योंकि उनको चुंगी (Duty) देनी पड़ती थी और इससे उस हद तक गुज़र-बसर का ख़र्च बढ़ गया। इस तरह संरक्षण का बोझ असल में सर्वसाधारण जनता या इन चीज़ों के ख़रीदारों पर पड़ा और कारख़ानेदारों को एक संरक्षित बाज़ार मिल गया जिससे प्रतिद्वन्द्विता हटाली गई थी या कम हो गई थी।

कारख़ानों के बढ़ने से, क़ुदरती तौर पर, उद्योग-धंधों से मजदूरी कमानेवाले लोगों की तादाद भी बढी। बहुत पहले, १९२२ में, सरकार के अन्दाज से हिन्दुस्तान में इस वर्ग म दो करोड़ आदमी थे। गाँवों के आदमी, जिनके पास ज़मीन नहीं थी और जो बेकार थे, इस वर्ग में शामिल होने के लिए खिंचते गये और उनको शोषण की शर्मनाक हालत को बरदाश्त करना पड़ा। सौ वर्ष पहले, बड़े कारखानों की प्रणाली की शुरुआत के ज़माने में, इंग्लैण्ड में जो हालत थी, वही अब हिन्दुस्तान में थी—रोजाना काम का भयंकर लम्बा वक्त, दुःखदाई मजदूरी की दर, नीचे गिराने और तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचानेवाली जीवन-प्रणाली। कारखानेदारों के वर्ग की निगाह सिर्फ एक ही बात पर थी और वह यह कि इस खुशहाली के ज़माने में ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफ़ा उठाकर दौलत जमा करली जाय। कुछ साल तक उन्हें इस काम में खूब कामयाबी भी हुई। वे बड़ा ऊँचा मुनाफ़ा उठाते रहे; उधर मजदूरों की हालत वैसी ही ख़राब बनी रही। मजदूरों को इन ऊँचे मुनाफ़ों में, जिन्हें उन्होंने पैदा किया था, कोई हिस्सा न मिलता था; पर बाद में जब खुशहाली और चढ़ती के ज़माने के बाद मन्दी आई और व्यापार ढीला पड़ गया, तब मजदूरों से मजदूरी कम करके इस बदकिस्मती और घाटे में हिस्सा लेने को कहा गया, क्योंकि मजदूरी में कटौती हुए बिना धंधे और उद्योग को मुनाफ़े पर नहीं चलाया जा सकता था और मालिकों के मुनाफ़ा उठाये बिना कोई उद्योग कैसे चल सकता था?

ज्यों-ज्यों मजदूरों के संगठन यानी मजदूर-संघ बढे, मजूरी की अच्छी हालतों, काम के कम घण्टों और ज्यादा मजदूरी की माँगें भी उनके साथ बढीं। कुछ इससे और कुछ सारी दुनिया की इस माँग के कारण कि मजदूरों के साथ अच्छा सलूक किया जाना चाहिए, सरकार ने कारखाने के मजदूरों की हालत सुधारनें के लिए बहुत-से क़ानून पास किये। मैं किसी पिछले ख़त में तुमको फैक्टरी क़ानून के पास होने की बात बता चुका हूँ। इस क़ानून में यह तजवीज़ रक्खी गई कि १२ से १५ वर्ष तक के लड़के एक दिन में ६ घण्टे से ज्यादा काम न करें। इसी तरह से स्त्रियों और लड़कों के लिए रात को काम करने की भी मनाई थी। बालिग मर्दों और स्त्रियों के लिए ज्यादा-से-ज्यादा ग्यारह घण्टे का दिन या ६० घण्टे का सप्ताह (एक काम का हफ़्ता जो ६ दिनों का होता है) की तजवीज़ थी। बाद की थोडी-बहुत तब्दीलियों के साथ यह फैक्टरी क़ानून अभीतक जारी है।

उन दुखिया मजदूरों के संरक्षण के लिए जो खानों में, खास तौर पर कोयले की खानों में, ज़मीन के नीचे काम करते हैं, १९२३ में एक इंडियन माइंस ऐक्ट या 'हिन्दुस्तानी खान क़ानून' पास हुआ। १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ज़मीन के नीचे काम करने की मनाई करदी गई, पर स्त्रियाँ काम करती रहीं—यहाँतक कि कुल मजूरों में आधी स्त्रियाँ ही थीं। बालिग लोगों के लिए ६ दिन के हफ़्ते का ज्यादा-से-ज्यादा काम यों निश्चित किया गया था—ज़मीन के ऊपर ६० घण्टे और ज़मीन के नीचे काम करने के लिए ५४ घण्टे। मैं समझता हूँ कि एक दिन काम लेने का ज्यादा-से-ज्यादा समय १२ घण्टे है। मैं काम के इन घण्टों की चर्चा इसलिए कर रहा हूं कि तुमको मजदूरों की हालत का कुछ इल्म होजाय। इसकी मदद से भी तुम्हें उन की हालत का बहुत थोड़ा ही इल्म हो सकता है, क्योंकि उनके बारे में ठीक और पूरे तौर पर विचार बनाने के पहले तुम्हें इसके अलावा मजदूरी की दर, रहन-सहन की हालत वग़ैरा की जानकारी भी होनी चाहिए। यहाँ हम इन बातों में नहीं जा सकते, पर यह महसूस करने की बात है कि किस तरह लड़कों और लड़कियों, स्त्री और पुरुषों को महज़ थोडी मजदूरी के लिए, जो किसी तरह सिर्फ उनको जिन्दा रखती है, इन कारखानों में ग्यारह-ग्यारह घण्टे रोज़ काम करना पड़ता है। कारखानों में जिस तरह का मनहूस और उबा देनेवाला काम वे करते हैं वह भयंकर रूप से थका देनेवाला या दिल को गिरा देने वाला होता है। उसमें कोई आनन्द नहीं और जब वे बिलकुल थके हुए चूर-चूर होकर घर जाते हैं तो सारे कुटुम्ब को छोटी कोठरी, बल्कि माँद में, सफ़ाई और टट्टी-पेशाब की सहूलियतों बग़ैर रहना पड़ता है।

कुछ और भी क़ानून पास हुए, जिनसे मजदूरों को कुछ मदद मिली। १९२३ में

वर्कमेन्स कम्पेनसेशन ऐक्ट (मज़दूरों के मुआवज़े का क़ानून) पास हुआ, जिसमें दुर्घटनाओं के कारण मज़दूर को कुछ मुआवज़ा देने की तजवीज़ की गई। १९२६ में एक 'ट्रेड यूनियन ऐक्ट' भी पास हुआ जिसमें मजदूर-संघ बनाने और उनकी स्वीकृति के नियम थे। इन दिनों हिन्दुस्तान, और ख़ासकर बम्बई में मज़दूर-संघ (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन तेजी से बढ़ा। एक 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' बनाई गई, पर चन्द सालों के बाद वह दो टुकडों में बँट गई। महायुद्ध और रूसी क्रान्ति के ज़माने से, सारी दुनिया के मज़दूर दो दलों में बँट रहे थे और दो मुख्तलिफ दिशाओं में जा रहे थे। पुराने कट्टर और माडरेट मज़दूर संघ द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (सेकेण्ड इंटरनेशनल, जिसके बारे में मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ) में शामिल थे। दूसरी तरफ नया और ज़ोरदार आकर्षण सोवियट रूस और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ यानी 'थर्ड इंटरनेशनल' का है। इससे हर जगह माडरेट और कारख़ानों के ज़रा अच्छी हालत वाले मज़दूर सुरक्षितता और 'सेकण्ड इंटरनेशनल' की तरफ देखते हैं और जो ज्यादा क्रान्तिकारी हैं वे 'थर्ड इंटरनेशनल' की तरफ देखते हैं। यह खिंचावट या रस्साकशी हिन्दुस्तान में भी हुई और १९२९ ई० के अखीर में अलगाव होगया। तबसे हिन्दुस्तान में मज़दूर-आन्दोलन कमजोर पड़ गया। इन दोनों दलों को एक में मिलाने की कई बार कोशिशें हुई, पर अभीतक उनमें कोई कामयाबी हासिल नहीं हुई है।

किसानों के बारे में मैं उससे कुछ बहुत ज्यादा यहाँ नहीं बता सकता, जितना पिछले ख़तों में लिख चुका हूँ। उनकी हालत ख़राब होती जाती है और वे साहूकार (ऋणदाता) के क़र्ज से दिन-दिन ज्यादा दबते जाते हैं। छोटे ज़मींदार, वे किसान जो अपनी ज़मीन के ख़ुद मालिक हैं, और काश्तकार सब रुपया क़र्ज देनेवाले बनिये और साहूकार के जाल में फँसते जाते हैं। चूंकि क़र्ज अदा करना नामुमकिन है, इसलिए धीरे-धीरे ज़मीन इस ऋण देनेवाले यानी बनिये या साहूकार के हाथ में चली जाती है और काश्तकार उसका दोहरा गुलाम होजाता है, क्योंकि वही (बनिया) अब उसका ज़मींदार और साहूकार दोनों होजाता है। आम तौर पर यह बनिया ज़मींदार शहर में रहता है और उसके और उसके काश्तकारों के बीच कोई सीधे या गहरे ताल्लुकात नहीं होते। उसकी तो सदा यह कोशिश होती है कि भूखों मरते हुए किसानों से ज्यादा-से-ज्यादा जितना रुपया मिल सके वसूल किया जाय। पुराना ज़मींदार ख़ुद किसानों के बीच रहता था, इसलिए कभी-कभी उनपर दया भी कर देता था। साहूकार ज़मींदार, जो उनसे दूर शहर में रहता है और अपने गुमाश्तों या कारिन्दों को रुपया उगाहने के लिए भेजता है, ऐसी कमजोरी शायद ही कभी दिखाता हो।

खेतिहरों पर कितना कर्ज है, इसके मुख्तलिफ़ सरकारी तख़मीने सरकारी कमेटियों ने लगाये हैं। १९३० में यह तख़मीना लगाया गया था कि बरमा को छोड़कर सारे हिन्दुस्तान के कृषिजीवी वर्गों पर कुल कर्ज़ ८०३ करोड यानी ८ अरब३ करोड़ रुपयों का है। इसमें ज़मींदारों और किसानों दोनों के कर्ज़ शामिल हैं। पिछले तीन वर्षों की आर्थिक मन्दी में यह कर्ज बहुत बढ़ गया होगा।

इस तरह कृषिजीवी (खेती पर गुज़र करनेवाले) वर्ग, छोटे ज़मींदार और काश्तकार, एकसमान दलदल में दिन-दिन ज्यादा नीचे डूबते जा रहे हैं और सिवा इस क्रान्तिकारी तरीक़े के कि आजकल की भूमि-प्रणाली की जड़ को काट दिया जाय, उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है। इंग्लैण्ड से खर्चीले कमीशन हिन्दुस्तान आते हैं और स्पेशल ट्रेनों में सारे देश का चक्कर काटते हैं और ऊँची आवाज में, ऊपरी और दिखाऊ सुधार के उपाय बताते हैं। हाल के सालों में इस तरह के दो 'रायल कमीशन'—कृषि-कमीशन और मजदूर-कमीशन—आ चुके हैं। टैक्सों का तरीक़ा कुछ ऐसा है कि सबसे ग़रीब वर्ग पर सबसे ज्यादा बोझ पड़ता है, जिसे वह बर्दाश्त करने में समर्थ नहीं है। फ़ौज, सिविल सर्विस और दूसरे ब्रिटिश ज़िम्मेदारीवाले महकमों के, जिनसे सर्वसाधारण का कोई फायदा नहीं, खर्च बढ़ते जाते हैं। शिक्षा पर प्रति व्यक्ति क़रीब ९ पेंस (आठ आना) ख़र्च है, जबकि ब्रिटेन में २ पौण्ड १५ शिलिंग (क़रीब ३६ रुपया १०½ आना) प्रति व्यक्ति है। इस तरह ब्रिटेन शिक्षा पर प्रति व्यक्ति हमसे ७३½ गुना ख़र्च करता है।

आबादी पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय क्या है, इसका अन्दाज लगाने की अकसर कोशिश की गई है। यह एक मुश्किल मामला है और अन्दाज में फ़र्क होना स्वाभाविक है। दादाभाई नौरोजी ने १८७० ई० में २० रुपया सालाना प्रति व्यक्ति का अन्दाज किया था। हाल के तख़मीने ६७ रुपया प्रति व्यक्ति तक पहुँचे हैं—यहाँतक कि कुछ अंग्रेजों द्वारा सबसे बढ़ाकर बनाये गये तख़मीने भी ११६ रुपये से ज्यादा नहीं जाते। दूसरे देशों से इसका मुक़ाबिला करना बड़ा दिलचस्प होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में प्रति व्यक्ति औसत १,९२५ रुपये का है और तबसे यह और बढ़ गया है; ब्रिटेन में यह १,००० रुपये प्रति व्यक्ति है। कैसा जबरदस्त अन्तर है!

: १६२ :

भारत में शान्तिपूर्ण विद्रोह

१७ मई, १९३३

हिन्दुस्तान और उसके भूतकाल के बारे में मैंने तुमको बहुतेरे दूसरे मुल्कों की बनिस्बत कहीं ज्यादा ख़त लिखे हैं; पर भूतकाल अब वर्तमान में मिलता जा रहा है और यह ख़त, जिसे मैं शुरू कर रहा हूँ, कहानी को आज के हिन्दुस्तान तक पहुँचा देगा। मैं हाल की चन्द घटनाओं का जिक्र करूँगा, जो हमारे मन में ताज़ा हैं। उनके बारे में लिखने का वक्त तो अभी नहीं आया है, क्योंकि अभी कहानी अधूरी ही है। पर सब इतिहास वर्तमान में पहुँचकर एकाएक ही ख़त्म होजाते हैं और कहानी के बाक़ी अध्याय भविष्य के गर्भ में छिपे रह जाते हैं। और सच पूछें तो कहानी कभी ख़त्म नहीं होती; वह आगे चलती ही जाती है।

१९२७ के अख़ीर में ब्रिटिश सरकार ने ऐलान किया कि वह भावी सुधारों और सरकार के ढाँचे में तब्दीलियों के बारे में जाँच करने के लिए एक कमीशन भेजेगी। सारे राजनैतिक भारत ने इस ऐलान पर ग़ुस्सा और विरोध ज़ाहिर किया। कांग्रेस ने इसका विरोध इसलिए किया कि वह यों समय-समय पर हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता की योग्यता की जाँच किये जाने के विचार के ही सख़्त खिलाफ़ थी। हिन्दुस्तान पर जबतक हो सके अपना क़ब्ज़ा क़ायम रखने की अंग्रेज़ों की जो हार्दिक इच्छा है उसपर परदा डालने के ख़याल से वे इस वाक्य का प्रयोग करते थे। कांग्रेस ने बहुत पहले से देश के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार का दावा किया था—राष्ट्रों के उसी अधिकार का जिसको लेकर मित्र-राष्ट्रों ने महायुद्ध के जमाने में इतना शोर मचाया था। उसने ब्रिटिश पार्लमेण्ट-के हिन्दुस्तान के साथ मनमाना बर्ताव करने या उसके भावी भाग्य का अन्तिम निर्णायक होने के अधिकार को मानने से इनकार कर दिया। इस आधार पर कांग्रेस ने नये पार्लमेण्टरी कमीशन का विरोध किया। हिन्दुस्तान के माडरेट वर्गों ने दूसरे कारणों से कमीशन का विरोध किया, जिसमें ख़ास वजह यह थी कि उसमें कोई हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं था। यह एक शुद्ध ब्रिटिश कमीशन था। यद्यपि विरोध के कारण अलग-अलग थे, पर यह बात सच थी कि हिन्दुस्तान के सब वर्गों ने, सबसे अधिक नरम माडरेटों ने भी, मिलकर इसकी निन्दा की और इसके बायकाट का समर्थन किया।

इसी वक्त के क़रीब, दिसम्बर १९२७ में, मद्रास में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसने निश्चय किया कि हिन्दुस्तान का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता है। यह

पहला मौक़ा था कि कांग्रेस ने स्वतंत्रता के अपने उद्देश्य का ऐलान किया। उसने साफ़ तौर पर और दृढ़ता के साथ ऐलान किया, फिर भी शायद उस वक्त इस बात पर उसकी पूरे तौर पर दिलजमई नहीं हुई थी। दो वर्ष बाद, लाहौर में, निश्चित रूप से स्वतंत्रता कांग्रेस का ध्येय हुई। यह बात कि मद्रास कांग्रेस स्वतंत्रता के बारे में साफ़-साफ़ कोई निश्चय न कर सकी थी, उसके पास किये हुए एक दूसरे प्रस्ताव से भी जाहिर थी, जिसमें उसने हिन्दुस्तान के दूसरे वर्गों और संस्थाओं को मिल-जुलकर देश के लिए एक विधान बनाने को निमंत्रित किया था। यह जाहिर था कि माडरेट वर्ग या नरम विचारवाले लोग स्वतंत्रता तक जाने को तैयार न थे। इस तरह मद्रास-कांग्रेस ने सर्वदल सम्मेलन (All Parties Conference) को जन्म दिया। यह थोड़े दिनों तक जिन्दा रहा, पर इसकी जिन्दगी क्रियाशील थी।

दूसरे साल, १९२८ में, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश कमीशन आया। जैसा कि मैंने बताया है, आमतौर पर इसका बायकाट हुआ और जहाँ-जहाँ यह गया इसके ख़िलाफ़ जबरदस्त प्रदर्शन हुए। इसके अध्यक्ष के नाम से यह 'साइमन कमीशन' कहलाया और सारे हिन्दुस्तान में 'साइमन लौट जाओ' की ध्वनि गूंज उठी। कई जगह प्रदर्शन करनेवालों पर पुलिस ने लाठियाँ भी चलाईं। लाहौर में लाला लाजपतराय तक को पुलिस ने मारा। चंद महीनों बाद लालाजी की मृत्यु हो गई और डाक्टरों ने संभावना बताई कि पुलिस की मार ने उनकी मृत्यु को नजदीक लाने में मदद की। इन सब बातों से क़ुदरती तौर पर देश में बडी उत्तेजना और क्रोध छा गया।

इस दरमियान सर्वदल सम्मेलन एक विधान बनाने और साम्प्रदायिक गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कर रहा था। उस वक़्त हमारे राजनीतिज्ञों को विधान बनाने का काम बड़ा पसन्द था, मानों ताक़त हासिल करने के लिए सिर्फ़ एक काग़जी विधान की ही जरूरत हो! सर्वदल सम्मेलन ने विधान और साम्प्रदायिक सवाल पर अपने प्रस्ताव एक रिपोर्ट की शक्ल में पेश किये। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट के नाम से मशहूर है, क्योंकि जिस कमेटी ने रिपोर्ट का मस्विदा तैयार किया उसके चेयरमैन दादू थे।

इस साल की दूसरी उल्लेखनीय घटना गुजरात के बारडोली में सरकार द्वारा मालगुजारी बढ़ा दिये जाने के ख़िलाफ़ किसानों की एक बडी लड़ाई थी। गुजरात में युक्तप्रान्त की तरह बडी जमींदारियों की प्रणाली नहीं है; वहाँ जमीन पर मिल्कियत रखनेवाले किसान (Peasant proprietors) हैं। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में इन किसानों ने एक बडी जबरदस्त लड़ाई लड़ी और भारी फतह हासिल की।

दिसम्बर १९२८ की कलकत्ता-कांग्रेस एक तरह से मद्रास की स्वतंत्रता के निश्चयवाली कांग्रेस से नीचे उतर आई। इसने नेहरू-रिपोर्ट में बताये हुए विधान को

मंजूर किया, जो कि स्वतंत्रता से बहुत कम था। अस्पष्ट रूप से यह ब्रिटिश उपनिवेशों के विधानों से मिलता-जुलता था। पर इसे भी कांग्रेस नें कुछ ही वक़्त के लिए मंजूर किया था और सिर्फ़ एक साल का वक़्त रक्खा था। इसके आधार पर एक साल के अन्दर ब्रिटिश सरकार से राज़ीनामा न होने पर काँग्रेस फिर स्वतंत्रता के ध्येय पर लौट जायगी, यह तय हुआ। इस तरह कांग्रेस और देश दोनों एक संकट की तरफ़ बढ़ते जा रहे थे।

मज़दूर भी बडे उत्तेजित हो रहे थे, और कई बडे औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूरी घटाने की कोशिश पर बहुत उग्र बनते जा रहे थे। बम्बई में मज़दूर वर्ग ख़ास तौर पर अच्छी तरह संगठित था और वहाँ बडी-बडी हड़तालें हुईं, जिनमें एक लाख या इससे भी ज्यादा मजदूरों नें हिस्सा लिया। समाजवादी, और कुछ हद तक साम्यवादी, खयाल मज़दूरों में फैलने लगे और सरकार ने इन क्रान्तिकारी बातों और मज़दूरों की बढ़ती हुई ताक़त से घबराकर १९२९ के शुरू में एकाएक ३२ मज़दूर नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया और उनके ख़िलाफ़ एक बड़ा षड्यंत्र केस चलाया। यह मुक़दमा 'मेरठ केस' के नाम से सारी दुनिया में मशहूर होगया है। पौने चार वर्ष के लम्बे मुक़दमे के बाद इसी साल सब अभियुक्तों को लम्बी-लम्बी सज़ायें हुई हैं। और इसकी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इनमें से किसीपर विद्रोह के असली काम, यहाँ-तक कि शान्ति-भंग करने के लिए भी, मामला नहीं चलाया गया। उनका जुर्म यह दिखाई देता है कि वे साम्यवादी ख़यालात रखते और उनके प्रचार की कोशिश करते थे।

आन्दोलन का एक दूसरा रूप और था, जो अन्दर-ही-अन्दर धधक रहा था और कभी-कभी ऊपर भी ज़ाहिर होजाता था। यह उन लोगों की कार्रवाइयाँ थीं जो क्रान्ति को लाने के लिए हिंसा के तरीक़ों में विश्वास रखते थे। हिंसात्मक उपायों से क्रान्ति लाने के मार्ग में विश्वास करनेवालों का एक तरह का आन्दोलन और था, जो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रहा था और कभी-कभी ऊपर भी दिखाई दे जाता था। यह आन्दोलन ख़ास तौर पर बंगाल, कुछ हदतक पंजाब और थोड़ा-बहुत संयुक्तप्रान्त में दिखाई देता था। ब्रिटिश सरकार ने इसे कई तरीक़ों से दबाने की कोशिश की और बहुत-से षड्यंत्र केस चलाये गये। 'बंगाल आर्डिनेंस' नाम का एक ख़ास क़ानून जारी किया गया। इसके ज़रिये सरकार को अधिकार दिया गया कि वह जिस किसीको चाहे, सन्देह होने पर, गिरफ़्तार कर सके और बिना कोई मुकदमा चलाये जेल म रख सके। इस आर्डिनेंस के ज़रिये कई सौ बंगाली युवक गिरफ़्तार किये और जेल भेजे गये; वे नज़रबन्द कहलाते थे और उनके जेल की कोई अवधि निश्चित नहीं की गई थी। यह ग़ौर

करने के क़ाबिल मनोरञ्जक बात है कि जब यह असाधारण आर्डिनेंस जारी किया गया तब इंग्लैण्ड में शासन एक मजदूर सरकार के हाथ में था, जो इस आर्डिनेंस के लिए जिम्मेदार थी।

इन क्रान्तिकारियों द्वारा आतंक के बहुत-से काम, ज्यादातर बंगाल में, हुए। इनमें से तीन घटनाओं ने ख़ास तौर पर लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचा। एक लाहौर में ब्रिटिश पुलिस अफ़सर को गोली मारने की थी। लोगों का ख़याल था कि इसी अफ़सर ने साइमन कमीशन के ख़िलाफ़ हुए प्रदर्शन के वक़्त लाला लाजपतराय को पीटा था। दूसरी घटना भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त द्वारा दिल्ली के असेम्बली-भवन में बम फेंकने की थी। इस बम ने बहुत कम नुक़सान किया और जान पड़ता है कि शोर मचाने और देश का ध्यान अपनी तरफ़ खींचने के लिए ही यह बम फेंका गया था। तीसरी घटना १९३० में चटगांव में ठीक उस वक़्त हुई जब सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ था। यह शस्त्रागार पर बड़े पैमाने पर और साहस से भरा हुआ धावा था और इसमें कुछ कामयाबी भी हुई। सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने के लिए जितने भी उपायों की कल्पना की जा सकती थी, उन सबका प्रयोग किया। ख़ुफ़िया पुलिस और 'मुख़बिर' रक्खे गये; बड़ी तादाद में लोगों को गिरफ़्तार किया गया और उनपर षड्यंत्र के मुकदमे चलाये गये; लोगों को नजरबन्द किया गया (कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो लोग अदालत में छूट जाते हैं वे तुरन्त फिर से गिरफ़्तार कर लिये जाते और आर्डिनेंस के मुताबिक नजरबन्द बनाकर रक्खे जाते हैं); पूर्वी बंगाल के बहुत-से हिस्सों पर अभीतक फ़ौज का क़ब्ज़ा है और लोग बिना 'आज्ञापत्र' या परवाने के घूम-फिर नहीं सकते, न बाइसकिलों पर चढ़ सकते हैं, न अपने मन की पोशाक ही पहन सकते हैं। पुलिस को खबर न देने के जुर्म में सारे-के-सारे क़स्बों और गांवों पर भारी जुर्माने किये गये हैं, और जिनपर आतंकवादी होने का शक होता है उनका कुत्तों की तरह पीछा किया जाता है। बहुत समय से यह सब चलता रहा है और अबभी चल रहा है।

१९२९ ई० में लाहौर में जो षड्यंत्र केस चलाया गया था उसमें एक क़ैदी यतीन्द्रनाथ दास ने जेल के बर्ताव के खिलाफ़ विरोध-स्वरूप भूख-हड़ताल करदी। यह लड़का अख़ीर तक अपनी बात पर डटा रहा और इकसठवें दिन मर गया। यतीन्द्रनाथदास के आत्म-बलिदान का हिन्दुस्तान पर गहरा असर हुआ। दूसरी घटना, जिसने देश के दिल पर चोट की और उसे व्यथित किया, १९३१ के शुरू में भगतसिंह को दी जाने वाली फांसी थी।

अब मुझे कांग्रेस-राजनीति की तरफ़ लौटना चाहिए। कलकत्ता-कांग्रेस ने एक

वर्ष का जो समय दिया था, वह ख़त्म हो रहा था। १९२९ के अख़ीर में ब्रिटिश सरकार ने उन घटनाओं को बढ़ने से रोकने की कोशिश की जिनकी कि चर्चा थी। उसने भावी उन्नति के बारे में एक अस्पष्ट ऐलान किया। उस वक़्त भी कांग्रेस ने सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया, अलबत्ता उसमें कुछ शर्तें जरूर थीं। चूंकि ये शर्तें पूरी नहीं की गईं इसलिए दिसम्बर १९२९ की लाहौर कांग्रेस ने लाज़िमी तौर पर पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय और उसके हासिल करने के लिए लड़ाई लड़ने का फ़ैसला किया। यह निश्चय ३१ दिसम्बर की आधीरात को किया गया, जब पुराना साल और एक साल का दिया हुआ वक़्त ख़त्म होता था।

इस तरह १९३० का साल आगे आनेवाली घटनाओं की छाया के साथ शुरू हुआ। सत्याग्रह के लिए तैयारियां हो रही थीं। फिर असेम्बली और कौंसिलों का बायकाट किया गया और कांग्रेसी सदस्यों ने उनसे इस्तीफ़ा देदिया। २६ जनवरी को स्वाधीनता की एक ख़ास प्रतिज्ञा सारे देश में, गांवों और शहरों में होनेवाली अगणित सभाओं में ली गई और हर साल उसकी वार्षिक-तिथि 'स्वाधीनता दिवस' के नाम से मनाई जाती है। मार्च में बापू की मशहूर दांडी-यात्रा शुरू हुई। दांडी समुद्र के किनारे पर है और वहाँ पहुंचकर उन्होंने नमक-क़ानून तोड़ने का ऐलान किया था। उन्होंने अपनी लड़ाई का आरंभ करने के लिए नमक-क़ानून को इसलिए चुना था कि यह टैक्स ग़रीबों पर बहुत भारी पड़ता था और इस लिए एक ख़ासतौर पर बुरा टैक्स था।

अप्रैल १९३० के मध्य तक सत्याग्रह-आन्दोलन पूरे जोर पर आ गया था और न सिर्फ़ हर जगह नमक-क़ानून तोड़ा गया, बल्कि और क़ानून भी तोड़े गये। सारे देश में शान्तिपूर्ण बग़ावत हो गई थी और उसे कुचलने के लिए नये-नये क़ानून और आर्डिनेंस तेज़ी के साथ बनते जा रहे थे। लेकिन इन आर्डिनेंसों पर भी सत्याग्रह होने लगा, यानी लोग उन्हें ही तोड़ने लगे। सामूहिक रूप से यानी झुण्ड-के-झुण्ड आदमियों की गिरफ़्तारियाँ हो रही थीं और पशुतापूर्ण लाठियों की वर्षा एक आम बात होगई थी। इनके अलावा शान्ति भीड़ पर गोलियों का चलना, कांग्रेस कमेटियों का ग़ैरक़ानूनी ऐलान किया जाना, सेंसरशिप, अख़बारों का गला दबाना, मारना और जेलों में सख़्ती करना जारी था। पर मैं यहाँ उस जमाने के बारे में ज्यादा कहना नहीं चाहता। एक तरफ़ आर्डिनेंसों का राज्य था, दूसरी तरफ़ उन आर्डिनेंसों को तोड़ने का एक व्यवस्थित और निश्चित प्रयत्न था। इसके साथ विदेशी कपड़े और ब्रिटिश माल का बायकाट भी चल रहा था। क़रीब एक लाख आदमी जेल गये और कुछ समय तक इस शान्तिपूर्ण पर दृढ़ता के साथ लड़ी जानेवाली लड़ाई ने दुनिया का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया।

मैं तुम्हारे ध्यान में तीन बातें लाना चाहता हूँ। इनमें पहली पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की ज़बरदस्त राजनैतिक जागृति थी। लड़ाई के बिलकुल शुरू में ही, ४ अप्रैल १९३० ई० को पेशावर में शान्त भीड़ पर जोरों के साथ गोली चलाई गई और सारे सालभर हमारे सीमाप्रान्त के भाइयों ने बड़ी बहादुरी और धीरज के साथ सरकार के पशुतापूर्ण व्यवहारों को बर्दाश्त किया। यह दुगुनी महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योंकि सीमाप्रान्त के लोग शान्त स्वभाव के नहीं हुआ करते, ज़रा-सी उत्तेजना की बात पर आग-बबूला हो जाते हैं। इतने पर भी वे शान्त रहे। बंगाल या बंबई के लिए, जिनके पीछे राजनैतिक कार्य का रेकर्ड है, लड़ाई में सबसे ज्यादा हिस्सा लेना आश्चर्य-जनक नहीं था, पर पठानों जैसे राजनैतिक मैदान में नये आनेवालों के लिए तुरन्त ही सामने आ जाना और ऐसा बहादुराना पार्ट अदा करना एक ताज्जुब की और साथ ही बड़ी ही तारीफ़ की बात थी।

दूसरी उल्लेखनीय बात, जो निश्चय ही इस महान् वर्ष की सबसे प्रधान घटना थी, भारतीय स्त्रियों की अभूतपूर्व जागृति थी। जिस तरह से उनमें से हज़ारों और लाखों ने अपना घूंघट हटा दिया और अपने सुरक्षित मकानों को छोड़कर अपने भाइयों के साथ-साथ लड़ने के लिए मैदान में आ गईं और अक्सर अपने देश-प्रेम और बहादुरी से अपने आदमियों को शर्मिन्दा कर दिया, वह कुछ ऐसी चीज थी कि जिन लोगों ने उसे नहीं देखा वे मुश्किल से ही उसका विश्वास कर सकते हैं।

तीसरी नोट करने लायक़ बात यह थी कि ज्यों-ज्यों आन्दोलन बढ़ा, किसानों के सवाल का आर्थिक पहलू स्पष्ट रूप से सामने आता गया। १९३० सारी दुनिया में फैली हुई एक बड़ी मन्दी का पहला साल था। यह मन्दी अभीतक जारी है। १९३० में खेती से पैदा होनेवाली चीजों का दाम बहुत गिर गया। किसानों पर गाज गिर गया, क्योंकि उनकी आमदनी इन चीजों की बिक्री और उससे मिलनेवाले दाम पर ही निर्भर है। इसलिए उनकी इस मुसीबत के साथ करबन्दी का मेल बैठ गया और उनके लिए स्वराज्य कोई दूर का राजनैतिक ध्येय नहीं बल्कि तुरन्त का एक आर्थिक सवाल बन गया। इस तरह उनके लिए आन्दोलन एक नया और ज्यादा परिचित अर्थ लेकर सामने आया और, उसमें ज़मींदार और-काश्तकार के बीच, वर्ग-संघर्ष का एक तत्त्व पैदा हो गया। यह बात ख़ास तौर पर युक्तप्रान्त और पश्चिमी हिन्दुस्तान में थी।

जब हिन्दुस्तान में सत्याग्रह-आन्दोलन फूल-फल रहा था, तब समुद्र के उसपार लन्दन में, ब्रिटिश सरकार बड़ी शान-शौक़त के साथ एक 'राउण्ड टेबुल कांफ्रेंस (गोल मेज परिषद) कर रही थी। कांग्रेस को इससे कोई सरोकार न था। जितने

हिन्दुस्तानी इसमें गये, सबके सब सरकार के नामजद किये हुए थे। कठपुतलियों या बेजान छायामूर्तियों (परछांई की शक्लों) की तरह वे लंदन के रंगमंच पर कूदते-फाँदते थे और अच्छी तरह महसूस करते थे कि असली लड़ाई हिन्दुस्तान में चल रही है। सरकार ने हिन्दुस्तानियों की कमजोरी दिखाने के लिए बहस में साम्प्रदायिक मसले को सबसे आगे रख दिया; उसने कट्टर साम्प्रदायिक और पश्चाद्गामी लोगों को इस कान्फ्रेन्स के लिए नामजद करने की होशियारी पहले ही करली थी, जिससे समझौते की कोई संभावना ही न थी।

मार्च १९३१ ई० में कांग्रेस और सरकार के बीच एक 'ट्रूस' या चंदरोजा सुलह इसलिए हुई कि आगे बात-चीत हो सके। सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित कर दिया गया, सत्याग्रह के हजारों क़ैदी छूटे और आर्डिनेंस उठा लिये गये। फिर भी राजनैतिक क़ैदियों की एक बडी तादाद जेलों में ही रह गई और अब भी है। इनमें १९१४ के षड्यन्त्र, पंजाब के फ़ौजी क़ानून, मेरठ के और दूसरे बहुतेरे षड्यंत्र के मामलों के क़ैदी थे और बंगाल के नजरबन्द लोग थे। हिन्दुस्तानी जेलों में इनकी एक स्थायी राजनैतिक आबादी या बस्ती ही बस गई है। जबकि सत्याग्रही क़ैदी बहुत बडी तादाद में एकसाथ आते और जाते हैं, तहाँ दूसरे क़ैदी बिना किसी विश्राम या भंग के जेल की जिन्दगी बिता रहे हैं।

यह देखकर बड़ा मजा आता था कि देहली की सुलह के बाद किस तरह आदमी कांग्रेस की दोस्ती का दम भरता था, यहाँतक कि इनमें वे लोग भी थे जो सदा उस-पर हमला किया करते और उसे गाली दिया करते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उनपर असर डाला था और कांग्रेस की ताक़त देखकर वे सोचने लगे कि भविष्य में कांग्रेस के हाथ में ज्यादातर सत्ता होगी। इसलिए वे, जो सदा से ही अवसरवादी थे, कांग्रेस की तरफ़ दौडे और उसकी ख़ुशामद करने और उसकी तारीफ़ के पुल बाँधने लगे। यह एक दुःखदायी पर सच्ची बात है कि राजनैतिक लड़ाइयों में अकसर यह होता है कि जो वर्ग सबसे ज्यादा क़ुर्बानी करता है उसे सबसे कम मिलता है और जो लोग चुप-चाप आराम से अपने घर बैठे हुए होते हैं वे लड़ाई से मिले हुए माल का बँटवारा करनें में सबसे आगे आजाते हैं।

सन् १९३१ ई० में बापू कांग्रेस की तरफ़ से दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में शरीक होने के लिए लन्दन गये। खुद हिन्दुस्तान में तीन महत्वपूर्ण सवाल उठ खड़े हुए, जिनकी तरफ़ सरकार और कांग्रेस दोनों का ध्यान गया। पहला सवाल बंगाल का था, जहाँ सरकार ने आतंकवाद को मिटाने की आड़ में राजनैतिक कार्यकर्ताओं के ख़िलाफ़ बड़ा ही सख़्त दमन जारी कर रक्खा था। एक नया और पहले से बहुत ज्यादा सख़्त

आर्डिनेस जारी कर दिया गया और देहली की सुलह के होते हुए भी बंगाल ने नहीं जाना कि शान्ति कैसी होती है।

दूसरा सवाल सीमाप्रान्त में था, जहाँ राजनैतिक जागृति के कारण लोग अब भी कुछ कार्यक्रम चला रहे थे। ख़ान अब्दुलग़फ़ारख़ां के नेतृत्व में एक बड़ा, अनुशासन से भरा हुआ पर शान्तिपूर्ण संगठन बनता और फैलता जा रहा था। इनको 'ख़ुदाई ख़िदमतगार' और कभी-कभी 'रेडशर्ट' या लाल कुर्ती दल कहा जाता था। 'रेडशर्ट' इसलिए कि ये एक लाल 'यूनिफ़ार्म' (वर्दी) पहनते थे। किसी समाजवादी या साम्यवादी संस्था से उनका ताल्लुक़ न था। सरकार इस आन्दोलन को बिलकुल पसंद न करती थी। वह इससे भयभीत थी, क्योंकि वह एक अच्छे पठान सिपाही या योद्धा की क़ीमत जानती थी।

तीसरा सवाल संयुक्तप्रान्त में पैदा हुआ। विश्वव्यापी मंदी और चीज़ों के दाम गिर जाने से ग़रीब काश्तकार पर बड़ी मुसीबत आपड़ी। वह अपना लगान नहीं अदा कर सकता था। उसे कुछ छूट दी गई, पर वह काफ़ी न थी। कांग्रेस ने उसकी तरफ़ से मध्यस्थता की कोशिश की पर उसका कुछ ज्यादा नतीजा न निकला। जब नवम्बर १९३१ ई० में लगान-वसूली का वक़्त आया तो झगड़ा पैदा होगया। कांग्रेस ने काश्तकारों और ज़मींदारों को राय दी कि जबतक छूट का सवाल तय न होजाय, तब तक लगान और मालगुज़ारी मत दो। यह सत्याग्रह पहले इलाहाबाद से शुरू हुआ। बस, सरकार ने संयुक्तप्रान्त के लिए एक आर्डिनेंस निकाल दिया। यह एक बड़ा ही सख़्त और व्यापक आर्डिनेंस था। इसमें ज़िले के अधिकारियों को हर तरह के काम को कुचल देने, यहाँ तक कि व्यक्तियों की आमदरफ़्त को भी बंद करने का पूरा अख़्तियार दिया गया था।

इस आर्डिनेंस के बाद ही तुरंत सीमाप्रान्त में दो नये विचित्र आर्डिनेंस जारी किये गये और सीमाप्रान्त एवं संयुक्तप्रान्त में प्रमुख कांग्रेसमैनों को गिरफ़्तार कर लिया गया।

जब बापू साल के आख़िरी हफ़्ते में, लंदन से बिना किसी कामयाबी के, लौटे तो उनके सामने यह स्थिति थी। तीन प्रान्तों में आर्डिनेंस राज्य था और उनके कई साथी जेलों में पहुँच चुके थे। एक हफ़्ते के अन्दर फिर कांग्रेस ने सत्याग्रह का ऐलान कर दिया। सरकार ने कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेस से हमदर्दी रखनेवाली संस्थाओं को ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया।

यह लड़ाई डेढ़ वर्ष तक चलती रही है और अब भी चल रही है। और इस वक़्त में मैंने जो ये ख़त तुम्हें लिखे हैं, इसी लड़ाई का एक छोटा और अप्रत्यक्ष परि-

णाम है। यह लड़ाई १९३० की लड़ाई से कहीं ज्यादा सख़्त रही है। इसके लिए सरकार ने, पहले के अनुभवों से फ़ायदा उठाकर, अपनेको बडी सावधानी से तैयार कर लिया था। क़ानूनी नकाब और क़ानूनी ढांचा ख़त्म कर दिया गया और सर्वव्यापी एवं सर्वभक्षी आर्डिनेंसों के जरिये, मुल्की अफ़सरों के सहारे, देश में ऐसा दमन किया गया जिसे एक तरह का 'मार्शल ला' (फ़ौजी क़ानून) कह सकते हैं। राज्य की असली पाशविक सत्ता खूब साफ़ तौर पर दिखाई पडी है। यह बात लाजिमी थी, क्योंकि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन जोरदार और ताक़तवर बनता जायगा और विदेशी सरकार के आधार के लिए ज्यों-ज्यों ख़तरनाक बनता जायगा त्यों-त्यों सरकारी प्रतिरोध और दमन जबरदस्त और भयंकर होता जायगा। ऐसी हालत में धरोहर (Trusteeship) और सद्भावना के पवित्र और नरम वाक्य अलग रख दिये गये और उनकी जगह विदेशी शासन के सच्चे स्तम्भ या रक्षक के रूप में लाठियाँ और किरचें सामने आईं। क़ानून न सिर्फ़ सिर पर बैठे हुए वाइसराय की इच्छा बन गया बल्कि हर छोटा अफ़सर मनमानी करने लगा; क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि वह जो कुछ करेगा उसका उसके ऊपर के अफ़सर समर्थन करेंगे। ख़ासकर जार के जमाने के रूस की तरह ख़ुफ़िया विभाग और सी० आई० डी० के आदमी सब जगह फैल गये और उनकी ताक़त बढ़ गई। कोई बंधन या रोक नहीं थी और अनियंत्रित सत्ता की भूख सदा उसके इस्तेमाल से बढ़ती जाती है—यहाँ भी बढ़ती गई। एक सरकार जो मुख्यतः अपने ख़ुफिया विभाग के सहारे हुकूमत करती है और एक देश जो ऐसी हुकूमत में होता है, दोनों बहुत जल्द भ्रष्ट या पतित होजाते हैं; क्योंकि हरेक ख़ुफिया विभाग साजिश, भेदियों, झूठ, आतंकवाद, उत्तेजक बनावटी बातों, धोखेबाजी और दूसरी ऐसी ही बातों पर फूलता-फलता है। पिछले तीन वर्षों में हिन्दुस्तान में छोटे अफ़सरों, पुलिस और सी० आई० डी० को जो बहुत ज्यादा अख़्तियारात दे दिये गये थे और उन्होंने उनका जैसा इस्तेमाल किया था उससे धीरे-धीरे इन महकमों के आदमियों में पशुता आती गई और उनका पतन होता गया। लोगों को जेल जाने से रोकने के लिए तरह-तरह की कोशिशें की गई और जेल भेजने की जगह उनपर बेरहमी के साथ गहरी मार मारी गई। कोशिश यह थी कि लोग भयभीत होजायं।

मुझे ब्योरे की बातों में नहीं जाना चाहिए। इस मौक़े पर सरकार की नीति का एक मनोरंजक पहलू यह रहा है कि संस्थाओं और व्यक्तियों की जायदाद, मकान, मोटरें और बैंक में जमा रुपये जब्त कर लिये जायें। यह कांग्रेस के मध्यमवर्ग के समर्थकों पर चोट करने और उन्हें डरा देने के लिए किया गया। अब व्यक्तिगत धन

या जायदाद की पवित्रता की बात ख़त्म होगई है। सरकार एक-न-एक बहाने से इसे जब्त कर रही है। इसी तरह हिंसा उसी वक्त बुरी और अनैतिक बताई जाती है जब कोई वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए उसका इस्तेमाल करता है; पर ख़ुद सरकार वर्तमान व्यवस्था की हिफ़ाज़त के लिए सब तरह की बेरहमी से भरी हुई और व्यापक हिंसा से काम लेने में अपनेको बिलकुल उचित और न्यायपूर्ण समझती है !

इन आर्डिनेंसों में से एक का एक मामूली पर ध्यान देने लायक़ पहलू यह रहा है कि अपने या अपने साये में पलनेवाले बच्चों के जुर्मों के लिए माँ-बाप और अभिभावक ज़िम्मेदार हैं।

जब हिन्दुस्तान में ये सब बातें हो रही हैं, तब ब्रिटिश प्रचार की मशीनरी, जो बहुत दिनों से अपनी क़ाबलियत के लिए मशहूर है, हिन्दुस्तान की खुशहाली और शान्ति की एक सुन्दर तस्वीर दुनिया के सामने खींचने में मशगूल है। ख़ुद हिन्दुस्तान में कोई अख़बार परिणाम के डर से सच्ची बातों को छापने की हिम्मत नहीं करता— यहाँतक कि गिरफ़्तार हुए लोगों के नाम तक छापना एक जुर्म है !

पर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का परदा फ़ाश करनेवाली सबसे ख़ास बात यह रही है कि ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के सब कट्टर पश्चाद्गामी या प्रतिक्रियावादी वर्गों से मेल करने की कोशिश की। आज ब्रिटिश साम्राज्य उन्नतिशील शक्तियों से लड़ने के लिए सामन्तशाही और प्रतिक्रिया की दूसरी ताकतों पर निर्भर करता है। उसने स्थापित स्वार्थों (Vested Interests) को अपनी मदद के लिए खड़ा करने की कोशिश की है। इस मदद को पाने के लिए उसने इनको (स्थापित स्वार्थवालों को) यह बहकाकर डराया कि अगर हिन्दुस्तान से ब्रिटिश सत्ता हटाली जायगी तो सामाजिक क्रान्ति होजायगी और तुम्हारा ख़ात्मा हो जायगा। सामन्तशाही तौर-तरीक़े वाले राजा लोग हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत की पहली रक्षणात्मक मोर्चाबन्दी (First line of defence) हैं; उसके बाद बडे-बडे जमींदारों का वर्ग आता है। चतुराई-भरी चालबाज़ियों से और कट्टर सम्प्रदायवादियों को धकेलकर आगे खड़ा करके अल्पमत के मसले को हिन्दुस्तान की आज़ादी के रास्ते में एक बड़ा रोड़ा बना दिया गया है। अभी हाल में वह ग़ौर करने के क़ाबिल दृश्य दिखाई पड़ा जब मन्दिर-प्रवेश के सवाल पर ब्रिटिश सरकार ने कट्टर मज़हबी प्रतिक्रियावादियों के प्रति हर तरह की हमदर्दी और दोस्ती ज़ाहिर की। हर जगह ब्रिटिश सरकार प्रतिक्रिया, संकुचित धर्मोन्माद और भ्रमपूर्ण खुदग़र्ज़ी में अपनी मदद ढूँढती है।

सामूहिक आन्दोलन या लड़ाई में एक बडी सुविधा होती है। आम जनता को सियासी तालीम देने का यह सबसे अच्छा और तेज़ी का, गो दुखदाई, तरीक़ा है;

क्योंकि आम जनता को 'बडी घटनाओं' के लिए तालीम देकर तैयार करना पड़ता है। शान्ति के समय की मामूली राजनैतिक कार्रवाइयाँ—जैसे प्रजासत्तात्मक देशों में होनेवाले चुनाव वग़ैरा—अक्सर औसत आदमी को भ्रम में डाल देती हैं। उसके सामने भाषणों की धार वहती होती है और हरेक उम्मीदवार हर तरह की अच्छी बातों के करने का वादा करता है जिससे ग़रीव वोटर या खेत, कारख़ाने या दुकान में काम करनेवाला आदमी घबरा जाता और भ्रम में पड़ जाता है। उसे एक दल से दूसरे में कोई बहुत ज्यादा और साफ़ फ़र्क़ दिखाई नहीं देता। पर जब एक सामूहिक लड़ाई आती है, या जब क्रान्ति होती है, तब असली स्थिति यों साफ़ दीखती है जैसे बिजली से रोशनी हो उठी हो। ऐसी मुसीवत की घड़ियों में समुदाय, वर्ग या व्यक्ति अपनी वास्तविक अनुभूति या प्रकृति को छिपा नहीं सकते। सत्य बाहर आ जाता है। क्रान्ति का समय न सिर्फ चरित्र (Character), साहस, सहनशक्ति, आत्मत्याग और वर्ग-अनुभूति की कसौटी होता है बल्कि वह मुख्तलिफ़ वर्गों और समुदायों के बीच के उस असली संघर्ष को जाहिर कर देता है जो सुन्दर और अस्पष्ट जुमलों के नीचे ढका हुआ होता है।

हिन्दुस्तान में सत्याग्रह की लड़ाई एक राष्ट्रीय या क़ौमी लड़ाई रही है, वर्ग-संघर्ष नहीं। यह निश्चित रूप से मध्यम वर्ग का एक आन्दोलन रहा है जिसके पीछे किसानों का वल है। इसलिए यह वर्गों को उस तरह अलग और स्पष्ट नहीं कर सका जिस तरह कोई वर्गीय आन्दोलन करता। फिर भी, इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भी, कुछ हद तक वर्गो की मोर्चाबन्दी हुई है। इनमें से कुछ—जैसे सामन्तशाही ख़याल के राजा लोग, ताल्लुकेदार और वडे जमींदार—पूरे तौर पर सरकार के साथ बँधे हुए हैं। वे साफ़-साफ़ और जोर से पुकारकर कहते हैं कि वे कौमी आजादी पर अपने वर्ग के हितों को तरजीह देते हैं, या कौमी आजादी तभी चाहिए जब उनके खास अख्तियारात को महफूज रखनेवाले सब तरह के संरक्षणों का बंदोबस्त कर दिया जाय। इससे यह साफ़ हो जाता है कि किसी राष्ट्रीय या क़ौमी लड़ाई में इनसे किसी तरह मदद की उम्मीद नहीं की जा सकती, हाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की मुखालफ़त की उम्मीद जरूर की जा सकती है। इन्होंने निश्चित रूप से अपनेको विदेशी सरकार के साथ मिला दिया है।

कुछ हद तक सभी मालिक वर्ग (Possessing Classes), यानी वे सभी वर्ग जिनके स्थापित स्वार्थ (Vested Interest) होते हैं, किसी भी बडी तब्दीली से डरते हैं कि कहीं वह उनके खास अख्तियारात या सुविधाओं में दस्तंदाजी न करे। बडे-बडे बोर्जुआ लोग यानी ऊँचे दर्जे का मध्यमवर्ग विदेशी सरकार को नापसंद

करता है और खुद उसकी जगह लेना चाहता है। कुछ हद तक वह सरकार के प्रति कांग्रेस की चुनौती के साथ हमदर्दी रखता है, क्योंकि इससे उसके फ़ायदे के अनुकूल राजनैतिक परिवर्तन होने की सम्भावना उसे मालूम पड़ती है। पर इसके साथ ही वह सामूहिक जनता और मध्यम वर्ग के छोटे लोगों से भी भय करता है। इसके अलावा उसको यह डर भी है कि कहीं कांग्रेस की विजय से ऐसा सामाजिक परिवर्तन न हो-जाय जो उसको पसन्द न हो। इसलिए ये लोग आम तौर पर मेंड़ या हद पर रहते हैं, साफ़-साफ़ किसी तरफ़ शरीक नहीं होते, सरकार और कांग्रेस दोनों की हलकी आलोचना करते हैं और धीरज के साथ उस वक्त का इन्तजार करते हैं जब ये सत्ता के बँटवारे में बड़ा हिस्सा ले सकेंगे। लेकिन सामाजिक क्रान्ति का कोई इशारा किया जाता है, या उनके स्थापित स्वार्थों पर कोई हमला होता है, तब वे गुस्से से लाल होजाते हैं। यह एक गैरमामूली बात है कि लोग अपने ख़ास अख़्तियारात और सहूलियतों के बचाव के लिए कितने आग-बबूला हो उठते हैं। इन अख़्तियारात पर उनका नैतिक दावा या हक़ जितना ही कमजोर होता है, उतना ही वे उनमें दखल दिये जाने पर गुस्सा होते हैं।

अल्पमतों का मसला भी ज्यादातर विशेष समुदायों के स्थापित स्वार्थों का ही सवाल है। बहुतसे लोग हमेशा हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में राग अलापा करते हैं। यह बात काफी तौर पर साफ ह कि ऐसा मेल वाञ्छनीय है। पर यह बात भी उतनी ही जाहिर है कि सिर्फ इस जुमले को जादू के मन्त्र की तरह दोहराने से कोई फायदा नहीं हो सकता; न किसी तरह जोड़-तोड़ के ज़रिये किये जानें वाले पैक्टों और समझौते से ही कोई मदद मिल सकती है। बदक़िस्मती से सामने के असली सवालों पर 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' जैसे जुमलों से परदा पड़ जाता है। कुछ समुदायों के स्थापित स्वार्थों को अलग छोड़ दें तो गहराई में सवाल असल में आर्थिक है। स्वार्थों के संघर्ष, फिर चाहे वे मुख़्तलिफ़ जातियों के बीच हों या प्रजासत्तावाद और सामन्तशाही के बीच हों, मुस्कराहटों, आलिंगनों और एक-दूसरे की सचाई के वादों या ऐलानों से दूर नहीं किये जा सकते। अंकगणित या अलजबरा का कोई मसला उसपर मुस्कराने से हल नहीं होता; न एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दो चीजों को उनकी परिक्रमा करने से ही एक में मिलाया जा सकता है।

हाल में कांग्रेस-आन्दोलन नीचे के दर्जे के मध्यम वर्ग के ऐसे आन्दोलन में तबदील होगया है जिसके पीछे छोटे ज़मींदारों और किसानों की जोरदार मदद है। अब इसमें आम जनता के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने की प्रवृत्ति पहले से ज्यादा बढ़ गई है और मौलिक और आर्थिक अधिकारों पर एक दिलचस्प प्रस्ताव १९३१ में करांची-

कांग्रेस ने पास किया था। ज्यों-ज्यों कांग्रेस सामूहिक या आम जनता की तरफ़ झुकती जाती है त्यों-त्यों बडे मालिक वर्गो की शंका बढ़ती जाती है और वे इससे दूर हटते जाते हैं, यद्यपि इसका आधार अब भी राष्ट्रीय है।

हिन्दुस्तान में बहुत-से लोगों ने बार-बार जेल जाने की आदत डाल ली है, और कुछ तो जेलों में लगातार कई वर्षों तक बने रहते हैं। दूसरे लोगों के एक समुदाय ने दूसरी आदत पैदा करली है—मेरा मतलब जनता के यानी सरकारी खर्च से गोलमेज कान्फ्रेंस की बैठकों में शामिल होने के लिए हर साल लन्दन जाने की आदत से है। साल-दर-साल वे जाते हैं और बातें ही बातें करते हैं तथा ब्रिटिश सरकार को एक ऐसा विधान बनाने में मदद देते हैं जिसका ख़ास मतलब पीढ़ियों तक हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हकूमत को कायम रखना और हरेक स्थापित स्वार्थ की रक्षा करना है। संघ-राज्य का ख़याल ही इसलिए आया कि ब्रिटिश भारत को क़ब्ज़े में रखने के लिए सामन्त-प्रथा वाले राजाओं की मदद की जरूरत थी। आर० एच० टानें नाम के एक ज़हीन अंग्रेज लेखक ने ब्रिटिश मजदूर दल के लिए कार्यक्रम सुझाते हुए लिखा है कि 'गधों की सबसे ज्यादा मुमकिन तादाद को सबसे ज्यादा संभव संख्या में गाजर देना' ("to offer the largest possible number of carrots to the largest possible number of donkeys") दल (मजदूर दल) का काम नहीं है। कोई कल्पना कर सकता है कि लन्दन के विधान-निर्माताओं ने इसे ही अपना ख़ास काम ख़याल किया होगा?

हाल में ही ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के विधान के लिए अपने प्रस्तावों को एक छोटी किताब की शक्ल में प्रकाशित किया है, जिसका नाम 'व्हाइटपेपर' है। उसने अपना काम पूरी तरह किया है और उसमें हरेक कल्पना किये जा सकने लायक संरक्षण को शामिल कर लिया गया है जिसे कि आदमी की सूक्ष्म सोच और बना सकती है। ये संरक्षण न सिर्फ़ उसके स्वार्थों की रक्षा के लिए हैं बल्कि हिन्दुस्तान पर उसके सैनिक शासन सम्बन्धी और व्यापारिक (Military, Civil and Commercial) यानी त्रिविध नियंत्रण को और मजबूत करने के लिए हैं। हरेक स्थापित स्वार्थ को महफ़ूज़ रक्खा गया है और इंग्लैण्ड का स्थापित स्वार्थ सबसे बड़ा होने की वजह से उसको सुरक्षित रखने की सबसे ज़ोरदार तजवीज़ की गई है। यही बात राजाओं, जायदाद पर मालिकी रखनेवाले वर्गों, नौकरियों और ब्रिटिश सरकार के पिछलग्गुओं के बारे में भी है। हरेक स्थापित स्वार्थ के लिए बडी दरियादिली से इन्तजाम किया गया है। बदक़िस्मती इतनी ही है कि दूसरे के माल पर दिखाई जानेवाली इस उदारता ने हिन्दुस्तान के कमोबेश तैंतीस करोड़ बाशिन्दों के लिए बहुत कम छोड़ा है। पर उन बेचारों के कोई स्थापित स्वार्थ न थे—सिवाय उनकी जिन्दगी के, जिसकी कोई कीमत नहीं।

ब्रिटिश प्रस्तावों को देखकर इलाहाबाद के एक शायर अकबर का, जो कई साल हुए मर गये, एक उर्दू शेर याद आता है। यह शेर उन्होंने १९०३ में लार्ड कर्ज़न के दिल्ली दरबार के वक़्त लिखा था :

महफ़िल उनकी, साक़ी उनका,
आँखें अपनी, बाक़ी उनका।

असली सवाल जन-समूह का शोषण बन्द करने का है और जबतक यह नहीं किया जाता तबतक हिन्दुस्तान में शान्ति कैसे हो सकती है, या हमारी आज़ादी की लड़ाई कैसे ख़त्म हो सकती है ?

इस तरह कहानी चली जारही है। आज (१७ मई) बापू के अनशन का दसवाँ दिन है। अभीतक वह निबाह लेगये हैं और जान पड़ता है आगे भी बर्दाश्त करलेंगे। वह जेल से छोड़ दिये गये हैं और अनशन के कारण उन्होंने छः हफ्तों के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित कर दिया है। उसके बाद ? कौन जानता है ?

मैंने बरमा की उपेक्षा की है और मुझे उसके बारे में तुम्हें कुछ ज़रूर बताना चाहिए। उसने १९३० या १९३२ के सत्याग्रह-आन्दोलन में हिस्सा नहीं लिया। पर महान् आर्थिक संकट के कारण १९३० और १९३१ में उत्तरी बरमा में किसानों की एक बडी बग़ावत होगई। यह बग़ावत अंग्रेजों ने बड़ी बर्बरता के साथ दबा दी। इस वक़्त ब्रिटिश सरकार बरमा को हिन्दुस्तान से अलग करने की बडी जोरों से कोशिश कर रही है और बरमा में इससे बडा तहलका मच गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वहाँके ज्यादातर लोग हिन्दुस्तान से अलग होना नहीं चाहते।

--और ख़ैरबाद हिन्दुस्तान ! --फिर मिलेंगे।

: १६३ :

मिस्र की आज़ादी के लिए लड़ाई

२० मई, १९३३

आओ, अब हम मिस्र चलें और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता और एक साम्राज्यवादी ताक़त के बीच होनेवाली दूसरी लड़ाई का मुलाहिज़ा करें। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी यह साम्राज्यवादी शक्ति ब्रिटेन है। मिस्र कई बातों में हिन्दुस्तान से बिलकुल मुख़्तलिफ़ है और वहाँ ब्रिटेन हिन्दुस्तान को बनिस्बत बहुत थोडे वक़्त से रहा है, फिर भी दोनों देशों में बहुत-सी बातें एक-सी हैं। हिन्दुस्तान और मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने अलग-अलग तरीक़े इख़्तियार किये, पर मूल में क़ौमी आज़ादी

की प्रेरणा एक ही है और उद्देश्य भी एक ही है। और इन राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने में साम्राज्यवाद जो ढंग इख़्तियार करता है वह भी दोनों देशों में बहुत-कुछ एक है। इसलिए हम दोनों एक-दूसरे के अनुभवों से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। हम हिन्दुस्तान वालों के लिए तो एक ख़ास नसीहत है, क्योंकि हम मिस्र के उदाहरण में देख सकते हैं कि 'स्वतंत्रता' की ब्रिटिश देनों का क्या मतलब होता है और वे कहाँ-तक लेजाती हैं।

सब अरब देशों (अरबस्तान, इराक़, सीरिया, फिलस्तीन) में मिस्र सबसे आगे बढ़ा हुआ है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच का राजमार्ग—स्वेज़ नहर बनने के बाद से जहाज़ों के लिए तिजारत का महान् समुद्री रास्ता—रहा है। पश्चिमी एशिया के किसी देश की बनिस्बत इसका उन्नीसवीं सदी के नये योरप के साथ सबसे ज्यादा सम्पर्क रहा है। दूसरे अरब देशों से बिलकुल जुदा इसकी एक अलग राष्ट्रीय इकाई है, पर उनके साथ इसका घनिष्ट सांस्कृतिक सम्बन्ध भी है, क्योंकि इन सबकी ज़बान, परम्परा और मज़हब एक ही हैं। क़ाहरा (कैरो) के रोज़ाना अख़बार सब अरब देशों को जाते हैं और वहाँ उनका बड़ा प्रभाव है। इन सब देशों में से सबसे पहले राष्ट्रीय आन्दोलन मिस्र में ही शुरू हुआ, इसलिए दूसरे अरब देशों के लिए मिस्री राष्ट्रीयता का एक नमूना बन जाना लाज़िमी था।

मिस्र की बाबत लिखे हुए अपने पिछले ख़त में मैंने अरबीपाशा के नेतृत्व में होनेवाले १८८१-८२ के राष्ट्रीय आन्दोलन का ज़िक्र किया था और यह भी बताया था कि वह ब्रिटेन के ज़रिये किस तरह कुचल दिया गया। मैंने तुमको शुरू के सुधारकों, जमालउद्दीन अफ़ग़ानी और कट्टर इस्लाम पर पश्चिम के नये खयालात के असर की बाबत भी बताया है। इन सुधारकों ने पुराने उसूलों की तरफ़ लौटकर और धर्म की फ़िज़ूलियात यानी सदियों के बीच उसमें मिल गई बहुतेरी बातों को अलग हटाकर ज़माना हाल की तरक़्क़ी से इस्लाम का मेल बैठाने की कोशिश की। उन्नतिशील विचार के लोगों ने दूसरा क़दम यह रक्खा कि धर्म को सामाजिक संस्थाओं से अलग कर दिया। पुराने धर्मों का क़ायदा यह है कि वे हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के हर पहलू को घेर लेते और उसे चलाते हैं। इस तरह हिन्दूधर्म और इस्लाम, अपनी शुद्ध धार्मिक शिक्षाओं से बिलकुल अलग भी, समाज का विधान बनाते और शादी, विरासत, दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून, राजनैतिक संगठन, और दूसरी सब चीज़ों के नियम निर्धारित करते हैं। दूसरे लफ़्ज़ों में वे समाज का एक पूरा ढाँचा निर्धारित करते और उसे धार्मिक स्वीकृति और सत्ता देकर स्थायी बनाने की कोशिश करते हैं। अपनी कठोर वर्ण-व्यवस्था से हिन्दूधर्म इस बारे में सबसे आगे निकल जाता

है। एक सामाजिक ढाँचे को यों धर्म के जरिये स्थायी बना देने से किसी तब्दीली का होना मुश्किल होजाता है। इसलिए दूसरे देशों की तरह मिस्र में भी उन्नतिशील आदमियों नें धर्म को सामाजिक ढाँचे और सामाजिक संस्थाओं से अलग करने की कोशिश की। उन्होंनें वजह यह बताई कि पुरानी संस्थायें, जिन्हें धर्म या रिवाज ने पुरानें जमानें में लोगों पर लाद दिया था, उस जमाने की हालत में मुनासिब थीं। पर अब हालत बहुत बदल गई है और पुरानी संस्थायें या प्रथायें अब उनके साथ ठीक नहीं बैठतीं। मामूली विवेक से हम समझ सकते हैं कि बैलगाडी के लिए बनाया गया एक नियम मोटरकार या रेलगाडी के लिए मुनासिब नहीं होसकता।

इन उन्नतिशील आदमियों और सुधारकों ने इस तरह की दलीलें पेश कीं। इस वजह से राज्य और बहुतेरे रिवाजों ने ज्यादा लौकिक या दुनियावी शक्ल इख्तियार की, यानी वे धर्म से अलग कर लिये गये। जैसा हम देख चुके हैं, यह सिलसिला तुर्की में सबसे ज्यादा दूर तक गया। तुर्की प्रजातंत्र का अध्यक्ष या राष्ट्रपति खुदा के नाम पर ग्रहण की जानेवाली शपथ भी नहीं लेता; वह इसे अपनी इज्जत के नाम पर लेता है। मिस्र में मामला इस हद तक नहीं पहुँचा है, पर दूसरे इस्लामी देशों में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। तुर्क, मिस्री, सीरियन, फारसी वग़ैरा आज धर्म की पुरानी जबान की बनिस्बत राष्ट्रीयता की भाषा में कहीं ज्यादा बोलते हैं। सम्भवतः हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने दुनिया के मुसलमानों के किसी बडे समुदाय की बनिस्बत राष्ट्रीयकरण के इस सिलसिले का सबसे ज्यादा प्रतिरोध किया है और यों वे इस्लामी देशों के अपने धर्मबन्धुओं की बनिस्बत कहीं ज्यादा अनुदार, कट्टर और मजहबी रंग के हैं। यह एक अजीब पर ग़ौर-तलब बात है। नई राष्ट्रीयता और पूंजी-वादी आर्थिक प्रणाली के नीचे पैदा हुए मध्यम वर्गों का विकास अक्सर साथ-साथ हुआ है। हिन्दुस्तान के मुसलमान इस बोर्जुआ या मध्यम वर्ग का विकास करने में बहुत सुस्त रहे हैं और इस कमी ने राष्ट्रीयता की तरक्क़ी में बाधा डाली है। यह भी मुमकिन है कि हिन्दुस्तान में उनके अल्पमत में होनें के ख़याल ने उनको इतना भयभीत कर दिया कि वे ज्यादा अनुदार और कट्टर होगये और अपनी पुरानी परम्परा से जकड़कर रह गये और नये ख़यालात की तरफ़ से शंकित होगये। इसी तरह की किसी मानसिक अवस्था में वे हिन्दू भी रहे होंगे जो क़रीब हजार वर्ष पहले, शुरू के इस्लामी हमलों के वक्त अपने खोलों में घुस गये और एक बडी सख़्त, जातियों में बँटी हुई क़ौम बन गये।

उन्नीसवीं सदी के आख़री चौथाई हिस्से में और उसके बाद, विदेशी व्यापार बढ़ने के साथ, मिस्र में नई मध्यम श्रेणी पैदा हुई और बढ़ी। इस वर्ग के एक आदमी

सैद ज़ग़लूल थे जो 'फेल्लाह' या किसान कुटुम्ब से इस दर्जे तक बढ़े थे। जब अरबी-पाशा ने १८८१-८२ में अंग्रेजों को चुनौती दी, तब वह एक युवक थे और उन्होंने अरबीपाशा के नेतृत्व में काम किया। तबसे आगे १९२७ में अपनी मौत के वक़्त तक, यानी पैंतालीस वर्षों तक, उन्होंने मिस्र की आज़ादी के लिए काम किया और मिस्री स्वतंत्रता-आन्दोलन के नेता होगये। वह मिस्र के सर्वमान्य नेता थे; किसान, जिनमें से वह उठे थे, उनसे मुहब्बत करते थे और मध्यम श्रेणी, जिसमें वह ख़ुद थे, उन्हें पूजती थी। लेकिन रईस लोगों यानी पुरानी सामन्ती ज़मींदार श्रेणी ने उनके साथ अच्छा सलूक नहीं किया। वे उस बढ़ते हुए मध्यम वर्ग को पसन्द नहीं करते थे जो उनको धीरे-धीरे देश में उनके ऊँचे स्थान से दूर धकेल रहा था। उनकी निगाह में ज़गलूल एक मामूली ख़ानदान का था, और ज़ग़लूल को अपने वर्ग के नेता और प्रतिनिधि की हैसियत से उनके ख़िलाफ़ लड़ना पड़ा। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी अंग्रेजों ने सामन्ती ज़मींदार वर्ग से अपने लिए मदद लेने की कोशिश की। वहाँ यह वर्ग मिस्री क़ी बनिस्बत तुर्की ही ज्यादा था और पुराने शासक सरदारों का नुमाइन्दा था।

इस तरह ब्रिटिश सरकार ने, साम्राज्यवाद के अच्छी तरह परखे हुए और मंज़ूर-शुदा फ़ैशन के ढंग पर, अपने साथ किसी सामाजिक समुदाय या राजनैतिक दल को मिला रखने की कोशिश की और एक वर्ग या दल को दूसरे वर्ग या दल के ख़िलाफ़ खड़ा करके एक राष्ट्रीयता की वृद्धि को रोक दिया। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी उन्होंने अल्पमत का मसला उठाने की कोशिश की। ईसाई काप्ट लोग मिस्र में थोडी तादाद में हैं। पर इस कोशिश में वे नाकामयाब रहे। और यह सब भी उन्होंने अपने उसी प्रचलित फ़ैशन में अपने ओठों से पवित्र वाक्यों का उच्चारण करते हुए किया। वे कहते रहे कि जो कुछ हम करते हैं सब तुम्हारे ही फ़ायदे के लिए है; हम तो 'गूंगी जनता' के 'ट्रस्टी' हैं और अगर 'झगड़ा पैदा करनेवाले' और दूसरे लोग, जिनका देश में कुछ भी जोखिम उठाने लायक नहीं है, शान्त रहें तो सब कुछ ठीक होजायगा। मज़ा तो यह है कि जनता का उपकार करने के इस सिलसिले में अकसर उन्हीं फ़ायदा उठानेवाले लोगों को बडी तादाद में गोलियों से भून दिया गया। शायद ऐसा उन्हें दुनिया के दुखों से छुटकारा दिलाने और स्वर्ग की तरफ़ उनके सफ़र को नज़दीक लाने के लिए किया गया होगा!

सारे युद्ध के ज़माने में और उसके बाद भी बहुत दिनों तक मिस्र में फ़ौजी शासन था। युद्ध के ज़माने में वहाँ 'डिसामर्मिण्ट ऐक्ट' और 'कांसक्रिप्शन ऐक्ट' नामी दो क़ानून पास हुए थे। देश ब्रिटिश फौजों से भरा हुआ था। महायुद्ध के शुरू में ही उसपर ब्रिटिश संरक्षण का ऐलान कर दिया गया था।

१९१८ में शान्ति होने के बाद, मिस्र के राष्ट्रवादियों ने फिर आन्दोलन शुरू किया और मिस्र की आजादी का 'केस' तैयार किया। वे इसे ब्रिटिश सरकार और पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के सामने रखना चाहते थे। उस वक्त मिस्र में कोई वास्तविक दल न थे। 'वतनी' (स्वदेशवादी) नामका एक दल था, पर इसके सदस्यों की तादाद भी बहुत कम थी। प्रस्ताव यह था कि जग़लूलपाशा के नेतृत्व में एक बड़ा डेपुटेशन मिस्र की स्वाधीनता की वकालत करने के लिए लंदन और पेरिस जाय और इस डेपुटेशन को राष्ट्रीय रूप देने और उसके पीछे कुछ जोर पैदा करने के लिए एक बड़ी संस्था खोली गई। मिस्र की मशहूर 'वफ्द' पार्टी का जन्म इसी तरह हुआ। 'वफ्द' का मतलब ही 'डेपुटेशन' है। ब्रिटिश सरकार ने इस डेपुटेशन को लंदन जाने की मंजूरी देने से इन्कार कर दिया और मार्च १९१९ में जग़लूल और दूसरे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

इसका नतीजा यह हुआ कि एक खूनी क्रान्ति शुरू होगई। कुछ अंग्रेज मारे गये और क़ाहरा (कैरो) के शहर और दूसरे केन्द्रों पर क्रान्तिकारी दल का क़ब्जा होगया। बहुत-सी जगहों में 'सार्वजनिक रक्षा' की 'राष्ट्रीय कमेटियाँ' क़ायम की गईं। इस बग़ावत में विश्वविद्यालय (यूनिवर्सिटी) के विद्यार्थियों ने बड़ा हिस्सा लिया। शुरू की इन कामयाबियों के बाद बग़ावत बहुत-कुछ दबा दी गई, हालांकि बीच-बीच में अंग्रेज अफ़सर मारे जाते रहे। मगर खुली बग़ावत दबा दी जाने पर भी आन्दोलन को कुचला न जा सका। आन्दोलन ने लड़ाई का ढंग बदल दिया और 'पैसिव रेसिस्टेंस' या 'शान्त-प्रतिरोध' (यानी एक तरह के सत्याग्रह) का एक दूसरा पहलू इख्तियार किया। इसमें इतनी कामयाबी हुई कि ब्रिटिश सरकार को मिस्र की माँग पर ग़ौर करने को मजबूर होना पड़ा। लार्ड मिलनर की अध्यक्षता में इंग्लैण्ड से एक कमीशन भेजा गया। मिस्री राष्ट्रवादियों या नेशनलिस्टों ने इसका बायकाट करने का फ़ैसला किया और इस बायकाट में वे खूब कामयाब हुए। मिलनर-कमीशन के बायकाट में भी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों ने खूब हिस्सा लिया। कमीशन इस राष्ट्रीय विरोध से इतना प्रभावित हुआ कि उसने कुछ बहुत बड़ी सिफारिशें कीं। ब्रिटिश सरकार ने इन सिफ़ारिशों की परवा न की और मिस्र में आजादी की लड़ाई जारी रही। १९१९ के शुरू से १९२२ के शुरू यानी तीन वर्ष तक यह लड़ाई चलती रही और मिस्री स्वतंत्रता 'इस्तक़लाल अल-तआम' या पूर्ण से कम पर राजी होने को तैयार न थे।

१९१९ में अपनी गिरफ़्तारी के कुछ दिनों बाद जग़लूलपाशा छोड़ दिये गये थे। दिसम्बर १९२१ में वह फिर गिरफ़्तार करके जलावतन कर दिये गये। पर अंग्रेजों के लिए इससे मिस्र की स्थिति कुछ नहीं सुधरी और उन्हें मिस्रियों को शान्त करने

के लिए कुछ करने को मजबूर होना पड़ा। यद्यपि जग़लूल समझौता न करनेवाले उग्र लोगों में से न थे, फिर भी समझौते की सारी कोशिशें बेकार हुईं। जगलूल उग्र न थे, इसका एक सबूत यह भी है कि एक बार कुछ लोगों ने उनका खून तक करने की कोशिश की। उनका कहना था कि तुम अंग्रेजों के साथ कमज़ोर समझौता करके अपने देश को धोखा दे रहे हो। पर ब्रिटिश सरकार और मिस्री राष्ट्रवादियों के बीच उस वक़्त या बाद में भी समझौता न हो सकने के मौलिक कारण थे। ये वही कारण हैं जो हिन्दुस्तान में भी समझौता होने में बाधक हैं। मिस्री राष्ट्रवादी मिस्र के ब्रिटिश स्वार्थों की उपेक्षा करना नहीं चाहते थे। वे इसपर बातचीत करने और ब्रिटेन के साम्राज्य-व्यापार और सैनिक रास्तों सम्बन्धी विशेष स्वार्थों को एक हद तक मंजूर करने को तैयार थे। पर वे इन सवालों पर तबतक विचार करने को तैयार नहीं थे जबतक कि उनके देश की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार न करली जाय। फिर इन मसलों पर भी वे उसी हद तक विचार करने को तैयार थे जिस हद तक जाने में उनकी स्वतंत्रता बनी रहे। पर दूसरी तरफ़ इंग्लैण्ड समझता था कि यह तय करना हमारा काम है कि तुमको कितनी आज़ादी दी जाय और यह आज़ादी हमारे स्वार्थों के मुआफ़िक होगी, क्योंकि उनकी रक्षा करना हमारा पहला फ़र्ज़ है।

इस तरह दोनों के बीच समझौते का कोई सामान्य आधार न था। लेकिन ब्रिटिश सरकार महसूस करती थी कि कुछ-न-कुछ जल्द किया जाना चाहिए इसलिए किसी समझौते या राजीनामे के बग़ैर ही, उसने २८ फरवरी १९२२ को एक ऐलान किया। उसमें उसने कहा कि भविष्य में वह मिस्र को एक 'आज़ाद खुदमुख्तार राज्य' ("Independent Sovereign State") मानेगी, परन्तु—और यह एक बड़ा परन्तु था—नीचे लिखे चार विषय आगे विचार करने के लिए सुरक्षित रक्खे गये :—

१. मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के आमदरफ़्त के मार्गों की रक्षा।

२. प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विदेशी हमलों या दस्तंदाज़ियों के ख़िलाफ़ मिस्र की रक्षा।

३. मिस्र में फैले हुए विदेशी स्वार्थों और अल्पमत वाली जातियों की रक्षा।

४. सूडान के भविष्य का सवाल।

ये संरक्षण अपने हिन्दुस्तान के संरक्षण-बन्धुओं के साथ कितने एक-से मालूम पड़ते हैं। हम इन्हें यहाँ, अपने देश में, 'सेफगार्ड्स' (संरक्षण) कहते हैं और उनके अण्डे-बच्चे हमारे देश में कहीं ज्यादा हैं। मिस्र में उस वक्त इन संरक्षणों को मंजूर नहीं किया गया और अभीतक मिस्रियों ने इन्हें मंजूर नहीं किया है, क्योंकि यों देखने में तो ये सीधे-सादे और निर्दोष मालूम पड़ते थे पर इनका मतलब यह था कि न घरेलू और न वैदेशिक मामलों में मिस्र को कोई वास्तविक स्वतंत्रता मिलेगी। इस तरह २८ फ़रवरी १९२२

का मिस्र की स्वतंत्रता का ऐलान ब्रिटिश सरकार का एकांगी काम था, जिसे मिस्र ने कभी मंजूर नहीं किया। पिछले ग्यारह वर्षों में मिस्र में यह बात अच्छी तरह जाहिर होगई है कि संरक्षणों के साथ स्वतंत्रता का भी क्या मतलब हो सकता है।

इस 'स्वतंत्रता' के बावजूद ब्रिटिश अफ़सरों की देखरेख में और भी डेढ़ साल तक 'मार्शल ला'—फ़ौजी कानून—जारी रहा। यह तब ख़त्म हुआ जब मिस्र की सरकार ने 'ऐक्ट ऑफ इनडेमनिटी' यानी ऐसा क़ानून पास किया जिसके जरिये फ़ौजी शासन के जमाने में अफ़सरों द्वारा किये गये ग़ैरक़ानूनी कामों की जिम्मेदारी से उन्हें मुक्त कर दिया गया, यानी उन्हें पनाह दीगई।

नये 'स्वतंत्र' मिस्र को एक बहुत ही प्रतिक्रियात्मक विधान दिया गया, जिसमें बादशाह के हाथ में बडे अख़्तियारात थे। यह बादशाह—किंग फ़ुआद—भी बेचारे मिस्रियों पर जबरदस्ती लाद दिया गया। बादशाह फ़ुआद और ब्रिटिश अधिकारियों में खूब मेलजोल था, दोनों राष्ट्रवादियों को नापसन्द करते थे और दोनों जनता की आजादी के ख़याल, यहाँतक कि असली पार्लमेण्टरी हुकूमत का भी विरोध करते थे। फ़ुआद खुद अपनेको सरकार समझता था और जो उसके मन में आता वह करता था। उसने पार्लमेण्ट को बर्ख़ास्त कर दिया और अपनी हिफाजत करने के लिए सदा तैयार ब्रिटिश संगीनों पर विश्वास करके डिक्टेटर की तरह हुकूमत करने लगा।

मिस्र की स्वतंत्रता के अपने ऐलान के बाद पहला परोपकार का काम जो ब्रिटिश सरकार ने किया वह यह था कि उसने उन अधिकारियों के लिए मुआवजे की बडी-बडी रक़में माँगीं जो नई हुकूमत के कारण 'रिटायर' (अलग) हो रहे थे! इस वक़्त बादशाह फ़ुआद ही मिस्र की सरकार था और उसने फ़ौरन माँग स्वीकार कर ली और यों पैंसठ लाख पौंड की बडी रक़म चुकाई गई—एक बडे अधिकारी को तो आठ हजार पाँच सौ पौण्ड मिले! फिर मजेदार बात तो यह हुई कि इन अधिकारियों में से कई, जो अलग होने के लिए गहरा मुआवजा ले चुके थे, ख़ास कण्ट्राक्ट पर फिर रख लिये गये। याद रक्खो कि मिस्र बड़ा देश नहीं है और उसकी आबादी संयुक्तप्रान्त की आबादी की तिहाई से भी कम है।

मिस्री विधान बडी बहादुरी से कहता है कि "सारी सत्ता राष्ट्र से उद्भूत (Emanate) होती है," पर व्यवहार में बात यह है कि जबसे नया विधान जारी किया गया तबसे मिस्री पार्लमेण्ट के लिए बड़ा बुरा जमाना आगया है। जहाँतक मैं जानता हूँ (हाल की घटनाओं के बारे में मुझे बिलकुल ठीक इल्म नहीं है), एक भी पार्लमेण्ट अपनी सामान्य अवधि तक जिन्दा नहीं रही। बार-बार बादशाह फ़ुआद के

हाथों उसकी एकाएक मौत होती रही है और यह वादशाह विधान को मुल्तवी करके निरंकुश राजा की तरह हुकूमत करता रहा है।

नई पार्लमेण्ट का पहला चुनाव १९२३ में हुआ और जग़लूलपाशा और उनके दल ने, जो अब वफ़्द दल के नाम से मशहूर है, सारे देश में हलचल पैदा करदी। उनको ९० प्रतिशत वोट मिले और २१४ स्थानों में से १७७ पर उन्होंने क़ब्जा कर लिया। इंग्लैण्ड के साथ समझौता करने की एकवार फिर कोशिश की गई और इसके लिए जग़लूल लंदन गये। पर दोनों दृष्टिकोणों में मेल नहीं हो सका और कुछ सवालों पर समझौते की वातचीत टूट गई। इन सवालों में से एक सवाल सूडान का था। सूडान मिस्र के दक्षिण में एक देश है। यह मिस्र से विलकुल जुदा ढंग का है; यहाँ के वाशिन्दे जुदा हैं और ज़वान भी जुदी है। इसके ऊँचे क्षेत्रों से नील नदी बहती है। यह नील नदी मिस्र के लिखित इतिहास के शुरू से यानी सात-आठ हज़ार वर्षों से मिस्र का जीवन-रक्त या सहारा रही है। मिस्र की सारी कृषि और ज़िन्दगी नील नदी में आनेवाले सालाना सैलावों—वाढ़ों—के इर्द-गिर्द पनपी है, क्योंकि ये सैलाव अविसीनिया के ऊँचे प्रदेश से क़ीमती मिट्टी लाते हैं और मिस्र की ऊजड़ ज़मीन को उपजाऊ वनाते हैं। लार्ड मिलनर (मिलनर कमीशन के—जिसका वायकाट हुआ था—अध्यक्ष) ने नील नदी के वारे में लिखा था :—

> "यह ख़याल दु:खदाई है कि इस महानद से पानी की नियमित आमदनी, जो मिस्र के लिए सुविधा और ख़ुशहाली का नहीं वल्कि ज़िन्दगी का सवाल है, सदा ख़तरे में रहे; और यह तवतक सदा ख़तरे में रहेगी जवतक कि नदी की उँचाई के स्थान मिस्र के क़ब्जे में नहीं रहेंगे।"

नदी की धारा के ये ऊँचे स्थान सूडान में हैं, इसलिए सूडान मिस्र के लिए वडे महत्व का है।

पिछले ज़माने में सूडान इंग्लैण्ड और मिस्र के संयुक्त नियंत्रण में समझा जाता था। इसे 'एंग्लो-इजीप्शियन सूडान' (अंग्रेजी-मिस्री सूडान) के नाम से पुकारा जाता था और अव भी वहुत-से नक़शों और एटलसों में यही नाम है। चूँकि मिस्र पर अमली तौर पर ब्रिटेन की हुकूमत थी, इसलिए स्वार्थों का कोई संघर्ष नहीं था और मिस्र का वहुत-सा रुपया सूडान में खर्च किया गया। यहाँतक कि १९२४ में लार्ड कर्ज़न ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट में कहा था कि अगर मिस्र खर्च के लिए धन न दे तो सूडान का दिवाला निकल जाय। लेकिन जव मिस्र छोड़ने के सवाल पर ग़ौर करने के लिए ब्रिटेन को मजवूर होना पड़ा तव उसने सूडान को पकड़ रखना चाहा; दूसरी तरफ़ मिस्रियों ने महसूस किया कि उनकी सारी हस्ती सूडान से वहने वाली नील नदी की धारा की रक्षा पर निर्भर है; इसलिए स्वार्थों में संघर्ष हुआ।

१९२४ ई० में जब ब्रिटिश सरकार और सैद जग़लूलपाशा के बीच सूडान के मसले पर बातचीत हो रही थी, तब कई तरह से सूडान के लोगों ने मिस्र के साथ अपनी मुहब्बत जाहिर की। इसके लिए ब्रिटिश सरकार उनकी छाती पर चढ़ बैठी और मिस्र की सरकार से सलाह-मशविरा किये बिना जो मन में आया किया। मजा यह कि सूडान पर इंग्लैण्ड और मिस्र दोनों का संयुक्त नियन्त्रण था और इसके लिए मिस्र को काफ़ी ख़र्च करना पड़ता था।

अपनी मिस्री स्वाधीनता की कथित घोषणा में ब्रिटेन ने दूसरी छूट विदेशी स्वार्थों के संरक्षण की रक्खी थी। ये विदेशी स्वार्थ क्या थे ? मैं उनके बारे में किसी पिछले ख़त में तुम्हें बता चुका हूँ। जब तुर्की साम्राज्य कमजोर पड़ रहा था, तब महाशक्तियों ने उसपर कई नियम जबरदस्ती लाद दिये थे, जिनके मुताबिक़ तुर्की में उनके नागरिकों के साथ विशेष व्यवहार किये जाने की तजवीज की गई थी। ये यूरोपियन विदेशी चाहे जो जुर्म करें पर तुर्की अदालतों में उनपर मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता था। उनका मुक़दमा उनके अपने देशों के राजदूतों या राष्ट्रीय प्रतिनिधियों यानी विदेशियों से बनी हुई ख़ास अदालत में होता था। उनको कितने ही टैक्सों से छूट वग़ैरा की और भी बहुतेरी सहूलियतें दी गई थीं। विदेशियों की ये ख़ास और क़ीमती सहूलियतें कैपिचुलेशंस कहलाती थीं। कैपिचुलेशन का मतलब शत्रु के प्रति आत्म-समर्पण होता है और यह भी मिस्र राष्ट्र का, कुछ हद तक, अपनी स्वाधीनता से झुकना या आत्म-समर्पण करना ही था। चूँकि तुर्की को उन्हें मानना पड़ा, इसलिए तुर्की साम्राज्य के उपनिवेश भी उन्हें मानने को मजबूर हुए। मिस्र तो पूरी तरह ब्रिटेन के क़ब्ज़े में था और वहाँ तुर्की की सत्ता नाम मात्र को भी नहीं रह गई थी; पर इस मामले में उसे तुर्की साम्राज्य का हिस्सा समझा गया और उसपर भी 'कैपिचुलेशंस' लादे गये। ऐसी अनुकूल स्थिति में शहरों में विदेशी व्यापारियों और पूँजीपतियों की बस्तियाँ बस गईं। यह लाजिमी था कि वे एक ऐसी प्रथा के तोड़ने का विरोध करते जो हर तरह से उनकी हिफ़ाजत करती और बिना टैक्स दिये उनके मोटे और मालदार होने में मदद देती थी। मिस्र में विदेशी स्थापित स्वार्थ भी थे जिनकी रक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने ली थी। मिस्र के लिए ऐसी प्रणाली को मानना मुमकिन न था जो न सिर्फ़ स्वाधीनता की विरोधी थी बल्कि जिससे उसकी एक बहुत बड़ी आमदनी मारी जाती थी। अगर सबसे मालदार आदमी टैक्स से बरी होजायँ तो फिर सामाजिक अवस्था में किसी तरह के सुधार का कोई काम बड़े पैमाने पर नहीं किया जा सकता। सीधी ब्रिटिश हुकूमत के लम्बे जमाने में अंग्रेजों ने प्रारम्भिक शिक्षा या गाँवों के सुधार और सफ़ाई के लिए कुछ नहीं किया था।

घटनायें इस ढंग पर हुईं कि तुर्की, जो 'कैपिचुलेशन' का असली कारण था, कमालपाशा की फ़तह के बाद उनसे छूट गया, पर मिस्र ब्रिटिश संरक्षण में अभीतक उनसे लदा हुआ है। यहाँ मैं यह भी कहदूँ कि चीन भी अभीतक इसी तरह के 'कैपिचुलेशनों' के ख़िलाफ़ लड़ रहा है। उन्नीसवीं सदी में, कुछ वक्त तक, जापान भी इनका मज़ा चख चुका था, पर ज्योंहीं वह ताक़तवर होगया, उसने उन्हें ख़त्म कर दिया।

इस तरह विदेशी स्थापित स्वार्थों का सवाल ब्रिटेन और मिस्र के तस्फ़िये के बीच दूसरा रोड़ा था। स्थापित स्वार्थ सदा ही आज़ादी के रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं।

अपनी सदा की उदारता के साथ ब्रिटिश सरकार ने अल्पमत वाली जातियों की रक्षा करने का भी निश्चय किया था और यह भी फरवरी १९२२ के स्वाधीनता वाले ऐलान में एक संरक्षण था। अल्पमत वाली मुख्य जाति काप्टों की थी। ऐसा ख़याल किया जाता है कि ये लोग पुराने मिस्रियों के वंशज हैं और इस तरह सब तरह के मिस्रियों में से मिस्र के ज्यादा असली बाशिन्दे हैं। वे ईसाई हैं और ईसाई धर्म के शुरू के दिनों से, योरप के ईसाई होने के भी पहले से, ईसाई ही चले आ रहे हैं। अल्पमत वाली जातियों के प्रति ब्रिटेन की इस कृपालुता पर उसका अहसान मानने की जगह काप्टों ने यह अहसानफरामोशी दिखाई कि ब्रिटिश सरकार से साफ़ कह दिया कि हमारे लिए आप तकलीफ़ न करें। फरवरी १९२२ के ब्रिटिश ऐलान के बाद एक बड़ी मीटिंग में काप्ट लोग इकट्ठे हुए और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति और क़ौमी एकता के लिए हम सब तरह के अल्पमत के प्रतिनिधित्व और संरक्षणों का त्याग करते हैं।" काप्टों के इस निर्णय की अंग्रेज़ों ने 'मूर्खतापूर्ण' कहकर आलोचना की। पर बुद्धिमानी या मूर्खता कुछ भी कहो, इसने उनकी रक्षा करने के ब्रिटिश दावे का ख़ात्मा कर दिया और अल्पमत वाली जातियों का सवाल बहस-मुबाहिसे की चीज़ नहीं रह गया। बल्कि सच पूछें तो काप्टों ने आज़ादी की लड़ाई में ज़बरदस्त हिस्सा लिया और वफ़्द दल में ज़ग़लूलपाशा के कुछ बहुत ही विश्वासपात्र साथी काप्ट थे।

इन विरोधी दृष्टिकोणों और स्वार्थों के असली संघर्ष के कारण मिस्र, जिसके प्रतिनिधि ज़ग़लूलपाशा और उनके साथी थे, और ब्रिटिश सरकार के बीच हो रही १९२४ की समझौते की बातचीत टूट गई थी। इसपर ब्रिटिश सरकार बड़ी नाराज़ हुई। अभीतक वह मिस्र में मनमानी करते रहने की अभ्यस्त होगई थी, इसलिए उसे कैरो की नई पार्लमेण्ट और ख़ासकर वफ़्द नेताओं के अड़ंगे और मुख़ालफ़त पर बड़ी खीझ हुई। बस उन्होंने वफ़्द लोगों और मिस्री पार्लमेण्ट को अपने साम्राज्यवादी ढंग पर सबक़ सिखाने का इरादा कर लिया। बहुत जल्द उन्हें मौक़ा भी मिल गया

और जिस ग़ैरमामूली तरीके पर उन्होंने इसका इस्तेमाल किया और इससे फ़ायदा उठाया, उसकी बाबत में अगले ख़त में लिखूंगा। वह महत्वपूर्ण घटना आजकल के साम्राज्यवाद की कारगुज़ारियों के लिए आईने की तरह है, इसलिए उसपर अलग ख़त लिखने की ज़रूरत है।

: १६४ :

अंग्रेजों की छत्रछाया में आज़ादी का तात्पर्य

२२ मई, १९३३

अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हें बताया था कि १९२४ में मिस्री सरकार, जिसके प्रतिनिधि राष्ट्रवादी थे, और अंग्रेजों के बीच सुलह की बातचीत शुरू होकर टूट गई थी और इससे ब्रिटिश सरकार बड़ी नाराज़ होगई थी। इसके बाद जो उल्लेखनीय घटनायें हुईं उनका बयान करने से पहले मैं तुम्हें यह बता देना चाहता हूँ कि कहने के लिए आज़ाद होते हुए भी मिस्र पर अंग्रेजों का फ़ौजी कब्ज़ा क़ायम रहा। वहाँ सिर्फ़ अंग्रेज़ी फ़ौज रक्खी ही नहीं गई थी, बल्कि मिस्र की फ़ौज भी अंग्रेजों के ही नियंत्रण में थी। उसका अध्यक्ष 'फ़ौज के सरदार' के ख़िताबवाला एक अंग्रेज था। पुलिस के बड़े-बड़े अफ़सर भी अंग्रेज ही थे, और मिस्र में विदेशियों की रक्षा करने का बहाना बताकर ब्रिटिश सरकार अर्थ, न्याय और आन्तरिक महकमों पर भी नियंत्रण रखती थी। ग़रज़ यह कि, मिस्री शासन के हरेक महत्वपूर्ण काम पर अंग्रेजों का ही नियंत्रण था। स्वभावतः ही, मिस्रवासी इस बात पर ज़ोर देते थे कि अंग्रेजों को यह नियंत्रण हटा लेना चाहिए।

१९ नवम्बर १९२४ ई० को एक अंग्रेज सर ली स्टाक, जो 'मिस्री फ़ौज के सरदार' के पद पर था और जो सूडान का भी गवर्नर-जनरल था, कुछ मिस्रियों द्वारा क़त्ल कर दिया गया। क़ुदरती तौर पर इससे मिस्र के और इंग्लैण्ड के अंग्रेजों को बड़ा रंज पहुँचा। इससे मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ़्द के नेताओं को तो और भी ज्यादा रंज हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि इसके फलस्वरूप उनपर हमला किया जायगा। और यह हमला काफ़ी जल्दी सामने आगया। तीन ही दिन के अन्दर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लार्ड एलेनबी ने मिस्री सरकार को एक चुनौती दी, जिसमें नीचे लिखी मांगें फ़ौरन पूरी करने को कहा गया :—

१. माफ़ी माँगी जाय,
२. मुजरिमों को सज़ा दी जाय,
३. सब राजनैतिक प्रदर्शन बन्द कर दिये जायँ,

४. ५ लाख पौण्ड हर्जाना दिया जाय,

५. सूडान से २४ घंटे में तमाम मिस्री फ़ौजें हटा ली जायँ,

६. मिस्र के हित की दृष्टि से सूडान में आवपाशी के रकवे पर जो प्रतिवन्ध लगाया गया था वह हटा दिया जाय,

७. मिस्र में सव विदेशियों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो अधिकार हासिल कर लिया है, उसका आगे कोई विरोध न किया जाय। (इसमें इस वात का खास तौर से इशारा था कि अर्थ, न्याय और आन्तरिक महकमों में ब्रिटिश सत्ता क़ायम रक्खी जाय।)

इन सात माँगों पर कुछ ग़ौर किया जाना चाहिए। चूँकि कुछ लोगों ने सर ली स्टाक को क़त्ल कर दिया था, ब्रिटिश सरकार फ़ौरन, जाँच की सम्भावना के विना ही, कुल मिस्री सरकार यानी कुल मिस्री क़ौम के साथ मुजरिम का-सा वर्ताव करने लगी। इसके अलावा इस सारे मामले से उसने ख़ासा आर्थिक लाभ भी उठाया, और सबसे ज्यादा ग़ौर करने की वात यह है कि उसने इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर उन सव वातों का जवरन तसफिया करना चाहा जिनकी वावत उसमें और मिस्री सरकार में मतभेद था और जिनके वारे में कुछ ही महीने पहले लन्दन में सुलह की वातचीत शुरू होकर टूट चुकी थी। फिर उसनें इतना ही काफ़ी न समझकर यह भी कहा कि सव राजनैतिक प्रदर्शन निषिद्ध कर दिये जायँ ताकि मुल्क के सामान्य सार्वजनिक जीवन का प्रवाह ही वन्द होजाय।

उस क़त्ल के कारण इतनी मांगों का पेश किया जाना तो एक वडी असाधारण वात थी और एक क़त्ल से ब्रिटिश लोगों के लिए इतना फ़ायदा उठाना तो एक वडे तेज और उपजाऊ दिमाग़ का ही काम था। और इसमें ज्यादा ताज्जुव की वात एक यह भी थी कि अपराध और क़त्ल को रोकने के लिए ख़ास तौर पर जिम्मेदार समझ जाने लायक़ दो वडे अफ़सर (जो नाममात्र को मिस्री सरकार के मातहत थे), यानी काहिरा की पुलिस का अध्यक्ष और सार्वजनिक रक्षा के यूरोपीय विभाग (European Department of Public Safety) का डायरेक्टरजेनरल, अंग्रेज ही थे। क़त्ल के लिए उनको किसी ने जिम्मेदार नहीं समझा। लेकिन वेचारे मिस्री शासक-मण्डल पर, जिसने कि क़त्ल के वाद फौरन सख़्त रंज और अफसोस जाहिर कर दिया था, ब्रिटिश सरकार का भारी लेकिन वेरहमी से सोचा हुआ और फायदेमन्द ग़ुस्सा दिखाया गया।

मिस्री सरकार ने हद दर्जे की नम्रता प्रकट की। जग़लूलपाशा ने चुनौती की क़रीव-क़रीव सभी शर्तें मानलीं, और २४ घण्टे में ५ लाख पौण्ड का हर्जाना भी अदा कर दिया। सिर्फ़ सूडान के वारे में मिस्री सरकार नें कहा कि वह अपना हक़ नहीं छोड़ सकती। लेकिन इतनी नम्रता और मुआफ़ी भी लार्ड एलेनवी के लिए काफ़ी न

थी, और चूंकि सूडान-संबंधी शर्तें मानी नहीं गई थीं, इसलिए अंग्रेजों की तरफ़ से उसने सिकन्दरिया (एलेग्ज़ेण्ड्रिया) के कस्टम्स हाउस यानी चुंगीघर पर जबरन क़ब्ज़ा कर लिया, और इस तरह चुंगी की आमदनी पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। फिर, मिस्रवासियों के विरोध करने पर भी, उसने सूडान में इन शर्तों को लागू कर दिया और सूडान को ब्रिटिश बस्ती बना डाला। सूडान में फ़ौज की बग़ावतें भी हुईं, लेकिन उन्हें बेहद सख़्ती के साथ दबा दिया गया।

अंग्रेजों की इस कार्रवाई के ख़िलाफ़ ज़ग़लूलपाशा और उनकी सरकार ने फ़ौरन इस्तीफ़ा देदिया, और नवम्बर १९२४ के उसी महीने में शाह फ़ुआद ने पार्लमेण्ट तोड़ दी। इस तरह अंग्रेज लोग ज़ग़लूल और उसके दल 'वफ़्द' को उसके पद से निकाल बाहर करने और, कम-से-कम उस वक़्त के लिए ही सही, पार्लमेण्ट को ख़त्म कर देनें में कामयाब होगये। उन्होंने सूडान को अपने राज्य में मिला लिया, और इस तरह सूडान में नील नदी के पानी के नियन्त्रण द्वारा मिस्र का सरलता से गला घोंटने की ताक़त हासिल करली।

मिस्र की दुखिया पार्लमेण्ट ने एक खेदजनक घटना का साम्राज्यवादी लाभ के लिए दुरुपयोग करने के खिलाफ़ राष्ट्र-संघ में अपील की। लेकिन बड़ी शक्तियों के ख़िलाफ़ शिकायतों के बारे में तो राष्ट्रसंघ न कुछ सुन सकता है, न देख सकता है।

उस वक़्त से आजतक मिस्र में एक तरफ़ वफ़्ददल, जो कि लगभग सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, और दूसरी तरफ़ शाह फ़ुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर के गुट्ट के बीच, ज़िनका समर्थन अन्य विदेशी स्वार्थों और राज-दरबार के पिछलग्गू करते हैं, लगातार एक कशमकश चली आ रही है। ज्यादातर देश का शासन, राज्य-विधान के विरुद्ध भी डिक्टेटरशाहियों द्वारा चलता रहा है, जिसमें शाह फ़ुआद स्वेच्छाचारी बादशाह की तरह काम करता रहा है। जब कभी पार्लमेण्ट की बैठक होजाने दी गई, तभी फौरन उससे यह जाहिर होगया कि वफ़्ददल के साथ क़रीब-क़रीब सारा राष्ट्र है, और इसीलिए वह तोड़ दीगई। फ़ुआद की मदद पर अगर अंग्रेज और उनके नियन्त्रण में फ़ौज और पुलिस न होती, तो शायद वह इस तरह का अमल न कर सकता। 'आज़ाद' मिस्र के साथ लगभग वैसा ही बर्ताव किया जाता है जैसा कि हिन्दुस्तान में किसी देशी रियासत के साथ, जहाँकि असली सत्ता यानी अंग्रेज रेज़ीडेन्ट के इशारों के मुताबिक़ कार्य चलता है।

नवम्बर १९२४ ई० में पार्लमेण्ट तोड़ दी गई। मार्च १९२५ में नई पार्लमेण्ट की बैठक हुई। इसमें वफ़्ददल का भारी बहुमत था, और उसने फ़ौरन ज़ग़लूलपाशा को चैम्बर आफ़ डेप्युटीज के प्रधान-पद के लिए चुन लिया। यह बात न तो अंग्रेजों

को और न शाह फ़ुआद को अच्छी लगी, और इसलिए उसी दिन इस एक दिन की बिलकुल नई पार्लमेण्ट को तोड़ दिया गया। इसके पूरे एक साल बाद तक, विधान के ख़िलाफ़ भी, पार्लमेण्ट नहीं बनाई गई और फ़ुआद डिक्टेटर की तरह हुकूमत करता रहा। हाँ, उसके पीछे असली ताक़त थी ब्रिटिश कमिश्नर। सारे देश ने इसपर नाराजगी ज़ाहिर की, और शाह फ़ुआद और अंग्रेज़ों के इस गुट्ट का विरोध करने के लिए सैद ज़गलूल सब दलों को एक करलेने में कामयाब हुए। नवम्बर १९२५ में सरकारी निषेधाज्ञा की परवा न करते हुए पार्लमेण्ट के मेम्बरों की एक बैठक भी हुई। पार्लमेण्ट-भवन पर तो सैनिकों का क़ब्ज़ा था, इसलिए मेम्बरों को अपनी मीटिंग दूसरी जगह करनी पड़ी।

इस पर फ़ुआद ने अपने महल से एक हुक्मनामा जारी करके सारे विधान को ही बदल डालने की कोशिश की। उसकी मंशा यह थी कि विधान को अधिक अनुदार बना दिया जाय, ताकि पार्लमेण्टों पर ज्यादा आसानी से नियन्त्रण रक्खा जा सके और अधिकांश ज़गलूली लोगों का आना बन्द हो जाय। लेकिन इसके ख़िलाफ़ ज़बरदस्त पुकार उठी, और यह ज़ाहिर होगया कि नये तरीक़े के चुनावों का पूरा बहिष्कार किया जायगा। इसपर शाह फ़ुआद को झुकना पड़ा, और पुराने तरीक़े के मुताबिक़ ही चुनाव हुए। नतीजा था ज़गलूल के दल का भारी बहुमत, १४ के विरुद्ध २००। इससे ज्यादा इस बात का क्या सबूत हो सकता था कि राष्ट्र पर ज़गलूल का कितना असर है और मिस्र क्या चाहता है? इतना होने पर भी ब्रिटिश कमिश्नर ने (जो कि हिन्दुस्तान के एक भूतपूर्व गवर्नर लार्ड लायड थे) कहा कि उसे ज़गलूल के प्रधान मंत्री बनने पर ऐतराज़ है; और इसलिए दूसरा व्यक्ति मुक़र्रर किया गया। यह समझना ज़रा मुश्किल है कि अंग्रेज़ों को इस मामले में दख़ल देने से क्या सरोकार था। फिर भी नई सरकार पर ज़्यादातर ज़गलूल के दल का ही नियन्त्रण था और बहुत नरम होने की कोशिश करने पर भी वे लोग अक्सर लार्ड लायड के संघर्ष में आजाते थे, जो कि बड़ा सख़्त और ज़ालिम आदमी था और अक्सर उन्हें अंग्रेज़ी जंगी जहाज़ों की धमकी दिया करता था।

ब्रिटेन से समझौता करने की दूसरी कोशिश १९२७ ई० में की गई, लेकिन शाह फ़ुआद का नरम-से-नरम प्रधान मन्त्री भी ब्रिटेन की शर्तों को देखकर ताज्जुब में पड़ गया। सिर्फ़ क़ाग़ज़ी आज़ादी के दिखावे के अन्दर उनका असली मक़सद था मिस्र को अंग्रेज़ी संरक्षण में रखना। इसलिए सुलह की बातचीत फिर नाकामयाब रही।

जब ये समझौते की बातें चल रही थीं, तब, २३ अगस्त १९२७ को, सत्तर वर्ष की उम्र में, मिस्र के महान नेता सैद ज़गलूलपाशा की मृत्यु होगई। वह तो मर

गये; परन्तु उनकी स्मृति मिस्र में एक शानदार और क़ीमती विरासत की तरह अब भी ज़िन्दा है और जनता को स्फूर्ति प्रदान करती रहती है। उनकी पत्नी श्रीमती सफ़िया ज़ग़लूल अब भी जीवित हैं। राष्ट्र उनसे प्रेम और उनका आदर करता है। उसने उन्हें 'राष्ट्र की माता' की पदवी देदी है और उनका मकान, जो 'पीपल्स हाउस' (जनता का मकान) कहलाता है, एक अर्से से मिस्र के राष्ट्रवादियों का प्रधान केन्द्र है।

ज़गलूल के बाद मुस्तफ़ा नहसपाशा 'वफ़्द' का नेता बना। बाद में मार्च १९२८ में वह प्रधान मन्त्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता और जनता के शस्त्र रखने के अधिकार के बारे में कुछ सीधे-सादे आन्तरिक सुधार करने की कोशिश की। मार्शल-ला के ज़माने में इन अधिकारों को अंग्रेज़ों ने कम कर दिया था। ज्योंही मिस्र की पार्लमेण्ट ने इस सवाल पर ग़ौर करना शुरू किया त्योंही इंग्लैण्ड से धमकियाँ आईं कि ऐसा न किया जाय। यह अजीब बात है कि एक बिलकुल घरेलू मामले में इंग्लैण्ड इस तरह दख़ल दे। लेकिन अपने पुराने तरीक़े के अनुसार लार्ड लायड ने एक चुनौती पेश कर दी, और माल्टा से ब्रिटिश जंगी जहाज सनसनाते हुए एलेग्ज़ेण्ड्रिया (सिकन्दरिया) के बन्दरगाह में चले आये। नहसपाशा कुछ झुक गया, और उसने इन कानूनों पर विचार कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन के लिए स्थगित करना मंजूर कर लिया।

लेकिन अगला अधिवेशन तो होना ही न था। प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि ने, शाह फ़ुआद और ब्रिटिश कमिश्नर ने, ऐसी योजना की कि आगे पार्लमेण्ट को शरारत करने का मौक़ा ही न मिले। एक अजीब ढंग की साजिश की गई। नहस-पाशा अपने उच्च चरित्र और रिश्वत न लेने के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था। अचानक एक पत्र के आधार पर, जो बाद में जाली साबित हुआ, नहसपाशा और वफ़्द के एक काप्टिक[1] नेता पर रिश्वतख़ोरी का इलजाम लगाया गया। अदालती क्षेत्रों और अंग्रेज़ों द्वारा जबरदस्त प्रचार किया गया। मिस्र में ही नहीं बल्कि विदेशों में और ब्रिटिश एजेंसियों और अख़बारों के संवाददाताओं ने इस झूठे इलजाम को फैलाया। इस इलजाम की आड़ लेकर शाह फ़ुआद ने नहसपाशा से प्रधानमंत्रित्व से इस्तीफ़ा दे देने को कहा। लेकिन उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, और इसपर उसे फ़ुआद ने बरख़ास्त कर दिया। लायड-फ़ुआद साजिश की अगली योजना अब अमल में लाई गई। 'सहसा राजनैतिक परिवर्तन' किया गया, और एक ख़ास हुक्मनामा निकालकर शाह ने पार्लमेन्ट को मौक़ूफ़ कर दिया और विधान को बदल दिया। विधान में जो धारायें अख़बारों की आजादी और दूसरी नागरिक स्वतन्त्रताओं के बारे

१. प्राचीन मिस्रियों के ईसाई वंशजों को 'काप्ट' कहते हैं।

में थीं, उन्हें हटा दिया गया और डिक्टेटरशाही घोषित करदी गई। अंग्रेजी अख़बारों और मिस्र के यूरोपियनों ने बडी खुशियाँ मनाई।

डिक्टेटरशाही के होते हुए भी पार्लमेण्ट के मेम्बरों ने अपनी बैठक की और नई सरकार को ग़ैरक़ानूनी ऐलान कर दिया। लेकिन लायड और फ़ुआद ने इन मामलों की कोई चिन्ता न की। 'इन्साफ़ और अमन' का काम इतना ही होता है कि वह प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद का समर्थन करे, यह नहीं कि उनके विरुद्ध हथियार बन सके।

सरकारी दबाव के बावजूद, नहसपाशा के ख़िलाफ़ सरकार का मुक़दमा बुरी तरह गिर गया। उसपर लगाये हुए इल्ज़ाम झूठे साबित हुए और सरकार ने (उसकी ईमानदारी और उदारता कितनी आश्चर्यजनक थी!) हुक्म जारी कर दिया कि इस मुक़दमे का फ़ैसला कोई अख़बार न छापे! लेकिन ख़बर तो फ़ौरन फैल ही गई, और हर जगह लोगों को बडी खुशी हुई।

इस डिक्टेटरशाही ने, जिसकी पीठ पर लायड और ब्रिटिश फ़ौज थी, 'वफ़्द' दल यानी मिस्री राष्ट्रीयता को कुचल देने और तबाह कर देने की सख़्त कोशिश की। एक नियमित आतंकवाद और समाचारों पर पूरा सेंसर क़ायम होगया। इसके बावजूद राष्ट्रीयता के बडे-बडे प्रदर्शन हुए, जिनमें स्त्रियों ने ख़ास हिस्सा लिया। एक हफ़्ते तक हड़ताल हुई, जिसमें वकीलों वग़ैरा ने भी हिस्सा लिया, लेकिन सेंसर के कारण अख़बार उसकी ख़बर भी न छाप सके।

इस तरह १९२८ का वर्ष तूफ़ान और मुसीबत में ही गुज़रा। वर्ष के अख़ीर हिस्से में इंग्लैण्ड में राजनैतिक परिवर्तन हुआ और उसका असर फ़ौरन मिस्र पर भी पड़ा। वहाँ मज़दूर-दल की सरकार क़ायम होगई थी, और उसने शुरू में ही एक काम यह भी किया कि लायड को वापस बुला लिया, जो कि ब्रिटिश सरकार के लिए भी असह्य बन गया था। लायड के हटजाने से कुछ वक़्त के लिए फ़ुआद-अंग्रेज गुट्ट टूट गया। अंग्रेज़ों की मदद के वग़ैर फ़ुआद कुछ नहीं कर सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर १९२८ में पार्लमेण्ट के नये चुनाव होने दिये। फिर भी 'वफ़्द' दल का क़रीब-क़रीब सब जगहों पर क़ब्ज़ा होगया।

अंग्रेज़ों की मज़दूर-सरकार ने मिस्र से सुलह की बातचीत फिर शुरू की, और इस काम के लिए १९२९ में नहसपाशा लन्दन गया। इस बार मज़दूर-सरकार अपनी पहले की सरकारों से कुछ क़दम आगे बढ़ी और तीनों प्रतिबन्धों पर नहसपाशा का दृष्टिकोण मंजूर कर लिया गया। लेकिन चौथी बात—सूडान—की बाबत एकमत न हो सका। सुलह की बातचीत टूट गई। मगर इस बार पहले की बनिस्बत ज्यादा एकमत हो सका, और दोनों पक्ष एक-दूसरे के प्रति अधिक मित्रतापूर्ण रहे, और दोनों

ने आगे फिर बहस करने का वादा किया। नहसपाशा और 'वफ़्द' के लिए तो कुल मिलाकर यह एक कामयाबी ही थी, लेकिन मिस्र के ब्रिटिश और दूसरे विदेशी व्यापारियों और पूँजी लगानेवालों ने इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं किया। शाह फ़ुआद को भी यह बात अच्छी न लगी। कुछ महीने बाद, जून १९३० में, शाह और पार्लमेण्ट में झगड़ा होगया, और नहसपाशा ने प्रधानमंत्रित्व से इस्तीफ़ा दे दिया।

इस झगडे के अर्से में फ़ुआद ने फिर अपने शासन-काल में तीसरी बार डिक्टेटरशाही चलाई। पार्लमेण्ट तोड़ दी गई, 'वफ़्द'दल के अख़बार बन्द कर दिये गये, और आमतौर पर बडी सख़्ती शुरू होगई। पार्लमेण्ट की दोनों उप-सभाओं, चैम्बर और सिनेट, के सभी सदस्यों ने सरकार की परवा न की, और पार्लमेण्ट-भवन में ज़बरदस्ती घुसकर वहाँ एक अधिवेशन कर डाला। वहाँ, २३ जून १९३० को, उन्होंने विधान के प्रति वफ़ादार रहने की शपथ गंभीरतापूर्वक ली, और क़सम खाई कि हम अपनी सारी ताक़त लगाकर भी उसकी रक्षा करेंगे। देशभर में बडे-बडे प्रदर्शन किये गये। इन प्रदर्शनों को फ़ौजों द्वारा भंग किया गया, और बहुत-सा ख़ून बहाया गया। ख़ुद नहसपाशा के भी चोटें आईं। इस तरह कुछ मुट्ठीभर बडे और मालदार लोगों को छोड़कर, जो शाह के पिछलग्गू थे, सारा राष्ट्र जिस डिक्टेटरशाही के ख़िलाफ़ था, उसकी हिफ़ाजत फ़ौज और पुलिस और उसके अंग्रेज अफ़सरों ने की। वफ़्दियों के अलावा दूसरे नरम और लिबरल लोगों ने भी, जोकि हिन्दुस्तान की तरह जनता की तरफ़ से होनेवाले हर तेज काम से अपना विरोध जाहिर करते रहते थे, इस डिक्टेटरशाही के ख़िलाफ़ अपनी आवाज बुलंद की।

बाद में, उसी साल, सन् १९३० में, शाह ने एक हुक्मनामा निकाला जिसके ज़रिये एक नये विधान का ऐलान किया गया, जिसमें उसने पार्लमेण्ट के अधिकार कम कर दिये और अपने बढ़ा लिये। ऐसा काम कर लेना कितना आसान था! सिर्फ़ एक ऐलान कर दिया गया और काम होगया, क्योंकि शाह के पीछे एक साम्राज्यवादी ताक़त की कठोर मूर्ति छिपी हुई थी।

मैंने मिस्र के १९२२ से १९३० तक के इन नौ वर्षों की कहानी तुमसे कुछ विस्तार में कही है, क्योंकि मुझे यह एक बडी ग़ैर-मामूली कहानी मालूम हुई है। अंग्रेजों के फरवरी १९२२ के ऐलान के मुताबिक, ये वर्ष मिस्र की 'आजादी' के वर्ष थे। मिस्री लोग क्या चाहते थे इसमें भी कोई शंका नहीं हो सकती थी। जब कभी उन्हें अवसर दिया गया तभी उन्होंने मुस्लिम और काप्ट, इन दोनों धर्म के लोगों ने, भारी बहुमत से वफ़्दियों को ही चुना। लेकिन चूंकि वे यही चाहते थे कि राष्ट्र का अर्थ-शोषण करने की विदेशियों की, ख़ासकर ब्रिटिश लोगों की, ताक़त कम करदी जाय,

इसलिए इन सब विदेशी स्थापित स्वार्थों ने हर तरह से, ज़ोर और ज़बरदस्ती से, जालसाज़ी और षड्यन्त्र से, उनका विरोध किया, और अपने हुक्मों को पूरा करने के लिए अपना एक आज्ञाकारी शाह खड़ा कर दिया।

वफ़्द-आन्दोलन एक विशुद्ध राष्ट्रवादी मध्यमवर्गीय आन्दोलन रहा है। यह क़ौमी आज़ादी के लिए लड़ा, लेकिन उसने सामाजिक समस्याओं में दख़ल नहीं दिया। जब कभी पार्लमेण्ट ने कुछ भी कार्य किया, तब-तब उसने तालीम व दूसरे महकमों में कुछ अच्छा ही काम कर दिखाया। दरहक़ीक़त, राष्ट्रीय लड़ाई चलते हुए भी, इस थोड़े-से अर्से में पार्लमेण्ट ने इतना काम किया जितना कि पिछले चालीस सालों में ब्रिटिश हुकूमत ने नहीं किया था। वफ़्द-दल किसानों में भी लोकप्रिय है, जैसा कि चुनावों और बड़े-बड़े प्रदर्शनों से ज़ाहिर होजाता है। लेकिन फिर भी, चूंकि यह आन्दोलन ख़ास तौर पर मध्यम-वर्गीय आन्दोलन है, उसने आम जनता को इतना नहीं उठाया है जितना कि सामाजिक परिवर्त्तन का उद्देश्य रखनेवाला कोई आन्दोलन उठा सकता था।

मैंने यह कहानी १९३० के अख़ीर तक पहुँचा दी है। बाद में भी राष्ट्रवादियों और शाह में कशमकश चलती रही, लेकिन ठीक तौर पर मुझे मालूम नहीं है कि पिछले वर्षों में क्या-क्या हुआ। जबसे मैं जेल में हूँ तबसे अख़बारों में तो मिस्र का शायद ही कहीं ज़िक्र आता हो। शायद इसका मतलब यही है कि डिक्टेटरशाही चल रही है, और उसके साथ उसका लँगोटिया यार सेन्सर भी। इस बात का कि इंग्लैण्ड में अनुदार-दल की हुकूमत है, जो कि अपने साम्राज्यवाद पर अभिमान करता है, अर्थ यही है कि मिस्र में अंग्रेज़ों की दमन करने की सख़्त नीति होनी चाहिए। इस हालत में शाह फ़ुआद दुःखी मिस्री लोगों की परवा न करते हुए फ़िलहाल तो काम जारी रख सकता है।

इस प्रकार ख़त को ख़त्म करने से पहले मैं स्त्रियों के आन्दोलन के बारे में भी कुछ कहना ज़रूरी समझता हूँ। सारे अरब देशों में, शायद ख़ुद अरब को छोड़कर, स्त्रियों में बड़ी भारी जागृति होगई है। दूसरे कई मामलों की तरह इस मामले में भी मिस्र इराक़ या सीरिया या फ़िलस्तीन से आगे बढ़ा हुआ है। लेकिन इन सब देशों में स्त्रियों का एक संगठित आन्दोलन है, और जुलाई १९३० में अरब स्त्रियों की पहली कांग्रेस दमिश्क में हुई। उन्होंने राजनैतिक मामलों की बनिस्बत संस्कृतिक और सामाजिक प्रगति पर ज़्यादा ज़ोर दिया। उन्होंने अरबी स्वदेशीवाद की घोषणा की है। मिस्र में स्त्रियाँ राजनीति की तरफ़ ज़्यादा झुकी हैं। वे राजनैतिक प्रदर्शनों में हिस्सा लेती हैं और उनका एक मज़बूत स्त्री-मताधिकार-संघ भी है। वे विवाह-

क़ानून का अपने हक़ में सुधार और व्यवसाय आदि में समान अवसर चाहती हैं। मुस्लिम और ईसाई स्त्रियाँ एक-दूसरे से पूरी तरह सहयोग करती हैं। बुरके की आदत सब जगह, ख़ासकर मिस्र में, घट रही है। तुर्की की तरह बुर्क़ा बिलकुल ग़ायब तो नहीं होगया है, लेकिन टूटता जा रहा है।

: १६५ :

पश्चिमी एशिया का विश्व-राजनीति में पुनः प्रवेश

२५ मई, १९३३

एक छोटी-सी जलधारा ही मिस्र और अफ़रीका को पश्चिमी एशिया से अलग करती है। अब इस स्वेज नहर को हम पार करें और अरब, फिलस्तीन, सीरिया और इराक़—जो कि सभी अरब-देश हैं—और उनसे ज़रा आगे ईरान पर एक नज़र डालें। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इतिहास में पश्चिमी एशिया का एक ज़बरदस्त हिस्सा रहा है और अकसर यह दुनिया की घटनाओं की धुरी रहा है। इसके बाद कई सौ वर्षों का एक ऐसा ज़माना आया, जब यह प्रदेश महत्वपूर्ण नहीं रहा। यह एक खाई या गड़हिया-सा बन गया; जीवन की धारा इसके पास से हरहराती हुई निकल गई, लेकिन इसकी शान्त सतह पर उससे कोई हलकी-सी लहर तक पैदा न हुई। और अब हम एक दूसरी तब्दीली देख रहे हैं जो 'मध्य-पूर्व' के देशों को फिर संसार की रंगभूमि पर लाती है। पूर्व और पश्चिम को जोड़नेवाला राजमार्ग अब फिर इन्हीं देशों में से होकर गुज़रने लगा है। इस बात की तरफ़ हमारा ध्यान जाना चाहिए।

जब कभी मैं पश्चिमी एशिया का विचार करने लगता हूँ तो मुझे भूतकाल में डूब जाने का अंदेशा रहता है। मेरे दिमाग़ में प्राचीन काल के इतने चित्र भर जाते हैं कि मैं उनके आकर्षण को रोक नहीं सकता। लेकिन अब मैं अपने आप को इन आकर्षणों में न फँसने दूंगा। फिर भी मैं तुम्हें यह याद दिलाना ज़रूरी समझता हूँ, ताकि तुम भूल न जाओ कि इतिहास के बिलकुल प्रारम्भ से ही कई हज़ार वर्षों तक दुनिया के इस हिस्से का बड़ा भारी महत्व रहा है। इतिहास में सात हज़ार वर्ष पहले प्राचीन चैल्डिया का धुंधला चित्र दिखाई देता है। यहाँ आजकल का इराक़ है। इसके बाद बेबीलोन का चित्र आता है और बेबीलोन वालों के बाद क्रूर असीरियन नज़र आते हैं जिनकी महान् राजधानी निनेवा में थी। फिर असीरियन लोगों की भी हटने की बारी आजाती है, और ईरान से एक नया राजवंश और नई जाति आजाती है, जो हिन्दुस्तान की सरहद से मिस्र तक सारे 'मध्य-पूर्व' को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़

नचाती है। ये लोग ईरान के अकेमेनीद थे, जिनकी राजधानी परसीपोलिस थी। इन्हींमें से 'महान्‌नरेश' साइरस, डेरियस (दारा) और जरक्सीज पैदा हुए, जिन्होंने छोटे यूनान पर हावी होने की कोशिश की, लेकिन उसे जीत न सके। बाद में इन्हें यूनान बल्कि मेसीडोनिया के एक लाल सिकन्दर के हाथों शिकस्त खानी पड़ी। सिकन्दर की जिन्दगी में एक अजीब घटना यह हुई कि इस एशिया और योरप की सन्धि-भूमि में उसने वह योजना की, जिसे इन दोनों महाद्वीपों का 'विवाह' कहा जाता है। उसने ख़ुद ईरानी बादशाह की लड़की से विवाह किया (हालांकि उसकी कुछ पत्नियाँ पहले से मौजूद थीं) और उसके हज़ारों अफ़सरों और सिपाहियों ने भी ईरानी कन्याओं से विवाह किये।

सिकन्दर के बाद मध्य-पूर्व में, हिन्दुस्तानी सरहद से लेकर मिस्र तक, कई सदियों तक यूनानी संस्कृति प्रधान रही। इसी जमाने में रोम की शक्ति का उदय हुआ और वह एशिया की तरफ़ फैलने लगी। सासानियों के नये ईरानी साम्राज्य ने उसकी बढ़ती को रोक दिया। पूर्वी साम्राज्य के भी दो टुकडे होगये, पश्चिमी साम्राज्य और पूर्वीय साम्राज्य, और पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया होगई। पश्चिमी एशिया के इन मैदानों पर पूर्व और पश्चिम की पुरानी कशमकश चलती रही, और इसमें खास हिस्सा लेनेवाले थे एक तो कुस्तुनतुनिया का बिजेण्टाइन साम्राज्य और दूसरा ईरानी सासानी साम्राज्य। और इसी सारे जमाने में जनता के बडे-बडे कारवान ऊँटों पर व्यापारिक चीजें लाद कर इन मैदानों में पूर्व से पश्चिम को और पश्चिम से पूर्व को आया-जाया करते थे, क्योंकि 'मध्य-पूर्व' उस युग में संसार का एक बड़ा भारी राजमार्ग था।

पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में तीन महान् धर्मों का जन्म हुआ था—यहूदी-धर्म, जरथुस्त्रधर्म (जो मौजूदा पारसियों का धर्म है), और ईसाई-धर्म। अब अरब के रेगिस्तान में एक चौथा धर्म और पैदा हुआ, जो जल्दी ही दुनिया के इस हिस्से में इन सब धर्मों पर हावी होगया। इसके बाद हमें बग़दाद का अरब साम्राज्य और पुराने संघर्ष का एक नया रूप, बिजेण्टाइन के विरुद्ध अरब लोगों का युद्ध, नजर आता है। फिर लम्बे और शानदार कारनामों के बाद अरब-संस्कृति भी मन्द पड़ जाती है। और सेलजूक तुर्क आगे आजाते हैं, और अन्त में मंगोल चंगेजखाँ के वारिसों द्वारा वह बिलकुल दबा दी जाती है।

लेकिन मंगोलों के पश्चिम में आने से पहले ही, एशिया के पश्चिमी किनारों पर ईसाई पश्चिम और मुस्लिम पूर्व के दरमियान ख़ौफ़नाक लड़ाइयाँ शुरू हो चुकी थीं। ये क्रूसेड के युद्धों के नाम से मशहूर हैं, जो बीच-बीच में बन्द होकर ढाई

सौ वर्ष तक, यानी क़रीब तेरहवीं सदी के मध्य तक, जारी रहे। ये युद्ध धर्म-युद्ध समझे जाते हैं, और असल में थे भी। लेकिन इन युद्धों के लिए धर्म कारण की बनिस्वत बहाना ही ज्यादा था। उस जमाने में योरप के लोग पूर्व की बनिस्वत पिछड़े हुए थे। वह योरप का अन्धकारयुग था। लेकिन योरप जागता जा रहा था, और आगे बढ़ा हुआ और सभ्य पूर्व उसे चुम्बक की तरह खींचता जा रहा था। पूर्व की तरफ़ की इस खिंचावट ने कई शक्लें इख़्तियार कीं, और इसमें क्रूसेड की लड़ाई सबसे महत्वपूर्ण थी। इन युद्धों के फलस्वरूप योरप ने पश्चिमी एशियाई देशों से बहुत बातें सीखीं। उसने बहुत-सी ललित कलायें, कारीगरियाँ और विलास की आदतें सीखीं, और अधिक महत्वपूर्ण बात जो सीखीं वे थीं कार्य और विचार की वैज्ञानिक पद्धतियाँ।

क्रूसेड की लड़ाइयाँ अभी ख़त्म भी न होने पाई थीं कि पश्चिमी एशिया पर मंगोल लोग आ टूटे, जो अपने साथ विनाश और बरबादी लेकर आये। लेकिन हमें मंगोलों को बिलकुल विनाशक ही नहीं समझना चाहिए। चीन से रूस तक भारी तादाद में जाने की उनकी हलचल ने दूर-दूर की जातियों में आपसी ताल्लुक़ात क़ायम कर दिये और व्यापार और समागम को प्रोत्साहित किया। उनके महान् साम्राज्य में कारवानों के पुराने रास्ते मुसाफ़िरी के लिए महफ़ूज़ होगये, और सिर्फ़ व्यापारी ही नहीं बल्कि राजनीतिज्ञ, धर्म-प्रचारक और दूसरे लोग भी बड़ी लम्बी यात्राओं पर आने-जाने लगे। 'मध्य-पूर्व' संसार के इन प्राचीन राजमार्गों की सीध में पड़ता था। यही एशिया और योरप को जोड़नेवाली कड़ी थी।

तुम्हें शायद याद होगा कि मंगोलों के जमाने में ही मार्कोपोलो अपने निवास-स्थान वेनिस से बड़ी लम्बी यात्रा करके एशिया में से गुजरता हुआ चीन पहुँचा था। हमें उसकी लिखी हुई, या यों कहो कि लिखाई हुई, एक किताब मिलती है, जिसमें उसने अपनी यात्रा का हाल बताया है और इसीलिए हम उसका नाम जानते हैं। और भी कई लोगों ने ऐसी ही लम्बी यात्रायें की होंगी, लेकिन उन्होंने उनके बारे में कुछ लिखा नहीं, और अगर लिखा भी होगा तो उनकी किताबें नष्ट होगई होंगी, क्योंकि उस जमाने में किताबें हाथ से लिखी जाती थीं। उस युग में एक देश से दूसरे देश में कारवान हमेशा आते-जाते रहते थे, और हालाँकि उनका ख़ास काम व्यापार था, लेकिन उनके साथ कई लोग दौलत पैदा करने या साहसी काम करने के लिए भी चले जाते थे। पुराने जमाने का एक और यात्री है जो मार्कोपोलो जैसा ही है। इसका नाम था इब्न-बतूता। यह एक अरब था, जिसका जन्म चौदहवीं सदी के शुरू में मोरक्को के टैन्जियर नामक स्थान पर हुआ था। इस तरह वह मार्कोपोलो से

एक ही पीढ़ी बाद हुआ। मेरा ख़याल है कि मैंने इसका ज़िक्र अपने पिछले ख़तों में कहीं किया है। उस वक़्त मैंने उसकी यात्राओं की पुस्तक नहीं पढ़ी थीं। हाल में ही मैंने यह किताब पढ़ली है, और पढ़ते वक़्त मैं उसके भ्रमण-प्रेम को, जिसे जर्मन लोग भ्रमण-पिपासा यानी सैलानीपन कहते हैं, देखकर दंग रह गया। इक्कीस वर्ष की छोटी-सी उम्र में वह इस विस्तृत दुनिया के लम्बे सफ़र के लिए निकल पड़ा, और उसके पास सिवा अपनी बुद्धिमत्ता और एक मुसलमान काज़ी से पाई हुई तालीम के और कुछ न था। मोरक्को से सारा उत्तरी अफ़रीका पार करके वह मिस्र पहुँचा, और फिर अरब, सीरिया और ईरान को गया। फिर उसने अनातोलिया (तुर्की), दक्षिणी रूस (जो 'सुनहरे कबीलों' के मंगोल खानों के अधीन था), और कुस्तुन्तुनिया (जो उस समय भी बिज़ेण्टियम की राजधानी थी) और एशिया और हिन्दुस्तान के सफ़र किये। उसने हिन्दुस्तान को उत्तर से दक्षिण तक पार किया, मलाबार और लंका गया, और वहाँ से चीन पहुँचा। लौटने पर वह अफ़रीका के आसपास सफ़र करता रहा, और सहारा का रेगिस्तान भी पार किया! यह भ्रमण का इतना बड़ा रिकार्ड है कि आजकल की हमारी तमाम सहूलियतें होते हुए भी इस ज़माने में काफ़ी दुर्लभ है। चौदहवीं सदी के पहले आधे हिस्से के बारे में तो यह आश्चर्यजनक रूप से हमारी आँखें खोल देता है। इससे पता लगता है कि उस ज़मानें में सफ़र करने का कैसा आम रिवाज था। कुछ भी हो, इब्न-बतूता सभी युगों के महान् यात्रियों में गिना जाना चाहिए।

इब्न-बतूता की किताब में जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ-वहाँके लोगों और देशों के बारे में बड़े दिलचस्प बयान हैं। उस ज़माने में मिस्र दौलतमन्द था, क्योंकि पश्चिम के साथ होनेवाली सारी हिन्दुस्तानी तिजारत उसके अन्दर से गुज़रती थी, और यह बड़े मुनाफ़े का व्यापार था। इन्हीं मुनाफ़ों से काहिरा एक बड़ा शहर बना हुआ था, जिसमें सुन्दर-सुन्दर स्मारक थे। इब्न-बतूता कहता है कि हिन्दुस्तान में जातियाँ थीं, 'सती-प्रथा' थी, और 'पान-सुपारी' देने का रिवाज था। वह बताता है कि हिन्दुस्तानी व्यापारी विदेशी बन्दरगाहों में जाकर भारी व्यापार करते थे, और समुद्रों पर हिन्दुस्तानी जहाज़ आया-जाया करते थे। वह ख़ास तौर पर देखता है और बयान करता है कि सुन्दर स्त्रियाँ कहाँ-कहाँ हैं, और उनकी वेश-भूषा, उनके गंध और उनके आभूषण कैसे हैं। वह दिल्ली के बारे में लिखता है कि यह "हिन्दुस्तान की राजधानी है; बड़ा भारी और शानदार शहर है, जहाँ सुन्दरता और शक्ति आकर इकट्ठी होगई है।" यह पागल सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ का ज़माना था, जिसनें कि गुस्से में आकर अपनी राजधानी दिल्ली से दक्षिण के दौलताबाद को तब्दील कर दी थी, और इस

तरह इस "बड़े भारी और शानदार शहर" को एक रेगिस्तान—"थोड़ेसे निवासियों के सिवा, सारा ख़ाली और वीरान"—बना दिया था, और ये थोड़े-से निवासी भी बहुत बाद में चुपचाप आकर रहने लगे थे।

मैंने इब्न-बतूता का सरसरी तौर पर ही बयान करने की कोशिश की है। पुराने ज़माने की ये भ्रमण-कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि चौदहवीं सदी तक 'मध्य-पूर्वी' या पश्चिमी एशिया का दुनिया के मामलों में बड़ा हिस्सा था, और वह पूर्व और पश्चिम को जोड़नेवाली ख़ास कड़ी थी। लेकिन इसके अगले सौ वर्षों में हालत बदल गई। उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और वे मध्य-पूर्व के इन सारे देशों में, और मिस्र में भी, फैल गये। उन्होंने योरप के साथ होनेवाले व्यापार की तरक़्क़ी नहीं की। शायद इसका एक सबब यह भी था कि यह व्यापार उनके भूमध्यसागर के प्रतिस्पर्धी वेनिस और जिनोवा-वासियों के हाथ में था। व्यापार का रास्ता भी बदल गया, क्योंकि अब नये समुद्री रास्ते खोज निकाले गये थे और उन्होंने कारवान के पुराने खुश्की रास्तों की जगह लेली थी। इस तरह पश्चिमी एशिया में से गुज़रनेवाले इन रास्तों का, जिन्होंने कई हज़ार वर्षों तक बड़ा काम दिया था, इस्तेमाल बन्द होगया, और जिन देशों में से वे गुज़रते थे वे भी रंग-भूमि के केन्द्र से दूर जा पड़े।

सोलहवीं सदी के शुरू से उन्नीसवीं सदी के अख़ीर यानी क़रीब चार सौ वर्ष तक, समुद्री रास्ते बहुत ज़्यादा महत्वपूर्ण रहे और वे खुश्की के रास्तों पर हावी होगये—ख़ासकर वहाँ जहाँ रेलें नहीं थीं। और पश्चिमी एशिया में तो रेलें थीं ही कहाँ? महायुद्ध से कुछ पहले कुस्तुन्तुनिया से बग़दाद तक रेल बनाने की एक योजना बनाई गई थी, जिसका समर्थन जर्मन सरकार करती थी। दूसरी ताक़तें जर्मनी की इस योजना से बहुत जलती थीं, क्योंकि इससे मध्य-पूर्व में जर्मन प्रभाव बढ़ने की संभावना थी। लेकिन इसी बीच युद्ध आ गया।

१९१८ में जब महायुद्ध ख़त्म हुआ, तो पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन ही सबसे जबरदस्त ताक़त थी और, जैसा कि मैं बता चुका हूँ, थोड़े समय तक तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की चकित आँखों के आगे हिन्दुस्तान से लेकर तुर्की तक एक बड़े मध्य-पूर्वीय साम्राज्य का सुन्दर सपना दिखाई देता रहा। लेकिन वह पूरा न हो सका। बोलशेविक रूस और कमालपाशा और दूसरे कारणों ने उस सपने के पूरा होने में बाधा डालदी। फिर भी इंग्लैण्ड एक काफ़ी बड़े टुकड़े पर तो क़ब्ज़ा जमाये ही रहा। इराक़ और फ़िलस्तीन ब्रिटिश नियन्त्रण में हैं (हालांकि मिस्र की तरह इराक़ भी आज़ाद समझा जाता है); सीरिया फ़्रांसीसियों के मातहत है; ईरान

और अरब बहुत कुछ आज़ाद देश हैं। इस तरह हालाँकि ब्रिटिश लोग अपनी बड़ी महत्वाकांक्षा को पूरा न कर सके, फिर भी वे हिन्दुस्तान को जानेवाले रास्तों पर क़ब्ज़ा रखने की अपनी पुरानी नीति पर जमे रहने में कामयाब रहे। इसी उद्देश्य से ब्रिटिश फ़ौजों नें महायुद्ध के ज़माने में मेसोपोटामिया और फ़िलस्तीन नें लड़ाइयाँ लड़ी थीं और तुर्की के ख़िलाफ़ अरबी बग़ावत को प्रोत्साहन और मदद दी थी। इसी कारण इंग्लैण्ड और तुर्की में युद्ध के बाद मोसल की बाबत बड़ा झगड़ा खड़ा हो गया था। और इंग्लैण्ड और सोवियट रूस के मन-मुटाव का भी यही ख़ास कारण है, क्योंकि इंग्लैण्ड इस ख़याल से नफ़रत करता है कि रूस जैसी बड़ी ताक़त हिन्दुस्तान के रास्ते के पड़ौस में ही रहे।

महायुद्ध से पहले जिन दो रेलवे लाइनों बग़दाद-रेलवे और हेजाज़-रेलवे—की बाबत इतना झगड़ा था, वे अब बन चुकी हैं—बग़दाद-रेलवे भूमध्यसागर और योरप को बग़दाद से जोड़ती है। हेजाज़-रेलवे अरब के मदीना शहर को बग़दाद-रेलवे से अलप्पो पर मिलाती है। (हेजाज़, जिसमें इस्लाम के पवित्र नगर मक्का और मदीना हैं, अरबस्तान का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है।) इस तरह पश्चिमी एशिया के कई महत्वपूर्ण शहर रेल के ज़रिये योरप और मिस्र से जुड़ गये हैं और उन तक पहुँचना आसान होगया है। अलप्पो का शहर एक महत्वपूर्ण रेलवे-जंकशन बनता जा रहा है, क्योंकि तीन महाद्वीपों की रेलें—योरप से आने वाली लाइन, एशिया से बग़दाद होकर आनेवाली लाइन और अफ़रीका से क़ाहिरा होकर आनेवाली लाइन—वहीं आकर इकट्ठी होनेवाली हैं। ब्रिटिश नीति का उद्देश्य बड़े अरसे से एशिया और अफ़रीका के इन रास्तों पर नियन्त्रण करना रहा है। एशियाई मार्ग अगर बग़दाद से आगे बढ़ा दिया जाय तो हिन्दुस्तान तक पहुँच सकता है। अफ़रीकन मार्ग अफ़रीका महाद्वीप के आर-पार कैरो से दक्षिण में केपटाउन तक जायगा ही। केपटाउन से काहिरा तक खिंची हुई रेलवे की पूर्ण लाल रेखा का स्वप्न ब्रिटिश साम्राज्यवादी बहुत समय से देख रहे हैं, और अब वह पूर्ण होने के क़रीब आ पहुँचा है—'पूर्णलाल' का अर्थ यह है कि वह सारे रास्ते भर अंग्रेज़ी इलाक़े में से गुज़रती हुई जाय, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य ने नक्शे में लाल रंग पर अपना एकाधिकार कर लिया है।

लेकिन, पता नहीं भविष्य में ये बातें पूरी हों या न हों, क्योंकि अब मोटर-कारों और हवाईजहाज़ों के रूप में रेलवे के ज़बरदस्त दुश्मन खड़े होगये हैं। यह भी मुमकिन है कि इन स्वप्नों के पूरे होने से पहले ही खुद ब्रिटिश साम्राज्य ही ख़तम होजाय। इस बीच, यह याद रखने लायक़ है कि पश्चिमी एशिया में बग़दाद और हेजाज़ की इन दोनों नई रेलों पर ज़्यादातर अंग्रेज़ों का ही नियन्त्रण है, और

वे अपने नियन्त्रण के अधीन, हिन्दुस्तान के लिए नया और छोटा रास्ता खोलने की ब्रिटिश नीति का उद्देश्य पूरा करती हैं। बग़दाद-रेलवे का एक हिस्सा सीरिया में से गुज़रता है, जो फ़्रांसीसियों के नियंत्रण में है। फ्रांस की इस अधीनता को बुरा समझकर, ब्रिटिश अब उसकी जगह एक नई लाइन फ़िलस्तीन में से बनाना चाहते हैं। एक और छोटी-सी रेलवे अरबिस्तान में लालसागर के बन्दरगाह, जद्दाह और मक्का के बीच बन रही है। इससे हर साल लाखों की तादाद में मक्का जानेवाले यात्रियों को बड़ा आराम होजायगा।

इन रेलों के बारे में, जोकि पश्चिमी एशिया को संसार के लिए खोल रही हैं, इतना बयान किया गया। लेकिन अपने उद्देश्य को पूरा करने से पहले ही इन रेलों का महत्व कुछ कम हो रहा है, क्योंकि उनकी जगह मोटरकारें और हवाईजहाज़ आ रहे हैं। मोटरकार बहुत जल्दी रेगिस्तान के अनुकूल बन गई है, और जिन कारवानी रास्तों से पहले हज़ारों वर्ष तक धैर्यशाली ऊँट धीरे-धीरे चलते रहे हैं उन्हींपर वह अब सरपट दौडी जाती है। रेल बडी ख़र्चीली चीज़ है और उसके बनाने में वक़्त लगता है। लेकिन मोटर में खर्च कम लगता है, और जब ज़रूरत हो तभी वह चलाई जा सकती है। लेकिन मोटर-कारें और लारियाँ आम तौर पर ज्यादा दूरी तक काम नहीं देतीं। वे अपेक्षाकृत छोटे रक़बों में, ज्यादा-से-ज्यादा एक सौ मील तक, आती-जाती हैं।

ज्यादा दूरी के लिए तो हवाई जहाज़ है ही। इसमें भी रेल से कम ख़र्च पड़ता है और उससे कहीं ज्यादा तेज़ चलता है। इसके लिए सड़क या रास्ता बनाना नहीं पड़ता। इसमें संदेह नहीं हो सकता कि सवारियाँ या माल लाने-लेजाने के लिए अब वायुयानों का उपयोग तेजी से बढ़ता जायगा। अबतक भी बहुत भारी तरक़्क़ी होचुकी है, और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक बडे-बडे जहाज़ नियमित रूप से जाते रहते हैं। पश्चिमी एशिया फिर इन महान् वायु-मार्गो का सम्मेलन-स्थान बन रहा है, और बग़दाद ख़ासतौर पर इन सब का केन्द्र है। अब तो ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज़ नामक कम्पनी के नियमित साप्ताहिक हवाई जहाज़ योरप को पार करते हुए बग़दाद आया करते हैं और वहाँसे हिन्दुस्तान आते हैं। आजकल वे कराची पर रुक जाते हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध दिल्ली और बम्बई और मद्रास को जानेवाली हवाई सरविसों से है। यह तजवीज भी की जारही है कि इन हवाई जहाज़ों के सिलसिले को कलकत्ता, रंगून और सिंगापुर तक बढ़ाया जाय, और वहाँसे एक शाखा हांगकांग जाय और दूसरी फूटकर आस्ट्रेलिया चली जाय।

ब्रिटिश हवाई मार्ग की एक दूसरी योजना है लंदन से काहिरा तक, और वहाँ

से आगे पूर्वी अफ़रीका होते हुए केपटाउन तक (मुझे मालूम नहीं कि आजकल यह मार्ग जारी होगया है या नहीं) । यह सारा रास्ता भी क़रीब-क़रीब ब्रिटिश इलाक़े में से होकर ही जायगा । इस तरह तुम्हें मालूम होगा कि अंग्रेज़ों की हवाई योजनाएं कल्पना में बहुत बडी-बडी हैं । उनका फैलाव योरप, एशिया और अफ़रीका तीनों महाद्वीपों में और आस्ट्रेलिया तक है । यह सब उनके साम्राज्य के कारण जरूरी होगया है । पहले जमाने में उनके लिए समुद्री ताक़त जरूरी थी, और उन्होंने समुद्रों पर बहुत अर्से तक क़ब्ज़ा रक्खा । लेकिन अब तो समुद्री ताक़त का महत्व बहुत कम होगया है । आजकल इंग्लैण्ड के टापू की रक्षा समुद्री ताक़त से भी निश्चित नहीं रही । क्योंकि हवाई जहाज़ों के लिए तो समुद्रों को पार करना और बमों से शहरों और कारख़ानों को बरबाद कर देना बड़ा ही आसान है । अगर ख़ुद इंग्लैंड पर हवाई हमले का ख़तरा रहता है, तो बडे भारी फैले हुए साम्राज्य पर तो और भी ख़तरा होना चाहिए । इसीलिए हवाई ताक़त का महत्व होगया है । हर बडी ताक़त अब हवा में प्रबल बनने की इच्छा कर रही है, और पुरानी समुद्री प्रतिस्पर्धा के स्थान पर अब हवाई प्रतिस्पर्धा होने लगी है । हर देश शान्ति-कालीन हवाई सफ़र को प्रोत्साहन और सहायता दे रहा है, क्योंकि इससे सुशिक्षित हवाई जहाज-चालकों का एक दल तैयार हो-जाता है, जो युद्ध के वक्त में भी काम दे सकेगा । इसे फ़ौजी वायु-यात्रा, जिसका ताल्लुक़ सिर्फ़ लड़ाई करने और बम फेंकने से ही होता है, न कहकर मुल्की या 'सिविल' वायु-यात्रा कहते हैं । सच तो यह है कि जब भी संकट आये, शान्तिकालीन सफ़री हवाई जहाजों में युद्ध-सम्बन्धी चीज़ें जोड़कर उन्हें बडी आसानी से लड़ाई के लायक़ बनाया जा सकता है ।

'सिविल' या मुल्की वायु-यात्रा की तरक्क़ी के लिए जिस तरह ब्रिटेन की बडी-बडी योजनायें हैं, उसी तरह दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों की भी हैं । फ़्रांसीसी हवाई जहाज पेरिस-मार्सलीज या मर्साई-बेरुत से जाते हैं, बग़दाद पहुँचते हैं, और वहाँसे हिन्दुस्तान और इंडो-चाइना के सैगोन नगर को जाते हैं । फ़्रांस की दूसरी हवाई सरविसें भूमध्यसागर और सहारा रेगिस्तान के उसपार भी जाती हैं । हालैण्ड की भी एक नियमित सरविस एम्सटर्डम से जावा के बटेविया शहर जाती है, जो बग़दाद और हिन्दुस्तान में से गुजरती है । मेरा ख़याल है कि शायद तुमने इलाहाबाद के पास बमरौली में उनके बडे-बडे हवाई जहाज देखे होंगे, क्योंकि हिन्दुस्तान में से गुजरनेवाली ये बडी-बडी सरविसें ज्यादातर सभी इलाहाबाद होकर जाती हैं ।

मुझे इस ख़त में इस वक़्त दुनिया में चलनेवाली तमाम हवाई सरविसों की फ़ेहरिस्त नहीं देना है । आजकल तो ऐसी सैकडों सरविसें चल रही हैं, और योरप

और उत्तरी अमेरिका में तो कोई भी क़रीब-क़रीब सभी जगह हवाई जहाज से जा सकता है। मैं यहाँ तुम्हारा ध्यान इस वात की तरफ़ खींच रहा हूँ कि पश्चिमी एशिया, जहाँ कि कई लम्बी-लम्बी हवाई लाइनें आकर मिलती हैं, अचानक हवाई यात्रा के क्षेत्र के रूप में कितना महत्वपूर्ण वन गया है। तुम देखोगी कि कितने हवाई मार्ग आकर वग़दाद में मिलते हैं। और भी कई लाइनें हैं जिनका मैंने जिक्र नहीं किया है, मसलन, मास्को से एक लाइन बाकू जाती है, वहांसे वग़दाद जाती है, और फिर ईरान के तेहरान नगर को जाती है। इन सव वातों के सवव से, पश्चिमी एशिया फिर संसार की राजनीति में निश्चित रूप से दाखिल होजाता है, और अन्तर्महाद्वीपीय मामलों की एक धुरी वन जाता है। इसका यह भी अर्थ है कि वह वडी-वडी शक्तियों के झगडे और संघर्ष का स्थान वन गया है, क्योंकि उनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं और हरेक दूसरे से आगे वढ़ने की कोशिश करता है। हवा में भी वे 'न अपने काम में लें, न पराये काम आने दें' वाली नीति पर चलते हैं, और अपने प्रदेशों पर से अपने प्रतिस्पर्धियों को उड़ने से रोकते हैं। राष्ट्रीयता का यह रूप कभी-कभी हवाई राष्ट्रीयता कहलाता है। इस तरह ईराक़ सरकार, जिसका अर्थ है ईराक़ का नियन्त्रण करनेवाले अंग्रेज, मशहूर जर्मन हवाई कम्पनी, जंकर्स को अपने हवाई जहाज इराक़ पर से नहीं लेजाने देती। और, इस कारण ईरानी सरकार, जो जंकर्स के प्रति अधिक मित्रता रखती है, ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज को अपने प्रदेश पर से उड़ने की इजाजत नहीं देती। कहीं-कहीं ये दिक्क़तें आपस में समझौते करके हल होजाती हैं, लेकिन इनकी तह में जो प्रतियोगिता है वह चलती रहती है।

हवाई ताक़त और आमदरफ़्त के वढ़ते हुए महत्व और साथ ही समुद्री ताक़त के घटते हुए महत्व के कारण देश-रक्षा के पुराने तरीक़ों में वड़ा भारी फ़र्क़ पड़ गया है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, जिस वात की इंग्लैण्ड को हमेशा चिन्ता रही है और जिसको लक्ष्य में रखकर उसकी सारी नीति वनती विगड़ती रही है, वह है अपने हिन्दुस्तानी साम्राज्य की रक्षा की समस्या। इसके लिए उसने समुद्री ताक़त का सहारा लिया, और इसीलिए ठीक-ठीक जगहों पर स्थित वन्दरगाह और कोयला लेने के स्थान उसके लिए महत्वपूर्ण रहे, ताकि उसका समुद्री वेड़ा आसानी से सव जगह आ-जा सके। लेकिन अगर अव हवाई मार्गों पर ज्यादा दारोमदार रखना है तो इन कोयला लेने के स्थानों का अव ज्यादा उपयोग नहीं है। इस तरह अदन जैसे वन्दरगाह का, जो समुद्री महत्व के जमाने में हिन्दुस्तान की रक्षा की दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण था, हवाई जहाज के आजाने के सवव से अव वह महत्व नहीं रहा। अव जिस वात की जरूरत है, वह है हवाई वन्दरगाह, अर्थात् वडे-वडे हवाईस्टेशन और हवाईजहाजों के

लिए तेल की प्रचुर मात्रा। अगर हम इस बात को याद रक्खेंगे तो मध्य-पूर्व आदि में अंग्रेजों और दूसरी शक्तियों की कार्रवाइयों की आधारभूत नीति को भी बहुत कुछ समझ सकेंगे।

मोसल में, हिन्दुस्तान को जानेवाले इस नये राज-मार्ग पर उसके स्थित होने के अलावा, तेल भी है। इराक़ में भी तेल है और, जैसा कि हम देख चुके हैं, वह हवाई लाइनों का मानों हृदय-स्थान है। इस तरह यह आसानी से समझा जा सकता है कि अंग्रेजों के लिए इराक़ पर नियन्त्रण रखना कितना जरूरी है। ईरान में भी तेल के कई क्षेत्र हैं, और इनमें 'एंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी' नाम की एक अंग्रेजी कम्पनी बहुत अर्से से काम करती रही है, जिसमें ब्रिटिश सरकार के भी कई हिस्से हैं। ईरान में इस कम्पनी का कारोबार ही सबसे बड़ा कारोबार है, और उसी का देश पर प्रभुत्व है। मेरा ख़याल है कि एक पिछले ख़त में मैंने तुम्हें ईरान की नई तथा उग्र राष्ट्रीयता और इस ऑयल-कम्पनी, जिसका अर्थ है ब्रिटिश-सरकार, के बीच होनेवाले संघर्ष का हाल लिखा था। ईरानी सरकार ने पुराने इजाजतनामे को, इस आधार पर कि वह उसके हक़ में न्यायोचित नहीं है, रद कर दिया। यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने लाया गया, और हाल में ही एक समझौता होगया है, जिसके अनुसार कम्पनी को ईरान एक नया ठेका दे रहा है। इस ठेके के मुताबिक़ ईरान को मुनाफ़े में से ज्यादा बड़ा और निश्चित हिस्सा मिलेगा।

तेल या पेट्रोल का महत्व बढ़ रहा है, क्योंकि वह सिर्फ़ हवाई जहाजों और मोटर-गाड़ियों में ही काम नहीं आता बल्कि उसे कई समुद्री-जहाज भी इस्तेमाल करते हैं। इसलिए साम्राज्यवादी नीतियों के निर्माण में उसका बड़ा हिस्सा रहता है, जो बड़ा चिपकनेवाला, फिसलनेवाला और मलिनतापूर्ण होता है। वास्तव में आजकल के साम्राज्वाद को कभी-कभी 'तेल साम्राज्यवाद' भी कहते हैं।

इस ख़त में हमने कुछ ऐसे कारणों पर ग़ौर किया है जिन्होंने 'मध्य-पूर्व' को एक नया महत्व दे दिया है, और उसे संसार की राजनीति के भँवर में लाकर डाल दिया है। लेकिन इन सब बातों की तह में है सारे एशिया की राष्ट्रीय जागृति, और इसका जहाँतक पश्चिमी एशिया से सम्बन्ध है वहाँतक इसपर हम अगले पत्र में विचार करेंगे। हमने तुर्की का भी अध्ययन कर लिया और मिस्र का भी। पश्चिमी एशिया में इन दो देशों ने अपने पडोसियों के लिए मिसाल क़ायम करदी है।

मैं उम्मीद करता हूँ कि इस ख़त को पढ़ते वक्त तुम एक नक्शा या एटलस अपने पास रख लोगी, जिससे तुम्हें नई रेलवे-लाइन और हवाई मार्ग मालूम हो सकेंगे। हमारे लिए इनमें एक ख़ास दिलचस्पी भी है, क्योंकि ये हमारे हिन्दुस्तान

से योरप जानेवाले रास्ते पर पड़ते हैं, और बहुत मुमकिन है कि किसी दिन हमें भी उनपर से गुज़रना पड़े। पुरानी समुद्री यात्रा तो बहुत ही धीमी और गुज़रे ज़माने की मालूम होती है, अब तो हवाई यात्रायें ही दिल को लुभा रही हैं।

: १६६ :

अरब देश—सीरिया

२८ मई, १९३३

हम देख चुके हैं कि जिन देशों में प्रायः एक ही सामान्य भाषा और परम्परा होती है, वहाँके लोगों के समूहों को आपस में मिलाने और मज़बूत बनाने की राष्ट्रीयता में बड़ी ताक़त होती है। यह राष्ट्रीयता जहाँ किसी एक वर्ग को मिलाकर एक करती है, वहाँ उसे दूसरे समूहों से अलग करके और दूर भी कर देती है। राष्ट्रीयता ने फ़्रान्स को एक मज़बूत ठोस अलग राष्ट्र बना दिया है, जो ख़ुद तो बहुत अच्छी तरह संगठित है लेकिन बाक़ी दुनिया को अपनेसे बिलकुल अलहदा समझता है। इसी तरह राष्ट्रीयता के कारण भिन्न-भिन्न जर्मन देश मिलकर एक ज़बरदस्त जर्मन-राष्ट्र बन गये हैं। लेकिन फ्रान्स और जर्मनी के इसी तरह अलग-अलग संगठित होने के कारण ही वे एक-दूसरे से और भी ज्यादा दूर होगये हैं।

किसी ऐसे देश में तो जहाँ कई जुदा-जुदा जातीय दल रहते हैं, राष्ट्रीयता देश को मज़बूत और सुसंगठित करने के बजाय प्रायः असंगठित कर देती है, उसे दरअसल कमज़ोर और उसके टुकड़े-टुकड़े कर देती है। महायुद्ध से पहले आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य कई जातीयताओं का एक ऐसा ही देश था, जहाँ जर्मन-आस्ट्रियन और हंगेरियन ये दो जातियाँ..तो प्रधान थीं और बाक़ी सब इनके अधीन थीं। इसलिए जब राष्ट्रीयता ने इन सब क़ौमों में अलग-अलग नया जीवन डाला और इसके साथ उनमें आज़ाद होने की इच्छा पैदा हुई तो उससे आस्ट्रिया-हंगरी कमज़ोर होगया। महायुद्ध से मामला और भी ख़राब होगया, और जब महायुद्ध के बाद हार होगई तो सारा देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया और हर क़ौमी गिरोह ने अपना छोटा-सा अलग राष्ट्र बना लिया। (यह बँटवारा कोई भला या युक्तिसंगत नहीं था, लेकिन इस विषय में अभी यहाँ हमें विचार नहीं करना है।) परन्तु करारी हार होने पर भी, जर्मनी के टुकड़े नहीं हुए। वह राष्ट्रीयता की ज़बरदस्त प्रेरणा के कारण, मुसीबत में भी एक और संगठित बना रहा।

आस्ट्रिया-हंगरी की तरह ही, महायुद्ध के पहले तुर्की साम्राज्य भी कई जातीयता-

ओं का एक मजमा था। वालकन जातियों के अलावा उसमें अरब और आरमीनियन वग़ैरा जातियाँ भी शामिल थीं। इसलिए इस साम्राज्य में भी राष्ट्रीयता एक विशृंखल-कारी शक्ति यानी टुकड़े करनेवाली ताक़त साबित हुई। सबसे पहले उसका वालकन जातियों पर असर पड़ा, और उन्नीसवीं सदी में लगातार, पहले ग्रीस से और फिर एक के बाद एक दूसरी जातियों से तुर्की को हमेशा लड़ाई करनी पड़ी। 'बड़ी शक्तियों' और ख़ासकर ज़ारशाही रूस ने इन उठती हुई राष्ट्रीयता से फ़ायदा उठाने की कोशिश की और उसके साथ साज़िश की। उन्होंने उस्मानी साम्राज्य पर चोट पहुँचाने और उसे कमज़ोर करने के लिए आरमीनियन क़ौम को अपना हथियार भी बनाया, और इसीसे तुर्की हुकूमत और आरमीनियनों में बार-बार संघर्ष हुआ, जिसमें कई बार क़त्ले-आम भी हुए। 'बड़ी शक्तियों' ने इन आरमीनियनों का दुरुपयोग किया और प्रचार-कार्य में उनका इस्तेमाल किया, लेकिन महायुद्ध के बाद जब उनका और कोई उपयोग न रहा तो उन्हें उनकी क़िस्मत पर छोड़ दिया गया। बाद में आरमीनिया, जो तुर्की के पूर्व में है और काले सागर से लगा हुआ है, सोवियट-प्रजातन्त्र बन गया और रूसी सोवियट यूनियन में शामिल होगया।

तुर्की साम्राज्य के अरबी हिस्सों को जागृत होने में ज्यादा समय लगा, हालांकि अरबों और तुर्कों में कभी कोई मुहब्बत नहीं रही थी। पहले तो उनमें संस्कृति-सम्बन्धी जागृति हुई और अरबी भाषा और साहित्य का पुनरुद्धार हुआ। इस जागृति की शुरुआत सीरिया में उन्नीसवीं सदी के मध्य के लगभग हुई, और फिर यह मिस्र और अरबी बोलनेवाले दूसरी देशों में फैल गई। तुर्की की १९०८ की 'युवक तुर्क' क्रान्ति, और सुलतान अब्दुलहमीद के पतन के बाद राजनैतिक आन्दोलन उठ खड़े हुए। मुस्लिम और ईसाई दोनों धर्म के अरबों में क़ौमी ख़यालात फैल गये, और अरब देशों को तुर्की हुकूमत से आज़ाद करने और उन्हें एक नये राज्य के रूप में बनाने का विचार पैदा हो गया। मिस्र हालांकि अरबी-भाषी देश था, लेकिन वह राजनैतिक रूप से बहुत-कुछ अलग था, और इस नये अरब-राज्य में, जिसमें अरबिस्तान, सीरिया, फ़िलस्तीन और इराक़ को शामिल करने का विचार था, उसके शामिल होने की उम्मीद नहीं थी। अरब यह भी चाहते थे कि ख़िलाफ़त को उस्मानी सुलतान के पास से हटाकर किसी अरब वंश में ले आया जाय, ताकि वे इस्लाम का धार्मिक नेतृत्व भी फिर प्राप्त कर सकें। यह काम भी धार्मिक दृष्टि की बनिस्बत क़ौमी दृष्टिकोण से अधिक देखा जाता था, क्योंकि इससे अख़ीर में अरबों का महत्व और गौरव ही बढ़ता और सीरिया के ईसाई अरब भी इसके पक्ष में थे।

ब्रिटेन ने इस अरब राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ महायुद्ध से भी पहले साज़िश

करनी शुरू कर दी। महायुद्ध के जमाने में एक महान् अरब राज्य बनवा देने के बड़े-बड़े वादे किये गये और मक्का का शरीफ़ हुसैन, इस उम्मीद से कि वह एक बड़ा बादशाह बन जायगा और फिर ख़लीफ़ा भी उसकी ख़ुशामद करता फिरेगा, अंग्रेजों के साथ हो गया और उसने तुर्कों के ख़िलाफ़ अरब-विद्रोह खड़ा कर दिया। सीरिया के मुसलमान और ईसाई दोनों तरह के अरबों ने हुसैन की इस बग़ावत का समर्थन किया और उनके कई नेताओं को इसके लिए अपनी जानें देनी पड़ीं, क्योंकि तुर्कों ने उनको फाँसी पर चढ़ा दिया। दमिश्क और बेरूत में ६ मई को उन्हें फाँसियाँ हुईं, और यह दिवस सीरिया में राष्ट्रीय शहीदों की यादगार में अब भी मनाया जाता है।

अंग्रेजों की माली इमदाद से, और ख़ासकर अंग्रेजों के ख़ुफ़िया महकमे के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के सहयोग से, जिसका नाम कर्नल लॉरेन्स था, अरब विद्रोह कामयाब होगया। महायुद्ध के ख़त्म होने के वक़्त तक तुर्कों के क़रीब-क़रीब सभी अरब-प्रदेश अंग्रेज़ी नियन्त्रण में आगये। तुर्की साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि तुर्की की आज़ादी की लड़ाई में मुस्तफ़ा कमालपाशा ने कुर्दिस्तान के एक छोटे-से हिस्से के सिवा ग़ैर-तुर्क प्रदेशों पर क़ब्ज़ा जमाने का उद्देश्य कभी नहीं रक्खा। बडी अक़्लमन्दी से उसने सिर्फ़ तुर्कों की ही रक्षा की।

महायुद्ध के बाद इन अरब देशों के भविष्य का फ़ैसला होना था। विजयी मित्र-राष्ट्रों यानी अंग्रेज़ और फ़्रांसीसियों ने ईमानदारी के साथ ऐलान किया कि इन देशों के बारे में उनका उद्देश्य यह है कि इन "जातियों को, जो अभीतक तुर्कों द्वारा पीडित थीं, पूर्ण और निश्चित रूप से मुक्त किया जाय, और यहाँके बाशिन्दे ख़ुद अपनी स्वतंत्र इच्छा से जैसे राष्ट्रीय शासन और शासक-मण्डल चाहें वैसे क़ायम कर दिये जायें।" इन दोनों राष्ट्रों ने इस ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति इस तरह शुरू की कि इन अरब देशों के ज्यादातर हिस्से को ख़ुद ही आपस में बाँट लिया। फ़्रांस और इंग्लैण्ड को मैण्डेट (शासनादेश) दिये गये। मैण्डेटों का हासिल करना राष्ट्र-संघ के आशीर्वाद के साथ साम्राज्यवादी ताक़तों के द्वारा नया इलाक़ा हासिल करने का ही एक नया तरीक़ा था। फ़्रांस को सीरिया और इंग्लैण्ड को फ़िलस्तीन और इराक़ मिला; और हेजाज, जो अरबस्तान का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा था, अंग्रेजों के आश्रित मक्का के शरीफ़ हुसैन के अधीन रक्खा गया। इस तरह, एक ही बड़ा अरब-राज्य बनाने के वादों के ख़िलाफ़, इन अरब प्रदेशों को अलग-अलग हिस्सों में बाँटकर अलग-अलग मैण्डेटों की शक्ल में बना दिया गया और सिर्फ़ हेजाज ही एक अलग राज्य बनाया गया जो जाहिरा आज़ाद रहा लेकिन दरअसल अंग्रेजों के अधीन था। अरबों को अपने सारे प्रदेश के इस तरह टुकडे किये जाने से बडी निराशा हुई, और उन्होंने इन हिस्सों

को अन्तिम मानने से इनकार कर दिया। लेकिन उनकी क़िस्मत में तो अभी और भी आश्चर्य और निराशा की बातें आनेवाली थीं, क्योंकि उनपर ज्यादा आसानी से हुकूमत कर सकने के लिए साम्राज्यवाद की पुरानी भेद-नीति हरेक मैण्डेट के अन्दर भी बरती जाने लगी। अब इनमें से हरेक देश पर अलग-अलग विचार करना आसान होगा। इसलिए मैं पहले फ़्रेंच मैण्डेट वाले सीरिया को लेता हूँ।

१९२० के शुरू में अंग्रेजों की मदद से सीरिया में हेजाज के शाह हुसैन के पुत्र अमीर फ़ैसल के अधीन एक अरब सरकार खड़ी की गई। एक सीरियन राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसनें संयुक्त सीरिया के लिए एक प्रजातंत्रीय विधान पास किया। लेकिन यह तो चन्द दिनों का दिखावा ही था। १९२० की गरमी के दिनों में फ़्रांसीसी लोग अपनी जेब में राष्ट्र-संघ की तरफ़ से सीरिया का मैण्डेट लेकर आगये, और उन्होंने फ़ैसल को निकाल बाहर किया और देश पर जबरदस्ती क़ब्जा कर लिया। कुल मिलाकर भी सीरिया एक छोटा-सा देश है, जिसकी आबादी ३० लाख से भी कम है। लेकिन वह फ़्रांसीसियों के लिए बर्रों का छत्ता बन गया। मुसलमान और ईसाई दोनों तरह के सीरियन अरबों ने आज़ाद होने का पक्का इरादा कर लिया, और दूसरी ताक़त के आगे आसानी से सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। वहाँ हमेशा झगड़ा और मुक़ामी बगावतें होती ही रहीं, और फ़्रांसीसी हुकूमत चलाने के लिए बड़ी भारी फ़्रांसीसी फ़ौज की जरूरत पड़ी। इसके बाद फ़्रेंच सरकार ने साम्राज्यवाद की वही फूट डालने की चाल चलने की कोशिश की, और देश को और भी छोटी-छोटी रियासतों में बाँटकर और धार्मिक अल्पसंख्यक भेद-भावों को महत्त्व देकर सीरियन राष्ट्रीयता को कमजोर करना चाहा। "शासन करने के लिए अलग-अलग बाँटना" यह नीति जान-बूझकर इख़्तियार की गई, और क़रीब-क़रीब सरकारी तौर पर जाहिर करदी गई।

हालाँकि सीरिया छोटा-सा देश था, लेकिन उसे पांच अलग-अलग राज्यों में बाँटा गया। पश्चिम के समुद्री किनारे पर और लेबेनन पहाड़ के पास लेबेनन राज्य बनाया गया। यहां के ज्यादातर बाशिन्दे मेरोनाइट नामक ईसाई सम्प्रदाय के थे, और सीरियन अरबों के ख़िलाफ़ उन्हें अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए फ़्रान्सीसियों ने उन्हें एक ख़ास दर्जा दे दिया।

लेबेनन के उत्तर में समुद्र के ही किनारे पहाड़ों के दरमियान एक और छोटा-सा राज्य बनाया गया, जहाँ कि अलावी नाम के मुसलमान रहते थे। इससे भी उत्तर में एलेग्जेण्ड्रेटा नामक एक तीसरा राज्य बनाया गया। यह राज्य तुर्की से लगा हुआ था और इसमें तुर्की भाषा बोलनेवाले लोग ज्यादा थे।

इस तरह देश के बाक़ी हिस्से, ख़ास सीरिया प्रदेश के कुछ उपजाऊ ज़िले, चले गये और इससे भी बुरी बात यह हुई कि उसका समुद्र से ताल्लुक़ बिलकुल टूट गया। हजारों वर्षों से सीरिया की गिनती भूमध्य-सागर के महान् देशों में थी, लेकिन अब वह पुराना सम्बन्ध तोड़ दिया गया और उसे कठोर मरुभूमि से अपना नाता जोड़ना पड़ा। इस ख़ास सीरिया प्रदेश में से भी एक और पहाडी टुकड़ा काटकर जबल-अद-द्रुज़ नामक एक अलग राज्य बना दिया गया, जहाँ कि द्रुज़ फिरक़े के लोग रहते थे।

शुरू से ही सीरियन लोग फ़्रेंच "मैण्डेट" के ख़िलाफ़ थे। पहले ही संघर्ष और बडे-बडे प्रदर्शन हुए थे, जिनमें अरब स्त्रियों ने भी हिस्सा लिया था और जिन्हें फ़्रांसीसियों ने बडी सख़्ती से कुचला था। देश के छोटे-छोटे टुकडे करने और जान-बूझकर धार्मिक और अल्पसंख्यक समस्यायें खडी करने की कोशिश से तो मामला और बिगड़ गया और असन्तोष बढ़ गया। इसे दबाने के लिए जिस तरह हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने किया है उसी तरह फ्रान्सीसियों ने भी व्यक्तिगत और राजनैतिक आजादी छीन ली और सारे देश में ख़ुफ़िया महकमे के लोग फैला दिये गये। उन्होंने ऐसे 'राजभक्त' सीरियनों को अफ़सर मुकर्रर किया, जिनका लोगों पर कुछ भी असर नहीं था और जिन्हें उनके देशवासी आमतौर पर देशद्रोही समझते थे। ये बातें अधिक-से-अधिक ईमानदारी की नीयत से की गईं, और फ़्रांसीसियों ने ऐलान किया कि वे 'सीरियनों को राजनैतिक अनुभव और आज़ादी की तालीम देना अपना फ़र्ज समझते हैं'—हिन्दुस्तान में भी तो इस तरह के वाक्यों से लोग परिचित हैं।

मामला ख़ासकर जबल-अद-द्रुज़ के लड़ाकू और जंगली लोगों में (जो कि हमारे ऊत्तर-पश्चिमी सरहदी जातियों जैसे ही हैं) बढ़ता गया। इन द्रुज़ लोगों के नेताओं के साथ फ़्रांसीसी गवर्नर ने एक भद्दी चालाकी की। उसने उन्हें बुलाया और फिर उन्हें वहीं क़ैद कर लिया और जामिनों की तरह पकड़ रक्खा। यह वाक़्या १९२५ के गरमी के दिनों में हुआ और फौरन ही जबल-अद-द्रुज़ में एक बग़ावत खडी होगई। यह मुक़ामी बगावत जल्द ही सारे देश में फैल गई और सीरियन आजादी और एकता के लिए एक व्यापक विद्रोह बन गई।

सीरियन आजादी की यह लड़ाई एक उल्लेखनीय बात थी। एक छोटा-सा देश, जो हिन्दुस्तान के दो या तीन जिलों के बराबर था, फ्रांस के ख़िलाफ़, जो कि उस वक़्त संसार की सबसे बडी सैनिक शक्ति थी, लड़ने को तैयार होगया। सीरियन लोग फ़्रांस की बडी-बडी और सुसज्जित फौजों के आगे बाक़ायदा मुक़ाबिले की लड़ाई तो लड़ ही नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने उनका देहाती इलाक़ों पर क़ब्ज़ा बनाये रखना मुश्किल कर दिया। सिर्फ बडे-बडे क़स्बे ही फ़्रांसीसियों के अधिकार में थे और उन-

पर भी अक्सर सीरियन लोग हमला कर देते थे। फ़्रांसीसियों ने बहुत लोगों को गोलियों से उड़ाकर और कितने ही गाँवों को जलाकर आम लोगों को भयभीत करने की पूरी कोशिश की। अक्तूबर १९२५ में प्रसिद्ध पुराने शहर दमिश्क पर भी वम-वर्षा की गई और उसे बहुत-कुछ वरबाद कर दिया गया। सारा सीरिया फ़ौजी छावनी बन गया था। इतने पर भी दो साल तक विद्रोह दब न सका। आख़िर वह फ़्रांस की महान् सैनिक मशीन से कुचल दिया गया। लेकिन सीरियनों के महान् वलिदान बेकार नहीं गये। उन्होंने आज़ाद होने के अपने हक़ को क़ायम किया और दुनिया को मालूम होगया कि उनमें भी कितनी दृढ़ता मौजूद है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि फ़्रांसीसियों ने इस विद्रोह को मज़हबी रंग देना और द्रूजों से ईसाइयों को लड़ाना चाहा, मगर सीरियनों ने यह बिलकुल साफ़ ज़ाहिर कर दिया कि वे क़ौमी आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं, न कि किसी मज़हबी उद्देश्य के लिए। विद्रोह के बिलकुल शुरू में द्रूज प्रदेश में एक अस्थायी सरकार क़ायम करली गई, और इस सरकार ने लोगों से आज़ादी की लड़ाई में शामिल होने और "एक और अखण्ड सीरिया की मुकम्मल आज़ादी हासिल करने का विधान बनाने के वास्ते कान्स्टीटचूएण्ट एसेम्बली का स्वतन्त्र चुनाव करने, देश पर कब्ज़ा जमानेवाली विदेशी फ़ौजों के हटाये जाने, स्वरक्षा के लिए राष्ट्रीय फ़ौज बनानें, और फ़्रान्स की क्रान्ति तथा 'मनुष्यों के अधिकार' के सिद्धान्तों को प्रयोग में लाने के लिए" अपील निकाली। इस तरह, फ़्रांस की सरकार और फ़ौज ने एक ऐसी जाति को दवा देने की कोशिश की जो फ्रेंच-क्रान्ति के उसूलों और उसके ऐलान किये हुए हक़ों के लिए ही खड़ी हुई थी!

१९२८ के शुरू में सीरिया में मार्शल-ला यानी फ़ौजी क़ानून ख़त्म होगया, और प्रेस पर से सेन्सरशिप भी हट गई। कई राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गये। राष्ट्रवादियों की माँग के मुताबिक़ विधान तैयार करने के लिए एक 'कान्स्टीटचूएण्ट एसेम्बली' बुलाई गई। लेकिन फ़्रान्सीसियों ने (आजकल जैसा कि हिन्दुस्तान में किया गया है) अलग-अलग धार्मिक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था करके झगड़े की जड़ डाल दी। मुसलमानों, ग्रीक कैथलिकों, ग्रीक ऑर्थोडाक्स मतवालों और यहूदियों के लिए बिलकुल अलग-अलग क्षेत्र बना दिये गये, और हर वोटर को अपने धर्मवालों को ही वोट देने के लिए मजबूर किया गया। दमिश्क में एक अजीब और आँखें खोल देने-वाली परिस्थिति पैदा होगई। वहाँ राष्ट्रवादियों का नेता एक प्रोटेस्टेण्ट ईसाई था। प्रोटेस्टेण्ट होने के करण वह किसी भी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र में नहीं आता था, और हालांकि वह दमिश्क का एक सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति था, लेकिन फिर भी चुना

न जा सका। मुसलमानों ने, जिनकी दस सीटें थीं, एक सीट छोड़ देनी चाही, ताकि वह प्रोटेस्टेण्टों को दी जासके, परन्तु फ्रांसीसी सरकार ने इसे नहीं माना।

फ्रांसीसियों की इन तमाम कोशिशों के वावजूद, कान्स्टीटयूएण्ट एसेम्वली पर राष्ट्रवादियों का ही नियन्त्रण रहा, और उन्होंने एक आजाद और सर्वोपरि राज्य का विधान तैयार कर डाला। विधान में सीरिया को एक प्रजातन्त्र वनाया गया, जिसमें सारी सत्ता का उद्गम जनता से रक्खा गया। इस प्रस्तावित विधान में फ्रांसीसियों या उनके मैण्डेट का कहीं जिक्र तक नहीं था। इसपर फ्रान्सीसियों ने एतराज़ किया, लेकिन एसेम्बली भी विलकुल न झुकी, और कई महीनों तक खींचा-तानी चलती रही। आखिरकार फ्रेन्च हाई कमिश्नर ने यह तजवीज की कि विधान का सारा मस्विदा मंजूर कर लिया जाय, सिर्फ़ उसमें एक ऐसी धारा रख दी जाय कि जवतक मैण्डेट-शासन चलेगा तबतक विधान की किसी भी धारा का ऐसा प्रयोग न किया जायगा जो मैण्डेट के अनुसार फ़्रान्स की जिम्मेदारियों के ख़िलाफ़ पडे। यह बडी गोलमोल बात थी, फिर भी इसमें फ्रांस को बहुत झुकना पड़ा। लेकिन कान्स्टीटयूएण्ट एसेम्बली नें इसको भी मंजूर नहीं किया। इसपर मई १९३० में फ्रेन्च सरकार नें इस एसेम्बली को ही वरखास्त कर दिया, और साथ ही संक्रमण-काल (वीच का समय) सम्वन्धी अपनी प्रस्तावित धारा जोड़कर उसके बनाये हुए विधान का ऐलान कर दिया।

इस तरह सीरिया प्रदेश जो कुछ चाहता था वह अधिकांश उसें मिल गया, फिर भी उसनें अपनी किसी भी माँग को न तो कम किया, न उसपर समझौता किया। दो वातें वाक़ी रहीं : एक तो मैण्डेट-शासन का अन्त होना, जिसके साथ संक्रमण-कालीन धारा भी चली जायगी, और दूसरे सारे सीरिया के एकीकरण का वड़ा सवाल। इसके सिवा, आजकल जो विधान चल रहा है, वह बड़ा प्रगतिशील है और पूरी तौर पर आजाद देश के लायक़ वनाया गया है। महान् विद्रोह के समय नें सीरियनों ने अपनें को बहादुर और मजवूत लड़ाका सावित कर दिया। उसके वाद सन्धि-चर्चा में भी उन्होंनें अपनेको दृढ़ और निश्चित माँगें रखनेंवाला सावित किया, और उन्होंने पूरी आजादी की माँग को जरा भी संशोधित या कम करने से इन्कार कर दिया। अख़वारों की ख़बरों से मालूम होता है कि सीरियन राष्ट्रवादियों और फ्रांसीसी सरकार के वीच जल्द ही कोई समझौता होनेवाला है। अखबारों की वयान की हुई वातों पर यकीन तो नहीं करना चाहिए, लेकिन मैं तुम पर ही छोड़ता हूँ कि तुम इस समझौते का जितना मुनासिव हो उतना ही महत्व समझना। यह उचित भी मालूम होता है। १९३४ के अख़ीर में सीरिया प्रदेश तथा अलावियों और ड्रूज़ों पर से

फ्रान्सीसी मैण्डेट के ख़त्म होने और इन तीनों हिस्से के एकीकरण के आधार पर यह समझौता होनेवाला है। इस तरह अब तीनों हिस्सों को मिलाकर एक ही राज्य बन जायगा, लेकिन अलावियों और द्रूज़ों को भी बहुत ज्यादा आजादी रहेगी। इस राज्य में अभी लेबेनन शामिल न होगा। वह बीस वर्ष के लिए और भी फ्रान्स के संरक्षण में रहेगा। उसके बाद लेबेनीज़ प्रजातन्त्र के लोग वोटों द्वारा सीरिया के साथ मिल जाने के सवाल का फ़ैसला करेंगे।

: १६७ :

फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन

२९ मई, १९३३

सीरिया से लगा हुआ ही फ़िलस्तीन है, जिसकी बाबत ब्रिटिश सरकार के पास राष्ट्र-संघ का मैण्डेट (शासनादेश) है। यह और भी छोटा देश है। इसकी आबादी दस लाख से भी कम है, लेकिन इसके पुराने इतिहास और ताल्लुक़ात की वजह से इसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत जाता है; क्योंकि यह यहूदियों के लिए, ईसाइयों के लिए, और किसी हद तक मुसलमानों तक के लिए भी एक पवित्र भूमि है। यहाँके बाशिन्दे ज्यादातर मुसलमान अरब हैं, और वे आजादी की और सीरिया के अपने अरब-बन्धुओं के साथ मिल जाने की माँग करते हैं। लेकिन ब्रिटिश नीति ने यहाँ एक ख़ास—यहूदियों की—अल्पसंख्यक समस्या पैदा करदी है। यहूदी लोग अंग्रेज़ों का साथ देते हैं और फ़िलस्तीन की आजादी का विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें अंदेशा है कि इसका अर्थ होगा अरबों का शासन। ये दोनों एक-दूसरे के ख़िलाफ़ जानेवाले रास्ते हैं और, जैसा होना लाज़िमी है, संघर्ष होते ही रहते हैं। अरबों की तादाद ज्यादा है; यही उनकी ताक़त है। दूसरी तरफ़ यहूदी बहुत मालदार हैं और सारी दुनिया में उनका अच्छा संगठन है। इसलिए इंग्लैण्ड अरब राष्ट्रीयता के मुक़ाबिले में यहूदी धार्मिक राष्ट्रीयता को बढ़ावा देता है और दिखाता है कि दोनों का बीच-बचाव करने और शान्ति क़ायम रखने के लिए उसका वहाँ बना रहना जरूरी है। यह वही पुराना तमाशा है जो साम्राज्यवाद के अधीन दूसरे देशों में हम देख चुके हैं। कितना आश्चर्य है कि बार-बार वही दोहराया जाता है!

यहूदी बड़े ग़जब के लोग हैं। मूलतः फ़िलस्तीन में वे एक छोटी-सी जाति अथवा कई छोटी-छोटी जातियों के रूप में रहते थे, और उनकी शुरू की कहानी बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट यानी प्राचीन धर्मपुस्तक में लिखी हुई है। वे बड़े मग़रूर थे,

अपने आपको परमात्मा के ख़ास पसन्द किये हुए लोग मानते थे। लेकिन ऐसी झूठी मान्यतायें दुनिया की क़रीब-क़रीब सभी जातियों में रही हैं। वे बार-बार हराये गये, दबाये गये, और ग़ुलाम बनाये गये। अंग्रेज़ी की कुछ सबसे सुन्दर और दिल हिला देनेवाली कवितायें तो यहूदियों के गाने और रोने की हैं। ये कवितायें बाइबिल के प्रमाणित अनुवाद में दी हुई हैं। मेरा ख़याल है कि मूल हिब्रू भाषा में तो वे इतनी ही या इससे भी सुन्दर होंगी। मैं ओल्ड टेस्टामेन्ट के एक भजन की कुछ पंक्तियों का अनुवाद यहाँ देता हूँ :—

By the waters of Babylon we sat down and wept:
when we remembered thee, O Sion!
As for our harps we hanged them up:
upon the trees that are therein.
For they that led us away captive required of us then
a song, and melody, in our heaviness:
Sing us one of the songs of Sion.
How shall we sing the Lord's song: in a strange land?
If I forget thee, O Jerusalem:
let my right hand forget her cunning.
If I do not remember thee, let my tongue cleave to
the roof of my mouth: yea, if I prefer
not Jerusalem in my mirth.

अर्थात्, "ऐ ज़ियोन! जब हमें तेरा स्मरण आया, तो हम बेबीलोन नदी के तट पर बैठ गये और ख़ूब रोये।

अपनी वीणाओं को तो हम वहीं के वृक्षों पर लटका आये।

क्योंकि, जो हमें बन्दी बनाकर ले गये वे हमारे शोक में हमसे कहते थे कि हमें कोई गीत, कोई राग, सुनाओ। हमें ज़ियोन का गाना सुनाओ।

हम प्रभु का गीत, एक विराने देश में, कैसे गावें?

ऐ जेरूसलम! यदि मैं तुझे भुलाऊँ तो अपने दाहिने हाथ की सारी कुशलता को भूल जाऊँ।

यदि मैं तेरा नाम लेना भुलाऊँ तो मेरी जिह्वा तालु से चिपकी रह जाय, यदि मैं अपने आनन्द में सबसे अधिक जेरूसेलम को न चाहूँ।"

ये यहूदी अन्त में सारी दुनिया में जहाँ-तहाँ बिखर गये। उनका कोई देश या राष्ट्र न था, और जहाँ कहीं वे जाते वहीं उनके साथ परदेशियों का-सा बुरा बर्ताव किया जाता था। उन्हें सबसे अलग शहर के ख़ास हिस्सों में, जो 'घेटो' कहलाते थे, बसाया जाता था, ताकि वे दूसरे लोगों को अपवित्र न करदें। कहीं-कहीं उनके लिए ख़ास पोशाक मुक़र्रर करदी जाती थी। उनका अपमान किया जाता था, उन्हें अपशब्द

कहे जाते थे, यातनायें दी जाती थीं, और सरे-आम क़त्ल कर दिया जाता था। 'यहूदी' शब्द ही एक गाली बन गई थी, जिसका अर्थ था कंजूस और मक्खी-चूस साहूकार। इतना होने पर भी यह अद्भुत जाति न सिर्फ़ जिन्दा रही, बल्कि अपनी जातीय और सांस्कृतिक विशेषताओं की भी रक्षा की, खूब फूली-फली और अपने अन्दर से अनेक महान् पुरुषों को पैदा किया। आज वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, साहित्य-कारों, धनपतियों और व्यापारियों में वे सबसे आगे बढ़े हुए माने जाते हैं। और सब-से बड़े साम्यवादी और कम्यूनिस्ट तक यहूदी हुए हैं। लेकिन ज्यादातर यहूदी तो मालदार नहीं हैं। पूर्वी योरप के शहरों में उनकी तादाद ज्यादा है, और समय-समय पर उनको 'पोग्रो' यानी क़त्लेआम भी बर्दाश्त करने पड़ते हैं। वतन या राष्ट्र से मह-रूम इस जाति ने, ख़ासकर ग़रीब यहूदियों ने, पुराने जेरूसलेम के, जो उन्हें किसी समय की वास्तविकता से महान् और वैभव-पूर्ण दिखाई देता है, स्वप्न देखना कभी न छोड़ा। जेरूसलेम को वे 'ज़ियोन' कहते हैं, जो एक प्रकार का स्वर्ग है, और 'ज़ियोनिज्म' वह भूतकाल की प्रेरणा है जो उन्हें जेरूसलम और फ़िलस्तीन की तरफ़ आकर्षित करती रहती है।

उन्नीसवीं सदी के अन्त के लगभग इस 'ज़ियोनिस्ट' आन्दोलन ने धीरे-धीरे उपनिवेश बनने की शकल इख़्तियार की और कई यहूदी फ़िलस्तीन में बसने पहुँच गये। हिब्रू भाषा का पुनरुद्धार भी शुरू हुआ। महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजी फ़ौजों ने फ़िलस्तीन पर हमला किया, और जब वे जेरूसलम की तरफ़ बढ़ रही थीं तब ब्रिटिश सरकार ने नवम्बर १९१७ में बालफ़ोर-घोषणा नाम की एक घोषणा प्रकाशित की। उन्होंने जाहिर किया कि उनका इरादा है कि फ़िलस्तीन में एक 'यहूदी वतन' (ज्यूइश नेशनल होम) क़ायम किया जाय। शायद यह ऐलान अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी समाज की सद्भावना हासिल करने के लिए निकाला गया, और आर्थिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण था। यहूदियों ने इसका स्वागत किया। लेकिन इसमें एक छोटी-सी बाधा थी। एक बात की तरफ़, जो ग़ैर-जरूरी न थी, किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। फ़िल-स्तीन कोई वीरान या ग़ैरआबाद प्रदेश न था। यह तो पहले ही किसी-न-किसी का वतन था। इसलिए ब्रिटिश सरकार का यह उदारतापूर्ण प्रयत्न फ़िलस्तीन में पहले से बसे हुए लोगों को नुक़सान पहुँचानेवाला था और इन लोगों ने, जिनमें अरब, ग़ैर-अरब, मुसलमान, ईसाई, असल में हर तरह के ग़ैर-यहूदी शामिल थे, इस ऐलान का जोरदार विरोध किया। इन लोगों ने महसूस किया कि हर काम में यहूदी उनका मुक़ाबिला करेंगे और अपनी बेशुमार दौलत के बल से देश के आर्थिक स्वामी बन जायँगे। उन्हें अन्देशा था कि यहूदी उनके मुँह की रोटी और किसानों की ज़मीन छीन लेंगे।

पिछले बारह वर्ष की फ़िलस्तीन की कहानी अरबों और यहूदियों के कशमकश की कहानी है, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने मौक़े के मुताबिक़ कभी इधर और कभी उधर हिस्सा लिया, लेकिन वह आम तौर पर यहूदियों का ही साथ देती रही। इस देश के साथ ऐसा वर्त्ताव किया मानों यह स्वशासन-हीन अंग्रेजी बस्ती हो। अरब, जिनके साथ ईसाई और दूसरे गैर-यहूदी लोग भी हैं, आत्म-निर्णय और पूर्ण स्वाधीनता की माँग हमेशा करते रहे। उन्होंने बडे ज़ोर से मैण्डेट का और नये प्रकार से बसनेवालों का इस सबब से विरोध किया है कि वहां अब और लोगों की गुंजाइश नहीं है। ज्यों-ज्यों बाहर से यहूदी आते गये, त्यों-त्यों उनका अन्देशा और गुस्सा बढ़ता गया। उन्होंने (अरबों नें) बताया कि "ज़ियोनिज्म में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्वार्थ भी मिला हुआ है। ज़ियोनिस्ट आन्दोलन के ज़िम्मेदार नेतओं नें हमेशा कहा है कि एक मज़बूत 'यहूदी वतन' बन जाने पर वह हिन्दुस्तान के मार्ग की हिफ़ाज़त करने के लिए अंग्रेज़ों के वास्ते बड़ा लाभप्रद होगा, क्योंकि वह अरब राष्ट्रीय आकांक्षाओं का विरोध् करने-वाली एक ताक़त होगी।" कैसी अजीब-अजीब जगहों में भी हिन्दुस्तान आ खड़ा होता है!

अरब कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने और एक लेजिस्लेटिव कौंसिल का, जिसे अंग्रेज् खडी कर रहे थे, बहिष्कार करने का फैसला किया। यह बहिष्कार बहुत कामयाब हुआ और कौंसिल न बन सकी। एक ख़ास तरह के असहयोग की नीति कई साल तक चलती रही। फिर वह किसी हद तक कमज़ोर पड़ गई और कुछ दल अंग्रेज़ों को आँशिक सहयोग देने लगे। फिर भी अंग्रेज चुनी हुई कौंसिल न बना सके, और हाईकमिश्नर ही सर्वशक्तिमान सुलतान की तरह हुकूमत करता रहा।

१९२८ में अरब कांग्रेस में भिन्न-भिन्न दल फिर मिलकर एक होगये और उन्होंने 'अधिकार के रूप में' प्रजातंत्रीय तरीक़े की हुकूमत की माँग की। उन्होंने बडी बहा-दुरी से यह भी कह दिया कि "फ़िलस्तीन के लोग मौजूदा एकतन्त्री कालोनियल शासन-प्रणाली को न तो मान सकते हैं और न मानेंगे।" अरबी राष्ट्रीयता की इस नई लहर में एक मज़ेदार बात् यह भी थी कि आर्थिक सवालों पर जोर दिया गया। स्थिति की असलियत के ज्यादा-से-ज्यादा ठीक तौर पर समझे जाने का यह हमेशा एक चिन्ह होता है।

अगस्त १९२९ में अरबों और यहूदियों के कई बडे-बडे दंगे हुए। असली सबब तो था यहूदियों की बढ़ती हुई दौलत और तादाद के कारण अरबों की कटुता और भय तथा अरबों की आज़ादी की माँग का यहूदियों द्वारा विरोध किया जाना। लेकिन

तात्कालिक कारण था एक दीवार की, जिसे 'वेलिंग वाल' (रोने की दीवार) कहते हैं, वावत झगड़ा। यह उस दीवार का हिस्सा है जो पुराने जमाने में हेरोड के मन्दिर के चारों ओर बनी हुई थी और इसलिए इसे यहूदी पवित्र मानते हैं, क्योंकि यह उस समय की यादगार है जब उनकी जाति महान् थी। बाद में यहीं एक मस्जिद बना ली गई और यह दीवार उसका एक हिस्सा बन गई। यहूदी इस दीवार के पास अपनी प्रार्थना करते हैं, खासकर अपने रोदनों को ऊँची आवाज से पढ़ते हैं, इसलिए इसका नाम 'रोने की दीवार' पड़ गया। मुसलमान अपनी एक सबसे प्रसिद्ध मस्जिद के हिस्से पर इस प्रकार रोने पर एतराज करते हैं।

दंगे के दबा दिये जाने के बाद झगड़ा दूसरी शक्लों में चलता रहा, और अजीव बात यह थी कि अरवों को फ़िलस्तीन के सब ईसाई सम्प्रदायों का पूरा समर्थन प्राप्त था। हड़तालों और बड़े-बड़े प्रदर्शनों में मुसलमान और ईसाई दोनों शामिल हुए। स्त्रियों तक ने इसमें बड़ा हिस्सा लिया। इससे जाहिर होता है कि असली झगड़ा धार्मिक नहीं था, बल्कि नये आनेवालों और पुराने रहनेवालों के बीच एक आर्थिक संघर्ष था। अपने मैण्डेट-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पूरा न कर सकने और खासकर १९२९ के दंगों को न रोक सकने के कारण राष्ट्र-संघ ने ब्रिटिश हुकूमत की बड़ी आलोचना की।

इस तरह फ़िलस्तीन अब भी क़रीब-क़रीब एक अंग्रेज कालोनी यानी बस्ती है, और कई बातों में तो कालोनी से भी खराब है, और अंग्रेज लोग अरबों से यहूदियों को लड़ाकर इस हालत को जारी रख रहे हैं। उसमें ब्रिटिश अफ़सर ही भरे हुए हैं, सारे ऊँचे ओहदों पर वही हैं। अंग्रेजों के मातहत मुल्कों की आम हालत के मुआफ़िक वहाँ भी तालीम की बहुत कम कोशिश की गई है, हालाँकि अरबों को तालीम की जबरदस्त ख्वाहिश है। यहूदियों के बड़े-बड़े आर्थिक साधन होने के कारण, उनके पास अच्छे-अच्छे स्कूल और कालेज हैं। यहूदी आबादी मुसलिम आबादी के चौथाई हिस्से के क़रीब तो होचुकी है, और उनकी माली ताक़त तो इससे भी कहीं ज्यादा है। वे उस दिन के इन्तजार में है जब फ़िलस्तीन में उनकी ही तूती बोलेगी। क़ौमी आजादी और प्रजातांत्रिक शासन की लड़ाई में अरबों ने उनका सहयोग पाने की कोशिश की, लेकिन इन बातों से उन्होंने इन्कार कर दिया। उन्होंने हुकूमत करनेवाली विदेशी ताक़त का साथ देना पसन्द किया है, और उसे अधिकांश जनता को आजादी न देने में मदद पहुँचाई है। फिर आश्चर्य नहीं कि यह अधिकांश जनता, जिसमें खासकर अरब हैं और ईसाई भी शामिल हैं, यहूदियों के इस रुख पर बुरी तरह नाराज है।

फ़िलस्तीन से लगा हुआ, ट्रान्स-जोर्डन नदी के उसपार एक और छोटा-सा राज्य है जिसको अंग्रेजों ने महायुद्ध के बाद पैदा किया है। इसे ट्रान्स-जोर्डन कहते

हैं। यह एक छोटा-सा रक़बा है, जो रेगिस्तान की हद से मिला हुआ और सीरिया और अरब के बीच में स्थित है। इस राज्य की पूरी आबादी क़रीब तीन लाख है, जो कि आजकल के किसी शहर के भी मुश्किल से बराबर है! ब्रिटिश सरकार इसको आसानी से फिलस्तीन के साथ मिला सकती थी, लेकिन साम्राज्यवादी नीति मिलाने के बजाय जुदा करना ज्यादा पसन्द करती है। यह राज्य हिन्दुस्तान को जानेवाले जमीन के और हवाई मार्ग के लिए महत्वपूर्ण है। यह रेगिस्तान और उपजाऊ प्रदेशों के बीच में एक लाभदायक सरहदी राज्य है, जो पश्चिम में समुद्र तक पहुँचने का रास्ता है।

हालाँकि यह राज्य छोटा ही है, लेकिन यहाँ भी वही घटनायें हुईं जो पास के बड़े देशों में हुई थीं। यहाँ भी जनता की तरफ़ से प्रजातंत्री पार्लमेण्ट की मांग हुई, जो मंजूर नहीं की गई। प्रदर्शन दबा दिये गये। सेन्सरशिप, नेताओं की जलावतनी, सरकारी कार्यों का बहिष्कार वग़ैरा सब बातें हुईं। अंग्रेजों ने अमीर अब्दुल्ला को (जो हेजाज के शाह हुसैन का एक पुत्र और फ़ैसल का भाई है) बड़ी चतुराई से ट्रान्स-जोर्डन का शाह बना दिया है। वह बिलकुल अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली है। लेकिन वह जनता की आँखों से अंग्रेजों को छिपाने के लिए परदे का काम देता है। जो कुछ होता है, अधिकांश बुराई उसीके सिर पर पड़ती है, और वह बहुत ही अप्रिय है। अब्दुल्ला के हाथ में ट्रान्स-जोर्डन का राज्य असल में ऐसा ही है जैसा हमारे हिन्दुस्तान में कई छोटे-छोटे देशी राज्य हैं।

उसूलन तो यह राज्य आजाद है, लेकिन १९२८ के एक सुलहनामे के जरिये फ़ौजी और दूसरी सब तरह की सहूलियतें ब्रिटेन को देदी गई हैं। ट्रान्स-जोर्डन दर-असल ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन गया है। यह एक नई क़िस्म की आजादी का छोटे पैमाने पर नमूना है, जो अंग्रेजों की छत्रछाया में रहती है। इस सुलहनामे और आमतौर पर इस सारी स्थिति को मुसलिम और ईसाई जनता बिलकुल नापसन्द करती है। सुलहनामे के ख़िलाफ़ होनेवाले आन्दोलन को दबा दिया गया, जिन अख़-बारों ने उसका समर्थन किया उनतक का निषेध कर दिया गया, और, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, नेताओं को जलावतन कर दिया गया। इसपर विरोध और भी बढ़ा, और एक राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसने एक राष्ट्रीय इक़रार-नामा मंजूर किया और सुलहनामे की निन्दा की। जब नये चुनाव के लिए वोटरों यानी मतदाताओं की फेहरिस्त तैयार की जा रही थी तो जनता के भारी बहुमत ने उसका बहिष्कार किया। लेकिन अब्दुल्ला और अंग्रेजों ने फिर भी सुलहनामे की दिखावटी ताईद के लिए कुछ समर्थक इकट्ठे कर ही लिये।

१९२९ के फ़िलस्तीन के झगडों के दिनों में अंग्रेजों और बालफ़ोर-घोषणा के खिलाफ़ ट्रान्स-जोर्डन में भी बडे-बडे प्रदर्शन हुए।

मैं तुम्हें मुख्तलिफ़ देशों की घटनाओं की महत्वपूर्ण बातों को विस्तार से लिखता जाता हूँ, और ऐसा मालूम होता है कि एक ही कहानी बार-बार दोहराई जारही हैं। मैं यह इसलिए लिखता हूँ कि तुम अनुभव करलो कि यह बात नहीं है कि हम सब लोगों को अपने-अपने देश में अपनी अलग-अलग समस्याओं को निपटाना है, जैसा कि हम कभी-कभी सोचने लगते हैं। बल्कि हम सबको दुनिया के बडे सवालों को हल करना है और शक्तियों का सामना करना है। हमें उस संघर्ष में से गुज़रना है, जिसमें एक तरफ़ तो पूर्व के सभी देशों की उठती हुई राष्ट्रीयता है और दूसरी ओर उसे दबानेवाले साम्राज्यवाद की वही बार-बार दुहराई जानेवाली चालें हैं। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता पैदा होती और बढ़ती जाती है वैसे-ही-वैसे साम्राज्यवाद की चालों में हलकी-सी तब्दीलियाँ होती जाती हैं; लोगों को संतुष्ट करने और बाहरी ढाँचे के मामलों में झुक जाने की थोडी-सी दिखावटी कोशिशें की जाती हैं। इस बीच भिन्न-भिन्न देशों में जैसे-जैसे यह राष्ट्रीय लड़ाई आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हर देश में सामाजिक लड़ाई यानी भिन्न-भिन्न वर्गों की आपसी कशमकश भी साफ़ ज़ाहिर होती जाती है, और सामन्त और किसी हद तक सम्पत्तिशाली वर्ग भी साम्राज्यवादी शक्ति की तरफ़ ज्यादा-ज्यादा मिलते जाते हैं।

: १६८ :

अरब—मध्य-युग से सहसा प्रगति

३ जून, १९३३

मैं तुम्हें अरब देशों का हाल लिखता रहा हूँ, लेकिन अभीतक मैंने तुम्हें ख़ास अरब यानी अरबिस्तान के बारे में कुछ नहीं लिखा, जोकि अरबी भाषा और संस्कृति का उद्गम है और इस्लाम की जन्मभूमि है। हालाँकि वह अरब सभ्यता का उद्गम-स्थान था, लेकिन वह पिछड़ा हुआ और मध्ययुगीन ही बना रहा, और हमारी आधुनिक सभ्यता की कसौटियों के मुताबिक नज़दीक़ के अरब देश—मिस्र, सीरिया फ़िलस्तीन और इराक़—इससे बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। अरब एक बड़ा भारी देश है। फैलाव और रक़बे में वह हिन्दुस्तान के दो-तिहाई के क़रीब है। लेकिन उसकी आबादी सिर्फ़ ४० या ५० लाख ही है जो हिन्दुस्तान की आबादी का ७०वां या ८०वां हिस्सा है। इससे जाहिर होता है कि वहाँ आबादी घनी नहीं है। दरअसल

उसके ज्यादातर हिस्से में तो रेगिस्तान है, और इसी सबब से पुराने जमाने के लालची बहादुरों की निगाह उसपर नहीं पडी और वह तब्दील होते हुए जमाने में बग़ैर रेल, तार और टेलीफोन के मध्ययुग के निशान-सा बना रहा। उसमें ज्यादातर घूमने-फिरने वाले खानाबदोश फिरके, जिन्हें बदाऊन कहते हैं, बसते थे। ये लोग रेगिस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक 'रेगिस्तान के जहाजों' यानी अपने तेज ऊँटों और अपने खूबसूरत अरबी घोडों पर, जो दुनियाभर में मशहूर हैं, सफ़र किया करते थे। उनकी जिन्दगी का वही पुराना ढंग था जिसमें कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा अगुआ होता था और सब उसका कहना मानकर चलते थे। हजार वर्ष में भी उनकी हालत में कोई ख़ास तब्दीली नहीं हुई थी। लेकिन महायुद्ध ने जिस तरह और भी कई चीजों को तब्दील कर दिया इसी तरह इस सबको भी बदल दिया।

अगर तुम नक्शे को देखोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि अरब यानी अरबिस्तान का महान् प्रायद्वीप लाल समुद्र और ईरान की खाडी के बीच में है। उसके दक्षिण में अरब सागर है, और उत्तर में फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन और सीरिया का रेगिस्तान है, और उत्तर-पूर्व की तरफ़ इराक़ की हरी और उपजाऊ तराई है। पश्चिमी किनारे पर लाल समुद्र से लगा हुआ हेजाज का प्रदेश है, जो इस्लाम का जन्म-स्थान है और जिसमें मक्का और मदीना के पवित्र नगर हैं और जद्दाह का बन्दरगाह है, जहाँ हर साल मक्का को जानेवाले हजारों यात्री उतरा करते हैं। अरब के बीच में और पूर्व में ईरान की खाडी तक फैला हुआ नज्द प्रदेश है। हेजाज और नज्द यही दोनों अरबिस्तान के ख़ास हिस्से हैं। दक्षिण-पश्चिम में यमन है, जिसे पुराने रोमन जमाने से अरेबिया फ़ेलिक्स यानी खुशकिस्मत अरबिस्तान कहा जाता है, क्योंकि दूसरे रेगिस्तान और बंजर हिस्से के मुक़ाबिले में यह उपजाऊ रहा है। कुदरती तौर पर इस हिस्से में आबादी घनी होनी चाहिए। अरब के दक्षिण-पश्चिमी सिरे के ऊपर अदन है, जो अंग्रेजों के क़ब्ज़े में है और जहाँ पूर्व और पश्चिम के बीच आने-जाने वाले जहाज ठहरा करते हैं।

महायुद्ध से पहले क़रीब-क़रीब सारा ही देश तुर्की शासन में था या तुर्की हुकूमत को तस्लीम करता था। लेकिन नज्द में अमीर इब्नसऊद धीरे-धीरे आजाद बनता जा रहा था और इलाक़े पर इलाक़ा सर करता हुआ ईरान की खाडी की तरफ़ बढ़ रहा था। यह बात महायुद्ध के पहले के कुछ वर्षों की है। इब्नसऊद मुसलमानों की एक ख़ास क़ौम या फ़िरक़े का, जिसे वहाबी कहते हैं और जिसको अठारहवीं सदी में अब्दुलवहाब ने क़ायम किया था, सरदार था। वहाबी असल में इस्लाम का एक सुधारक दल था, जैसाकि ईसाइयों में प्यूरिटन मत है। वहाबी लोग कई रीति-रिवाजों

के और पीर-पूजा के ख़िलाफ़ थे, जो मुसलमानों में मक़बरों और धार्मिक लोगों के स्मारकों की पूजा के रूप में बहुत फैल गई थी। वहावी लोग इसे बुतपरस्ती कहा करते थे, जैसे कि योरप के प्यूरिटन लोग रोमन कैथलिकों को, जो सन्तों की मूर्तियों और स्मारकों को पूजते थे, मूर्तिपूजक कहा करते थे। इस तरह राजनैतिक विरोध के अलावा, वहावियों और अरब के दूसरे मुस्लिम फ़िरक़ों में मजहबी झगड़ा भी था।

महायुद्ध के जमाने में अरब में ब्रिटिश साजिशों ने जोर पकड़ा, और मुख़्त-लिफ़ अरब सरदारों को मदद और रिश्वत देने के लिए ब्रिटेन और हिन्दुस्तान का रुपया पानी की तरह बहाया गया। उनसे जितने क़िस्म के भी वादे हो सकते हैं सभी किये गये, और उन्हें तुर्की के ख़िलाफ़ बग़ावत करने के लिए भड़काया गया। कभी-कभी सरदार एक-दूसरे से लड़ते थे और दोनों को अंग्रेजों से मदद मिलती थी! अंग्रेज लोग मक्का के शरीफ़ हुसैन के जरिये अरब-विद्रोह का झंडा उठवाने में कामयाब होगये। हुसैन का महत्व इस बात से था कि वह पैग़म्बर मुहम्मद साहब के ख़ानदान में था, और इसलिए उसकी बडी इज्जत थी। अंग्रेजों ने हुसैन से वादा किया कि वे उसे सारे अरब के संयुक्त राज्य का बादशाह बना देंगे।

लेकिन इब्नसऊद ज्यादा होशियार था। उसने अंग्रेजों से अपने-आपको ख़ुद-मुख़्तार बादशाह तसलीम करवा लिया। उसने ५,००० पौण्ड या ७०,००० रुपया माहवार की रक़म लेना मंजूर कर लिया और तटस्थ रहने का वादा कर दिया। इस तरह जबकि दूसरे लोग लड़ते रहे, वह अपनी स्थिति को मजबूत और संगठित बनाता रहा, और उसमें किसी हद तक अंग्रेजों के रुपये की भी मदद रही। इस्लामी मुल्कों में, हिन्दुस्तान में भी, शरीफ़ हुसैन अप्रिय होता जा रहा था, क्योंकि उसने तुर्की के सुलतान के ख़िलाफ़, जो कि उस वक़्त ख़लीफ़ा भी था, बग़ावत की थी। इब्नसऊद ने तटस्थ रहकर बदलती हुई परिस्थितियों का पूरा फ़ायदा उठाया, और धीरे-धीरे इस्लाम का एक ताक़तवर आदमी होने का नाम पा लिया।

दक्षिण में यमन था। यमन का इमाम या शासक युद्ध के जमाने में हमेशा तुर्कों का वफ़ादार रहा। लेकिन वह लड़ाई की जगह से अलग जा पड़ा था और कोई ज्यादा मदद न पहुँचा सकता था। तुर्की की हार के बाद वह ख़ुदमुख़्तार होगया। यमन भी एक स्वतन्त्र राज्य है।

महायुद्ध के अख़ीर में अरब इंग्लैण्ड के ही हाथों में था, और इंग्लैण्ड हुसैन और इब्नसऊद दोनों को अपने हथियार की तरह से इस्तेमाल करने की कोशिश कर रहा था। लेकिन इब्नसऊद में इतनी होशियारी थी कि वह उनकी कठपुतली न बना। परन्तु शरीफ़ हुसैन के ख़ानदान की शान अचानक ही बहुत बढ़ गई, क्योंकि

उसकी पीठ पर अंग्रेजों की ताक़त थी। ख़ुद हुसैन हेजाज का बादशाह बना; उसका एक लड़का फ़ैजल सीरिया का शासक बना; और दूसरे लड़के अब्दुल्ला को अंग्रेजों ने ट्रान्स-जोर्डन नामक नये राज्य का शासक बना दिया। मगर यह शान चन्द दिन ही क़ायम रही, क्योंकि, जैसाकि पहले बयान किया जा चुका है, फ़ैजल को सीरिया से फ़ांसीसियों ने भगा दिया, और हुसैन की बादशाहत इब्नसऊद के वहाबियों की चढ़ाई के सामने ख़त्म होगई। फ़ैजल फिर बेकारों में शामिल होगया और उसे अंग्रेजों ने इराक़ की हुकूमत दे दी, जहाँकि वह अब भी अंग्रेजों की मेहरबानी से शाह बना हुआ शासन कर रहा है।

उस थोड़े-से अर्से में, जबकि हुसैन हेजाज का बादशाह था, अंगोरा की तुर्की पार्लमेण्ट ने १९२४ में ख़िलाफ़त को मिटा दिया। अब कोई ख़लीफ़ा न रहा। इसलिए हुसैन बड़ी भारी हिम्मत करके ख़ाली तख़्त पर ख़ुद जा कूदा, और उसने अपनेआपको इस्लाम का ख़लीफ़ा ऐलान कर दिया। इब्नसऊद ने देखा कि बस उसके लिए यही अच्छा मौक़ा है और उसने अरब राष्ट्रीयता और मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता के सामने हुसैन की मुख़ालफ़त की। वह एक महत्वाकांक्षी अनधिकारी के मुक़ाबिले में इस्लाम का हिमायती बन गया, और बड़े कुशलतापूर्ण प्रचार की मदद से उसने दूसरे देशों के मुसलमानों की सद्भावना प्राप्त करली। हिन्दुस्तान की ख़िलाफ़त कमेटी ने भी उसके पास अपनी सदिच्छायें भेजीं। अंग्रेजों ने भी हवा का रुख़ देखकर, यह महसूस करके कि जिस व्यक्ति की वे अबतक हिमायत करते रहे वह कामयाब न होगा, चुपचाप हुसैन का साथ छोड़ दिया। उन्होंने रुपया देना बन्द कर दिया और एक मज़-बूत और चढ़ाई करते हुए दुश्मन के सामने बेचारा हुसैन, जिसके साथ इतने वादे किये गये थे, अकेला लाचार और असहाय छोड़ दिया गया।

कुछ ही महीनों में, अक्तूबर १९२४ में, वहाबी मक्का में दाख़िल होगये, और उन्होंने अपने कट्टरमत के अनुसार कुछ मक़बरों को बर्बाद कर दिया। इस बर्बादी की वजह से मुसलमानी मुल्कों में बहुत अंदेशा फैल गया। हिन्दुस्तान में भी इसका बड़ा विरोध किया गया। दूसरे साल मदीना और जद्दाह भी इब्न-सऊद के हाथ में आगये, और हुसैन और उसका ख़ानदान हेजाज से निकाल दिया गया। १९२६ के शुरू में इब्नसऊद ने अपनेको हेजाज का बादशाह घोषित कर दिया। अपनी नई स्थिति को मज़बूत बनाने और बाहर के मुसलमानों की सद्भावना बनाये रखने के लिए उसने जून १९२६ में मक्का में सारे दुनिया के मुसलमानों की कांग्रेस बुलाई, जिसमें उसने दूसरे देशों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया। उसे ख़लीफ़ा बनने की कोई इच्छा न थी और उसके वहाबी-मत के बहुत-से मुसलमान उसे किसी तरह भी ख़लीफ़ा नहीं मान

सकते थे। मिस्र का शाह फुआद, जिसके राष्ट्र-विरोधी और स्वेच्छाचारी कारनामों पर हम पहले ग़ौर कर चुके हैं, ख़लीफ़ा बनने को बहुत इच्छुक था, लेकिन उसे कोई नहीं चाहता था—ख़ुद मिस्र-वासी भी नहीं चाहते थे। शिकस्त खाने के बाद, हुसैन ने भी ख़लीफ़ा होने का अपना दावा छोड़ दिया।

मक्का की इस्लामी कॉंग्रेस ने कोई महत्वपूर्ण निर्णय नहीं किये, और शायद उसकी ग़रज भी यह नहीं थी कि उसमें कोई महत्वपूर्ण बात हो। वह तो इब्नसऊद की अपनी स्थिति को, ख़ासकर बाहरी ताक़तों के सामने, मजबूत बनाने की तरकीब थी। ख़िलाफ़त कमेटी के हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि, जिनमें मेरे ख़याल से मौलाना मुहम्मद-अली भी शामिल थे, इब्नसऊद से निराश और नाराज होकर लौटे। लेकिन उसपर इसका कोई असर न पड़ा। उसने हिन्दुस्तान की ख़िलाफ़त कमेटी का उपयोग कर लिया था, जब कि उसे उसकी जरूरत थी। अब तो उसकी सद्भावना के बग़ैर भी उसका काम चल सकता था।

इब्नसऊद सिपाही और योद्धा की हैसियत से तो कामयाब हो ही गया था; अब वह उससे भी मुश्किल काम में यानी अपनेको आजकल के हालात के मुताबिक़ बनाने में लग गया। यह तरक्क़ी पुराने ढंग के खानदानी समाज से एकाएक आजकल की दुनिया में छलाँग मारकर आजाने के बराबर हुई। मालूम होता है कि इस काम में भी इब्नसऊद को काफ़ी कामयाबी मिली है, और उसने इस तरह साबित कर दिया है कि वह दूरदर्शी राजनीतिज्ञ है।

उसकी पहली कामयाबी खानाजंगी यानी अन्दरूनी झगड़ों में हुई। बहुत ही थोड़े अर्से में कारवान और सफ़र के रास्ते बिलकुल सुरक्षित होगये। यह एक बड़ी फ़तहयाबी थी, और कुदरती तौर पर बहुत-से यात्रियों ने, जिन्हें कि अभीतक रास्तोंमें राहजनी और लूट का अक्सर सामना करना पड़ता था, इसे बहुत पसन्द किया।

इससे भी आश्चर्यजनक सफलता थी—घूमते-फिरते रहनेवाले बदायूनों को बसा देना। उसने इनका बसाना हेजाज जीतने से भी पहले शुरू कर रक्खा था, और इस तरह उसने एक आधुनिक राज्य की नींव डाल दी। इन न टिकनेवाले घुमक्कड़ और आजादी-पसन्द बदायूनों को बसाना आसान काम नहीं है, लेकिन इसमें इब्नसऊद को बहुत बड़ी कामयाबी हासिल हुई है। राज्य का इन्तजाम कई बातों में सुधरा है, और हवाई जहाज और मोटरें और टेलीफ़ोन और आधुनिक सभ्यता के कई दूसरे निशान दिखाई देने लगे हैं। लेकिन मध्ययुग से आधुनिक युग में छलाँग मारना आसान काम नहीं है, और सबसे ज्यादा कठिनाई लोगों के ख़यालात बदलने में आती है।

यह नई तरक्क़ी और तब्दीली बहुत-से अरबों को पसन्द नहीं आई; पश्चिम की नई गढ़ी हुई मशीनें, उनके एंजिन और मोटरें और हवाई-जहाज़ उन्हें शैतान के आविष्कार मालूम हुए। उन्होंने इन नई बातों का विरोध किया, और १९२९ में उन्होंने इब्न-सऊद के खिलाफ़ बग़ावत भी करदी। इब्नसऊद ने उन्हें चतुराई और दलीलों से अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की, और कइयों को मिलाने में कामयाब भी हुआ। कुछ लोगों ने बग़ावत जारी रक्खी और इब्नसऊद के ज़रिये पस्त कर दिये गये।

इसके बाद इब्नसऊद के सामने एक दिक़्क़त और आई, लेकिन यह दिक़्क़त तो सारी दुनिया के ही सामने आई थी। १९३० से सभी जगह व्यापार में भारी मन्दी आगई है। पश्चिम के बड़े-बड़े औद्योगिक देशों ने इसको सबसे ज्यादा महसूस किया है, और इसके बढ़ते हुए जाल से निकलने के लिए अब भी पैर पीट रहे हैं। संसार के व्यापार से अरब का कोई वास्ता नहीं है, लेकिन वहाँ मन्दी का अनुभव दूसरी तरह से हुआ। इब्नसऊद की आमदनी का ख़ास ज़रिया हर साल मक्का आनेवाले यात्रियों की तादाद थी। विदेशों से हर साल क़रीब एक लाख यात्री मक्का आया करते थे। १९३० में यह तादाद घटकर चालीस हज़ार रह गई, और घटती अब भी जारी है। इसका नतीजा यह हुआ कि राज्य की आर्थिक व्यवस्था बिलकुल उलट-पुलट होगई, और अरब के कई हिस्सों में बड़ी ही दुर्दशा पैदा होगई। कहा जाता है कि कई प्रदेशों की हालत तो इतनी बुरी है कि तुर्की हुकूमत के ख़राब-से-ख़राब ज़माने में भी वैसी नहीं हुई थी। रुपये की कमी से इब्नसऊद का हाथ तंग होगया और उसकी कई सुधार-योजनायें बन्द होगई। वह विदेशियों को उद्योग और व्यापार-सम्बन्धी सुविधायें नहीं देना चाहता था, क्योंकि उसका यह अन्देशा सही था कि अगर विदेशी लोग देश के औद्योगिक साधनों को काम में लायेंगे तो उससे विदेशी असर बढ़ेगा, और फिर इससे विदेशी दस्तन्दाज़ी होगी और अपनी आज़ादी में कमी आयगी। उसका अन्देशा बिलकुल ठीक था, क्योंकि ज्यादातर जिन तकलीफों को औपनिवेशिक और ग़ुलाम देशों ने बर्दाश्त किया है वे विदेशी उद्योग-विस्तार से ही पैदा हुई हैं। इब्न सऊद ने कुछ तरक्क़ी और खुशहाली होने लेकिन आज़ादी के मिटने की बनिस्बत आज़ादी को ज्यादा पसन्द किया।

फिर भी मन्दी की मजबूरी से इब्नसऊद को अपनी नीति में थोड़ा सुधार करना पड़ा है, और अब वह विदेशियों को कुछ सहूलियतें देने को तैयार है। लेकिन इस स्थिति में भी वह अपनी आज़ादी को महफ़ूज़ रखने का खयाल रखता है, और इसके लिए शर्तें तय करदी गई हैं। इस तरह पहली सहूलियत जद्दाह बन्दरगाह और मक्का के बीच रेल बनाने के लिए एक हिन्दुस्तानी मुस्लिम पूँजीपति दल को दी जाने

वाली है। अरब में यह रेल एक बडी भारी चीज होगी, क्योंकि इससे वार्षिक यात्राओं में क्रान्ति होजायगी। इससे सिर्फ़ यात्रियों को ही फ़ायदा न पहुँचेगा, बल्कि अरब लोगों के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने में भी मदद मिलेगी। उम्मीद है कि रेल दो साल में यानी १९३५ की वसन्त ऋतु से चलने लगेगी।

किसी पिछले ख़त में मैं लिख चुका हूँ कि अरब में एक रेलवे तो पहले से ही मौजूद है, जो हेजाज रेलवे कहलाती है और मदीना को सीरिया के अलप्पो नामक स्थान पर बग़दाद रेल्वे से जोड़ती है।

इस ख़त के शुरू के हिस्से में मैंने जिक्र किया है कि दक्षिण-पश्चिम में यमन का नाम 'अरेबिया फ़ेलिक्स' था। वास्तव में यह नाम तो दक्षिणी अरब के एक बडे हिस्से को भी दिया गया था, जो करीब-करीब ईरान की खाडी तक फैला हुआ था। लेकिन इस प्रदेश के लिए यह नाम बिलकुल ग़ैरमौजूँ है, क्योंकि यह तो एक भद्दा-सा रेगिस्तान है। शायद पुराने जमाने में इसे लोग काफ़ी तौर पर जानते नहीं थे और इसलिए यह ग़लती होगई। हालतक तो यह एक अज्ञात प्रदेश था, दुनिया की सतह पर की उन थोडी-सी जगहों में से एक था जिनकी नाप होकर नक़्शा भी नहीं बना है। सिर्फ़ तीन साल पहले, पहली मर्तबा, एक अंग्रेज अन्वेषणकारी ने इसको पार किया है।

: १६६ :

इराक़ और आसमान से बम-वर्षा

७ जून, १९३३

अब एक अरब देश और रहता है, जिसपर हमें विचार करना है। यह देश है इराक़ या मेसोपोटामिया—टाइग्रीस (दजला) और यूफ़ेटीज (फ़ुरात) नदियों के बीच का सम्पन्न और उपजाऊ प्रदेश; पुराने क़िस्से-कहानियों, बग़दाद, और हारूंनलरशीद और अलिफ़ लैला की भूमि। यह ईरान और अरबी रेगिस्तान के बीच में स्थित है। दक्षिण में इसका ख़ास बन्दरगाह बसरा है, जो कि ईरान की खाडी से कुछ दूर नदी के ऊपर है। उत्तर में यह तुर्की की हद से लगा हुआ है। इराक़ और तुर्की दोनों क़ुर्दिस्तान में आ मिले हैं, जहाँ कि कुर्द जाति बसती है। अधिकांश कुर्द लोग तो अब तुर्की में हैं, और मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ कि वे तुर्की से अपनी आज़ादी के लिए लडे थे। लेकिन ईरान में भी कुछ कुर्द लोग हैं और उनका वहाँ भी एक छोटी तादादवाला पर महत्वपूर्ण समाज है। मोसल, जिसकी बाबत बहुत अर्से तक तुर्की

और इंग्लैण्ड में झगड़ा चलता रहा था, अब इराक़ के इस उत्तरी कुर्दिश प्रदेश में ही है। इसका अर्थ है कि वह अंग्रेज़ों के नियन्त्रण में है। मोसल के नज़दीक ही असीरियनों के प्राचीन नगर निनेव के खंडहर हैं।

इराक़ उन देशों में से एक था जिनके लिए इंग्लैण्ड को राष्ट्र-संघ से 'मैण्डेट' मिला था। 'मैण्डेट' का अर्थ राष्ट्र-संघ की पवित्र भाषा में है: राष्ट्र-संघ की तरफ़ से सभ्यता की 'पवित्र धरोहर' (ट्रस्ट)। मूल उद्देश्य यह था कि 'मैण्डेट' वाले देशों के बाशिन्दे अभी इतने बढ़े हुए नहीं हैं, या इस लायक़ नहीं हैं, कि वे अपने हितों को ख़ुद सम्हाल सकें, इसलिए बडी शक्तियाँ इस काम में उनको मदद दें। शायद इसकी मिसाल यह होसकेगी कि कुछ गायों या हिरनों के हितों की हिफाजत के लिए किसी शेर को मुकर्रर किया जाय। यह मान लिया गया था कि ये 'मैण्डेट' वहाँके निवासियों के कहने से दिये गये हैं। पश्चिमी एशिया में तुर्की हुकूमत से आजाद किये हुए मुल्कों के मैण्डेट इंग्लैण्ड और फ्रान्स के हिस्से में आये। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ, इन दोनों देशों की सरकारों ने ऐलान किया कि उनका एकमात्र यही उद्देश्य है कि "वहाँकी जातियों को मुकम्मल और यक़ीनी तौर पर सभ्य बनाना...... और वहाँ ऐसी राष्ट्रीय सरकारें और व्यवस्थापक-मण्डल क़ायम करना जिनकी हस्ती वहाँ के असली बाशिन्दों की अपनी इच्छा और पसन्द पर मुनहसर या निर्भर हो।" इस उच्च उद्देश्य को हासिल करने के लिए पिछले बारह वर्षों में जो-जो काम किये गये वे हम सीरिया, फिलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन के विषय में मुख़्तसर तौर पर देख ही चुके हैं। वहाँ बार-बार गड़बडी हुई, असहयोग हुआ और बहिष्कार हुआ। उस वक़्त लोगों की प्रेरणा और बिना किसी दबाव की उनकी पसंदगी को बढ़ावा देने के लिए उन्हें गोलियों से मारा गया, उनके नेताओं को सजायें दी गई और जलावतन किया गया, उनके अख़बारों का दमन किया गया, उनके शहरों और गाँवों को बर्बाद किया गया और अक्सर फौजी कानून तक जारी किया गया। इन घटनाओं में नई बात कोई नहीं है। इतिहास के बिलकुल शुरू से ही साम्राज्यवादी शक्तियाँ जबरदस्ती से काम लेती और विनाश और आतंक फैलाती रही हैं। नये ढंग के साम्राज्यवाद में नई बात यह है कि वह अपने आतंक और लूट को 'ट्रस्टीशिप', 'जनता का हित', 'पिछडी हुई जातियों को स्वायत्त-शासन की तालीम देना' वग़ैरा बडे-बडे जुमलों के परदे में छिपाने की कोशिश करता है। वे लोगों पर गोली चलाते हैं, मारते हैं और बर्बादी करते हैं—सिर्फ़ उन्हीं मरनेवाले लोगों की भलाई के लिए! यह पाखण्ड शायद तरक़्क़ी की निशानी हो, क्योंकि भलाई के लिए पाखण्ड करना ही पड़ता है; और इससे जाहिर होता है कि सचाई पसन्द नहीं की जाती और इसलिए उसे इन पसन्द आनेवाले और बहलाने

वाले वाक्यों में ढक दिया जाता है, और इस तरह उसे छिपा दिया जाता है। लेकिन कभी-कभी यह साधुता-प्रदर्शक पाखण्ड नंगी सचाई से बहुत बुरा लगता है

अब हम इस बात पर ग़ौर करते हैं कि इराक में लोगों की इच्छाओं पर किस तरह अमल किया गया, और ब्रिटिश मैण्डेट में यह देश किस तरह आज़ादी की तरफ़ बढ़ता चला गया। महायुद्ध के दौरान में अंग्रेज़ों ने इराक़ को—या, जिस नाम से वह उस वक़्त मशहूर था, मेसपॉट को—तुर्कों के ख़िलाफ़ अपनी कारगुज़ारियों का ख़ास मुक़ाम बना लिया था। उन्होंने इस देश में अंग्रेज़ी और हिन्दुस्तानी फ़ौजों की भरमार करदी थी। उन्हें १९१६ में एक बडी शिकस्त मिली, जबकि कुतलअमारा में जनरल टाउनशेण्ड की मातहती में एक ब्रिटिश फ़ौज को तुर्कों के सामने हार खानी और शरण लेनी पडी। सारे मेसोपोटामियन युद्ध में भयंकर फ़िज़ूलख़र्ची और बदइन्तज़ामी रही, और चूंकि भारत-सरकार इसके लिए ज़्यादातर ज़िम्मेदार थी इसलिए उसे अपनी नालायक़ी और बेवकूफ़ी के बारे में बहुत सख़्त बातें बर्दाश्त करनी पडीं। फिर भी, अख़ीर में अंग्रेज़ों के बढ़े हुए साधनों का नतीजा निकला ही और उन्होंने तुर्कों को उत्तर में खदेड़ दिया और बाद में वे क़रीब-क़रीब मोसल तक जा पहुँचे। महायुद्ध के अख़ीर में सारा इराक अंग्रेज़ों के फ़ौजी कब्ज़े में था।

इंग्लैण्ड को इराक का मैण्डेट मिलने का पहला असर १९२० के शुरू में ज़ाहिर हुआ। इसके ख़िलाफ़ ज़बरदस्त विरोध किया गया, जो बढ़ते-बढ़ते दंगे-फ़साद की शक्ल में ज़ाहिर हुआ, और दंगों ने बग़ावत की शक्ल इख़्तियार करली, जोकि सारे देश में फैल गई। यह एक अजीब और मज़ेदार बात है कि १९२० के इस पहले आधे हिस्से में क़रीब-क़रीब एकसाथ ही तुर्की, मिस्र, सीरिया, फ़िलस्तीन, इराक और ईरान में गड़बडी हुई थी। हिन्दुस्तान में भी उन्हीं दिनों असहयोग की चर्चा थी। इराक़ की बग़ावत को अन्त में, ख़ासकर हिन्दुस्तान की फ़ौज की मदद से, दबा दिया गया। बहुत अर्से से हिन्दुस्तान की फ़ौजों का यह काम रहा है कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का गन्दा काम किया करती हैं, और इस कारण मध्य-पूर्व और दूसरे मुल्कों में हमारे देश की काफ़ी बदनामी होगई है।

अंग्रेज़ों ने इराक़ की बग़ावत को कुछ तो ज़ोर-ज़बरदस्ती से और कुछ भविष्य में आज़ादी देने के वादों से दबा दिया। उन्होंने अरब मन्त्रियों की एक अस्थायी सरकार क़ायम की, लेकिन हर मन्त्री के साथ एक अंग्रेज़ सलाहकार था जोकि असली ताक़त रखता था। मगर ये फ़ालतू और नामज़द मन्त्री भी इतने तेज़ थे कि अंग्रेज़ों को पसन्द न आये। अंग्रेज़ों की योजना यह थी कि इराक़ बिलकुल उनके हुक्म के

मुताबिक अमल करे, पर कुछ मन्त्रियों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इसलिए अप्रैल १९२१ में अंग्रेजों ने मुख्य मंत्री सैयद तालिवशाह को, जो कि उनमें सवसे ज्यादा लायक़ था, गिरफ्तार करके जलावतन कर दिया, और इस तरह मुल्क को आजादी के वास्ते तैयार करने के लिए यह दूसरा क़दम उठाया गया। १९२१ की गर्मियों में अंग्रेज हेजाज के शाह हुसैन के लड़के फ़ैजल को ले आये, और उसे इराकियों के सामनें उनके भावी वादशाह के रूप में पेश किया गया। तुम्हें याद होगा कि उन दिनों फ़ैजल वेकार था, क्योंकि उसकी सीरिया वाली कारगुजारी फ़्रान्सीसी हमले के आगे असफल हो चुकी थी। वह अंग्रेजों का एक अच्छा दोस्त था, और उसने महायुद्ध में तुर्की के खिलाफ़ उठनेवाले अरव विद्रोह में सवसे ज्यादा हिस्सा लिया था। इसलिए यह मुमकिन था कि स्थानीय मन्त्री अंग्रेजों की योजनाओं के जितने मुआफ़िक हो पाये थे, उससे वह ज्यादा मुआफ़िक होता। 'प्रतिष्ठित' लोगों यानी मध्य दर्जे के मालदार लोगों और दूसरे प्रमुख व्यक्तियों ने इस शर्त पर फ़ैजल को अपना वादशाह वना लेना मंजूर कर लिया कि हुकूमत वैधानिक हो और उसके साथ प्रजातन्त्रवादी पार्ल-मेण्ट हो। उनके हाथ में कुछ था तो नहीं, लेकिन चाहते थे कि एक सच्ची पार्लमेण्ट वनें, और चूंकि फ़ैजल वादशाह वनने ही वाला था इसलिए उन्होंने पार्लमेन्ट वनने की यह एक शर्त रखदी। आम तौर पर लोगों की राय नहीं ली गई। इस तरह अगस्त १९२१ में फ़ैजल वादशाह वन गया।

लेकिन इससे समस्या हल नहीं होती थी, क्योंकि इराकी लोग ब्रिटिश मंण्डेण्ट के वहुत खिलाफ़ थे और मुकम्मल आजादी हासिल करके दूसरे अरव देशों के साथ मिल जाना चाहते थे। आन्दोलन और प्रदर्शन जारी रहे, और एक साल वाद अगस्त १९२२ में मामला वहुत ज्यादा वढ़ गया। तव अंग्रेज अधिकारियों ने इराकियों को आजादी का एक सवक़ और पढ़ाया। ब्रिटिश हाइकमिश्नर सर पर्सी काक्स ने वादशाह की (जो उस समय वीमार था) मंत्रि-मण्डल की, और इराक़ को जिस तरह की भी कौंसिल दी गई थी उस सवकी सत्ता का खात्मा कर दिया, और शासन के पूरे अख्तियारात खुद ले लिये। दरहक़ीक़त, वह खुद-मुख्तार डिक्टेटर वन गया, और उसने जैसा मन में आया वैसा जवरदस्ती किया और गड़वडी को अंग्रेजी फ़ौज और खासकर ब्रिटिश हवाई फौज की मदद से दवा दिया। वही पुराना क़िस्सा जो कि थोडे-थोडे फ़र्क से हिन्दुस्तान, मिस्र, सीरिया वग़ैरा में हुआ, यहाँ भी दोहराया गया। राष्ट्रीय अखवार रोक दिये गये, पार्टियाँ तोड़ दी गईं, नेता जलावतन कर दिये गये और अंग्रेजी हवाई जहाजों ने वमों के जरिये ब्रिटिश साम्राज्य की ताक़त को क़ायम कर दिया।

लेकिन फिर भी इससे समस्या का हल न हुआ। कुछ महीनों के बाद सर पर्सी कावस ने बादशाह और मंत्रि-मंडल को फिर काम करने का जाहिरा मौक़ा दिया, और इन लोगों से ब्रिटेन के साथ एक सुलह मंजूर करवाली। फिर आश्वासन दिये गये कि इंग्लैण्ड इराक को आजादी हासिल करने में मदद देगा और राष्ट्र-संघ का मेम्बर भी बनवा देगा। इन सुन्दर और तसल्ली देनेवाले वादों के परदे में यह ठोस वाक़या छिपा हुआ था कि इराक़-सरकार को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वह अंग्रेज अफ़सरों या अंग्रेजों के पसन्द किये हुए अफ़सरों की मदद से हुकूमत को चलावे। अक्तूबर १९२२ की इस सुलह की, जो कि लोगों की इच्छा के खिलाफ़ हुई, जनता ने निन्दा की। जनता ने कहा कि अरब मंत्रिमण्डल तो एक धोखा है, और असली ताक़त फिर भी अंग्रेज अफ़सरों के हाथों में है। नेताओं ने नैशनल कान्स्टीटचुएण्ट एसेम्बली का, जो कि भावी विधान तैयार करने के लिए बुलाई गई थी, बहिष्कार करने का फ़ैसला किया। यह असहयोग कामयाब हुआ और असेम्बली की बैठक न हो सकी। टैक्स वसूल करने में भी बड़ी गड़बड़ी और दिक्क़तें पैदा हो गई।

एक वर्ष से भी ज्यादा अर्से तक, १९२३ के तमाम साल, ये झगड़े चलते रहे। आखिरकार इराक़ के हक़ में कुछ तब्दीलियां सन्धि में करदी गई और आन्दोलन खड़ा करनेवाले खास नेताओं को जलावतन कर दिया गया। फलतः आन्दोलन धीमा पड़ गया, और १९२४ के शुरू में कान्स्टीटचुएण्ट एसेम्बली का चुनाव हो सका। इस एसेम्बली ने भी ब्रिटिश सुलहनामे का विरोध किया। इसपर अंग्रेजों पर भारी दबाव डलवाया, और आखिरकार एक-तिहाई से कुछ ज्यादा मेम्बरों ने सन्धि पर मंजूरी दे दी; लेकिन बहुत-से सदस्य तो इस अधिवेशन में आये तक नहीं थे।

कान्स्टीटचुएण्ट एसेम्बली ने इराक़ के लिए एक नया विधान तैयार किया। कागज पर लिखा हुआ तो वह अच्छा ही मालूम हुआ, क्योंकि उसमें यह तय कर दिया गया कि इराक़ एक खुद-मुख्तार आजाद राज्य है जिसमें कि पुश्तैनी वैधानिक बादशाहत रहेगी और पार्लमेण्टरी ढंग का शासन होगा; लेकिन पार्लमेण्ट की दो मजलिसों में से एक को, यानी सिनेट को, नामजदगी बादशाह पर रक्खी गई। इस तरह बादशाह के हाथ में बड़ी ताक़त रही, और बादशाह की पीठ पर थे अंग्रेज अफ़सर जो कि सभी महत्व-पूर्ण ओहदों पर क़ायम थे। यह विधान मार्च १९२५ से अमल में आया, और कुछ वर्षों तक नई पार्लमेण्ट काम करती रही, लेकिन मैण्डेट की मुखालिफ़त फिर भी जारी रही। अधिकांश समय तो लोगों का ध्यान मोसल के मामले में इंग्लैण्ड और तुर्की के झगड़े पर लगा रहा, क्योंकि इस प्रदेश का दावेदार इराक़ भी था। आखिरकार जून १९२६ में इंग्लैण्ड, इराक़ और तुर्की के बीच एक सम्मिलित सन्धि होकर इस मामले

का फ़ैसला होगया। मोसल इराक़ को मिल गया, और चूँकि इराक़ ख़ुद ब्रिटिश साम्राज्य की छाया में था इसलिए अंग्रेज़ों के स्वार्थ भी सुरक्षित रहे।

जून १९३० में, ब्रिटेन और इराक़ में एक और दोस्ताना सुलह हुई। इसके जरिये भी, अन्दरूनी और बाहरी मामलों में इराक़ की मुकम्मिल आज़ादी को तस्लीम किया गया। लेकिन शर्तें और रुकावटें ऐसी रक्खी गईं जिनसे कि यह आज़ादी ग़ुलामी में तब्दील हो जाती थी। मसलन हिन्दुस्तान को जानेवाले रास्तों की, जिसे सन्धि में 'ज़रूरी आमद-रफ़्त' कहा गया है, हिफ़ाज़त के लिए इराक़ इंग्लैण्ड को हवाई-अड्डों के लिए जगह देगा। ब्रिटेन मोसल और दूसरी जगहों पर भी अपनी फ़ौजें रक्खेगा। इराक़ फ़ौजी तालीम के लिए सिर्फ़ अंग्रेज़ शिक्षक ही रख सकेगा और इराक़ी फ़ौज में अंग्रेज़ अफ़सर सलाहकार की हैसियत से मुलाज़िम रहेंगे। हथियार, गोला-बारूद, हवाई जहाज़ वग़ैरा सिर्फ़ इंग्लैण्ड से लिये जायँगे। युद्ध छिड़ने पर, दुश्मन से जंगी तैयारियाँ करने के लिए, अंग्रेज़ों को देश में सब तरह के सुभीते कर दिये जायंगे। इस तरह मोसल के पास के मोर्चे से इंग्लैण्ड बडी आसानी से तुर्की, ईरान या आज़र-बायजान के सोवियट पर हमला कर सकता है।

इस सन्धि के बाद १९३१ में ब्रिटेन और इराक़ के बीच एक जुडीशियल सन्धि भी हुई, जिसके ज़रिये इराक़ ने एक अंग्रेज़ जुडीशियल सलाहकार, (अपील की अदालत का अंग्रेज़ प्रेसीडेण्ट) और बग़दाद, बसरा, मोसल और दूसरी जगहों में अंग्रेज़ प्रेसीडेण्ट रखना मंजूर कर लिया।

इन शर्तों के अलावा भी मालूम होता है कि अंग्रेज़ अफ़सर और भी कई ऊँचे ओहदों पर हैं। नतीजा यह है कि यह 'आज़ाद' मुल्क दरहक़ीक़त इंग्लैण्ड का एक मातहत मुल्क बन गया है। १९३० की संधि, जिसके ज़रिये से यह सब हुआ है, पच्चीस साल के लिए है।

१९२५ में नये विधान के मंजूर होने के बाद हालाँकि नई पार्लमेण्ट काम करने लगी, लेकिन लोग संतुष्ट नहीं थे और बाहरी प्रदेशों में कभी-कभी झगडे होजाते थे। ऐसा ख़ासकर कुर्दिश इलाके में होता था, जहाँ कि बार-बार अशान्ति खडी हो जाती थी, और जिसे ब्रिटिश हवाई फ़ौज ने बम-वर्षा और सारे गाँव की तबाही की कारगुज़ारियों के ज़रिये दबा दिया। १९३० की संधि के बाद इराक़ के ब्रिटिश सरपरस्ती में राष्ट्र-संघ में शामिल किये जाने का सवाल खड़ा हुआ। लेकिन देश में तो शान्ति नहीं थी, और झगडे होते ही रहते थे। इससे न तो मैण्डेटरी-शक्ति इंग्लैण्ड की नेकनामी होती थी, और न बादशाह फ़ैज़ल की हुकूमत की ही नामवरी होती थी, क्योंकि बग़ावतों से काफ़ी सबूत मिलता था कि अंग्रेज़ों द्वारा ज़बरदस्ती लादी हुई

सरकार से लोग संतुष्ट नहीं हैं। यह बहुत ही अवाञ्छनीय समझा गया कि राष्ट्र-संघ के सामने ये बातें आवें, इसलिए इन झगडों को बल और आतंक से खत्म कर देने की ख़ास कोशिश की गई। इस काम के लिए अंग्रेज़ी हवाई फ़ौज का इस्तैमाल किया गया। शान्ति और व्यवस्था क़ायम करने की उसकी कोशिश का नतीजा किसी हदतक एक मशहूर अंग्रेज अफसर के बयान से समझा जा सकता है। ८ जून १९३२ को, लंदन में रायल एशियन सोसायटी की साल्गिरह के जलसे पर व्याख्यान देते हुए लेफ्टिनेण्ट कर्नल सर आरनल्ड विल्सन ने ज़िक्र किया है कि किस तरह :—

> "आर० ए० एफ० यानी रायल एयर फोर्स ने (जेनेवा की घोषणाओं के विरुद्ध भी) पिछले दस सालों में, और खासकर पिछले छः महीनों में, कुर्दिश जनता पर निरन्तर बम-वर्षा की है। बरबाद किये हुए गाँव, मरे हुए पशु, अंग-भंग की हुई स्त्रियाँ और बच्चे, 'टाइम्स' के विशेष संवाद-दाता के शब्दों में, ये सब इसके सुबूत हैं कि सभ्यता का एक ही साँचा सब जगह फैला हुआ है।"

यह जानकर कि गाँव के लोग हवाई जहाज को आता देखकर अक्सर भाग जाते हैं और इतने विनोद-प्रिय नहीं हैं कि बमों द्वारा मारे जाने तक ठहरे रहें, एक नये क़िस्म का बम भी, जिसे कुछ देर बाद फूटनेवाला बम कहते हैं, इस्तैमाल किया गया। यह गिरते ही फूटता न था बल्कि इस तरह बनाया गया था कि कुछ वक्त बाद फूटा करता था। यह राक्षसी युक्ति इसलिए की गई कि गाँववाले हवाई जहाजों के जाने के बाद फिर अपनी झोंपड़ियों में लौट आयें और फिर बमों के फटने से घायल हो जायें। जो मर जाते थे वे तो खुश-क़िस्मत थे, लेकिन जिनके अंग-भंग हो जाते थे, जिनके हाथ पैर टूट जाते थे, या जिन्हें और किसी जगह सख्त चोटें लगती थीं, वे बहुत ज्यादा बद-क़िस्मत थे, क्योंकि उन दूर के देहातों में कोई भी डाक्टरी मदद नहीं मिल सकती थी।

इस तरह शान्ति और व्यवस्था फिर क़ायम होगई, और इराक़ की सरकार ने राष्ट्र-संघ के सामने ब्रिटिश सरपरस्ती में अपनेआपको पेश किया और उसे मेम्बर बना लिया गया। यह बिलकुल ठीक ही कहा गया है कि 'बम मार-मार कर' इराक़ को राष्ट्र-संघ में दाखिल कर दिया गया।

इराक़ के राष्ट्र-संघ का सदस्य बन जाने पर ब्रिटिश मैण्डेट खत्म होगया। उसकी जगह अब १९३० की संधि आगई, जिससे कि राज्य पर अंग्रेजों का असली दबाव क़ायम होगया है। इस स्थिति से असन्तोष अब भी जारी है, क्योंकि इराक़ के लोग पूरी आज़ादी और अरब राष्ट्रों की एकता चाहते हैं। राष्ट्र-संघ की मेम्बरी में उनकी कोई बडी दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि पूर्व की अधिकांश दूसरी क़ौमों की तरह

वे समझते हैं कि राष्ट्र-संघ तो बड़ी-बड़ी यूरोपियन शक्तियों के हाथ में एक हथियार है जिससे वे अपने औपनिवेशिक या दूसरे स्वार्थ सिद्ध करती रहती हैं।

अधिक अमली आज़ादी की माँग इतनी ज़बरदस्त है कि बादशाह फ़ैज़ल तक को उसपर अंग्रेज़ों के सामने ज़ोर देना पड़ा है। जिस समय मैं यह ख़त लिख रहा हूँ, अख़बारों में यह ख़बर छपी है कि वह कुछ ही दिनों में सरकारी काम से इंग्लैण्ड जा रहा है। मुमकिन है कि इराक़ और इंग्लैण्ड के ताल्लुक़ात के सवाल पर फिर से बहस हो और इराक़ कुछ छोटे-मोटे फ़ायदे हासिल कर सके। जबतक कि फ़ौजी और ख़ास मोर्चेबन्दी सम्बन्धी नियन्त्रण इंग्लैण्ड के हाथ में रहते हैं तबतक वह महत्वशून्य छोटे-छोटे मामलों में झुक भी सकता है, ताकि वह उदार-हृदय मालूम हो सके और शायद उससे दूसरे पक्ष की सद्भावना भी हासिल कर सके। जब अगला महायुद्ध आयगा, तो इराक़ सम्भवतः एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनेगा।

अब हम अरब राष्ट्रों पर सरसरी नज़र डाल चुके हैं। तुमने देखा होगा कि महायुद्ध के बाद ये सब हिन्दुस्तान और पूर्व के दूसरे देशों की तरह राष्ट्रीयता की लहरों से ज़ोरों के साथ हिल उठे थे। मानों बिजली की एक लहर इन सब में एक-साथ दौड़ गई हो। दूसरी उल्लेखनीय बात है सबका एक ही तरह के उपाय काम में लाना। इन में से कई देशों में बग़ावतें और हिंसात्मक विद्रोह हुए, लेकिन वे असहयोग और बहिष्कार की नीति की तरफ़ ही ज्यादा झुकते गये। इसमें शक नहीं कि मुक़ाबिला करने के इस उपाय का रिवाज पहलेपहल १९२० में हिन्दुस्तान ने ही डाला था, जबकि काँग्रेस ने बापू का नेतृत्व ग्रहण किया। मेरा यह मतलब नहीं कि ये दूसरे देश बापू की उसके पक्ष में दी हुई मुख्य दलीलों को भी मानते थे। लेकिन फिर भी असहयोग और कौन्सिलों के बहिष्कार का ख़याल हिन्दुस्तान से ही पूर्व के दूसरे देशों में फैला है, और यह उपाय आज़ादी की लड़ाई में घर कर गया है और उसपर अक्सर अमल होता है।

साम्राज्यवादी नियन्त्रण अमल में लाते वक़्त इंग्लैण्ड और फ़्रान्स किस तरह परस्पर जुदा-जुदा उपायों को काम में लाते हैं, यह जानना बड़ा दिलचस्प है और इसपर मैं तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूँ। इंग्लैण्ड अपने सभी मातहत मुल्कों में जागीरदारों, ज़मींदारों और सबसे अनुदार और पिछड़े हुए वर्गों से मेल करने की कोशिश करता है। यह बात हिन्दुस्तान में, मिस्र में और दूसरी जगहों में देखी गई है। वह अपने मातहत देशों में डगमगाती हुई राजगद्दियाँ पैदा कर देता है, उनपर प्रगति-विरोधी शासकों को बिठा देता है, और अच्छी तरह जानता है कि वे उसका समर्थन करेंगे। उसने मिस्र में फ़ुआद, इराक़ में फ़ैज़ल, ट्रान्स-जोर्डन में अब्दुल्ला को

गद्दी पर बिठाया, और हेजाज में भी हुसैन को गद्दी पर बैठाने की कोशिश की। दूसरी तरफ़ फ्रांस चूंकि खुद एक नमूनेदार मध्यमवर्गीय देश है, इसलिए वह अपने मातहत देशों के कुछ मध्यमवर्गीय भागों, उठते हुए व्यापारी वर्गों, द्वारा समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करता है। मसलन, सीरिया में उसने ईसाई मध्यमवर्गों का समर्थन प्राप्त करना चाहा था। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स दोनों ही अपने सब मातहत देशों में अपना विरोध करनेवाली राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए उसे टुकड़े-टुकड़े करने, फूट डालने, अल्पसंख्यक, जातीय और मजहबी सवालों को पैदा करने की नीति का सहारा लेते हैं। लेकिन सारे पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता इन सब भेद-भावों को धीरे-धीरे पार कर रही है, और इस कार्य में वह 'मध्य-पूर्व' के अरब देशों में ही शायद सबसे ज्यादा कामयाब हुई है, जहाँ कि मजहबी फिरक़े अब राष्ट्रीयता के आदर्श के सामने कमजोर पड़ते जा रहे हैं।

मैंने ऊपर तुम्हें बताया है कि इराक़ में ब्रिटिश आर० ए० एफ़० (रायल एयर फ़ोर्स) से किस तरह काम लिया गया। पिछले दस-बारह साल से ब्रिटिश सरकार की यह निश्चित नीति हो गई है कि वह अपने नाम के आजाद पर असल में आधे-मातहत देशों में जिसे 'पुलिस-कार्य' कहा जाता है, वह करने के लिए हवाईजहाजों का इस्तेमाल करने लगी है। यह ख़ासकर वहीं किया जाता है जहाँ किसी हद तक स्वायत्त शासन दिया जाता है, और शासक-मण्डल ज्यादातर उसी देश का होता है। इन देशों में अब क़ब्जा जमानेवाली सेनायें नहीं रक्खी जातीं, या उन्हें बहुत कम कर दिया गया है। इसके कई फ़ायदे हैं। बहुत-सा रुपया बच जाता है, और उस देश पर फ़ौजी क़ब्जा जाहिरा कम दिखाई देता है। साथ ही हवाईजहाजों और बमों के द्वारा स्थिति पर उनका पूरा क़ाबू रहता है। इस तरह मातहत इलाक़ों में हवाई जहाजों से बम-वर्षा का उपयोग बहुत बढ़ गया है, और दूसरी ताक़तों की बनिस्बत शायद अंग्रेज ही इस उपाय को ज्यादा काम में लाते हैं। मैंने इराक़ का हाल तो बता ही दिया। यही कहानी हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिमी सरहद के बारे में भी दोहराई जा सकती है, जहाँ कि हवाई बम-वर्षा अक्सर होनेवाली बात होगई है।

मुमकिन है, फ़ौज भेजने के पुराने तरीक़े की बनिस्बत यह तरीक़ा ज्यादा सस्ता और ज्यादा कारगर हो। लेकिन यह बहुत ही बेरहम और भयंकर तरीक़ा है। असल में पूरे-पूरे गाँवों पर बम बरसाना, ख़ासकर देर से फूटनेवाले बम बरसाना और गुनहगारों और बेगुनाहों को एक-साथ मार डालने से ज्यादा घृणित और जंगली काम की कल्पना करना भी मुश्किल है। इस तरीक़े से दूसरे देश पर हमला करना भी बड़ा आसान हो जाता है। इसलिए इसके ख़िलाफ़ खूब चीख़-पुकार उठी

है, और जिनेवा में राष्ट्र-संघ में निरस्त्र जनता पर हवाई हमला करने के ख़िलाफ़ बड़े-बड़े भाषण दिये जाते हैं। पिछले साल (जुलाई १९३२ में) राष्ट्र-संघ की या राष्ट्र-संघ की निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स की मीटिंग में अंग्रेज प्रतिनिधि सर जान साइमन भी इस आम मुख़ालिफ़त में शामिल होगये थे, और उन्होंने कहा था कि यह 'बिलकुल पूरी तरह से' बन्द कर दिया जाना चाहिए। लेकिन ताज्जुब है कि जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें 'देशी गाँवों' पर बम बरसाने की छूट करदी गई!

सिर्फ़ एक हफ़्ता पहले (२९ मई १९३३ को) जिनेवा में निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स में इस मामले पर फिर बहस हुई, और रूटर के एक तार में लिखा है कि "जब अंग्रेजों ने तजवीज़ की कि मातहत देशों में सिर्फ़ पुलिस-कार्य के लिए ही हवाई-जहाज का इस्तेमाल किया जाय,.........तो इस पर बड़ी भारी मुख़ालफ़त हुई।" मालूम होता है कि दूसरे सब देशों ने, जिनमें यूनाइटेड स्टेट्स भी शामिल है, हवाई बम-वर्षा को बिलकुल बन्द कर देने पर जोर दिया। लेकिन ब्रिटिश सरकार मानने से इन्कार कर देती है और इस मामले पर निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स के टूट जाने की नौबत लाने को भी तैयार है। इस बात पर ब्रिटेन सारी दुनिया के ख़िलाफ़ है। लेकिन इसमें शक नहीं कि किसी-न-किसी दूसरी साम्राज्यवादी शक्ति का गुप्त समर्थन उसे प्राप्त है।

: १७० :

अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ अन्य देश

८ जून, १९३३

इराक़ के पूर्व में ईरान या फ़ारस है, और ईरान के पूर्व में अफ़ग़ानिस्तान है। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान दोनों ही हिन्दुस्तान के पड़ोसी हैं, क्योंकि ईरानी सरहद हिन्दुस्तान से बलोचिस्तान में कईसौ मील तक मिली हुई है, और अफ़ग़ानिस्तान और हिंदुस्तान की सरहद भी बलोचिस्तान की बिलकुल पश्चिमी नोक से हिन्दूकुश के उत्तरी पर्वत तक, जहांतक कि हिन्दुस्तान अपने बर्फ़ से ढके हुए मस्तक को मध्य-एशिया की छाती पर रक्खे हुए है और सोवियट के मुल्कों की तरफ़ झाँक रहा है, क़रीब एक हजार मील तक साथ-साथ चली गई है। ये तीनों देश पड़ोसी ही नहीं हैं। बल्कि इनकी नस्ल भी एक ही है, क्योंकि इन सब में प्राचीन आर्य नस्ल की ही प्रधानता है। और संस्कृति की दृष्टि से भी, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, पिछले जमाने में इन सबमें एकसी बातें थीं। अभी हालतक उत्तरी हिन्दुस्तान में आलिमों की ज़बान फ़ारसी ही थी, और

अब भी वह ख़ासकर मुसलमानों में लोकप्रिय है। अफ़ग़ानिस्तान में आज भी फ़ारसी ही सरकारी भाषा है, हालाँकि अफ़ग़ानिस्तान की आम ज़बान पश्तो है।

ईरान के बारे में अपने पिछले ख़तों में जितना लिख चुका हूँ उससे ज्यादा लिखना नहीं चाहता। लेकिन अफ़ग़ानिस्तान में हाल में जो घटनायें हुई हैं उनका कुछ ज़िक्र करना जरूरी है। अफ़ग़ानिस्तान का इतिहास तो हिन्दुस्तान के इतिहास का क़रीब-क़रीब एक हिस्सा ही है। असल में बहुत अर्से तक अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान का ही एक भाग था। अलहदा होने के बाद, और ख़ासकर पिछले सौ-सवासौ साल से, वह रूस और इंग्लैण्ड इन दो बड़े साम्राज्यों के बीच एक मध्यवर्ती राज्य बन गया है। रूसी साम्राज्य मिट चुका है, और उसकी जगह सोवियट यूनियन क़ायम होगया है, लेकिन अफ़ग़ानिस्तान अब भी उसी तरह मध्यवर्ती स्थिति में है, जहाँ कि अंग्रेज और रूसी दोनों प्रधानता हासिल करने के लिए साज़िश करते रहते हैं। उन्नीसवीं सदी में इन साज़िशों ने बढ़कर इंग्लैण्ड और अफ़ग़ानिस्तान के बीच जंग की सूरत इख़्तियार कर-ली थी, जिसमें अंग्रेजों को कई बार नुक़सान उठाना पड़ा, लेकिन आख़िरकार इंग्लैण्ड की प्रधानता क़ायम होगई। अफ़ग़ानी राजघराने के कई आदमी अब भी नज़रबन्द की तरह उत्तर हिन्दुस्तान में जगह-जगह रक्खे हुए हैं, और हमें इस बात की याद दिलाते हैं कि किस तरह इंग्लैण्ड अफ़ग़ानिस्तान में दस्तंदाज़ी किया करता था। ऐसे अमीर जो अंग्रेजों के दोस्त थे, हुकूमत करने लगे और अफ़ग़ानिस्तान की पर-राष्ट्रीय नीति निश्चित रूप से अंग्रेजों के दबाव में-होगई। लेकिन ये अमीर कितना भी दोस्ताना बर्ताव रखते हों तो भी उनपर पूरा यक़ीन नहीं किया जा सकता था, और हर साल अंग्रेज उन्हें ख़ुश करने और अपने अधीन बनाये रखने के लिए बहुत-सा रुपया दिया करते थे। अमीर अब्दुर्रहमान इसी क़िस्म का आदमी था। इसकी लम्बी हुकूमत १९०१ में ख़त्म हुई। उसके बाद हबीबुल्ला अमीर हुआ, और वह भी अंग्रेजों से अच्छे ताल्लुक़ात रखता था।

अफ़ग़ानिस्तान जो अंग्रेजों का मुहताज बन गया, उसकी एक वजह थी उसकी स्थिति। नक़्शे से तुम देख सकोगी कि बलोचिस्तान के बीच में आने से उसका समुद्र से ताल्लुक़ टूट गया है। कोई ऐसा मकान हो जिसमें आम सड़क पर पहुंचने के लिए किसी दूसरे की ज़मीन में से गुज़रे बिना रास्ता न हो, तो वह कितनी तकलीफ़देह हालत होगी? ऐसी ही हालत अफ़ग़ानिस्तान की है। बाहरी दुनिया तक पहुंचने का उसका सबसे आसान रास्ता हिन्दुस्तान में से था। उन दिनों हिन्दुस्तान के उत्तर में रूसी इलाक़े में आमद-रफ़्त के कोई अच्छे साधन न थे। मेरा ख़याल है कि हाल में सोवियट सरकार ने रेल बनाकर और हवाई जहाज और मोटर-सरविसों को प्रोत्सा-

हित करके दोनों तरह से इन साधनों को उन्नत कर लिया है। इस तरह जब हिन्दुस्तान ही अफ़ग़ानिस्तान के लिए दुनिया पर निगाह डालने की सिर्फ़ एक बाहरी खिड़की थी, तो ब्रिटिश सरकार कई तरीक़ों से दवाव डालकर इसका फ़ायदा उठा सकती थी। समुद्र तक पहुँचने की अफ़ग़ानिस्तान की यह दिक्क़त अब भी उस देश के सामने एक बड़ा सवाल है।

१९१९ के शुरू में अफ़ग़ानी राज-दरबार के अन्दरूनी झगडे और षड्यंत्र बाहर जाहिर होगये, और राजमहल में एक के बाद एक दो क्रान्तियाँ जल्दी-जल्दी होगई : मैं ठीक नहीं जानता कि परदे की ओट में क्या-क्या घटनायें हुई, या इनके लिए कौन जिम्मेदार था। किसी ने पहले अमीर हबीबुल्ला का क़त्ल कर दिया, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन बहुत जल्द ही नसरुल्ला हटा दिया गया और अमानुल्ला, जो कि हबीबुल्ला के छोटे लड़कों में से एक था, अमीर बन गया। उसने इसके बाद ही मई १९१९ में हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी। इसके लिए उस वक़्त तात्कालिक कारण क्या था, या किसने पहले झगड़ा शुरू किया, यह मुझे मालूम नहीं है। शायद अमानुल्ला को यह बुरा लगा कि वह किसी तरह भी अंग्रेजों के मातहत रहे। वह अपने देश की पूरी आजादी क़ायम करना चाहता था। शायद उसने यह भी समझा कि इसके लिए मौक़ा भी अच्छा है। तुम्हें याद होगा कि उन्हीं दिनों पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी था, हिन्दुस्तान में आम बेचैनी थी और खिलाफ़त के सवाल पर मुसलमानों में आन्दोलन बढ़ रहा था। कारण और प्रलोभन कुछ भी रहे हों, अफ़ग़ानियों की अंग्रेजों से लड़ाई होगई। लेकिन यह लड़ाई बहुत थोडे अर्से तक चली, और बहुत कम हुई। फ़ौजी ताक़त में तो हिन्दुस्तान के अंग्रेज अमानुल्ला से बहुत ज्यादा मजबूत थे, लेकिन उनकी तबीयत लड़ाई की नहीं थी, और कुछ घटनायें होने पर ही उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान से सुलह करली। नतीजा यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह से आजाद मुल्क तस्लीम कर लिया गया, और विदेशों से अपने ताल्लुक़ात क़ायम करने में उसे पूरी आजादी मिल गई। इस तरह अमानुल्ला नें अपना मक़सद हासिल कर लिया, और योरप और एशिया में उसकी इज्जत बहुत बढ़ गई। लाजिमी तौर पर अंग्रेज उसे अच्छा नहीं समझते थे।

अपने देश में एक नई नीति जारी करने के कारण तो अमानुल्ला की तरफ़ लोगों का और भी ज्यादा ध्यान जाने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढंग के सुधार बडी तेजी से करना, जिसे अफ़ग़ानिस्तान का पश्चिमीकरण कहते हैं। इस काम में उसकी पत्नी बेगम सुरैया ने उसे बडी मदद दी। उसकी कुछ तालीम योरप में हुई थी, और स्त्रियों का बुरक़े में बन्द रहना उसे बड़ा खटकता था। इस तरह एक बहुत ही पिछडे

हुए देश को थोडे-से वक़्त में तब्दील कर देने, अफ़ग़ानों को पुराने रास्ते से धक्का मारकर और खदेड़कर नये रास्ते पर चलाने का आश्चर्यजनक कार्य शुरू होगया। स्पष्टतः अमानुल्ला का आदर्श कमालपाशा ही था, और उसने कई वातों में—अफ़ग़ानों को कोट, पेण्ट और यूरोपियन हैट पहनाने और दाढ़ी साफ़ करवाने तक में—उसकी नक़ल करने की कोशिश की। लेकिन अमानुल्ला में मुस्तफ़ा कमाल की-सी दृढ़ता और योग्यता न थी। कमालपाशा ने अपने बड़े-बड़े सुधार करने से पहले अपने देश में और वाहर के देशों में अपनी ताक़त विलकुल महफ़ूज़ और मज़वूत करली थी। उसके साथ एक ज़ोरदार और अच्छी फ़ौज थी, और अपनी जनता में उसकी ज़वरदस्त इज़्ज़त थी। अमानुल्ला इन सब वातों का ख़याल न करके आगे बढ़ गया। उसका काम ज़्यादा मुश्किल भी था, क्योंकि तुर्कों की वनिस्वत अफ़ग़ानी लोग ज़्यादा पिछडे हुए थे।

लेकिन घटना हो जाने के वाद तो समझदारी आना आसान होता ही है। अमानुल्ला के उन शुरू के वर्षों में, वह सब वातों में कामयाव ही होता नज़र आता था। उसने कई अफ़गान लड़के और लड़कियों को तालीम हासिल करनें के लिए योरप भिजवाया। अपने शासन में उसने कई सुधार शुरू किये और उसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अपने पडोसियों और तुर्की के साथ सुलह करके मज़वूत करली। सोवियट रूस ने चीन से तुर्की तक सारे पूर्वी देशों के साथ उदार और दोस्ताना नीति जान-वूझकर इख़्तियार कर रक्खी थी, और इस सोवियट दोस्ती और मदद की वजह से विदेशी दवाव से तुर्की और ईरान के छूटने में वड़ी मदद मिली थी। और जिस आसानी से अमानुल्ला ने १९१९ में इंग्लैण्ड के साथ अपने छोटे-से जंग में अपना मक़सद हासिल कर लिया था, उसमें भी यही एक महत्वपूर्ण कारण रहा होगा। वाद के वर्षों में सोवियट रूस, तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान इन चार शक्तियों में बहुत-सी सन्धियाँ और सुलहनामे हुए। इन सवमें, या किसी तीन में, एकसाथ कोई सन्धि नहीं हुई। हर शक्ति ने दूसरी तीन शक्तियों से अपनी-अपनी जुदा, लेकिन क़रीव-क़रीव एक-सी, सन्धि की। इस तरह 'मध्य-पूर्व' में सन्धियों का एक जाल-सा खड़ा होगया, जिसने इन सव देशों को मज़वूत कर दिया। मैं नीचे इन सन्धियों की सिर्फ़ तारीख़वार फ़ेहरिस्त दे देता हूँ:—

तुर्क-अफ़ग़ान सन्धि	१९ फ़रवरी १९२१
सोवियट-तुर्की "	१७ दिसम्बर १९२५
तुर्की-ईरानी "	२२ अप्रैल १९२६
सोवियट-अफ़ग़ान "	३१ अगस्त १९२६
सोवियट-ईरानी "	१ अक्तूवर १९२७
ईरानी-अफ़ग़ानी "	२८ नवम्वर १९२७

ये सन्धियाँ सोवियट राजनीतिज्ञों की कामयाबी का सबूत थीं, और इनसे 'मध्य-पूर्व' में अंग्रेजों के प्रभाव को गहरा धक्का लगा। यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने इन्हें बहुत नापसन्द किया, और ख़ासकर अमानुल्ला के सोवियट रूस की तरफ़ दोस्ती और झुकाव को तो उसने बहुत ज्यादा नापसन्द किया।

१९२८ के शुरू में अमानुल्ला और रानी सुरैया योरप का एक बड़ा दौरा करने के लिए अफ़ग़ानिस्तान से रवाना हुए। वे योरप की कई राजधानियों में—रोम, पेरिस, लन्दन, मास्को— गये, और सब जगह उनका बड़ा स्वागत हुआ। ये सभी देश व्यापार और राजनैतिक उद्देश्यों के लिए अमानुल्ला की सद्भावना प्राप्त करनें को उत्सुक थे। उसे क़ीमती तोहफ़े भी भेंट किये गये। लेकिन उसने बडी राजनैतिक होशियारी से काम लिया, और किसीसे कोई ख़ास वादा नहीं किया। लौटते वक़्त वह तुर्की और ईरान भी होता आया।

उसके लम्बे दौरे की तरफ़ बहुत लोगों का ध्यान गया। इससे अमानुल्ला की इज्जत बढ़ गई, और इससे दुनिया में अफ़ग़ानिस्तान का महत्व भी बहुत बढ़ गया। लेकिन ख़ुद अफ़ग़ानिस्तान के अन्दर हाल अच्छा न था। एक ऐसे समय, जब कि पुराने तौर-तरीक़े और जिन्दगी को पलट देनेवाली बडी-बडी तब्दीलियाँ हो रही थीं, उसके बीच में अपने देश को छोड़ जाने में अमानुल्ला ने बडी भारी जोखिम उठाई थी। मुस्तफ़ा कमाल ने यह जोखिम कभी नहीं उठाई। अमानुल्ला की लम्बी ग़ैरहाजरी में सारे प्रगति-विरोधी लोग और शक्तियाँ, जो उसके ख़िलाफ़ थीं, धीरे-धीरे सामने आगई। हर तरह की साजिश की गई और उसको बदनाम करने के लिए हर तरह की अफ़वाहें फैलाई गई। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिए, न जाने किस तरफ़ से, रुपये की बाढ़-सी आगई। मालूम होता है कि बहुत-से मुल्ला लोगों को इस काम के लिए रुपया दिया गया था और वे सारे देश में अमानुल्ला को काफ़िर, दीन का दुश्मन, घोषित करते फिरते थे। रानी सुरैया की अजीब-अजीब तस्वीरें, जिनमें वह यूरोपियन ढंग की रात की पोशाक या और कोई लापरवाही में पहनी हुई पोशाक में नजर आती थी, हजारों की तादाद में देहातों में बांटी गई थीं—यह दिखाने के लिए कि वह किस अनुचित प्रकार के कपडे पहनती है। इस व्यापक और ख़र्चीले प्रचार का करनेवाला कौन था? अफ़ग़ानियों के पास तो न इतना रुपया था, और न इतनी तालीम थी। उनपर इसका ख़ूब असर हो सकता था। मध्य-पूर्व और योरप में यह आम तौर पर माना जाता था और कहा जाता था कि इस प्रचार में ब्रिटिश ख़ुफ़िया महकमे का हाथ था। ऐसी बातों का साबित होना मुश्किल होता है, और इस काम से अंग्रेजों का ताल्लुक़ बताने के लिए कोई ख़ास सबूत नहीं मिलता, हालांकि यह कहा

गया है कि अफ़ग़ान बाग़ियों के पास अंग्रेजी रायफ़लें थीं। लेकिन यह तो काफ़ी जाहिर था कि अमानुल्ला को अफ़ग़ानिस्तान में कमजोर कर देने में इंग्लैण्ड की दिलचस्पी थी।

जिस वक्त अफ़ग़ानिस्तान में अमानुल्ला की जड़ें उखाड़ी जारही थीं, उस वक़्त वह योरप की राजधानियों में शानदार स्वागतों का आनन्द ले रहा था। वह अपने सुधारों के प्रति नया उत्साह लेकर नये विचारों से भरा हुआ और कमालपाशा से, जिससे वह अंगोरा में मिला था, और भी ज्यादा प्रभावित होकर अपने देश को लौटा। वह इन सुधारों को और भी आगे बढ़ाने के लिए फ़ौरन जुट पड़ा। उसने सरदारों के ख़िताबात बन्द कर दिये, और मजहबी मुखियों के इख़्तियारात भी कम करने की कोशिश की। उसने शासन चलाने के लिए मंत्रियों की एक कौंसिल बनाने की भी कोशिश की, और इस तरह से अपनी स्वेच्छातन्त्री शक्तियों को भी कम कर लिया। स्त्रियों की आजादी का काम भी धीरे-धीरे आगे बढ़ाया गया।

अचानक दबी हुई आग भड़क उठी, और १९२८ के ख़त्म होने के कुछ पहले बग़ावत चमकने लगी। एक मामूली भिश्ती बच्चा-ए-सक्का के नेतृत्व में विद्रोह फैला और १९२९ में वह कामयाब होगया। अमानुल्ला और उसकी बेगम भाग गये, और भिश्ती अमीर बन गया। पाँच महीने तक बच्चा-ए-सक्क़ा काबुल में हुकूमत करता रहा; बाद में वह अमानुल्ला के एक सेनापति नादिरख़ां द्वारा हटा दिया गया। नादिरख़ां ने ख़ुद अपनी तरकीब से काम लिया, और जब वह कामयाब होगया तो नादिरशाह के नाम से खुद ही शासक बन बैठा। पिछले साढ़े तीन साल से नादिरशाह ही अफ़ग़ानिस्तान का बादशाह है, लेकिन इस दर्मियान और झगड़े बराबर बने ही रहे, और अब भी बने हैं। जाहिर है कि वह अमानुल्ला की बनिस्बत इंग्लैण्ड से ज्यादा दोस्ताना तॊल्लुक़ रखता है।

अफ़ग़ानिस्तान में अब भी अमनों-अमान नहीं है, और साजिश की अफ़वाहें अक्सर आती ही रहती हैं। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योंकि दो ताक़तवर विरोधियों के बीच में मध्यवर्ती राज्य होने की सजा तो उस देश को भुगतनी ही चाहिए। इस वक्त अमानुल्ला और भूतपूर्व रानी सुरैया रोम में रह रहे हैं। दुनिया में भागे हुए राज-वंशों की भरमार होती जा रही है।

आज सुबह के अख़बार की एक ख़बर से जाहिर होता है कि अफ़ग़ानिस्तान में शान्ति नहीं है। दो दिन पहले, ६ जून १९३३ को, बर्लिन के अफ़ग़ान राजदूत को, एक अफ़ग़ान विद्यार्थी ने 'आजादी की ख़ातिर' का नारा लगाकर गोली से मार दिया। यह मंत्री नादिरशाह का भाई था।

मैंने अफ़ग़ानिस्तान का और पश्चिमी और दक्षिणी एशिया का भी पूरा बयान

कर दिया है। अब मैं एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की हाल की कुछ घटनाओं का थोड़ा हाल बयान करूँगा और फिर इस ख़त को ख़त्म कर दूंगा। इस हिस्से की बावत मैं तुम्हें ज्यादा नहीं बता सकता, क्योंकि मुझे ख़ुद भी बहुत कम मालूम है।

बरमा के पूर्व में स्याम है, जो दुनिया के इस हिस्से में सिर्फ़ एक ही देश है जो अपनी आज़ादी को क़ायम रख सका है। वह एक तरफ़ ब्रिटिश बरमा और दूसरी तरफ़ फ्रेञ्च-इंडोचायना के बीच में जकड़ा हुआ है। इस देश में पुराने भारतीय स्मारक-चिन्हों की भरमार है, और उसकी परम्पराओं और संस्कृति और रीति-रिवाजों पर आज भी हिन्दुस्तान का असर दिखाई देता है। हाल तक वहाँ राजा का मनमाना शासन था, और समाज ज्यादातर सामन्तशाही की हालत में था। हाँ, साथ-ही-साथ छोटा-सा मध्यमवर्ग भी बढ़ रहा था। मेरे ख़याल से राजाओं का ख़िताब अक्सर राम होता था, जिस शब्द से कि हमें फिर हिन्दुस्तान की याद आने लगती है। इस तरह उनमें राम प्रथम, राम द्वितीय इत्यादि राजा हुए थे। महायुद्ध के ज़माने में स्याम मित्र-दल के साथ होगया, जबकि मित्र-दल की जीत साफ़ ज़ाहिर होने लगी थी, और बाद में वह राष्ट्र-संघ का भी सदस्य बन गया।

जून १९३२ में बैंकोक के, जोकि स्याम की राजधानी है, राजमहल में एक क्रान्ति हुई, और बताया गया कि कुछ नौजवान स्यामी अफ़सरों और दूसरे लोगों ने, जोकि एक शासन-विधान की माँग करते थे, राजा और उसके परिवार और मुख्य मन्त्रियों को गिरफ़्तार कर लिया है। राजा ने किसी तरह के एक शासन-विधान को, जिसमें उसके अख़्तियारात महदूद कर दिये गये थे, मान लिया और एक पीपल्स असेम्बली यानी जनता की कौंसिल क़ायम होगई। मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं है कि क्या-क्या बातें हुईं, लेकिन मालूम होता है कि जिस तरह नौजवान तुर्कों और सुलतान अब्दुलहमीद के मामले में अचानक फ़ौजी कार्रवाई की गई थी, इसी तरह की कोई अचानक फ़ौजी कार्रवाई अमल में आई होगी। बेशक इस फ़ौजी कार्रवाई के पीछे जनता की दुर्दशा छिपी हुई थी। फिर भी यह क्रान्ति जनता की आम उथल-पुथल नहीं मालूम हुई। राजा के जल्दी मान जाने से संकट-काल ख़त्म होगया। मालूम होता है कि राजा ने इस तब्दीली की मंजूरी दिल से नहीं दी थी। अप्रैल १९३३ में उसी राजा प्रजाधिपक ने इस कारण से अचानक एसेम्बली तोड़ दी कि उसके कुछ सदस्य साम्यवाद की हिमायत कर रहे हैं। इतनी दूर से अधिक समाचार के अभाव में इस बावत कोई भी फ़ैसला करना मुश्किल है। फिर भी, मालूम होता है कि राजा सिर्फ़ किसी बहाने की तलाश में था, जिससे वह एसेम्बली को ख़त्म करदे और अपनी स्वेच्छाचारी शक्ति को फिर ग्रहण कर ले। शायद उसे ऐसी हर बात जो उसके अख़्ति-

यारात को महदूद करे, साम्यवाद से भरी हुई ही दिखाई देती हो। यह भी बिलकुल मुमकिन है कि स्याम में किसी हद तक साम्यवाद फैल गया हो, जैसा कि वह चीन के कुछ हिस्सों में काफ़ी मजबूत है। लेकिन ज्यादा मुमकिन बात यह है कि स्याम में साम्यवादी रंग लिये हुए मध्यवर्गीय राष्ट्रीयता पैदा होगई हो, और वहाँकी पुरानी सामन्ती समाज-व्यवस्था पर हमला कर रही हो। सबसे ताजी खबर यह है कि एक और 'शान्तिपूर्ण क्रान्ति' होगई है, और फ़ौजी अफ़सरों के अगुआ-दल ने फिर जोर पकड़ लिया है, और एसेम्वली को फिर से क़ायम करने का आग्रह किया है।

स्याम के पूर्व फ्रेञ्च इण्डो-चायना में भी राष्ट्रीयता फैली है, और उसकी ताक़त बढ़ती जा रही है। राष्ट्रवादी आन्दोलन को दवाने के लिए फ्रेञ्च सरकार ने भी कई षड्यन्त्र के मुक़दमे चलाये हैं और बहुत-से लोगों को लम्बी-लम्बी सजायें दी हैं। मार्च १९३३ में जिनेवा की एक निःशस्त्रीकरण कान्फरेंस में फ्रेञ्च प्रतिनिधि मो० सारौत ने एक बडे भेद की बात कही थी। यह प्रतिनिधि खुद फ्रेञ्च इण्डो-चायना का गवर्नर रह चुका था। उसने जिक्र किया कि "मातहत देशों में राष्ट्रीयता बढ़ रही है, और उनपर हुकूमत करना बहुत ज्यादा मुश्किल होता जा रहा है।" उसने फ्रेञ्च इण्डो-चायना की मिसाल दी कि जब वह वहाँका गवर्नर था तो व्यवस्था क़ायम रखने के लिए सिर्फ १,५०० आदमी थे, लेकिन अब वहाँ १०,००० आदमियों की जरूरत होती है।

अख़ीर में डच ईस्ट-इंडीज के अन्तर्गत जावा का भी जिक्र कर देना मुनासिब होगा, जोकि अपनी शकर और रबर के लिए मशहूर है, और साथ ही कारखानेदारों के खेतों पर काम करनेवाले लोगों का बुरी तरह खून चूसने के लिए भी मशहूर है। राष्ट्रीयता की बढ़ती के साथ, हिन्दुस्तान की तरह, थोड़ा-सा राजनैतिक सुधार और और बहुत-सा दमन भी आया। १९२७ में डच सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत होगई थी जो काफ़ी वेरहमी के साथ दवा दी गई थी। डच सरकार उसे साम्यवादी बग़ावत वताती थी, हालांकि उसके सारे बयान से वह साम्यवादी की वनिस्वत क़ौमी ही ज्यादा मालूम होती थी। इसमें शक नहीं कि पूर्व के तमाम मुल्कों में साम्यवाद भी बढ़ रहा है; लेकिन गिनती के ख़याल से अब भी वह महत्व-शून्य है। उसकी ताक़त इस बात में है कि उसकी तरफ़ लायक़ कुरबानी करनेवाले और तेज स्वभाव के नौजवान स्त्री और पुरुष खिचते हैं।

कुछ महीनें पहले जावा के नजदीक़ के समुद्री हिस्से में एक अजीब घटना हुई। एक डच जंगी जहाज के नाविकों ने वेतन-कटौती के विरोध में जहाज पर अपना क़ब्जा जमा लिया और उसे लेकर चल दिये। उन्होंनें किसी चीज का नुक़सान नहीं

किया, और यह भी साफ़ जाहिर कर दिया कि वे सिर्फ़ अपने वेतनों की बाबत विरोध कर रहे हैं। वह एक तरह की उग्र हड़ताल थी। इसपर डच हवाई जहाजों ने इस जंगी जहाज पर बम बरसाये, कई नाविकों को मार दिया, और इस तरह उस पर क़ब्ज़ा पा लिया।

अब हम एशिया को छोड़ देते हैं, जहाँ कि राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के बीच लगातार संघर्ष के बाद संघर्ष होते ही जाते हैं, और योरप पर आते हैं, क्योंकि योरप भी हमारा ध्यान खींच रहा है। हमने महायुद्ध के बाद के योरप पर विचार नहीं किया है, और तुम्हें याद रखना चाहिए कि अब भी योरप की परिस्थितियों में ही संसार की परिस्थितियों की चाबी है। इसलिए हमारे अगले कुछ ख़त योरप के बारे में ही होंगे।

एशिया के दो हिस्सों, दो बडे-बडे हिस्सों, पर ग़ौर करना अभी बाक़ी है—एक तो चीन का प्रदेश, और दूसरा उत्तर में सोवियट प्रदेश। कुछ समय बाद हम उन-पर फिर पहुँचेंगे।

: १७१ :

वह क्रान्ति जो होते-होते रह गई

१३ जून, १९३३

जी० के० चेस्टरटन ने, जो कि आजकल अंग्रेज़ी के एक मशहूर लेखक हैं, कहीं लिखा है कि इंग्लैंड में उन्नीसवीं सदी की सबसे बडी घटना वह क्रान्ति है जो कि नहीं हुई या होते-होते रह गई। तुम्हें याद होगा कि उन्नीसवीं सदी में कई मौक़ों पर इंग्लैण्ड क्रान्ति के किनारे तक आगया था, यानी ऐसी सामाजिक क्रान्ति होने ही वाली थी जिसे निचले वर्ग के लोग और श्रमिक मिलकर करते। लेकिन हर बार आख़िरी वक़्त पर शासकवर्ग झुक जाते थे, पार्लमेण्टरी ढाँचे के ही अन्दर वोट का अधिकार बढ़ाकर ऊपरी तौर पर कुछ हिस्सा बाँट देते थे, और बाहर की साम्राज्यवादी लूट के लाभों में से भी थोड़ा हिस्सा दे देते थे, और इस तरह आनेवाली क्रान्ति को दबा रखते थे। वे ऐसा इसलिए कर सके कि बाहर उनका साम्राज्य बढ़ रहा था, और उससे उन्हें धन मिल रहा था। इसलिए इंग्लैण्ड में क्रान्ति नहीं हुई, लेकिन उसका साया अक्सर देश पर छा जाता था, और क्रान्ति के भय से घटनाओं पर असर पड़ता था। इस तरह वह बात, जो असल में हुई नहीं, पिछली सदी की सबसे बडी घटना कही जाती है।

इसी तरह, शायद, यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी योरप में महायुद्ध के

बाद सबसे बडी घटना वह क्रान्ति थी जो कि नहीं हुई। जिन परिस्थितियों ने रूस में बोलशेविक क्रान्ति पैदा करदी, वे, चाहे कुछ कम अंश में ही सही, मध्य और पश्चिमी योरप में भी मौजूद थीं। रूस और पश्चिम के औद्योगिक देशों—इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ़्रान्स वग़ैरा—में फ़र्क़ यह था कि रूस में मजबूत मध्यम-वर्गीय समाज नहीं था। असल में मार्क्स के उसूल के मुताबिक़ तो उम्मीद यही थी कि श्रमिकों की क्रान्ति पहले इन्हीं उन्नत औद्योगिक देशों में होगी, न कि पिछडे हुए रूस में। लेकिन महायुद्ध ने जारशाही के पुराने सडे हुए ढाँचे को चकनाचूर कर दिया, और सिर्फ़ इसलिए कि वहाँ बीच में आजाने और पश्चिमी ढंग की पार्लमेण्ट द्वारा शासन पर नियंत्रण करने के लिए कोई मजबूत मध्यम-वर्ग नहीं था, मजदूरों के सोवियटों ने सत्ता पर क़ब्ज़ा जमा लिया। इसलिए यह एक क़ाफ़ी आश्चर्यजनक बात हुई कि रूस का पिछड़ापन ही, उसकी कमजोरी का कारण ही, उसके लिए उससे भी उन्नति देशों की वनिस्वत बड़ा क़दम उठाने का सवव बन गया। लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविकों ने यह क़दम उठाया, लेकिन वे किसी धोखे में नहीं थे। वे जानते थे कि रूस पिछड़ा हुआ है और उसे आगे बढ़े हुए देशों के बराबर होने में वक़्त लगेगा। उन्हें उम्मीद थी कि श्रमिकों का प्रजातंत्र क़ायम रखने की उनकी मिसाल से योरप के दूसरे मुल्कों के मजदूर भी अपनी-अपनी मौजूदा हुकूमतों के ख़िलाफ़ बग़ावत करने में उत्साहित होंगे। उन्होंने महसूस किया कि योरप में सार्वत्रिक सामाजिक क्रान्ति होने से ही उनके बचे रहने की उम्मीद है। वरना, बाक़ी पूँजीवादी दुनिया तो रूस की नई सोवियट सरकार को कुचल ही देगी।

इसी आशा और विश्वास से अपनी क्रान्ति के शुरू में उन्होंने संसार-भर के मजदूरों के नाम अपनी अपीलें निकालीं। उन्होंने दूसरे देशों को जीतकर दवा लेने की योजनाओं की निन्दा की। उन्होंने कहा कि जारशाही रूस और इंग्लैण्ड व फ़्रान्स के बीच जो गुप्त सन्धियां हुई हैं उनके आधार पर वे अपना कोई दावा नहीं करेंगे। और साफ़ ज़ाहिर कर दिया कि कुस्तुनतुनिया तुर्कों के ही पास रहना चाहिए। उन्होंने पूर्वी देशों को और जारशाही साम्राज्य की कितनी ही पामाल क़ौमों को उदार से उदार शर्तें दीं। और सबसे बडी बात यह थी कि वे दुनियाभर के मजदूरों के हिमायती बन गये, और उन्होंने हर जगह के मजदूरों को प्रेरणा की कि वे उनकी मिसाल पर अमल करें और साम्यवादी प्रजातंत्र क़ायम करलें। राष्ट्रीयता और रूस के राष्ट्र का उनके लिए इसके सिवा और कोई अर्थ न था कि दुनिया के उस हिस्से में ही इतिहास में पहली बार श्रमिकों की सरकार क़ायम हुई थी। जर्मन और मित्र-राष्ट्रों की सरकारों ने बोलशेविक अपीलों का दमन किया, लेकिन फिर भी वे कई लड़ाई के मोर्चों और कारख़ानों के प्रदेशों में पहुँच ही गई। हर जगह उनका काफ़ी असर हुआ, और फ़्रान्सीसी

फ़ौज में फूट होती दिखाई दी। जर्मन फ़ौजों और मजदूरों पर तो और भी ज्यादा असर हुआ। जर्मनी और आस्ट्रिया और हंगरी—इन हारे हुए मुल्कों में वलवे और बग़ावतें भी हुई, और कई महीनों या साल-दो साल तक तो योरप में एक जबरदस्त सामाजिक क्रान्ति का अन्देशा बना ही रहा। हारे हुए मुल्कों की वनिस्वत जीते हुए मित्र-राष्ट्रों की हालत कुछ अच्छी थी, क्योंकि कामयाबी के सबब से उनमें हारी हुई शक्तियों से वसूल करके अपना कुछ नुक़सान पूरा कर लेने की हिम्मत और उम्मीदें पैदा होगई थीं (जो कि बाद की घटनाओं से काफ़ी झूठी साबित हुई)। लेकिन मित्र-राष्ट्रों में भी क्रान्ति का वातावरण था। असल में सारे योरप और एशिया का वातावरण असन्तोष से पूरी तरह भरा हुआ था, और सतह के नीचे क्रान्ति की आग सुलग और गड़गड़ा रही थी और अक्सर भभक उठना भी चाहती थी। लेकिन योरप और एशिया में असन्तोष के और जो वर्ग क्रान्ति करना चाहते थे उनके प्रकारों में भेद था। एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ उठनेवाली क़ौमी बग़ावतों में मध्यम वर्ग आगे रहा; और योरप में श्रमिक वर्गों ने चाहा कि मौजूदा पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को उलट दें और मध्यम-वर्गों से सत्ता छीन लें।

इन गड़गड़ाहटों और अन्देशों के होने पर भी, मध्य या पश्चिमी योरप में रूस की तरह की कोई क्रान्ति नहीं हुई। पुरानी समाज-व्यवस्था उसपर होनेवाले हमलों को बर्दाश्त कर लेने की ताक़त रखती थी, लेकिन वह इन हमलों से इतनी काफ़ी कमजोर होगई और डर गई कि उससे सोवियट रूस बच गया। अगर पीछे की तरफ़ से यह जबरदस्त मदद न मिली होती तो यह बिलकुल मुमकिन था कि १९१९ या १९२० में साम्राज्यवादी शक्तियों के सामने सोवियट नष्ट होजाता। पर महायुद्ध के बाद धीरे-धीरे जैसे-जैसे साल गुज़रते गये, स्थिति किसी हद तक शान्त होती गई। राजवादियों और सामन्त-जमींदारों यानी प्रगति-विरोधी रूढ़िवादियों और नरम साम्यवादी या सोशल डिमोक्रेट लोगों के बीच एक अजीब तरह का मेल होगया, और इन्होंने मिलकर क्रान्तिकारी तत्त्वों को दवा दिया। असल में यह एक अजीव मेल था, क्योंकि सोशल डिमोक्रेट कहा करते थे कि हम मार्क्सवाद और श्रमिकों की सरकार में विश्वास रखते हैं। इस तरह जाहिरा तो उनके आदर्श वही थे जो कि सोवियटों और कम्यूनिस्टों यानी साम्यवादियों के थे। फिर भी ये सोशल डेमोक्रेट लोग पूंजीवादियों से भी ज्यादा कम्यूनिस्टों से डरते थे, और कम्यूनिस्टों को कुचलने के लिए पूंजीवादियों से मिल गये। या यह भी मुमकिन है कि वे पूंजीवादियों से इतना डरते थे कि उनके खिलाफ़ होने की हिम्मत नहीं कर सकते थे; उन्होंने शान्तिपूर्ण और पार्लमेण्टरी पद्धति से अपनी स्थिति मजबूत करने और यों अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद ले आने की उम्मीद की। उनके इरादे कुछ भी रहे

हां, उन्होंने क्रान्तिकारी भावना को कुचलने में प्रगति-विरोधी तत्त्वों को मदद पहुँचाई, और इस तरह योरप के कई देशों में असल में प्रति-क्रान्ति करवा दी। अपना दाव पड़ने पर इस प्रति-क्रान्ति ने इन्हीं सोशल डिमोक्रैटिक पार्टियों को कुचल दिया, और फिर तो नई और उग्र साम्यवाद-विरोधी शक्तियों के हाथ में सत्ता आगई। मोटे तौर पर, पिछले चौदह वर्षों में, जबसे कि महायुद्ध ख़त्म हुआ है, योरप की घटनायें इसी ढंग से हुई हैं।

लेकिन झगड़ा अभी ख़त्म नहीं हुआ है, और साम्यवाद और पूंजीवाद, इन दो एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ताक़तों के बीच लड़ाई चल रही है। इन दोनों में दायमी समझौता कभी नहीं हो सकता, हालांकि दोनों में अस्थायी समझौते और सन्धियाँ हुई हैं और आगे भी हो सकती हैं। रूस और साम्यवाद दुनिया के एक ध्रुव पर हैं, तो पश्चिमी योरप और अमेरिका के बडे-बडे पूंजीवादी देश दूसरे ध्रुव पर खड़े हैं। दोनों के बीच में लिबरल, माडरेट, और मध्य दल के लोग अब सभी जगह कम होते जा रहे हैं। संघर्ष और असंतोष तो असल में संसार-व्यापी सम्पूर्ण आर्थिक उलट-पुलट और बढ़ती हुई दुर्दशा के कारण पैदा हुआ है, और जबतक इसमें संतोषजनक सुव्यवस्था फिर से क़ायम न होजाय तब तक यह कशमकश जारी ही रहेगी।

महायुद्ध के बाद से जो अनेक असफल क्रान्तियाँ हुई हैं, उनमें जर्मनी की क्रान्ति सबसे ज्यादा दिलचस्प और अंदरूनी बातों पर रोशनी डालनें वाली है; इसलिए उसका थोड़ा-सा ज़िक्र मैं करता हूँ। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि जब महायुद्ध आया तो सारे यूरोपियन देशों के साम्यवादी अपने आदर्शों और वादों के पक्के न रह सके। वे अपने-अपने देश की जबरदस्त राष्ट्रीयता की लहरों में बह गये, और जंग की जबरदस्त ख़ूनी प्यास में समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श को भूल गये। महायुद्ध के शुरू होने के क़रीब ही, ३० जुलाई १९१४ को, जर्मनी की सोशल डिमोक्रटिक पार्टी के नेताओं ने ऐलान किया था कि हैप्सबर्ग खानदान की साम्राज्यवादी योजनाओं के ख़ातिर वे "किसी भी जर्मन सिपाही का एक बूंद ख़ून भी बहाये जाने के ख़िलाफ़ हैं।" (उस वक़्त आस्ट्रिया के आर्क ड्यूक फ़्रेंज फर्डिनेण्ड के क़त्ल के मामले में आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच झगड़ा था।) पाँच दिन के बाद ही उनके दल नें युद्ध का समर्थन किया, और ऐसा ही दूसरे देशों के सोशल डिमोक्रेटिक दलों ने भी किया। और आस्ट्रिया के समाजवादियों के नेता ने तो पोलैण्ड और सर्बिया को आस्ट्रियन साम्राज्य के मातहत कर लेने तक की बातें कह डालीं, और कहा कि इस काम की गिनती दूसरे देश को जबरदस्ती अपनें राज्य में मिला लेने में नहीं की जा सकती।

१९१८ के शुरू में योरप के मजदूरों के नाम निकाली हुई बोलशेविक अपीलों

का जर्मन मजदूरों पर काफ़ी असर हुआ, और युद्ध-सामग्री तैयार करनेवाले कारख़ानों में बडी-बडी हड़तालें हुई। इससे जर्मनी की साम्राज्यवादी सरकार के लिए बडी गंभीर परिस्थिति पैदा होगई, और मुमकिन था कि उसका सर्वनाश भी होजाता। इसपर समाजवादी नेताओं ने हड़ताल कमेटी में शामिल होकर, और अन्दर से हड़ताल तोड़कर, परिस्थिति को बचा लिया।

४ नवम्बर १९१८ को उत्तर-जर्मनी के कील बन्दरगाह की नौ-सेना में बग़ावत होगई। जर्मन नौ-सेना के बडे-बडे जंगी जहाजों को बाहर जाने का हुक्म दिया गया, लेकिन नाविकों और आगवालों ने बाहर जानें से इन्कार कर दिया। जो फ़ौजें उन्हें दबाने के लिए भेजी गई थीं, वे भी उनसे मिल गई और उन्हींके साथ होगई। अफ़सर अपने पदों से हटा दिये गये या गिरफ़्तार कर लिये गये, और मजदूरों और सैनिकों की कौंसिलें (सोवियटें) क़ायम करली गई। ये सब बातें रूस की सोवियट क्रान्ति के शुरू की घटनाओं की-सी ही थीं, और ऐसा मालूम होने लगा कि ये सारे जर्मन में फैल जायँगी। फ़ौरन ही कील में सोशल डिमोक्रेटिक नेता जा पहुँचे और वे नाविकों और सैनिकों के ध्यान को दूसरी बातों में लगाने में कामयाब हुए। लेकिन ये नाविक अपने हथियार लेकर कील से रवाना होगये, और सारे देश में बग़ावत के बीज लेकर फैल गये।

क्रान्तिकारी आन्दोलन फैलता जा रहा था। बवेरिया (दक्षिण-जर्मनी) में एक प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। फिर भी क़ैसर तो चिपटा ही रहा। ९ नवम्बर को बर्लिन में एक आम हड़ताल शुरू होगई। सारा काम-काज बन्द होगया, और कुछ हिंसा भी न हुई, क्योंकि शहर की सारी फ़ौज क्रान्तिकारियों की तरफ जा मिली। पुरानी व्यवस्था जाहिरा तो नष्ट होगई थी, और सवाल यह था कि अब इसकी जगह क्या होगा? कुछ साम्यवादी नेता सोवियट या प्रजातन्त्र का ऐलान करने ही वाले थे कि एक सोशल डिमोक्रेटिक नेता ने उनसे भी पहले पार्लमेण्टरी ढंग के प्रजातन्त्र का ऐलान कर दिया।

इस तरह जर्मन प्रजातन्त्र क़ायम हुआ। लेकिन वह तो सिर्फ़ नाम का प्रजातन्त्र था, क्योंकि असल में किसी चीज में भी तब्दीली नहीं हुई थी। सोशल डिमोक्रेटों ने, जिनके हाथ में सारी परिस्थिति थी, क़रीब-क़रीब हर बात को पहले की तरह ही रखा। उन्होंने मन्त्रित्व वग़ैरा के कुछ ऊँचे ओहदे लेलिये, लेकिन फ़ौज, सिविल सर्विस और अदालतों के अफ़सर और कर्मचारी वही रहे और सारा शासन उसी तरह का रहा जैसा कि क़ैसर के जमाने में था। इस तरह, जैसा कि हाल की छपी एक किताब का नाम है, "क़ैसर चला गया, लेकिन उसके जनरल बने रहे।" क्रान्तियाँ इस

तरह से पैदा या मजबूत नहीं होतीं । किसी राष्ट्र की क्रान्ति में तो उसका राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचा ही वदल जाना चाहिए । यह उम्मीद करना कि, जव क्रान्ति के दुश्मनों के हाथ में सत्ता छोड़ दी जायगी.तो वह क्रान्ति टिकी रहेगी, वेमानी है; लेकिन जर्मन सोशल डिमोक्रेटों ने ठीक यही वात की, और उन्होंने क्रान्ति के विरोधियों को उसके नाश के लिए तैयारी और संगठन करने के पूरे मौक़े दे दिये । जर्मनी में पुराने सेनावादियों और फ़ौजी अफ़सरों का दवदवा वना रहा ।

नई सोशल डिमोक्रेटिक सरकार को यह पसंद न आया कि कील के नाविक सारे देश में घूम-घूमकर क्रान्तिकारी विचार फैलाते रहें । उसने इन नाविकों को वर्लिन में दवाने की कोशिश की, और जनवरी १९१९ के शुरू में वडे झगडे हुए और खून-खरावी भी हुई । इसपर जर्मन साम्यवादियों ने सोवियट सरकार क़ायम करने की कोशिश की, और शहर की आम जनता से मदद माँगी । उन्हें जनता से कुछ मदद मिली, और उन्होंने सरकारी इमारतों पर कब्ज़ा कर लिया—और जर्मनी में एक हफ़्ते तक, जिसे वर्लिन में 'लाल हफ़्ता' कहा जाता है, शहर की सत्ता उन्हींके हाथों में दिखाई दी । लेकिन जनता ने काफ़ी साथ नहीं दिया, क्योंकि ज्यादातर लोग भौंचक्के-से थे, और उन्हें समझ नहीं आता था कि क्या करना चाहिए । वर्लिन के सिपाही भी भौंचक्के-से होगये, और तटस्थ रहे । चूंकि इन सिपाहियों पर यक़ीन नहीं किया जा सकता, इसलिए सोशल डिमोक्रेटों ने खास तौर पर कुछ विशेष स्वयंसेवक भर्ती कर लिये, और उनकी मदद से साम्यवादी वग़ावत को दवा दिया । लड़ाई वडी वेरहमी से हुई, और किसीको माफ़ नहीं किया गया । लड़ाई खत्म होने के कुछ दिन वाद दो साम्यवादी नेता कार्ल लेवकनेख्ट (Liebknecht) और रोजा लक्जेमवर्ग अपनी छिपने की जगहों पर तलाश कर लिये गये, और कुछ लोगों के जरिये वेरहमी से क़त्ल कर दिये गये । इस क़त्ल से और वाद में क़ातिलों के मुक़दमे में वरी हो जाने से, साम्यवादियों और सोशल डिमोक्रेटों के वीच वडी कटुता पैदा हो गई । कार्ल लेवकनेख्ट विल्हेल्म लेवकनेख्ट का पुत्र था, जोकि उन्नीसवीं सदी का मशहूर साम्यवादी लड़ाका था और जिसका नाम मेरे एक पिछले खत में आया है । रोजा लक्जेमवर्ग भी एक पुराना काम करनेवाला था और लेनिन का वड़ा दोस्त था—और सचाई यह थी कि जिस साम्यवादी वग़ावत के कारण लेवकनेख्ट और लक्जेमवर्ग की मृत्यु हुई, उसके ये दोनों ख़िलाफ़ थे ।

साम्यवादी लोग सोशल डिमोक्रेटिक प्रजातंत्र द्वारा कुचल दिये गये, और इसके वाद फौरन ही वेमर नाम के स्थान पर प्रजातन्त्र के लिए एक शासन-विधान तैयार किया गया । इसलिए उसे वेमर-विधान कहते हैं । तीन महीने के अन्दर ही प्रजातन्त्र में नई

तब्दीली होने का अन्देशा हुआ। इस बार यह अन्देशा दूसरी ही तरफ़ से खड़ा हुआ। प्रगति-विरोधियों ने प्रति-क्रान्ति कर डालनी चाही, और उसमें पुराने जनरल ख़ास तौर पर हिस्सा ले रहे थे। यह विद्रोह 'कैप पुश' कहलाता है। कैप नेता का नाम था, और पुश जर्मन भाषा में ऐसे विद्रोह को कहते हैं। सोशल डिमोक्रेटिक सरकार के लोग बर्लिन से भाग गये, लेकिन बर्लिन के मजदूरों ने अचानक आम हड़ताल करके, जिससे कि शहर का सारा कामकाज बन्द होगया, इस 'पुश' का ख़ात्मा कर दिया। संगठित मजदूरों केसामने कैप और उसके दोस्तों को भाग जाना पड़ा, और सोशल डिमोक्रेटिक नेता फिर हुकूमत करने आगये। उन्होंने साम्यवादियों के साथ जिस तरह का वर्ताव किया था, उसके मुक़ाबिले कैप-दल के बाग़ियों के साथ सरकार ने बडी नरमी दिखाई। इनमें से कई लोग पेंशन पानेवाले अफ़सर थे, और विद्रोह करने पर भी उनकी पेन्शनें जारी रहीं।

इसी तरह का क्रान्ति-विरोधी 'पुश' या विद्रोह बवेरिया में भी संगठित हुआ। वह भी नाकामयाब रहा। लेकिन उसमें सबसे बडी दिलचस्पी की बात यह है कि उसका संगठन करनेवाला एक छोटा-सा आस्ट्रियन अफ़सर हिटलर था, जो आज जर्मनी का डिक्टेटर है।

इस सबका नतीजा यह हुआ कि हालांकि जर्मन प्रजातन्त्र नाम के लिए चलता रहा, लेकिन वह दिन-ब-दिन कमजोर होता गया। समाजवादियों, सोशल डिमाक्रेटों और साम्यवादियों के बीच फूट होने से, प्रगति-विरोधी लोग, जो खुल्लम-खुल्ला प्रजातन्त्र की निन्दा करते थे, ज्यादा-ज्यादा संगठित और उग्र होते गये। बडे-बडे भूस्वामियों ने—जो जर्मनी में 'जंकर' कहलाते हैं—और बडे-बडे कारख़ानेदारों ने धीरे-धीरे उन थोडे-से समाजवादी तत्त्वों को भी शासक-मण्डल में से निकाल दिया जो कि उसमें बाक़ी रहे थे। वर्साई की सन्धि से जर्मन लोगों को बड़ा धक्का लगा और प्रगति-विरोधियों ने अपने लाभ के लिए उसका दुरुपयोग किया। इस संधि के मुताबिक़ जर्मनी को अपने हथियार त्याग देने पडे और अपनी बडी फ़ौज छोड़नी पडी। उसे सिर्फ़ एक लाख छोटी-सी फ़ौज रखने की ही इजाजत मिली। नतीजा यह हुआ कि दिखाने के लिए तो निःशस्त्रीकरण हुआ, लेकिन बहुत-से हथियार छिपा दिये गये। बडी-बडी खानगी फौजें यानी मुख़्तलिफ़ पार्टियों के स्वयंसेवक 'स्टील हेलमेट' कहलाते थे; साम्यवादी मजदूरों के स्वयं-सेवक 'रेड-फ्रण्ट' कहे जाते थे, और कुछ समय बाद हिटलर के अनुयाइयों ने 'नाजी सेना' के नाम से दल बनाया।

जर्मनी में महायुद्ध के बाद के कुछ वर्षों में क्या-क्या हुआ, यह मैंने तुम्हें काफ़ी बता दिया है, और इससे ज्यादा भी मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि किस तरह क्रान्ति वातावरण में भर गई थी, और प्रति-क्रान्ति के साथ लडी थी। जर्मनी के मुख़्तलिफ़ हिस्सों

में, बवेरिया और सैक्सनी में भी, बलवे हुए थे। आस्ट्रिया में भी, जिसे कि संधि ने अपने पहले आकार से बहुत छोटा बना दिया था, बहुत-कुछ ऐसी ही हालतें रहीं। यह छोटा-सा देश, जिसकी बडी भारी राजधानी वियेना है, भाषा और संस्कृति में बिलकुल जर्मन था। यह १२ नवम्बर १९१८ को, अस्थायी संधि के दूसरे दिन, प्रजातन्त्र बन गया था। यह जर्मनी का हिस्सा बनना चाहता था, लेकिन मित्र-राष्ट्रों ने इसकी सख्त मनाई कर दी, हालांकि ज़ाहिरा तौर पर ऐसा करना बिलकुल स्वाभाविक था। आस्ट्रिया और जर्मनी की इस प्रस्तावित एकता को जर्मन भाषा में 'एन्शलस' कहते हैं और यह आजकल की समस्याओं में से एक है। आस्ट्रिया की एक समस्या टिरोल या टायरोल के बारे में भी है, जिसका एक हिस्सा, जिसमें जर्मन-आस्ट्रियन लोग रहते हैं, इटली ने दबा लिया है।

जर्मनी की तरह आस्ट्रिया में भी पहले तो सोशल डिमोक्रेटों के ही हाथ में सत्ता थी, लेकिन वे इतने डरे हुए थे और अपने अन्दर उनको इतना कम विश्वास था कि मध्यम-वर्गीय दलों से समझौते की नीति पर चलने लगे। नतीजा यह हुआ कि सोशल डिमोक्रेट बहुत कमज़ोर होगये और शासन दूसरों के हाथ में चला गया। जर्मनी की तरह ही यहाँ भी प्राइवेट फ़ौजें खडी हुई, और आखिरकार एक प्रगति-विरोधी डिक्टेटरशाही क़ायम होगई। बहुत वक़्त तक तो वियेना के समाजवादी शहर और देहात के दक़ियानूसी विचार के किसानों के बीच संघर्ष चलता रहा। वियेना की समाजवादी म्युनिसिपैलिटी मजदूरों के लिए अच्छे-अच्छे मकान बनवानें और दूसरी योजनाओं के लिए मशहूर होगई।

हंगरी में ३ अक्तूबर १९१८ को, महायुद्ध ख़त्म होने के पाँच हफ़्ते पहले ही, एक क्रान्ति होगई थी। नवम्बर में प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। चार महीने बाद, मार्च १९१९ में, एक दूसरी क्रान्ति होगई। यह बेलाकून नाम के एक साम्यवादी नेता के, जो पहले लेनिन का साथी रह चुका था, नेतृत्व में एक सोवियट क्रान्ति थी। एक सोवियट-सरकार भी क़ायम होगई और कई महीनों तक उसीकी सत्ता रही। इसपर देश के अनुदार और प्रगति-विरोधी लोगों ने अपनी मदद के लिए एक रूमानियन फ़ौज को बुलवाया। रूमानियन लोग बडी ख़ुशी से आगये। उन्होंने बेलाकून की सरकार को कुचलने में मदद दी और फिर वे देश को लूटनें में लग गये। वे वहाँसे तभी गये, जब कि मित्र-राष्ट्रों ने उनके ख़िलाफ़ कार्रवाई करने की धमकी दी। ज्योंही रूमानियन चले गये, त्योंही हंगरी के अनुदार लोगों ने देश के तमाम उदार या उन्नत विचार के लोगों पर आतंक जमाने के लिए, ताकि वे क्रान्ति के लिए फिर कोशिश न करें, एक प्राइवेट फ़ौज या स्वयंसेवक-दल संगठित करं लियां। इस तरह १९१९ में हंगरी में वह जमाना शुरू

हुआ जो 'सफ़ेद आतंक' (White Terror) कहलाता है और जो महायुद्ध के बाद के इतिहास के सबसे ज्यादा खूनी हिस्सों में से एक माना जाता है। हंगरी में कुछ अब भी सामन्तशाही है, और ये सामन्त जमींदार बड़े-बड़े कारखानेदारों के साथ, जिन्होंने महायुद्ध के जमाने में बड़ी दौलत पैदा करली थी, मिल गये, और उन्होंने न सिर्फ़ साम्यवादियों को बल्कि आम तौर पर मजदूरों, सोशल डिमोक्रेटों, उदार और शान्तिवादी लोगों और यहूदियों तक को क़त्ल किया और उनपर आतंक फैला दिया। तभीसे हंगरी में एक प्रगति-विरोधी डिक्टेटरशाही क़ायम है। वहाँ दिखाने के लिए एक पार्लमेण्ट है, लेकिन चुनाव की पर्चियाँ खुली हुई पड़ती हैं, यानी पार्लमेण्ट के मेम्बरों का चुनाव जाहिरा तौर पर होता है और पुलिस और फ़ौज इस बात की कोशिश करती है कि डिक्टेटरशाही जिन्हें पसन्द करती या चाहती है सिर्फ़ वे ही लोग चुने जावें। राजनैतिक सवालों पर सार्वजनिक सभायें होने नहीं दी जातीं।

इस ख़त में मैंने मध्य-योरप की महायुद्ध के बाद की घटनाओं पर और युद्ध और हार और रूसी क्रान्ति के उन देशों पर होनेवाले परिणामों पर, जो पहले 'मध्य-योरप की शक्तियाँ' कहलाते थे, विचार किया है। युद्ध के आश्चर्यजनक आर्थिक परिणाम, और उनसे पूँजीवाद मौजूदा दुर्दशा में कैसे आ गया है, इसका हाल हमें अलग ही देखना होगा। इस ख़त में मैंने जो कुछ लिखा है उसका मतलब यही है कि महायुद्ध के बाद के उन दिनों में योरप में क्रान्ति आती हुई दिखाई देती थी। इस बात से सोवियट रूस को बड़ी मदद मिली, क्योंकि किसी भी बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति को अपने मजदूर-वर्ग पर बुरा असर पैदा होने के अन्देशे से उसपर पूरे दिल से हमला करने की हिम्मत नहीं हुई। फिर भी क्रान्ति हुई नहीं, सिर्फ़ कहीं-कहीं छोटे-छोटे प्रयत्न हुए जो कुचल दिये गये। इस सामाजिक क्रान्ति के कुचलने और रोकने में सोशल डिमोक्रेटों नें सबसे ज्यादा हिस्सा लिया, हालांकि उनका सारा दल इसी तरह की सामाजिक क्रान्ति के उसूल पर क़ायम हुआ था। मालूम होता है कि ये सोशल डिक्रेमोट समझते थे या उम्मीद करते थे कि पूँजीवाद खुद ही अपनी मौत मर जायगा। इसलिए जोर से उसपर हमला करने के बजाय उन्होंने उसे कम-से-कम उस वक़्त तो बचे रहने में मदद दी। या यह भी मुमकिन है कि उनकी बड़ी भारी और मालदार पार्टी-मशीन इतने आराम में थी, या मौजूदा समाज-व्यवस्था में ही इतनी फँसी हुई थी, कि वह सामाजिक उथल-पुथल की जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उन्होंने बीच का रास्ता इख़्तियार करने की कोशिश की। लेकिन नतीजा यह हुआ कि उन्होंने सारा काम बिगाड़ दिया और हाथ में जो कुछ था वह भी खो दिया। जर्मनी की हाल की घटनाओं ने इस बात को और भी ज्यादा साफ़ कर दिया है।

महायुद्ध के वाद एक और वात जो ज़ोर पकड़ती गई, वह है बल-प्रयोग की मनोवृत्ति का पैदा होना। यह ताज्जुव की वात है कि जव हिन्दुस्तान में अहिंसा का सन्देश फैलाया जा रहा था, उन्हीं दिनों दुनिया में क़रीब-क़रीब सभी जगह हिंसा—नग्न और निर्लज्ज हिंसा—ही अमल में आ रही थी और उसका गौरव बढ़ाया जा रहा था। इसका कारण था ज्यादातर तो महायुद्ध और वाद में मुख्तलिफ़ वर्गों के स्वार्थों की टक्कर। ज्यों-ज्यों मुख्तलिफ़ वर्गों के स्वार्थ ज्यादा-ज्यादा एक-दूसरे से टकराते गये और उनमें स्पष्टता और गहराई आती गई, त्यों-त्यों हिंसा वढ़ती गई। उदार सिद्धान्त क़रीव-क़रीव मिट गये, और उन्नीसवीं सदी का प्रजातन्त्रवाद नापसन्द किया जाने लगा। डिक्टेटर लोग मैदान में आगये।

मैंने इस ख़त में हारी हुई शक्तियों के वारे में लिखा है। जीतनेवाली शक्तियों को भी ऐसी ही तकलीफ़ें उठानी पड़ीं, हालांकि मध्य-योरप के समान उथल-पुथल या वलवे इंग्लैण्ड और फ्रांस में नहीं हुए। इटली में एक ख़ास ढंग की उथल-पुथल हुई, जिसके अजीव ही नतीजे हुए। उनका वयान भी अलग किया जाना चाहिए।

: १७२ :

पुराने क़र्ज़ चुकाने की नई तरकीब

१५ जून, १९३३

इस तरह हम देखते हैं कि महायुद्ध के वाद योरप और दरअसल किसी हद तक सारा संसार एक उवलती हुई कढ़ाई की हालत में था। वर्साई की और दूसरी संधियों से मामले नहीं सुधरे। योरप के नये नक़शे से पोल और जेक और वाल्टिक जातियों को आज़ाद वनाकर कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्यायें सुलझाई गई। लेकिन इसके साथ ही आस्ट्रियन टिरोल या टायरल को इटली के मातहत करने, यूक्रेन के एक हिस्से को पोलैण्ड को दे देने, और पूर्वी योरप में और भी कुछ दुःखदाई मुल्की वटवारा करने के कारण कई नई-नई राष्ट्रीय समस्यायें खड़ी भी होगई। सवसे अजीव और चिढ़ पैदा करनेवाली पोलिश कॉरीडर और डेनज़िग की व्यवस्था थी। योरप के मध्य और पूर्व में कई नये छोटे-छोटे राज्य वना दिये गये, जिसके मानी हुए सरहदों, चुंगी की हदवन्दियों और आपसी नफ़रतों में वृद्धि।

१९१९ की इन सन्धियों के अलावा भी रूमानिया ने किसी तरह वेसारेविया प्रदेश ले लिया, जोकि पहले दक्षिण-पश्चिम रूस का हिस्सा था। तवसे लगातार इस प्रदेश की वावत सोवियट और रूमानिया में झगड़ा और दलीलवाज़ी होती रही है। वेसारेविया 'नीपर का एलसेस-लॉरैन' कहलाने लगा है।

मुल्की तब्दीलियों से भी बड़ा सवाल मुआवज़े (रिपेयरेशन्स) का था, यानी उस रुपये का जो महायुद्ध के खर्चों और नुक़सानों के बदले में हारा हुआ जर्मनी जीतने-वाले मित्र-राष्ट्रों को अदा करे। वर्साई की सन्धि में इसकी कोई निश्चित रक़म मुक़र्रर नहीं की गई थी, लेकिन बाद की कान्फरेन्सों में मुआवज़े की रक़म ६,६०,००,००,००० पौण्ड मुक़र्रर की गई, जो सालाना क़िस्तों में देनी थी। इतनी बड़ी रक़म किसी देश के लिए भी देना मुश्किल था, और हारा और थका हुआ जर्मनी तो इसे देने के और भी ज्यादा नाक़ाबिल था। जर्मनी ने इसका विरोध किया, लेकिन बेकार हुआ, और फिर जब कोई चारा न रहा तो उसने यूनाइटेड स्टेट्स यानी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका से उधार लेकर दो-तीन क़िस्तें अदा कीं। कुछ वक़्त गुज़ारने और फिर सारे सवाल पर फिर से ग़ौर करवाने के लिए ही उसने ऐसा किया। उसे और ज्यादातर दूसरे मुल्कों पर भी यह ज़ाहिर होगया था कि पीढ़ियों तक बड़ी-बड़ी रक़में वह देता नहीं जा सकता था।

बहुत जल्दी ही जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई, और सरकार के पास न तो बाहरी क़र्ज़, जैसे मुआवज़ा वग़ैरा, और न अन्दरूनी देनदारियाँ तक पूरी करने के लिए काफ़ी धन रहा। दूसरे देशों को अदायगी सुवर्ण में करनी पड़ती थी। जब अदायगियाँ मुक़र्रर तारीख़ों पर न हो सकीं, तो वादा-ख़िलाफ़ी हुई। फिर भी जर्मनी के अन्दर तो सरकार करेंसी नोटों की शक्ल में अदायगी कर सकती थी, और इसलिए उसने अधिकाधिक काग़ज़ी नोट छाप लेने की तरकीब चलाई। काग़ज़ के नोट छाप लेने से धन पैदा नहीं होता; सिर्फ साख या अदायगी की ज़िम्मेदारी का विश्वास पैदा होता है। लोग काग़ज़ के नोटों का इस्तेमाल इसलिए करते हैं कि उन्हें मालूम है, अगर वे चाहें तो उनके बदले में उन्हें सोना या चाँदी मिल सकता है। इन नोटों के लिए बैंकों में हमेशा किसी क़दर सोना रक्खा रहता है, जिससे कि नोटों की क़ीमत बनी रहे। इस तरह काग़ज़ी रुपये से बड़ा उपयोगी काम निकलता है, क्योंकि इससे रोज़ाना लेन-देन में सोना लगने से बच जाता है और साख भी बढ़ जाती है। लेकिन अगर कोई सरकार इस बात का ख़याल न करे कि बैंकों में कितना सोना है और काग़ज़ी रुपया छापती और बेहद नोट जारी करती चली जाय तो इस काग़ज़ी रुपये की क़ीमत ज़रूर गिरेगी। नोट जितना ज्यादा छपता जायगा, उतनी ही उसकी क़ीमत घटेगी और देनदारी की साख का कार्य भी वह उतना ही कम करेगा। इस व्यवस्था को 'इनफ़्लेशन' कहते हैं। १९२२ और १९२३ में जर्मनी में ठीक यही बात हुई। जर्मन सरकार को अपने ख़र्चे के लिए जैसे-जैसे ज्यादा रुपये की ज़रूरत होती गई, वैसे-वैसे वह ज्यादा-से-ज्यादा नोट छापती गई। इससे हर चीज़ के दाम चढ़ गये, लेकिन पौण्ड, डालर

या फ्रांक के मुक़ाबिले में ख़ुद जर्मन मार्क की क़ीमत घट गई। इसलिए सरकार को और मार्क छापने पड़े, और फिर इससे मार्क की क़ीमत और भी गिरी। यह अव्यवस्था बहुत ज्यादा बढ़ गई, यहाँतक कि एक डालर या पाउण्ड की क़ीमत अरबों काग़ज़ी मार्क होगई। असल में काग़ज़ी मार्क का कोई मूल्य ही नहीं रहा। लिफ़ाफ़े पर लगाने के लिए एक टिकट की क़ीमत दस लाख काग़ज़ी मार्क होगई! दूसरी चीज़ों के दाम भी इसी हिसाब से कम या ज्यादा थे, और हमेशा बदलते भी रहते थे।

जर्मनी का यह 'इन्फ़्लेशन' और मार्क की क़ीमत में आश्चर्यजनक गिरावट अपने-आप ही नहीं होगये थे। यह जर्मन सरकार ने आर्थिक कठिनाइयों में से निकलने के लिए जान-बूझकर किया था, और बहुत काफ़ी दूर तक वह कठिनाइयों में से निकल भी गई; क्योंकि सरकार ने और म्यूनिसिपैलिटियों ने और दूसरे कर्ज़दारों ने जर्मनी के अपने अन्दरूनी कर्ज़े आसानी से मूल्यहीन काग़ज़ी मार्कों द्वारा चुका दिये। बेशक वे इस तरह बाहरी देशों के कर्ज़ों को नहीं चुका सकते थे, क्योंकि वहाँका कोई भी आदमी उनके काग़ज़ी रुपये को नहीं ले सकता था। जर्मनी में तो वे क़ानून के ज़रिये भी ऐसी अदायगी को मंज़ूर करवा सकते थे। इस तरह सरकार और हर कर्ज़दार कर्ज़े के दुःखदायी बोझ से छूट गया। लेकिन ऐसा करने में बड़ी ज़बरदस्त मुसीबतें उठानी पड़ीं। इन्फ़्लेशन के इस अर्से में सभी लोगों ने तकलीफ़ें उठाईं; लेकिन सबसे ज्यादा मुसीबत मध्यमवर्गों को हुई, क्योंकि उन्हें ज्यादातर निश्चित तनख्वाहें मिलती थीं, या दूसरी किसी तरह की आमदनी भी निश्चित ही थी। बेशक ज्यों-ज्यों मार्क गिरता गया त्यों-त्यों इनकी तनख्वाहें बढ़ती गईं, लेकिन जिस रफ़्तार से मार्क गिरता था उसके मुताबिक ही उनकी तनख्वाहें नहीं बढ़ पाती थीं। निचले मध्यमवर्ग तो इस इन्फ़्लेशन से क़रीब-क़रीब मिट ही गये, और जब हम जर्मनी में बाद के वर्षों में होनेवाली खास-खास घटनाओं पर विचार करेंगे तो हमें इस बात को याद रखना होगा। क्योंकि फिर तो इन असंतुष्ट वर्गहीन (Declassed) मध्यम-वर्गों की एक ज़बरदस्त असन्तुष्ट सेना बन गई, जिनसे बड़ी-बड़ी क्रान्तिकारी संभावनायें थीं। वे प्रमुख दलों के साथ बननेवाली प्राइवेट फ़ौजों में दाख़िल होगये और ज्यादातर हिटलर के नये दल नैशनल सोशलिस्ट या नाज़ी पार्टी में चले गये।

पुराना मार्क, जो कि अब बिलकुल भी काम का न रहा था, मंसूख कर दिया गया, और नये नोट, जिन्हें 'रेण्टेन मार्क' कहते थे, चालू किये गये। इनमें 'इनफ़्लेशन' नहीं किया गया, और ये अपने सोने की क़ीमत के बराबर होते थे। इस तरह जर्मनी अपने निचले मध्यम वर्गों का सफ़ाया करके फिर स्थायी मुद्रा-प्रणाली पर लौट आया।

जर्मनी की आर्थिक मुसीबतों के बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम हुए। मित्र-राष्ट्रों

को दिये जानेवाले मुआवज़े की किस्त चूक गई। यह मुआवज़ा इन मित्र-राष्ट्रों के बीच बाँट लिया जाता था, और सबसे ज्यादा हिस्सा फ़्रांस को मिलता था। रूस उसमें से कुछ भी नहीं लेता था। असल में, उसमें अगर उसका कोई हक़ रहा भी हो तो वह भी उसने छोड़ दिया था। जर्मनी की तरफ़ से जब क़िस्त की अदायगी न हुई तो फ़्रांस और बेलजियम ने जर्मनी के रूर प्रदेश पर फ़ौजी क़ब्ज़ा कर लिया। मित्र-राष्ट्रों के पास वर्साई-सन्धि के मुताबिक़ राइनलैण्ड पहले से ही था। जनवरी १९२३ में फ़्रांस और बेलजियम ने एक और हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया (इंग्लैण्ड ने इस काम में शरीक होने से इन्कार कर दिया)। यह रूर प्रदेश राइनलैण्ड के पास ही है और इसमें बहुत अच्छी-अच्छी कोयले की खानें और कारख़ाने हैं। फ़्रांसीसी चाहते थे कि कोयला वग़ैरा जो माल वहाँ पैदा होता है उसपर क़ब्ज़ा करके वे अपनी रक़म अदा कर लें। लेकिन इसमें एक कठिनाई आगई। जर्मन सरकार ने फ़्रांस के इस क़ब्ज़े का विरोध निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रह के ज़रिये करने का फ़ैसला किया, और उसने रूर के खान-मालिकों और मजदूरों से कह दिया कि वे काम बन्द करदें और फ़्रांसीसियों को किसी तरह भी मदद न दें। उसने खान-मालिकों और कारख़ाने-दारों को उनके किये गये नुक़सान के एवज में लाखों मार्क भी दिये। नौ या दस महीनों के बाद, जिनमें फ़्रांस और जर्मनी दोनों को बहुत ख़र्चे उठाने पड़े, जर्मन सरकार ने निष्क्रिय प्रतिरोध हटा लिया और उस प्रदेश में खानों और कारख़ानों के चलाने में फ़्रांस से सहयोग करना शुरू कर दिया। १९२५ में फ़्रेञ्च और बेलजियनों ने रूर को छोड़ दिया।

रूर में जर्मनी का निष्क्रिय प्रतिरोध टूट गया, लेकिन उसने ज़ाहिर कर दिया कि मुआवज़े के सवाल पर फिर से ग़ौर होना चाहिए और क़िस्तों की रक़म ज्यादा समझदारी से मुक़र्रर की जानी चाहिए। इसलिए एक के बाद एक जल्दी-जल्दी कई कान्फ्रेंसें हुई और कमीशन मुक़र्रर हुए, और एक के बाद एक कई योजनायें निकाली गई। १९२४ में डाज-योजना बनी, और पाँच साल बाद १९२९ में यंग-योजना बनी, और तीन साल बाद १९३२ में सभीने यह मान लिया कि और क़िस्तें नहीं दी जा सकती हैं, और उसका ख़याल ही छोड़ दिया गया।

१९२४ के बाद इन कुछ वर्षों तक जर्मनी ने मुआवज़े की बाक़ायदा क़िस्तें अदा कीं। लेकिन जब जर्मनी के पास धन नहीं था और वह दीवालिया-सा हो रहा था, तो यह बात किस तरह हो सकी? यह अदायगियाँ अमेरिका से उधार लेकर की गई। मित्र-राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, फ़्रान्स, इटली वग़ैरा) को अमेरिका को रुपया देना था जोकि उन्होंने महायुद्ध के ज़माने में उधार लिया था; और जर्मनी को मुआवज़े की

शक्ल में रुपया मित्र-राष्ट्रों को देना था। इसलिए अमेरिका नें जर्मनी को उधार दिया, और जर्मनी मित्र-राष्ट्रों को दे सका, ताकि अन्त में मित्र-राष्ट्र भी अमेरिका को अदायगी कर सकें। यह एक बड़ा मजेदार फ़ैसला था, जिससे कि हरेक संतुष्ट नजर आता था! दरअसल, इसके सिवा वसूली करने की और कोई सूरत ही नहीं थी। हाँ, यह उधारी और अदायगी का सारा चक्कर एक बात पर निर्भर था—अमेरिका जर्मनी को उधार देता चला जाय। अगर यह बन्द होजाता है तो सारी व्यवस्था टूट जाती है।

इन उधारियों और अदायगियों में नक़द धन का वास्तविक लेना और देना नहीं होता था; क़ागजी जमा-ख़र्च होजाता था। अमेरिका जर्मनी के नामे एक ख़ास रक़म लिख देता था, जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रों के नामे बदलवा देता था, और मित्र-राष्ट्र फिर उसे ही अमेरिका के नामे बदलवा देते थे। वास्तविक धन कहीं न जाता था, न आता था, सिर्फ़ हिसाब के काग़जों में कई इन्दराज होजाया करते थे। अमेरिका ग़रीब मुल्कों को, जो अपने पिछले कर्जों का सूद भी न चुका सकते थे, रुपया क्यों उधार देता गया? अमेरिका ने उधार इसलिए दिया कि किसी तरह इनका काम चलता रहे, और वे दीवालिया न हों, क्योंकि अमेरिका को योरप के एकदम बर्बाद हो जानें का डर था, जिससे कि सारा क़र्जा मारा जाता। इसलिए समझदार ऋणदाता या साहूकार की तरह, अमेरिका ने अपने कर्जदारों को जिन्दा और उनका काम चालू रक्खा। लेकिन कुछ वर्षों के बाद अमेरिका इस लगातार ऋण देने की नीति से तंग आगया और उसनें देना बन्द कर दिया। फ़ौरन ही मुआवजे और क़र्ज़े की सारी इमारत गिर पड़ी, किस्तें रुक गईं और योरप और अमेरिका के सारे राष्ट्र एक ऐसी दलदल में फँस गये, जिसमें पड़े वे अब भी तड़फड़ा रहे हैं। इसके बारे में मैं बाद में कुछ और कहूँगा।

इस तरह महायुद्ध के बाद मुआवजे की समस्या ने योरप को दस-बारह साल से भी ज्यादा फँसाये रक्खा। इसके साथ ही महायुद्ध के क़र्जों यानी जर्मनी के अलावा दूसरे देशों के क़र्जों का भी सवाल था। जैसा कि मैं महायुद्ध की बाबत लिखे हुए ख़त में तुम्हें बता चुका हूँ, शुरू के दिनों में इंग्लैण्ड और फ्रांस अपने छोटे-छोटे मित्र-देशों को युद्ध के लिए रुपया उधार देते थे। इसके बाद फ़्रांस के जरिये ख़त्म होगये, और उसने उधार देना बन्द कर दिया। लेकिन इंग्लैण्ड देता रहा। बाद में आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड भी बिगड़ गया, और ज्यादा उधार नहीं दे सका। सिर्फ़ अमेरिका ही दे सकता था, और उसनें बड़ी फ़ैयाजी यानी उदारता से कर्जा दिया, जिसमें उसका और इंग्लैण्ड, फ़्रांस और दूसरे मित्र-राष्ट्रों का भी फ़ायदा था। इस तरह महायुद्ध ख़त्म

होने पर कुछ देशों पर फ़्रांस का क़र्ज़ा होगया था, कई पर इंग्लैण्ड का कर्ज़ा होगया था, और सारे मित्र-राष्ट्रों पर अमेरिका का बड़ा भारी क़र्ज़ा होगया था। अमेरिका ही एक ऐसा देश था जिसपर दूसरे किसीका ऋण न था। उस वक़्त वह एक बड़ा भारी साहूकार देश बन गया था। वह इंग्लैण्ड के पुराने स्थान पर पहुँच गया, और संसार का साहूकार बन गया। कुछ आँकडे देने से यह बात और भी साफ़ होजायगी। महायुद्ध के पहले अमेरिका एक ऋणी देश था, उसपर दूसरे देशों का ३ अरब डालर क़र्ज़ा था,महायुद्ध के समाप्त होने के वक़्त तक यह क़र्ज़ा मिट गया था, और इसके बजाय अमेरिका ने ही बहुत बडी-बडी रक़में उधार दे दी थीं। १९२६ में अमेरिका ऋण-दाता देश होगया, और उसका दिया हुआ कर्ज़ा २५ अरब डालर तक पहुँच गया।

युद्ध के ये क़र्ज़े क़र्ज़दार मुल्कों—इंग्लैण्ड, फ़्रान्स, इटली वग़ैरा—पर बहुत ज्यादा बोझ-से थे, क्योंकि ये सब सरकारी क़र्ज़े थे, जिनके लिए सरकारें जिम्मेदार थीं। उन्होंने अमेरिका से ख़ास रियायती शर्तें प्राप्त करने की कोशिश की, और उन्हें कुछ सहूलियतें मिल भी गईं, लेकिन फिर भी बोझ तो बना ही रहा। जबतक जर्मनी मुआवज़े की रक़में देता रहा, तबतक तो ये क़र्ज़दार मुल्क अमेरिका को वही रक़में (जो असल में अमेरिका का दिया हुआ क़र्ज़ ही था) तब्दील करके देते रहे। लेकिन जब मुआवज़े मिलना अनियमित होगया या बन्द होगया, तो क़र्ज़ा चुकाना मुश्किल होगया। योरप के क़र्ज़दार देशों ने कोशिश की कि मुआवज़े और युद्ध के क़र्ज़ों का ताल्लुक़ क़ायम कर दिया जाय। उन्होंने कहा कि दोनों बातों पर साथ-साथ विचार किया जाना चाहिए, और अगर यह बन्द हो जाता है तो वह भी अपनेआप बन्द होजाना चाहिए; लेकिन अमेरिका ने इन दोनों बातों को एक मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि मैंने तो रुपया दिया है, मुझे अपना वह रुपया मिलना चाहिए, और इससे मुझे कोई मतलब नहीं कि जर्मनी से मुआवज़ा मिलता है या नहीं, जिसका कि आधार ही दूसरा है। योरप में अमेरिका के इस रुख़ पर बडी नाराजगी ज़ाहिर की गई और उसे बहुत बुरा-भला कहा गया। कहा कि वह शायलाक जैसा लोभी बनिया है, कि जिसने अपने क़र्ज़दार का पूरा एक पौंड मांस काटकर लेने का हठ किया था। ख़ासकर फ़्रान्स में यह कहा गया कि यह युद्ध सबके साझे का काम था, जिसके लिए कि क़र्ज़ा लिया गया था, इसलिए कर्ज़े को साधारण ऋण के समान न समझना चाहिए। और दूसरी तरफ़ अमेरिकन लोगों में महायुद्ध के बाद योरप में होनेवाले झगडों और साजिशों से बडी नफ़रत पैदा होगई थी। उन्होंने देखा कि अब भी फ़्रान्स और इंग्लैण्ड और इटली अपनी-अपनी फ़ौजों और नौसेनाओं पर भारी-भारी रक़में ख़र्च करते जा रहे

हैं, वल्कि शस्त्रास्त्रों के लिए कुछ छोटे मुल्कों को क़र्ज़ा भी देते जा रहे हैं। अगर योरप के इन देशों के पास शस्त्रास्त्रों के लिए इतना रुपया है, तो अमेरिका उनसे अपना क़र्ज़ा क्यों छोडे ? अगर वह अपना क़र्ज़ा छोड़ भी दे, तो शायद वह रक़म भी शस्त्रास्त्रों पर ख़र्च करदी जायगी। अमेरिका की यही दलीलें थीं, और वह अपने क़र्ज़ों का दावा करता ही रहा। इस सवाल का अवतक कोई फ़ैसला नहीं हुआ है और मेरे लिखते वक़्त इसपर दसवीं या बीसवीं वार बहस हो रही है।

मुआवज़े की तरह ही महायुद्ध के क़र्ज़ों का किसी तरह चुकाया जाना भी काफ़ी मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय क़र्ज़ या तो सोने की शक्ल में, या माल की शक्ल में, या किसी कार्य (जैसे ख़ुश्की या समुद्री मार्ग से माल लाने-लेजाने आदि) की शक्ल में चुकाये जा सकते हैं। इतनी बडी रक़मों को सोने की शक्ल में देना नामुमकिन था, क्योंकि इतना सोना मिल ही नहीं सकता था। और माल या कार्य की शक्ल में अदायगी करना भी, मुआवज़े और क़र्ज़ दोनों के ही लिए, क़रीव-क़रीब नामुमकिन था। क्योंकि अमेरिका ने और योरप के देशों ने आयात-निर्यात करों की ऊँची-ऊँची दीवारें खडी करदी थीं, जिनसे कि विदेशी माल का आना वन्द होगया था। इससे एक असम्भव परिस्थिति पैदा होगई और यही असली कठिनाई थी। फिर भी कोई देश आयात-निर्यात करों की वाधायें कम करने को या क़र्ज़ की रक़म के वदले माल लेने को तैयार न था, क्योंकि इससे देश के उद्योग-धन्धों को नुक़सान होने की सम्भावना थी। यह एक अजीव और दुःखदाई चक्कर था।

सिर्फ़ योरप महाद्वीप ही संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का क़र्ज़दार नहीं था। अमेरिका के वैंकरों और व्यापारियों ने कनाडा और लैटिन अमेरिका (यानी दक्षिणी और मध्य अमेरिका और मैक्सिको) में वहुत वडी-वडी पूंजी लगा रक्खी थी। ये लैटिन अमेरिकन देश महायुद्ध के दर्मियान आधुनिक कारखानों और मशीनों की शक्ति से वडे प्रभावित हुए थे। इसलिए उन्होंने कारखानों की तरक्की पर सारा ध्यान लगा दिया, और धन तो, जो कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में वहुत भरा पड़ा था, उत्तर दिशा से वहता हुआ चला आया। उन्होंने इतना कर्ज़ ले लिया कि वे उसका सूद भी नहीं चुका सकते थे ! हर जगह डिक्टेटर पैदा होगये और जवतक कर्ज़ा मिलता गया तवतक तो सव मामला ठीक चलता रहा—उसी तरह, जिस तरह कि जवतक अमेरिका जर्मनी को रुपया देता गया तबतक सव मामला ठीक चलता रहा। और योरप की ही तरह जब लैटिन अमेरिका को भी कर्ज़ा मिलना वन्द होगया तो वहाँ भी सारा ढाँचा टूट गया।

अमेरिका की वचाई हुई पूंजी का और लैटिन अमेरिका में उसका परिमाण कितनी जल्दी-जल्दी वढ़ता गया, इसका कुछ अनुमान कराने के लिए मैं तुम्हें दो आँकडे बताता

हैं। १९२६ में अमेरिका की लगी हुई पूंजी सवा चार अरब डालर थी। तीन साल बाद, १९२९ में, वह साढ़े पाँच अरब से ज्यादा होगई।

इस तरह महायुद्ध के बाद के इन वर्षों में अमेरिका बेशक सारी दुनिया का साहूकार बन गया। वह धनी था, सम्पन्न था, और दौलत से फटा पड़ता था। वह सारी दुनिया पर हावी था, और उसके निवासी कुछ-कुछ घृणा के साथ योरप को, और एशिया को तो और भी ज्यादा, बूढ़ा और झगड़ालू महाद्वीप समझते थे। १९२० से १९२९ तक की जबरदस्त खुशहाली के उन दिनों में अमेरिका के धन की जरा कल्पना करो। १९१२ से १९२७ तक के पंद्रह वर्षों में अमेरिका का सारा राष्ट्रीय धन १,८७,२३,९०,००,००० डालर से बढ़कर ४,००,००,००,००,००० डालर होगया। १९२७ में उसकी आबादी ११७० लाख के क़रीब थी और हर आदमी पर ३,४२८ डालर धन का औसत पड़ता था। प्रगति इतनी तेज़ी से हुई है कि ये आँकडे हर साल बदल जाते हैं। एक पिछले ख़त में, हिन्दुस्तान और दूसरे देशों की राष्ट्रीय आय का मुक़ाबिला करते हुए, मैंने अमेरिका का आँकड़ा बहुत नीचा दिया था। वह आँकड़ा सालाना आमदनी का था, न कि धन का, और शायद वह किसी पिछले साल का था। १९२७ का आँकड़ा जो ऊपर दिया गया है, वह अमेरिका के प्रेसीडेण्ट कूलिज के नवम्बर १९२६ के एक वक्तव्य पर से लिया गया है।

कुछ और आँकडे भी तुम्हें दिलचस्प मालूम होंगे। वे सब १९२७ के हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में कुटुम्बों की तादाद २७० लाख थी। उनकी मिल्कियत में १,५९,२३,००० बिजलीदार मकान थे, और १,७७,८०,००० टेलीफ़ोन व्यवहार में आते थे। १,९२,३७,१७१ मोटर-कारें चलती थीं, और यह तादाद सारी दुनिया की तादाद का ८१ फीसदी थी। अमेरिका ने सारे संसार की ८७ फीसदी मोटर-गाड़ियाँ बनाईं, दुनिया का ७१ फ़ीसदी पेट्रोलियम तैयार किया, और दुनिया का ४३ फ़ीसदी कोयला निकाला। इसपर भी उसकी आबादी संसार की आबादी की ६ फीसदी ही थी। इस तरह आम रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊँचा था, और फिर भी जितना ऊँचा होना मुमकिन था उतना नहीं था, क्योंकि धन तो कुछ ही अरबपतियों और खरबपतियों के हाथों में केन्द्रित था। ये 'बडे-बडे व्यापारी' (Big Business) ही सारी दुनिया पर हुकूमत करते थे। उन्हींकी मर्जी से प्रेसीडेण्ट यानी राष्ट्रपति चुना जाता था, वे ही क़ानूनों के बनानेवाले थे, और अक्सर वही क़ानूनों को तोड़ा भी करते थे। इन बडे व्यापारियों में बडी भयंकर रिश्वतख़ोरी जारी थी, लेकिन अमेरिका में जबतक आम तौर पर सम्पन्नता या खुशहाली रही तबतक उन्होंने इसकी कोई परवा नहीं की।

उन्नीस सौ वीस के वाद के दस वर्षों की अमेरिकन सम्पन्नता के आँकडे मैंने इसलिए दिये हैं कि तुम्हें मालूम हो जाय कि आजकल की औद्योगिक सभ्यता ने एक देश को हिन्दुस्तान और चीन जैसे पिछडे हुए अनौद्योगिक देशों के मुक़ाबिले में कितना ज्यादा मालदार बना दिया, और तुम यह भी देख लो कि इस सम्पन्नता के मुक़ाबिले में अमेरिका में वाद का संकट और सर्वनाश कितना वड़ा आया, जिसका कि मैं आगे वयान करूँगा।

संकट-काल तो वाद में आया। ठीक १९२९ तक तो यही दिखाई दिया कि योरप और एशिया जिन बुराइयों में फँस गये है उनसे अमेरिका वचा हुआ है। हारी हुई शक्तियों का हाल खराव था। मैंने तुम्हें जर्मनी की तक़लीफों का कुछ हाल वता ही दिया है। मध्य-योरप के ज्यादातर छोटे देश, खास तौर पर आस्ट्रिया, तो और भी वुरी दशा में थे। आस्ट्रिया को भी 'इन्फ्लेशन' की मुसीवतें उठानी पडीं, और पोलैण्ड को भी। फिर इन दोनों को ही अपनी करेंसी या मुद्रा-प्रणाली वदलनी पडी।

लेकिन ये मुसीवतें सिर्फ़ हारे हुए देशों तक ही महदूद नहीं थीं, वल्कि जीतने वाले देशों पर भी धीरे-धीरे आगई। यह वात हमेशा मानी जाती थी कि कर्ज़दार होना अच्छा नहीं है। अव एक नया और अजीव ही तजुर्वा हुआ; वह यह कि ऋणदाता होना भी अच्छा नहीं है। क्योंकि विजयी शक्तियाँ, जिनका मुआवजा जर्मनी को चुकाना था, इस मुआवजे के सवव से वडी कठिनाइयों में पड़ गई, और जव उसकी वसूली करने लगीं तो वे और भी ज्यादा मुसीवत में पडीं। इस वावत मैं अगले ख़त में लिखूंगा।

: १७३ :

मुद्रा की गड़बड़ी

१६ जून, १९३३

महायुद्ध के वाद के जमाने में एक वडी उल्लेखनीय बात मुद्रा यानी सिक्कों, नोटों आदि की गड़वडी हुई। महायुद्ध के पहले हर देश में मुद्रा की वहुत कुछ निश्चित क़ीमत हुआ करती थी। हर मुल्क की अपनी अलग-अलग प्रचलित मुद्रा थी—जैसे हिन्दुस्तान में रुपया, इंग्लैण्ड में पौण्ड, अमेरिका में डालर, फ्रांस में फ्रांक, जर्मनी में मार्क, रूस में रूवल, इटली में लीरा, वग़ैरा; और इन मुख़्तलिफ़ सिक्कों का भी आपस में एक निश्चित सम्वन्ध होता था। वे एक-दूसरे से अन्तर्राष्ट्रीय 'गोल्ड स्टैण्डर्ड' (स्वर्ण-मान) द्वारा सम्वन्धित थे, यानी हर देश के प्रचलित सिक्के की सोने में एक

निश्चित यानी तयशुदा क़ीमत होती थी। हर देश की सीमा में उसकी प्रचलित मुद्रा ठीक समझी जाती थी, लेकिन उसके वाहर नहीं। दो भिन्न-भिन्न प्रचलित मुद्राओं का सम्बन्ध जोड़नेवाली चीज़ थी सोना, और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सोने की शक्ल में हुआ करते थे। जवतक कि प्रचलित मुद्राओं का निश्चित स्वर्ण-मूल्य रहा तवतक उनमें ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ सका, क्योंकि जहाँतक मूल्य या क़ीमत का ताल्लुक़ है वहाँतक सोना एक काफ़ी स्थायी धातु है—यानी ऐसी धातु है जिसमें मूल्य सम्बन्धी उतार-चढ़ाव बहुत कम होता है।

लेकिन महायुद्ध-काल की ज़रूरियात से मजबूर होकर युद्ध करनेवाली सरकारों को यह स्वर्ण-मान (गोल्ड स्टैण्डर्ड) छोड़ना पड़ा, और इस तरह उन्होंने अपनी प्रचलित मुद्राओं को सस्ता वना दिया। किसी हदतक 'इन्फ्लेशन' भी किया गया। इससे व्यापार चलाने में तो मदद मिली, लेकिन मुख़्तलिफ़ देशों की प्रचलित मुद्राओं या सिक्कों के वारे में उलट-फेर ज़रूर होगया। महायुद्ध के जमाने में दुनिया दो विरोधी पक्षों में बँट गई थी—एक मित्र-राष्ट्रों का पक्ष और दूसरा जर्मन पक्ष; और हर पक्ष के अन्दर आपसी सहयोग और संगठन था, और हरेक वात युद्ध को मद्देनज़र रखकर की जाती थी। दिक्कतें तो महायुद्ध के वाद पैदा हुईं, और वदलते हुए माली हालात और क़ौमों के आपसी अविश्वासों का नतीजा यह हुआ कि मुख़्तलिफ़ प्रचलित मुद्राओं में गड़वड़ी पड़ गई। आजकल की सारी अर्थ-व्यवस्था ज्यादातर साख (क्रेडिट) पर चल रही है। वैंक-नोट और चेक दोनों ही वास्तविक धन नहीं, सिर्फ़ अदायगी के वादे हैं, लेकिन उन्हें वास्तविक धन के तौर पर मंजूर कर लिया जाता है। साख हमारे विश्वास पर क़ायम है, और अगर विश्वास हट जाता है तो उसके साथ साख (क्रेडिट) भी चली जाती है। पिछले दस-वारह वर्षों में मुद्रा-व्यवस्था में इतनी ज्यादा गड़वड़ी होने का यह भी एक कारण है। क्योंकि योरप की कठिनाई से भरी परिस्थितियों ने सारे विश्वास को हिला दिया है। आज की दुनिया परस्पराधीन भी है, हरेक हिस्से का दूसरे हिस्से से वड़ा गहरा ताल्लुक़ है, और हमेशा ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। इसका मतलव यह है कि एक देश की गड़वड़ी का दूसरे देशों पर फ़ौरन असर पड़ता है। अगर जर्मनी का मार्क गिरता है, या जर्मन वैंक फ़ेल होजाता है, तो उससे लन्दन और पेरिस और न्यूयार्क के लोग भी कई तरह से गड़वड़ी में पड़ जाते हैं।

इन और दूसरे कारणों से, जिन्हें वतलाकर मैं तुम्हें हैरान नहीं करूँगा, क़रीव-क़रीव तमाम मुल्कों में मुद्रा या धन के बारे में दिक्कतें पैदा होगईं, और अक्सर जो मुल्क उद्योग-धन्धों में जितना ज्यादा वढ़ा हुआ था उतनी ही ज्यादा उसपर मुसीवत

आई । क्योंकि औद्योगिक तरक्क़ी का अर्थ था बहुत ही पेचीदा और नाज़ुक अन्तर्राष्ट्रीय ढांचा । ज़ाहिर है कि तिब्बत जैसे पिछड़े हुए और दुनिया से अलग रहनेवाले देश पर तो मार्क या पौण्ड के उतार-चढ़ाव का कोई असर न होगा, लेकिन डालर की क़ीमत के गिरनें से जापान में फ़ौरन गड़बड़ी पड़ जायगी ।

इसके अलावा, हर औद्योगिक देश में हरेक वर्ग के हित जुदा-जुदा थे । इस तरह, कुछ वर्ग तो सस्ती मुद्रा और इन्फ़्लेशन (हाँ, जर्मनी की तरह इनफ़्लेशन नहीं) चाहते थे, लेकिन कुछ वर्ग इससे बिलकुल उलटी बात, डिफ़्लेशन यानी मुद्रा का ऊँचा स्वर्ण-मूल्य चाहते थे । मसलन, ऋणदाता बैंकर वग़ैरा इस राय के थे कि मुद्रा की क़ीमत ऊँची रहे, क्योंकि उन्हें लोगों से धन लेना था, और ऋणी लोग क़ुदरती तौर पर यह चाहते थे कि क़र्ज़ चुकाने के लिए मुद्रा सस्ती रहे । कारख़ानेदार और माल तैयार करनेवाले सस्ती मुद्रा के तरफ़दार थे । क्योंकि वह आम तौर पर बैंकरों के क़र्ज़दार थे, और उससे भी बड़ा कारण यह था कि इससे विदेश में उनके माल बिकने में मदद मिलती थी । अगर ब्रिटेन में मुद्रा सस्ती हो तो, इसका मतलब यह होगा कि विदेशियों में ब्रिटिश माल की क़ीमत जर्मन या अमेरिकन या दूसरे देशों के माल से कम होगी और इससे ब्रिटेन के कारख़ानेदारों को फ़ायदा होगा और उनका माल ज्यादा बिकेगा । इस तरह तुम्हें मालूम होगा कि जुदा-जुदा वर्ग अपना-अपना मतलब साधना चाहते थे, और ख़ास रस्साकशी कारखानेदारों और बैंकरों के बीच में थी । मैं इस बात को ज्यादा-से-ज्यादा आसान बनाकर समझाने की कोशिश कर रहा हूँ । दरअसल, इसमें बहुत-से पेचीदा कारण शामिल थे ।

फ़्रान्स और इटली में 'इनफ़्लेशन' हुआ, और फ़्रांक और लीरा का भाव गिर गया । पहले एक पाउण्ड स्टर्लिंग के (जो कि ब्रिटिश पौण्ड का नाम है) लगभग २५ फ़्रांक मिला करते थे । फिर भाव के गिरने से एक पाउण्ड के २७५ फ़्रांक तक हो गये । आख़िरकार उसका भाव एक पाउण्ड के १२० फ़्रांक के क़रीब मुक़र्रर कर दिया गया ।

महायुद्ध के बाद जब अमेरिका ने इंग्लैण्ड की मदद करना बन्द कर दिया, तो पौण्ड की क़ीमत कुछ गिर गई । उस वक्त इंग्लैण्ड के सामने कठिनाई खड़ी हो गई । क्या उसे मुनासिब था कि वह पाउण्ड की क़ीमत की इस क़ुदरती गिरावट को मंज़ूर करले, और पौण्ड की यह नई क़ीमत ही मुक़र्रर करदे ? इससे माल तो सस्ता होजाता और कारखानों को मदद भी पहुँचती, लेकिन बैंकरों और ऋणदाताओं को नुक़सान होता । और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इससे दुनिया के आर्थिक केन्द्र के रूप में लन्दन की जो स्थिति थी वह मिट जाती । फिर तो इस स्थिति में

न्यूयार्क आजाता, और ऐसा होने पर क़र्ज़ा चाहनेवाले लोग लन्दन के बजाय न्यूयार्क ही जाते। दूसरा रास्ता यह था कि ज़ोर लगाकर पाउण्ड को ही उसकी पहली क़ीमत पर पहुँचा दिया जाता। इससे पाउण्ड की इज़्ज़त भी बढ़ जाती और लन्दन दुनिया का आर्थिक नेता भी बना रहता। लेकिन उद्योग-धन्धों को नुक़सान होता और, जैसा कि हुआ, और भी कई अवाञ्छनीय बातें होतीं।

ब्रिटिश सरकार ने १९२५ में दूसरा मार्ग ही पसन्द किया, और पाउण्ड को चढ़ाकर उसकी पहली क़ीमत पर कर दिया। इस तरह उसने किसी हद तक अपने उद्योग-धन्धों को अपने बैंकरों के लिए क़ुर्बान कर दिया। असली सवाल उसके सामने और भी बड़ा था, क्योंकि उससे उसके साम्राज्य के जारी रहने पर ख़ास असर पड़ता था। अगर लन्दन दुनिया के आर्थिक नेतृत्व को खो देता है, तो साम्राज्य के मुख़्तलिफ़ हिस्से फिर उसके नेतृत्व या मदद की ख़्वाहिश न करेंगे, और धीरे-धीरे साम्राज्य टुकडे-टुकडे और तबाह होजायगा। इसलिए यह सवाल साम्राज्य की नीति का सवाल बन गया, और ब्रिटेन के कारखानों और उस वक़्त के अन्दरूनी हितों की क़ुर्बानी करके भी इस व्यापक साम्राज्यवाद की ही जीत हुई। तुम्हें याद होगा कि इसी तरह साम्राज्य-सम्बन्धी कारणों से ही महायुद्ध के बाद लंकाशायर और ब्रिटिश कारख़ानों को कुछ नुक़्सान पहुँचाकर भी ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में बडे-बडे कल-कारख़ानों और उद्योग-धन्धों को बढ़ाने का विचार किया था।

इस तरह ब्रिटेन ने अपना नेतृत्व और साम्राज्य बनाये रखने के लिए एक ज़बरदस्त कोशिश की, लेकिन यह कोशिश बडी महँगी पडी और उसका नाकामयाब होना लाज़िमी था। ब्रिटिश सरकार या कोई भी दूसरी सरकार आर्थिक व्यवस्था की अनिवार्य भावी घटनाओं पर क़ाबू नहीं रख सकती थी। अतः कुछ वक़्त के लिए तो पाउण्ड ने अपना पुराना दबदबा फिर हासिल कर लिया, लेकिन इससे उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे बिगड़ने लगे। बेकारी बढ़ने लगी, और ख़ासकर कोयले के धन्धे में तो बडी कठिनाई आई। इसकी ख़ास वजह थी पौण्ड का डिफ़्लेशन (जोकि उसका स्वर्ण-मूल्य बढ़ाने का नाम था)। कुछ दूसरे कारण भी थे। मुआवज़े की अदायगी में जर्मनी का कुछ कोयला भी ले लिया गया था, और इसका मतलब यह था कि ब्रिटेन के कोयले की ज़रूरत कम होगई, जिसका नतीजा यह हुआ कि कोयले की खानों में ज़्यादा बेकारी होगई। इस तरह ऋणदाता और विजयी देशों ने भी महसूस कर लिया कि हारे हुए देश से इस तरह का ख़िराज हासिल करना भी कोई बिलकुल सुख-ही-सुख की बात नहीं है। ब्रिटेन के कोयले के उद्योग की व्यवस्था भी बहुत ख़राब थी। यह उद्योग सैकडों छोटी-छोटी कम्पनियों में बँटा हुआ था, और योरप

महाद्वीप और अमेरिका के बडे-बडे और ज्यादा अच्छी तरह संगठित गिरोहों का आसानी से मुक़ाबिला नहीं कर सकता था।

चूँकि कोयले के उद्योग की हालत दिन-ब-दिन गिरती गई, इसलिए खानों के मालिकों ने मजदूरों की मजदूरी घटाने का फ़ैसला किया। खानों के मजदूरों ने इसकी सख्त मुख़ालफ़त की, और इसमें उन्हें दूसरे उद्योगों के मजदूरों का समर्थन भी प्राप्त होगया। खान के मजदूरों के वास्ते ब्रिटेन का सारा मजदूर-संगठन लड़ाई लड़ने को तैयार होगया, और एक 'युद्ध-समिति' बन गई। इससे पहले तीन बडे-बडे मजदूर-संघों--खान मजदूरों, रेलवें मजदूरों और ट्रान्सपोर्ट मजदूरों--के बीच एक मजबूत त्रिगुट या संगठन बना था, जिसमें कि कई लाख सुसंगठित और सीखे हुए मजदूर शामिल थे। मजदूरों के इस तेज रुख़ से सरकार डर-सी गई, और उसने खान-मालिकों को धन की मदद देकर उस संकट को आगे के लिए टाल दिया। यह मदद इसलिए दी गई कि वे एक साल तक पुराने दर से मजदूरों को मजदूरी दे सकें। एक जाँच-कमीशन भी मुकर्रर किया गया। लेकिन इस सारी कार्रवाई का भी कोई नतीजा न निकला, और दूसरे साल १९२६ में जब मालिकों ने फिर मजदूरी घटानी चाही तो संकट-काल आ खड़ा हुआ। इस बार सरकार मजदूरों से लड़ने को तैयार थी; क्योंकि उसने पिछले महीनों में इसके लिए हर तरह की तैयारी करली थी।

कोयले की खानों के मालिकों ने मजदूरों के लिए काम बन्द कर देने का निश्चय किया, क्योंकि मजदूरों नें मजदूरी में कमी करना मंजूर नहीं किया। इससे इंग्लैण्ड में फ़ौरन एक आम हड़ताल होगई, जो कि ट्रेड-यूनियन काँग्रेस की तरफ़ से की गई थी। ट्रेड-यूनियन काँग्रेस की इस आज्ञा का ख़ूब अच्छी तरह पालन किया गया, और देशभर के तमाम संगठित मजदूरों ने काम बन्द कर दिया। देश का क़रीब-क़रीब सब काम-काज बन्द होगया। रेलें नहीं चलती थीं, अख़बार नहीं छपते थे, और बहुत-से दूसरे कार्य बन्द होगये। सरकार ने स्वयंसेवकों की मदद से कुछ जरूरी कारोबार जारी रक्खे। आम हड़ताल ठीक आधी रात यानी ३-४ मई १९२६ को शुरू हुई। दस दिन के बाद ट्रेड-यूनियन कांग्रेस के नरम नेताओं ने, जिन्हें इस तरह की क्रान्तिकारी हड़ताल से कोई मुहब्बत न थी, इस बहाने पर अचानक उसे बन्द करवा दिया कि उनसे कोई अनिश्चित-सा वादा कर दिया गया है। खानों के मजदूर मुसीबत में अकेले रह गये, लेकिन फिर भी, डगमगाते हुए भी वे कई महीनों तक अपनी लड़ाई लड़ते रहे। भूख से मजबूर किये जाकर आख़िर वे हरा दिये गये। यह एक महत्वपूर्ण हार थी--न सिर्फ़ खान-मजदूरों के लिए, बल्कि आम तौर पर सभी ब्रिटिश मजदूरों के लिए। कई जगहों पर मजदूरियाँ घटाई गई, कुछ उद्योगों में काम के

विदेशी माल न आसके, और साथ ही वह अपना विदेशी व्यापार भी बढ़ाना चाहता है। आयात-निर्यात कर की ये दीवारें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को, जिसके आधार पर आजकल की दुनिया बनी है, रोकती हैं और मार देती हैं। जैसे-जैसे व्यापार कम होता जाता है, उद्योग-धंधों को नुक़सान होता है और बेकारी बढ़ती है। इसका नतीजा यह होता है कि विदेशी माल को, जिससे स्वदेश के उद्योग-धंधों में रुकावट पड़ने का ख़याल किया जाता है, रोकनें के लिए और भी जबरदस्त कोशिश की जाती है, और आयात-निर्यात करों की दीवारें और भी ऊँची कर दी जाती हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और ज्यादा नुक़सान पहुँचता है और यह दुःखदाई चक्कर चलता रहता है।

आजकल की औद्योगिक दुनिया असल में राष्ट्रीयता के दर्जे से आगे बढ़ चुकी है। माल की उत्पत्ति और विभाजन की सारी प्रणाली सरकारों और देशों के राष्ट्रीय ढाँचों के साथ मेल नहीं खाती। भीतरी वस्तु अब अपने ऊपरी छिलके से ज्यादा बढ़ने लगी है, और छिलका तड़कने लगा है।

इन आयात-निर्यात करों और व्यापारिक बाधाओं से हर देश के सिर्फ़ कुछ वर्गों को ही असल में फ़ायदा पहुँचता है, लेकिन चूँकि ये वर्ग ही अपने-अपने देशों पर हावी हैं इसलिए वे ही देश की नीति को बनाया-बिगाड़ा करते हैं। इसलिए हर देश दूसरे देशों से बढ़ने की कोशिश करता है, और नतीजा यह होता है कि सभीको नुक़सान पहुँचता है, और राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धायें और घृणायें यानी क़ौमी लाग-डाँट और नफ़रत बढ़ती जाती हैं। आपसी मतभेदों को कान्फ्रेंसें करके मिटाने की बार-बार कोशिशें की जाती हैं, और जुदा-जुदा देशों के प्रतिनिधि ऊँची-से-ऊँची सदिच्छा प्रकट करते हैं, लेकिन कामयाबी उनके पास तक भी नहीं फटकती। क्या इससे तुम्हें हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिक सवाल यानी हिन्दू-मुस्लिम-सिख समस्याओं को हल करने की कोशिशों की याद नहीं आती? शायद दोनों ही मामलों में नाकामयाबी का कारण यह है कि धारणायें ग़लत बनाली गई हैं, हेतु ग़लत समझे गये हैं, और साथ ही उद्देश्य भी ग़लत रक्खे जाते हैं।

जो वर्ग इन आयात-निर्यात करों से और आर्थिक राष्ट्रीयता को बढ़ानेवाले दूसरे तरीक़ों से—मसलन राज्य की तरफ़ से विशेष आर्थिक सहायता, रेल-किराये की ख़ास दरों वग़ैरा से—फ़ायदा उठाते हैं वे मिल्कियतदार और कारख़ानेदार वर्ग ही हैं, जिन्हें कि संरक्षण-प्राप्त स्वदेशी बाजारों से लाभ होता है। इस तरह संरक्षण और आयात-निर्यात करों के साये में स्थापित स्वार्थ निर्मित होजाते हैं, और सभी स्थापित स्वार्थों की तरह वे भी बड़े जोर के साथ हर ऐसी तब्दीली की मुख़ालिफ़त करते हैं जिससे

उनका नुक़सान होता है। यह भी इस बात की एक वजह है कि क्यों आयात-निर्यात कर एकबार शुरू होजाने पर बने ही रहते हैं, और क्यों आर्थिक राष्ट्रीयता दुनिया में चल रही है, हालांकि ज्यादातर लोग मान चुके हैं कि इससे सबका नुक़सान है। स्थापित स्वार्थों के एक बार पैदा होजानें पर उनका खात्मा करना आसान नहीं है, और किसी अकेले राष्ट्र का ऐसे मामले में आगे बढ़ना तो और भी कम आसान है। अगर सभी देश एकसाथ मिलकर आयात-निर्यात करों को खत्म करदें या बहुत हद तक घटा दें, तो शायद ऐसा हो भी सके। इसमें भी कठिनाइयाँ होंगी। ऐसा करने से औद्योगिक रूप से पिछडे हुए देशों को नुकसान पहुँचेगा, क्योंकि वे उन्नत देशों का बराबरी के आधार पर मुक़ाबिला नहीं कर सकेंगे। नये उद्योग-धंधे तो अक्सर संरक्षणात्मक कर के साये में ही खडे होते हैं।

आर्थिक राष्ट्रीयता से राष्ट्रों में आपसी व्यापार कम होता है और रुकता है। इस तरह संसार-व्यापी बाज़ार के खुलने में हानि होती है। हर राष्ट्र एकाधिकार का क्षेत्र बन जाता है, और उसका बाजार संरक्षित होजाता है; यानी खुला बाज़ार नहीं रह पाता। हर राष्ट्र के अन्दर भी एकाधिकार (मोनोपली) बढ़ जाते हैं, और खुला और उन्मुक्त बाज़ार ग़ायब होने लगता है। बडे-बडे ट्रस्ट (व्यापारियों के समूह), बडी-बडी दूकानें और बडे-बडे कारखाने छोटे उत्पादकों और दूकानदारों को निगल जाते हैं, और इस तरह प्रतियोगिता को ही ख़त्म कर देते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान और दूसरे औद्योगिक देशों में ये राष्ट्रीय एकाधिकार रखनेवाले ट्रस्ट या कम्पनियाँ भयंकर गति से बढ़ गई हैं, और इस तरह ताक़त थोडे-से ही लोगों के हाथों में जमा होगई है। पेट्रोल, साबुन, रासायनिक चीजें, शस्त्रास्त्र, लोहा, बैंकिंग, और दूसरी भी अनेक वस्तुओं में एकाधिकार क़ायम होगये हैं। इस सबका एक अजीब नतीजा होता है। वह विज्ञान की तरक़्क़ी और पूंजीवाद की बढ़ती का अनिवार्य यानी कुदरती नतीजा है, लेकिन वह इस पूंजीवाद की जड़ को ही काटता है। क्योंकि पूंजीवाद संसार-व्यापी बाज़ार और खुले बाज़ार के साथ ही शुरू हुआ था। प्रतियोगिता ही पूंजीवाद की जान थी। अगर संसार-व्यापी बाज़ार मिट जाता है और राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर भी खुले बाज़ार की प्रतियोगिता मिट जाती है तो समाज के इस पुराने पूंजीवादी ढाँचे की बुनियाद ही हट जाती है। यह तो दूसरी बात है कि अब इसकी जगह पर कौन-सी समाज-व्यवस्था आयगी, लेकिन मालूम होता है कि पुरानी समाज-व्यवस्था इन एक-दूसरे की विरोधी प्रवृत्तियों को रखती हुई ज्यादा दिन चल नहीं सकती।

विज्ञान और औद्योगिक प्रगति मौजूदा सामाजिक प्रणाली से बहुत आगे पहुँच चुकी हैं। वे भोजन और जिन्दगी की अच्छी चीजें बहुत ज्यादा पैदा करती हैं और

पूँजीवाद यह नहीं जानता कि इन चीज़ों का क्या उपयोग किया जाय ! बल्कि वह अक्सर इन चीज़ों को बर्बाद करने या उनकी उत्पत्ति कम करने लगता है। और इस तरह हम यह असाधारण दृश्य देखते हैं कि प्रचुरता और दरिद्रता यानी ख़ुशहाली और ग़रीबी साथ-ही-साथ मौजूद हैं। अगर आधुनिक विज्ञान और उत्पत्ति के साधनों के लायक़ यह पूँजीवाद नहीं है, तो कोई दूसरा तरीक़ा ढूंढ़ना होगा जो विज्ञान के ज्यादा अनुकूल हो। वरना, दूसरा रास्ता यह है कि विज्ञान का ही गला घोट दिया जाय और उसे आगे बढ़ने से रोक दिया जाय। लेकिन ऐसा करना तो बेवक़ूफ़ी होगी, और, कुछ भी हो, उसका तो ख़याल करना ही मुश्किल है।

जब आर्थिक राष्ट्रीयता मौजूद है, जब एकाधिकारों और क़ौमी लाग-डांट की बढ़ती हो रही है, और जब दम तोड़ते हुए पूंजीवाद के दूसरे दोष मौजूद हैं, तो सारी दुनिया में गड़बडी मची हो तो इसमें ताज्जुब की बात कौन-सी है ? आजकल का साम्राज्यवाद ख़ुद भी इस पूँजीवाद का एक रूप है, क्योंकि हर साम्राज्यवादी ताक़त दूसरी जातियों का ख़ून चूसकर अपने क़ौमी सवालों को हल करना चाहती है। इससे फिर साम्राज्यवादी ताक़तों में लाग-डांट और कशमकश पैदा होती हैं। आजकल इस उलटी दुनिया में हर बात का नतीजा संघर्ष ही होता है !

मैंने तुम्हें यह बताते हुए इस ख़त को शुरू किया था कि महायुद्ध के बाद मुद्रा-प्रणाली में अजीब गड़बडी पैदा होगई थी। क्या हम मुद्रा-प्रणाली को दोष दे सकते हैं, जबकि और भी तमाम बातों में बेहद गड़बडी हो गई है ?

: १७४ :

दाँव और घात

१८ जून, १९३३

मेरे पिछले दो ख़त आर्थिक और मुद्रा-सम्बन्धी सवालों की बाबत थे। ये विषय बडे रहस्यपूर्ण यानी भेद से भरे हुए और समझने में कठिन माने जाते हैं। यह तो सच है कि वे आसान नहीं हैं, और उनपर बहुत ज्यादा ग़ौर करने की जरूरत पड़ती है, लेकिन फिर भी वे बहुत भयंकर नहीं हैं और उन विषयों की बाबत रहस्यपूर्णता का वातावरण बन जाने के लिए कुछ हदतक अर्थशास्त्री और विशेषज्ञ लोग भी जिम्मेदार हैं। पुराने जमाने में रहस्यपूर्ण बातों का ठेका धर्माधीशों के पास रहता था, और वे तरह-तरह के क़ायदों और रस्म-रिवाजों के जरिये, जो अक्सर किसी ऐसी पुरानी जबान में पूरी की जाती थीं जिन्हें कोई नहीं समझता था, और यह

दिखलाकर कि अदृष्ट शक्तियों से उनका सम्बन्ध है, अपनी इच्छा के मुताविक़ अज्ञान जनता को चलाया करते थे। आजकल धर्माधीशों की ताक़त बहुत कम होगई है, और औद्योगिक देशों में तो क़रीब-क़रीब बिलकुल ही नहीं रही। धर्माधीशों की जगह अब विशेषज्ञ, अर्थशास्त्री और बैंकर और ऐसे ही दूसरे लोग पैदा होगये हैं, जो गूढ़ भाषा में, जिसमें ज्यादातर शब्द पारिभाषिक होते हैं, बात करते हैं, जिसे मामूली लोगों का समझना मुश्किल होता है। इस तरह औसत आदमी को इन सवालों को तय करने का काम इन विशेषज्ञों पर छोड़ देना पड़ता है। लेकिन विशेषज्ञ लोग, जान में या अनजान में, शासकवर्गों के ही साथ जुड़ जाते हैं, और उनके ही हितों को फ़ायदा पहुँचाते हैं। फिर विशेषज्ञों में मतभेद भी होता है।

इसलिए यह अच्छा है कि हम सब इन आर्थिक सवालों को, जो आजकल राज-नीति और दूसरी भी सारी बातों पर हावी मालूम होते हैं, कुछ-कुछ समझ लेने की कोशिश करें। इन्सान को कई तरह से वर्गों और श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक बँटवारा इस तरह भी हो सकता है कि इन्सान दो श्रेणी के हैं: एक तो ज़माने की लहर के साथ बहनेवाले, जिनकी अपनी कोई इच्छा-शक्ति नहीं होती और जो पानी की सतह पर पड़े हुए तिनके की तरह अपनेआपको इधर-उधर बह जाने देते हैं, और दूसरे वे लोग जो जिन्दगी में ज़ोरदार अभिनय करते हैं और परिस्थिति पर असर डालते हैं। दूसरे वर्ग के लोगों के लिए ज्ञान और समझ ज़रूरी है; क्योंकि कोई भी कारगर काम इनके आधार पर ही हो सकता है। सिर्फ़ सद्भावना या सदिच्छाओं से ही काम नहीं चल सकता। जब कभी कोई क़ुदरती मुसीबत या महामारी या सूखा पड़ जाता है या और कोई भी कष्ट आजाता है तो सिर्फ़ हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि योरप में भी अक्सर देखा जाता है कि लोग कष्ट दूर करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। अगर ईश्वर की प्रार्थना से उनकी आत्मा को तसल्ली मिलती है और विश्वास और हिम्मत पैदा होती है तो वह अच्छी चीज़ है और उसपर किसीको एतराज़ करने की ज़रूरत नहीं। लेकिन प्रार्थना से महामारी मिट जायगी, इस ख़याल के बदले अब यह वैज्ञानिक विचार पैदा होता जा रहा है कि बीमारियों के मूल कारणों को सफ़ाई और दूसरे तरीक़ों से दूर करना चाहिए। अगर कारख़ाने की मशीनों में कोई टूट-फूट होजाय, या गाड़ी के टायर में सूराख़ होजाय, तो ऐसा नहीं देखा जायगा कि लोग बैठे रहें या प्रार्थना करते रहें और सिर्फ़ आशा, सदिच्छा या प्रार्थना करते रहें, कि वह टूट-फूट अपने-आप दुरुस्त हो जाय, या सूराख़ खुद जुड़ जाय। वे काम करना और मशीन और टायर को सुधारना शुरू कर देते हैं, और फ़ौरन ही मशीन फिर चलने लगती है और गाड़ी सड़क पर दौड़ने लगती है।

इसी तरह मानवीय और सामाजिक मशीन में भी सदिच्छा के अलावा हमें उसकी अच्छी वाक़फ़ियत और उसकी ताक़तों का ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान निश्चित तो प्रायः नहीं होता, क्योंकि उसका ताल्लुक़ मनुष्य की इच्छाओं, आकांक्षाओं, रुचि-अरुचियों और आवश्यकताओं-जैसी अनिश्चित चीज़ों से होता है, और जब आम लोगों या तमाम समाज या मुख़्तलिफ़ वर्गों के मनुष्यों का हम विचार करते हैं तो ये चीज़ें और अनिश्चित होजाती हैं। लेकिन अध्ययन और अनुभव और निरीक्षण से इस अनिश्चित गिरोह या जमघट में भी धीरे-धीरे व्यवस्था आने लगती है, और ज्ञान बढ़ता है, और उसके साथ अपनी परिस्थिति को बनाने या सम्हालने की हमारी योग्यता भी बढ़ती है।

अब मैं महायुद्ध के बाद के इन वर्षों में योरप के राजनैतिक पहलू के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। पहली बात, जो ख़ास तौर पर दिखाई देती है, यह है कि महाद्वीप यानी योरप इन तीन हिस्सों में बँट गया था—महायुद्ध में जीतनेवाले राष्ट्र, महायुद्ध में हारनेवाले राष्ट्र, और सोवियट रूस। नार्वे, स्वीडन, हालैण्ड और स्वीज़रलैण्ड-जैसे भी कुछ छोटे-छोटे देश थे जो इन तीनों हिस्सों में से किसीमें भी न आते थे, लेकिन बृहत्तर राजनैतिक दृष्टिकोण से उनका कोई ख़ास महत्त्व नहीं था। हाँ, सोवियट रूस श्रमिकों की सरकार बनाकर अकेला अलग ही था, और विजयी शक्तियों को हमेशा खटकता रहता था। यह खटक सिर्फ़ इसलिए नहीं थी कि उसकी शासन-प्रणाली ऐसी थी जिससे कि दूसरे देशों के श्रमिकों को क्रान्ति की प्रेरणा मिलती थी, बल्कि इसलिए भी थी कि वह विजयी शक्तियों की पूर्व-देशीय योजनाओं में अडंगा डालता था। मैंने तुम्हें रूस में विदेशी ताक़तों की लड़ाइयों का हाल पहले बताया है, जिनमें कि सन् १९१९ और १९२० में इन विजयी राष्ट्रों में से ज्यादातर राष्ट्रों ने सोवियट शासन को कुचल डालने की कोशिश की थी। फिर भी सोवियट रूस तो जिन्दा ही रहा, और योरप की साम्राज्यवादी ताक़तों को उसकी हस्ती बर्दाश्त करनी पडी, लेकिन यह भी किया उन्होंने कम-से-कम सदिच्छा या गौरव के साथ ही। ख़ासकर इंग्लैण्ड और रूस की पुरानी लाग-डांट, जोकि ज़ारशाही ज़माने से चली आ रही थी, फिर भी जारी रही, और उससे कई बार ऐसी सनसनी, अन्देशे और वाक़आत पैदा होजाते थे, जिनसे लड़ाई छिड़ जाने का डर होजाता था। सोवियट-रूस को विश्वास होगया था कि इंग्लैण्ड उसके ख़िलाफ़ हमेशा साज़िश करता रहता है और योरप में सोवियट-विरोधी संगठन खड़ा कर रहा है। कई बार लड़ाई का ख़ौफ़ भी पैदा होजाता था।

पश्चिमी और मध्य योरप में जीते और हारे हुए देशों के बीच का फ़र्क़ बहुत

ज्यादा नजर आता था, और फ़्रांस विजय की भावना को ख़ास तौर पर जाहिर करता था। कुदरती तौर पर हारे हुए मुल्क सुलहनामों की कई शर्तों से असन्तुष्ट थे, और हालांकि वे कुछ नहीं कर सकते थे फिर भी भविष्य में तब्दीली के सपने देखा करते थे। आस्ट्रिया और हंगरी बड़ी मुसीबत में थे; उनकी हालत और भी बिगड़ती हुई मालूम होती थी। दूसरी तरफ़, युगोस्लेविया सर्विया का ही बढ़ा हुआ रूप था, और वह कई बेमेल वर्गों और जातियों का एक समूह बन गया था। उसके मुख़्तलिफ़ हिस्सों को एक-दूसरे से ऊब उठने और आपस में जुदा हो जाने की प्रवृत्ति से भर जाने में ज्यादा वक़्त न लगा। ख़ासकर क्रोशिया में (जो अब युगोस्लेविया का एक सूबा है) आजादी का एक ज़ोरदार आन्दोलन चल रहा है, और इसे सर्वियन सरकार ने ज़ोर-जबरदस्ती से दबाने की कोशिश की है। पोलैण्ड नक़्शे पर अब काफ़ी बड़ा होगया है, लेकिन उसके साम्राज्यवादी लोग दक्षिण में काले समुद्र तक फैल जाने के और इस तरह सन् १७७२ की पुरानी पोलिश सरहद फिर से क़ायम करने के ग़ैरमामूली सपने देखते हैं। आजकल तो पोलैण्ड में रूसी यूक्रेन का एक हिस्सा भी शामिल है। इसे तरह-तरह के जुल्म, मौत की सजाओं, और बर्बरतापूर्ण दमन के आतंक से 'शान्त करने' या 'पोलिश बनाने' की कोशिश कीगई है, और अब भी की जा रही है। ये आग के कुछ छोटे-छोटे-से ढेर हैं जो पूर्वीय योरप में सुलग रहे हैं। इनका महत्व इस कारण है कि इस आग के ज्यादा बढ़ जाने का अन्देशा है।

राजनैतिक रूप में, और उपयोगिता की दृष्टि से भी, महायुद्ध के बाद के जमाने में योरप में फ़्रांस ही प्रमुख राष्ट्र होगया था। वह जो कुछ चाहता था, प्रदेश या राज्य के रूप में और मुआवज़े के इक़रार की शक्ल में उसे ज्यादातर मिल गया था, लेकिन फिर भी वह सुखी न था। एक बड़ी दहशत हमेशा उसके सिर पर सवार थी, कि कहीं जर्मनी फिर उससे लड़ने लायक़ मजबूत न बन जाय, और कहीं उसे हरा न दे। इस दहशत का ख़ास सबब यह था कि जर्मनी की आबादी उससे बहुत ज्यादा थी। फ़्रांस का मुल्क असल में जर्मनी से बड़ा है, और शायद उपजाऊ भी ज्यादा है। फिर भी फ़्रान्स की आबादी ४१० लाख से कम है, और स्थायी-सी है। लेकिन जर्मनी की आबादी ६२० लाख से ज्यादा है, और बढ़ती जा रही है। जर्मन लोग हमलावर और लड़ाकू भी मशहूर हैं और इसी पीढ़ी के सामने वे दो बार फ़्रांस पर हमला भी कर चुके हैं।

इसलिए फ़्रांस पर जर्मनी द्वारा बदला लिये जाने का भय हमेशा सवार रहा, और उसकी सारी नीति की बुनियाद और ख़ास उसूल 'सुरक्षितता' यानी उसने जो कुछ हासिल कर लिया है उसे बनाये और बचाये रखने की सुरक्षितता ही रहा है।

फ़्रांस की सैनिक प्रमुखता के ही सब से वे सब देश दबे रहते थे, जो वर्साई की सन्धि से असन्तुष्ट थे, क्योंकि इस सन्धि को बनाये रखना फ़्रांस की सुरक्षितता के लिए जरूरी समझा जाता था। अपनी स्थिति को और भी मजबूत करने के लिए फ़्रांस ने ऐसे राष्ट्रों का एक गुट बना लिया जो वर्साई-सन्धि को बनाये रखने में दिलचस्पी लेते थे। ये देश थे---बेलजियम, पोलैण्ड, जेकोस्लोवेकिया, रूमानिया और युगोस्लेविया।

इस तरह फ़्रांस ने योरप में अपना नेतृत्व क़ायम कर लिया। यह इंग्लैण्ड को पसन्द न आया, क्योंकि इंग्लैण्ड नहीं चाहता कि उसके सिवा कोई दूसरी ताक़त योरप में हावी होजाय। इंग्लैण्ड के दिल में अपने दोस्त फ़्रांस के लिए जो मुहब्बत और मित्रता थी उसमें बडी कमी आगई; इंग्लैण्ड के अख़बारों में फ़्रांस को खुदग़र्ज़ और संगदिल कहा जानें लगा, और पुराने दुश्मन जर्मनी के लिए मित्रतापूर्ण शब्द इस्तेमाल किये जाने लगे। इंग्लैण्ड के लोग कहने लगे कि इंसान को पुरानी बातों को भूल जाना और माफ़ कर देना चाहिए, और लड़ाई के दिनों को याद कर शान्ति के दिनों में बर्ताव नहीं करना चाहिए। ये कैसी ऊँची भावनायें थीं! और अंग्रेजी दृष्टिकोण से तो दोहरी प्रसंसनीय थीं, क्योंकि ये अंग्रेजी नीति से मेल भी खा जाती थीं। एक इटैलियन राजनीतिज्ञ काउण्ट स्फ़ोरजा ने कहा है कि "ब्रिटिश जाति को दयालु ईश्वर ने यह महान् वरदान दे रक्खा है कि इंग्लैण्ड को जिस बात में कोई राजनैतिक फ़ायदा होता हो, या ब्रिटिश सरकार जो कोई राजनैतिक कार्रवाई करे, उसे सभी वर्ग ऊँचे-से-ऊंचे नैतिक कारणों से उचित सिद्ध करें।"

१९२२ के शुरू से यूरोपियन राजनीति में इंग्लैण्ड और फ़्रांस की कशमकश एक स्थायी चीज होगई है, और वह तबसे चल ही रही है। जाहिरा तौर पर तो दोनों तरफ़ के लोग आपस में हँसकर मिलते हैं, शिष्टता के शब्द कहते हैं, और उनके राजनीतिज्ञ और प्रधानमन्त्री अक्सर मिला करते और साथ-साथ फ़ोटो भी खिचवाते हैं; लेकिन दोनों सरकारें अक्सर एक-दूसरे से भिन्न दिशाओं में ही जाती हैं। १९२२ में जब जर्मनी अपनी क़िस्त की अदायगी न कर सका, तो इंग्लैण्ड रूर प्रदेश पर मित्र-राष्ट्रों के दख़ल करलेने के हक़ में न था। लेकिन फ़्रांस ने इंग्लैण्ड की परवा न करते हुए अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ अमल किया। इंग्लैण्ड ने इसमें कोई हिस्सा न लिया।

एक और पुराना मित्र फ़्रांस से अलग होगया, और दोनों देशों में हमेशा कशमकश होने लगी। इसका कारण था १९२२ में मुसोलिनी का सत्ता प्राप्त कर लेना, और उसकी साम्राज्यवादी आकांक्षायें, जिनमें फ़्रांस बाधा डालता था। मुसोलिनी और फैसिज्म का हाल मैं तुम्हें अपने अगले ख़त में बताऊँगा।

महायुद्ध के बाद के वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य में उसके छिन्न-भिन्न होने की भी कुछ प्रवृत्तियाँ नजर आईं। दूसरे खतों में भी मैंने इस सवाल के कुछ पहलुओं पर वहस की है। यहाँ मैं सिर्फ़ एक पहलू का जिक्र करूँगा। आस्ट्रेलिया और कनाडा दोनों ही अमेरिका के सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव में अधिक-अधिक आने लगे थे, और इन तीनों देशों में जो एक सामान्य बात थी वह है--जापानियों से, खासकर जापानियों के अपने देश में बसनें से, नाराजी। आस्ट्रेलिया को तो इससे खास खतरा है, क्योंकि उसमें ग़ैर-आवाद जगह बहुत पड़ी है और जापान दूर नहीं है और उसकी आवादी भी बहुत बढ़ती जा रही है। न तो इंग्लैण्ड के ये दोनों उपनिवेश और न संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही इंग्लैण्ड की जापान से दोस्ती पसन्द करते थे। इंग्लैण्ड अमेरिका को खुश रखना चाहता था, क्योंकि ऋणदाता की हैसियत से और दूसरी तरह भी अमेरिका दुनिया में प्रमुख होता जाता था, और साथ ही वह अपना साम्राज्य भी जवतक चल सके तबतक चलाये रखना चाहता था। इसलिए उसने १९२२ में वाशिंगटन कान्फ़रेन्स में जापान की दोस्ती को क़ुरबान कर दिया। मैंने चीन पर जो पिछला खत लिखा था उसमें तुम्हें इस कान्फ्रेंस की बाबत लिखा था। वहींपर चार राष्ट्रों का समझौता (Four Power Agreement) और नौ राष्ट्रों की सन्धि (Nine Power Treaty) हुई थी। इन सन्धियों का चीन और पैसिफिक समुद्र-तट से ताल्लुक़ था, लेकिन सोवियट रूस को, जिसका इनसे जीवन-मरण का सम्बन्ध था, उसके विरोध करने पर भी बुलाया नहीं गया।

इस वाशिंगटन कान्फरेन्स से इंग्लैण्ड की पूर्वीय नीति में फ़र्क़ शुरू होता है। अभीतक तो इंग्लैण्ड 'सुदूर-पूर्व' (Far East) में, और जरूरत हो तो हिन्दुस्तान में भी, जापान से मदद लेनें का भरोसा रखता था। लेकिन अब दुनिया के मामलों में 'सुदूर-पूर्व' एक बड़ा जरूरी हिस्सा बनता जा रहा था, और वहाँ मुख्तलिफ़ मुल्कों के स्वार्थों में कशमकश भी थी। चीन उठ रहा था, या उठता-सा दिखाई देता था, और जापान और अमेरिका एक-दूसरे के ज्यादा ख़िलाफ़ होते जा रहे थे। कई लोगों का ख़याल था कि अगला महायुद्ध खासकर पैसिफ़िक (प्रशान्त) महासागर में होगा। जापान और अमेरिका दोनों के बीच में इंग्लैण्ड अमेरिका के पक्ष में ढल गया, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि उसने जापान का पक्ष छोड़ दिया। उसकी नीति थी वग़ैर निश्चित इक़रार किये हुए ताक़तवर और दौलतमन्द अमेरिका से दोस्ती जरूर बनाये रखना। जापानी दोस्ती खत्म कर देनें के बाद इंग्लैण्ड ने 'सुदूर-पूर्व' के भावी संभावित युद्ध के लिए तैयारी शुरू करदी। उसने सिंगापुर में बहुत बडे और ख़र्चीले 'डाक' बनवाये, और इस मुक़ाम को जहाज़ी बेड़े का जबरदस्त अड्डा बना दिया। इस जगह से

इंग्लैण्ड हिन्द-महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच होनेवाले आवागमन पर नियन्त्रण रख सकता है। एक तरफ़ तो वह हिन्दुस्तान और बरमा पर हावी रह सकता है, और दूसरी तरफ़ फ़्रांस और हालैण्ड के मातहत देशों पर भी हावी हो सकता है; और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह प्रशान्त महासागर के युद्ध में कारगर और जबरदस्त हिस्सा ले सकता है, चाहे वह जापान के ख़िलाफ़ हो या और किसी ताक़त के ख़िलाफ़ हो।

१९२२ में वाशिंगटन में इंग्लैण्ड और जापान का गुट टूट जाने से जापान अकेला रह गया। मजबूरन जापानियों को रूस की तरफ़ नज़र दौड़ानी पड़ी, और वे सोवियट राज्यों से अच्छे ताल्लुक़ात क़ायम करने लगे। तीन साल बाद, जनवरी १९२५ में, जापान और सोवियट यूनियन के बीच एक सन्धि होगई।

महायुद्ध के बाद कुछ साल तक जर्मनी के साथ विजयी शक्तियों ने जाति-बहिष्कृत का-सा बर्ताव किया। इन शक्तियों से ज्यादा हमदर्दी न पाकर, और इन्हें कुछ डरा देने की निगाह से, वह सोवियट रूस की तरफ़ मुड़ा और उससे अप्रैल १९२२ में एक सन्धि—रेपैलो की सन्धि—करली। सन्धि की बातचीत गुप्त रूप से की गई थी, और इसलिए जब सन्धि प्रकाशित की गई तो मित्र-राष्ट्रों को धक्का-सा लगा। ख़ासकर ब्रिटिश सरकार तो बहुत घबरा गई, क्योंकि इंग्लैण्ड के शासक-वर्ग सोवियट सरकार को बहुत ज्यादा नापसन्द करते थे। दरअसल इसी अनुभव ने कि अगर जर्मनी के साथ अच्छा बर्ताव न किया गया और उसे मनाया न गया तो वह रूस से मिल जायगा, जर्मनी के प्रति अंग्रेज़ों की नीति में तब्दीली पैदा करदी। वे जर्मनी की तकलीफ़ों को ख़ूब महसूस करने लगे, और उन्होंने कई तरह से ग़ैर-सरकारी तरीक़े पर जर्मनी को मदद पहुँचाने की इच्छा प्रकट की। वे रूर-प्रदेश की दख़लयाबी से भी दूर रहे। यह सब कुछ जर्मनी की मुहब्बत के सबब से नहीं किया गया, बल्कि इस ख़्वाहिश से किया गया कि जर्मनी रूस से अलग बना रहे, और सोवियट-विरोधी गुट में शामिल रहे। कुछ साल तक अंग्रेज़ों की नीति की यही कसौटी रही, और १९२५ में लोकार्नो में उन्हें कामयाबी भी मिल गई। लोकार्नो में राष्ट्रों की एक कान्फरेन्स की गई, और महायुद्ध के बाद पहली बार विजयी शक्तियों और जर्मनी में कुछ बातों में असली मेल हुआ, जो कि निस्सन्देह एक सुलहनामे की शक्ल में लिख लिया गया। पूरा मेल तो हुआ ही नहीं था; मुआवज़े का जबरदस्त सवाल और दूसरे सवाल बाक़ी ही रहे। लेकिन एक अच्छी शुरुआत होगई थी और कई आपसी आश्वासन और वादे किये गये। जर्मनी ने वर्साई-सन्धि में बताई हुई अपनी पश्चिम की फ़्रेंच सीमा कोमंज़ूर कर लिया; लेकिन पूर्वीय सीमा को, और उसके साथ समुद्र से मिले हुए पोलैण्ड के करडोर को, उसने तयशुदा

मान लेने से इन्कार कर दिया। हाँ, उसने यह वादा किया कि इसको बदलवाने के लिए वह सिर्फ़ शान्तिपूर्ण उपाय ही काम में लायगा। अगर एक भी फ़रीक़ समझौते को भंग करे तो बाक़ी सबने मिलकर उसका मुक़ाबिला करने का इक़रार किया।

लोकार्नो की सन्धि अंग्रेज़ी नीति की सफलता थी। इस सन्धि से ब्रिटेन किसी हद तक फ़्रांस और जर्मनी के बीच पंच बन गया, और इससे जर्मनी रूस से भी अलग कर लिया गया। लोकार्नो का ख़ास महत्व इस बात में है कि इसमें पश्चिमी योरप के राष्ट्र एक सोवियट-विरोधी गुट की शक्ल में आगये। इससे रूस भयभीत होगया और कुछ ही महीनों में उसने तुर्की के साथ सन्धि करके इसका जवाब दे दिया। यह रूसी-तुर्की सन्धि दिसम्बर १९२५ में, मोसल के ख़िलाफ़ राष्ट्र-संघ द्वारा फ़ैसला होने के, जो कि तुर्की के ख़िलाफ़ था, ठीक दो दिन बाद ही हुई। सितम्बर १९२६ में (जब कि हम लोग इत्तफ़ाक़ से जेनेवा में थे और तुम इकोल इन्टरनेशनल में अपने छोटे-छोटे पैरों से चलकर पहुँच जाया करती थीं) जर्मनी राष्ट्र-संघ में दाख़िल होगया। लोग आपस में ख़ूब गले मिले, हाथ मिलाये, और राष्ट्र-संघ के सभी लोगों नें प्रसन्नता की मुस्कराहट से एक-दूसरे को बधाई दी।

इस तरह यूरोपियन राष्ट्रों में, जो अक्सर अपनी आन्तरिक नीतियों से प्रभावित रहते थे, एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दाँव और घात चलते रहे। इंग्लैण्ड में दिसम्बर १९२३ में आम चुनाव हुआ और उसमें अनुदार दल की हार हुई, और पार्लमेण्ट में मज़दूर दल नें, हालाँकि उसका साफ़ बहुमत न था, पहली बार मन्त्रि-मण्डल बनाया। रैम्ज़े मैकडानल्ड प्रधानमन्त्री हुआ। यह सरकार सिर्फ़ साढ़े नौ महीने ही जिन्दा रही। फिर भी इस अर्से में उसने सोवियट रूस से समझौता कर लिया, और दोनों देशों में राजनैतिक और व्यापारिक ताल्लुक़ात क़ायम कर लिये गये। अनुदार लोग सोवियट राज्यों को ज़रा भी मानने के ख़िलाफ़ थे, और ब्रिटेन के अगले आम चुनाव में, जो कि पिछले चुनाव के एक साल के अन्दर हुआ, रूस का बहुत ज्यादा ज़िक्र आया। इसका कारण यह था कि अनुदार लोगों ने चुनाव में एक ख़ास पत्र को, जो ज़िनोवीर पत्र के नाम से मशहूर है, अपना ख़ास मोहरा बना लिया था। मैं अब भूल गया हूँ कि इस पत्र में क्या लिखा था, लेकिन स्पष्टतः उसमें कोई साज़िश करने की बात सूचित की गई थी, और बताया गया था कि इंग्लैण्ड में ख़ुफ़िया तौर से कुछ कार्रवाइयाँ करनी चाहिएँ। जिनोवीर सोवियट सरकार का एक प्रमुख बोलशेविक था। उसने उस ख़त से बिलकुल इन्कार किया और कहा कि वह बनावटी होगा। फिर भी अनुदार लोगों नें उस पत्र का पूरा दुरुपयोग किया, और कुछ-कुछ उसकी मदद से ही चुनाव जीत लिया। अब एक अनुदार सरकार क़ायम हुई और प्रधानमन्त्री स्टैनली बाल्डविन बना। इस सर-

कार से बार-बार कहा गया कि वह जिनोवीरं पत्र की सचाई या झूठ की जाँच कराये; लेकिन उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वर्लिन में बाद के रहस्योद्घाटन से मालूम हुआ कि वह एक जाली खत था, जो एक 'सफ़ेद' रूसी व्यक्ति यानी एक बोलशेविक-विरोधी प्रवासी रूसी ने बनाया था। लेकिन इस जालसाज़ी ने इंग्लैण्ड में अपना काम पूरा कर दिया, और एक सरकार को हटाकर दूसरी क़ायम करदी। ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर असर पड़ जाया करता है!

नई अनुदार सरकार ने रूस से फ़ौरन ताल्लुक़ात नहीं तोडे। वह उससे जाहिरा तौर पर सम्बन्ध बनाये रही, लेकिन व्यवहार में हमेशा नाराजगी जाहिर करती और नुक़्स निकालती रही और इसमें शक नहीं कि अन्दर-ही-अन्दर बहुत-सी साजिशें भी होती रहीं। जिस उदारता से रूस के मजदूरों ने १९२६ की ब्रिटिश खान-मजदूरों की बडी लड़ाई में मदद पहुँचाई, उससे तो वाल्डविन की सरकार बहुत ज्यादा खीझ गई। बाद में उसी साल एक नई बात से, जो कि इस बार 'सुदूर पूर्व' में हुई, उसे और भी ग़ुस्सा आया। अचानक चीन में एक मजबूत संयुक्त राष्ट्रीय सरकार पैदा होगई, और सोवियट सरकार से उसकी बडी गहरी दोस्ती मालूम हुई। कई महीनों तक चीन में अंग्रेज बडी मुश्किलों में रहे, और उन्हें अपने रौब और दबदबे में होनेवाली कमी को बर्दाश्त करना पड़ा, साथ ही और भी कई ऐसे काम करने पडे जिन्हें वे नापसन्द करते थे। इसके बाद चीन के आन्दोलन में, कुछ समय की कामयाबी के बाद, फूट पड़ गई और वह टुकडों में बँट गया। जनरलों यानी सेनापतियों ने आन्दोलन के उग्र विचार वाले व्यक्तियों का क़त्ले-आम किया या उन्हें निकाल दिया, और शंघाई के विदेशी बैंकरों का सहारा लेना ही ज्यादा पसन्द किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में रूस की एक बडी हार थी और इससे चीन में तथा दूसरे देशों में रूस की इज्जत बहुत कम होगई। इंग्लैण्ड के लिए यह एक जीत थी, और उसने सोवियट को हार का और भी अनुभव कराकर इस मौक़े को और भी अच्छा बनाने की कोशिश की। सोवियट-विरोधी गुट फिर संगठित किया गया और रूस को चारों तरफ़ से घेर लेने की कोशिश की गई।

क़रीब १९२७ के बीच में दुनिया के मुख़्तलिफ़ हिस्सों में कई जगह सोवियट के ख़िलाफ़ कार्रवाई की गई। अप्रैल १९२७ में एक ही दिन पेकिंग के सोवियट राजदूतावास पर और शंघाई के सोवियट प्रतिनिधि के स्थान पर हमले किये गये। इन प्रदेशों पर चीन की दो जुदा-जुदा सरकारों का नियन्त्रण था, लेकिन इस मामले में दोनों ने एक साथ कार्रवाई की। राजदूतावास पर हमला होना और राजदूत का अपमान होना एक बडी ग़ैर-मामूली बात होती है; क़रीब-क़रीब लाजिमी तौर पर इससे युद्ध छिड़ जाता है। रूस का विश्वास था कि इंग्लैण्ड और दूसरी सोवियट-विरोधी

शक्तियों ने चीन की सरकारों से ऐसी कार्रवाई करवाई, जिससे कि रूस को युद्ध में पड़ना पड़े। लेकिन रूस ने लड़ाई न की। एक महीने बाद, मई १९२७ में, एक और ग़ैरमामूली हमला रूसी व्यापारी कार्यालयों पर किया गया, और इस बार यह लन्दन में हुआ। यह 'आरकस-रेड' कहलाता है, क्योंकि इंग्लैण्ड में रूस की सरकारी व्यापारी कम्पनी का नाम 'आरकस' था। यह भी दूसरे राष्ट्र का एक बड़ा भारी और, जैसा कि घटना से साबित हुआ, एक बिलकुल अनुचित अपमान था। इसके बाद फ़ौरन ही दोनों देशों में राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध टूट गये। इसके अगले माह जून में वारसा में पोलैण्ड में रहनेवाले सोवियट राजदूत का क़त्ल कर दिया गया। (चार साल पहले लोसेन में रोम का सोवियट राजदूत मार दिया गया था।) इन सब वाक़आत के एक-के-बाद-एक जल्दी-जल्दी होने से रूस के लोगों को डर होगया, और उन्हें पूरी उम्मीद होगई कि साम्राज्यवादी राष्ट्र सब मिलकर उनपर हमला करेंगे। रूस में युद्ध का ज़बरदस्त आतंक फैल गया और पश्चिमी योरप के कई देशों में मजदूरों ने रूस के पक्ष में, और नजर आनेवाले युद्ध के ख़िलाफ़, प्रदर्शन किये। लेकिन यह डर निकल गया और युद्ध नहीं हुआ।

उसी साल, १९२७ में, रूस ने बडे पैमाने पर बोलशेविक क्रान्ति का दसवाँ वार्षिकोत्सव मनाया। उस वक़्त इंग्लैण्ड और फ्रांस रूस के बहुत ख़िलाफ़ थे, लेकिन पूर्वीय देशों से रूस की दोस्ती का इज़हार इसी बात से होता था कि उस उत्सव में ईरान, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान और मंगोलिया से आये हुए सरकारी प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था।

जब योरप और दूसरे स्थानों पर ये सनसनियाँ और युद्ध की तैयारियाँ चल रही थीं, उसी वक़्त निःशस्त्रीकरण के बारे में बहुत-सी बातचीत भी हो रही थी। राष्ट्र-संघ के कवेनेण्ट (इक़रारनामे) में यह बात लिखी हुई थी कि "इस संघ के मेम्बर मानते हैं कि शान्ति क़ायम रखने के लिए ज़रूरी है कि अपने-अपने राष्ट्र की सुरक्षितता रखते हुए हरेक राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों में ज्यादा-से-ज्यादा कमी की जाय, और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों पर सब एकसाथ मिलकर अमल करें।" इस ऊँचे उद्देश्य को लिख देने के अलावा राष्ट्र-संघ नें उस वक़्त और कुछ नहीं किया, लेकिन उसने अपनी कौंसिल को हिदायत दी कि वह इस मामले में आगे कार्रवाई करे। जर्मनी और दूसरी हारी हुई ताक़तें तो संधियों के मुताबिक़ निःशस्त्र कर ही दी गई थीं। जीतने वाले मुल्कों ने वादा किया था कि हम भी इसके बाद अपना निःशस्त्रीकरण कर देंगे, लेकिन बार-बार कान्फ़रेन्सें करने के बाद भी कोई ठोस नतीजा नहीं निकला। यह कोई ताज्जुब की भी बात नहीं थी, क्योंकि हर राष्ट्र ऐसा निःशस्त्रीकरण चाहता था

जिसके हो जाने पर वह दूसरे राष्ट्रों की बनिस्बत जोरदार बना रहे; और इसे कोई भी दूसरा राष्ट्र मंजूर न करता था। फ़्रांसीसी हमेशा इस माँग पर अड़े कि निःशस्त्रीकरण से पहले सुरक्षितता होजानी चाहिए।

बड़ी शक्तियों में से न तो अमेरिका और न सोवियट यूनियन ही राष्ट्र-संघ के मेम्बर थे। दरअसल सोवियट यूनियन तो समझता था कि राष्ट्र-संघ एक मुक़ाबिले का और विरोधी प्रदर्शन है, सोवियट यूनियन के ख़िलाफ़ खड़ा किया हुआ पूँजीवादी ताक़तों का गिरोह है। सोवियट यूनियन ही ख़ुद एक राष्ट्र-संघ समझा जाता था (जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य को भी बताया जाता है), क्योंकि उसमें भी कई प्रजातंत्र संघ-रूप में शामिल थे। पूर्वीय जातियाँ भी राष्ट्र-संघ को सन्देह की निगाह से देखती थीं, और उसे साम्राज्यवादी शक्तियों का एक हथियार मानती थीं। फिर भी अमेरिका, रूस और क़रीब-क़रीब सभी मुल्कों ने राष्ट्र-संघ की कान्फ़रेन्सों में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने में हिस्सा लिया। १९२६ में या शायद १९२७ के शुरू में राष्ट्र-संघ ने एक 'प्रिपेयरेटरी कमीशन' मुक़र्रर किया, जिसका काम था निःशस्त्रीकरण के मामले में एक बड़ा विश्व-सम्मेलन बुलाने के लिए जमीन तैयार करना। इस कमीशन ने कितनी ही योजनाओं पर, एक-के-बाद-एक, विचार कर डाला, लेकिन उसका सिलसिला ख़त्म ही न हुआ और नतीजा कुछ न निकला। सोवियट की तरफ़ से निःशस्त्रीकरण की कई मौलिक तजवीजें पेश की गईं, लेकिन चूँकि यह समझा गया कि उनसे बहुत ही ज्यादा निःशस्त्रीकरण हो जायगा इसलिए उनको अव्यावहारिक मान लिया गया। पिछले साल यही 'प्रिपेयरेटरी कमीशन' विश्व-निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन में मिल गया, और इसकी बैठकें अब महीनों से होती चली आ रही हैं और बातचीत का ख़ात्मा ही नहीं होता है—यहाँतक लोग भी क़रीब-क़रीब भूल गये हैं कि जिनेवा में ऐसी कोई चीज मौजूद है!

अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण की इन बहसों में सिर्फ़ हिस्सा ही नहीं लिया, बल्कि संसार में अपनी सबसे जबरदस्त आर्थिक स्थिति के कारण योरप और यूरोपियन मामलों में उसकी दिलचस्पी भी बढ़ गई। सारा योरप उसका क़र्जदार था, और वह यूरोपियन मुल्कों को फिर एक-दूसरे का गला काटने से रोकना चाहता था; क्योंकि उच्च उद्देश्यों के अलावा भी, अगर ये सब फिर लड़ने लगें तो उसके क़र्जों और व्यापार का क्या हाल होगा? निःशस्त्रीकरण की बहसों से जब जल्दी कोई नतीजा न निकला तो, १९२८ में, फ़्रांस और अमेरिका की सरकारों के बीच बातचीत होकर शान्ति-रक्षा में सहायक होनेवाली एक नई तजवीज निकली। इस तजवीज में बड़ी हिम्मत के साथ यह कोशिश की गई कि 'युद्ध' ही 'ग़ैर-क़ानूनी' बना दिया जाय।

शुरू में ख़याल यह था कि सिर्फ़ फ़्रांस और अमेरिका के बीच एक इक़रारनामा हो-जाय; लेकिन वह बढ़ गया, और आख़िरकार इसमें संसार के क़रीब-क़रीब सभी राष्ट्र शामिल होगये। अगस्त १९२८ में पेरिस में इस इक़रारनामे पर दस्तख़त हुए, इसलिए यह १९२८ का पेरिस का इक़रारनामा, या केलाग-ब्रियाँद इक़रारनामा, या सिर्फ़ केलाग इक़रारनामा कहलाता है। केलाग अमेरिका का राजमंत्री (Secretary of State) था जिसने इस मामले में नेतृत्व किया था, और एरिस्टाइड ब्रियाँद फ़्रांस का परराष्ट्र-सचिव था। इस इक़रारनामे में एक छोटा-सा मजमून था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय बहस-तलब मामलों को हल करने के लिए युद्ध से काम लेने की निन्दा की गई थी और इक़रारनामे पर दस्तख़त करनेवालों ने आपसी बर्ताव में युद्ध की नीति छोड़ देना मंजूर किया था। ये शब्द, जो क़रीब-क़रीब उस इक़रारनामे के ही शब्द हैं, सुनने में बड़े सुन्दर हैं, और अगर इनको सचाई से लिखा गया होता तो इनसे युद्ध ही ख़त्म हो सकता था। लेकिन फ़ौरन ही यह ज़ाहिर होगया कि इक़रारनामा करनेवाली शक्तियाँ कितनी झूठी हैं। फ़्रांसीसियों और अंग्रेज़ों ने, और ख़ासकर अंग्रेज़ों ने, दस्तख़त करने से पहले कई संरक्षण रख लिये, जिससे कि उनके लिए इक़रारनामा न होने के बराबर ही होगया। ब्रिटिश सरकार ने इक़रारनामे से उन सब जंगी कार्रवाइयों की छूट लेली जो उसे साम्राज्य के हित के लिए करनी पड़ेंगी। इसका मतलब यह हुआ कि वह जब चाहे तब युद्ध कर सकेगी। उसने अपने अधिकार और प्रभाव के क्षेत्रों पर एक तरह से अंग्रेज़ी 'मनरो-सिद्धान्त' की घोषणा करदी।

जब आम लोगों के सामने युद्ध को 'ग़ैर-क़ानूनी' बनाया जा रहा था, उसी वक़्त १९२८ में इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच एक गुप्त नौसेना-सम्बन्धी समझौता हुआ। यह बात किसी तरह ज़ाहिर होगई, और इससे योरप और अमेरिका को बड़ा रंज पहुँचा। इससे परदे की ओट में होनेवाले मामलों की असली हालत का काफ़ी पता लगता है।

सोवियट यूनियन ने केलाग-इक़रारनामे को मंजूर किया, और उसपर दस्तख़त कर दिये। उसके ऐसा करने का असली सबब यह था कि इस तरह, कुछ हद तक ही सही, वह इस इक़रारनामे की आड़ लेकर सोवियट पर हमला करनेवाले गुट का बनना रोक देना चाहता था। इक़रारनामे में अंग्रेज़ों के संरक्षण ख़ासकर सोवियट के ख़िलाफ़ ही रक्खे हुए मालूम होते हैं। इक़रारनामे पर दस्तख़त करते वक़्त रूस ने इंग्लैण्ड और फ़्रांस के इन संरक्षणों पर जबरदस्त एतराज किया।

रूस युद्ध को टालने का इतना इच्छुक था कि उसने अपने पड़ोसियों पोलैण्ड, रूमानिया, इस्थोनिया, लटविया, तुर्की और ईरान से शान्ति रखने के बारे में एक ख़ास सुलह करके अपने बचाव की और भी पेशबन्दी करली। इस सुलहनामे पर १९

फ़रवरी १९२९ को, केलाग-इक़रारनामे के अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बन जाने के छः महीने पहले, दस्तख़त हुए।

इस तरह आपस में लड़नेवाली और भरभराकर गिरनेवाली दुनिया के ढांचे को आख़िरी कोशिशों से बचाने के लिए ये इक़रारनामे और सुलहनामे होते गये, मानों इस तरह के इक़रारनामों या ऊपरी पैबन्दों से अन्दर गहरी बैठी हुई बीमारी का इलाज हो सकता हो। यह १९२० और १९२९ के बीच का ज़माना था, जब कि योरप के देशों में अक्सर समाजवादी या सोशल डिमोक्रेट लोग राज्याधिकारी थे। जितना ज्यादा उन्हें राज्याधिकार और सत्ता मिलती गई, उतना ही ज्यादा वे पूंजीवादी ढांचे के अन्दर अपनेआपको मिलाते गये। दर-हक़ीक़त वे पूंजीवाद के सबसे अच्छे रक्षक बन गये, और अकसर ज्यादा-से-ज्यादा अनुदार या प्रगति-विरोधी व्यक्ति के समान उग्र साम्राज्यवादी बन गये। महायुद्ध के बाद के जोश से भरे हुए कुछ क्रान्तिकारी वर्षों के पश्चात्, योरप की दुनिया किसी हद तक ठण्डी पड़ गई। मालूम होता था कि फिर कुछ वक़्त के लिए पूंजीवाद ने अपनेआपको परिस्थितियों के मुताबिक़ बना लिया, और कहीं भी जल्दी कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावना नज़र नहीं आती थी।

सन् १९२९ में योरप का ऐसा हाल था।

: १७५ :

मुसोलिनी और इटली का फ़ैसिज़्म

२१ जून, १९३३

हमारी योरप की कहानी की रूपरेखा १९२९ या चार वर्ष पहले तक आ पहुँची है। परन्तु एक महत्वपूर्ण अध्याय अबतक अछूता ही रहा है। इसका बयान करने के लिए मुझे ज़रा पीछे जाना पड़ेगा। इसका ताल्लुक़ महासमर के बाद की इटली की घटनाओं से है। इन घटनाओं का महत्व इसलिए नहीं है कि उनसे हमें इटली के हालात मालूम होते हैं, बल्कि इसलिए है कि वे नये ढंग की घटनायें हैं और उनसे दुनियाभर में होनेवाली एक नई प्रवृत्ति और कशमकश की सूचना मिलती है। इस तरह इनका महत्व राष्ट्रीय ही नहीं है, बल्कि उससे भी अधिक है। इसीलिए मैंने इन्हें अलग पत्र के लिए रख छोड़ा था। इसलिए, इस ख़त में मुसोलिनी का हाल होगा और इटली में फ़ैसिज़्म का ज़ोर कैसे बढ़ा, इसका ज़िक्र होगा। मुसोलिनी इस वक़्त दुनिया के बड़े-से-बड़े आदमियों में एक है।

महायुद्ध शुरू होने से पहले भी इटली घोर आर्थिक संकट में फँस गया था। १९११–१२ में वह तुर्की के साथ युद्ध में जीत तो गया था और उत्तरी अफ़रीका का त्रिपोली प्रदेश मिल जाने से इटली के साम्राज्यवादी ख़ुश भी बहुत हुए थे, मगर इस छोटी-सी लड़ाई से इटली की भीतरी भलाई बहुत नहीं हुई थी और उसकी आर्थिक हालत नहीं सुधरी थी। बल्कि अवस्था और भी बुरी होगई थी और १९१४ में, जबकि महायुद्ध छिड़ता ही दिखाई देता था, इटली क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़ा था। कारख़ानों में बडी-बडी हड़तालें हो रही थीं। नरम दल के समाजवादी नेता हड़तालों को दवाकर बडी मुश्किल से मजदूरों को आगे बढ़ने से रोक पाये थे। उसके बाद ही महायुद्ध शुरू होगया। इटली ने अपने जर्मन मित्रों का साथ देने से इन्कार कर दिया, उसने दोनों तरफ़ से ज्यादा-से-ज्यादा रियायतें हासिल करने के लिए अपनी निरपेक्षिता या उदासीनता का फ़ायदा उठाने की कोशिश की। इस तरह ऊँची-से-ऊँची बोली बोलनेवाले को अपनी सहायता वेचने की वृत्ति शोभास्पद तो नहीं थी, परन्तु राष्ट्रों के हृदय नहीं होता और उनके व्यवहार के तरीक़े अलग ही होते हैं। यही व्यवहार अगर व्यक्ति करें तो उन्हें शर्म के मारे सिर नीचा करना पडे। रिश्वत देने के लिए मित्र-राष्ट्रों यानी इंग्लैण्ड और फ़्रांस की स्थिति ज्यादा अनुकूल थी। उन्होंने नक़द रुपया भी दिया और आगे चलकर इलाक़ा देने का वचन भी दिया। इस कारण इटली मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ होकर १९१५ की मई में लड़ाई में शामिल हुआ। मेरा ख़याल है, मैं तुम्हें वता चुका हूँ कि कुछ समय बाद एक गुप्त सन्धि के द्वारा इटली को स्मर्ना और छोटे एशिया का एक हिस्सा देने की वात हुई थी। मगर इस सन्धि के पक्की होने से पहले ही रूस में वोलशेविक क्रान्ति होगई और यह सारा खेल विगड़ गया। इटली को यह भी एक शिकायत थी और पेरिस की शान्ति-परिषद में इस वात पर असन्तोष रहा कि इटली के हक़ों की उपेक्षा की गई। वहाँके साम्राज्यवादियों और अमीरों को आशा थी कि नये-नये देश इटली के अधिकार में आयँगे और वे उनका शोषण करके अपने देश के आर्थिक भार को हलका कर सकेंगे।

महायुद्ध के बाद इटली की हालत बहुत ख़राब होगई थी और वह किसी भी दूसरे मित्र-राष्ट्र से अधिक थक गया था। वहाँकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती दीखती थी और समाजवाद और साम्यवाद के हामियों की तादाद बढ़ रही थी। उनके सामने रूस का वोलशेविक उदाहरण तो था ही। एक तरफ़ कारख़ानों के मजदूर आर्थिक अवस्था से कष्ट पा रहे थे, दूसरी तरफ़ सिपाही वडी तादाद में फ़ौज से ख़ारिज होकर मारे-मारे वेकार फिर रहे थे। उपद्रव होने लगे और मध्यमवर्ग के नेता इन सैनिकों को मजदूरों की वढ़ती हुई ताक़त का मुक़ाबिला करने के लिए संग-

ठित करने लगे। १९२० के गरमी के दिनों में स्थिति विकट हो गई। धातु के कारखानों के मजदूरों ने ज्यादा मजदूरी की माँग की। इनकी सभा में ५ लाख सदस्य थे। यह माँग मंजूर नहीं हुई और मजदूरों ने हड़ताल करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने हड़ताल का एक नया ही तरीक़ा निकाला। यानी मजदूर अपने-अपने कारखानों में पहुँचे और न खुद काम किया और न किसीको करने दिया। संघवादी समाजवादियों (Syndicalists) का यही कार्यक्रम था और फ़्रांस का मजदूर-आन्दोलन बहुत अर्से से इसका समर्थक था। इस अडंगेबाजी का जवाब मालिकों ने यह दिया कि उन्होंने कारख़ाने बन्द कर दिये। इसपर मजदूरों ने कारख़ानों पर क़ब्ज़ा करके उन्हें समाजवादी ढंग पर चलाने की कोशिश की।

मजदूरों की यह कार्रवाई निश्चित रूप से क्रान्तिकारी थी। अगर वे इसपर डटे रहते, तो या तो सामाजिक क्रान्ति हुए बिना न रहती या वे नाकामयाब होते। बहुत दिनों तक कोई बीच की हालत क़ायम नहीं रह सकती थी। उस वक़्त इटली में समाजवादी दल बड़ा प्रबल था। मजदूर-संघों पर तो उसका नियन्त्रण था ही, तीस-हजार म्युनिसिपैलिटियाँ भी उसके क़ाबू में थीं और पार्लमेण्ट में उसके १५० यानी एक-तिहाई सदस्य थे। अगर किसी दल में जोर हो, उसकी जड़ जमी हुई हो, जायदाद उसके पास हो और बहुत-से सरकारी पद उसके हाथ में हों, तो वह अक्सर क्रान्तिकारी नहीं होता। फिर भी इटली के समाजवादी दल और उसके नरम सदस्यों तक ने कारख़ानों पर अधिकार कर लेने की मजदूरों की कार्रवाई का समर्थन किया। मगर इतनी-सी बात करके इस दल ने और कुछ नहीं किया। वह पीछे हटना तो नहीं चाहता था, मगर उसमें आगे बढ़ने का साहस भी नहीं था। उसने कम-से-कम विरोध का बीचवाला रास्ता पसन्द किया। उसका वही हाल हुआ जो सब हिचकिचाहट से भरे हुए और अनिश्चयी लोगों का हुआ करता है। वे ठीक समय पर कोई निर्णय नहीं कर पाये, समय उन्हें छोड़कर आगे निकल गया, और वे कहीं के न रहे। उग्र सुधारकों और मजदूर नेताओं की हिचकिचाहट के कारण आख़िर कारख़ानों पर से मजदूरों का क़ब्ज़ा जाता रहा।

इससे मालिक वर्ग का हौसला बहुत बढ़ गया। उन्होंने देख लिया कि मजदूरों और उनके नेताओं की जितनी ताक़त वे समझते थे उतनी नहीं है। अब उन्होंने मजदूर-आन्दोलन और समाजवादी दल से बदला लेने और उन्हें तहस-नहस कर देने की योजना बनाई। १९१९ में फ़ौजों से ख़ारिज हुए सिपाहियों के कुछ स्वयंसेवक-दल बेनिटो मुसोलिनी ने बनाये थे। मालिक वर्ग का ध्यान इनकी तरफ़ गया। ये लड़ाकू दल या फ़ैसिस्ट (जो इटालियन के Fasci di Combattimenti से बना है) कहलाते

थे और इनका मुख्य काम था मौक़ा पाकर समाजवादियों, उग्र सुधारकों और उनकी संस्थाओं पर हमला करना। इस तरह से कभी ये किसी समाजवादी पत्र के छापेख़ाने को नष्ट करते तो कभी किसी समाजवादी नियन्त्रण वाली म्यूनिसिपैलिटी या सहयोग-समिति पर हमला करते। बड़े-बड़े कारख़ानेदार और अमीर लोग मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद के विरोध में आम तौर पर इन सैनिक दलों को अपने रुपये और प्रभाव की सहायता देने लगे। सरकार ने उनकी ओर से आँखें बन्द करलीं। वह समाजवादी दल की शक्ति को नष्ट करना चाहती थी।

इन लड़ाकू दलों या, संक्षेप में कहें तो, फ़ैसिस्टों को संगठित करनेवाला यह बेनिटो मुसोलिनी कौन था? उस वक़्त तो वह जवान था। (अब उसकी उम्र पचास वर्ष के क़रीब है। १८८३ में वह पैदा हुआ था।) उसका जीवन बड़ा रंग-बिरंगा और दिलचस्प रहा था। उसका पिता लुहार था और समाजवादी था। इसलिए बेनिटो समाजवादी संस्कृति लेकर बड़ा हुआ। शुरू जवानी में ही वह बड़ा गरम आन्दोलनकारी होगया था और क्रान्तिकारी प्रचार-कार्य के कारण उसे स्वीजरलैण्ड की नई रियासतों से निकाल दिया गया था। नरम समाजवादी नेताओं पर उसकी नरमी के कारण उसने बुरी तरह हमले किये। राज्य के ख़िलाफ़ बम और दूसरे आतंकवादी साधनों का वह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली की जो लड़ाई हुई उसकी अधिकांश समाजवादी नेताओं ने ताईद की थी। मगर मुसोलिनी की बात दूसरी थी। उसने लड़ाई का विरोध किया और इस सिलसिले में कई हिंसा के कामों पर उसे कुछ मास की क़ैद भी भोगनी पड़ी। लड़ाई का समर्थन करनेवाले नरम समाजवादी नेताओं का उसने घोर विरोध किया और उन्हें समाजवादी दल से निकलवा-कर छोड़ा। मिलान से निकलनेवाले समाजवादी दैनिक पत्र 'अवन्ती' का वह सम्पादक बन गया और उसमें नित्य मजदूरों को हिंसा का मुक़ाबिला हिंसा से करने की सलाह देता रहा। हिंसा के इस उत्तेजन पर नरम मार्क्सवादी नेताओं को जोरदार आपत्ति थी।

इतने ही में महायुद्ध आ पहुँचा। कुछ महीनों तक मुसोलिनी युद्ध के ख़िलाफ़ और इटली के तटस्थ रहने के पक्ष में रहा। फिर अचानक उसने अपना विचार या अपने विचारों को ज़ाहिर करने का ढंग बदल दिया और एलान कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रों के साथ शरीक होजाना चाहिए। वह समाजवादी पत्र को छोड़कर इस नई नीति का प्रचार करनेवाले एक नये पत्र का सम्पादन करने लगा। वह समाजवादी दल से निकाल दिया गया। आगे चलकर वह साधारण सिपाहियों में भरती होगया, और इटली की तरफ़ से लड़ाई के मोर्चे पर लड़ता हुआ घायल हुआ।

लड़ाई के बाद मुसोलिनी ने अपनेको समाजवादी कहना बन्द कर दिया।

उसका पुराना दल उसे नापसन्द करता था और मजदूरवर्ग पर उसका कोई प्रभाव नहीं रहा। वह इधर का रहा न उधर का। उसने शान्तिवाद और समाजवाद के साथ-साथ पूंजीवादी शासन की भी निन्दा करनी शुरू करदी। वह हर क़िस्म के राज्य की बुराई करने लगा, और अपनेको व्यक्तिवादी बताकर अराजकता की तारीफ़ करने लगा। ये तो बातें हुईं उसके लिखने की। अब उसने जो किया वह भी सुन लो। १९१९ में उसने फ़ैसिज्म की स्थापना की और अपने लड़ाकू दलों में बेकार सैनिकों को भरती करना शुरू कर दिया। इन दलों का धर्म हिंसा था और सरकार के तटस्थ रहने से इनका हौसला और उत्पात बढ़ता गया। कभी-कभी शहरों में मजदूर-वर्ग से इनकी बाक़ायदा भिड़न्त होजाती थी और वे इन्हें मार भगाते थे। परन्तु समाजवादी नेता मजदूरों की इस लड़ाकू वृत्ति के ख़िलाफ़ थे। वे उन्हें धीरज और शान्ति से फ़ैसिस्ट ख़तरे का मुक़ाबिला करने की सलाह देते थे। उन्हें उम्मीद थी कि फ़ैसिज्म इस तरह अपनी मौत आप मर जायगा। पर फ़ैसिस्ट दलों की ताक़त बढ़ती गई। बढ़ती भी क्यों नहीं, जब अमीरों के रुपये की उन्हें मदद थी, सरकार उनके काम में दख़ल नहीं देती थी और सर्व-साधारण में जो विरोध-भावना थी वह सब नष्ट होचुकी थी। नौबत यहाँतक पहुँची कि मजदूरों के एकमात्र हथियार हड़ताल का भी प्रयोग फ़ैसिस्टों की हिंसा को रोकने के लिए नहीं किया गया।

मुसोलिनी के नेतृत्व में फ़ैसिस्टों ने दो विरोधी विचार-धाराओं का मेल साधा। प्रथम तो वे समाजवाद और साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे। इससे उन्हें पूंजीपतियों की सहायता मिल गई। दूसरे मुसोलिनी पुराना समाजवादी आन्दोलक और क्रान्तिकारी था और उसकी ज़बान पर अनेक पूंजी-विरोधी नारे रहते थे। ये ग़रीबों को पसन्द आते थे। आन्दोलन के विशेषज्ञ साम्यवादियों से उसने यह कला भी ख़ूब अच्छी तरह सीख ली थी। इस तरह फ़ैसिज्म एक अजीब खिचडी बन गया था और उसका अलग-अलग तरह से अर्थ लगाया जा सकता था। असल में तो यह पूंजीपतियों का आन्दोलन था, परन्तु इसके कई रणनाद पूंजीवाद के लिए ख़तरनाक भी थे। इस तरह इसमें तरह-तरह के लोग शामिल होगये। मध्यमवर्ग—ख़ासकर निम्न श्रेणी के मध्यमवर्ग के बेकार लोग इसके स्तम्भ थे। ज्यों-ज्यों इसकी ताक़त बढ़ती गई त्यों-त्यों बेकार और साधारण मजदूर, जिनके संघ नहीं बने थे, फ़ासिस्ट दल की ओर आकर्षित होने लगे। सफलता का लोहा सभी मानते हैं। फ़ैसिस्टों ने दूकानदारों से जबरदस्ती भाव कम करवाके ग़रीबों का सद्भाव प्राप्त कर लिया। और मनचले लोग तो वैसे ही फ़ैसिस्ट झण्डे के नीचे बहुत-से आगये। लेकिन यह सब कुछ होने पर भी फ़ैसिज्म एक अल्पसंख्यक आन्दोलन ही रहा।

* * *

इस तरह जब समाजवादी नेता शंका, संकोच और आपस के झगडों में लगे रहे और उनके दल में फूट होती रही उस समय फ़ैसिस्टों का ज़ोर ख़ूब बढ़ता गया। नियमित सेना का फ़ैसिज्म के प्रति बड़ा दोस्ताना रुख़ था और मुसोलिनी ने सेनापतियों को अपनी तरफ़ मिला लिया था। मुसोलिनी का यह बडे मार्के का काम था कि उसने ऐसे मुख़्तलिफ़ और विरोधी तत्त्वों को अपने साथ करके ऐक्य-सूत्र में बाँध रक्खा और अपने अनुयायियों के हर समूह का यह विश्वास जमा दिया कि फ़ैसिज्म ख़ास तौर पर उसीका हिमायती है। धनवान फ़ैसिस्ट यह समझने लगे कि मुसोलिनी उनकी सम्पत्ति का रक्षक है और पूंजीवाद के ख़िलाफ़ वह जो भाषण करता और नारे लगाता है वे ख़ाली सर्वसाधारण को धोखा देने की बातें हैं। ग़रीब फ़ैसिस्ट यह मानने लगे कि फ़ैसिज्म में असली चीज तो यह पूंजीवाद का विरोध ही है और बाक़ी बातें अमीरों को ख़ुश करने भर के लिए हैं। इस तरह मुसोलिनी इन दोनों वर्गों से काम निकालने लगा। एक दिन वह अमीरों के हक़ में बोलता तो दूसरे ही दिन ग़रीबों के पक्ष में भाषण देता। मगर असल में वह सम्पत्तिशाली वर्ग का हिमायती था, क्योंकि वे उसे आर्थिक सहायता देते थे और यह इसलिए कि वे अपने चिर-शत्रु समाजवाद और मजदूर-आन्दोलन की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे।

अन्त में १९२२ के अक्तूबर में फ़ैसिस्टों की टुकड़ियों ने नियमित सेनानायकों के नेतृत्व में रोम पर धावा बोल दिया। प्रधानमन्त्री ने अबतक फ़ैसिस्टों के कार्यों को सहन किया था। अब उसे भी फ़ौजी क़ानून की घोषणा करनी पडी। परन्तु अब क्या था; देर बहुत हो चुकी थी और ख़ुद बादशाह भी मुसोलिनी की तरफ़ होगया था। उसने फ़ौजी क़ानून की आज्ञा रद करदी, अपने प्रधानमन्त्री का इस्तीफ़ा मंजूर कर लिया और मुसोलिनी को प्रधानमन्त्री बनने और मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रण दिया। ३० अक्तूबर १९२२ को फ़ैसिस्ट-सेना रोम पहुँची और उसी दिन मुसोलिनी प्रधानमन्त्री बनने के लिए मिलान से रेल द्वारा आ पहुँचा।

फ़ैसिज्म की विजय हुई और सत्ता मुसोलिनी के हाथ में आगई। परन्तु उसका पक्ष क्या था? वह किस नीति और कार्यक्रम का समर्थक था? आम तौर पर बड़े आन्दोलनों का निर्माण किसी स्पष्ट विचार-धारा पर होता है और ये विचार कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर निर्भर होते हैं, और उनका निश्चित ध्येय और कार्यक्रम होता है। फ़ैसिज्म में यह अद्वितीय गुण है कि न उसके कोई निश्चित सिद्धान्त हैं, न विचार-धारा और तत्त्व-ज्ञान। हाँ, समाजवाद, साम्यवाद और उदार विचारों का विरोध ही एक तत्त्व-ज्ञान समझ लिया जाय तो बात दूसरी है। १९२० में यानी फ़ैसिस्ट दलों के बनने के एक वर्ष बाद मुसोलिनी ने घोषणा की थी कि फ़ैसिस्ट लोग—

"किसी भी तरह के निश्चित सिद्धान्तों के बन्धन से मुक्त हैं। उनके सामने एक ही ध्येय है। वह है इटली-निवासियों का भावी हित। इस ध्येय की ओर वे अविश्रान्त गति से बढ़ रहे हैं।"

यह तो कोई निश्चित नीति नहीं हुई, क्योंकि अपने देशबन्धुओं की भलाई का दावा करने को तो सभी तैयार होते हैं। १९२२ में, यानी रोम के लिए कूच करने के ठीक एक महीने पहले, मुसोलिनी ने कहा था, "हमारा कार्य-क्रम बहुत सीधा-सादा है। हम इटली पर शासन करना चाहते हैं।" कितनी साफ़ बात है ?

हाल ही में इटली के एक विश्वकोष में फ़ैसिज्म की उत्पत्ति पर एक लेख लिखकर मुसोलिनी ने यह बात और भी स्पष्ट करदी है। उसमें वह कहता है कि जब वह रोम के लिए रवाना हुआ था, उस वक़्त उसके दिमाग़ में आगे के लिए कोई निश्चित योजना नहीं थी। उसके मन पर पुराने समाजवादी संस्कार थे। विकट राजनैतिक स्थिति के मौक़े पर कुछ कर गुज़रने की उसके जी में प्रबल लालसा थी। बस इसीसे प्रेरित होकर उसने बीड़ा उठा लिया।

फ़ैसिज्म और साम्यवाद (Communism) में परस्पर कट्टर विरोध है, परन्तु इनकी कुछ कार्रवाइयाँ मिलती-जुलती हैं। वैसे जहाँतक सिद्धान्तों और विचारों का सम्बन्ध है, इनमें ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। हम देख चुके हैं कि फ़ैसिज्म के कोई आधार-भूत सिद्धान्त नहीं हैं। उसकी शुरुआत ही ख़ाली मस्तिष्क से हुई है। इसके विपरीत साम्यवाद या मार्क्सवाद एक पेचीदा आर्थिक मत और ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। उसके लिए कठोर-से-कठोर मानसिक अनुशासन की जरूरत है।

हालाँकि फ़ैसिज्म के कोई सिद्धान्त या आदर्श नहीं हैं, फिर भी हिंसा और आतंकवाद का उसका एक निश्चित विधि-विधान है और अतीत काल के बारे में उसका एक ख़ास दृष्टिकोण है। इससे हमें फ़ैसिज्म को समझने में थोड़ी मदद मिल जाती है। उसका संकेत-चिन्ह एक पुराना रोमन साम्राज्य का निशान है जो रोम के सम्राटों और हाकिमों के आगे-आगे चलता था। यह छड़ियों का एक गट्ठा होता था और उसके बीच में एक कुल्हाड़ा रहता था। रोमन भाषा में उन छड़ियों को Fasces कहते थे और इसी से Fascimo शब्द बना। फ़ैसिस्ट संगठन भी पुराने रोमन नमूने पर बना है। नाम तक पुराने ही काम में लाये जा रहे हैं। फ़ैसिस्ट सलामी फ़ैसिस्टा कहलाती है। यह भी वही आगे बढ़ाकर ऊँचे किये हाथों की पुरानी रोमन सलामी है। इस प्रकार फ़ैसिस्टों की नजर प्रेरणा के लिए भी साम्राज्यवादी रोम पर ही गई है। उनका दृष्टिकोण साम्राज्यवादी है। उनका 'मोटो' या आदर्शवाक्य है—"चर्चा नहीं, केवल आज्ञा पालन।" यह आदर्श शायद सेना के लिए तो ठीक है, परन्तु लोक-

सत्ता के यह हरगिज़ अनुकूल नहीं पड़ सकता। उनका नेता मुसोलिनी इल ड्यूस अर्थात् सर्वेसर्वा बन गया। उनकी वर्दी काली कुर्ती होने के कारण वे काली कुर्ती वालों के नाम से प्रसिद्ध होगये।

फ़ैसिस्ट लोगों का यदि कोई रचनात्मक कार्य-क्रम था तो वह सिर्फ सत्ता हासिल कर लेना था। इस कारण मुसोलिनी के प्रधानमन्त्री बन जाने पर उनकी यह मुराद पूरी होगई। इसके बाद वह अपने विरोधियों को पीसकर अपनी स्थिति मजबूत करने के काम में लग गया। हिंसा और आतंकवाद का असाधारण चक्र शुरू हुआ। इतिहास में हिंसा एक साधारण-सी बात रही है, परन्तु आम तौर पर इसे एक आवश्यक बुराई समझा गया है और इसके लिए बहाने ढूंढे गये और सफ़ाई दीजाती रही है। मगर फ़ैसिज्म को हिंसा के बारे में ऐसा कोई क्षमा-याचना का-सा ढंग इख्तियार करने की जरूरत मालूम नहीं देती। इन लोगों के लिए तो यह एक मानी हुई और तारीफ़ की चीज है। वे विरोध न होने की हालत में भी हिंसा करते हैं, पार्लमेण्ट में विरोधी सदस्यों को इन लोगों ने पीट-पीटकर भयभीत कर दिया और विधान को बिलकुल बदल देनेवाला एक नया क़ानून जबरदस्ती पास करवा लिया। इस तरह मुसोलिनी के पक्ष में भारी बहुमत प्राप्त किया गया।

यह आश्चर्य की बात है कि जब फ़ैसिस्ट लोगों के हाथ में सचमुच सत्ता आगई और पुलिस और राज की सारी शक्ति पर उनका अधिकार जम गया तब भी उनकी ग़ैर-क़ानूनी हिंसा जारी रही। परन्तु वह जारी रही और उन्हें कोई रोकनेवाला भी नहीं रहा। सरकारी पुलिस तो दख़ल ही क्यों देती? लोगों की हत्यायें हुईं, उन्हें मारा-पीटा और अन्य शारीरिक यातनायें दी गई और उनकी सम्पत्ति नष्ट करदी गई। ये फ़ैसिस्ट एक ख़ास तरीक़े का व्यापक प्रयोग करते थे। उनके विरोध का साहस करनेवालों को वे अण्डी के तेल की भारी-भारी ख़ुराकें पिला देते थे।

१९२४ में गियाकोमो मेटिमोरी नामक समाजवादी नेता की हत्या की गई। यह पार्लमेण्ट का सदस्य था। इससे योरप-भर में बडी सनसनी फैली। इसने थोडे दिन पहले ही चुनाव में फ़ैसिस्ट तरीक़ों पर भाषण देकर उनकी आलोचना की थी। उसके कुछ ही समय बाद उसकी हत्या करदी गई। दिखावे के लिए हत्यारों पर मुक़दमा चलाया गया; परन्तु वे प्रायः बिना सजा के ही छूट गये। उदार दल के नरम नेता अमेण्डोला की मृत्यु मार के कारण हुई। भूतपूर्व उदार प्रधानमन्त्री निटी मुश्किल से जान बचाकर इटली से भागा; मगर उसका घर नष्ट कर दिया गया। ये थोडे-से उदाहरण तो ऐसे हैं जिनपर संसार-भर का ध्यान गया। वैसे इनकी हिंसा तो लगातार और व्यापक रूप में जारी रही। यह हिंसा दमन के क़ानूनी उपायों से अलग थी। यह

कोई भड़की हुई भीड़ की हिंसा भी नहीं थी। यह तो जान-बूझकर संगठित रूप में की गई बाकायदा हिंसा थी। इसके शिकार सभी विरोधी होते थे। समाजवादी और साम्य-वादी ही नहीं, उदार दल के शान्त और नरम-से-नरम आदमी भी नहीं बचते थे। मुसो-लिनी की आज्ञा थी कि विरोधियों का जीना कठिन या 'असम्भव' बना दिया जाय; कोई दूसरा दल, संगठन या संस्था जीवित न रहने पावे; जो कुछ हो फ़ैसिस्ट हो; सभी नौकरियाँ भी फ़ैसिस्टों को ही मिलें। इसकी तामील भी सचाई के साथ होती थी।

मुसोलिनी इटली का सर्वशक्तिमान विधाता और सर्वेसर्वा होगया। वह प्रधान-मंत्री ही नहीं, साथ ही वैदेशिक, गृह, औपनिवेशिक, युद्ध, जलसेना और श्रमजीवी विभागों का मंत्री भी बन बैठा। एक तरह से सारा मंत्रि-मण्डल ही वह था। बेचारा बादशाह कोने में बिठा दिया गया। उसका कभी नाम ही सुनाई नहीं देता। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ़ धकेल दी गई और छायामात्र रह गई। फ़ैसिस्ट महापरिषद् (फ़ैसिस्ट ग्रैंड कौंसिल) का ही बोलबाला होगया और परिषद् में मुसोलिनी की तूती बोलने लगी।

मुसोलिनी ने शुरू-शुरू में विदेशी मामलों पर जो भाषण दिये उनसे योरप में बड़ा आश्चर्य और भय फैला। वे भाषण असाधारण ढंग के थे। वे शेख़ी और धमकियों से भरे थे। उनमें राजनीतिज्ञों की-सी चिकनी-चुपडी बातें जरा भी नहीं थीं। ऐसा मालूम होता था मानो वह सदा लड़ाई के लिए तुला बैठा हो। वह इटली के साम्राज्यवादी भाग्य की और इटली के असंख्य वायुयानों के आकाश में छा जाने की बातें करता था; और उसने कई बार अपने पडोसी फ़्रान्स को खुली धमकियाँ दीं। अवश्य ही फ़्रान्स इटली से कहीं अधिक बलवान था। मगर लड़ने की किसीकी इच्छा नहीं थी, इसलिए मुसोलिनी की ये सब बातें बर्दाश्त करली जाती थीं। राष्ट्रसंघ को मुसोलिनी ने अपने व्यंग और तिरस्कार का खास तौर पर निशाना बनाया। दिल्लगी तो यह थी कि इटली खुद राष्ट्रसंघ का सदस्य था। एक अवसर पर तो मुसोलिनी ने बहुत बुरी तरह आगे बढ़कर उसका मान भंग किया। फिर भी राष्ट्रसंघ और दूसरी शक्तियाँ इसे पी गईं। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे मुसोलिनी के भाषणों की उत्तेजना भी कम पड़ती गई। उसका रवैया नरम हो-गया है और अब वह भी दूसरे शान्त राजनीतिज्ञों की तरह ही शान्ति और निःशस्त्री-करण की बातें करता है। निरंकुश शासकों की सत्ता पशुबल पर निर्भर होती है; इस कारण युद्ध उनके लिए सदा ख़तरनाक होते हैं।

पिछले दस साल में इटली में बहुत-से बाहरी परिवर्तन हुए हैं और यात्रियों के दिल पर वहाँ व्यवस्था और समय की पाबन्दी देखकर अच्छा असर पड़ता है। रोम का

शाही नगर सुन्दर बनाया जा रहा है और सुधार की कई बडी-बडी योजनायें हाथ में लीगई हैं। मुसोलिनी के कल्पना-जगत् में नये रोमन साम्राज्य के स्वप्न नाच रहे हैं।

पोप और इटली की सरकार में प्राचीन काल से झगड़ा था। वह १९२९ में ख़त्म होगया। मुसोलिनी और पोप के प्रतिनिधि के बीच समझौता होगया। जबसे १८७१ में इटली राज्य ने रोम को अपनी राजधानी बनाया था तभीसे पोप ने इसे स्वीकार नहीं किया था और रोम पर अपनी सर्वोपरि सत्ता छोड़ने से इन्कार किया था। इसीलिए पोप लोगों ने यह नीति ग्रहण करली थी कि पोप निर्वाचित होते ही वे रोम के अपने विशाल वैटिकन महल में चले जाते और फिर कभी इटली की भूमि पर नहीं निकलते। वे स्वेच्छा से क़ैदी बनकर रहते थे। १९२९ के समझौते से रोम का यह छोटा-सा वैटिकन इलाक़ा एक स्वतंत्र और सम्पूर्ण सत्ताधारी राज्य मान लिया गया। पोप इस राज्य का निरंकुश शासक है और इसके नागरिकों की संख्या ५०० के क़रीब है। इस राज्य की अपनी अदालतें, सिक्का, डाक के टिकट और सार्वजनिक सेवा के विभाग हैं। इसकी छोटी-सी रेलवे दुनिया में सबसे महँगी है। अब पोप क़ैदी की तरह नहीं रहता। वह कभी-कभी वैटिकन से बाहर आता है। पोप के साथ सन्धि करके मुसोलिनी कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयों में लोकप्रिय होगया। फैसिस्ट हिंसा का ग़ैरक़ानूनी स्वरूप क़रीब एक साल तक बड़ा उग्र रहा और बाद में भी १९२६ तक कुछ-कुछ बना रहा। १९२६ में राजनैतिक विरोधियों से निपटने के लिए 'असाधारण क़ानून' बना दिये गये। इनसे राज्य को बडे अधिकार मिल गये और ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाई अनावश्यक होगई। वे क़ानून कुछ ऐसे ही थे जैसे वे आर्डिनेंस और उनपर बने हुए क़ानून हैं जिनकी हम भारतवासियों पर इतनी वर्षा हुई है। इन 'असाधारण क़ानूनों' के अनुसार लोगों को सजायें दी जा रही हैं, जेल भेजा जा रहा है और बडी तादाद में देश-निकाले दिये जा रहे हैं। सरकारी अंकों के अनुसार १९२६ के नवम्बर और १९३२ के अक्तूबर के बीच में १०,०४४ आदमियों को विशेष अदालतों के सामने पेश किया गया था। पौंज़ा, वेण्टोलीन और ट्रिमटी नामक तीन द्वीप इन निर्वासितों के लिए अलग ही सुरक्षित कर दिये गये हैं। कहा जाता है कि वहाँकी हालत बहुत ख़राब है। इस बीच में दमन और गिरफ़्तारियाँ तो जारी हैं ही। अभी हाल ही की यानी १९३३ के मार्च मास की बात है कि मिलान नगर और उत्तरी प्रदेशों में बहुत लोग गिरफ़्तार किये गये थे। रोम पर फ़ैसिस्टों की कूच का पिछले साल दसवाँ वार्षिकोत्सव था। उस अवसर पर आम माफ़ी दी गई थी और बहुत-से मामूली और थोडे-से राजनैतिक क़ैदी छोडे गये थे। मगर प्रमुख और लम्बी मियाद के राजनैतिक क़ैदी नहीं छोड़े गये।

इन लगातार गिरफ़्तारियों से जाहिर है कि इस सारे दमन के बावजूद देश में गुप्त और क्रान्तिकारी विरोध मौजूद है। उसकी शक्ति कितनी है, यह कह सकना कठिन है। वैसे जाहिरा तो यही मालूम होता है कि मुसोलिनी ही सर्वेसर्वा है और उसकी जड़ ख़ूब मजबूत जम गई है। परन्तु आर्थिक बोझ बढ़ता जारहा है और देश की माली हालत फिर बहुत ख़राब होगई है। मगर यह बात तो आज क़रीब-क़रीब सभी देशों के लिए कही जा सकती है।

: १७६ :

लोकसत्ता और निरंकुश शासन

२२ जून, १९३३

बेनिटो मुसोलिनी ने अपनेको इटली का सर्वेसर्वा (डिक्टेटर) क्या बना लिया, उसके उदाहरण की बीमारी योरप-भर में फैलती दीखने लगी। उसने कहा—"योरप के हर देश में सिंहासन ख़ाली पड़ा है। कोई योग्य पुरुष उसपर क़ब्ज़ा करले, इसीकी देर है।" कई मुल्कों में निरंकुश शासन क़ायम होगये। पार्लमेण्टें या तो तोड़ दी गईं या उन्हें जबरदस्ती सर्वसत्ताधारियों (डिक्टेटरों) की इच्छाओं के अनुकूल बना लिया गया। स्पेन की मिसाल ध्यान देनें लायक़ है।

स्पेन महासमर में नहीं पड़ा था। उसने लड़ाकू राष्ट्रों को माल बेच-बेचकर ख़ूब धन कमाया। लेकिन उसके अपने झगडे तो थे ही और वह औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ देश था। एक समय था, जब अमेरिका और पूर्वी देशों का धन उसके यहाँ बहकर आता था और योरप में उसका दर्जा बहुत ऊँचा था। लेकिन वह जमाना कभी का बीत चुका था। अब तो योरप में उसकी महत्वपूर्ण शक्ति भी नहीं समझी जाती थी। उसकी पार्लमेण्ट कमजोर-सी संस्था थी। उसे कोर्टे कहते थे। रोमन पादरियों का जोर था। उद्योग-धंधों में पिछडे हुए योरप के दूसरे देशों में जो बात हुई, वही स्पेन में भी हुई। जर्मनी और इंग्लैण्ड के ठोस मार्क्सवाद और नरम समाजवाद की अपेक्षा वहाँ संघवाद और अराजकतावाद का प्रचार ज्यादा हुआ। जब १९१७ में रूस के बोलशेविक सत्ता के लिए जूझ रहे थे उस वक़्त स्पेन के मजदूरों और उग्र सुधारकों ने व्यापक हड़ताल करके लोकसत्तात्मक प्रजातन्त्र क़ायम करने की कोशिश की। बादशाह की सरकार और सेना ने मिलकर इस हड़ताल और सारे आन्दोलन को कुचल दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि देश में सेना की सत्ता सर्वोपरि होगई। बादशाह भी फ़ौज का सहारा पाकर पहले से जरा अधिक स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी होगया।

मोरक्को के छोटे-बड़े दो हिस्से करके फ्रांस और स्पेन ने उन्हें अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया था। १९२१में मोरक्को के रीफ़ लोगों में अब्दुलकरीम नाम का एक योग्य नेता स्पेनिश शासन के ख़िलाफ़ खड़ा हुआ। उसने बड़ी क़ाबलियत और बहादुरी का सबूत दिया और स्पेनिश फ़ौजों को बार-बार हराया। इससे स्पेन की भीतरी स्थिति विकट होगई। राजा और सेनानायक दोनों विधान और पार्लमेण्ट का ख़ात्मा करके निरंकुश शासन क़ायम करना चाहते थे। इस बात पर वे दोनों सहमत थे, लेकिन सर्वेसर्वा कौन बने इस बात पर उनमें मतभेद था। राजा ख़ुद सर्वसत्ताधारी या निरंकुश शासक बनना चाहता था और फौज के लोग सैनिक-शाही क़ायम करना चाहते थे। १९२३ के सितम्बर में फ़ौज ने बग़ावत करदी। इससे मामला फ़ौज के हक़ में तय होगया और सेनापति प्राइमो दि रिवेरा सर्वेसर्वा बन गया। उसने पार्लमेण्ट को मुअत्तल करके पशुबल के ज़रिये यानी फ़ौज के सहारे हुकूमत करनी शुरू कर दी। फिर भी रीफ़ों के खिलाफ़ मोरक्को वाली मुहिम कामयाब नहीं हुई और अब्दुलकरीम आगे बढ़-बढ़कर स्पेन की सत्ता का तिरस्कार करता रहा। स्पेनिश सरकार ने उसके सामने अनुकूल शर्तें पेश कीं, मगर उसनें उन्हें मंजूर नहीं किया। वह बराबर मुकम्मल आजादी का दावेदार रहा। मुमकिन है कि अकेली स्पेनिश सरकार उसे दबा देने में कामयाब न होती। फ़्रान्स का मोरक्को में बड़ा स्वार्थ था। १९२५ में उसने दख़ल देने का फ़ैसला किया और अपने विशाल साधन अब्दुलकरीम के ख़िलाफ़ लगा दिये। १९२६ के मध्य में अब्दुलकरीम की हार हुई, फ्रांस-वालों के आगे उसने हथियार डाल दिये और उसकी लम्बी और वीरतापूर्ण लड़ाई ख़त्म हुई।

इस बीच स्पेन में प्राइमो दि रिवेरा की तानाशाही जारी रही। उसके मामूली लवाजमात यानी फ़ौजी जबरदस्ती, खबरों पर पाबन्दी, दमन और कभी-कभी फ़ौजी क़ानून भी साथ रहे। याद रहे कि यह तानाशाही मुसोलिनी की तानाशाही से जुदा ढंग की थी। इसका आधार सिर्फ़ सेना पर था और इटली में जनता के कुछ वर्गों का सहारा था। ज्योंही ही सेना प्राइमो दि रिवेरा से ऊबी कि और कोई उसकी मदद करनेवाला ही नहीं रहा। १९३० के शुरू में ही राजा ने प्राइमो को बर्ख़ास्त कर दिया। उसी साल क्रान्ति भी हुई थी और वह दबा भी दी गई थी। मगर प्रजातन्त्र और क्रान्ति की भावना इतनी व्यापक होगई थी कि उसे दबाकर रखना असंभव था। १९३१ में प्रजातन्त्रवादियों ने म्यूनिसिपल चुनाव में अपने भारी बल का परिचय दिया और उसके थोड़े ही दिन बाद राजा अलफ़ैञ्जो ने गद्दी छोड़कर देश से भाग जाने में ही बुद्धिमानी समझी। अस्थायी सरकार क़ायम होगई और स्पेन में योरप की सबसे नई प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का जन्म हुआ। अबतक स्पेन निरंकुश राजतन्त्र और धार्मिक

शासन का प्रतीक बना हुआ था। अब उसने राजा अलफ़ैन्ज़ो को मुजरिम क़रार दिया और चर्च यानी धर्म-संस्था के ख़िलाफ़ लड़ाई शुरू करदी।

मगर मैं तो तुम्हें सर्वसत्ताधारियों (डिक्टेटरों) का हाल कह रहा था। इटली और स्पेन के सिवाय जिन दूसरे देशों नें लोकसत्तात्माक शासन-प्रणाली को छोड़कर निरंकुश शासन स्थापित कर लिये थे, वे ये हैं—पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूनान, बलगेरिया, पुर्त्तगाल, हंगरी और आस्ट्रिया। पोलैण्ड में सेना पर अधिकार होने के कारण पिलसूडस्की सर्व-सत्ताधारी यानी डिक्टेटर बन गया था। यह ज़ार के ज़माने का पुराना समाजवादी था। पोलैण्ड की पार्लमेण्ट के सदस्यों को यह ऐसी बुरी-बुरी सुनाया करता था कि आश्चर्य होता था। कभी-कभी तो वे सचमुच गिरफ़्तार करके भेज दिये जाते थे। यूगोस्लाविया में ख़ुद राजा सर्वेसर्वा है। कहते हैं कि इस देश में कहीं-कहीं तुर्कों के शासन से भी अधिक ख़राब हालत और ज़ुल्म हैं।

मैंने जिन मुल्कों का जिक्र किया है उन सब में शायद अब खुली तानाशाही नहीं है। उनके जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्तनों से वाक़िफ़ रहना मुश्किल है। कभी-कभी उनकी पार्लमेण्टों की थोडी देर के लिए नींद खुल जाती है और उन्हें काम करने दिया जाता है। कभी-कभी, जैसा बलगेरिया में हाल ही में हुआ, सत्ताधारी सरकार जिन सदस्यों को नापसन्द करती है उनके समूह-के-समूह को गिरफ़्तार करके पार्लमेण्ट से उन्हें निकाल देती है। साम्यवादी लोग आम तौर पर इस ग़ुस्से के शिकार होते हैं। पीछे से और दलों के सदस्य जैसे-तैसे अपना काम चलाते हैं। ये देश सदा ही या तो सर्व-सत्ताधारियों यानी डिक्टेटरों के मातहत रहते हैं या इनकी हालत क़रीब-क़रीब ऐसी ही रहती है। व्यक्तियों या छोटे-छोटे समूहों की इन सरकारों का आधार पशुबल होता है और उन्हें लगातार विरोधियों के दमन, हत्या, सख़्त पाबन्दियों और क़ैद का तथा गुप्तचरों के जाल का सहारा ढूंढना पड़ता है।

योरप के बाहर भी तानाशाहियों का उदय हुआ। मैं तुम्हें तुर्की और कमाल-पाशा का हाल पहले ही बता चुका हूं। दक्षिण अमेरिका में कई सर्वसत्ताधारी थे, लेकिन वहांके लिए यह संस्था पुरानी हो चुकी थी, क्योंकि दक्षिणी अमेरिका के प्रजातंत्रों ने लोकसत्ता के विधि विधानों को कभी अच्छी नज़र से नहीं देखा।

तानाशाहियों की इस सूची में मैंने सोवियट यूनियन को शामिल नहीं किया है, क्योंकि वहांकी तानाशाही है तो उतनी ही निर्दय जितनी और देशों की है मगर वह एक मुख़्तलिफ़ क़िस्म की है। वहां किसी व्यक्ति या छोटे-से समूह का बोलवाला नहीं है, बल्कि एक ऐसे सुसंगठित राजनैतिक दल का है जिसका मुख्य आधार मज़दूरों पर है। वे इसे 'ग़रीबों का सर्वाधिकार' कहते हैं। इस तरह तानाशाही तीन क़िस्म

की हुई---साम्यवादियों की, फ़ैसिस्टों की और सेना की। सैनिक तानाशाही में कोई ख़ास बात नहीं है। वह पुराने ज़माने से चली आई है। साम्यवादी और फ़ैसिस्ट तानाशाहियाँ इतिहास में नई चीज़ हैं और हमारे अपने समय की ख़ास उपज हैं।

इन तानाशाहियों के बारे में सबसे मार्के की बात यह है कि ये लोकसत्ता और प्रतिनिधि-शासन के बिलकुल ख़िलाफ़ हैं। तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें बताया है कि उन्नीसवीं सदी लोकसत्ता की सदी थी। उस सदी में फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति की दी हुई मनुष्य के अधिकारों-सम्बन्धी विचार-धारा ने उन्नत लोगों के मस्तिष्क पर शासन किया था और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्येय सर्वमान्य होगया था। इसीमें से योरप के ज्यादातर देशों में---कहीं कम कहीं ज्यादा---प्रतिनिधि-शासन का विकास हुआ। इससे आर्थिक क्षेत्र में दख़ल न डालने और जो कुछ चल रहा है वही चलने देने का उसूल चल गया। बीसवीं सदी ने, या यूं कहो कि महासमर के बाद के सालों ने, उन्नीसवीं सदी की इस महान् परम्परा का अन्त कर दिया और अब नियमित लोक-सत्ता की कल्पना का आदर बहुत ही थोड़े लोगों में रह गया है। लोकसत्ता के इस पतन के साथ उदार कहलानेवाले समूहों का भी सब जगह एकसा हाल हुआ और अब उनकी गिनती सबल शक्तियों में नहीं रही।

लोकसत्ता की टीका और विरोध साम्यवादियों और फ़ैसिस्टों दोनों ने किया है, मगर दोनों की दलीलें बिलकुल जुदा-जुदा हैं। जिन देशों में साम्यवाद या फ़ैसिज्म किसीका भी ज़ोर नहीं है, उनमें भी लोकसत्ता की पहले जैसी क़द्र नहीं रही। पार्लमेण्ट की पहलेवाली बात जाती रही और अब उसकी बहुत इज़्ज़त नहीं है। शासन विभाग के मुखियाओं को बड़े इख़्तियारात देदिये जाते हैं और वे पार्लमेण्ट से पूछे बिना जो ठीक समझते हैं कर डालते हैं। इसकी एक वजह तो यह है कि आजकल का वक़्त बड़ा नाज़ुक है। इसमें तुरन्त कार्रवाई करने की जरूरत पड़ती रहती है और प्रतिनिधि-सभायें जल्दी कार्रवाई नहीं कर सकतीं। जर्मनी ने हाल ही में अपनी पार्लमेण्ट को बिलकुल धता बता दिया है और अब वहाँ फ़ैसिस्ट शासन का बुरे-से-बुरा रूप प्रकट हो रहा है। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के प्रधान के हाथों में सदा ही बड़े अधिकार रहे हैं और इस साल वे और भी बढ़ा दिये गये हैं। इस वक़्त तो सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़्रांस ही दो बड़े देश रह गये हैं जहाँ ज़ाहिरा तौर पर पार्लमेण्ट पहले की तरह काम कर रही है। उनकी मनमानी उनके मातहत देशों और उपनिवेशों में होती है। अंग्रेज़ों का फ़ैसिज्म हिन्दुस्तान में और फ़्रांस का इण्डो-चीन में 'शान्ति-स्थापन' का काम कर रहा है! मगर लन्दन और पैरिस में भी पार्लमेण्ट खोखली होती जा रही है। पिछले ही महीने उदार दल के एक प्रमुख अंग्रेज़ ने कहा था:---

"हमारी प्रतिनिधि संस्था पार्लमेण्ट तेज़ी के साथ एक शासन-समूह के हाथ का खिलौना बनती जा रही है और उसके हुक्मों का पालन भर कर देना उसका काम रह गया है। इस समूह का चुनाव एक अपूर्ण और भद्दे निर्वाचन-यन्त्र के द्वारा होता है।"

इस तरह उन्नीसवीं सदी की लोकसत्ताओं और पार्लमेण्टों का असर सभी जगह कम हो रहा है। कुछ देशों में तो इन्हें खुले और बहुत भद्दे ढंग से रद कर दिया गया है और कुछ देशों में उनका कोई अर्थ नहीं रह गया है। वे धीरे-धीरे एक गम्भीर और थोथा तमाशा होती जा रही हैं। एक इतिहासकार ने पार्लमेण्टों के इस पतन की तुलना उन्नीसवीं सदी के राजाशाही के पतन से की है। इस लेखक के मत से पार्लमेण्टें भी उसी तरह निर्बल और दिखावटी चीज़ें हो जायंगी और होती जा रही हैं; वे दीखने में बडी और महत्वपूर्ण रहेंगी, मगर उनका अर्थ कुछ भी नहीं रहेगा——जिस तरह कि इंग्लैण्ड और दूसरे देशों में राजा की असली सत्ता जाती रही और वह सिर्फ़ प्रदर्शन के लिए वैध शासक मात्र रह गया।

यह सब क्यों हुआ ? जिस लोकसत्ता का आदर्श असंख्य मनुष्यों को सौ वर्ष से भी अधिक प्रेरणा देता रहा और जिसपर हज़ारों नें अपने प्राण निछावर कर दिये, वह आज इतनी नापसन्द क्यों होगई ? ऐसे परिवर्तन काफ़ी कारणों के बिना तो हुआ नहीं करते। उनका आधार अस्थिरचित्त जनता की सनक भी नहीं होता। अवश्य ही जीवन की आधुनिक परिस्थिति में कोई बात ऐसी है जो उन्नीसवीं सदी की नियमित लोकसत्ता के साथ मेल नहीं खाती। यह विषय दिलचस्प और पेचीदा है। मैं इसपर यहाँ विस्तार से तो नहीं कह सकता, मगर दो-एक बातें तुम्हारे विचार के लिए रखता हूँ।

मैंने पिछले पैरे में लोकसत्ता का ज़िक्र करते वक़्त 'नियमित' शब्द काम में लिया है। साम्यवादियों का कहना है कि वह सच्ची लोकसत्ता नहीं थी। वह सिर्फ़ लोकसत्ता का परदा था जिसके नीचे यह सत्य छिपा रहता था कि एक वर्ग दूसरे वर्गों पर हुकूमत कर रहा है। उनके कहने के मुताबिक़ लोकसत्ता पूंजीवादी वर्ग की सर्वोपरि सत्ता के लिए परदे का काम देती थी। उनकी राय में यह धनिक-राज्य था। सर्वसाधारण को जो मताधिकार मिला था, और जिसकी इतनी बड़ाई की गई है, उससे उन्हें चार-पाँच वर्षों में एक बार इतना-सा कहने का हक़ मिला था कि 'अ' उनपर राज्य करे और उनका शोषण करे या 'ब' करे। हर हालत में अमीर ग़रीबों का ख़ून चूसते रहे। सच्ची लोकसत्ता तभी क़ायम होसकती है जब यह वर्ग-राज्य और शोषण न रहे और सिर्फ़ एक ही वर्ग बाक़ी रह जाय। परन्तु ऐसे समाजवादी शासन का विकास

करने के लिए एक बीच का ऐसा समय जरूरी है जिसमें सारी सत्ता गरीबों के हाथ में रहे और पूंजीवादी और अमीर वर्ग इस तरह दबाकर रक्खे जायँ कि वे मजदूरों के राज्य के ख़िलाफ़ षड्यंत्र न रच सकें। इस तरह की सर्वोपरि सत्ता सोवियट यूनियन में है। उसमें सारे मजदूर, किसान और काम करनेवाले वर्गों का प्रतिनिधित्व है। इस तरह इस तानाशाही में ९० या ९५ फ़ीसदी लोगों की बाक़ी के ५ या १० फ़ीसदी लोगों पर हुकूमत होती है। यह तो हुई सिद्धान्त की बात। व्यवहार में साम्यवादी दल का नियंत्रण सोवियट पंचायतों पर है और साम्यवादी दल पर शासकों के गुट का अधिकार है। और जहांतक ख़बरों पर पाबन्दी और विचार या कार्य की आजादी का ताल्लुक़ है, वहांतक यह तानाशाही भी उतनी ही कड़ी है जितनी और किसी तरह की तानाशाही होसकती है। परन्तु चूंकि इसका आधार श्रमजीवियों का सद्भाव है, इस-लिए उन्हें साथ रखना इसके लिए जरूरी है। और आख़री बात यह है कि इसमें मजदूरों का या किसी एक वर्ग का दूसरे वर्ग के लाभ के लिए शोषण नहीं होता। कोई शोषक वर्ग बाक़ी ही नहीं रहता। अगर कोई शोषण करता है तो वह राज्य ही करता है और वह सबकी भलाई के लिए करता है। यह याद रखने की बात है कि रूस में कभी लोकसत्तात्मक शासन नहीं रहा। वह तो १९१७ में निरंकुश राजतंत्र से एकदम छलांग मारकर साम्यवाद में पहुँच गया।

फ़ैसिस्ट दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। मैं तुम्हें पिछले ख़त में बता चुका हूँ कि यह जान सकना आसान नहीं है कि फ़ैसिस्टों के क्या उसूल हैं। उनके कोई निश्चित उसूल मालूम नहीं होते। मगर इसमें कोई शक नहीं कि लोकसत्ता के वे ख़िलाफ़ हैं। हां, लोकसत्ता का उनका विरोध और कम्यूनिस्टों (साम्यवादियों) का विरोध बिलकुल जुदा है। साम्यवादी लोकसत्ता के ख़िलाफ़ इसलिए हैं कि यह असली चीज नहीं है, बनावटी चीज है। फ़ैसिस्ट लोकसत्ता के सिद्धान्त और विचार के ही ख़िलाफ़ हैं। वे अपनी पूरी ताक़त के साथ लोकसत्ता की निन्दा करते हैं। मुसोलिनी ने उसे 'सड़ी हुई लाश' की पदवी दी है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार से भी फ़ैसिस्टों को उतनी ही नफ़रत है। उनके ख़याल से राज्य ही सब कुछ है, व्यक्ति की कोई गिनती नहीं। (साम्यवादी भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बहुत महत्व नहीं देते)। उन्नीसवीं सदी की उदार लोकसत्ता का पुजारी बेचारा मैजिनी आज जिन्दा होता तो वह अपने देश-बन्धु मुसोलिनी से क्या कहता !

साम्यवादियों और फ़ैसिस्टों को ही नहीं, और बहुत-से लोगों को भी, जिन्होंने वर्तमान युग के झगड़ों पर विचार किया है, इस पुराने विचार से असन्तोष होगया है कि मताधिकार दे देने का ही नाम लोकसत्ता है। लोकसत्ता का अर्थ है

समानता, और समानता के समाज में ही लोकसत्ता फल-फूल सकती है। यह स्पष्ट है कि सबको मताधिकार दे देने से ही समानता का समाज क़ायम नहीं होजाता। वयस्क-मताधिकार यानी सब बालिग़ स्त्री-पुरुषों को राय देने का हक़ देदेने या ऐसी ही और कुछ बातें होजाने पर भी आज भयंकर असमानता मौजूद है। इसलिए लोकसत्ता को मौक़ा देना हो तो समानता का समाज क़ायम होना लाज़िमी है। इस तर्क से कई तरह के दूसरे आदर्शों और साधनों का सवाल खड़ा होजाता है। परन्तु यह बात सभी लोग निर्विवाद रूप से मानते हैं कि आजकल की पार्लमेण्टें बहुत ही असन्तोषजनक हैं।

फ़ैसिज्म को जरा और गहरी नजर से देखें और मालूम करें कि यह क्या है। इसे हिंसा पर गर्व और शान्तिप्रियता से नफ़रत है। इटली के विश्वकोष में मुसोलिनी ने लिखा है :—

"फ़ैसिज्म का न तो शाश्वत शान्ति की आवश्यकता में विश्वास है और न उसकी उपयोगिता में। शान्तिवाद में जद्दोजहद से बचने की वृत्ति छिपी हुई है। वह मूलतः कायरता ही है। इसलिए फ़ैसिज्म क़ुर्बानी के मुक़ाबिले में अमन को ठुकराता है। युद्ध और सिर्फ़ युद्ध से ही मनुष्य की शक्तियों की अधिक-से-अधिक ज़ोरआज़माई होती है और उसको स्वीकार करने का साहस करनेवाली जातियों के सिर पर ही उच्चता का सेहरा बँधता है। और सब तरह की परीक्षायें नक़ली होती हैं। वे मनुष्य के सामने जीवन या मरण के चुनाव का सवाल पेश नहीं करतीं।"

फ़ैसिज्म उत्कट राष्ट्रवादी और साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। फ़ैसिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है। उसने राज्य को एक देवता बना दिया है। इस देवता के चरणों में व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों की बलि चढ़नी ही चाहिए। उसके लिए अपने देश के सिवा और सब मुल्क ग़ैर हैं और क़रीब-क़रीब दुश्मन जैसे हैं। यहूदियों को विदेशी समझकर आमतौर पर सताया जाता है। फ़ैसिज्म में भले ही कुछ धनिक-विरोधी नारों और क्रान्तिकारी साधनों का स्थान हो, परन्तु उसका सम्पत्तिशाली और प्रतिगामी वर्गों से गठबन्धन जरूर है।

ये फ़ैसिज्म की कुछ सूरतें हैं। उसका कोई तत्त्वज्ञान हो तो उसे समझ सकना कठिन है। हम देख चुके हैं कि इसका आरम्भ सत्ता की लालसा के साथ हुआ है। जब कामयाबी मिल गई, तब उसका तत्त्वज्ञान बनाने की कोशिश की गई। तुम चक्कर में तो पड़ोगी मगर तुम्हें फ़ैसिज्म की कल्पना हो जायगी, इसलिए एक प्रसिद्ध फ़ैसिस्ट तत्त्ववेत्ता का उद्धरण दूँगा। उसका नाम जियोवानी जेण्टाइल है। यह फ़ैसिज्म का अधिकार-प्राप्त तत्त्ववेत्ता माना जाता है और फ़ैसिस्ट सरकार का एक मंत्री भी रह चुका है। जेण्टाइल का कहना है कि 'लोगों को अपना आत्मानुभव या विकास अपने

व्यक्तित्व के द्वारा नहीं करना चाहिए। यह लोकसत्तात्मक ढंग है। उन्हें विकास फ़ैसिस्ट तरीक़े पर करना चाहिए और संसार की आत्म-चेतना के रूप में यानी अपने अहं के विकसित रूप में करना चाहिए। (इसका क्या अर्थ हुआ, यह मेरी समझ में ख़ाक भी नहीं आया)। इस तरह इस दृष्टिबिन्दु में व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य का कोई स्थान नहीं। इसके अनुसार सच्चा व्यक्तित्व और व्यक्ति-स्वातंत्र्य वही है जो मनुष्य अपनेको किसी दूसरी चीज़ यानी राज्य में विलीन करके प्राप्त करता है।'

"कुटुम्ब, राज्य और आत्मा में मिल जाने से मेरा व्यक्तित्व मिटता नहीं है बल्कि ऊँचा उठता है, मजबूत होता और बढ़ता है।"

जेण्टाइल फिर कहता है:—

"शक्ति किसी भी तरह की हो, यदि उससे संकल्प पर असर पड़ता है तो वह नैतिक शक्ति ही है, उसके पक्ष में दलील चाहे उपदेश की दी जाय या डण्डे की।"

इससे हम समझ सकते हैं कि भारत में जब सरकार लाठी-चार्ज करवाती है तो कितने नैतिकबल को काम में लेती है!

ये सब बातें तो ऐसी हैं कि जो चीज हो चुकी हो उसका अर्थ ख़ास तरह से लगाया जाय या उसे न्याय्य सिद्ध किया जाय। यह भी कहा जाता है कि फ़ैसिज्म का उद्देश्य 'सामूहिक राज्य' (Corporative State) की स्थापना करना है। मेरा अनुमान है कि ऐसे राज्य में सब लोग सामूहिक भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करते हैं। परन्तु अभीतक इटली में या और कहीं भी ऐसा राज्य प्रकट नहीं हुआ है। इटली में भी और पूंजीवादी देशों की तरह ही पूंजीवाद मजे से अपना काम कर रहा है।

चूंकि फ़ैसिज्म और मुल्कों में भी फैल गया है, इससे जाहिर है कि यह इटली की ही कोई विशेषता नहीं है, बल्कि एक ऐसी चीज है जो किसी भी देश में ख़ास तरह के आर्थिक और सामाजिक हालात होने पर पैदा होसकती है। जब कभी मजदूरों का बल बढ़ता है और वे सचमुच पूंजीवादी राज्य के लिए ख़तरनाक होजाते हैं, तो पूंजीवादी वर्ग का अपने बचाव की कोशिश करना स्वाभाविक है। आम तौर पर मजदूरों की तरफ़ से ऐसा ख़तरा भयंकर आर्थिक संकट के अवसरों पर ही पैदा होता है। अगर सम्पन्न और शासक वर्ग उस वक़्त पुलिस और फ़ौज की मदद लेकर मामूली लोकसत्तात्मक साधनों से मजदूरों को नहीं दबा सकते हैं, तो वे फ़ैसिस्ट तरीक़े का सहारा लेते हैं। यह इस तरह कि एक लोकप्रिय सार्वजनिक आन्दोलन खड़ा कर दिया जाता है; उसमें कुछ रणनाद या नारे तो सर्वसाधारण को पसन्द आनेवाले रख दिये जाते हैं, पर वह आन्दोलन सम्पत्तिशाली वर्ग की रक्षा के ही लिए होता है। इस आन्दोलन की रीढ़ नीचे दर्जे का मध्यमवर्ग होता है, क्योंकि इसमें बेकारों की तादाद बहुत होती है। इन

नारों से और अपनी हालत सुधारने की उम्मीदों से आकर्षित होकर बहुत-से राजनैतिक विचारों में पिछड़े हुए और असंगठित मजदूर भी शामिल होजाते हैं। ऐसे आन्दोलन को बड़े-बड़े अमीरों से रुपये की मदद मिलती है, क्योंकि उन्हें इससे फ़ायदा होने की उम्मीद होती है। देश की पूंजीवादी सरकार इस आन्दोलन के हिंसा-धर्म और हिंसा-कार्य को जानते और देखते हुए भी इसलिए सहन कर लेती है कि यह उसके समान-शत्रु—समाजवादी मजदूर आन्दोलन—से लोहा लेता है। फ़ैसिज्म दल के रूप में भी और देश की सरकार बन जाने पर और भी प्रबल होकर मजदूरों के संगठन का नाश करता है और सब विरोधियों को भयभीत रखता है।

इस तरह फ़ैसिज्म का उदय उस वक़्त होता है जब बढ़ते हुए समाजवाद और जमे हुए पूंजीवाद में वर्ग-युद्ध तीव्र और भयंकर होजाता है। यह सामाजिक संघर्ष किसी ग़लतफ़हमी से पैदा नहीं होता, बल्कि हमारे वर्तमान समाज के स्वाभाविक विरोधी हितों और संघर्षों को अच्छी तरह समझने के कारण होता है। इन संघर्षों की उपेक्षा करने से ये नहीं मिटते। जिन लोगों को वर्तमान व्यवस्था से कष्ट होता है वे ज्यों-ज्यों इस हित-विरोध को समझते जाते हैं त्यों-त्यों उनमें अपने हिस्से से वंचित रहने पर अधिक ग़ुस्सा पैदा होता है। जिनके पास सब कुछ है वे कुछ भी छोड़ने को तैयार नहीं होते। बस इसीसे संघर्ष तीव्र होजाता है। जबतक पूंजीवाद अपनी सत्ता क़ायम रखने के लिए लोकसत्तात्मक संस्थाओं के साधन काम में ले सकता है, तबतक लोक-सत्ता को क़ायम रहने दिया जाता है। जब यह सम्भव नहीं रहता, तब पूंजीवाद लोक-सत्ता को परे फेंक देता है और हिंसा और आतंकवाद का खुला फ़ैसिस्ट तरीक़ा इख़्ति-यार कर लेता है।

शायद रूस के सिवा योरप के सभी देशों में फ़ैसिज्म थोड़े-बहुत प्रमाण में मौजूद है। इसकी सबसे ताज़ा जीत जर्मनी में हुई है। इंग्लैण्ड में भी शासकवर्ग में फ़ैसिस्ट विचार फैल रहे हैं और उनका प्रयोग हम हिन्दुस्तान में तो अक्सर देखते ही हैं। संसार की रंग-भूमि पर आज फ़ैसिज्म पूंजीवाद का अन्तिम अस्त्र बनकर साम्यवाद से जूझ रहा है।

परन्तु फ़ैसिज्म की और बातें जाने दें तो भी उससे संसार को सतानेवाली आर्थिक समस्याओं का भी कोई हल नहीं मिलता। इसका तीव्र राष्ट्रवाद संसार की एक-दूसरे पर निर्भर रहने की वृत्ति के विरुद्ध पड़ता है और पूंजीवाद के पतन से उत्पन्न होने-वाली समस्यायें बढ़ती हैं। दूसरे देशों के प्रति इसकी जो आक्रमणकारी मनोवृत्ति है उससे राष्ट्रों में परस्पर संघर्ष पैदा होता है और इससे अक्सर युद्ध की नौबत आ जाती है।

: १७७ :

चीन की क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

२६ जून, १९३३

अब हम योरप और उसके असन्तोष को छोड़कर उससे भी बड़े उपद्रव के क्षेत्र, सुदूर पूर्व, चीन और जापान में चलें। चीन पर लिखे हुए अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हें बताया था कि इस युवा प्रजातन्त्र को कितनी मुश्किलें पेश आई हैं। यह प्रजातंत्र संसार की अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण संस्कृति की भूमि में स्थापित हुआ। उस वक़्त देश तहस-नहस होता दिखाई दे रहा था और तूशन और महातूशन नाम से पुकारे जानेवाले बेउसूल सेनानायकों की ताक़त बढ़ रही थी। ये लोग हमेशा आपस में लड़ते रहते थे। इन्हें अक्सर साम्राज्यवादी राष्ट्रों की तरफ़ से उत्साह और सहायता दी जाती थी, क्योंकि इन राष्ट्रों का स्वार्थ इसीमें था कि चीन दुर्बल हो और आपस में लड़ता रहे। इन तूशनों के कोई उसूल नहीं थे। उनमें से हरेक अपनी-अपनी बड़ाई चाहता था और वहां जो छोटे-छोटे गृह-युद्ध चलते रहते थे उनमें वे कभी इस तरफ़ हो जाते थे और कभी उस तरफ़। उनके और उनकी सेनाओं के गुज़र का भार अभागे किसानों पर पड़ता था। मैं तुम्हें यह भी बता चुका हूं कि चीन के महान् नेता डॉक्टर सनयातसेन ने दक्षिणी चीन में कैण्टन नगर में राष्ट्रीय सरकार संगठित की थी। इस महापुरुष ने जीवन-भर चीन की आज़ादी के लिए कोशिश की थी।

सारे देश पर विदेशी पूंजीवादी राष्ट्रों के आर्थिक स्वार्थों का प्रभाव था। ये शंघाई और हांगकांग वग़ैरा बड़े-बड़े बन्दरगाहवाले शहरों में बैठकर चीन के सारे विदेशी व्यापार का नियंत्रण करते थे। डॉक्टर सन ने बिलकुल सच कहा था कि आर्थिक दृष्टि से चीन इन राष्ट्रों का उपनिवेश है। एक मालिक का होना ही कम बुरी बात नहीं होती। कई मालिकों का होना कभी-कभी उससे भी बुरी बात है। डॉक्टर सन ने देश का औद्योगिक विकास करने और अपने घर का सुधार करने के लिए विदेशों की सहायता लेने की कोशिश की थी। अमेरिका और ब्रिटेन से ख़ास उम्मीदें थीं, मगर दोनों ने या और भी किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र ने सहायता नहीं दी। चीन के शोषण में सबका स्वार्थ था। वे उसकी भलाई या बल-वृद्धि नहीं चाहते थे। तब १९२४ में डॉक्टर सन ने रूस की तरफ़ नज़र डाली।

चीन के विद्यार्थियों और शिक्षित वर्ग में गुप्त रूप से पर तेज़ी के साथ साम्यवाद बढ़ रहा था। १९२० में एक साम्यवादी दल बन चुका था और वह गुप्त समिति के रूप में काम करता रहा, क्योंकि वहां की मुख़तलिफ़ सरकारों ने उसे खुले तौर पर तो

काम करने नहीं दिया। डॉक्टर सन साम्यवाद से दूर ही रहते थे। उनके मशहूर 'जनता के तीन उसूलों' से मालूम होता है कि वे नरम समाजवादी थे। मगर उनपर इस बात की अच्छी छाप पडी कि सोवियट रूस का चीन और दूसरे पूर्वी राष्ट्रों के साथ उदार और अच्छा बर्ताव है। उन्होंने रूस के साथ दोस्ताना ताल्लुक़ात पैदा कर लिये और कुछ रूसी सलाहकार रख लिये। इनमें से बोरोडीन ज्यादा मशहूर था। वह एक निहायत क़ाबिल बोलशेविक था। बोरोडीन कैण्टन के राष्ट्रीय दल काउ-मिन-ताँग के लिए एक जबरदस्त मददगार साबित हुआ। उसने चीन में एक ऐसे बलशाली राष्ट्रीय दल के निर्माण और संगठन के लिए परिश्रम किया जिसकी पीठ पर सर्वसाधारण का सहारा हो। उसने बिलकुल साम्यवादी ढंग पर ही काम करने की कोशिश नहीं की। उसने दल की राष्ट्रीय बुनियाद क़ायम रक्खी, मगर काउ-मिन-तांग में साम्यवादियों के लिए भरती होने का दरवाजा खुलवा दिया। इस तरह राष्ट्रीय काउ-मिन-ताँग और साम्यवादीदलों में एक तरह का बेजाब्ता मेल होगया। काउ-मिन-ताँग के बहुत-से अनुदार और धनी सदस्यों को साम्यवादियों का यह सम्पर्क पसन्द नहीं था। उधर बहुत-से साम्यवादियों को भी यह अच्छा नहीं लगता था। इसका कारण यह था कि उन्हें अपना कार्यक्रम नरम बनाना पड़ता था और बहुत-सी ऐसी बातें करने से बाज रहना पड़ता था जो वे दूसरी सूरत में करते। यह मेल बहुत दिन नहीं टिका। हम देखेंगे कि यह एक नाजुक मौक़े पर टूटा और उससे चीन पर बडी विपत्ति आई। जिन दो या अधिक वर्गों के स्वार्थ आपस में टकराते हों उन्हें एक ही दल में मिलाकर रखना हमेशा मुश्किल होता है। परन्तु जबतक यह मेल क़ायम रहा तबतक ख़ूब कामयाब हुआ और काउ-मिन-ताँग और कैण्टन सरकार का बल बढ़ता गया। किसान-सभाओं और मजदूर-संघों को प्रोत्साहन दिया गया और उनका तेजी से विस्तार हुआ। आम जनता की इसी मदद से कैण्टन की काउ-मिन-ताँग को सच्ची सत्ता प्राप्त हुई। इसीसे जमीन के मालिक नेताओं के कान खडे हुए और आगे चलकर उन्हें दल को तहस-नहस करने की प्रेरणा मिली।

बहुत बातों में जबरदस्त फ़र्क़ होते हुए भी चीन और भारत की स्थिति में बडी समानता है। चीन असल में कृषि-प्रधान देश है। वहाँ बेशुमार किसान हैं। पूंजीवादी उद्योग सिर्फ़ छः-सात बडे-बडे शहरों में ही हैं और विदेशियों के हाथों में हैं। करोडों किसान क़र्ज के भयंकर बोझ से पिसे जा रहे हैं। लगान की दर बहुत ऊँची है और हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी किसानों को कई महीने मजबूरन बेकार रहना पड़ता है। उन दिनों खेतों में बहुत कम काम रहता है। इस तरह इस ख़ाली समय को भरने और उनकी आमदनी बढ़ाने के लिए गृह-उद्योगों की जरूरत है। अब तो वहाँ बहुत-से गृह-उद्योग हो भी गये हैं। वहाँ बडी-बडी जमींदारियाँ बहुत कम हैं। जब कोई बडी

जमींदारी बनती है तो वारिसों में बँटकर उसके जल्दी ही छोटे-छोटे हिस्से होजाते हैं। क़रीब-क़रीब आधे किसानों के अपने खेत हैं और आधे जमींदारों की जमीन जोतते हैं। इस तरह चीन छोटे-छोटे बेशुमार किसानों का देश है। सैकडों वर्षों से चीनी किसानों को यह श्रेय है कि वे जमीन में से अधिक-से-अधिक सार निकाल लेते हैं। उनके खेत इतने छोटे हैं कि उन्हें मजबूर होकर ऐसा करना पड़ता है। वे अपनी विलक्षण सूझ काम में लाते हैं और भयंकर परिश्रम करते हैं। मेहनत बचाने की कृषि की आधुनिक सुविधायें उनके पास नहीं है। वर्ना जितना फल उन्हें मिलता है उसके लिए इतनी कठोर मेहनत न करनी पड़ती।

इस सारी सूझ और कडी मेहनत के बावजूद लगभग आधे किसानों का आमद-खर्च बराबर नहीं होता था और वे अपनी छोटी-छोटी उम्र यूंही आधेपेट गुजार देते थे। हिन्दुस्तान के बेशुमार किसानों का भी यही हाल होता है। चीनी किसान सदा ही नंगे-भूखे-से रहते थे और जब अकाल और बाढ़ का संकट आता तो लाखों बेमौत मर जाते। बोरोडीन की सूचना पर डॉक्टर सन की सरकार नें किसानों और मजदूरों की मुसीबत दूर करने के लिए क़ानून बनाये, लगान पौना कर दिया गया, मजदूरों के लिए आठ घण्टे की मेहनत और जीवन-निर्वाह के योग्य मजदूरी मुक़र्रर की गई और किसान-संघ स्थापित किये गये। स्वभावतः इन सुधारों का सर्वसाधारण ने स्वागत किया और उनके दिल उत्साह से भर गये, वे नये संघों में धड़ाधड़ शामिल होगये और कैण्टन-सरकार की मदद के लिए खडे होगये।

इस तरह कैण्टन ने अपनी शक्ति मजबूत करके उत्तर के तूशनों से भिड़न्त करने की तैयारी करली। एक फ़ौजी कालेज खोल दिया गया और सेना का निर्माण किया गया। कैण्टन में ही नहीं, सारे चीन में और कुछ हद तक पूर्व-भर में एक दिलचस्प घटना यह होरही है कि धार्मिक सत्ता का स्थान भौतिक सत्ता लेती जा रही है। संकुचित अर्थ में तो चीन कभी धार्मिक देश नहीं रहा। अब वह और भी भौतिक होगया है। पहले शिक्षा धार्मिक थी, अब भौतिक करदी गई है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि चीन के बहुत-से प्राचीन मन्दिर अब सार्वजनिक उपयोग के काम में लाये जा रहे हैं। कैण्टन के एक मशहूर और पुराने मन्दिर में आजकल पुलिस को तालीम दी जाती है। दूसरे स्थान पर मन्दिरों को बदलकर तरकारी के बाजार बना दिये गये हैं। धार्मिक अन्ध-विश्वास को दूर करने के लिए संस्थायें बन गई हैं। वे प्रचार-कार्य करती हैं।

डॉक्टर सनयातसेन १९२५ के मार्च में मर गये, मगर कैण्टन-सरकार की ताक़त बढ़ती गई। बोरोडीन उसका सलाहकार बना रहा। थोडे समय बाद कुछ घटनायें

ऐसी हुई जिनसे चीन-निवासी विदेशी पूंजीपतियों और ख़ास तौर पर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ ग़ुस्से से भर गये। शंघाई की मिलों में हड़तालें हुई थीं और १९२५ की मई में एक प्रदर्शन में एक मजदूर मारा गया। उसकी स्मृति में एक विशाल सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया था। उस अवसर पर विद्यार्थियों और मजदूरों ने साम्राज्य-विरोधी प्रदर्शन किये। एक अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने अपने मातहत सिक्ख सिपाहियों को इस भीड़ पर गोली चलाने का हुक्म दिया। हुक्म मारने के लिए गोली चलाने का था। कई छात्र मारे गये। इससे चीन-भर में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ ग़ुस्से की आग भभक उठी। बाद की एक घटना ने स्थिति को और भी विगाड़ दिया। यह घटना १९२५ के जून में कैण्टन की शमीन नामक विदेशी वस्ती में हुई। वहाँ मुख्यतः चीनी विद्यार्थियों की भीड़ पर मशीनगन चला दी गई। ५२ आदमी मारे गये और बहुत-से घायल हुए। इस घटना को 'शमीन का हत्या-काण्ड' नाम दिया गया और इसके लिए मुख्यतः अंग्रेज़ों को दोषी ठहराया गया। कैण्टन में ब्रिटिश माल के राज-नैतिक वहिष्कार की घोषणा करदी गई और कई महीने तक हाँगकाँग का व्यापार वन्द कर दिया गया। इससे अंग्रेज व्यवसायियों और ब्रिटिश सरकार को वड़ा नुक़सान हुआ। तुम्हें शायद मालूम है कि हांगकांग दक्षिण चीन में अंग्रेज़ों का इलाक़ा है। यह कैण्टन के पास ही है और यहाँसे वहुत वड़ा व्यापार होता है।

डॉक्टर सन की मृत्यु के वाद कैण्टन-सरकार के दाहिने और वायें अंगों यानी नरम और गरम दलों में लगातार कशमकश रही। कभी एक पक्ष के हाथ में सत्ता आजाती तो कभी दूसरे के हाथ में। १९२६ के मध्य में नरम दली च्यांग-काई-शेक प्रधान सेनापति वना और उसने साम्यवादियों को धकेल वाहर करना शुरू कर दिया। फिर भी दोनों दल किसी तरह एक हद तक साथ-साथ काम करते रहे। उनके दिलों में परस्पर अविश्वास जरूर था। उसके वाद कैण्टन की सेना का तूशनों से लड़ने और उन्हें निकाल वाहर करने के लिए उत्तर की तरफ़ वढ़ना शुरू हुआ। उसका उद्देश्य सारे देश में एक राष्ट्रीय सरकार क़ायम करना था। यह कूच एक असाधारण घटना थी और शीघ्र ही सारे संसार का ध्यान उसकी तरफ़ खिंच गया। असल में लड़ाई भी वहुत कम हुई और दक्षिण की सेना फ़तह-पर-फ़तह हासिल करती हुई तेजी से आगे वढ़ती गई। उत्तर वालों में फूट थी, लेकिन दक्षिण वालों की असली ताक़त इस वात में थी कि किसान और मजदूर उन्हें चाहते थे। उनकी फ़ौज के आगे-आगे प्रचारकों और आन्दोलकों की टुकडी चलती थी और वह किसानों और मजदूरों के संघ संगठित कर-करके उन्हें समझाती थी कि कैण्टन-सरकार के मातहत होने पर उन्हें क्या-क्या लाभ होंगे। इसलिए नगर और गाँव दोनों ने वढ़ती हुई फौज का स्वागत किया

और उसे हर तरह मदद दी। कैण्टन की सेना के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए जो फ़ौजें भेजी जातीं वे शायद ही कभी लड़तीं और अक्सर सब सामान-सहित उसमें आकर मिल जातीं। १९२६ का साल ख़त्म होने से पहले राष्ट्रवादियों ने आधा चीन पार कर लिया और याँगत्सी नदी पर हैंकन का बड़ा शहर ले लिया। उन्होंने अपनी राजधानी कैण्टन से हटाकर हैंकन में करली और उसका नाम बदल कर वूहन रख लिया। उत्तरी सेनापतियों को पस्त करके भगा दिया गया। साम्राज्यवादी सत्ताओं की अकस्मात् आँख खुली। उन्हें बुरा तो लगा; परन्तु उन्होंने देख लिया कि एक नवीन और आक्रमणकारी राष्ट्रवादी चीन सामने खड़ा है, जो समानता का दावा करता है और धमकी में आने से इन्कार करता है।

१९२७ के शुरू में राष्ट्रवादियों ने हैंकन की ब्रिटिश रियायती बस्ती पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की। इसपर चीनियों और अंग्रेज़ों में संघर्ष होगया। अगर इस तरह का उत्तेजनापूर्ण रुख़ चीनी लोग पहले कभी इख़्तियार करते तो लड़ाई छिड़ जाती और ब्रिटिश सरकार उन्हें कुचल डालती। इतना ही नहीं, वह उन्हें डरा-धमकाकर हर्जाने और रिआयतें वसूल करती। १८४० के अफ़ीम के युद्ध से अबतक सदा यही रिवाज चला आता था, यह हम देख चुके हैं। मगर अब ज़माना बदल गया था और अंग्रेज़ों के मुक़ाबिले में नई तरह का चीन खड़ा था। इसलिए तुरन्त और पहली ही बार अँग्रेज़ों की नीति बदली और नवीन चीन के प्रति उन्होंने नरम रुख़ इख़्तियार किया। हैंकन की बस्ती का मामला छोटा-सा था और आसानी से तय हो सकता था। परन्तु उससे थोडी ही दूर पर और राष्ट्रवादियों की कूच के रास्ते में ही शंघाई का बड़ा बन्दरगाह था। चीन में विदेशियों के अधिकार में यह सबसे बड़ा और क़ीमती रिआयती क्षेत्र था। शंघाई की क़िस्मत के साथ विदेशियों के बडे-बडे स्वार्थ लगे हुए थे। वह शहर---नहीं, उसका रिआयती भाग---विदेशी नियंत्रण में था और क़रीब-क़रीब चीनी सरकार की सत्ता से स्वतंत्र था। जब चीन की राष्ट्रीय सेना शंघाई के क़रीब पहुँचने लगी, तो शंघाई के इन विदेशियों और उनकी सरकारों को बडी चिन्ता हुई और उनकी सेना और लड़ाकू जहाज शीघ्र उस बन्दर पर पहुँच गये। १९२७ के शुरू जनवरी में ब्रिटिश सरकार ने ख़ासतौर पर बडी-सी सेना शंघाई भेजदी। इसमें हिन्दुस्तानी सिपाही भी थे।

उस वक़्त हैंकन या वूहन में क़ायम राष्ट्रीय सरकार के सामने एक मुश्किल समस्या पैदा होगई---आगे बढ़ा जाय या न बढ़ा जाय, और शंघाई को लेलिया जाय या नहीं? उन्हें अबतक आसानी से जो कामयाबी मिली थी उससे उनका हौसला बढ़ गया था और उनमें उत्साह भर गया था। शंघाई था भी अत्यन्त आकर्षक

पुरस्कार। उधर वे केवल आगे बढ़ ही रहे थे और ५०० मीलों से भी ज्यादा लम्बा-चौड़ा इलाक़ा पार कर आये थे, मगर उन्होंने वहाँ अपनी हालत मजबूत बनाने का उपाय नहीं किया था। इस हालत में अगर वे शंघाई पर हमला कर देते तो विदेशी सत्ताओं से भिड़कर मुश्किलों में फँस जाते। मुमकिन है इससे उन्होंने जो कुछ हासिल किया था वह भी ख़तरे में पड़ जाता। बोरोडीन ने सावधानी से चलने और स्थिति को मजबूत कर लेने की सलाह दी। उसकी राय यह थी कि राष्ट्रवादियों को शंघाई से अलग ही रहना चाहिए और चीन के दक्षिणी आधे भाग में, जहाँ उनका अधिकार क़ायम हो चुका था, अपनी स्थिति दृढ़ कर लेनी चाहिए। इस बीच में उत्तर में प्रचार-कार्य के जरिये जमीन तैयार करनी चाहिए। उसे उम्मीद थी कि बहुत जल्दी यानी एकाध वर्ष में ही सारा चीन राष्ट्रवाद के आगमन का स्वागत करेगा। उस वक़्त शंघाई को लेलेने, पेकिंग पर कूच करने और विदेशी सामाज्यवादी शक्तियों का सामना करने का मौक़ा मिलेगा। क्रान्तिकारी होकर भी बोरोडीन ने यह सावधानी की सलाह दी, क्योंकि वह अनुभवी था और परिस्थिति विशेष को पैदा करनेवाले भिन्न-भिन्न तत्त्वों को समझ सकता था। परन्तु काउ-मिन-ताँग के दाहिने अंग के नेताओं ने और ख़ास तौर पर प्रधान सेनापति च्यांग-काई-शेक ने शंघाई की तरफ़ कूच करने पर जोर दिया। शंघाई को लेलेने की इस इच्छा का असली कारण आगे चलकर उस वक़्त जाहिर हुआ जब काउ-मिन-ताँग के बिखरकर दो टुकडे होगये। इन दाहिने अंग के नेताओं को किसान और मजदूर-संघों की बढ़ती हुई ताक़त पसन्द न थी। बहुत-से सेनानायक ख़ुद भू-स्वामी थे। इसलिए उन्होंने इन संघों को कुचल देने का फ़ैसला कर लिया, भले ही इसमें दल के दो टुकडे हो जायँ और राष्ट्रवादी पक्ष कमजोर हो जाय। शंघाई बडे-बडे चीनी अमीरों का महत्वपूर्ण केन्द्र था। दाहिने अंग के यानी प्रतिगामी सेनानायकों को यह विश्वास था कि ये अमीर उन्हें अपने दल के प्रगतिशील अंग और ख़ासतौर पर साम्यवादियों से लड़ने में रुपये-पैसे की और दूसरी मदद देंगे। वे यह भी जानते थे कि ऐसी लड़ाई में उन्हें शंघाई के विदेशी साहूकारों और कारख़ानेदारों से भी मदद मिलेगी।

इसलिए उन्होंने शंघाई पर कूच कर दी। १९२७ के १२ मार्च को शहर का चीनी हिस्सा उनके हाथ आ भी गया। विदेशी बस्ती पर उन्होंने हमला नहीं किया। शंघाई का यह पतन हुआ भी बहुत लड़ाई के बिना ही। विरोधी सेनायें राष्ट्रवादियों में जा मिलीं और राष्ट्रवादियों के पक्ष में मजदूरों की आम हड़ताल हो जाने से शंघाई की तत्कालीन सरकार का पूरी तरह पतन होगया। दो दिन बाद नानकिंग का बड़ा शहर भी राष्ट्रीय सेना के क़ब्जे में आगया। इसके बाद ही काउ-मिन-ताँग दल के उग्र

और नरम अंगों में फूट हुई। इससे राष्ट्रीय विजय का अन्त होगया और चीन पर विपत्ति आगई। क्रान्ति ख़त्म हुई और प्रति-क्रान्ति शुरू होगई।

च्यांग-काई-शेक ने हैंकन-सरकार के बहुत-से मन्त्रियों की इच्छा के ख़िलाफ़ शंघाई पर कूच किया था। इसलिए दोनों दल एक-दूसरे के ख़िलाफ़ साजिश करने लगे। हैंकनवालों ने सेना पर च्यांग का प्रभाव घटाने और उससे पिण्ड छुड़ाने की कोशिश की। च्यांग ने नानकिंग में दूसरी सरकार क़ायम करली। यह सब शंघाई की विजय के थोड़े दिन बाद ही होगया। हैंकन की अपनी ही सरकार से विद्रोह करके अब च्यांग ने अपना स्वरूप पूरी तरह प्रकट कर दिया और साम्यवादियों, उग्रदलवालों और संघ वाले मजदूरों पर हल्ला बोल दिया। जिन मजदूरों की बदौलत वह शंघाई पर इतनी आसानी से क़ब्जा कर पाया था और जिन्होंने खुशी से पागल होकर उसका स्वागत किया था, उन्हींको अब उसने चुन-चुनकर सताया और कुचल दिया। बहुत लोगों को गोली या तलवार से मार दिया गया और हजारों को गिरफ़्तार करके जेलख़ाने भेज दिया गया। लोगों की धारणा यह थी कि राष्ट्रवादी शंघाई में स्वतन्त्रता की धारा बहायेंगे; और हुआ यह कि ख़ून की नदियाँ बह निकलीं।

१९२७ के अप्रैल मास के इन्हीं दिनों में एक ही रोज पेकिंग और शंघाई के सोवियट दूतावासों की एकसाथ तलाशियाँ हुई। यह साफ़ जाहिर था कि च्यांग-काई-शेक उत्तरी सेनानायक चैंग सोलिन से मिलकर कार्रवाई कर रहा है। वैसे इन दोनों में लड़ाई समझी जाती थी। पेकिंग और शंघाई दोनों में साम्यवादियों और प्रगतिशील मजदूरों का 'सफ़ाया' किया गया। साम्राज्यवादी सत्ताओं ने तो इन घटनाओं का स्वागत किया ही। उन्हें यह काम इसलिए पसन्द था कि इससे चीनी राष्ट्रवादियों की एकता भंग होकर उनका बल क्षीण होता था। यह बहुत मुमकिन है कि उस वक़्त च्यांग-काई-शेक का शंघाई-स्थित विदेशी राष्ट्रों से खुफ़िया ताल्लुक़ हो। आगे चलकर तो इसमें कोई शक नहीं रहा कि उसने उनका सहयोग चाहा था। तुम्हें याद होगा कि लगभग उसी समय, यानी १९२७ के मई में, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन के सोवियट भवन की तलाशी ली थी और फिर रूस के साथ ताल्लुक़ात तोड़ दिये थे।

इस तरह एक-दो महीने के अन्दर ही चीन का सारा नक़्शा बदल गया। जो काऊ-मिन-तांग ऐक्य और विजय की पताका फहराता हुआ चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधि था और सफलता का सेहरा सिर पर बाँधे हुए विदेशी सत्ताओं के सम्मुख खड़ा हुआ था, वही काउ-मिन-ताँग अब तहस-नहस होगया था, उसके भिन्न-भिन्न अंग आपस में लड़ रहे थे, और जिन मजदूरों और किसानों ने उसे जीवन और बल दिया था वे ही अब

सताये और मारे जाते थे। शंघाई के विदेशी स्वार्थों को फिर सुख की साँस लेने का मौक़ा मिला। वे बडे कृपा-पूर्ण हाथों से एक समूह को दूसरे के ख़िलाफ़ मदद देने लगे। मजदूरों को भड़काने और सताने का लाभदायक और सुखद मनोरंजन वे खास तौर पर करने लगे। शंघाई ही क्या, चीन भर के कारखानों के मजदूरों का मालिक लोग भयंकर शोषण करते थे और उनका जीवन और रहन-सहन अत्यन्त दुःखी था। संगठन से उन्हें वल मिला था और मालिकों को मजवूर होकर उनकी मजदूरी वढ़ानी पडी थी। इस कारण कारख़ानेदारों को—भले ही वे यूरोपियन हों या जापानी और चीनी हों—मजदूर-संघ नहीं सुहाते थे।

चीन में घटना-चक्र जिस तरह चल पड़ा उसपर मास्को में वोरोडीन की कडी टीका हुई और १९२७ के जुलाई में वह रूस चला गया। उसके जाते ही हैंकन के काउ-मिन-ताँग दल का उग्र पक्ष छिन्न-भिन्न होगया। अब काउ-मिन-ताँग पर नानकिंग-सरकार का पूरा नियंत्रण होगया और साम्यवादियों के ख़िलाफ़ ख़ास तौर पर, और वैसे सभी उग्र दलवालों और मजदूर नेताओं के ख़िलाफ़, लड़ाई जारी रही। इस अवसर पर जो लोग चीन छोड़कर चले गये, या जिन्हें निकाल दिया गया, उनमें से महान नेता सनयातसेन की आदरणीया विधवा श्रीमती सन भी थीं। उन्होंने दुःखित होकर घोषणा की कि सेनावादियों और दूसरे लोगों ने चीन की स्वतन्त्रता के लिए किया गया उनके पतिदेव का महान् कार्य नष्ट कर दिया। फिर भी ये सेनावादी डाक्टर सन के उसूलों की ही दुहाई देते रहे।

चीन फिर सेनानायकों की आपसी लड़ाइयों की भूल-भुलैया में फँस गया। कैण्टन ने नानकिंग-सरकार से अलग होकर दक्षिण में अपनी स्वतन्त्र सरकार क़ायम करली। १९२८ में पेकिंग नानकिंग-सरकार के हाथ पड़ गया। उसका नाम वदलकर पीपिंग रख दिया गया। इसका अर्थ 'उत्तरी शान्ति' है और पेकिंग का अर्थ 'उत्तरी राजधानी' है। मगर अब वह राजधानी तो रहा नहीं।

पेकिंग के पतन के वाद—हाँ, अब तो हमें उसे पीपिंग कहना चाहिए—देश के मुख्तलिफ़ हिस्सों में गृह-युद्ध जारी रहा। कैण्टन में तो अलग सरकार वन ही गई थी। उत्तर में भी भिन्न-भिन्न सेनानायक अपनी मनमानी करते, परस्पर लड़ते रहते और कभी-कभी थोडे दिन के लिए आपस में सुलह कर लेते थे। कहने को कैण्टन के सिवा सारे चीन में नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार का शासन था; मगर कई इलाक़े उसकी हुकूमत के वाहर थे। उनमें से उल्लेखनीय एक वड़ा भीतरी प्रदेश था। वहाँ साम्यवादी शासन कायम होगया था। नानकिंग-सरकार का मुख्य आधार, आर्थिक सहायता के लिए, शंघाई के कोठी वालों पर था। अलग-अलग सेनानायकों की वड़ी-वड़ी सेनाओं

का बोझ किसानों पर भयंकर होगया। बेशुमार सिपाही काम की तलाश में देहातों में आवारा फिरने और काम न मिलने पर अक्सर लूटमार करने लगे।

१९२७ के दिसम्बर में नानकिंग-सरकार और सोवियट रूस के सम्बन्ध टूट गये और साम्राज्यवादी सत्ताओं की शह पाकर नानकिंग ने आगे बढ़कर सोवियट का विरोध करने की वृत्ति धारण करली। अगर रूस बराबर युद्ध को टालता न रहता तो १९२७ में ही चीन से उसकी जंग छिड़ जाती। १९२९ में चीन ने फिर आक्रमणकारी ढंग इख्तियार किया। इस बार मंचूरिया में ऐसा हुआ। वहाँके सोवियट दूतावास की तलाशी ली गई और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियों को बरखास्त कर दिया गया। यह रेलवे अधिकांश में रूसी सम्पत्ति थी और सोवियट सरकार ने चीनियों के खिलाफ़ तुरन्त कार्रवाई की। कुछ महीनों तक एक तरह का जंग रहा। उसके बाद सरकार ने पुरानी व्यवस्था फिर से क़ायम करने की रूसी माँग स्वीकार करली।

मंचूरिया से और उसके बीच में होकर निकली हुई रेलवे से कई बार अन्तर्राष्ट्रीय पेचीदगियाँ पैदा हुई हैं, क्योंकि वहाँ बहुत-से, और ख़ासकर चीन, जापान और रूस के, स्वार्थ टकराते हैं। पिछले दो वर्षों में दुनियाभर के नाराज होने पर भी जापान ने उसपर पूरा नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की और उसमें वह प्रायः सफल भी हो गया है। इसका हाल अगले ख़त में बताऊँगा।

मैंने ऊपर जिक्र किया है कि चीन के कुछ हिस्सों में साम्यवादी सरकार क़ायम हुई है। यह सरकार आज भी मौजूद है। हाँ, यह स्पष्ट नहीं है कि इसका बल कितना है और इसका अधिकार कितने विस्तार में है। मालूम होता है दक्षिण के क्वांटंग प्रान्त के हेफंग जिले में १९२७ के नवम्बर में पहलेपहल साम्यवादी शासन क़ायम हुआ था। यह 'हेफ़ंग सोवियट प्रजातन्त्र' कहलाया। इसका विकास अलग-अलग किसान-संघों में से हुआ था। चीन के भीतरी भागों में सोवियट इलाक़ा बढ़ता गया और १९३२ के मध्य तक असली चीन का छठा भाग उसमें शामिल होगया। इसका विस्तार २,५०,००० वर्गमील और जन-संख्या ५ करोड़ होगई। इस इलाक़े पर साम्यवादी दल का सम्पूर्ण अधिकार है और कहते हैं वहाँ अनुशासन का भी अच्छा पालन होता है। उन लोगों ने चार लाख आदमियों की लाल सेना बनाली है और उसके सहायक अंगों में लड़के और लड़कियाँ भी शामिल होगये हैं। नानकिंग और कैण्टन दोनों सरकारों ने इन चीनी सोवियटों को कुचलने में कोई कसर नहीं रक्खी है, मगर अभीतक उन्हें सफलता नहीं मिली। इसका एक कारण तो यह है कि कम्यूनिस्ट इलाक़ा भीतरी भागों में है और वहाँ आवागमन के साधन अच्छे न होने के कारण वह दुर्गम है। दूसरा कारण यह है कि काउ-मिन-ताँग का प्रभाव तो

जल्दी-जल्दी नष्ट हो रहा है और सोवियटों की लोकप्रियता और ताकत बढ़ रही है। साम्यवाद के लिए कहा जाता है कि वह उद्योग-प्रधान देशों में ही फलता-फूलता है, और ये चीनी सोवियट प्रजातन्त्र ठहरे बहुत पिछडे हुए और दुनिया से अलग-थलग। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये चीन के भविष्य का निर्माण करने में महत्वपूर्ण काम करेंगे। आज भी इनके अधिकार में बहुत बड़ा प्रदेश है। वह क़रीब-क़रीब संयुक्तप्रान्त, दिल्ली, पंजाब, और सीमाप्रान्त के सम्मिलित इलाक़े के बराबर है; यानी बनारस से पेशावर तक उसका विस्तार हो सकता है। आबादी भी संयुक्तप्रान्त से अधिक है।

आज मेरी गिरफ़्तारी को अठारह महीने होगये! पूरा डेढ़ वर्ष निकल गया!

: १७८ :

जापान सारी दुनिया को अँगूठा दिखाता है

२९ जून, १९३३

हम चीन के अंग-भंग की दुःखद कहानी सुन चुके हैं। हमने यह भी देख लिया कि किस तरह क्रान्ति पहले तो विजयी हुई और फिर अचानक वह बेदम होगई और भयंकर प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के ख़िलाफ़ होनेवाली प्रतिक्रिया उसे निगल गई। पर कहानी अभी ख़त्म नहीं हुई। अभी और बाक़ी है। जिस वक़्त यह लिख रहा हूँ, उस वक़्त भी चीन के अंग-भंग का सिलसिला जारी है। क्रान्ति के असफल होने की वजह यह थी कि राष्ट्रीयता के बन्धनों में जितना बल था उससे ज्यादा ताक़त वर्ग-भावना के स्वार्थ और संघर्ष में थी। अमीरों और भूस्वामियों ने किसानों और मजदूरों की प्रधानता क़ायम होने से राष्ट्रीय आन्दोलन की कमर तोड़ देना अच्छा समझा। हिन्दुस्तान में भी हमें आज यही बात दूसरी शक्ल में होती हुई नजर आ रही है।

चीन के लिए भीतरी झगडे तो थे ही, अब उसको एक विदेशी दुश्मन के संकल्प-पूर्ण आक्रमण का सामना भी करना था। यह दुश्मन जापान था और वह चीन की कमजोरी और दूसरे राष्ट्रों के और-और झंझटों में फँसे रहने से फ़ायदा उठाने पर तुला हुआ था।

जापान आधुनिक उद्योगवाद और मध्यकालीन सामन्तशाही का और प्रतिनिधि-शासन तथा स्वेच्छाचार एवं सैनिक नियंत्रण की खिचडी का एक अजीब नमूना है। भूस्वामी, शासकों और सैनिकवर्ग ने मिलकर इरादतन वहाँ ऐसा ख़ानदानी राज्य बनाने की कोशिश की है जिसमें सम्राट् सर्वोपरि अधिकारी और वे उसके सामन्त या

सरदार रहें। धर्म, शिक्षा और सभी बातों में यही ध्यान रक्खा गया है। धर्म-विभाग सरकारी नियन्त्रण में है, मन्दिरों और धर्म-स्थानों पर सरकारी अफ़सरों का सीधा क़ब्ज़ा है और पुजारी सरकारी नौकर हैं। इस तरह मन्दिरों और स्कूलों के ज़रिये प्रचार का एक ज़बरदस्त हथियार काम में लाया जा रहा है। वह लोगों को न सिर्फ़ देशभक्ति की शिक्षा देता रहता है, बल्कि उन्हें यह भी सिखाता रहता है कि सम्राट् दैवी पुरुष है और उसकी आज्ञा का पालन हर हालत में होना चाहिए। पुरानी वीर परम्परा से मिलते-जुलते अर्थ का जापानी शब्द 'वुशीदो' है। इसका अर्थ एक प्रकार की वंश-भक्ति है। इसी कल्पना का विस्तार करके उसे राज्य-भर पर लागू कर दिया गया है और सबसे ऊपर सम्राट् से इसका नाता जोड़ दिया गया है। असल में सम्राट् एक प्रतीक है और उसके नाम पर बड़े-बड़े भूस्वामी और सैनिक वर्ग शासन-सत्ता का संचालन करते हैं। उद्योगवाद के कारण जापान में एक अमीर वर्ग पैदा हुआ है, मगर बड़े-बड़े कारख़ानेदार भूस्वामियों में से ही बन गये हैं और इस कारण शक्ति एक अमीर वर्ग के हाथ में जाने की नौबत नहीं आई। नतीजा यह हुआ है कि जापान में थोड़े-से बलशाली परिवारों का देश के उद्योग और राजनीति दोनों पर एकाधिकार क़ायम होगया है।

जापान में बहुत ज़माने से बौद्ध धर्म लोकप्रिय रहा है, लेकिन शिण्टो मत राष्ट्रीय धर्म अधिक है और वह पूर्वजों की पूजा पर ज़ोर देता है। इस पूजा में राष्ट्र के पुराने सम्राटों और वीर पुरुषों की और ख़ास तौर पर उन लोगों की पूजा शामिल है जो लड़ाई में मारे गये हों। इस तरह शिण्टो धर्म देश-प्रेम और सम्राट्-भक्ति के भावों का प्रचार करने के लिए एक ज़बरदस्त और कारगर हथियार बन गया है। जापानी लोगों का विलक्षण देश-प्रेम और अपने वतन के लिए क़ुर्बानी करने की उनकी तैयारी मशहूर है। मगर यह बात बहुत लोग नहीं जानते कि यह देश-प्रेम बहुत आक्रमणकारी और विश्वव्यापी साम्राज्य के सपने देखनेवाला है। १९१५ के क़रीब जापान में एक नया सम्प्रदाय निकला। यह 'ओमोतो क्यो' कहलाता है और इसका प्रचार देशभर में बड़ी तेज़ी से होगया। इस सम्प्रदाय का ख़ास उसूल यह है कि जापान सारी दुनिया का शासक हो और सम्राट् उसका प्रमुख सत्ताधारी। इस सम्प्रदाय की तरफ़ से कहा गया था कि—

"हमारा उद्देश्य सिर्फ़ यही है कि जापान का सम्राट् सारे संसार का शासक बन जाय, क्योंकि संसार में वही ऐसा शासक है जिसमें सबसे प्राचीन स्वर्गवासी पूर्वज से विरासत में मिली हुई आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रचार की भावना बाक़ी है।"

हम देख चुके हैं कि महायुद्ध के समय जापान ने चीन को डरा-धमकाकर उससे

अपनी इक्कीस माँगें पूरी कराने की कोशिश की थी। इसपर अमेरिका और योरप में बड़ा शोर मचने से वह जितना चाहता था उतना सब तो उसे नहीं मिला, मगर बहुत कुछ मिल गया। युद्ध के बाद ज़ार का साम्राज्य टूट गया और जापान ने देखा कि एशिया में हाथ-पैर फैलाने का इससे अच्छा मौक़ा नहीं मिलेगा। उसकी फ़ौज साइ-बेरिया में घुस गई और उसके एजेण्ट ठेठ मध्य-एशिया में समरक़न्द और बुख़ारा तक जा पहुँचे। मगर सोवियट रूस के सम्हल जाने से, और कुछ अमेरिका के विरोध और अविश्वास के कारण, जापान के मंसूबे पूरे नहीं हुए। यह सदा याद रखने की बात है कि जापान और अमेरिका में ज़रा भी प्रेम नहीं है। वे एक-दूसरे से बड़ी नफ़रत करते हैं और प्रशान्त महासागर के आर-पार से एक-दूसरे को सशंक दृष्टि से देखते रहते हैं। १९२२ की वाशिंगटन-परिषद् से जापान की महत्वाकांक्षाओं पर पानी फिर गया और अमेरिका की राजनीति सफल होगई। इस परिषद् में जापान-सहित नौ राष्ट्रों ने चीन की अखण्डता का आदर करने की प्रतिज्ञा की। इसका यह अर्थ था कि जापान को चीन में फैलने की सारी आशायें छोड़नी होंगी। इस परिषद् में इंग्लैण्ड और जापान की संधि भी ख़त्म हुई और सुदूर पूर्व में जापान अकेला रह गया। ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर में एक ज़बरदस्त समुद्री क़िला बनाना शुरू कर दिया। यह साफ़ तौर पर जापान के लिए ख़तरनाक है। १९२४ में अमेरिका ने जापानियों के ख़िलाफ़ आयात-क़ानून पास किया। वह अपने यहाँ जापानी मजदूरों को नहीं आने देना चाहता था। इस जातीय भेद-भाव से जापान में बहुत और सारे पूर्व में कुछ-कुछ, रोष पैदा हुआ। मगर जापान अमेरिका का कुछ बिगाड़ नहीं सका। इस तरह अकेला पड़ जाने और चारों-तरफ़ दुश्मनों से घिर जाने पर जापान की नज़र रूस पर गई और १९२५ के जनवरी में उसके साथ सुलह होगई।

इसी बीच में जापान पर जो महान् विपत्ति आई और उसे बहुत कमज़ोर कर गई, उसका हाल तुम्हें अवश्य बताऊँगा। १९२३ के १ सितम्बर को वहाँ एक भयंकर भूकम्प आया और उसके साथ-साथ राजधानी टोकियो के विशाल नगर में तूफ़ान भी आया और आग भी लगी। यह विशाल नगर नष्ट होगया और योकोहामा बन्दर भी नेस्तनाबूद होगया। एक लाख से ऊपर आदमी मारे गये और बहुत भारी नुक़सान हुआ। जापानी लोगों ने इस विपत्ति का सामना साहस और दृढ़ता के साथ किया और पुराने टोकियो के खण्डहरों पर उन्होंने नया शहर खड़ा कर लिया।

जापान ने रूस के साथ अपनी कठिनाइयों की वजह से सुलह की थी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं था कि उसने साम्यवाद का समर्थन किया हो। साम्यवाद का अर्थ ही यह है कि सम्राट-पूजा, सामन्तशाही, शासकवर्ग द्वारा ग़रीबों का शोषण और

वर्तमान व्यवस्था की ऐसी सारी बातों का ख़ात्मा हो। जापान में सत्ताधारी पूँजीपति-वर्ग लोगों का अधिकाधिक शोषण कर रहा था, उनके कष्ट दिन-दिन बढ़ रहे थे और इसलिए वहाँ भी साम्यवाद फैल रहा था। आबादी तेज़ी से बढ़ रही थी। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया के वीरान जंगलों में भी जाकर जापानी लोग बस नहीं सकते थे। उनके लिये दरवाज़ा वन्द कर दिया गया था। चीन पास में था, मगर वहाँ पहले ही आबादी ज्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मंचूरिया में जा बसे थे। जापान के अपने ख़ास झगडे तो थे ही, दुनियाभर उद्योगवाद और व्यापार की मंदी के कारण जो कष्ट अनुभव कर रही थी उसका उसे भी सामना करना पड़ा। जब उसकी भीतरी परिस्थिति गम्भीर होने लगी, तो साम्यवादी और सभी उग्र विचारों का दमन शुरू होगया। १९२५ में एक 'शान्तिर-रक्षा क़ानून' पास हुआ। उसकी भाषा रोचक है, इसलिए इस क़ानून की पहली क़लम उद्धृत करता हूँ। वह यों है :--

"जिन्होंने राष्ट्र के विधान को बदलने या व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली को मिटाने की ग़रज़ से कोई मण्डल या पञ्चायत संगठित की है या जो उसके उद्देश्य को पूरी तरह जानकर उसमें शामिल हुए हैं, उन्हें मौत से लगाकर पाँच वर्ष क़ैद तक की सज़ा दी जायगी।"

यह क़ानून कितना ज्यादा सख़्त है कि इसमें न सिर्फ़ साम्यवाद की ही बल्कि सभी तरह के समाजवादी, उग्र या वैध सुधारों तक की मनाई करदी गई है। इससे यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि साम्यवाद के बढ़ने से जापानी सरकार कितनी डरी हुई है।

मगर साम्यवाद तो सामाजिक परिस्थिति से पैदा होनेवाले व्यापक दुखों का परिणाम है। जबतक इस परिस्थिति में सुधार नहीं होता तबतक सिर्फ़ दमन से काम नहीं चल सकता। इस वक़्त जापान में लोगों को भयंकर कष्ट है। चीन और हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी किसान क़र्ज़ के भारी बोझ से कुचले जा रहे हैं। ज़बरदस्त फ़ौजी ख़र्च और लड़ाई की ज़रूरियात की वजह से वहाँ टैक्स का बोझ ख़ास तौर पर भारी है। ऐसी ख़बरें भी आती हैं कि भूखों मरते हुए किसान घास और जड़ें खाकर गुज़र कर रहे हैं और अपने बच्चों तक को बेच रहे हैं। बेकारी के कारण मध्यमवर्ग का भी बुरा हाल है और ख़ुदकुशी बढ़ रही है।

साम्यवाद के विरोध का सिलसिला बडे पैमाने पर १९२८ के आरम्भ में शुरू हुआ। उस वक़्त एक रात में एक हज़ार से ज्यादा गिरफ़्तारियाँ हुई, मगर अख़बारों को एक महीने तक यह ख़बर छापने की इजाज़त नहीं मिली। तबसे पुलिस की तरफ़ से तलाशियाँ और बहुत ज्यादा तादाद में धर-पकड़ का ताँता-सा बँधा हुआ है।

सबसे बड़ा धावा पिछले साल यानी १९३२ के अक्तूबर में हुआ। उस वक़्त २२५० आदमी पकडे गये। इनमें से ज्यादातर आदमी मजदूर नहीं, बल्कि विद्यार्थी और शिक्षक हैं। इनमें सैकडों स्नातक यानी ग्रेजुएट और स्त्रियाँ हैं। यह बात अजीब-सी मालूम होती है कि जापान में बहुत-से मालदार युवकों का साम्यवाद की तरफ़ झुकाव हुआ है। पिछले दिनों एक बैंक भी लूटा गया है। यह साम्यवादियों का काम बताया जाता है और उन्होंने पुराने, रूसी और पोलिश 'भूतपूर्व मालिकों' (ex-proprietors) की नक़ल की है। पुलिस साम्यवाद और उग्र विचारों को दबाने में इतनी मशगूल रहती है कि उसे मामूली मुजरिमों के लिये बहुत कम वक़्त मिलता है। वहाँ भी हिन्दुस्तान की तरह उदात्त विचारक अपराधियों से ज्यादा ख़ौफ़नाक समझे जाते हैं। हिन्दुस्तान में मेरठ-षड्यन्त्र का मामला चला, कुछ जापानी साम्यवादियों के मुक़दमे भी वैसे ही बरसों तक चलते रहे हैं।

मैंने जापान के ये सब हालात तुम्हें इसलिए बता दिये हैं कि जापान ने मंचूरिया में जो करतूत की है उसकी भूमिका या जमीन के बारे में तुम्हें कुछ अन्दाज होजाय। अब मैं उस करतूत का कुछ हाल सुनाता हूँ।

पिछले ख़तों में मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जापान ने एशिया महाद्वीप की जमीन पर पहले कोरिया और फिर मंचूरिया में पैर जमाने की लगातार कोशिश की। १८९४ में चीन के और दस वर्ष बाद रूस के साथ जापान की जो लड़ाइयाँ हुई उन दोनों का यही मतलब था। जापान को कामयाबी मिली, और वह एक-एक क़दम आगे बढ़ता गया। कोरिया को उसने अपनेमें मिलाकर जापानी साम्राज्य का अंग ही बना लिया। रूस ने मंचूरिया के आरपार चीन की पूर्वी रेलवे बनाई थी। उसका एक हिस्सा जापान के नियन्त्रण में आ गया और उसका नाम दक्षिण मंचूरिया रेलवे रख दिया गया। इन सब तब्दीलियों के होते हुए भी सारे मंचूरिया पर चीन की ही हुकूमत थी और रेलवे के कारण चीनी लोग आ-आकर बडी तादाद में वहाँ बसते रहे। असल में ऐसा माना जाता है कि दुनिया के इतिहास में जितने जितने लोग इस तरह चीन के उत्तर-पूर्व के प्रान्तों में आकर बसे, उतने और कम ही स्थानों पर बसे हैं। १९२३ से १९२९ तक सात वर्ष के भीतर २५ लाख चीनियों ने देश-त्याग किया। मंचूरिया की आबादी अब तीन करोड़ है और इनमें से ९५ फ़ीसदी चीनी हैं। इस तरह तीनों प्रान्त पूरी तरह चीनी हैं। बाक़ी ५ फ़ीसदी रूसी, मंगोली ख़ानाबदोश, कोरियन और जापानी हैं। पुराने मंचू लोग चीनियों में मिल गये हैं और अपनी भाषा तक भूल बैठे हैं।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें १९२२ में वाशिंगटन कान्फ़रेन्स के मौक़े पर हुई

नौ राष्ट्रों की सन्धि का हाल बताया था। यह सुलह या सन्धि ख़ास तौर पर पश्चिमी राष्ट्रों की सूचना पर चीन में जापानियों के हथकण्डे रोकने के लिए हुई थी। साफ़ और असंदिग्ध शब्दों में जापान-सहित नवों राष्ट्रों ने 'चीन की सत्ता, स्वाधीनता और उसकी भूमि एवं शासन-संबंधी अखण्डता का आदर करना' मंजूर किया था।

कुछ वर्ष तक जापान ने कुछ नहीं किया। लेकिन परदे की आड़ में कुछ चीनी सेनापतियों या तूशनों को गृह-युद्ध जारी रखकर चीन को कमजोर करने में रुपये-पैसे की और दूसरी मदद करता रहा। उसने चंग सोलिन की खास तौर पर मदद की। इसका मंचूरिया और पेकिंग में भी बोलवाला था और जबतक दक्षिण के राष्ट्र-वादियों की विजय न हुई तबतक उसीका बोलबाला रहा। १९३१ में जापानी सरकार ने मंचूरिया में खुले तौर पर आक्रमणकारी रवैया इख़्तियार कर लिया। इसकी वजह यह भी हो सकती है कि जापान की भीतरी आर्थिक हालत बहुत ख़राब हो चली थी और इसलिए सरकार मजबूर होकर विदेश में ऐसा काम कर रही थी, जिससे लोगों का ध्यान बँट जाय और घर की खींचतान कुछ कम हो जाय, या सैनिक दल का शासन में बहुत जोर बढ़ गया हो या यह ख़याल होगया हो कि दूसरे सब राष्ट्रों को तो अपने-अपने झगडों और व्यापारिक मन्दी की चिन्ता है, इसलिए कोई बोलनेवाला नहीं है। शायद इन सभी कारणों से प्रेरित होकर जापान ने इतनी ख़तरनाक कार्रवाई की हो। इस कार्रवाई से १९२२ की नौ राष्ट्रों की संधि तो टूटती ही थी, यह बात राष्ट्र-संघ के नियमों के भी ख़िलाफ़ थी, क्योंकि चीन और जापान दोनों ही राष्ट्र-संघ के सदस्य थे और उसकी मंजूरी के बिना एक-दूसरे पर हमला नहीं कर सकते थे, और १९१८ में युद्ध को ग़ैर-क़ानूनी कर देने के लिए पैरिस में जो केलाग-संधि हुई थी उसका भी साफ़ तौर पर भंग होता था। चीन के ख़िलाफ़ लड़ाई की कार्रवाइयां करके जापान ने जान-बूझकर ये अहदनामे और वादे तोड़ डाले और संसार-भर का विरोध मोल ले लिया।

अलबत्ता उसने यह बात साफ लफ़्ज़ों में नहीं कही। जापानी सरकार ने कुछ ऐसे कमज़ोर और झूठे बहाने बनाये कि मंचूरिया में डाकुओं का उपद्रव है और वहाँ ऐसी छोटी-मोटी घटनायें होगई हैं कि व्यवस्था और जापानी हितों की रक्षा के लिए मजबूर होकर फ़ौज भेजनी पडी है। साफ़ तौर पर लड़ाई का ऐलान नहीं किया गया, फिर भी जापानियों की तरफ़ से मंचूरिया पर हमला होगया। इससे चीनी लोग बडे नाराज हुए। चीनी सरकार ने नाराजगी जाहिर की, और राष्ट्र-संघ और दूसरे राष्ट्रों से फ़रियाद की, मगर किसीने कोई ध्यान नहीं दिया। सभी देश अपने-अपने झगडों के मारे तंग थे। जापान का विरोध करके नई इल्लत कौन मोल ले? यह भी मुम-

किन है कि कुछ राष्ट्रों ने—खास तौरपर इंग्लैण्ड ने—जापान से खुफ़िया समझौता कर लिया हो। चीन की अनियमित सेना ने जापान को मंचूरिया में ख़ूब दिक़ किया। फिर भी यह नहीं माना गया कि दोनों देशों में युद्ध है! जापान को अधिक दिक्क़त तो चीन के जापानी माल के बडे बहिष्कार-आन्दोलन से हुई।

१९३२ की जनवरी में जापानी फ़ौज शंघाई के पास चीन की ज़मीन पर जा धमकी और वहाँ उसने आधुनिक समय का एक बड़ा ही दर्दनाक क़त्लेआम कर डाला। उसने पश्चिमी राष्ट्रों के डर से विदेशी बस्तियों को तो छोड़ दिया और घनी आबादी के चीनी मुहल्लों पर हमला किया। शंघाई के पास एक बडे इलाक़े पर बम और गोले बरसाये गये। मेरे ख़याल से उस इलाके का नाम चेपेई था। वह बिलकुल तहस-नहस कर दिया गया, हज़ारों मारे गये और बेशुमार लोग बेघर-बार होगये। याद रहे कि यह लड़ाई किसी फ़ौज के ख़िलाफ़ नहीं थी। यह तो बेगुनाह और निःशस्त्र लोगों पर बम-वर्षा थी। इस 'वीरतापूर्ण' कार्रवाई का ज़िम्मेदार एक जापानी जल-सेनापति था। पूछने पर उसने कहा कि जापान का यह निर्णय दयापूर्ण है कि "निःशस्त्र लोगों पर अन्धाधुन्ध बम-वर्षा सिर्फ़ दो ही दिन और की जाय।" शंघाई में लंदन के 'टाइम्स' पत्र का जो संवाददाता था वह जापान का हिमायती था, मगर उसके दिल पर भी इस घटना से इतनी चोट पहुँची कि उसने इसे चीनियों का जापानियों के हाथों 'क़त्ले-आम' बताया। चीनियों के भाव इस घटना पर क्या हुए होंगे, इसका तो अन्दाज आसानी से लगाया जा सकता है। समूचे चीन में क्रोध और आतंक की लहर दौड़ गई और ऐसा मालूम हुआ कि इस जंगली विदेशी हमले के सामने देश के मुख़्तलिफ़ और एक-दूसरे के विरोधी सेनानायक और शासक आपस के ईर्ष्या-द्वेष को भूल गये हैं। सबके मिलकर जापान का मुक़ाबिला करने की चर्चा चली और चीन के भतरी प्रदेश की साम्यवादी सरकार ने भी नानकिंग सरकार को अपनी सेवायें पेश कीं। फिर भी ताज्जुब की बात यह हुई कि नानकिंग या उसके नेता चियांग-काई-शेक ने बढ़ती हुई जापानी फ़ौज की तरफ़ शंघाई की रक्षा करने के लिए चिट्टी उँगली भी नहीं उठाई। नानकिंग ने इतना-सा किया कि राष्ट्रसंघ के पास अपनी विरोध-सूचना भेज दी। उसने जापानियों का सम्मिलित विरोध संगठित करने की कोशिश तक नहीं की। मालूम होता है वह बातें भले ही बडी-बडी बनाता हो, लेकिन उसके जी में मुक़ाबिला करने की इच्छा ही नहीं थी, हालांकि देश क्रोध के मारे लाल पीला हो रहा था।

इसके बाद ही दक्षिण से चलकर एक अजीब-सी सेना शंघाई के मैदान में आ पहुँची। यह उन्नीसवीं कूचवाली सेना कहलाती थी। इसमें कैण्टन के लोग ही थे, मगर यह न तो कैण्टन सरकार के ताबे में थी और न नानकिंग के। इस भद्दी-सी फ़ौज के

पास न बहुत सामान था, न बडी तोपें। उसकी वर्दी भी रद्दी-सी थी। चीन के कड़ाके के जाडे से बचने के लिए उसके पास पूरे कपडे भी नहीं थे। उसमें बहुत-से पन्द्रह-सोलह वर्ष के और कुछ सिर्फ़ बारह-बारह वर्ष के लड़के भी थे। इस बेसामान फ़ौज ने च्यांग-काई-शेक के हुक्म के खिलाफ़ जापानियों से लड़ने और उन्हें रोक रखने का फ़ैसला किया। १९३२ के जनवरी और फ़रवरी में दो हफ़्ते तक नानकिंग-सरकार की मदद के बिना ये लोग लड़ते रहे। वे लडे भी इस विलक्षण वीरता से कि कहीं अधिक सबल और सुसज्जित जापानी सेना को रुक जाना पड़ा। इससे खुद उन्हें भी ताज्जुब हुआ। जापानियों को ही नहीं, बल्कि विदेशी राष्ट्रों और खुद चीन-निवासियों को भी ताज्जुब हुआ। जब ये लोग दो हफ़्ते तक किसी की मदद के बिना लड़ते रहे और सब से उन्हें शाबाशियाँ दी जा रही थीं, तब कहीं बचाव में मदद करने के लिए चियांग-काई-शेक ने थोडे-से सिपाही भेजे।

उन्नीसवें कूच की सेना ने इतिहास बना दिया और संसार-भर में नाम कमा लिया। उसकी स्वदेश-रक्षा ने जापान की योजनाओं को अस्त-व्यस्त कर दिया। इधर पश्चिमी राष्ट्रों को भी शंघाई में अपने स्वार्थों की चिन्ता थी। इसलिए शंघाई क्षेत्र से जापानी सेना धीरे-धीरे हटाली गई और जहाजों में भर-भरकर वापस भेज दी गई। यह उल्लेखनीय बात है कि इन पश्चिमी राष्ट्रों को चापेई जैसे हजारों आहुतियाँ लेने-वाले मनमाने हत्याकाण्डों और पवित्र राष्ट्रीय संधियों और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के भंग होने का इतना खयाल नहीं था जितना अपने माली और दूसरे स्वार्थों का खयाल था। इस मामले की राष्ट्र-संघ से कई बार फ़रियाद की गई, मगर वह किसी-न-किसी बहाने से इसे हमेशा टालता रहा। संघ के लिए यह कोई महत्त्व की बात ही न थी कि सचमुच लड़ाई हो रही है और हजारों आदमी मारे जा चुके हैं और मारे जा रहे हैं। कहा यह गया कि चूंकि सरकारी तौर पर लड़ाई का ऐलान नहीं किया गया, इस-लिए वास्तविक युद्ध हुआ ही नहीं। संघ की इस कमजोरी और जीती मक्खी निगल जाने की कार्रवाई से उसकी प्रतिष्ठा और कीर्ति को बड़ा धक्का लगा। अलबत्ता इसकी जिम्मेदारी कुछ बडे राष्ट्रों के सिर पर थी। इंग्लैण्ड ने तो संघ में खास तौर पर जापान का पक्ष लिया। आखिरकार संघ ने लॉर्ड लिटन की अध्यक्षता में मंचूरिया के मामले की जाँच के लिए एक कमीशन मुक़र्रर किया। इसे राष्ट्रों ने तुरन्त मंजूर कर लिया। क्योंकि इसका अर्थ था कई मास तक निर्णय स्थगित रखना। मंचूरिया बहुत दूर था और कमीशन को वहाँ जाकर जाँच करने और रिपोर्ट लिखने में मुद्दत लगती। शायद मामला हवा में ही उड़ जाता।

जापानी शंघाई से तो हट गये, पर अब उन्होंने मंचूरिया की तरफ़ ज्यादा ध्यान

देना शुरू कर दिया। उन्होंने एक नाममात्र की सरकार क़ायम करके ऐलान कर दिया कि मंचूरिया नें आत्म-निर्णय के अधिकार से काम लिया है। इस नई कठपुतली का नाम मंचूकुओ रक्खा गया और चीन के पुराने मंचू राजवंश के एक जर्जर युवक को नये राज्य का राजा बना दिया गया। वैसे यह सब सिर्फ़ एक तमाशा था और असली शासक जापान था। सब लोग जानते थे कि जापानी फ़ौज हटा ली जाय तो मंचूकुओ राज्य का एक दिन में ढेर हो जाय।

जापानियों को मंचूरिया में दिक़्क़त पेश आई, क्योंकि चीनी स्वयंसैनिकों के दल उनसे बराबर लड़ते रहे। इन टुकड़ियों को जापानी लोग 'डाकू' कहते हैं। जापानियों ने स्थानीय चीनियों को भर्ती करके मंचूकुओ की सेना बनाई और उसे शिक्षित और सुसज्जित किया। जब उसे डाकुओं से लड़ने भेजा गया तो वह सारा नये ढंग का सामान लेकर डाकुओं में जा मिली। इस सदा चलते रहने वाली जंग के मारे मंचूरिया का बुरा हाल है। फ़सलें बोई नहीं जातीं और सोयाबीन का व्यापार मर रहा है।

कई महीनों की जाँच-पड़ताल के बाद लिटन-कमीशन ने राष्ट्र-संघ के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करदी। यह बडी सावधानी, संयम और विवेकपूर्वक लिखी गई थी पर इसमें जापान की पेट भरकर निन्दा की गई थी। इससे ब्रिटिश सरकार बडी परेशान हुई, क्योंकि वह जापान की रक्षा करने पर तुली हुई थी। अन्त में संघ के सामने यह सवाल पेश हुआ। इंग्लैण्ड से अमेरिका का रवैया जुदा ही था। वह जापान के बहुत ख़िलाफ़ था। अमेरिका ने ऐलान किया कि जापान मंचूरिया में या और कहीं भी जबरदस्ती कोई परिवर्तन करेगा तो अमेरिका उसे मंजूर नहीं करेगा। अमेरिका के इस सख़्त रवैये के बावजूद इंग्लैण्ड ने और कुछ फ़्रांस, इटली और जर्मनी ने जापान का समर्थन किया। यह कहा जा चुका है कि इस और दूसरे मामलों में ब्रिटेन ने जापान के साथ खुफ़िया समझौता कर रक्खा है।

जिस वक़्त संघ निर्णय को टालने में कोई कसर नहीं रख रहा था उसी वक़्त जापान ने एक नया काम किया। १९३३ के नये दिन की बात है। जापानी फ़ौज एकाएक चीन में जा धमकी और उसने शनहेकवान नगर पर हमला कर दिया। यह शहर चीन की बडी दीवार की तरफ़ है। बडी-बडी तोपों और नाशक जहाजों से गोले और वायुयानों से बम बरसाये गये। यह पूरी तरह नये ढंग का हमला था और शनहेकवान जलकर ख़ाक होगया। बहुत तादाद में उसके निवासी हताहत हुए। इसके बाद जापानी सेना बढ़ती हुई चीन के जेहोल प्रान्त मे घुसकर पीपिंग के पास पहुँच गई। बहाना यह किया गया कि 'डाकू' लोग जेहोल को केन्द्र बनाकर वहाँसे मंचूकुओ पर हमले किया करते थे। किसी-न-किसी तरह जेहोल मंचूकुओ में शामिल कर लिया गया।

इस नये हमले और नये दिन के हत्याकाण्ड से संघ की नींद खुली और छोटे राष्ट्रों के संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा लिटन-रिपोर्ट को मंजूर किया और जापान की निन्दा की। जापान ने इसकी जरा भी परवा नहीं की। (क्या वह नहीं जानता था कि इंग्लैण्ड और कुछ दूसरे राष्ट्र चुपके-चुपके उसकी पीठ ठोक रहे थे ?) जापान राष्ट्र-संघ में से निकल गया। संघ से इस्तीफा देकर जापान चुपचाप पीपिंग की तरफ़ बढ़ता गया। उसका किसीने मुक़ाबिला नहीं किया। ऐसा मालूम होता है कि यह सब पहले से गढ़ा-गढ़ाया खेल था। क़रीब एक महीने पहले जब जापान की फ़ौज पीपिंग के दरवाजे पर पहुँच गई तब अचानक यह ऐलान हुआ कि ३१ मई १९३३ ई० को चीन और जापान में लड़ाई बन्द होने की सुलह होगई है। सारा मामला रहस्यपूर्ण मालूम होता है और अभी-तक कोई निश्चित बात मालूम नहीं होपाई है। लेकिन इतना दीखता है कि जापानी सरकार की विजय होगई और नानकिंग-सरकार ने, चाहे कमजोरी से या जान-बूझकर, उस विजय को स्वीकार कर लिया है। जापानी हमले के प्रति नानकिंग-सरकार और काउ-मिन-ताँग दल ने जिस दयनीय उपेक्षा का परिचय दिया, उसके बाद अगर चीन में उनकी लोकप्रियता बुरी तरह घट रही हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

मैं मंचूरिया के विषय में बहुत कह गया। वह महत्वपूर्ण है, क्योंकि चीन के भविष्य पर उसका असर पड़ता है। लेकिन इस बात से उसका महत्व और भी ज्यादा होगया है कि उससे राष्ट्र-संघ की क़लई खुल गई और यह साबित होगया कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय के प्रमाणित होने पर भी संघ कुछ नहीं कर सकता और इसलिए वह एक बिलकुल निकम्मी चीज है। इससे बडे-बडे यूरोपियन राष्ट्रों की दुरंगी चालों और साजिशों का भी भण्डाफोड़ होगया। इस ख़ास मामले में संघ का सदस्य न होते हुए भी अमेरिका ने जापान के ख़िलाफ़ कड़ा रुख़ इख़्तियार करने की कोशिश की और लड़ाई पर उतारू-सा होगया। मगर इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रों ने गुप्त रूप से जापान का जो समर्थन कर दिया, उससे अमेरिका के रुख़ का कोई असर नहीं हुआ और वह भी जापान के विरोध में अकेला पड़ जाने के डर से अधिक सावधान होगया। संघ ने जापान की साधुतापूर्ण भर्त्सना यानी शरीफाना डाँट-डपट करदी है। उम्मीद तो यह रक्खी गई थी कि इसके साथ-साथ कोई सम्मिलित कार्रवाई भी की जायगी। लेकिन हुआ कुछ भी नहीं, और न आगे कुछ होना-जाना है। मंचूकुओ के कठपुतली राज्य को राष्ट्र-संघ के सदस्यों ने मंजूर नहीं किया, मगर यह नामंजूरी भी खिलवाड़-सी होती जा रही है।

राष्ट्र-संघ ने जापान की निन्दा करदी, तब भी ब्रिटिश मंत्री और राजदूत आगे बढ़-बढ़कर जापान के कार्य को उचित बताते रहते हैं। रूस के प्रति इंग्लैण्ड का

व्यवहार इससे बिलकुल उलटा है। क़रीब दो महीने हुए कि रूस में गुप्तचरों के अपराध पर कुछ अंग्रेज इंजीनियरों पर मुक़दमा चलाया गया था। कुछ छोड़ दिये गये और दो को हलकी-हलकी क़ैद की सज़ा दीगई। इसपर बड़ा वावेला मचा और ब्रिटिश सरकार ने रूसी माल को ब्रिटेन में आने से रोक दिया। रूस ने भी अंग्रेजी माल के आने की मनाई करके इसका मुनासिब जवाब दिया।

इस तरह कम-से-कम अभी तो चीन के हाथ से मंचूरिया जाता रहा। मंगोलिया सोवियट देश है। उसकी रूसी सोवियट-संघ से दोस्ती है। तिब्बत अब आज़ाद हो गया। असली चीन में अब कम-से-कम तीन सरकार हैं। मुख्य सरकार नानकिंग में है, दूसरी दक्षिण में कैण्टन में है, और तीसरी अन्दरूनी इलाक़े की साम्यवादी सरकार है। इनके अलावा अनेक सेनापति और तूशन हैं। वे मनमानी करते और कभी इस दल के और कभी उस दल के साथ मिलते रहते हैं। उत्तर में बड़ी दीवार से लगाकर लग-भग पीपिंग तक जापान मुँह बाये बैठा है। बडे-बडे बन्दरगाहों पर विदेशियों का क़ब्ज़ा है। उनकी बडी-बडी रिआयती बस्तियाँ हैं और वे बडे-बडे भीतरी प्रदेशों के व्यापार पर अपना अधिकार रखते हैं। सोवियट और साम्यवादी इलाक़े को छोड़कर, देश पर विदेशियों का आर्थिक प्रभाव और प्रभुत्व और भी ज्यादा है।

एक और बड़ा प्रान्त चीन से अलग होता दीख रहा है। यह सिंकियांग अथवा चीनी तुर्किस्तान है और तिब्बत और साइबेरिया के बीच में है। इस प्रान्त के यारक़न्द और काशगर नगरों को, काश्मीर के श्रीनगर से लद्दाख़ प्रान्त के लेह नगर होकर, कारवान नियमित रूप से जाते रहते हैं। दो-तीन मास से ख़बरें आ रही हैं कि सिंकियांग के तुर्कों ने विद्रोह कर दिया है और यारक़न्द और काशगर पर क़ब्ज़ा कर लिया है। अंग्रेज ऐसा संकेत करते रहते हैं कि इस विद्रोह के पीछे सोवियट रूस का हाथ है। दूसरी ओर, समाचार भेजने वाली सोवियट संस्थाओं ने खुले तौर पर कहा है कि यह विद्रोह कुछ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रोत्साहन से हुआ है। उनका उद्देश्य यह बताया जाता है कि मंचूकुओं की तरह सिंकियाँग भी चीन और रूस के बीच में एक निरपेक्ष राज्य बन जाय। जिस अंग्रेज अफ़सर ने सिंकियांग में यह विद्रोह संगठित किया है उसका नाम तक प्रकाशित किया गया है। कहा नहीं जा सकता कि सच्ची बात क्या है, मगर यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि ब्रिटिश और सोवियट दोनों सरकारें सिंकियांग में षड्यंत्र रच रही हैं। मुमकिन है यह विद्रोह राष्ट्रीय हो, क्योंकि वहाँके मुसलमान तुर्कों पर धार्मिक भावों से राष्ट्रीय भावों का असर ज्यादा है। मालूम होता है, चीनी तुर्किस्तान में प्रजातंत्र की घोषणा होगई है।

इस ख़त के साथ मैंने चीन और जापान की कहानी को आज के दिन तक पहुंचा

दिया है। अब मैं सुदूर पूर्व से विदा लेता हूँ। मगर इसे खत्म करने से पहले मैं तुम्हें छोटे-से कोरिया देश की याद दिला देना चाहता हूँ (वैसे यह इतना छोटा तो नहीं है)। जापानी इस देश के स्वामी हैं, मगर वह अभीतक आजादी के सपने देखता है और इसके लिए कोशिश भी करता है। (कोरिया के बाहर तो!) 'कोरिया की अस्थायी प्रजातन्त्र सरकार' भी है।

: १७६ :

समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र संघ

७ जुलाई, १९३३

अब हम सोवियट पंचायतों की भूमि रूस में लौट चलें और उसकी कहानी जहाँ छोड़ी थी वहाँसे फिर आगे बढ़ायें। हम १९२४ की जनवरी तक पहुँच गये थे, जबकि क्रान्ति के प्रवर्त्तक और नेता लेनिन का देहान्त हुआ था। उसके बाद दूसरे देशों की बावत मैंने जो बहुत-से खत तुम्हें लिखे हैं उनमें रूस का जिक्र बार-बार आया है। योरप की समस्याओं या हिन्दुस्तानी सरहद, सुदूर पूर्व, चीन और जापान, तुर्की और ईरान पर विचार करते वक्त बीच-बीच में रूस से ताल्लुक़ पड़ता रहा है। यह बात तुम्हें साफ़ दिखाई देने लगी होगी कि एक राष्ट्र की राजनीति और अर्थनीति को दूसरे देश की राजनीति और अर्थनीति से अलग रखना बहुत मुश्किल ही नहीं, असल में ग़ैर-मुमकिन है। पिछले वर्षों में राष्ट्रों के आपस के ताल्लुक़ात इतने गहरे होचले हैं और वे एक-दूसरे पर इतने निर्भर रहने लगे हैं कि दुनिया कई बातों में एक होगई है। हमारे स्कूल-कालेजों की वही पुरानी रफ़्तार है। राष्ट्रीय इतिहास की पुस्तकों में अब भी पुराने ढंग पर खास देशों का ही हाल रहता है। लेकिन इतिहास अब अन्तर्राष्ट्रीय विषय यानी दुनिया-भर का इतिहास होचला है। अब उसे एक देश के बारे में समझने के लिए भी समूचे संसार पर नजर रखकर देखना पड़ेगा।

योरप और एशिया में सोवियट संघ का लम्बा-चौड़ा प्रदेश पूँजीवादी संसार से अलग ही है। फिर भी वह हर जगह इस दूसरी दुनिया के सम्पर्क में और अनेक बार संघर्ष में आता है। पिछले खतों में मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि सोवियट नीति पूर्व के देशों के प्रति उदार है। उसने तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान को मदद दी और चीन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लिये। ये सम्बन्ध बाद में एकाएक टूट गये। मैं तुम्हें यह भी कह चुका हूँ कि किस तरह आर्कस पर धावा हुआ और जिनोवीव पत्र से ब्रिटेन के आम चुनाव पर असर पड़ा, हालांकि बाद में वह खत बनावटी

निकला। मैं तुम्हें सोवियट देश के बीच में लेचलकर यह दिखाना चाहता हूँ कि वहाँ जो अद्‌भुत और मनोहर सामाजिक प्रयोग होरहा है उसकी प्रगति कैसी है।

१९१७ से १९२१ तक क्रान्ति के बाद के पहले चार वर्ष क्रान्ति की रक्षा में बहुतेरे दुश्मनों से लड़ने में बीते। यह जमाना बड़े जोश और नाटक की-सी तब्दीलियों का था। उसमें लड़ाई और बग़ावत, गृह-युद्ध, भूख और मौत की भरमार थी। इस अन्धकार में यह रोशनी भी थी कि आम जनता में जिहादी या धर्म के के लिए लड़ने-जैसा जोश था और आदर्श की रक्षा में उसने ग़ैर-मामूली बहादुरी दिखाई थी। लोगों को तुरन्त किसी फल की उम्मीद नहीं थी, मगर उनके हृदय भावी आशाओं और नतीजों के भाव से भरे हुए थे। इनके कारण वे सारे भयंकर कष्ट सह लेते थे और थोड़ी देर के लिए यह भी भूल जाते थे कि उनके पेट में अन्न नहीं पड़ रहा है। यह 'सैनिक साम्यवाद' का जमाना था।

इसके बाद जब १९२१ में लेनिन ने नई अर्थनीति जारी की, तब थोड़ा आराम मिला। यह नीति साम्यवाद से पीछे हटकर देश के पूंजीपति वर्ग से समझौता करने की थी। इसका यह अर्थ नहीं था कि बोलशेविक नेताओं ने अपना ध्येय बदल दिया है। इसका मतलब इतना ही था कि आराम लेने और ताजा होने के लिए वे एक क़दम पीछे हटगये थे, ताकि फिर बाद में वे कई क़दम आगे बढ़ने के क़ाबिल होजायँ। इस तरह सोवियट ने जमकर एक ऐसे राष्ट्र की रचना का बहुत बड़ा काम अपने हाथ में लिया, जिसका बहुत कुछ नाश होचुका था। निर्माण के इस काम में उन्हें रेलवे इंजिनों और गाड़ियों, मोटर के छकडों, हलों और कारख़ानों के सामान की और यंत्रों की जरूरत थी। यह सब उन्हें विदेशों से ख़रीदना पड़ा और उसके लिए उनके पास रुपया बहुत कम था। इसलिए उन्होंने विदेशों से कर्ज लेने की कोशिश की, ताकि वे ख़रीद के माल की क़ीमत हलकी क़िस्तों में चुका सकें। मगर कर्ज तो तब मिले जब इन देशों से बोल-चाल का भी वास्ता हो। वे तो सरकारी तौर पर एक-दूसरे को मानते तक न थे। इसलिए सोवियट रूस को इस बात की बड़ी फ़िक्र थी कि किसी तरह बड़े राष्ट्र उसे मानलें। लेकिन इन बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी सत्ताओं को बोलशे-विकों और उनके सारे कामों से नफ़रत थी। उनके ख़याल से साम्यवाद इतनी बुरी वस्तु थी जिसका दमन करना ही उचित था। दस्तन्दाजी और लड़ाई करा-कराके वे उसे कुचलने की कोशिश भी भरसक कर चुकी थीं। मगर उन्हें कामयाबी नहीं मिली। उनका बस चलता तो वे सोवियट के साथ कोई सरोकार न रखतीं। मगर जिस सरकार के क़ब्जे में समूची दुनिया का छठा हिस्सा हो उसकी उपेक्षा करना मुश्किल है। इससे भी ज्यादा मुश्किल है एक ऐसे अच्छे ग्राहक की उपेक्षा करना जो बहुत

बड़े प्रमाण में क़ीमती मशीनें ख़रीदने को तैयार हो। रूस-जैसे कृषि-प्रधान देश और जर्मनी, इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे उद्योग-प्रधान देशों में व्यापार होने से दोनों ही पक्ष का फ़ायदा था, क्योंकि रूस को यंत्रों की जरूरत थी और उसके बदले में वह सस्ते खाद्य पदार्थ और कच्चा माल देसकता था।

आख़िरकार साम्यवाद की घृणा से थैली का जोर ज्यादा ताक़तवर साबित हुआ और करीब-करीब सभी देशों ने सोवियट सरकार को मान लिया और बहुतों ने तो उसके साथ सन्धियाँ भी करलीं। अमेरिका ही एकमात्र ऐसा राष्ट्र है जिसने अबतक सोवियट को स्वीकार नहीं किया है। आजतक भी उनके आपस में राजनैतिक संबंध नहीं हैं, हालांकि उनके क़ायम होजाने की जल्दी ही उम्मीद है। फिर भी रूस और अमेरिका में व्यापार होता रहा है।

इस तरह सोवियट ने ज्यादातर पूंजीवादी और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ ताल्लुक़ात क़ायम कर लिये। एक हद तक, उसने इनके आपसी ईर्ष्या-द्वेष से फ़ायदा भी उठाया। यह फ़ायदा उसने उस समय भी उठाया जब १९२२ में पराजित जर्मनी ने उसके साथ रपैलो की सन्धि की थी। मगर यह समझौता बड़ा ही नापायदार था और पूंजीवाद और साम्यवाद की दो प्रणालियों में मौलिक विरोध था। औपनिवेशिक देशों की गुलाम रिआया और कारख़ानों के मजदूर दोनों ही दलित और शोषितवर्ग में थे। बोलशेविक सदा इन लोगों को शोषकों से बग़ावत करने के लिए भड़काते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नहीं करते थे, बल्कि कोमिण्टर्न नाम की अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संस्था के द्वारा करते थे। उधर साम्राज्यवादी राष्ट्र और ख़ासकर इंग्लैण्ड सोवियट की हस्ती मिटाने के लिए बराबर साज़िश करते रहते थे। इसलिए झगड़ा तो होता ही; और बार-बार झगड़ा होने से राजनैतिक सम्बन्ध-विच्छेद होने और लड़ाई की ख़बरें उड़ने की नौबत भी आई। तुम्हें याद होगा कि १९२७ में आर्कस के धावे और तलाशी के बाद रूस के ताल्लुक़ात इंग्लैण्ड से टूट गये थे। असल बात तो यह है कि पिछले साढ़े पन्द्रह वर्ष में, जबसे सोवियट का जन्म हुआ है तभीसे, इंग्लैण्ड और रूस में कशमकश रही है। इसका कारण भी आसानी से समझा जा सकता है। इंग्लैण्ड सबसे बड़ा साम्राज्यवादी राष्ट्र है और रूस एक ऐसी कल्पना सामने रखता है जो साम्राज्यवाद की जड़ ही काट डालना चाहती है। मगर इन विरोधी देशों के बीच में और भी एक चीज है। जार के जमाने से ही रूस और इंग्लैण्ड में पीढ़ियों से दुश्मनी चली आती है।

इंग्लैण्ड और दूसरे पूंजीवादी देशों में आज सोवियट सेना का इतना भय नहीं है जितना सोवियट विचारों और साम्यवादी प्रचार का है। यह है तो अप्रत्यक्ष चीज,

मगर जोरदार और ख़तरनाक बहुत है। इसका प्रतीकार करने के लिए रूस के ख़िलाफ़ लगातार और बहुत कुछ झूठा प्रचार किया जाता है और सोवियट की दुष्टता की अजीब-अजीब कहानियाँ फैलाई जाती हैं। सोवियट नेताओं के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ऐसी जबान काम में लाते हैं जो उन्होंने लड़ाई के वक़्त में दुश्मन के लिए भले ही ली हो, मगर और कभी किसीके लिए नहीं प्रयोग की। लॉर्ड बर्कनहेड ने सोवियट राजनीतिज्ञों को ऐसे वक़्त में 'हत्यारों का गुट' और 'मुट्ठीभर मोटे मेंढक' बताया था, जब इन दोनों देशों में कोई लड़ाई न थी, बल्कि दोनों में परस्पर राजनैतिक सम्बन्ध थे। इन बातों से यह जाहिर है कि सोवियट और साम्राज्यवादी राष्ट्रों में सच्ची दोस्ती नहीं हो सकती। उनमें मौलिक भेद है। महायुद्ध के विजेता और पराजित राष्ट्रों में मेल हो सकता है, मगर साम्यवादियों और पूंजीवादियों में नहीं हो सकता। इन दोनों में अगर मेल हो सकता है तो वह अस्थायी ही हो सकता है। वह सिर्फ़ थोड़े वक़्त के लिए लड़ाई बन्द कर देने का निश्चय है।

सोवियट रूस और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के झगड़े की जड़ बार-बार यह बताई जाती है कि रूस ने विदेशों का क़र्ज़ चुकाने से इन्कार कर दिया। आजकल तो यह जिन्दा सवाल नहीं रहा, क्योंकि इन बुरे दिनों में तो क़रीब-क़रीब सभी देशों ने क़र्ज़ नहीं चुकाया है। फिर भी यह सवाल समय-समय पर खड़ा होता रहता है। बोलशेविकों के हाथ में सत्ता आई, उसके थोड़े ही दिन बाद उन्होंने दूसरे देशों से लिया हुआ ज़ार के समय का क़र्ज़ रद कर दिया। वैसे तो १९०५ की असफल क्रान्ति के समय ही इस नीति का ऐलान कर दिया गया था। उन्होंने अपने उसूल की सचाई का यह सबूत दिया कि चीन वग़ैरा पूर्वी देशों में वे जो रुपया माँगते थे उसका दावा छोड़ दिया। महायुद्ध के हर्जाने की रक़म में से भी उन्होंने अपना हिस्सा छोड़ दिया। १९२२ में मित्र-राष्ट्रों ने इस क़र्ज़ के बारे में एक माग-पत्र (Memorandam) दिया, जिसके जवाब में सोवियट सरकार ने उन्हें याद दिलाया कि भूतकाल में कितने पूंजीवादी राष्ट्रों ने अपने क़र्ज़ रद कर दिये और विदेशियों की सम्पत्ति जब्त करली थी। "जो सरकारें और प्रणालियाँ क्रान्तियों से पैदा होती हैं वे पिछले शासनों की जिम्मेदारियों को निभाने के लिए बँधी हुई नहीं हैं।" सोवियट सरकार ने मित्र-राष्ट्रों में से फ़्रांस को ख़ास तौर पर स्मरण दिलाया कि उसने अपनी महान् क्रान्ति के समय क्या किया था।

"फ़्रांस की उस राष्ट्रीय परिषद् ने, जिसका फ़्रांस आज उचित उत्तराधिकारी होने का दावा करता है, २२ दिसम्बर १७९२ को ऐलान किया था कि अत्याचारियों की संधियों से जनता की सत्ता बँधी हुई नहीं है। इस घोषणा के अनुसार

क्रान्तिकारी फ़्रांस ने न सिर्फ़ पुराने शासकों की विदेशों के साथ की हुई संधियाँ ही फाड़ फेंकीं, बल्कि राष्ट्रीय ऋण भी रद कर दिया।"

इस तरह क़र्ज़ अदा न करने का औचित्य साबित कर देने पर भी, सोवियट सरकार दूसरे राष्ट्रों से राज़ीनामा करने के लिए इतनी उत्सुक थी कि वह क़र्ज़ के सवाल पर भी उनसे चर्चा करने के लिए पूरी तरह तैयार होगई। मगर उसने यह शर्त रक्खी कि यह चर्चा उसी वक़्त हो सकती है जब विदेशी सरकार सोवियट को बिना शर्त के मान ले। असल बात तो यह है कि सोवियट ने इंग्लैण्ड, फ़्रांस और अमेरिका को क़र्ज़ चुकाने के बहुत आश्वासन दिये, मगर इन पूंजीवादी राष्ट्रों को रूस के साथ समझौता करने की बहुत उत्सुकता नहीं थी।

ब्रिटिश दावे के मुक़ाबिले में सोवियट ने बड़ा मजेदार दावा पेश किया। रूस पर अंग्रेज़ों का सारा दावा सरकारी और युद्ध के ऋण, रेलवे के हिस्सों और व्यापारिक पूंजी के रूप में ८४ करोड़ पौण्ड का था। बोलशेविकों के दुश्मनों को रूसी गृहयुद्ध में ब्रिटेन और ब्रिटिश सेना ने मदद दी थी। उससे जो हानि हुई थी उसके हिस्से का दावा रूस ने ब्रिटेन पर किया। गृहयुद्ध में रूस की सारी हानि चार अरब छःकरोड़ बहत्तर लाख छब्बीस हज़ार चालीस पौण्ड कूती गई थी। इसमें ब्रिटेन का हिस्सा दो अरब पौण्ड के क़रीब था। इस तरह ब्रिटेन के दावे से रूस का दावा अढ़ाई गुना था।

बोलशेविकों का यह दावा कमज़ोर भी नहीं था। उन्होंने 'अलाबामा' नामक जहाज़ की मशहूर नज़ीर पेश की थी। उन्नीसवीं सदी में अमेरिका में जो गृहयुद्ध हुआ था उसीके सिलसिले में दक्षिणी राज्यों के लिए यह जहाज़ इंग्लैण्ड में बना था। यह जहाज़ गृह-युद्ध छिड़ने के बाद लिवरपूल से रवाना हुआ था और इसने उत्तरी राज्यों की जहाज़ी यात्रा और व्यापार को बहुत नुक़्सान पहुँचाया था। इंग्लैण्ड और अमेरिका में लड़ाई होते-होते बच गई। संयुक्त राष्ट्र की सरकार ने दावा किया कि युद्ध के ज़माने में लड़ाई का जहाज़ दक्षिणी राज्यों को सौंपने का इंग्लैण्ड को कोई हक़ न था और इसलिए जितना नुक़्सान हुआ वह उसे मिलना चाहिए। मामला पंचायत में डाला गया और अन्त में इंग्लैण्ड से अमेरिका को ३८,८९,१६६ पौण्ड हर्जाने के दिलवाये गये।

रूस के गृह-युद्ध में इंग्लैण्ड का हिस्सा कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण और असर डालनेवाला था। जिस एक लड़ाकू जहाज़ के देने पर उसे इतना भारी हर्जाना चुकाना पड़ा उससे तो यह बहुत ज्यादा था। सोवियट की तरफ़ से सरकारी तौर पर बताया गया है कि रूस के विदेशी हस्तक्षेप की लड़ाइयों में साढ़े तेरह लाख आदमी मारे गये।

रूस के पुराने क़र्ज़ के सवाल का आख़िरी फ़ैसला नहीं हुआ, मगर ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है त्यों-त्यों उसका महत्त्व अपनेआप घटता जा रहा है।

इस बीच बडे-बडे पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देश इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली वही बात कर रहे हैं जिसपर वे रूस से इतने बिगडे थे। यह सही है कि वे न तो क़र्ज रद करते हैं और न पूंजीवादी प्रणाली के आधार का विरोध करते हैं। वे तो सिर्फ़ रुपया चुकाते नहीं।

रूस को ताजा होने के लिए समय की जरूरत थी और समाजवादी ढंग पर एक लम्बे-चौडे देश के निर्माण के महान् कार्य में उसकी सारी शक्ति लगी हुई थी, इसलिए सोवियट नीति यह थी कि किसी भी तरह शान्ति रक्खी जाय। दूसरे देशों में समाजवादी क्रान्ति होने की निकट-भविष्य में सम्भावना नहीं दिखाई देती थी, इस कारण फिलहाल 'विश्व-क्रान्ति' का खयाल धुंधला पड़ गया था। पूर्वी देशों में शासन-प्रणाली पूँजीवादी थी, फिर रूस ने उनके साथ दोस्ती और सहयोग की नीति अपनाई। मैंने तुम्हें बता दिया है कि रूस, तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में आपसी संधियों का जाल बिछ गया था। सभीको बडे-बडे साम्राज्यवादी देशों से एक-सा ही ख़ौफ़ और नफ़रत थी, इसलिए वे सब मिल गये।

१९२१ में लेनिन ने जिस नई अर्थ-नीति की शुरुआत की थी उसका मतलब यह था कि मध्यवर्ग के किसान भूमि के समाजवादी विभाजन से सहमत होजायँ। वहाँके मालदार किसानों को 'कुलक' कहते हैं। कुलक शब्द का अर्थ मुक्का है। इन लोगों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया, क्योंकि ये भी छोटे-छोटे पूँजीपति ही थे और भूमि के समाजवादी विभाजन का विरोध करते थे। लेनिन ने गाँवों में बिजली के प्रचार की भी बड़ी भारी योजना जारी की। बिजली के बडे-बडे यंत्र वहाँ लगाये गये। इसका मतलब हर तरह किसानों की मदद करना और देश को उद्योग-प्रधान बनाने के लिए रास्ता साफ़ करना था। सबसे बड़ा उद्देश्य यह था कि किसानों में उद्योगवादी मनोवृत्ति पैदा होजाय और शहरी मजदूरों के वे ज्यादा नजदीक आजायँ। जिन गाँवों में बिजली की रोशनी लग गई और जिनकी खेती का ज्यादातर काम बिजली के जोर से होने लग गया, वहाँके किसान पुराना ढर्रा और अन्धविश्वास छोड़कर नये ढंग पर विचार करने लगे। शहरों और गाँवों के, शहरियों और देहातियों के स्वार्थों में सदा संघर्ष होता है। शहरी मजदूर चाहता है कि गाँवों से तो उसे खाद्य सामग्री और कच्चा माल सस्ता मिले और वह जो माल कारखानों में बनाता है उसकी क़ीमत ऊँची मिले। उधर किसान चाहता है कि शहर से औजार और पक्का माल तो सस्ते भावों पर मिले और उसकी पैदा की हुई खाद्य सामग्री और कच्चे माल की क़ीमत ज्यादा-से-ज्यादा मिले। चार वर्ष के सैनिक साम्यवाद के कारण यह संघर्ष बहुत तीव्र हो रहा था। नई अर्थ-नीति के जारी करने का मुख्य

कारण यही था कि यह संघर्ष कम किया जा सके। इसलिए किसानों को खानगी व्यापार करने की भी सुविधा दी गई।

बिजली के प्रचार की योजना पर लेनिन का इतना ज्यादा जोर था कि उसका बनाया हुआ एक सूत्र (फार्मूला) मशहूर होगया। उसने कहा था कि "बिजली और सोवियट पंचायतें मिलकर समाजवाद के बराबर हैं"। लेनिन की मौत के बाद भी बिजली का प्रचार बडी तेजी से जारी रहा। किसानों पर असर डालने और खेती के तरीक़ों का सुधार करने के लिए दूसरा उपाय यह किया गया कि हल चलाने और दूसरे कामों के लिए भारी एंजिनों से काम लेना शुरू किया गया। ये यंत्र अमेरिका की फ़ोर्ड कम्पनी से लिये गये थे। रूस में मोटर से चलनेवाले यंत्र बनाने का बड़ा कारखाना क़ायम करने का ठेका भी सोवियट सरकार ने फ़ोर्ड कम्पनी को दिया। इस कारखाने में हर साल एक-एक लाख मोटरें तैयार हो सकती थीं। यह कारखाना खासकर बोझा ढोने और हल चलाने के एंजिन बनाने के लिए ही था।

दूसरा काम, जिससे सोवियट और विदेशी स्वार्थों का संघर्ष हुआ, यह था कि रूस ने भी तेल और पैट्रोल निकालना और विदेशों में बेचना शुरू कर दिया। कोह-काफ़ के आजरबैजन और ज्यार्जिया प्रदेशों में तेल बहुतायत से पाया जाता है। शायद यह उसी बडे तेल-क्षेत्र का भाग है जो ईरान, मोसल और इराक़ तक फैला हुआ है। कास्पियन समुद्र पर बाकू नगर तो दक्षिणी रूस का बड़ा तेल-नगर है। रूस वालों ने बडी-बडी तेल की कम्पनियों से सस्ते भाव पर विदेशों मे तेल और पैट्रोल बेचना शुरू कर दिया। अमेरिका की स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी, एंग्लोपर्शियन, रॉयल डचशेल कम्पनी और दूसरी कम्पनियाँ बडी ताक़तवर हैं और दुनिया-भर को तेल पहुँचाने का इनको एकाधिकार-सा मिला हुआ है। सोवियट के सस्ते भावों पर तेल और पैट्रोल बेचने से उन्हें बड़ा नुक़सान हुआ और गुस्सा आया। उन्होंने रूसी तेल को 'चोरी का तेल' कह-कर सोवियट के खिलाफ़ आन्दोलन शुरू कर दिया, क्योंकि रूस ने कोहकाफ़ के तेल के कुएँ उनके पुराने पूंजीवादी मालिकों से छीन लिये थे। लेकिन थोडे दिन बाद इन कम्पनियों ने इस 'चोरों के तेल' के साथ समझौता कर लिया।

मैंने इस खत में और दूसरे खतों में जगह-जगह पर 'सोवियट' या 'सोवियटों' का जिक्र किया है। कभी-कभी इसका भी जिक्र किया है कि 'रूस' ने यह किया और 'रूस' ने वह किया। इन सारे लफ़्जों का इस्तेमाल मैंने जरा आजादी के साथ किया है और एक ही अर्थ में किया है। अब मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि यह चीज क्या थी और क्या है। तुम यह तो जरूर जानती हो कि बोलशेविक क्रान्ति के बाद, १९१७ के नवम्बर में, पेट्रोग्राड में सोवियट प्रजातन्त्र का ऐलान किया गया था। जार का

साम्राज्य कोई एकरस राष्ट्रीय राज्य न था। ख़ास रूस का योरप और एशिया की बहुत-सी जातियों पर प्राधान्य था। इन जातियों की तादाद क़रीब दो सौ थी और उनमें आपस में बड़ा भारी फ़र्क़ था। जार के ज़माने में उनके साथ गुलाम रिआया का-सा बर्ताव होता था और कमोबेश उनकी भाषाओं और संस्कृतियों का भी दमन किया जाता था। मध्य-एशिया के पिछडे हुए लोगों के सुधार के लिए प्रायः कुछ नहीं किया गया। यहूदियों का कोई खास प्रदेश नहीं था और अल्प-संख्यक जातियों में सबसे बुरा बर्ताव उनके साथ होता था। यहूदियों के हत्याकाण्ड बुरी तरह मशहूर होगये थे। इन हत्याओं को 'पैग्रों' कहते थे। इस कारण इन पीड़ित जातियों के बहुत-से लोग रूसी क्रान्ति में शामिल हुए; लेकिन उनकी ख़ास दिलचस्पी राष्ट्रीय क्रान्ति में थी, सामाजिक क्रान्तियों में नहीं थी। १९१७ के फ़रवरी महीने की क्रान्ति के बाद जो अस्थायी सरकार बनी उसने इन जातियों से बहुत-से वादे किये, मगर उसने किया-धरा कुछ नहीं। उधर लेनिन ने बोलशेविक दल के शुरू ज़माने से ही इस बात पर जोर दिया था कि हरेक जाति को अपने भाग्य-निर्णय का पूरा हक़ दिया जाय, यहाँतक कि वे चाहें तो बिलकुल अलग और स्वतन्त्र भी होजायें। यह पुराने बोलशेविक कार्यक्रम का अंग था। क्रान्ति के बाद बोलशेविकों ने देश की शासन-सत्ता हाथ में आते ही आत्म-निर्णय के इस उसूल में अपना विश्वास दुहराया।

गृह-युद्ध के समय ही जार का साम्राज्य चूर-चूर होगया था और थोडे दिन तक सोवियट प्रजातन्त्र के नियन्त्रण में मास्को और लेनिनग्रेड के चारों ओर छोटा-सा इलाक़ा रह गया। पश्चिमी राष्ट्रों का प्रोत्साहन पाकर बाल्टिक समुद्र से लगी हुई कई जातियाँ, अर्थात् फ़िनलैण्ड, एस्टोनिया, लटविया, और लिथुएनिया, स्वाधीन राज्य बन गई। इसी तरह पोलैण्ड भी स्वाधीन बन गया। जब रूसी सोवियट की गृह-युद्ध में विजय हुई और विदेशी सेनायें अपने-अपने घर गई तब साइबेरिया और मध्यएशिया में अलग-अलग और स्वाधीन सोवियट सरकारें बन गई। इन सरकारों के समान उद्देश्य थे, इसलिए उनकी आपस में गहरी दोस्ती होना लाजिमी था। १९२३ में उन्होंने मिलकर सोवियट संघ बना लिया। इसका पूरा और सरकारी नाम समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र संघ (Union of Socialist and Soviet Republics) है। अंग्रेज़ी में इसे संक्षेप में U. S. S. R. (यू० एस० एस० आर०) भी कहते हैं।

१९२३ से संघ के प्रजातन्त्रों की संख्या में कुछ परिवर्तन हुए हैं, क्योंकि एक-दो प्रजातन्त्रों के टुकडे होगये हैं। मैं समझता हूँ आजकल संघ में ७ प्रजातन्त्र हैं :—

(१) रूस (Russian Socialist Federative Soviet Republic) जिसे संक्षेप में आर० एस० एफ० एस० आर० कहते हैं।

(२) सफ़ेद रूसी समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(३) उक्रेन समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(४) काफ़ के पार का समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र (Trans-Caucasian Socialist Federative Soviet Republic) ।

(५) तुर्कमीनिस्तान या तुर्कमीन समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(६) उज़बक समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(७) ताजीकिस्तान या ताजिक समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

मंगोलिया का भी सोवियट संघ से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है।

इस तरह सोवियट संघ कई प्रजातन्त्रों का समूह है। इन अंगभूत प्रजातन्त्रों में से कुछ ख़ुद भी संघ हैं। इस तरह रूसी प्रजातन्त्र बारह स्वशासन-भोगी प्रजातन्त्रों का संघ है। और क़ाफ़ के पार का प्रजातन्त्र आज़रबैजन, ज्यार्जिया और आर्मीनिया के तीन प्रजातन्त्रों का संघ है। इन परस्पर-सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर प्रजातन्त्रों के अलावा इनके भीतर बहुत-से 'राष्ट्रीय' और 'स्वशासन-भोगी' प्रदेश हैं। हर जगह इतने स्वशासन को जारी रखने का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति और भाषा की रक्षा करने और ज्यादा-से-ज्यादा आज़ादी भोगने का मौक़ा मिले। कोशिश यह की गई है कि जहांतक हो सके किसी एक राष्ट्रीय या जातीय समूह का दूसरे पर प्रभुत्व न रह सके। अल्पसंख्यक जातियों की समस्या को सोवियट ने जिस तरह हल किया है वह हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है, क्योंकि हमारे सामने भी यह मुश्किल सवाल है। हमसे सोवियट की कठिनाइयां कहीं ज्यादा थीं, क्योंकि उन्हें १८२ मुख़्तलिफ़ जातियों से निपटना था। लेकिन उन्होंने इस मसले को बहुत सफलतापूर्वक हल किया है। उन्होंने बहुत आगे बढ़कर हरेक अलग जाति को मान लिया और उन्हें अपना काम और शिक्षा अपनी-अपनी भाषा में करने का उत्साह दिलाया। यह बात अलग-अलग अल्प-संख्यक जातियों की अलग होने की वृत्ति को ख़ुश करने के लिए ही नहीं की गई, बल्कि यह अनुभव करके की गई कि देशी भाषा के ज़रिये ही सर्वसाधारण में सच्ची शिक्षा और संस्कृति की प्रगति होसकती है। इस नीति का नतीजा भी बहुत अच्छा निकला है।

इस तरह संघ में एक ही तरह की पद्धति जारी नहीं की गई है, फिर भी उसके मुख़्तलिफ़ हिस्से एक-दूसरे के इतने ज्यादा नज़दीक़ आते जा रहे हैं जितने ज़ार के केन्द्रित राज्य में भी वे कभी नहीं आये थे। इसका कारण यह है कि उनके आदर्श समान हैं और वे सब मिलकर एक ही बड़ा काम कर रहे हैं। संघ के प्रत्येक प्रजातन्त्र को जब चाहे संघ से अलग होने का हक़ है, मगर ऐसा होने की नौबत शायद ही

आवे, क्योंकि पूंजीवादी संसार के विरोध के सामने समाजवादी प्रजातन्त्रों के संघ में शामिल रहने में उन्हें बहुत बड़े-बड़े फ़ायदे हैं।

अवश्य ही इस संघ का प्रधान प्रजातन्त्र रूसी प्रजातन्त्र है। यह लेनिनग्रेड से ठेठ साइबेरिया तक देश के आर-पार फैला हुआ है। सफ़ेद रूस पोलैण्ड से लगा हुआ है। उक्रेन काले समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण में है। यह रूस का अन्न-भण्डार है। कोह काफ़ के पार वाला प्रजातन्त्र, जैसा इसके नाम से ही जाहिर है, क़ाफ़ पहाड़ के उसपार कैस्पियन और काले समुद्र के बीच में है। इस प्रजातन्त्र में आर्मीनिया भी शामिल है। यह मुद्दतों तक तुर्कों और आर्मीनियनों के भयंकर हत्याकाण्ड की रंगस्थली रहा है। अब सोवियट प्रजातन्त्र बन जाने से यहाँके लोग शान्तिपूर्ण कामों में लग गये दीखते हैं। कैस्पियन समुद्र की दूसरी ओर तुर्कमीनिस्तान, उजबकिस्तान और ताजकिस्तान नामक तीन मध्य-एशियाई प्रजातन्त्र हैं। उजबकिस्तान में बुख़ारा और समरक़न्द के मशहूर शहर हैं। ताजकिस्तान अफ़ग़ानिस्तान के ठीक उत्तर में है और यह हिन्दुस्तान के सबसे पास का सोवियट इलाक़ा है।

मध्य-एशिया के साथ बहुत पुराने जमाने से हमारे ताल्लुक़ात रहे हैं, इसलिए इन मध्य एशियाई प्रजातन्त्रों के साथ हमारी ख़ास दिलचस्पी है। पिछले चन्द सालों में उन्होंने जो उल्लेखनीय प्रगति करली है उसके कारण वे और भी आकर्षक होगये हैं। जारशाही में वे बहुत पिछड़े हुए और अन्धविश्वासी देश थे। उनमें शिक्षा का प्रचार बहुत कम था और उनकी स्त्रियाँ क़रीब-क़रीब परदे में रहती थीं। लेकिन अब वे बहुत बातों में हिन्दुस्तान से आगे हैं।

: १८० :

'पायाटिलेटका' अथवा रूस की पंचवर्षीय योजना

९ जुलाई, १९३३

जबतक लेनिन जिया वही सोवियट रूस का एकमात्र नेता रहा। उसके आख़री फ़ैसले के सामने सब झुक जाते थे। जब कभी संघर्ष होता तो उसकी बात क़ानून की तरह मान ली जाती थी और साम्यवादी दल के आपसी झगड़े पलभर में मिटा देती थी। उसकी मृत्यु के बाद विपत्ति का आना लाजिमी था, क्योंकि प्रतिस्पर्धी यानी मुख़ालिफ़ गिरोह और शक्तियाँ प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ने लगीं। लेनिन के बाद बाहर की दुनिया की और कुछ हद तक रूस की नजर में भी ट्राटस्की बोलशेविकों में प्रधान आदमी था। ट्राटस्की ने ही अक्तूबर की क्रान्ति में प्रमुख भाग लिया था और

उसीने जबरदस्त मुश्किलात के बावजूद लाल सेना बनाई थी। इसी सेना ने गृह-युद्ध में और विदेशी दस्तन्दाजी के खिलाफ़ फतह हासिल की थी। फिर भी ट्राटस्की बोलशेविक दल में नया-ही-नया आया था और लेनिन को छोड़कर पुराने बोलशेविक न उसे बहुत चाहते थे और न उसपर विश्वास करते थे। इन पुराने बोलशेविकों में से स्टालिन साम्यवादी दल का प्रधानमंत्री बन गया था और उस हैसियत से रूस का प्रधान और बड़ा ही ताक़तवर संगठन उसके हाथ में था। ट्राटस्की और स्टालिन में बनती न थी। वे एक-दूसरे से नफ़रत करते थे और किसी भी बात में मेल नहीं खाते थे। ट्राटस्की प्रतिभाशाली लेखक और वक्ता था और उसने अपनी महान् संगठन और कार्य-शक्ति का भी सबूत दे दिया था। वह बड़ी तेज़ अक्ल का रौशन-दिमाग़ आदमी था। वह क्रान्ति के उसूलों का विकास करता रहता और विरोधियों पर चाबुक और बिच्छू के डंक की तरह चुभनेवाले वाग्बाण चलाया करता था। उसके सामने स्टालिन मामूली आदमी लगता था। वह शान्त, सरल और मामूली अक्ल वाला आदमी था। फिर भी वह एक बड़ा संगठनकर्ता, एक वीर योद्धा और फ़ौलादी इरादा रखनेवाला यानी दृढ़-संकल्प वाला आदमी था। अब तो वह 'फ़ौलाद का आदमी' कहलाने भी लगा है। इन दोनों बड़ी हस्तियों के लिए साम्यवादी दल में एकसाथ गुंजाइश नहीं थी।

स्टालिन और ट्राटस्की का संघर्ष व्यक्तिगत ही नहीं था, उससे ज्यादा और कुछ भी था। क्रान्ति के विकास के बारे में दोनों की नीति और साधन अलग-अलग थे। ट्राटस्की ने क्रान्ति के बहुत वर्ष पहले से ही 'स्थायी क्रान्ति' के उसूल गढ़ रक्खे थे। उनके मुताबिक़ किसी एक देश के लिए पूरे समाजवाद की स्थापना करना मुमकिन नहीं, भले ही उस देश की स्थिति कितनी ही अच्छी और अनुकूल हो। सच्चा समाजवाद विश्व-क्रान्ति के बाद ही आ सकता है, क्योंकि उसी वक़्त किसानों को पूरा समाजवादी बनाया जा सकता है। आर्थिक विकास में समाजवाद पूंजीवाद के बाद की दूसरी ही ऊँची मंज़िल है। जब पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय होगया, तभी वह बैठ गया। आज अधिकांश जगत् में हम यही होता देख रहे हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय रचना का काम समाजवाद ही सफलतापूर्वक कर सकता है। इसीलिए समाजवाद अनिवार्य है। मार्क्स का यही उसूल है। लेकिन समाजवाद को एक ही देश यानी राष्ट्रीय रूप में ही अमल में लाने की कोशिश की जायगी तो उसका अर्थ पीछे हटकर नीची आर्थिक सीढ़ी पर उतरना होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता उन्नति मात्र की जरूरी बुनियाद है और इसमें सामाजिक उन्नति भी शामिल है। अन्तर्राष्ट्रीयता से पीछे हटना न संभव है और न वाञ्छनीय या मुनासिब ही है। इसलिए ट्राटस्की के मत से सोवियट संघ जैसे बड़े किन्तु अकेले देश में समाजवाद का निर्माण कर सकना आर्थिक दृष्टि से असम्भव है। कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनमें

सोवियट को पश्चिमी योरप के उद्योगवादी देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह तो शहर और गाँव के सहयोग की-सी बात हुई। उद्योगवादी पश्चिम को शहर समझ लिया जाय, और रूस को अधिकांश में गाँव मान लिया जाय। राजनैतिक दृष्टि से भी ट्राटस्की की राय में पूंजीवादी वातावरण के बीच में अकेला समाजवादी देश बहुत दिनों तक जिन्दा नहीं रह सकता। दोनों में जरा भी मेल नहीं होसकता। हम देख चुके हैं कि यह बात कितनी सच है। या तो पूंजीवादी राष्ट्र उस समाजवादी देश को कुचल देंगे या पूंजीवादी देशों में सामाजिक क्रान्तियाँ होकर सब जगह समाजवाद क़ायम हो जायगा। अलबत्ता कुछ समय या कुछ वर्षों तक दोनों साथ-साथ रह सकते हैं, मगर उनका समतौल स्थिर नहीं होगा।

बहुत हद तक यही ख़याल क्रान्ति के पहले और पीछे सभी बोलशेविक नेताओं का रहा है। वे बड़े अधीर होकर विश्व-क्रान्ति या कम-से-कम कुछ यूरोपियन देशों में क्रान्ति की बाट देखते रहे। महीनों तक योरप की हवा में गर्जना होती रही, मगर तूफ़ान वर्षा हुए बिना ही निकल गया। रूस अपनी पंचवर्षीय योजना में लग गया और साधारण जीवन बिताने लगा। ट्राटस्की ने इसपर ख़तरे की घण्टी बजाई। उसने चेतावनी दी कि अगर विश्व-क्रान्ति के उद्देश्य से उग्र नीति काम में नहीं ली गई तो रूस की क्रान्ति भी जोखिम में पड़ जायगी। इस चेतावनी का नतीजा यह हुआ कि ट्राटस्की और स्टालिन में जबरदस्त द्वन्द्व-युद्ध छिड़ गया और इस टक्कर नें कुछ वर्षों तक बराबर साम्यवादी दल को हिला रक्खा। दल की सत्ता स्टालिन के हाथ में थी, इसलिए उसकी पूरी जीत हुई। ट्राटस्की और उसके हिमायती क्रान्ति के दुश्मन समझे गये और दल में से निकाल दिये गये। ट्राटस्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया और फिर संघ के बाहर निर्वासित कर दिया गया।

स्टालिन और ट्राटस्की में जल्दी ही भिड़न्त होने का कारण यह था कि स्टालिन ने किसानों को समाजवाद के पक्ष में करने के लिए कृषि के बारे में उग्र नीति जारी करनें का प्रस्ताव किया। यों दूसरे देशों में क्या हो रहा है इसका ख़याल न करके अकेले रूस में समाजवाद का निर्माण करने की कोशिश थी। ट्राटस्की ने इसे मंजूर नहीं किया। वह अपने 'स्थायी क्रान्ति' के उसूल पर डटा रहा। उसका कहना था कि इसके बिना किसान पूरी तरह समाजवादी नहीं बन सकते। असल बात यह थी कि स्टालिन ने भी ट्राटस्की की बहुत-सी सूचनाओं पर अमल तो किया, मगर किया उसने अपने ढंग से, ट्राटस्की के ढंग पर नहीं। इसके बारे में ट्राटस्की ने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है: "राजनीति में निर्णायक यही बात नहीं होती कि वस्तु क्या है, बल्कि यह होती है वह कैसे की जाती है और कौन करता है।"

इस तरह इन दो बडे आदमियों का वड़ा झगड़ा ख़त्म हुआ और जिस रंग-मंच पर ट्राटस्की ने इतनी वीरता और तेजस्विता का अभिनय किया था वहाँसे उसे हटा दिया गया। जिस सोवियट संघ का वह एक प्रधान निर्माणकर्त्ता था उसको छोड़कर उसे जाना पड़ा। इस जबरदस्त हस्ती से क़रीब-क़रीब सभी पूंजीवादी देश भयभीत थे। उन्होंने उसे अपने यहाँ नहीं आने दिया। दूसरे यूरोपियन देशों की तरह इंग्लैण्ड ने भी उसे घुसने की इजाजत नहीं दी। अन्त में उसे तुर्की में शरण मिली और वह आज-कल प्रिंकिपो में रहता है। मैं समझता हूँ यह इस्तम्बोल से आगे एक छोटा-सा टापू है। पद और दूसरे काम-काज की जिम्मेवारियों और झंझटों से छूटकर अब वह लिखने-पढ़ने के काम में लग सकता है। उसके ऐसा करने से परिणाम भी सुन्दर निकला है। उसका नया ग्रंथ History of the Russian Revolution (रूस की क्रान्ति का इतिहास) है। अभी उसकी उम्र भी बहुत नहीं है। वह कोई पचास-पचपन वर्ष का होगा। संभव है भविष्य के गर्भ में उसके लिए बहुत काम रक्खा हो। आगे चलकर उसका कुछ भी हो, संसार के इतिहास में उसके लिए एक कोना सुरक्षित है; और जिस संघर्ष के साथ सोवियट रूस में उसकी हस्ती मिट गई वह एक दुःखान्त नाटक तो है, लेकिन इससे उसके प्रतिभाशाली और अद्वितीय जीवन में कला का स्पर्श होगया। प्रिंकिपो में बैठकर वह कडी भाषा में स्टालिन और उसके साथियों की टीका करता रहता है और संसार के अनेक भागों में नियमित ट्राटस्की-दल खड़ा होगया है। साम्यवाद का यह अंग सत्ताधारी साम्यवादी दल को पसन्द नहीं है, क्योंकि वह साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की आज्ञा मानता है और परिषद् पर स्टालिन का प्रभुत्व है।

ट्राटस्की का निपटारा करके स्टालिन ने असाधारण साहस के साथ कृषि-संबंधी अपनी नई नीति के काम को हाथ में लिया। उसके सामने बडी कठिन परिस्थिति थी। पढ़े-लिखों में बेकारी और मुसीबत थी और मजदूरों में भी हड़तालें हो चुकी थीं। उसने कुलकों यानी मालदार किसानों पर भारी कर लगाये और यह रुपया सम्मिलित खेती के निर्माण में ख़र्च किया। सम्मिलित खेती का यह मतलब है कि छोटे-छोटे बहुतेरे किसान सहयोग के तरीक़े पर बडी-बडी खेतियाँ करते हैं और उसका मुनाफ़ा आपस में बाँट लेते हैं। सम्पन्न किसानों ने इस नीति का विरोध किया और वे सोवियट सरकार से बहुत बिगडे। उन्हें यह डर था कि उनके मवेशी और खेतों का सामान उनके दरिद्र पडोसियों के मवेशियों और सामान के साथ मिला दिया जायगा। इस डर के मारे उन्होंने सचमुच पशु-धन नष्ट कर दिया। इतने ज्यादा मवेशी मारे गये कि अगले साल खाने-पीने की चीजों की, माँस की, और दूध मक्खन वग़ैरा की बहुत ज्यादा कमी रही।

इस बात की स्टालिन को आशा नहीं थी, मगर वह जी कड़ा करके अपने कार्य-क्रम पर अटल रहा। इतना ही नहीं, उसने कार्यक्रम को बढ़ाया और उसे सारे देश के लिए कृषि और उद्योग दोनों के एक बलशाली आयोजन के रूप में बदल दिया। किसान को उद्योग के निकट लाना था और इसके लिए राज्य की ओर से नमूने के बड़े-बड़े और सम्मिलित खेत कायम करना था। बड़े-बड़े कारख़ाने खोलकर पानी से, बिजली निकालने के यंत्र लगाकर, खानों का काम और इसी तरह के अनेक दूसरे काम जारी करके देश-भर को उद्योगवादी बनाना था। साथ ही शिक्षा, विज्ञान, सहयोगी ख़रीद-फ़रोख़्त, लाखों मजदूरों के लिए मकान बनवाने और सब तरह उनके रहन-सहन का तरीक़ा ऊँचा करने वग़ैरा के काम हाथ में लेने थे। यही मशहूर 'पंच-वर्षीय योजना' थी। रूसी लोग इसे 'पायाटिलेटका' कहते हैं। यह कार्य-क्रम इतना विशाल, उच्चाकांक्षापूर्ण और कठिन था कि किसी धनी और उन्नत देश के लिए भी एक पीढ़ी में पूरा होना मुश्किल था। रूस जैसे पिछड़े हुए और ग़रीब मुल्क के लिए इसे हाथ में लेना तो हद दर्जे की बेवक़ूफ़ी ही मालूम होती थी।

यह पंचवर्षीय योजना बहुत ध्यानपूर्वक विचार और खोज के बाद बनी थी, वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने सारे देश की स्थिति की जाँच की थी और बहुत-से विशेषज्ञों ने इस समस्या पर चर्चा करली थी कि कार्यक्रम के एक भाग का दूसरे के साथ कैसे मेल बिठाया जाय। सच्ची कठिनाई इस मेल बिठाने के काम में आई थी। अगर कारख़ाने के लिए कच्चे माल का अभाव हो तो बड़ा सारा कारख़ाना खोल देने के मानी ही क्या? अगर कच्चा माल मिल भी जाय तो उसे कारख़ाने में पहुँचा देने का इन्तज़ाम होना चाहिए। इस तरह ढुलाई की समस्या हल करनी पड़ती है, उसके लिए रेलवे बनानी पड़ती है। रेलवे के लिए कोयला चाहिए और उसके लिए खानें चलाना आवश्यक है। ख़ुद कारख़ाने को चलाने के लिए कोई शक्ति चाहिए। यह शक्ति जुटाने के लिए बड़ी-बड़ी नदियों को बाँधकर उनके पानी से बिजली पैदा की गई और यह बिजली तारों के जरिये कारखानों और खेतों में पहुँचाई गई और शहरों और गाँवों में रोशनी के लिए इस्तेमाल की गई। फिर इन सब कामों के लिए इंजीनियरों, मिस्त्रियों और कुशल मजदूरों की जरूरत होती है और थोड़े-से समय में बीसों हजार स्त्री-पुरुषों को तालीम दे देना हँसी-खेल नहीं है। हजारों की तादाद में खेतों पर काम करने के लिए भारी-भारी एंजिन भेज तो दिये जायें, मगर उन्हें चलाये कौन?

ये थोड़े-से उदाहरण तुम्हें इस बात की कल्पना करने के लिए दे दिये हैं कि पंचवर्षीय योजना से कैसी-कैसी घबरा देनेवाली और पेचीदा समस्यायें पैदा हुई होंगी। इसमें एक-एक भूल से दूरवर्ती परिणाम निकल सकते थे। कार्य की श्रृंखला

में एक भी कमज़ोर या पिछडी कडी से देर होने या सारा सिलसिला बन्द हो जाने की सम्भावना थी। लेकिन पूंजीवादी देशों की अपेक्षा रूस को एक बडी सुविधा थी। पूंजीवाद में ये सारे काम व्यक्तियों की इच्छा और संयोग पर निर्भर रहते हैं और लाग-डाँट के कारण प्रयत्न बेकार भी बहुत होते हैं। अलग-अलग पदार्थ पैदा करनेवाले मुख्तलिफ़ क़िस्म के मजदूरों में कोई सहयोग नहीं होता। संयोग से बाजार में आकर ख़रीदारी या विक्री करनेवालों के बीच में कुछ सहयोग होजाता है। सार यह है कि बडे पैमाने पर और योजना के अनुसार काम नहीं होता। अलग-अलग व्यापरी या कम्पनियाँ अपने भावी कामों की योजनायें बना सकती हैं और बनाती हैं, मगर इन व्यक्तिगत योजनाओं में दूसरों से बाजी मार लेजाने की सम्भावना ही रहती है। राष्ट्रीय दृष्टि से इसका नतीजा उलटा ही होता है। इसका अर्थ यह होता है कि विपुलता और अभाव, सम्पन्नता और विपन्नता साथ-साथ रहते हैं। सोवियट सरकार को यह सुविधा थी कि देशभर के भिन्न-भिन्न उद्योगों और प्रवृत्तियों पर उसका नियन्त्रण था। इसलिए वह हरेक प्रवृत्ति को उचित स्थान देकर एक ही योजना बना सकी और उसको अमल में ला सकी। इसमें शक्ति नष्ट होने की भी गुंजाइश नहीं रहती। सिर्फ़ हिसाब लगाने या काम चलाने या काम चलाने में जो भूलें होजाती हैं उन्हींसे जो हानि होती है सो होती है। ये भूलें भी अलग-अलग आदमियों के हाथ में नियन्त्रण होने की हालत में ज्यादा होती हैं और सारा नियन्त्रण एक ही जगह से होने में कम होती हैं।

पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य सोवियट-संघ में उद्योगवाद की जड मजबूत करना था। कल्पना यह नहीं थी कि कपड़ा वग़ैरा जैसी सबकी जरूरत की चीजें बनाने के कुछ कारखाने खोल दिये जायें। हिन्दुस्तान की तरह बाहर से मशीनें मँगाकर लगा लेना तो आसान था। खपत का माल बनानें के इन कारखानों को 'हलके उद्योग' कहते हैं। इन हलके उद्योगों का दारोमदार 'भारी उद्योगों' पर होता है। लोहा, फौलाद और यंत्र बनाने के कारखाने भारी उद्योग कहलाते हैं। ये छोटे उद्योगों के लिए यंत्र, सामान और एंजिन वग़ैरा तैयार करते हैं। सोवियट सरकार ने बहुत दूर की सोचकर पंचवर्षीय योजना में इन आधार-भूत या बडे कारखानों पर सारी शक्ति लगाने का निश्चय किया। इस तरह उद्योगवादी बुनियाद मजबूत होजायगी और बाद में छोटे-छोटे उद्योग भी सरलता से खडे हो सकेंगे। बडे कारख़ानों से रूस को यंत्रों और लड़ाई के सामान के लिए भी दूसरे देशों के मुंह की ओर नहीं देखना पडेगा।

मौजूदा परिस्थिति में रूस के लिए बडे-बडे उद्योग पसन्द करना ही ठीक था, मगर इससे लोगों को प्रयत्न भी बहुत अधिक करना पड़ा और कष्ट भी खूब सहने

पडे। बडे उद्योगों पर छोटे उद्योगों से बहुत ज्यादा खर्च करना पड़ता है और इससे भी बड़ा अन्तर यह है कि बडे उद्योगों से बहुत देर में मुनाफ़ा होता है। कपडे का कारख़ाना खोलते ही कपड़ा तैयार होने लगता है और वह तुरन्त बिक सकता है। यही हाल दूसरे छोटे कारख़ानों का है जो खपत की चीज़ें बनाते हैं। मगर लोहे या फ़ौलाद के कारख़ाने में तो फ़ौलाद की पटरी या एंजिन ही वन सकते हैं। ये जबतक रेलवे न वन जाय तवतक न खप सकते हैं, न काम आ सकते हैं। इसमें समय लगता है और तवतक वहुत-सा रुपया उस व्यवसाय में रुका रहता है और उतना ही देश दरिद्र रहता है।

इस कारण रूस के लिए इतनी ज्यादा तेजी के साथ बडे-बडे कारख़ानों का वनाना बडी भारी क़ुर्वानी थी। यह सारी रचना, ये सारे यंत्र वाहर से आये थे, उनकी क़ीमत चुकानी पडी थी और वह भी सोना-चाँदी के रूप में। इसकी व्यवस्था कैसे की गई? सोवियट-संघ के निवासियों ने अपने पेट पर पट्टी बाँध ली—आधे भूखे रहे, और वाहरवालों को चुकाने के लिए जरूरी चीज़ों से भी अपनेको वंचित रक्खा। उन्होंने अपने खाद्य-पदार्थ वाहर भेजे और उनके मूल्य से यंत्रों के दाम चुकाये। गेहूँ, कँगरान, जौ, गल्ला, तरकारी, फल, अण्डे मक्खन, मांस, पक्षी, शहद, मछली, शकर, तेल, मिठाइयाँ आदि जो भी चीज़ें विक सकती थीं वे सब विकने को भेजदीं। इन चीज़ों के भेजने का अर्थ यह था कि उन्होंने इनके विना काम चलाया। रूसियों को मक्खन मिला ही नहीं या बहुत कम मिला, क्योंकि वह यंत्रों की क़ीमत में वाहर चला जाता था। यही हाल और वहुत-से माल का हुआ।

यह प्रवल प्रयत्न पंचवर्षीय योजना के रूप में १९२९ में शुरू हुआ। क्रान्ति की भावना फिर फैल गई, आदर्श की पुकार पर सर्वसाधारण के दिल हिल गये और उन्होंने इस नवीन संग्राम में अपनी सारी शक्ति लगादी। यह संग्राम किसी विदेशी या भीतरी दुश्मन के ख़िलाफ़ नहीं था। यह लड़ाई रूस की पिछडी हुई हालत के, पूंजीवाद के अवशेष के और नीचे रहन-सहन के ढंग के ख़िलाफ़ थी। लोगों ने फिर से उत्साहपूर्वक त्याग करना वर्दाश्त किया और फ़क़ीरों की-सी सख़्त जिन्दगी विताई। उन्होंने महान् भविष्य के संकेत पर वर्तमान का वलिदान कर दिया। करते भी क्यों नहीं? उन्हींको तो उसके निर्माण का गर्व और श्रेय था।

एक काम को पूरा करने में राष्ट्रों ने पहले भी अपनी सारी शक्तियाँ लगाई हैं, मगर यह वात युद्ध-काल में ही हुई है। महासमर के समय जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ़्रांस के जीवन का एक ही लक्ष्य था; और वह था लड़ाई में जीतना। इस उद्देश्य के सामने और सब वातें गौण हो गई थीं। मगर यह श्रेय इतिहास में सोवियट रूस

को ही पहलेपहल मिला है कि उसने राष्ट्र की सारी शक्ति नाश के नहीं निर्माण के शान्तिपूर्ण प्रयत्न में, यानी एक पिछड़े हुए देश का औद्योगिक उत्थान करने और उसे समाजवाद के ढांचे में ढालने के काम में, लगादी। मगर कष्ट भी लोगों को और खास तौर पर उच्च और मध्यमवर्ग के किसानों को बहुत ही हुआ और कई बार ऐसा मालूम होने लगता था कि यह सारी विशाल योजना बैठ जायगी और शायद अपने साथ-साथ सोवियट सरकार को भी ले डूबेगी। ऐसी अवस्था में टिके रहना ग़ैर-मामूली हिम्मत का ही काम था। बड़े-बड़े बोलशेविकों ने विचार किया कि कृषि-संबंधी कार्य-क्रम का भार और उससे होनेवाला कष्ट असहनीय है और लोगों को आराम मिलना चाहिए। मगर स्टालिन का यह ख़याल नहीं था। वह जी कड़ा करके चुपचाप अड़ा रहा। वह बात करना नहीं जानता था। सार्वजनिक भाषण वह शायद ही कभी देता था। वह ऐसा दीखता था मानों भाग्य की अटल रेखायें लोहे की मूर्ति बनकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं। उसके इस साहस और दृढ़ संकल्प की छूत उसके साम्यवादी दल के सदस्यों और दूसरे कार्यकर्त्ताओं को भी लगी।

पंचवर्षीय योजना के पक्ष में लोगों का जोश क़ायम रखने और उन्हें अपने प्रयत्न में लगा रखने के लिए लगातार प्रचार-कार्य किया गया। पानी से बिजली निकालने के बड़े-बड़े कारखानों, बाँधों, पुलों, पुतलीघरों और सामूहिक खेतों के बनाने में जनता ने खूब दिलचस्पी ली। इंजीनियरिंग सबसे लोकप्रिय धन्धा होगया और इंजीनियरिंग के बड़े-बड़े सफल कार्यों की वैज्ञानिक तफ़सील से अख़बार भरे रहने लगे। जंगल और मरुभूमियाँ आबाद होगईं और एक-एक बड़े कारख़ाने के आसपास बड़ा और नया शहर खड़ा होगया। नई सड़कें, नई नहरें और नई रेलवे बन गईं। रेलें ज्यादातर बिजली की थीं। हवाई जहाज़ों के जरिये आने-जाने की प्रणाली का विकास होगया। रासायनिक पदार्थों, युद्ध-सामग्री और औजारों के उद्योग क़ायम होगये और सोवियट-संघ भारी एंजिन, मोटरें, रेल के डब्बे, हवाई जहाज़ और पनचक्कियाँ सब बनाने लग गया। बिजली का दूर-दूर तक प्रचार होगया और रेडियो आम तौर पर काम में आने लगा। बेकारी का नाम-निशान भी नहीं रहा, क्योंकि निर्माण-कार्य और दूसरा काम इतना था कि उसमें जितने मजदूर मिल सकते थे वे सब लग गये। बहुत-से योग्य इंजीनियर विदेशों से आये। उनका स्वागत किया गया। याद रहे कि यह बात उन दिनों की है जब सारे पश्चिमी योरप और अमेरिका में मन्दी छाई हुई थी और बेकारों की तादाद बुरी तरह बढ़ गई थी।

मगर पंचवर्षीय योजना के काम में कोई दिक्क़त न आई हो, सो बात नहीं थी। कई बार बड़ा झगड़ा खड़ा होजाता था, सहयोग की भी कमी होजाती और प्रतिक्रिया

और हानि भी होजाती थी। लेकिन इन सब वातों के होते हुए भी काम का जोश बढ़ता गया और हमेशा ज्यादा-से-ज्यादा काम की माँग बनी रही। फिर तो यह आवाज आने लगी कि पांच वर्ष की योजना चार ही वर्ष में पूरी हो, मानों इस विलक्षण कार्यक्रम के पूरा करने के लिए पाँच वर्ष का समय थोड़ा नहीं था। योजना जाब्ते से ३१ दिसम्बर १९३२ को यानी चार वर्ष के अखीर में पूरी हुई; और १९३३ की प्रथम जनवरी से यानी तुरन्त ही दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू होगई !

पंचवर्षीय योजना की चर्चा करते समय कुछ लोग तो इसे बडी भारी कामयाबी बताते हैं और कुछ कहते हैं यह नाकामयाब रही। कहाँ-कहाँ नाकामयाबी रही, यह वताना आसान है; क्योंकि कई वातों में लोगों की आशायें पूरी नहीं हुईं। आज रूस में वहुत वातों में भयंकर विषमता है। मुख्य अभाव कुशल और तालीमयाफ़्ता कार्यकर्त्ताओं का है। कारख़ाने अधिक और उन्हें चलाने के लिए योग्य इंजीनियर थोडे हैं। भोजनालय और पाकशालायें ज्यादा और होशियार रसोइये कम हैं। यह वेहिसाव हालत अवश्य ही थोडे समय वाद नहीं रहेगी, या कम तो हो ही जायगी। एक वात साफ़ है कि पंचवर्षीय योजना ने रूस की बिलकुल कायापलट करदी है। सामन्तशाही से निकलकर वह एकदम उन्नत उद्योगवादी देश होगया है। संस्कृति की भी आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है। समाज की सेवा के साधन, स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय और आकस्मिक घटना का बीमा आदि की व्यवस्था संसार-भर से अधिक व्यापक और उन्नत ढंग की है। मुसीबत और ग़रीबी होते हुए भी बेकारी और भूख का भयंकर भत जो दूसरे देशों के मजदूरों पर सवार है उसका रूस से काला मुँह होगया है। लोगों को आर्थिक निश्चिन्तता की नई अनुभूति होरही है।

पंचवर्षीय योजना की सफलता-असफलता की दलीलों में कोई सार नहीं है। उसका अमली उत्तर तो सोवियट-संघ की आज की हालत से मिल जाता है। दूसरा जवाब यह भी है कि इस योजना ने संसार-भर के दिमाग़ पर अपनी छाप बिठाई है। अव सभी तीन वर्ष, पाँच वर्ष और दस वर्ष की योजनाओं की वात करते हैं। यहाँतक कि आम तौर पर समय के एक पीढ़ी पीछे रहनेवाले भारतीय गवर्नरों को भी योजनाओं की वात करने का चस्का लग गया है। सोवियट ने इस शब्द में जादू भर दिया है।

: १८१ :

सोवियट संघ की कठिनाइयाँ, असफलतायें और सफलतायें

११ जुलाई, १९३३

सोवियट रूस ने पंचवर्षीय योजना बनाकर एक बड़ा भारी काम हाथ में लिया था। यह योजना अकेले ही कई क्रान्तियों के बराबर थी। इसमें खेती और उद्योग दोनों की क्रान्तियां शामिल थीं। पुराने ढंग से छोटे पैमाने पर खेती करनेवाले किसानों में बडे पैमाने पर सामूहिक और यन्त्रों द्वारा खेती का तरीक़ा चला देना और रूस जैसे उद्योगहीन देश को इस तेज़ी से उद्योगवादी बना देना क्रान्ति से क्या कम है ? मगर योजना के बारे में सबसे दिलचस्प बात थी वह भावना जो उसके पीछे काम कर रही थी, क्योंकि यह भावना राजनीति और उद्योग दोनों के लिए नई है। यह भावना विज्ञान की भावना है। इसमें समाज-रचना के काम में सोच-समझकर वैज्ञानिक तरीक़े इस्तेमाल करने की कोशिश है। ऐसी बात किसी उन्नत-से-उन्नत देश में भी पहले नहीं हुई थी। इस तरह मानवीय और सामाजिक मामलों में विज्ञान के साधनों का उपयोग करना ही सोवियट योजना की बडी भारी ख़ासियत है। यही वजह है कि सारी दुनिया इस वक़्त योजना बनाने की चर्चा कर रही है, मगर जब पूंजीवाद जैसी सामाजिक व्यवस्था का आधार ही स्पर्धा यानी लाग-डांट और मालदारों के स्वार्थों की रक्षा है तो उसमें कोई भी सफल योजना बनाना कठिन है। इसलिए योजना बनाने और पूंजीवादी देशों में सहयोग क़ायम करने की कोरी बातें ही होकर रह जाती हैं।

मगर मैं तुम्हें कह चुका हूँ कि पंचवर्षीय योजना से कष्ट, कठिनाई और गड़बड़ बहुत हुई। लोगों को इसकी भयंकर क़ीमत चुकानी पडी। ज्यादातर लोगों ने यह क़ीमत ख़ुशी-ख़ुशी चुकाई और उज्ज्वल भविष्य की उम्मीद में क़ुरबानी की और कष्ट सह लिये। कुछ लोगों ने यह क़ीमत मन से नहीं, बल्कि सोवियट सरकार के दबाव से चुकाई। जिनको सबसे ज्यादा तकलीफ हुई उनमें कुलक या मालदार किसान भी थे। उनके पास दौलत ज्यादा थी और उनका ख़ास असर था। इसलिए नई योजना से उनका मेल नहीं बैठा। वे समाज के पूंजीवादी अंग थे और इस कारण वे सामूहिक खेती का समाजवादी ढंग पर विकास होने में बाधक थे। अकसर वे इस समूहवाद का विरोध करते थे, कभी-कभी गिरोहों में घुसकर उन्हें भीतर से कमज़ोर करते थे या उनसे नाजायज़ फ़ायदा उठाने की कोशिश करते थे। सोवियट सरकार ने उनपर हथोडे बरसाये। सरकार ने मध्यमवर्ग के बहुत-से आदमियों पर भी बडी सख़्तियाँ कीं, क्योंकि उनपर दुश्मन की तरफ़ से जासूसी और गुप्त विरोध करने का शक था। इस सन्देह

के कारण, जो शायद कुछ मामलों में सच्चा था, बहुत-से इंजीनियरों को सजायें देकर जेल में भेज दिया गया। चूंकि बहुत-सी हाथ में ली हुई बडी-बडी योजनाओं में इंजीनियरों की ख़ास जरूरत थी, इसलिए इस कार्रवाई से पंचवर्षीय योजना को भी धक्का पहुँचा।

विषमता तो क़रीब-क़रीब सभी जगह थी। ढुलाई की व्यवस्था ठीक न होने से अक्सर कारख़ानों और खेतों में पैदा हुए माल को वहीं पडे-पडे इन्तज़ार करना पड़ता था। इससे सब जगह काम में गड़बड़ होती थी। सबसे बडी मुश्किल यह थी कि योग्य विशेषज्ञों और इंजीनियरों की कमी थी।

इस पंचवर्षीय योजना के समय संसार में, या यूं कहो कि पूंजीवादी संसार में, ऐसी मन्दी छाई हुई थी जैसी पहले कभी नहीं हुई। व्यापार बैठता जा रहा था, कारख़ाने बन्द हो रहे थे और बेकारी बढ़ रही थी। अनाज और कच्चे माल की क़ीमत बुरी तरह घट जाने से दुनियाभर के किसानों में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। यह अजीब बात मालूम होती थी कि जब और सब जगह यह बेकारी और बेरोजगारी फैली हुई थी उस वक़्त सोवियट संघ में दिन-रात काम-धन्धे की धूम मची हुई थी। ऐसा मालूम होता था कि दुनिया की मन्दी का उसपर कोई असर ही नहीं है। उसकी अर्थ-व्यवस्था ही बिलकुल जुदा थी। मगर मन्दी के असर से सोवियट भी बच नहीं सका। यह असर चुपके-चुपके और अप्रत्यक्ष रूप से हुआ। इससे सोवियट की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गईं। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि सोवियट बाहर से मशीनें मोल ले रहा था और उनकी क़ीमत उसे खेती की पैदावार विदेशों को बेचकर चुकानी पड़ती थी। चूंकि खाद्य पदार्थों का भाव संसार के बाजारों में गिर गया था, इसलिए सोवियट को भी अपने निर्यात माल की क़ीमत थोडी मिलती थी। मगर ख़रीदी हुई मशीनरी के दाम चुकाने को तो उसे पूरा सोना ही देना पड़ता था। इसलिए अधिकाधिक अन्न बाहर भेजना पड़ता था। इस तरह दुनिया की व्यापारिक मन्दी और भावों की कमी से सोवियट को भी नुक़सान हुआ और उसने जो हिसाब लगा रक्खा था उसमें बहुत-सी गड़बड़ हुई। इससे देश में कई जरूरत की चीजों की और भी कमी होगई और उतनी ही तकलीफ़ बढ़ी।

एक तरफ़ अन्न की कमी दिन-दिन ज्यादा होरही थी और दूसरी ओर संघ-भर में आबादी बेहिसाब बढ़ रही थी। खेती की पैदावार की मन्द प्रगति के मुक़ाबिले में आबादी का इस तेजी से और बेहिसाब बढ़ना ही सोवियट की प्रधान समस्या थी। क्रान्ति से पहले सोवियट संघ के मौजूदा इलाक़ों की आबादी १३ करोड़ थी। उसके बाद गृहयुद्ध में भीषण जन-हानि हुई। फिर भी इसके बाद के सालों में आबादी में जो बढ़ती हुई वह देखने की बात है :—

१९१७ में अ ी थी	१३ करोड़
१९२६ ,, ,, ,,	१४ करोड़ ९० लाख
१९२९ ,, ,, ,,	१५ करोड़ ४० ,,
१९३० ,, ,, ,,	१५ करोड़ ८० ,,
१९३३ ,, (वसन्त ऋतु का अनुमान)	१६ करोड़ ५० ,,

इस तरह १५ वर्ष से जरा ज्यादा समय में ३॥ करोड़ आदमी बढ़ गये। २६ फ़ी सदी वृद्धि एक ग़ैरमामूली वात है।

वैसे सारे सोवियट संघ की ही आवादी वढ़ी, मगर शहरों में विशेष वृद्धि हुई। पुराने नगर और भी बडे वन गये और मरुभूमि में नये-नये कारख़ानों के नगर खडे होगये। पंचवर्षीय योजना में वडे-वडे उद्योग-धन्धों का निर्माण हुआ। उनमें काम वहुत था। इससे आकर्षित होकर वेशुमार किसान अपने गाँव छोड़-छोड़कर शहरों में जापहुँचे। रूस-भर में १९१७ में एक लाख या उससे अधिक आवादी के २४ शहर थे। १९२६ में इनकी संख्या ३१ और १९३३ में ५० से ऊपर होगई। पंद्रह साल के भीतर सोवियट ने १०० से ऊपर उद्योग-नगर बना दिये। १९१३ से १९३२ के बीच में मास्को की आवादी १६ लाख से ३२ लाख यानी दुगुनी होगई। लेनिनग्रेड में भी दस लाख आदमी वढ़ गये और वहाँ तीस लाख की संख्या पूरी होगई। क़ाफ़ के पार वाकू नगर की आवादी भी ३,३४,००० से वढ़कर ६,६०,००० यानी दुगुनी होगई। १९१३ से १९३२ तक शहरों की आवादी २ करोड़ से ३॥ करोड़ होगई।

जव किसान शहर में जाकर मजदूर वन जाता है तो वह अपने गाँव में था उस वक्त की तरह अन्न पैदा करनेवाला नहीं रहता। कारख़ाने में काम करके वह पक्का माल या औज़ार वना सकता है; मगर जहाँतक खाद्य पदार्थों का ताल्लुक़ है वह ख़र्च करनेवाला ही होजाता है। इस तरह गाँवों से उठ-उठकर वहुत-से किसानों के शहरों में चले जाने का मतलव यह हुआ कि जो अन्न पैदा करते थे वे ही उसे ख़र्च करनेवाले वन गये। भोजन के मसले को इस वात ने और भी पेचीदा बना दिया।

एक वात और भी थी। देश के वढ़ते हुए उद्योग के लिए कारख़ानों को अधिकाधिक कच्चे माल की जरूरत हुई। इस तरह कपडे के कारखानों में रुई की जरूरत हुई। इसलिए अनेक प्रदेशों में अनाज के वजाय रुई और दूसरा कच्चा माल वोया गया। इससे भी अन्न की कमी वढ़ी।

सोवियट संघ की आवादी का इतना ज्यादा वढ़ना ख़ुद ही ख़ुशहाली का वढ़िया सबूत था। अमेरिका की तरह इसका कारण लोगों का वाहर से आकर वसना नहीं थां। इससे जाहिर होता था कि लोगों को कष्ट और असुविधा होते हुए भी भूखों

नहीं मरना पड़ा। नाप-तौलकर खाद्य पदार्थों के बांटने की कड़ी व्यवस्था से सारी आबादी के पास बिलकुल जरूरी भोजन-सामग्री पहुँच जाती थी। आँखों देखनेवालों का अधिकारपूर्वक कहना है कि आबादी के इस तेजी से बढ़ने का कारण ज्यादातर यह था कि लोगों को आर्थिक निश्चिन्तता अनुभव होने लगी थी। वहाँ अब बच्चे कुटुम्ब के लिए भार-रूप नहीं हैं, क्योंकि राज्य उनकी सम्हाल रखनें, उन्हें खिलाने-पिलानें और शिक्षा देने के लिए तैयार है। दूसरा कारण यह है कि सफ़ाई और इलाज की सहूलियतों के बढ़ जाने से बच्चों की मृत्यु-संख्या २७ से घटकर १२ फ़ी सदी रह गई है। मास्को में १९१३ में साधारणतः एक हजार पर २३ मौतें हुआ करती थीं; पर १९३१ में १३ प्रति हजार ही रह गईं।

खाद्य पदार्थों की कमी से होनेवाली अनेक कठिनाइयों में एक और बढ़ गई। १९३१ में संघ के कुछ भागों में अकाल पड़ गया। १९३१ और १९३२ में सुदूर पूर्व में युद्ध की गरम खबरें भी उड़ती रहीं। कहीं दूसरी पूंजीवादी शक्तियों से मिलकर जापान रूस पर हमला न करदे, इस डर से सोवियट ने आड़े वक्त पर फ़ौज के काम आनें के लिए अनाज और दूसरे खाद्य पदार्थ इकट्ठे करना शुरू कर दिया। सोवियट के खिलाफ़ जंग छिड़ने का खतरा सच्चा ही है और वह बना रहता है, मगर बोलशेविकों पर तो यह दिन-रात भूत की तरह सवार रहता है और इसी लिए बार-बार ऐसी खबरें उड़ती रहती हैं। एक पुरानी रूसी कहावत है कि 'डर से आँखें बड़ी हो जाती हैं।' यह कहावत बच्चों पर लागू करो या जातियों और राष्ट्रों पर, कितनी सच्ची है! चूंकि साम्यवाद और पूंजीवाद में सच्चा मेल नहीं होसकता, और साम्राज्य-वादी राष्ट्र साम्यवाद को कुचलने पर तुले हुए हैं और उसके लिए पैंतरे बदलते और षड्यन्त्र रचते रहते हैं, इसलिए बोलशेविकों के कान सदा खड़े रहते हैं और जरा-सी उत्तेजना मिलते ही वे आँखें फाड़-फाड़कर देखनें लगते हैं। अक्सर उन्हें चिन्ता का काफ़ी कारण भी मिल जाता है और उन्हें घर के भीतर भी कारखानों और बड़े व्यव-सायों के नष्ट करने के व्यापक प्रयत्नों का सामना करना पड़ा है।

१९३२ सोवियट संघ के लिए बहुत ही नाजुक साल रहा और अब भी, १९३३ के जुलाई में, यह लिखते समय तक संकट-काल समाप्त नहीं हुआ है। बहुत-से सामूहिक खेतों पर सार्वजनिक सम्पत्ति की चोरियाँ बहुत हुईं। इन चोरियों और गुप्त विरोध के खिलाफ़ सरकार ने बहुत सख्त कार्रवाई की। मामूली तौर पर रूस में मृत्युदण्ड नहीं है, मगर प्रति-क्रान्ति के मामलों में यह सजा जारी करदी गई है। सोवियट सरकार ने आज्ञा दी है कि सार्वजनिक सम्पत्ति का चुराना प्रति-क्रान्ति के बराबर है, इसलिए इसकी सजा मौत है। इस बारे में स्टालिन ने कहा है: "अगर पूंजीवादियों

ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को पवित्र और रक्षणीय बताकर अपने समय में पूंजीवादी व्यवस्था को दृढ़ करने का उद्देश्य पूरा किया है तो हम साम्यवादियों को तो सार्वजनिक सम्पत्ति को पवित्र और रक्षणीय घोषित करके नई समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत करने की ओर भी ज्यादा कोशिश करनी चाहिए।"

लोगों को आराम पहुंचाने के लिए सोवियट सरकार ने और भी उपाय किये। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कार्य था सामूहिक और व्यक्तिगत खेतों की फ़ालतू पैदावार को शहरों के बाजार में बेचने की इजाजत देना। इससे कुछ-कुछ उस नई अर्थ-नीति की याद आती है जो सैनिक साम्यवाद के समय के बाद १९२१ में जारी हुई थी। मगर आज के सोवियट संघ में और उस समय के संघ में जमीन-आसमान का फ़र्क़ है। वह अब समाजवाद के मार्ग पर बहुत-सी मंजिलें तय कर चुका है; वह उद्योगवादी बन गया है और उसकी खेती बहुत कुछ सामूहिक होगई है।

पिछले चार साल में २,००,००० सामूहिक खेत संगठित किये गये हैं और ५,००० सरकारी खेत भी हैं। ये खेत औरों के लिए नमूने का काम देते हैं। ये बहुत बड़े हैं। इनमें सबसे बड़ा ५० लाख एकड़ का है। इस साल में १,२०,००० जोतनेवाले एंजिन और लगाये गये हैं। लगभग दो-तिहाई किसान अब इन सामूहिक कृषि-संघों के सदस्य होगये हैं।

दूसरी प्रवृत्ति जिसकी आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है, सहयोग-समितियों के संगठन की है। १९२८ में खरीदारों की सहयोग-समिति के दो करोड़ साढ़े छः लाख मेम्बर थे। १९३२ में यह तादाद सात करोड़ पचास लाख होगई। इस संस्था के थोक और फुटकर बिक्री भंडारों का सिलसला संघ के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ है, कोई जगह उनसे खाली नहीं है।

रूस के बेशुमार नये उद्योगों और कारखानों की फेहरिस्त से इस ख़त को भरने की जरूरत नहीं है। वह सूची लम्बी और प्रभावशाली होगी। मगर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि पिछले छः वर्ष में बीस लाख मजदूर-कुटुम्बों को नये मकान रहने के लिए मिले हैं। यह तो मैं तुम्हें दूसरी जगह बता ही चुका हूँ कि मजदूरों की तन्दुरुस्ती और जिन्दगी की रक्षा के लिए सामाजिक बीमे की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है।

१९३३ की पहली जनवरी को दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू होगई। यह भी है तो लम्बी-चौडी, परन्तु यह पहली से आसान है। इसकी मनशा छोटे उद्योगों की तरक़्क़ी करना है और इसका नतीजा यह होगा कि लोगों का रहन-सहन का तरीक़ा जल्दी ऊँचा होजायगा। यह उम्मीद की जाती है कि पिछले चार वर्ष के कष्ट और

भार सहन करने के बाद अब लोगों को ज्यादा आराम और सुखपूर्ण जीवन के रूप में थोड़ा इनाम दिया जा सकेगा। अब मशीनों के लिए बाहर जाने की जरूरत न होगी। क्योंकि रूस के बड़े कारख़ाने ये मशीनें मुहैया कर सकेंगे। इससे सोवियट का वह भार भी हलका हो जायगा जो उसे ख़रीदे हुए माल की क़ीमत चुकाने के लिए बहुत-से खाद्य पदार्थ बाहर भेजने में उठाना पड़ता था।

हाल ही में सामूहिक खेतों के किसानों की परिषद् में बोलते हुए स्टालिन ने कहा था :—

"हमारा पहला काम सारे सामूहिक खेती करनेवाले किसानों को सम्पन्न बनाना है। हाँ, साथियो, सम्पन्न बनाना।.........कभी-कभी लोग कहते हैं: 'जब समाजवाद है तो फिर हम काम क्यों करें? हम पहले भी काम करते थे, अब भी करते हैं। क्या काम करना छोड़ देने का हमारे लिए वक्त नहीं आगया?......नहीं, समाज की रचना परिश्रम पर हुई है।.........समाजवाद चाहता है कि सब लोग ईमानदारी से काम करें, दूसरों के लिए, अमीरों के लिए, शोषकों के लिए काम न करें। मगर अपने लिए और समाज के लिए काम करें।"

काम तो रहेगा और रहना चाहिए। हाँ, वह पंचवर्षीय योजना के चार वर्ष के कठोर काल की बनिस्बत भविष्य में हलका और रुचिकर होगा। असल में सोवियट संघ का उसूल ही यह है—"जो काम न करे वह खाये भी नहीं।" लेकिन बोलशेविकों ने काम के साथ एक नया हेतु और लगा दिया है और वह है समाज की भलाई के लिए काम करना। पहले भी आदर्शवादियों और इक्के-दुक्के आदमियों ने इसी हेतु से प्रेरित होकर काम किया है, मगर सारे समाज के इस हेतु को स्वीकार करके उसके अनुसार काम करने का पहले कोई उदाहरण नहीं मिलता। पूँजीवाद का आधार ही स्पर्धा यानी लाग-डाँट और दूसरों को नुक़सान पहुँचाकर अपना फ़ायदा करना था। सोवियट संघ में इस मुनाफ़े के हेतु का स्थान सामाजिक हेतु ले रहा है। एक अमेरिकन लेखक कहता है कि रूस के श्रमजीवी यह सीख रहे हैं कि "पारस्परिक अधीनता स्वीकार करने से भी दारिद्र्य और भय से स्वाधीनता मिलती है।" दरिद्रता और अनिश्चितता का भय ग़रीबों की गर्दन पर सब जगह और सदा सवार रहता है। यह कहा जाता है कि सोवियट रूस में इस भय के निकल जाने से मानसिक बीमारियों का अन्त-सा होगया है।

इस तरह इन चार कठोर वर्षों में सोवियट संघ में सब जगह और सब तरह की तरक़्क़ी हुई है। इनमें कष्ट और विषमतायें तो हुईं, मगर फिर भी नगरों, उद्योगों, बड़ी-बड़ी सामूहिक खेतियों, जबरदस्त सहयोग-समितियों, व्यापार और आबादी तथा संस्कृति, विज्ञान और विद्या की प्रगति अवश्य हुई। सबसे बड़ी बात यह हुई कि प्रशान्त

महासागर से बाल्टिक समुद्र तक, पामीर पहाड़ से मध्यएशिया के हिन्दूकुश पहाड़ तक, फैले हुए सोवियट संघ में रहनेवाली मुख्तलिफ़ जातियों में एकता और एक-रसता बढ़ी।

संघ का बुरा-से-बुरा संकट-काल तो शायद चला गया है, मगर अभी वह है जरूर। क़ाफ़प्रान्त के कुछ हिस्सों में थोडे ही महीनों पहले सचमुच अकाल की हालत थी। इस वक़्त सारे संघ की चिन्ता और आशा-भरी दृष्टि अगली फ़सल पर लगी हुई है। पिछले यानी १९३३ के वसन्त में बुवाई बडे ज़ोर की हुई थी और आशायें यही हैं कि फ़सल बहुत अच्छी होगी। यह हुआ तो चार वर्ष लम्बे दुःख और चिन्ता के शीत काल का अन्त होकर रूस में वसन्त की आशा, जीवन और उत्साह देनेवाली हवा बहेगी।

मुझे सोवियट रूस में आम तौर पर शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति की जो प्रगति हुई है उसका हाल लिखने का लोभ तो हो रहा है, मगर इसे संवरण ही करना पडेगा। तुम्हें थोडी-सी इधर-उधर की रोचक बातें ही बताऊँगा। जो लोग निर्णय करनें के अधिकारी हैं उनमें से बहुतों की मान्यता है कि रूस की शिक्षा-प्रणाली आज संसार में सबसे अच्छी और नई है। निरक्षरता का तो काला मुँह ही होगया है और उज़बकिस्तान और तुर्कनिस्तान जैसे पिछडे हुए मध्य-एशियाई प्रदेशों में सबसे आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। इस प्रदेश में १९१३ में १२६ पाठशालायें और ६,२०० विद्यार्थी थे। १९३२ में वहाँ ६९७५ पाठशालायें और ७,००,००० छात्र थे। इनमें से एक-तिहाई लड़कियाँ थीं। सब जगह शिक्षा अनिवार्य करदी गई है। इस जबरदस्त तरक्क़ी का महत्व समझने के लिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि कुछ ही समय पहले तक लड़कियाँ परदे में रक्खी जाती थीं और उन्हें संसार के इस हिस्से में बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। कहते हैं, इतनी जल्दी प्रगति लैटिन लिपि के जारी करनें के कारण हुई। भिन्न-भिन्न स्थानीय लिपियों की बनिस्बत इस लिपि से प्रारंभिक शिक्षा आसान होगई। तुम्हें याद होगा, मैं तुम्हें बता चुका हूँ, कि कमालपाशा नें भी अरबी के बजाय लैटिन लिपि या वर्णमाला जारी करदी है। उसे यह कल्पना और दूसरी भाषाओं के अनुकूल वर्णमाला रूस के प्रयोग से मिली। १९२७ में क़ाफ़प्रदेश के प्रजातंत्रों ने अरबी लिपि छोड़कर लैटिन लिपि को अपनाया। निरक्षरता दूर करने में इससे बडी कामयाबी हुई और चीनी, मंगोली, तुर्क, तातार, बुदयत, बश्कीर, ताजिक और अनेक दूसरी जातियों नें, जो सोवियट संघ में शामिल हैं उनमें से अधिकांश ने, लैटिन लिपि को अपना लिया। भाषा तो वही स्थानीय रही जो सदा से काम में आती थी। सिर्फ़ लिपि बदल गई।

तुम्हें यह जाननें में दिलचस्पी होगी कि सोवियट संघ की सारी पाठशालाओं के

दो-तिहाई बच्चों को पाठशालाओं में ही गरम-गरम दुपहरी कराई जाती है, यानी दोपहर का नाश्ता कराया जाता है। इसका पैसा नहीं लिया जाता। वहाँ तो शिक्षा भी मुफ़्त दी जाती है। मुफ़्त दी भी क्यों न जाय? वहाँ मजदूरों का राज जो ठहरा।

साक्षरता की वृद्धि और तालीम की तरक्क़ी के कारण वहाँ पढ़नेवाले लोगों की तादाद बहुत बढ़ गई है और शायद रूस में और किसी भी देश से ज्यादा किताबें और अख़बार छपते हैं। अधिकांश पुस्तकें गम्भीर और 'भारी' हैं, और देशों क़ी तरह हलके उपन्यास नहीं हैं। रूसी श्रमजीवी को इंजीनियरिंग और बिजली से इतनी दिलचस्पी है कि वह उनके विषय की पुस्तकें पढ़ना जितना पसन्द करता है उतना कहानियों की किताबें पढ़ना नहीं करता। मगर बच्चों के लिए बहुत मजेदार पुस्तकें हैं, परियों की कहानियाँ तक हैं, हालांकि मैं समझता हूँ पुराने ख़याल के बोलशेविकों को परियों की कहानियाँ पसन्द नहीं हैं।

विज्ञान में या विज्ञान के शुद्ध स्वरूप और उसके बहुत-से प्रयोगों में रूस पहले ही प्रथम श्रेणी में आ चुका है। विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं की बहुत-सी विशाल संस्थायें और प्रयोगालय बन गये हैं। लेनिनग्रेड में वनस्पति-उद्योग की इतनी बडी संस्था है कि उसमें अकेले गेहूं के २८,००० अलग-अलग नमूने हैं! यह संस्था हवाई जहाज से चावल बोने के तरीक़ों का प्रयोग कर रही है।

जारों और उनके उमरावों के पुराने महलों में अब लोगों के लिए अजायबघर, आरामगाहें तथा स्वास्थ्य-भवन बन गये हैं। लेनिन ग्रेड के पास ही एक छोटा-सा क़स्बा है। पहले इसे 'जारको सेलो' यानी 'जार का गाँव' कहते थे। वहाँ सम्राट् के दो महल थे और गरमी में जार वहीं रहता था। अब उसका नाम बदल कर 'डेस्को सेलो' यानी 'बच्चों का गाँव' रख दिया गया है। मेरा ख़याल है कि पुराने महल अब बच्चों और नवयुवकों के ही काम के रह गये हैं। आज के सोवियट रूस में बच्चों और नवयुवकों पर ख़ास महरबानी है। दूसरों को भले ही अभाव का कष्ट हो, पर इन लाड़लों को तो हर चीज बढ़िया-से-बढ़िया मिलनी चाहिए। उन्हींके लिए तो मौजूदा पीढ़ी मेहनत कर रही है, 'क्योंकि वे ही आगे चलकर समाजवादी और वैज्ञानिक राज्य के मालिक बनेंगे, बशर्तेकि यह उनके जीवन-काल में स्थापित होजाय।' मास्को में 'माता और बच्चे की रक्षा की केन्द्रीय संस्था' है।

रूस में स्त्रियों को शायद और सब देशों से ज्यादा आजादी है। फिर भी उन्हें राज्य की तरफ़ से ख़ास संरक्षण मिला हुआ है। वे सब धन्धों में प्रवेश कर सकती हैं और उनमें इंजीनियरों की ख़ासी बडी तादाद है। किसी भी सरकार ने अगर पहले-पहल एक स्त्री को राजदूत बनाया हो तो वह रूस ने बुढ़िया बोलशेविक श्रीमती

कोलनताई को बनाया। मेरा ख़याल है कि लेनिन की विधवा श्रीमती क्रुप्सकाया सोवियट के शिक्षा-विभाग की एक शाखा की अध्यक्ष हैं।

सोवियट संघ दिन-दिन और घडी-घडी होनेवाले इन परिवर्तनों के कारण एक मज़ेदार देश होगया है। लेकिन उसका भी कोई भाग इतना रोचक और मनोहर नहीं है जितना साइबेरिया का मरुस्थल और मध्यएशिया की प्राचीन घाटियाँ हैं। ये दोनों ही मानवीय परिवर्तन और उन्नति के प्रभाव से पीढ़ियों तक अछूते रहे हैं, लेकिन आज बडी तेज़ी से छलांगें भरकर आगे बढ़ रहे हैं। इन तेज़ी से तब्दीलियों की तुम्हें थोडी-सी कल्पना कराने के लिए मैं ताजिकिस्तान का कुछ हाल बताता हूँ। शायद यह सोवियट संघ के सबसे पिछडे हुए प्रदेशों में से था।

ताजिकिस्तान पामीर पर्वत-श्रेणी की घाटियों में, आक्सस यानी अक्षु नदी के उत्तर में, अफ़ग़ानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान से लगा हुआ है। भारतीय सीमाप्रान्त से भी दूर नहीं है। यह बुख़ारा के अमीरों के क़ब्ज़े में था और ये अमीर रूसी ज़ार के उमराव थे। १९२० में बुख़ारा की स्थानीय क्रान्ति हुई और अमीर को हटाकर प्रजा ने बुख़ारा सोवियट प्रजातन्त्र क़ायम कर लिया। इसके बाद ख़ानाजंगी शुरू हुई और उसी उत्पात में अनवरपाशा की मृत्यु हुई। यह किसी ज़माने में तुर्की का सार्वजनिक नेता था। बुख़ारा प्रजातंत्र का नाम उज़बक समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र पड़ा और वह रूसी सोवियट संघ एक अंगभूत सर्वसत्ताधारी प्रजातंत्र हुआ। १९२५ में उज़बक प्रदेश के भीतर एक स्वशासन-भोगी ताजिक प्रजातंत्र बना। १९२९ में ताजिकिस्तान भी एक सर्वसत्ताधारी प्रजातंत्र बन गया और सोवियट संघ के सात अंगभूत सदस्यों में से एक होगया।

ताजिकिस्तान को इतना गौरव तो मिल गया, मगर वह दस लाख से भी कम आबादी का छोटा-सा पिछड़ा हुआ इलाक़ा था। वहाँ रास्ते भी अच्छे नहीं थे, सिर्फ़ ऊँटों के रास्ते थे। नया दौर शुरू होते ही सड़कें, आबपाशी, खेती, उद्योग, शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन सुधारने के उपाय किये गये। मोटरों के रास्ते बनाये गये, खेती बोई जाने लगी और सिंचाई के कारण उसमें ख़ूब सफलता मिली। १९३१ के मध्य तक रुई की खेती के ६० फी सदी भाग में सामूहिक प्रणाली जारी होगई और अन्न-प्रदेश के बडे भाग का संगठन भी सामूहिक खेती के तरीक़े पर होगया। बिजलीघर बन गया और आठ रुई के और तीन तेल के पुतलीघर खडे होगये। एक रेलवे बन गई और उज़बकिस्तान में होकर सोवियट संघ की बडी रेलवे से मिला दी गई। हवाई जहाज़ भी चलनें लगे और उनको ख़ास-ख़ास हवाई रास्तों से जोड़ दिया गया।

१९२९ में सारे देश में सिर्फ़ एक दवाख़ाना था। १९३२ में ६१ अस्पताल और

३७ दाँत के दवाख़ाने होगये जिनमें २१२५ बीमारों के रहने का इंतज़ाम था और २० डॉक्टर थे। शिक्षा की प्रगति का पता निम्नलिखित अंकों से लग सकता हैः—

१९२५ में	सिर्फ़ ६ आधुनिक पाठशालायें
१९२६ के अन्त में	११३ पाठशालायें और २,३०० छात्र
१९२९ में	५०० पाठशालायें
१९३१ में	२०० से अधिक शिक्षण-संस्थायें और १,२०,००० छात्र।

अवश्य ही शिक्षा पर ख़र्च भी एकदम बढ़ गया है। १९२९–३० का शिक्षा का बजट ८० लाख रुबल था। (बट्टा न लगे तो, यानी बराबर का भाव हो तो, एक रुबल लगभग २ शिलिंग या १।~)॥ के बराबर होता है।) १९३०–३१ का बजट २ करोड़ ८० लाख रुबल था। साधारण पाठशालाओं के सिवा शिशुशालायें, ट्रेनिंग स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय खुल रहे थे और १९३२ में नारा यह था कि "अगले दो वर्ष में निरक्षरता मिट जानी चाहिए'। लोगों में इल्म यानी विद्या की ज़बरदस्त प्यास पैदा हो गई थी।

इन हालात में स्त्रियों का परदे में रहना तो मुमकिन ही नहीं था और वह तेज़ी से हट रहा था।

इन सब बातों में मुश्किल से ही विश्वास हो सकता है। क्या बिजली की इस तेज़ चाल से तरक़्क़ी हो सकती है? यह भी याद रहे कि इस देश की आबादी दस लाख से थोडी-सी ही ज़्यादा है, यानी इलाहाबाद ज़िले से भी बहुत कम है। मैंने यह जानकारी और अंक एक योग्य अमेरिकन यात्री की रिपोर्ट से लिये हैं। वह १९३२ के शुरू में ताजिकिस्तान देखने गया था। शायद उसके बाद तो वहाँ और भी परिवर्तन हुए हैं।

मालूम होता है कि सोवियट संघ ने नवजात ताजिक प्रजातन्त्र को शिक्षा और दूसरे कामों के लिए रुपये की मदद इसीलिए दी कि पिछड़े हुए भागों को उन्नत करना संघ की नीति है। लेकिन इस प्रदेश में खनिज सम्पत्ति भी बहुत मालूम होती है। सोना, तेल और कोयला मिले हैं और ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि सोना बहुत ज़्यादा है। पुराने ज़माने में चंगेज़खाँ के समय तक ये सोने की खानें चलती थीं, मगर तबसे उनका काम बन्द मालूम होता है।

१९३१ में ताजिकिस्तान में प्रतिक्रान्तिवादियों का विद्रोह हुआ और बहुत-से भूस्वामी और अमीरवर्ग के लोग, जो देश छोड़कर अफ़ग़ानिस्तान भाग गये थे, हमला करने आये। मगर यह विद्रोह सफल नहीं हुआ, क्योंकि किसानों ने साथ नहीं दिया।

यह ख़त लम्बा हो रहा है और खिचडी-सा बनता जा रहा है। लेकिन सोवियट

संघ के बारे में मेरा यह आखिरी ख़त है इसलिए इसे थोडा बढ़ाकर मैं तुम्हें अब सोवियट की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बता देता हूँ। तुम्हें याद हो तो तुम पहले ही जान चुकी हो कि केलॉग-संधिपत्र पर सोवियट ने भी दस्तख़त किये थे। यह संधि युद्ध को बन्द करने के लिए हुई थी। १९२९ में लिटविनोफ़ का समझौता भी हुआ था। असल में रूस किसी भी तरह शान्ति की रक्षा और युद्ध को टालने के लिए बुरी तरह उत्सुक था और इन बातों को पक्की करने के लिए वह हर मौक़े का स्वागत करता था। इन संधियों और समझौतों को काफ़ी न समझकर उसने अपने पडोसियों के साथ परस्पर हमला न करने के शर्तनामे भी कर लिये। १९३२ के नवम्बर में उसने इसी तरह की एक सन्धि फ्रांस के साथ की। योरप की राजनीति में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। मेरे ख़याल से रूस के पडोसियों में अकेले जापान ने ही परस्पर हमला न करने का समझौता करने से इन्कार किया। चीन ने बहुत दिन तक शान्त विरोध करने और राजनैतिक सम्बन्ध न जोड़ने के बाद सोवियट सरकार की सत्ता को दुबारा स्वीकार किया। यह उस वक़्त की बात है जब चीन पर मंचूरिया में जापान का दबाव बहुत बढ़ गया था।

जापान के साथ सोवियट के ताल्लुक़ात अच्छे नहीं हैं। जापान की सरकार सोवियट को सुदूरपूर्व में हमेशा छेड़ती और तंग करती रहती है। पिछले साल-दो साल में सुदूरपूर्व में युद्ध होने की बातें भी बार-बार उठती रही हैं; मगर रूस ने लड़ाई करने से अपमान सह लेना ज्यादा पसन्द किया है। इंग्लैण्ड और रूस का संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्थायी चीज़ बन गई और कभी-कभी वह चमक उठती है। कुछ महीने पहले मास्को में ब्रिटिश इंजीनियरों पर मुक़दमा चला था। उस पर बड़ा वावेला मचा और नतीजा यह हुआ कि दोनों देशों ने एक-दूसरे से बदला लेने की कार्रवाइयाँ कीं। मगर वह तूफ़ान अब जाता रहा है, इंजीनियर छोड़ दिये गये हैं और साधारण सम्बन्ध क़ायम होगये हैं। अमेरिका ने अभी तक रूस को स्वीकार नहीं किया है, हालांकि दोनों देशों में व्यापार ख़ूब होता है। अब अमेरिका स्वीकार कर लेगा, ऐसी बात चल रही है, और यह भी कहा जाता है कि चूंकि इंग्लैंड और जापान रूस के प्रतिस्पर्धी और भावी शत्रु हैं, इसलिए वे अमेरिका को सोवियट सरकार को स्वीकार करने से रोक रहे हैं। इधर सोवियट का बड़ा आग्रह है कि अमेरिका उसे स्वीकार करले।

जर्मनी में नाज़ी सरकार के रूप में रूस का एक नया और आगे बढ़कर चोट करनेवाला दुश्मन पैदा होगया है। अभी रूस का सीधा नुक़सान करने का तो इसमें सामर्थ्य नहीं है, मगर आयन्दा के लिए उसका ख़तरा बहुत है और वह अभी से साज़िश करने लगा है। वह दिन-दिन फ़ैसिस्ट होता जा रहा है।

विदेशों के साथ सोवियट रूस एक सन्तुष्ट राष्ट्र का-सा व्यवहार करता रहा है। झगडे से बचने और किसी भी क़ीमत पर शान्ति क़ायम रखनें की कोशिश करना उसका ध्रुव है। यह रवैया क्रान्तिकारी नीति से बिलकुल उलटा है। क्रान्तिकारी नीति का उद्देश्य तो दूसरे देशों में क्रान्ति को उत्तेजन देना होता है। इसलिए रूस की मौजूदा नीति अन्तर्राष्ट्रीय नहीं, राष्ट्रीय नीति है। इससे हम ट्रॉटस्की की 'स्थायी क्रान्ति' की और स्टालिन की एक देश में समाजवाद फैलानें की नीति का भेद समझ सकते हैं। यह समझ में आ सकता है कि अपनी बडी-बडी भीतरी योजनाओं में बुरी तरह व्यस्त रहने के कारण रूस को बाहर झगडे मोल लेने का अवकाश नहीं है। मगर इसका यह नतीजा लाजिमी है कि वह पूंजीवादी राष्ट्रों के सामने एक छोटी-सी सयानी लड़की का-सा व्यवहार करने की कोशिश करे और अपने मानें हुए शत्रु साम्राज्यवादी और फ़ैसिस्ट राष्ट्रों से समझौते करे। इसका अर्थ हुआ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ की मूल नीति का त्याग। इससे यह भी परिणाम हुआ है कि रूस के बाहर अलग-अलग देशों में साम्यवादी दल कमजोर होगये हैं और उनका कोई असर नहीं है। सोवियट संघ की नीति यह है कि बाहर समाजवाद और साम्यवाद का कुछ भी हो, अपनी रक्षा किसी भी तरह करनी चाहिए।

जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूँ उस वक्त लन्दन में संसार-भर की आर्थिक परिषद् हो रही है। यह परिषद् तो असफल हो रही है, मगर रूस ने इस अवसर का लाभ उठाकर संसार के सारे देशों से आये हुए प्रतिनिधियों में से अपने पडोसियों के साथ परस्पर हमला न करने का दूसरा समझौता कर लिया है। रूस, अफ़ग़ानिस्तान, एस्टोनिया, लटविया, ईरान, पोलैण्ड, रूमानिया, तुर्की और लिथुएनिया ने १९३३ के शुरू जुलाई में इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। जापान पहले की तरह अब भी अलग ही है।

: १८२ :

विज्ञान की प्रगति

१३ जुलाई, १९३३

महासमर के बाद के वर्षों में दुनिया-भर में जो राजनैतिक घटनायें हुई हैं उनके बारे में मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक लिखा है। थोड़ा-सा हाल आर्थिक परिवर्तनों का भी बताया है। इस चिट्ठी में दूसरे विषयों और ख़ास तौर पर विज्ञान और उसके नतीजों के बारे में लिखना चाहता हूँ।

विज्ञान की बात शुरू करने से पहले मैं तुम्हें फिर याद दिला दूं कि महायुद्ध के समय से स्त्रियों की हालत में बहुत बडी तब्दीली होगई है। जिसे क़ानून, समाज और रिवाज के बंधनों से स्त्रियों की मुक्ति कहा जाता है उसकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी में हुई थी, जब बड़े-बड़े उद्योग क़ायम हुए और उनमें स्त्री मजदूरों को नौकर रक्खा गया। पहले तो तरक्क़ी की रफ़्तार सुस्त थी। फिर लड़ाई के कारण उसकी गति बहुत तेज होगई और युद्ध के बाद तो वह क़रीब-क़रीब पूरी होगई। आज तो ताजिकिस्तान में भी, जिसका हाल पिछले ख़त में लिख चुका हूँ, स्त्रियाँ डॉक्टर, शिक्षक और इंजीनियर हैं। ये ही कुछ वर्ष पहले परदे में रहती थीं। तुम और तुम्हारी पीढ़ी तो परदे से बाहर रहने को स्वाभाविक समझ लेगी। पर यह बात न सिर्फ़ एशिया में बल्कि योरप में भी बिलकुल नई है। सौ वर्ष भी नहीं हुए कि १८४० में लन्दन में संसार का पहला दासत्व-विरोधी सम्मेलन हुआ था। उसमें स्त्री-प्रतिनिधि अमेरिका से आई थीं जहां हब्शी ग़ुलामों के होने से बहुत लोगों में आन्दोलन मचा हुआ था। लेकिन सम्मेलन ने इन स्त्री-प्रतिनिधियों को इस बिना पर शामिल करने से इन्कार कर दिया कि किसी स्त्री के लिए सार्वजनिक सभा में भाग लेना अनुचित और बेहयाई की बात है!

तो अब विज्ञान की बात करें। सोवियट रूस की पंचवर्षीय योजना का बयान करते वक़्त मैंने तुम्हें बताया था कि यह योजना सामाजिक मामलों में विज्ञान की भावना का प्रयोग थी। कुछ ही हद तक सही, पिछले डेढ़-दो सौ वर्ष से पश्चिमी सभ्यता के पीछे यही भावना रही है। जैसे-जैसे इसका असर बढ़ता गया, वैसे-वैसे तर्क-विरुद्ध और जादू-टोना तथा अंध-विश्वास के विचार पीछे हटते गये हैं और विज्ञान के विपरीत साधनों और क्रियाओं का विरोध हुआ है। इसका यह मतलब नहीं कि जन्तर-मन्तर, वहम और ख़ामख़याली पर विज्ञान की भावना की पूरी विजय होगई है। अभी यह बात बहुत दूर है। मगर तरक्क़ी जरूर बहुत हुई है और उन्नीसवीं सदी में इस भावना की कई बातों में बडी भारी जीत हुई है।

मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ कि उद्योग और जीवन में विज्ञान के प्रयोग से उन्नीसवीं सदी में कितने बडे परिवर्तन हुए हैं। संसार और ख़ास तौर पर पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका इतने बदल गये हैं कि पहचाने नहीं जा सकते। वे इतने बदल गये जितने पहले हजारों वर्ष में नहीं बदले थे। उन्नीसवीं सदी में योरप की आबादी का इतना ज्यादा बढ़ जाना कम ताज्जुब की बात नहीं है। १८०० में सारे योरप की आबादी १८ करोड़ थी। वह कई युगों में धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते इतनी हुई थी। फिर उसमें एकदम वृद्धि हुई और १९१४ में वह ४६ करोड़ होगई है। इस बीच में लाखों आदमी योरप से दूसरे देशों में और ख़ासकर अमेरिका में भी जा बसे

थे। हम इनकी तादाद चार करोड़ समझ सकते हैं। इस तरह सौ से कुछ ज्यादा वर्ष में ही योरप की आबादी १८ से ५० करोड़ होगई। यह वृद्धि योरप के उद्योग-प्रधान देशों में अधिक मार्के की हुई। अठारहवीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड की आबादी सिर्फ़ ५० लाख थी और वह पश्चिमी योरप में सबसे ग़रीब देश था। वह दुनिया का सबसे मालदार मुल्क होगया और उसकी आबादी चार करोड़ होगई।

इस बढ़ती और दौलत का कारण यह था कि वैज्ञानिक जानकारी के कारण प्रकृति की क्रियाओं पर अधिक नियंत्रण होगया था, या यों कहो कि उन्हें ज्यादा अच्छी तरह समझ लिया गया था। इससे ज्ञान बहुत बढ़ गया, मगर यह न समझ लेना कि अक्ल भी बहुत बढ़ गई। मनुष्य कुदरत की ताक़त को क़ाबू में रखने और उससे काम तो लेनें लग गये, मगर उन्हें यह ख़याल साफ़-साफ़ नहीं था कि जीवन का ध्येय यानी जिन्दगी का मक़सद क्या है या क्या होना चाहिए ? ताक़तवर मोटर-गाडी काम की और वाञ्छनीय चीज है, लेकिन यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमें बैठकर जाना कहाँ है। अगर उसे ठीक तरह नहीं चलाया जाय तो वह चट्टान पर से उछलकर खड्ड में जा पडेगी। ब्रिटिश विज्ञान-संघ के अध्यक्ष ने पिछले साल कहा था: "मनुष्य नें अपने ऊपर क़ाबू करना तो सीखा ही नहीं, और कुदरत पर उसका क़ाबू पहले ही हो गया।"

हममें से ज्यादातर लोग विज्ञान से पैदा हुई या बनी हुई चीजें काम में लाते हैं। जैसे रेल, हवाई जहाज, बिजली, बेतार का तार और हजारों और चीजें। मगर हम यह विचार नहीं करते कि ये बनीं कैसे ? हम अपना हक़ समझकर उन्हें योंही स्वीकार कर लेते हैं। हमें इस बात का बड़ा गर्व है कि हम उन्नत युग में रहते हैं और ख़ुद भी बडे 'आगे बढ़े हुए' हैं। इसमें तो कोई शक नहीं कि हमारा जमाना पहले के जमानों से बहुत जुदा है और, मेरे ख़याल से, यह कहना भी बिलकुल सही है कि यह पहले से कहीं अधिक उन्नत है। मगर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम व्यक्ति या समूह की हैसियत से भी पहले से अधिक उन्नत हैं। यह कहना परले दर्जे की बेवकूफ़ी होगी कि चूँकि एंजिन हाँकनेवाला एंजिन को चला सकता है, इसलिए एंजिन हाँकनेवाला अफ़लातून या सुक़रात से अधिक उन्नत या ऊँचे दर्जे का मनुष्य है। लेकिन यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि अफ़लातून के रथ से एंजिन आवागमन का बढ़िया साधन है।

आजकल हम बहुत-सी किताबें पढ़ते हैं। मुझे भय है कि इनमें से ज्यादातर वाहियात किताबें हैं। पुराने जमाने में लोग थोडी-सी किताबें पढ़ते थे, लेकिन वे अच्छी होती थीं और उन्हें उनका अच्छा ज्ञान होता था। योरप के दार्शनिकों में स्पिनोजा बहुत बड़ा आदमी था। वह विद्या और बुद्धि का भण्डार था। वह सत्रहवीं सदी

में एम्स्टर्डम में रहता था। कहा जाता है कि उसके पुस्तकालय में साठ से कम ही ग्रन्थ थे।

इसलिए हमारा भला यह समझने में ही है कि संसार में ज्ञान-वृद्धि होजाने से यह जरूरी नहीं है कि हम पहले से अच्छे या समझदार होगये। ज्ञान से पूरा लाभ उठा सकने के लिए हमें ज्ञान का ठीक-ठीक उपयोग करना आना चाहिए। अपनी तेज गाडी पर सड़क पर सरपट दौड़ने से पहले हमें यह मालूम होना चाहिए कि किधर जाना है। यानी हमें कुछ कल्पना तो होनी चाहिए कि जीवन का ध्येय क्या है? बेशुमार लोगों को आज कोई ऐसी कल्पना नहीं है और वे इसकी कभी चिन्ता भी नहीं करते। वे रहते विज्ञान के युग में हैं और उनके विचार और कार्य बहुत पुराने जमाने के हैं। इसलिए कठिनाइयों और संघर्ष का पैदा होना स्वाभाविक है। चालाक बन्दर मोटर चलाना सीख सकता है, मगर ऐसे हाँकनेवाले के हाथों में जान सुरक्षित नहीं होती।

आधुनिक ज्ञान आश्चर्यजनक रूप में पेचीदा और व्यापक है। हजारों खोज करनेवाले लगातार अपने काम में लगे रहते हैं। हरेक अपने-अपने विभाग में खोज करता रहता है, अपने-अपने चप्पे में बिल खोदा करता है और ज्ञान-गिरि में छोटे-छोटे कण जोड़ता रहता है। ज्ञान का क्षेत्र इतना लम्बा-चौड़ा है कि प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपनी-अपनी दिशा में विशेषज्ञ बनना पड़ता है। अक्सर उसे ज्ञान की दूसरी शाखाओं का पता भी नहीं होता और इस तरह वह कुछ विभागों में बड़ा पण्डित होकर भी दूसरे अनेक विभागों में बिलकुल कोरा होता है। उसके लिए मानव-प्रवृत्ति के सारे क्षेत्र के बारे में बुद्धिमत्तापूर्ण विचार करना कठिन होजाता है। पुराने अर्थ में वह सुसंस्कृत नहीं है।

अलबत्ता ऐसे व्यक्ति भी हैं जो इस संकुचित विशेषज्ञता से ऊपर उठे हैं। वे खुद विशेषज्ञ होकर भी विस्तृत दृष्टिकोण रख सके हैं। युद्ध और मानवीय झगडों से विचलित न होकर ये लोग वैज्ञानिक खोज का काम बराबर करते रहे हैं और पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष में उन्होंने ज्ञान में काफ़ी वृद्धि की है। आज का सबसे बड़ा वैज्ञानिक एल्बर्ट आइन्स्टीन समझा जाता है। यह जर्मनी का यहूदी है और चूँकि हिटलर की नई सरकार यहूदियों को पसन्द नहीं करती, इसीलिए आइन्स्टीन हाल में जर्मनी से निकाल दिया गया है!

आइन्स्टीन ने भौतिक शास्त्र के कुछ नये सिद्धान्तों का आविष्कार किया है। इनका सृष्टि से सम्बन्ध है और ये गणित की पेचीदा क्रियाओं से निकले हैं। इनसे न्यूटन के कुछ ऐसे सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होगया है जिन्हें दो सौ वर्ष से असंदिग्ध रूप में माना जाता था। आइन्स्टीन के मत का समर्थन भी बडे मजेदार तरीक़े पर हुआ। उसके मत के अनुसार प्रकाश का व्यवहार एक खास तरीक़े का होता है

और उसकी परीक्षा सूर्य-ग्रहण के अवसर पर हो सकती है। जब ग्रहण हुआ तो प्रकाश की किरणों का व्यवहार उसी तरह का हुआ। इस प्रकार गणित के तर्क से निकाले हुए परिणाम की पुष्टि वास्तविक प्रयोग से होगई।

मैं यह उसूल तुम्हें समझाने की कोशिश नहीं करूँगा, क्योंकि यह बहुत गहन है और मुझे भी इसकी स्पष्ट कल्पना नहीं है। यह सापेक्ष्यवाद (Theory of Relativity) कहलाता है। जगत् के बारे में विचार करते समय आइंस्टीन को पता लगा कि समय और स्थान की कल्पनायें अलग-अलग लागू नहीं हो सकतीं। इसलिए उसने दोनों को रद करके एक नया विचार पेश किया और उसमें दोनों को मिला दिया। यही स्थान-समय (Space-Time) कल्पना है।

इधर आइंस्टीन ने विश्व का विचार किया, उधर वैज्ञानिकों ने अत्यन्त असीम चीजों की खोज की। सुई की नोक को लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज है जिसे आँख से देखा जा सकता है। वैज्ञानिक साधनों से यह साबित कर दिया गया कि यह सुई की नोक एक तरह से अपने भीतर एक विश्व को छिपाये हुए है। इसके भीतर एक-दूसरे के चक्कर लगानेवाले अणु हैं और प्रत्येक अणु ऐसे परमाणुओं से बना है जो परस्पर स्पर्श किये बिना घूमते रहते हैं और प्रत्येक परमाणु के बहुत-से छोटे-छोटे बिजली के अंश होते हैं। इन्हें प्रोटन और एलेक्ट्रन (विद्युत्कण) कहते हैं। ये भी सदा बडी तेजी से घूमते रहते हैं। इनमें भी और सूक्ष्म भाग होते हैं जिन्हें पाजिट्रन, न्यूट्रन और डेण्टन कहते हैं। और उनकी औसत जिन्दगी एक सेकण्ड का अरबवाँ हिस्सा कूती गई है! यह सब बहुत ही छोटे पैमाने पर आकाश में घूमनेवाले ग्रहों और तारों की-सी बात हुई। याद रहे कि अणु इतना छोटा होता है कि बढ़िया-से-बढ़िया ख़ुर्दबीन से भी दिखाई नहीं देता। परमाणुओं और उनके हिस्सों की तो कल्पना करना भी कठिन है। फिर भी वैज्ञानिक यन्त्रों की इतनी उन्नति हुई है कि इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिस्सों के बारे में भी बहुत-सी जानकारी इकट्ठी होगई है। हाल में परमाणु के टुकडे किये गये हैं।

विज्ञान के नये-से-नये मतों का विचार करते समय दिमाग़ चक्कर खाने लगता है और उन्हें समझ सकना बहुत ही कठिन है। अब मैं तुम्हें और भी आश्चर्यजनक बात कहूँगा। हम जानते हैं कि हमारी पृथ्वी हमें इतनी बडी दीखती है, परन्तु सूर्य के लिए वह एक छोटा ग्रह है और सूर्य ख़ुद बहुत ही नगण्य-सा छोटा तारा है। स्थान के महासागर में सारा सूर्य-मण्डल एक बूंद के बराबर है। विश्व में दूरियाँ इतनी बडी-बडी हैं कि उसके कुछ भागों से हम तक प्रकाश के पहुँचने में हज़ारों लाखों वर्ष लगते हैं। इस तरह जब हमें रात को कोई तारा दीखता है तो वह जो कुछ अब

है वह नहीं दीखता है, बल्कि वह दीखता है जो उसकी प्रकाश-किरण के रवाना होते वक़्त वह था। संभव है इस किरण को अपनी लम्बी यात्रा पर निकले सैकड़ों हज़ारों वर्ष होगये हों। समय और स्थान सम्बन्धी हमारे विचारों में इन बातों से बड़ी गड़-बड़ होती है, इसीलिए ऐसे मामलों पर विचार करने में आइंस्टीन के मत से बड़ी मदद मिलती है। अगर हम स्थान छोड़कर सिर्फ़ समय का विचार करें तो भूत और वर्तमान की खिचड़ी होजाती है, क्योंकि जिस तारे को हम देखते हैं वह हमारे लिए वर्तमान है, मगर दरअसल हमें जो दिखाई देता है वह भूतकाल की चीज़ है। हमें जितना-सा ज्ञान है उसके हिसाब से तो संभव है प्रकाश की किरण के रवाना होने के बाद वह तारा कभी का नष्ट होगया हो।

मैंने कहा है कि हमारा सूर्य छोटा-सा महत्वहीन तारा है। लगभग एक लाख तारे और हैं। ये सब आकाशगंगा कहलाते हैं। रात को दीखनेवाले तारों में से अधिकांश इसमें हैं। परन्तु ख़ाली आँख से हमें बहुत ही थोड़े तारे दीखते हैं, बड़े-बड़े ख़ुर्दबीनों की मदद से हमें बहुत अधिक तारे दीख सकते हैं। इस विज्ञान के विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि जगत् में ऐसी एक लाख अलग-अलग आकाश-गंगायें हैं!

और एक आश्चर्य की बात सुनो। हमें बताया गया है कि यह जगत् बढ़ती हुई चीज़ है। सर जेम्स जीन्स नामक गणित-शास्त्री ने इसकी साबुन के ऐसे बुल्ले से तुलना की है जो बड़ा होता जा रहा है और विश्व उस बुल्ले की ऊपरी सतह है। यह बुल्ले या बुदबुदे के जैसा जगत् इतना बड़ा है कि प्रकाश को इसके एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में लाखों और करोड़ों वर्ष लगते हैं!

अगर तुम्हारी आश्चर्य-शक्ति थक न गई हो तो जगत् के बारे में और भी कुछ बताऊँ। यह जगत् सचमुच अद्भुत वस्तु है। केम्ब्रिज का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी सर आर्थर एडिंगटन हमें बताता है कि हमारा जगत् धीरे-धीरे बिखर रहा है और वह घड़ी की तरह है। अगर इसमें फिर से किसी तरह चाबी नहीं भरी गई तो यह छिन्न-भिन्न होजायगा। अलबत्ता यह सब होता लाखों वर्षों में है, इसलिए हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उन्नीसवीं सदी के मुख्य विज्ञान भौतिक और रसायनशास्त्र थे। उनसे मनुष्य को प्रकृति या बाहर की दुनिया पर प्रभुत्व प्राप्त करने में मदद मिली। फिर वैज्ञानिक पुरुष अपने भीतर देखने और अपना ख़ुद का अध्ययन करने लगा। जीवनशास्त्र का महत्व बढ़ा। मनुष्य, पशु और वनस्पति के प्राणों का अध्ययन हुआ। अबतक उसमें असाधारण उन्नति हो चुकी है और जीवशास्त्री कहते हैं कि इंजेक्शन या सुई लगाकर अथवा दूसरे साधनों से शीघ्र मनुष्यों के स्वभाव भी बदले जा सकेंगे। इस तरह शायद यह भी होसकेगा कि कायर साहसी बन जाय या अधिक

संभव यह है कि इस तरीक़े से सरकार अपने आलोचकों और विरोधियों की विरोध-शक्ति कम कर सकेगी।

जीवशास्त्र के बाद दूसरी सीढ़ी पर मानसशास्त्र अथवा मनोविज्ञान है। इस-का सम्बन्ध मन से, मानवीय विचारों, हेतुओं, भय और इच्छाओं से है। इस प्रकार विज्ञान नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश कर रहा है और हमें अपने बारे में बहुत-सी बातें बता रहा है। इससे शायद हमें अपने पर नियन्त्रण रखने में मदद मिलेगी।

सन्ततिशास्त्र भी जीवशास्त्र से आगे का एक क़दम है। यह नस्ल-सुधार का विज्ञान है।

यह भी दिलचस्प बात है कि किस प्रकार कुछ पशुओं के अध्ययन से विज्ञान के विकास में सहायता मिली है। बेचारे मेण्डक को चीर-फाड़कर यह मालूम किया गया कि ज्ञानतन्तु और स्नायु किस प्रकार काम करते हैं। मक्खी एक नन्ही-सी जान है। एक मक्खी होती है जो अक्सर ज्यादा पके केलों पर बैठती है। इसीसे उसका नाम केला-मक्खी पड़ा है। इसके जरिये पैतृक संस्कारों का जितना ज्ञान हुआ है उतना और किसी साधन से नहीं हुआ है। इस मक्खी को ध्यान से देखनें पर यह पता चल गया है कि एक पीढ़ी के संस्कार दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार में किस तरह मिलते हैं। इससे मनुष्यों के उत्तराधिकार-सिद्धान्त की क्रिया समझने में कुछ-कुछ मदद मिलती है।

इससे भी बेहूदा-सा जानवर, जिससे हमें बहुत शिक्षा मिलती है, साधारण टिड्डी है। अमेरिकन लोगों नें दीर्घकाल तक और सावधानी से अध्ययन करने के बाद दिखाया है कि पशुओं और मनुष्यों में लिंग-भेद कैसे होता है। अब हमें इस विषय में बहुत-सी बातें मालूम होगई हैं कि छोटा-सा पिण्ड-गर्भ अपने जीवन के ठेठ प्रारम्भ से ही किस प्रकार नर या मादा बन जाता है और धीरे-धीरे बढ़ता-बढ़ता नर या मादा प्राणी यानी छोटा लड़का या लड़की होजाता है।

चौथा उदाहरण मामूली घरेलू कुत्ते का है। पावलोव एक प्रसिद्ध रूसी विज्ञान-वेत्ता है। इस समय उसकी उम्र ८४ वर्ष की है, फिर भी वह अपना काम कर रहा है। उसने कुत्तों को ध्यान से देखना शुरू किया और जब खाना देखते ही उनके मुंह से लार टपकती तब वह ख़ास तौर पर ध्यान देता। उसने कुत्ते के मुंह के इस रस को माप तक लिया। खाने को देखते ही कुत्ते के मुँह में इस तरह पानी का आना एक अपने-आप होनेवाली घटना है। यह ऐसी बात है जैसे पहले के अनुभव के बिना बच्चा छींकता, जंभाई लेता या अंगड़ाई लेता है। यह तो हुई अपनेआप होनेंवाली प्रेरणा (Unconditional reflex) की बात।

बाद में पावलोव ने यही बात प्रेरणा से पैदा करने की कोशिश की। यानी उसने

एक ख़ास संकेत पर भोजन मिलने की आशा करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के दिमाग़ में इस संकेत के साथ खाने का सम्बन्ध जुड़ गया और भोजन न आने की हालत में वही परिणाम होने लगा जो भोजन से होता था।

कुत्तों और उनकी लार पर किये गये इन प्रयोगों के आधार पर मनुष्य के मानस-शास्त्र की रचना हो रही है और यह दिखा दिया गया है कि किस प्रकार बहुत-सी बातें मनुष्य बचपन में अपनेआप करता है और बड़ा होने पर वे ही बातें किसी परिस्थिति या प्रेरणा से करने लगता है। असल बात यह है कि हम जो कुछ सीखते हैं उस सबका यही आधार है। हमारी आदतें इसी तरह बनती हैं और हम भाषाएँ वग़ैरा सीखते हैं। हमारे सारे काम इसी तरह होते हैं। साधारण भय की ही बात ले लो। जब कोई आदमी पास में साँप देखता है या उससे मिलता-जुलता रस्सी का टुकड़ा उसे नज़र आता है तो वह बडी तेज़ी में और बिना विचारे उछलकर दूर भागता है। इसमें उसे पावलोव के प्रयोगों के ज्ञान की ज़रूरत नहीं है।

पावलोव के प्रयोगों ने सारे मानस-शास्त्र में क्रान्ति कर दी है। कुछ प्रयोग तो बडे मनोरञ्जक हैं, मगर इस प्रश्न पर यहाँ विस्तार से नहीं लिख सकता। हाँ, इतना और कहूँगा कि मानस-विज्ञान में खोज के और भी कई तरीक़े हैं।

मैंने यह थोडी-सी मिसालें इसलिए दी हैं कि तुम्हें वैज्ञानिक कार्य के तरीक़ों का कुछ ख़याल बँध जाय। पुरानी आध्यात्मिक पद्धति में बडी-बडी बातों की अस्पष्ट चर्चा की जाती थी। उन बातों को पूरी तरह समझना ही मुश्किल था, तो उनका विश्लषेण करना तो असम्भव ही था। लोग उनपर विवाद करते-करते ख़ूब गरम होजाते, मगर उनकी दलीलों की सत्यता या असत्यता की कोई अन्तिम कसौटी नहीं थी, इसलिए मामला सदा हवा में ही उड़ जाता। वे लोग दूसरी दुनिया की चर्चा में इतने लगे रहते थे कि उन्हें इस संसार की साधारण बातों पर ध्यान देने की परवा नहीं थी। विज्ञान का तरीक़ा उससे बिलकुल उलटा है। छोटी-छोटी और नगण्य दिखाई देनेवाली बातों को ध्यान से देखा जाता है और इसीसे महत्वपूर्ण परिणाम निकल आते हैं। इन परिणामों के आधार पर सिद्धान्त बनाये जाते हैं और इन सिद्धान्तों की परीक्षा और अधिक अध्ययन और प्रयोगों द्वारा करली जाती है।

इसका यह अर्थ भी नहीं है कि विज्ञान में भूल नहीं होती। भूल तो कई बार होती है और क़दम पीछे हटाने पड़ते हैं। मगर किसी प्रश्न को समझने का सही तरीक़ा वैज्ञानिक पद्धति ही मालूम होती है। आज विज्ञान का वह सारा अहंकार और संकीर्ण भाव भी जाता रहा है जो उसमें उन्नीसवीं सदी में था। उसे अपनी सफलताओं पर गर्व है, मगर उसमें यह मानने की विनम्रता भी है कि अभी तो ज्ञान का विशाल और

अनन्त महासागर अछूता पड़ा है। बुद्धिमान यही समझा करते हैं कि उनका ज्ञान बहुत थोड़ा है। मूर्ख समझते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं। यही बात विज्ञान की है। ज्यों-ज्यों वह प्रगति करता है त्यों-त्यों उसका कट्टरपन घटता है और उससे जो सवाल पूछे जाते हैं उनका जवाब वह संकोच के साथ देता है। एडिंगटन कहता है—"विज्ञान की उन्नति की माप यह नहीं है कि हम कितने सवालों का जवाब दे सकते हैं, बल्कि यह है कि हम कितने सवाल पूछ सकते हैं।" बात शायद यही है, फिर भी विज्ञान दिन-दिन ज्यादा सवालों का जवाब देता है और हमें जिन्दगी को समझने में मदद देता है। इस तरह अगर हम उससे फ़ायदा उठाना चाहें तो वह हमें पहले से अच्छी जिन्दगी बसर करने में समर्थ बनाता है और जीवन के उद्देश्य को एक पूरी करने योग्य चीज बनाता है। वह जीवन के अँधेरे कोनों में रोशनी पहुँचाता है और तर्क-विरुद्ध अस्पष्ट बातों के झमेले से निकालकर हमें सत्य के सम्मुख उपस्थित करता है।

: १८३ :

विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

१४ जुलाई, १९३३

पिछले ख़त में मैंने तुम्हें नई-नई वैज्ञानिक प्रगति के अद्भुत संसार की झांकी कराई थी। पता नहीं तुम्हें वह झांकी अच्छी लगेगी या नहीं और तुम्हारा विचार और सफलता के इन क्षेत्रों की ओर आकर्षण होगा या नहीं। तुम्हें इन विषयों पर अधिक जानने की इच्छा होगी तो तुम आसानी से बहुत-सी किताबें खोज लोगी। मगर यह याद रखना कि मनुष्य के विचार में सदा तरक़्क़ी होती रहती है और वह प्रकृति और जगत् की समस्याओं को समझने और उनसे जूझने की हमेशा कोशिश करता रहता है। इस कारण संभव है जो बात मैं तुम्हें आज बता रहा हूँ वह शायद कल बिलकुल नाकाफ़ी और पुरानी होजाय। मानव-मस्तिष्क की इस चुनौती ने मुझे तो मुग्ध कर दिया है। यह जगत् के दूर के कोनों में कैसे उड़ान मारती है, उसके गहरे-से-गहरे रहस्यों में कैसे ग़ोते लगाती है और अत्यन्त छोटी-से-छोटी चीज से लगाकर अत्यन्त बड़ी-से-बड़ी वस्तु को नापने और हाथ में लेने का साहस करती है।

यह सब 'विशुद्ध' विज्ञान कहलाता है। इसका जीवन पर सीधा या तुरन्त असर नहीं पड़ता। यह ज़ाहिर है कि सापेक्ष्यवाद या स्थान-समय (Space-Time) की कल्पना या जगत् के आकार से हमारे दैनिक जीवन का कोई ताल्लुक़ नहीं। इन सिद्धान्तों में से ज्यादातर ऊँचे गणितशास्त्र पर अवलम्बित हैं और इस अर्थ में गणित

के ये गहन और उच्च प्रदेश विशुद्ध विज्ञान हैं। अधिकांश लोगों को इस प्रकार के विज्ञान में बहुत रस नहीं आता। विज्ञान की जो बातें रोजमर्रा की जिन्दगी पर लागू होती हैं उनकी तरफ़ आम लोगों का अधिक आकर्षण होना स्वाभाविक है। पिछले डेढ़सौ वर्ष में इसी व्यावहारिक विज्ञान ने जिन्दगी की कायापलट की है। असल बात यह है कि आज जीवन पर विज्ञान की इन शाखाओं का शासन है, वे ही उसे बनाती-बिगाड़ती हैं, और उनके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं हो सकती। लोग अक्सर बात किया करते हैं कि पुराना जमाना बड़ा अच्छा था, सतयुग था। प्राचीन काल के कुछ भाग बेशक बहुत ही मनोहर हैं और संभव है कुछ बातों में वे हमारे समय से बढ़कर भी हों। मगर शायद यह आकर्षण भी दूरी के या और किसीकी अपेक्षा एक ख़ास अनिश्चितता के कारण हो। हम किसी युग को इस कारण भी महान् समझ सकते हैं कि उसे कुछ महापुरुषों ने सुशोभित किया था अथवा उनकी उस समय प्रधानता रही थी। मगर साधारण लोगों की हालत तो इतिहास के ठेठ उस छोर से इस छोर तक दुःख-पूर्ण ही रही है। उनका सदा से चला आरहा बोझ तो किसीने कुछ भी हलका किया है तो विज्ञान ने ही किया है।

अपने चारों तरफ़ देखोगी तो तुम्हें पता लग जायगा कि जो चीजें तुम्हें नजर आरही हैं उनमें से ज्यादा का-विज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ ताल्लुक़ है। हम यात्रा करते हैं तो व्यावहारिक विज्ञान के साधनों से, उन्हीं के द्वारा एक-दूसरे के समाचार जानते हैं, हमारा भोजन भी उन्हींके जरिये तैयार होता और एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता है। जो अख़बार हम पढ़ते हैं, हमारी पुस्तकें और हमारे लिखने के काग़ज और क़लम वैज्ञानिक उपायों के बिना तैयार ही नहीं हो सकते। सफ़ाई, तन्दुरुस्ती और कुछ बीमारियों पर फ़तह हासिल करने के लिए विज्ञान का सहारा जरूरी है। आधुनिक संसार का काम व्यावहारिक विज्ञान के बिना बिलकुल नहीं चल सकता। और सब दलीलें छोड़ भी दें तो एक दलील आख़िरी है: विज्ञान के बिना संसार की आबादी को पूरा खाने को नहीं मिल सकता और आधी या इससे अधिक आबादी भूखों मर जायगी। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि किस तरह पिछले सौ वर्ष में आबादी इतनी तेजी से बढ़ गई है। यह बढ़ी हुई आबादी तभी जिन्दा रह सकती है जब भोजन-सामग्री को पैदा करने और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए विज्ञान की मदद मिल जाय।

जबसे विज्ञान ने बड़े यंत्रों का मानव-जीवन में प्रवेश कराया है तभीसे उन्हें सुधारने का सिलसिला बराबर जारी है। हर साल और माह बेशुमार छोटे-छोटे फेरबदल करके इन यंत्रों को ज्यादा काम के और मनुष्य के परिश्रम पर कम निर्भर

रहनेवाले बनाने की कोशिश होरही है। बीसवीं सदी के पिछले तीस वर्षों में यंत्रों के सुधार की प्रगति ख़ासतौर पर तीव्र हुई है। इन सालों में तरक्क़ी की रफ़्तार—जो अब भी जारी है—इतनी तेज रही है कि उससे उद्योग या पैदावार के तरीक़ों की उतनी ही कायापलट होरही है जितनी अठारहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से की औद्योगिक क्रान्ति से हुई थी। यह नई क्रान्ति ज्यादातर पैदावार के काम में बिजली के बढ़ते हुए इस्तेमाल से हुई। इस तरह बीसवीं सदी में और वह भी ख़ासकर अमेरिका में एक महान विद्युत-क्रान्ति हुई है और इससे जीवन की बिलकुल नई अवस्थायें पैदा होरही हैं। जैसे अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम यंत्र-युग हुआ वैसे ही आज विद्युत-क्रान्ति शक्ति-युग (Power Age) लारही है। आज उद्योगों, रेलों और बहुत-से दूसरे कामों में बिजली इस्तेमाल होती है, बिजली की ताक़त का सब जगह बोलबाला है। इसीलिए लेनिन को बहुत दूर की सूझी थी और उसने सारे सोवियट रूस में पानी से बिजली पैदा करने के बड़े-बड़े कारखाने बनाने का निश्चय किया था।

और-और सुधारों के साथ उद्योगों में बिजली की ताक़त के इस इस्तेमाल से कई बार बहुत थोड़े ख़र्च में बड़ी तब्दीलियाँ होजाती हैं। इस तरह बिजली से चलनेवाले यंत्र में थोड़ा-सा हेर-फेर करने से उत्पत्ति दुगुनी होसकती है। इसका कारण यह है कि इससे आदमी की जरूरत कम-से-कम होती जा रही है और आदमी तो धीरे-धीरे काम करता है और उससे भूलें भी ज्यादा होती हैं। इस तरह जैसे-जैसे यंत्र सुधरते जाते हैं वैसे-वैसे उनमें कम मजदूर रखने पड़ते हैं। आजकल अकेला आदमी थोड़े-से हत्थे हिलाकर और बटन दबाकर बड़ी-बड़ी मशीनें चलाता है। इसका नतीजा एक तरफ़ यह होता है कि पक्के माल की उत्पत्ति बेहिसाब बढ़ जाती है, और दूसरी तरफ़ यह कि कारख़ाने में बहुत मजदूरों की जरूरत न रहने से लोग बेकार होजाते हैं। साथ ही मशीनें बनाने की कला में इतनी तेज़ी से तरक्क़ी होती है कि अकसर जब किसी कारख़ाने में नई मशीन लगाई जाती है तो लगाते-लगाते नये-नये सुधारों के कारण वह कुछ बातों में पुरानी पड़ जाती है।

अलबत्ता मशीन यानी यंत्र-युग की शुरुआत से ही मजदूरों का स्थान मशीनें लेती रही हैं। शायद मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि उन दिनों बहुत-से दंगे भी हुए थे और मजदूरों ने गुस्से में नई मशीनों को तोड़-फोड़ दिया था। लेकिन आख़िरकार मालूम हुआ कि मशीनों से ज्यादा लोगों को काम मिलता है। मजदूर मशीन की मदद से ज्यादा माल तैयार कर सकता है, इस कारण उसकी मजदूरी बढ़ जाती है और माल का भाव सस्ता होजाता है। इस तरह मजदूर और साधारण लोग इस माल को

ज्यादा खरीद सकते हैं। उनके रहन-सहन का ढंग ऊँचा होजाता है और पक्के माल की माँग बढ़ जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि अधिक कारखाने खुलते हैं और ज्यादा आदमियों को काम मिलता है। इस तरह मशीन हर कारखाने में मजदूरों की जगह तो लेती है, मगर सब बातों को देखते हुए ज्यादा कारखाने खुलने से बहुत ज्यादा मजदूरों को काम मिल जाता है।

यह क्रिया बहुत समय तक जारी रही, क्योंकि इसे उद्योग-प्रधान देशों के द्वारा पिछडे हुए दूर-दूर देशों के बाजारों के शोषण से मदद मिलती रही। पिछले कुछ साल से यह क्रिया बन्द होगई दीखती है। शायद मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के अब और फैलने की गुंजाइश नहीं रही है और इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की जरूरत है। आधुनिक उद्योगवाद में 'सामूहिक उत्पत्ति' होती है, मगर वह जारी तभी रह सकती है जब बनाये हुए माल को सर्वसाधारण खरीदते रहें। अगर आम लोग बहुत ग़रीब या बेकार हों तो वे माल नहीं खरीद सकते।

यह सब होते हुए भी, यंत्रों का सुधार बराबर होरहा है और मनुष्यों का स्थान मशीनें ले रही हैं और बेकारी बढ़ रही है। पिछले चार साल में दुनिया-भर में बडी मन्दी छाई हुई है, मगर इससे यंत्र-सुधार की प्रगति में बाधा नहीं पडी है। कहा जाता है कि १९२९ से अमेरिका के संयुक्त राज्यों में इतने ज्यादा सुधार हुए हैं कि अगर १९२९ की उत्पत्ति क़ायम रक्खी जाय तो भी जो लाखों आदमी बेकार होगये हैं वे हरगिज काम में नहीं लगाये जा सकते।

कारण और भी बहुत हैं, मगर एक कारण यह भी है कि जिससे संसार-भर में खासकर उद्योग-प्रधान देशों में बेकारी की महासमस्या पैदा हुई है। यह एक अजीब और उलटी समस्या है, क्योंकि नई-से-नई मशीनों के जरिये ज्यादा-ज्यादा माल तैयार होने का मतलब यह है—या होना चाहिए—कि राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़े और सबके रहन-सहन का ढंग ऊँचा हो। इसके बजाय दरिद्रता और कष्ट भयंकर रूप से बढ़ गये हैं। खयाल होता है कि इस समस्या को वैज्ञानिक ढंग से हल करने में मुश्किल नहीं होनी चाहिए। शायद मुश्किल न भी हो। मगर असली कठिनाई वैज्ञानिक और उचित रूप से हल करने में आती है। ऐसा करने में बहुत-से स्थायी स्वार्थों पर असर पड़ता है और उनमें अपनी-अपनी सरकार पर क़ाबू रखने की ताक़त है। दूसरे, यह समस्या मूल में अन्तर्राष्ट्रीय है और आजकल राष्ट्रीय स्पर्धा के कारण कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकल नहीं पाता। सोवियट रूस इसी तरह की समस्याओं को वैज्ञानिक उपायों से हल करने की कोशिश कर रहा है, मगर उसे करना पड़ता है सब कुछ राष्ट्रीय पैमाने पर ही। बाक़ी की दुनिया पूंजीवादी और खिलाफ़ है, इस कारण उसकी मुश्किलें

और भी बढ़ जाती हैं। यह बात न होती तो उसकी कठिनाइयाँ कम होतीं। इससे ट्राटस्की की यह बात एक हद तक समझ में आसकती है कि अकेले देश में सच्चा समाजवाद नहीं हो सकता। दुनिया की राजनैतिक रचना भले ही अभी पिछडी हुई और संकीर्ण राष्ट्रवादी है, फिर भी दुनिया आज दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय बन गई है। समाजवाद सफल होना है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व-व्यापी समाजवाद बनना होगा। घडी की सुइयाँ पीछे नहीं घुमाई जा सकतीं, इसी तरह अपूर्ण होते हुए भी आज की अन्तर्राष्ट्रीय रचना राष्ट्रीय एकान्तवाद के पक्ष में कुचली नहीं जा सकती। कुछ देशों में फ़ैसिस्ट लोग राष्ट्रीयता का रंग गहरा करने की जो कोशिश कर रहे हैं, वह अन्त में नाकामयाब हुए बिना नहीं रह सकती, क्योंकि वह मूल में ही आज की संसारव्यापी अर्थ-नीति के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के ख़िलाफ़ है। हाँ, यह हो सकता है कि इस तरह ख़ुद डूबकर वह दुनिया को भी साथ में ले डूबे और, आधुनिक सभ्यता की भाषा में, सबको एक-साथ आफ़त में फँसा दे।

ऐसी विपत्ति का खतरा कोई दूर की या अकल्पनीय बात हरगिज़ नहीं है। हम देख चुके हैं कि जहाँ विज्ञान के साथ-साथ बहुत-सी अच्छी बातें आगई हैं वहाँ उसके कारण युद्ध की भयंकरता भी बुरी तरह बढ़ गई है। राज्यों और सरकारों ने अक्सर विशुद्ध और व्यावहारिक दोनों तरह के विज्ञान की अनेक शाखाओं की उपेक्षा की है; मगर विज्ञान के युद्ध-सम्बन्धी पहलू के प्रति उन्होंने लापरवाही नहीं दिखाई है। उन्होंने अपनेको शस्त्र-सज्जित और बलवान बनाने के लिए नई-से-नई वैज्ञानिक कला से पूरा फ़ायदा उठाया है। ज्यादातर राज्यों का पशुबल ही अन्तिम आश्रय होता है और वैज्ञानिक यंत्र-कला उन्हें इतने बलवान बना रही है कि वे आम तौर पर किसी परिणाम के भय के बिना ही प्रजा पर ज़ुल्म कर सकते हैं। पुराने ज़माने में ज़ालिम सरकारों के ख़िलाफ़ जनता बग़ावत कर दिया करती थी और खुले रास्तों में मोर्चे बाँधकर लड़ाई किया करती थी। फ़्रांस की महान् राज्यक्रान्ति में ऐसा ही हुआ था। मगर अब ये बातें असंभव होगई हैं। अब किसी निःशस्त्र या हथियार-बन्द भीड़ के लिए भी संगठित और सुसज्जित सरकारी सेना से लड़ना नामुमकिन है। रूस की राज्य-क्रान्ति की तरह राज्य की सेना ख़ुद राज्य के ख़िलाफ़ होजाय, यह दूसरी बात है। मगर जबतक ऐसा न हो तबतक बलपूर्वक राज्य को नहीं हराया जा सकता। इस कारण अब आज़ादी के लिए लड़नेवाली प्रजा को दूसरे और शान्तिपूर्ण सामूहिक उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

इस तरह विज्ञान से राज्यों पर समूहों का नियन्त्रण क़ायम होता है और व्यक्तिगत आज़ादी और लोकसत्ता के उन्नीसवीं सदी वाले पुराने विचारों का नाश होता है।

ऐसे समूह-शासन अलग-अलग तरह के राज्यों में वन जाते हैं । कभी तो यह शासन जाहिरा तौर पर लोकसत्ता के सिद्धान्तों का आदर करते हैं और कभी उनकी खुली निन्दा करते हैं । समूह-शासन वाले इन भिन्न-भिन्न राज्यों की आपस में मुठभेड़ होती है और राष्ट्रों में लड़ाई छिड़ जाती है । आज या भविष्य में ऐसी वडी लड़ाई हो तो वह इन समूह-शासनों को ही नहीं, सभ्यता तक को नष्ट कर सकती है । यह भी हो सकता है कि उसकी खाक में से अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी राज्य पैदा हो । मार्क्सवादियों को यही आशा है ।

युद्ध असल में इतनी भयंकर चीज है कि उसपर विचार करना रुचिकर विषय नहीं होता । इसी वजह से अच्छे-अच्छे शब्दों, बहादुरी पैदा करनेवाले संगीत और भड़कीली वर्दियों में सचाई छिपाई जाती है । मगर आज युद्ध का क्या अर्थ होता है, इसे थोड़ा जान लेने की जरूरत है । पिछले महायुद्ध से वहुत लोगों को लड़ाई की भयंकरता समझ में आई । फिर भी कहा जाता है कि आगे जो लड़ाई होगी उसके सामने पिछला महायुद्ध कुछ भी नहीं था। इसका कारण यह है कि अगर औद्योगिक यन्त्र-कला में पिछले कुछ वर्षों में दसगुनी तरक्क़ी हुई है तो युद्ध-विज्ञान सौगुना अधिक बढ़ा है । लड़ाई में अब पलटन के हमलों और रिसाले के धावों की कोई गिनती नहीं रही । आज पुराना पैदल सिपाही और घुड़सवार क़रीब-क़रीब उतने ही निकम्मे होगये हैं जितने धनुष और बाण । आज के युद्ध में मशीन से चलनेवाले टैंकों और हवाई जहाजों और वम गोलों का काम रह गया है । ख़ास तौर पर पिछले दोनों का ही महत्व है । हाँ, टैंक रेंगनेवाले पहियों पर चलनेवाला एक तरह का लड़ाई का जहाज होता है ।

वायुयानों की गति और शक्ति दिन-दिन बढ़ रही है । सिनोर डिला सिरवा नामक एक स्पेन-निवासी ने नया आविष्कार किया है । इसे 'ऑटोजीरो' कहते हैं । यह क़रीब-क़रीब सीधा उड़ता है और इसलिए हवाई जहाजों के अड्डे जैसे किसी चीज की जरूरत नहीं होती । यह तेज भी चल सकता है और धीरे-धीरे भी, और चक्कर भी लगा सकता है ।

अगर जंग छिड़ जाय तो ऐसा अन्देशा है कि लड़नेवाले राष्ट्रों पर फ़ौरन दुश्मन के हवाई हमले होंगे । जंग का ऐलान होने के कुछ ही घण्टों में ये हवाई जहाज आ पहुँचेंगे या दुश्मन को और भी नुक़सान में रखने के लिए चुपके से पहले भी आ सकते हैं । और फिर वे वड़े-बड़े शहरों और कारख़ानों पर निहायत जोरदार बम गोलों की वर्षा कर देंगे । इनसे वचाव होना क़रीब-क़रीब नामुमकिन होगा । सम्भव है शत्रु के कुछ वायुयान नष्ट कर दिये जायें, परन्तु शहर को बरबाद करने के लिए तो बाक़ी बचे हुए वायुयान भी काफ़ी होंगे । हवाई जहाजों में से फेंके हुए बम-गोलों में से जहरीली गैसें

निकलेंगी और प्रदेश के प्रदेश में फैलकर छा जायेंगी। इसकी पहुँच के भीतर हरेक जीव दम घुटकर मर जायगा। यह निहत्थी आबादी को बड़े पैमाने पर और निहायत निर्दय और कष्टप्रद ढंग से बरबाद करना होगा। इससे असहनीय शारीरिक और मानसिक पीड़ा होगी। और इस तरह की घटना विरोधी दलों के बड़े-बड़े शहरों में दोनों तरफ़ से साथ-साथ भी हो सकती है। पिछले महायुद्ध की तरह योरप में लड़ाई हुई तो लन्दन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनों या हफ़्तों के भीतर राख के ढेर होजायेंगे।

हालत और भी ख़राब होसकती है। हवाई जहाज़ों से जो बम-गोले फेंके जायेंगे उनमें अलग-अलग भयंकर बीमारियों के कीड़े भरे होंगे तो शहर के शहर में इन रोगों की छूत फैल जायगी। इस तरह की 'कीड़ों की लड़ाई' और तरह भी जारी रह सकती है। चीज़ों और पीने के पानी में कीटाणु मिलाये जा सकते हैं और प्लेग के चूहे जैसे रोगवाहक जन्तुओं से काम लिया जा सकता है।

ये सब बातें राक्षसी और अविश्वसनीय मालूम होती हैं और हैं भी ऐसी ही। राक्षस भी ऐसा करना नहीं चाहेगा। मगर जब लोग पूरी तरह भयभीत होकर जीवन-मरण के युद्ध में लगे होते हैं तब अविश्वनीय बातें होती ही हैं। इसी डर के मारे कि कहीं दुश्मन अनुचित और राक्षसी उपायों से काम न लेने लगे, प्रत्येक देश को सबसे आगे रहने की प्रेरणा मिलती है। इसका कारण यह है कि हथियार इतने ख़तरनाक हैं कि जो मुल्क उनका पहलेपहल इस्तेमाल करता है वह बड़े फ़ायदे में रहता है। डर की आँखें बड़ी होती हैं!

असल में पिछले महायुद्ध के समय भी ज़हरीली गैस दूर-दूर तक काम में लाई गई थी और यह बात बहुत लोगों को मालूम है कि सभी बड़े-बड़े राष्ट्रों के यहाँ आज लड़ाई के काम के लिए यह गैस तैयार करने के बड़े-बड़े कारख़ाने मौजूद हैं। इन सब बातों का एक अजीब नतीजा यह होगा कि आगामी महायुद्ध में वास्तविक लड़ाई युद्ध-क्षेत्र में नहीं होगी। सेनाओं को खाइयाँ खोदकर एक-दूसरे के सामने आने की ज़रूरत न होगी। सच्ची लड़ाई शहरों में और निःशस्त्र आबादी के घरों में होगी। यह भी मुमकिन है कि युद्ध में सबसे सुरक्षित जगह युद्ध-क्षेत्र होगा, क्योंकि सेना की तो हवाई हमलों, ज़हरीली गैसों और छूत की बीमारियों से पूरी रक्षा की ही जायगी। परन्तु पीछे रहनेवाले लोगों, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होगी।

इन सबका परिणाम क्या होगा? विश्वव्यापी नाश? सदियों की कोशिशों से संस्कृति और सभ्यता की जो बढ़िया इमारत तैयार हुई है उसका अन्त?

क्या होगा, यह कोई नहीं जानता; भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, उसे देखा नहीं जा सकता। हमें तो केवल दो क्रियायें संसार में साथ-साथ होती हुई दिखाई दे रही हैं।

इन दोनों में परस्पर विरोध और स्पर्द्धा है। एक में सहयोग और समझदारी की प्रगति है और सभ्यता का निर्माण है। दूसरी क्रिया नाशकारी है। वह सब चीज़ों को तोड़-फोड़ देना चाहती है और मनुष्य जाति के लिए आत्महत्या का प्रयत्न है। दोनों की गति दिन-दिन तीव्र हो रही है और दोनों ही विज्ञान के अस्त्रों और कलाओं से सुसज्जित होरही हैं। जीत किसकी होगी ?

: १८४ :

महामन्दी और संसारव्यापी संकट

१९ जुलाई, १९३३

विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो ताक़त सौंप दी है और इन्सान उसको जिस तरह काम में ला रहा है उसपर जितना ज्यादा विचार करते हैं उतना ही अधिक आश्चर्य होता है। आज सचमुच पूंजीवादी दुनिया जिस बुरी हालत में है उसे देखकर हैरत होती है। रेडियो के ज़रिये विज्ञान हमारी आवाज़ दूर-दूर के देशों में पहुँचाता है। बे-तार के तार से हम पृथ्वी के दूसरे किनारे पर बसे हुए लोगों से बात करते हैं और थोडे ही दिन में हम 'टेलीविज़न' (Television) यानी दृश्य-प्रेक्षण यंत्र से उन्हें देखने भी लगेंगे। विज्ञान अपनी अद्भुत कला के ज़रिये वे सब चीज़ें पैदा कर सकता है जिनकी मानव-जाति को बडे परिमाण में ज़रूरत है और वह संसार को दरिद्रता के पुराने रोग से सदा के लिए छुड़ा सकता है। बहुत पुराने ज़माने से ही, जब इतिहास उदय होने लगा था तभीसे, मनुष्य रोज़मर्रा की कडी मेहनत से थोड़ा-बहुत आराम पाने के लिए कोशिश करता रहा है। इस मेहनत के बदले उसे पुरस्कार बहुत थोड़ा मिलता रहा है और इसके बोझे से वह हमेशा कुचला जाता रहा है। इससे छुटकारा पाने की उम्मीद में वह स्वर्ग के सपने देखता रहा है और एक ऐसी दुनिया में पहुँचने की कल्पना करता रहा है जहाँ दूध की नदियाँ बहती हों और सब चीज़ों का ठाठ हो। लोगों ने गुज़रे हुए सुनहरे ज़माने की अर्थात् सतयुग की याद करके आनेवाले स्वर्ग से ये आशायें लगाईं कि कम-से-कम वहाँ तो शान्ति और सुख मिलेगा। उसके बाद ही विज्ञान का अवतार हुआ। इसने उत्पत्ति के साधन तो लोगों के हाथ में ख़ूब दे दिये, मगर फिर भी इस वास्तविक और संभवनीय बाहुल्य के बीच में भी ज्यादातर आदमियों की ज़िन्दगी में मुसीबत और ग़रीबी बनी ही रही। क्या यह अजीब गोरखधन्धा नहीं है ?

हमारा वर्तमान समाज सचमुच विज्ञान और उसकी दी हुई बेशुमार चीज़ों से

परेशान हैं। उनका एक-दूसरे के साथ मेल नहीं बैठता। समाज के पूंजीवादी स्वरूप और नई वैज्ञानिक कला और उत्पत्ति के तरीक़ों में संघर्ष है। समाज ने पैदा करना तो सीख लिया, मगर पैदा की हुई चीजों का बँटवारा करना नहीं सीखा।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद हम जरा योरप और अमेरिका पर एक नजर और डालें। महायुद्ध के बाद पहले दस वर्षों में वहाँ क्या-क्या झगडे हुए और दिक़्क़तें पेश आईं, उनका थोड़ा-सा हाल मैं तुम्हें बता चुका हूँ। लड़ाई के बाद की अवस्थाओं का हारे हुए देशों यानी जर्मनी और मध्य-योरप के छोटे-छोटे मुल्कों पर बहुत बुरा असर हुआ; उनकी मुद्रा-प्रणाली की साख नष्ट होगई और मध्यमवर्ग के लोग बर्बाद होगये। योरप के विजेता और साहूकार राष्ट्रों की स्थिति भी इससे थोडी-सी ही अच्छी थी। वे सब अमेरिका के क़र्ज़दार थे और उनके सिर पर राष्ट्रीय युद्ध-ऋण का भार भी बहुत ज्यादा था। इन दोनों क़र्ज़ों के बोझ के मारे वे लड़खड़ा रहे थे और हक्के-बक्के होगये थे। वे इस आशा में जी रहे थे कि जर्मनी से हर्जाने का रुपया मिल जायगा और उससे कम-से-कम विदेशी क़र्ज़ चुकाने का काम निकल जावेगा। यह उम्मीद बहुत माक़ूल नहीं थी, क्योंकि जर्मनी तो बेचारा ख़ुद दिवालिया था। इस कठिनाई का उपाय इस तरह हुआ कि अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, जर्मनी ने इंग्लैण्ड और फ़्रांस वग़ैरा को उनके हिस्से का हर्जाना चुका दिया और उन्होंने इससे अमेरिका को क़र्ज़ का एक हिस्सा अदा कर दिया।

इन दस सालों में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही एकमात्र सम्पन्न देश था। वहाँ तो दौलत की बाढ़-सी आगई थी और इस ख़ुशहाली का ही यह नतीजा हुआ कि लोगों ने बेहिसाब आशायें बाँध लीं और सरकारी काग़ज़ों (Securities) और कारख़ानों के हिस्सों (Shares) का सट्टा होने लगा।

पूँजीवादी जगत् में आमतौर पर यह ख़याल फैला हुआ था कि पहले की तरह यह आर्थिक उथल-पुथल भी निकल जावेगी और धीरे-धीरे संसार में सम्पन्नता का समय आ जावेगा। असल में ऐसा मालूम होता है कि पूँजीवाद के जीवन में संकट के बाद सम्पन्नता और सम्पन्नता के बाद संकट आते ही रहते हैं। मार्क्स ने अपने 'कैपिटल' (पूंजी)नामक ग्रन्थ में बहुत पहले ही यह बात बता दी थी और यह साबित कर दिया था कि पूंजीवाद के तरीक़ों में न कोई योजना होती है और न विज्ञान। इसलिए उनका इस तरह का नतीजा होना लाज़िमी है। उद्योगों की सफलता से एक समय ऐसा आता है जब चीजों के भाव बुरी तरह बढ़ जाते हैं। उस समय अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा उठाने के लिए सब लोग ख़ूब माल पैदा करना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि खपत से कहीं ज्यादा उपज हो जाती है। तैयार माल का

ढेर लग जाता है। व्यवसाय की हालत नाजुक होजाती है और उद्योग फिर मन्दा पड़ जाता है। थोड़े समय हालत स्थिर रहती है। इस बीच में इकट्ठा हुआ माल धीरे-धीरे निकल जाता है, कारख़ाने फिर चेतते हैं और शीघ्र ही दूसरा सम्पन्न काल आजाता है। साधारणतः यही चक्र चलता है और अधिकांश लोग यह आशा लगा लेते हैं कि किसी-न-किसी समय खुशहाली आकर रहेगी। लेकिन १९२९ में अचानक हालत और भी बुरी होगई। अमेरिका ने जर्मनी और दक्षिणी अमेरिका के राज्यों को रुपया उधार देना बन्द करके उधार लेने और देने के काग़ज़ी व्यवसाय का अन्त कर दिया। यह स्पष्ट था कि अमेरिका के पूंजीपति सदा रुपया उधार देते ही नहीं रह सकते थे, क्योंकि इससे उनके क़र्ज़दारों का कर्ज़ और भी बढ़ता जाता और क़र्ज़ का कभी चुकना ही नामुमकिन होजाता। उन्होंने अबतक भी रुपया इसीलिए उधार दिया था कि उनके पास नक़द रुपये की बहुतायत थी और उसका और कोई उपयोग वे कर नहीं सकते थे। इस फ़ालतू रुपये से वे सट्टा भी खूब करने लगे। लोगों को जुआ खेलने का बाक़ायदा नशा-सा आगया और हर आदमी जल्दी धनवान बनने की इच्छा करने लगा।

जर्मनी को उधार मिलना बन्द होते ही वहाँ उथल-पुथल मच गई और कुछ जर्मन बैंकों का दिवाला निकल गया। धीरे-धीरे हर्जाने और क़र्ज़े की अदायगी का दौर बन्द होगया। दक्षिणी अमेरिका की बहुत-सी सरकारें और दूसरे छोटे-छोटे राज्य नादिहन्द होने लगे। संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति हूवर ने जब विस्मय के साथ यह देखा कि उधार देने की सारी प्रणाली का ही ख़ात्मा हुआ जा रहा है, तो १९३१ के जुलाई मास में साल-भर के लिए कर्ज़ की अदायगी मुल्तवी करदी। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वर्ष के लिए कर्ज़दारों को आराम देने को ऋण और हर्जाने का चुकाना सरकारों के लिए आपस में बन्द कर दिया गया।

इस बीच में १९२९ के अक्तूबर में अमेरिका में एक मार्के की घटना होगई। शेयरों के सट्टे से उनके भाव बेहूदा तरीक़े पर बढ़ गये और फिर अचानक उसी तरह गिर गये। न्यूयार्क के धनी हलक़ों में बड़ी उथल-पुथल मच गई और उसी दिन से अमेरिका की सम्पन्नता का जमाना ख़त्म हुआ। व्यापार की मन्दी से जैसे दूसरे देश कष्ट भोग रहे थे वही हाल संयुक्तराष्ट्र का भी होगया। उद्योग और व्यवसाय की मन्दी अब विशालकाय बनकर दुनियाभर में फैल गई। यह ख़याल न करना कि शेयरों के सट्टे या न्यूयार्क की आर्थिक उथल-पुथल के कारण अमेरिका का दिवाला निकल गया या इनके कारण मन्दी आगई। यह तो ऊँट की पीठ पर लदे हुए बोझे में आख़िरी तिनके का शामिल होना था। असली कारण तो बहुत गहरे थे।

दुनिया-भर में व्यापार घटने लगा और ख़ास तौर पर खेती से पैदा होनेवाली चीज़ों का भाव तेज़ी से गिरने लगा। कहते हैं, लगभग सभी चीज़ों की पैदावार ज़रूरत से ज्यादा होगई थी। इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि जो माल तैयार होता था उसे ख़रीदने के लिए लोगों के पास रुपया नहीं था, यानी माल की खपत कम होगई थी। जब तैयार माल बिक न सका, तो वह जमा होगया। इसलिए जिन कारख़ानों में वह तैयार होता था, उनका बन्द होना भी स्वाभाविक था। वे ऐसी चीज़ें बनाते नहीं रह सकते थे जिनकी बिक्री न हो। इससे योरप, अमेरिका और सभी देशों में बेकारी बहुत बुरी तरह बढ़ गई। सभी औद्योगिक देशों को गहरी हानि पहुँची। यही हाल उन कृषि-प्रधान देशों का भी हुआ जो दुनिया के बाज़ार में उद्योगों के लिए खाद्य-पदार्थ या कच्चा माल भेजते थे। इस तरह हिन्दुस्तान के कारख़ानों को भी कुछ नुक़सान पहुँचा, मगर भावों के गिर जाने से किसानों को बहुत ज्यादा हानि हुई। मामूली तौर पर खाने-पीने की चीज़ों की क़ीमत का घटना लोगों के लिए न्यामत होता है, क्योंकि उन्हें खाने का सामान सस्ता मिल जाता है। मगर पूंजीवादी प्रणाली में उलटी गंगा बहती है। इसलिए यह वरदान भी शाप बन गया। किसानों को ज़मींदार या सरकार का लगान चुकाने के लिए नक़द रुपया देना पड़ा और यह नक़द रुपया हासिल करने के लिए उन्हें अपना माल बेचना पड़ा। माल की क़ीमत असाधारणतः इतनी कम होगई कि कभी-कभी उन्हें सारी पैदावार बेच देने पर भी काफ़ी रुपया नहीं मिला। अक्सर उन्हें ज़मीनों से बे-दख़ल कर दिया गया, मिट्टी के झोंपड़ों से निकाल दिया गया और उनके घरों में जो थोड़ा-सा सामान रहता है वह भी लगान चुकाने के लिए नीलाम कर दिया गया। इस तरह जिस वक़्त खाद्य पदार्थ इतने सस्ते थे उस समय भी, जिन लोगों ने उन्हें पैदा किया था, उन्हें भूखों मरना और बेघर-बार होना पड़ा।

संसार की परस्पर-निर्भरता ने ही इस मन्दी को सर्वव्यापी बना दिया। मेरा अनुमान है कि बाहरी दुनिया से अलग-थलग कोई तिब्बत जैसी जगह ही इससे बची रही होगी। महीने दर महीने मन्दी फैलती गई और व्यापार गिरता गया। ऐसा मालूम होता था कि सारे सामाजिक शरीर को धीरे-धीरे लक़वा मार रहा है और उसे बेकार कर रहा है। चार साल से लगातार यही हाल है। और, कहीं-कहीं अस्थायी सुधार होने की बात छोड़ दें तो, स्थिति बिगड़ती ही जा रही है। इस बिगाड़ की कल्पना करने का सबसे अच्छा उपाय शायद यह है कि पिछले चार साल के व्यापार के सच्चे आँकड़ों की जाँच की जासके। संसार के व्यापार के राष्ट्र-संघ ने नीचे लिखे आँकड़े प्रकाशित किये हैं। ये अंक हर वर्ष के पहले तीन मास के और लाख स्वर्ण-डालरों में हैं—

पहली तिमाही	आयात का मूल्य	निर्यात का मूल्य	दोनों का मूल्य
१९२९	७९७२०	७३१७०	१५२८९०
१९३०	७३६४०	६५२००	१३८८४०
१९३१	५१५४०	४५३१०	९६८५०
१९३२	३४३४०	३०२७०	६४६१०
१९३३	२८२९०	२५५२०	५३८१०

इन अंकों से हमें मालूम होता है कि संसार का व्यापार किस तरह अधिकाधिक गिरता गया है। और इस वर्ष की पहली तिमाही में तो वह चार वर्ष पहले जितना था उसका ३५ फ़ी सदी या एक-तिहाई के क़रीब ही रहगया। और यह गिरावट अब भी जारी है और ऐसा दिखाई देता है, मानों सारी पूंजीवादी सामाजिक रचना इस प्रकार ख़त्म होरही है कि उसके फिर से सम्हलने की आशा ही न हो।

व्यापार-सम्बन्धी ये कठिन अंक मानवीय हिसाब से हमें क्या बता रहे हैं? ये हमें कह रहे हैं कि अधिकांश लोग इतनें ग़रीब हैं कि जो वे पैदा करते हैं उसे ख़रीद नहीं सकते। ये कह रहे हैं कि बेशुमार मजदूर बेकार हैं और संसार की अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी उन्हें रोजगार नहीं मिल सकता। योरप और संयुक्त-राष्ट्र में ही तीन करोड़ मजदूर हैं, जिनमें से तीस लाख ब्रिटेन में और एक करोड़ तीस लाख संयुक्तराष्ट्र में हैं। हिन्दुस्तान या एशिया के दूसरे देशों में कितने बेकार हैं, इसका तो किसीको पता भी नहीं है। शायद अकेले हिन्दुस्तान में बेकारों की तादाद योरप और अमेरिका से भी कहीं ज्यादा है। दुनियाभर के इन बेशुमार बेकारों और उनके आश्रित कुटुम्बियों का विचार करो तो तुम्हें कुछ कल्पना होगी कि व्यापार की मन्दी से मनुष्यों पर कैसी मुसीबत आई है। योरप के अनेक देशों में सरकारी बीमे की ऐसी प्रणाली है कि बेकारों में दर्ज होनेवाले सब लोगों को गुज़र के लायक ख़र्च दिया जाय। संयुक्तराष्ट्र में उन्हें धर्मादा दिया जाता है।

मगर इस ख़र्चे और ख़ैरात से क्या काम चलता है और बहुतों को यह भी कहाँ मिलता है? मध्य और पूर्वीय कुछ हिस्सों में अवस्थायें भयंकर हैं। अस्ट्रिया और हंगरी रोग-पीड़ित राष्ट्र होगये हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनकी बीमारी प्राण लेकर छोड़ेगी। जर्मनी में विपत्ति का डंक लगने से हाल ही में एक असाधारण प्रति-क्रान्ति हुई। इंग्लैण्ड को १५० वर्ष के संसार-व्यापी साम्राज्यवादी शोषण का सहारा है, फिर भी उसका काम चलना मुश्किल होरहा है। वह बेकारों को बीमे के रूप में ख़र्च देता है और किसी तरह उन्हें शान्त रखता है। मगर इस ख़र्च का भार उठाना दिन-दिन भारी होरहा है। अबतक हिसाब लगाने पर मालूम होता है कि जितना

उसने महायुद्ध पर ख़र्च किया था उससे कहीं अधिक महायुद्ध के वक्त से वह वेकारों पर ख़र्च कर चुका है। देशभर में कारखाने ख़ाली और वेकार पड़े हैं। लंकाशायर का रुई का महान् उद्योग, जो किसी समय आधी दुनिया को कपड़ा देता था, अव सिकुड़कर आधा रहगया है और वहाँके कारीगर श्रमजीवी वेकार बैठे अच्छे दिनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं और वे दिन आ नहीं रहे। इन रजिस्टर में दर्ज हुए मजदूरों को फिर भी थोड़ा-सा ख़र्च मिल जाता है। मगर इनके पीछे और कितने अधिक लोग हैं, जिन्हें कुछ भी नहीं मिलता और जो भूखों मरते हैं?

सभी वडे उद्योग-प्रधान देशों में अमेरिका पर मन्दी का प्रहार सबसे पीछे हुआ। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया भी और जगहों से वहाँ अधिक हुई। अमेरिका के लोगों को व्यापार की लम्बी और लगातार मन्दी का तथा कष्ट-सहन का अभ्यास नहीं है। उनके पास हमेशा पैसे का जोर रहा है। इसलिए पहली चोट लगते ही उनके होश उड़ गये। जव वेकारों की तादाद लाखों पर पहुँचने लगी और भुखमरी का दृश्य एक मामूली वात होगई तो राष्ट्र की हिम्मत टूट गई। वैंकों और उद्योगों में लोगों का विश्वास नहीं रहा और उन्होंने रुपया निकाल-निकालकर घरों में जमा कर लिया। वैंकों की तो हस्ती ही विश्वास और साख के आधार पर होती है। विश्वास नहीं रहा तो वैंक भी गया। संयुक्तराष्ट्र में इंग्लैण्ड से विपरीत छोटे-छोटे वैंक वहुत हैं। वे अपना-अपना कारोवार स्वतन्त्र रूप से चलाते हैं। दूसरे शहरों में इनकी शाखायें भी नहीं होतीं। इन छोटे वैंकों का बालू की भीत की तरह ढेर होगया। पिछले चारेक वर्ष में संयुक्तराष्ट्र में क़रीब दस हजार वैंकों का दिवाला निकल गया। एक-एक दिवाले से स्थिति और भी विकट हुई, लोग और भी अधिक डर गये, और आमतौर पर हालत पहले से ज्यादा ख़राव होगई।

अमेरिका में योरप की तरह वेकारों के बीमे की पद्धति नहीं है। मगर हम हिन्दुस्तानियों की तरह अमेरिकनों को अपने बीच में लोगों को भूखे मरते देखकर उनकी उपेक्षा करने का भी अभ्यास नहीं है। यहाँ भारत में तो लोग भूखों मरें तो किसीको परवा ही नहीं होती; और लाखों भूखों मरते ही हैं। भुखमरी की क्रिया आम तौर पर धीरे-धीरे होती है। जव यह तेज और व्यापक होजाती है तव उसे अकाल का नाम दे देते हैं और फिर स्थिति का मुक़ाविला करने के लिए कुछ निर्वल-सा प्रयत्न कर दिया जाता है। अमेरिका में हजारों धर्मार्थ संस्थाओं और म्युनिसिपैलिटियों ने वेकारों को खिलाने-पिलाने का वीड़ा उठा लिया। यह उनके लिए बड़ा भारी वोझा होगया और इससे वहुत-सी म्युनिसिपैलिटियाँ दिवाले की हालत तक पहुँच गईं। अमेरिका ने किसी भी तरह अपने लाखों वेकार मजदूरों को जिन्दा रख लिया।

परन्तु इन मजदूरों की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती ही चली गई। बहुतों को कुछ भी मदद नहीं मिली, और वे एक शहर से दूसरे शहर मारे-मारे फिरते रहे। वे बाज़ारों में घूमते रहते, आने-जानेवाले मोटरवालों से उन्हें भी बिठा लेने की मिन्नत करते रहते और अक्सर धीमी चलनेवाली मालगाड़ियों पर चढ़कर उनके पायदानों पर लटकते रहते। अमेरिका में इन आवारों को 'होबो' कहते हैं। अमेरिका में पहलेपहल इन आवारा 'होबो' लोगों में हज़ारों स्त्रियाँ भी दिखाई दीं। वे भी रोज़गार की तलाश में खाक छानती थीं। इससे भी ज्यादा मर्मस्पर्शी बात यह थी कि कम उम्र के लड़के और लड़कियाँ और बच्चे तक अकेले या छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर उस विशाल देश के इस किनारे से उस किनारे तक भटकते फिरते। शिशु-संघ ने हिसाब लगाया है कि अमेरिका में २१ वर्ष से नीचे के ऐसे दो लाख के क़रीब लड़के और लड़कियाँ मारे-मारे फिरते हैं। इससे उन हालतों का स्मरण होता है जो गृह-युद्ध के बाद रूस में भी मौजूद थीं। उस समय रूस आवारा लड़के और लड़कियों से भरा था।

बड़ी उम्र के और हट्टे-कट्टे आदमी काम की आशा लगाये और बाट देखते हुए बेकार बैठे रहते थे, और नमूने के कारखाने भी बन्द पड़े थे, फिर भी पूंजीवाद चीज़ ही ऐसी है कि उसी वक़्त मिठाई की अँधेरी और गन्दी दुकानें खुलनें लगीं और १२ से १६ वर्ष के बच्चों को उनमें थोड़ी-सी मजदूरी पर दस-दस और बारह-बारह घण्टे रोज काम में जोता जाने लगा। कुछ कारखानेदारों ने इन लड़के और लड़कियों की बेकारी की मजबूरी का फ़ायदा उठाया और उनसे अपनें कारखानों में ख़ूब कड़ा और लम्बा काम लिया। इस तरह मन्दी के कारण अमेरिका में फिर से बच्चों की मजूरी शुरू हुई और इस बुराई और ऐसी ही दूसरी बुराइयों को रोकनेंवाले क़ानूनों की खुले-आम अवहेलना की गई।

यह याद रहे कि अमेरिका में या बाक़ी की दुनिया में खाद्य पदार्थों या तैयार माल की कमी नहीं थी, बल्कि शिकायत यह थी कि माल जरूरत से ज्यादा है और पैदावार ख़र्च से ज्यादा हुई है। सर हेनरी स्ट्राकोश नामक प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री ने बयान किया है कि जुलाई सन् १९३१ में, यानी मन्दी के दूसरे साल में, संसार की मण्डियों में इतना माल था कि अगर अगले सवा दो वर्ष तक संसार भर के लोग कुछ भी काम न करते तो भी उनका गुज़र उसी तरह से चलता रह सकता था जिस तरह गुज़र करनें का उनका अभ्यास है। यह बयान ख़ूब ग़ौर करने लायक़ है। फिर भी इसी काल में इतना व्यापक कष्ट और भुखमरी रही है जितनी आधुनिक औद्योगिक संसार ने कभी नहीं देखी। एक तरफ़ यह कष्ट और दूसरी तरफ़ साथ ही साथ खाद्य पदार्थों को सच-मुच नष्ट कर देनें का सिलसिला जारी रहा। फ़सलें नहीं काटी गईं और उन्हें खेतों में

ही खडे-खडे सड़ जाने दिया गया। फल वृक्षों पर छोड़ दिये गये। और बहुत-सी चीज़ों को तो दरअसल बरबाद कर दिया गया। तुम्हें एक ही मिसाल बताता हूँ। जून १९३१ से फ़रवरी १९३३ तक ब्रेज़ील में क़हवे की १ करोड़ ४० लाख बोरियाँ नष्ट की गईं। एक बोरी में १३२ पाउण्ड वज़न होता है, इसलिए कुल १ अरब ८४ करोड़ ८० लाख पाउण्ड क़हवा नष्ट किया गया। यदि एक आदमी को एक पाउण्ड दिया जावे तो यह क़हवा दुनिया की सारी आबादी के लिए काफ़ी से भी अधिक था। तो भी हम जानते थे कि लाखों आदमी ऐसे हैं जिन्हें क़हवा मिले तो वे खुश हों, परन्तु उन्हें मिलता नहीं।

क़हवे के अलावा गेहूं, रुई और कितनी ही दूसरी चीज़ें नष्ट करदी गईं। रुई, रबर, चाय वग़ैरा की बुवाई सीमित करके भावी उत्पत्ति घटाने के भी उपाय किये गये हैं। यह सारा नाश और सीमा-बन्धन खेती की पैदावार की क़ीमत बढ़ाने ही के लिए किया गया है, ताकि माल की कमी के कारण माँग पैदा हो और भाव बढ़ जायें। इससे मण्डी में माल बेचनेवाले किसानों को तो बेशक फ़ायदा होगा, मगर ख़रीददारों का क्या हाल होगा? सचमुच हम एक अजीब दुनिया में रहते हैं। अगर पैदावार कम करदी जाती है तो क़ीमतें इतनी ऊँची होजाती हैं कि बहुतेरे लोग उसे ख़रीद नहीं सकते और उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है। अगर पैदावार ज्यादा करदी जाती है तो भाव इतने गिर जाते हैं कि उद्योग और खेती का काम नहीं चलता और बेकारी फैल जाती है। बेकार तो बेचारे ख़रीदें ही क्या, जब उनके पास रुपया ही न हो? अकाल और बाहुल्य, दोनों ही सूरतों में ग़रीबों के भाग्य में तो दुःख सहना ही बदा है।

मैं कह चुका हूँ कि मन्दी के समय अमेरिका में या दूसरी जगहों पर माल की कमी नहीं थी। किसानों के पास खेती की पैदावार पडी हुई थी और वह बिक नहीं सकती थी; और शहर के लोगों के पास पक्का माल जमा हो रहा था जिसका कोई ख़रीदार नहीं मिलता था। फिर भी एक को दूसरे के पदार्थों की जरूरत तो थी ही। दोनों ही ओर धन का अभाव होने से विनिमय की क्रिया बन्द होगई। फिर अत्यंत उद्योग-प्रधान, प्रगतिशील पूंजीवादी अमेरिका में बहुत-से लोगों ने तबादले का पुराना तरीक़ा इख़्तियार कर लिया। जब रुपया काम में नहीं आता था तब, पुराने ज़माने में, यही रिवाज था। जब विनिमय की पूंजीवादी व्यवस्था रुपये के अभाव में अस्तव्यस्त होगई तो लोगों ने रुपये के बिना ही काम चलाना शुरू कर दिया। वे काम के बदले में काम और माल के बदले में माल देने-लेने लगे। सनद दे-देकर इस तबादले की सहायता करने के विनिमय-संघ खडे होगये। तबादले की एक मज़ेदार मिसाल यह थी कि एक ग्वाले ने अपने बच्चों की शिक्षा के एवज़ में विश्वविद्यालय को दूध, मक्खन और अण्डे दिये।

दूसरे देशों में भी तबादले का रिवाज एक हद तक जारी हुआ। राष्ट्रों के बीच

में भी तबादले के अनेक उदाहरण पैदा हुए, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की पेचीदा प्रणाली में तो गड़बड़ होगई थी। इस तरह इंग्लैण्ड ने स्कैण्डीनेविया से ईंधन लेकर उसे कोयला देदिया, कनाडा ने सोवियट रूस के तेल के बदले में एलूमीनियम देदिया और संयुक्तराष्ट्र ने ब्रेजील को गेहूँ देकर क़हवा लेलिया।

मन्दी से अमेरिका के किसानों को बहुत नुक़सान पहुँचा और उन्होंने अपने खेत गिरवी रखकर बैंकों से जो रुपया उधार लिया था उसे वे न चुका सके। इसलिए बैंकों ने खेतों को नीलाम करवाकर अपना रुपया वसूल करने की कोशिश की। लेकिन किसानों ने ऐसा नहीं होने दिया। उन्होंने इन नीलामों को रोकने के लिए अपनी युद्ध-समितियाँ संगठित करलीं। फल यह हुआ कि नीलाम के समय किसान की सम्पत्ति पर किसीको बोली लगाने का साहस नहीं होता था और बैंकों को विवश होकर किसानों की शर्तें माननी पड़ीं। किसानों की यह बग़ावत मध्य-पश्चिमी अमेरिका के कृषि-प्रदेशों में फैली और 'किसानों की छुट्टी' की संगठित प्रणाली शुरू हुई। इसका यह अर्थ था कि किसान हड़ताल कर देते थे और पड़ोसी शहरों को खाद्य पदार्थ देनें से इन्कार कर देते थे। एक 'दूध की हड़ताल' भी हुई थी और उसमें बहुत-सा दूध इसलिए जानबूझकर फेंक दिया गया था कि वह शहरों में न जा सके। जैसे-जैसे स्थिति की विकटता बढ़ती गई है वैसे-वैसे अमेरिका के इन पुराने ख़याल के किसानों का दृष्टिकोण भी अधिकाधिक उग्र और क्रान्तिकारी बनता जा रहा है। उनकी माँग है कि खेती के सारे क़र्ज़ या तो रद कर दिये जायँ या अनिश्चित काल तक मुल्तवी कर दिये जायें और सारे करों में भारी कमी करदी जाय। उनके रणनाद ये हैं—"मानवीय अधिकार क़ानूनी और सम्पत्ति के अधिकारों से ऊपर हैं," "गिरवी का पहला हक़ स्त्रियों और बच्चों का है" वग़ैरा।

अमेरिका के किसानों का यह आन्दोलन दिलचस्प है, क्योंकि यह शुद्ध स्वदेशी आन्दोलन है और समाजवाद या साम्यवाद से इसका कुछ भी ताल्लुक़ नहीं है। ये किसान उन पुराने अमेरिकनों की नस्ल से हैं जो देश के पुरातनतावादी वर्ग की रीढ़ हैं। लेकिन आर्थिक कष्ट के कारण ये सम्पन्न मध्यम वर्ग के किसानों से ऐसे किसान बनते जा रहे हैं जो हल जोतकर पेट भरते हैं और सम्पत्ति कुछ भी नहीं रखते। इस परिवर्तन के साथ-साथ उनकी मनोवृत्ति भी बदलती और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनती जा रही है। मन्दी की वजह से कारख़ानों के मजदूर-वर्ग में भी तब्दीली होरही है। पहले होशियार मजदूर यानी कारीगर लोग इतने ख़ुशहाल रह चुके हैं कि योरप के श्रमजीवियों से उनकी कुछ भी तुलना नहीं होसकती। वे छोटे-मोटे पूँजीपति और मध्यम वर्ग से अधिक मिलते-जुलते थे। यही कारण है कि अमेरिका का मजदूर-

आन्दोलन इतना पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी रहा। अब वे सच्चे अर्थ में जाग्रत ग़रीब बन रहे हैं।

मैंने संयुक्तराष्ट्र की अवस्थाओं का विस्तार से बयान किया है, क्योंकि अमेरिका कई बातों में मनोहर देश है। पूंजीवादी देशों में यह सबसे उन्नत है और यहाँ योरप और एशिया की तरह इसके प्राचीन काल पर सामन्तशाही का असर नहीं रहा है। इस कारण वहाँ परिवर्तन तेज़ी से होने की सम्भावना रहती है। दूसरे देशों में ग़रीबों को कष्ट सहने का ज्यादा अभ्यास रहा है। अमेरिका के लिए यह बात और इतने बड़े पैमाने पर होना एक नई विस्मयकारक घटना थी। मैंने अमेरिका के बारे में तुम्हें जो कुछ बताया है उससे तुम मन्दी के समय दूसरे देशों की हालत का अन्दाज़ लगा सकती हो। कुछ देशों की हालत तो बहुत बुरी थी और कुछ की ज़रा अच्छी थी। सब बातों को देखते हुए कृषि-प्रधान और पिछड़े हुए देशों की इतनी दुर्दशा नहीं हुई जितनी आगे बढ़े हुए उद्योग-प्रधान देशों की हुई। उनके पिछड़ेपन ने ही एक हद तक उनकी रक्षा की। उनकी खास मुसीबत यह थी कि खेती की पैदावार के भाव एक-दम गिर जाने से वहाँके किसानों पर आफ़त का पहाड़ टूट पड़ा। आस्ट्रेलिया एक कृषि-प्रधान देश है। भावों के गिर जाने से वह अंग्रेज़ी बैंकों को क़र्ज़ नहीं चुका सका और दिवाला निकलने की नौबत आपहुँची। आख़िर उसने अंग्रेज साहूकारों की कड़ी शर्तें मानकर अपनी जान बचाई। मन्दी के ज़माने में साहूकार वर्ग के ही वारे-न्यारे होते हैं और उसीका सबपर सिक्का जमता है।

दक्षिणी अमेरिका में संयुक्तराष्ट्र से उधार मिलना बन्द होने और मन्दी के कारण उथल-पुथल मच गई, और वहाँकी अधिकांश प्रजातन्त्र सरकारों या यों कहो कि वहाँके सर्वेसर्वा शासकों का तख़्ता उलट गया। दक्षिण के सारे देशों में क्रान्तियाँ हुईं। इनमें अर्जेण्टाइन, ब्रेज़ील और चिली के तीनों प्रमुख देश शामिल थे। दक्षिणी अमेरिका में सभी क्रान्तियाँ राजमहलों तक सीमित रहती हैं और केवल सर्वेसर्वा शासक और बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी बदल जाते हैं। ये क्रान्तियाँ भी इसी तरह की थीं। वहाँ जो व्यक्ति या दल सेना और पुलिस पर अधिकार जमा लेता है वही शासक बन बैठता है। दक्षिणी अमेरिका की सभी सरकारें बुरी तरह क़र्ज़ में फँसी हुई हैं और अधिकांश नादिहन्द होचुकी हैं।

: १८५ :

संकट के कारण

२१ जुलाई, १९३३

इस महान् मन्दी के पिशाच ने संसार का गला दबा रक्खा है और लगभग सारे काम-काज बन्द या मन्द कर दिये हैं। बहुत जगहों पर उद्योग का चक्र घूमना बन्द होगया है। जिन खेतों में खाने-पीने के और दूसरे पदार्थ पैदा होते थे वे यों ही बेजुते पडे हैं। रबड़ के पेडों से रबड़ चू रहा है, मगर उसे इकट्ठा करनेवाले नहीं हैं। पहाड़ियों के ढाल, जहाँ पहले चाय के हरे-भरे खेत लहलहाते थे, अब बंजर पडे हैं और उनकी कोई सम्हाल नहीं करता। जो लोग ये सब काम किया करते थे वे बेकारों की महान् सेना में भर्ती होकर काम और रोजगार की बाट देखते हैं, मगर वह मिलता ही नहीं और वे बेचारे निराश होकर भूख और दरिद्रता का सामना कर रहे हैं। बहुतेरे देशों में आत्महत्याओं की तादाद खूब बढ़ गई है।

मैं बता चुका हूँ कि मन्दी की चोट सभी उद्योगों पर हुई। मगर एक उद्योग अछूता रहा, और वह था हथियार और युद्ध-सामग्री बनाने का। यह उद्योग भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की जल, स्थल और हवाई सेनाओं के लिए हथियार और युद्ध के सामान तैयार करता है। यह व्यवसाय खूब चमका और इसके हिस्सेदारों को मुनाफ़ा भी भरपूर मिला। इस-पर मन्दी का कुछ असर नहीं हुआ, क्योंकि इसका धंधा राष्ट्रों की प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष पर चलता है और ये दोनों बातें इस संकट-काल में खूब बढ़ गई।

सोवियट संघ का बड़ा प्रदेश भी मन्दी के सीधे असर से बचा रहा। वहाँ बेकारी तो हुई ही नहीं और पंचवर्षीय योजना के कारण काम पहले से भी ज्यादा रहा। यह प्रदेश पूंजीवाद के नियंत्रण से बाहर था और यहांकी अर्थ-व्यवस्था भी अलग तरह की थी। लेकिन, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूं, उसपर भी मन्दी का अप्रत्यक्ष रूप में कुपरिणाम तो हुआ ही, क्योंकि खेती की पैदावार उसे विदेशों में बेचनी पड़ती थी और उसका भाव बहुत गिर गया था।

इस महामन्दी का, इस संसारव्यापी संकट का, कारण क्या था? यह संकट अपने ढंग का भयंकर तो क़रीब-क़रीब उतना ही था जितना पिछला महायुद्ध था। इसे पूंजी-वाद का अन्तकाल कहते हैं, क्योंकि इसकी चोट से पूंजीवाद की व्यापक और पेचीदा व्यवस्था छिन्न-भिन्न होरही है। पूंजीवाद का इस तरह अन्त क्यों होरहा है? और क्या यह संकट स्थायी है? पूंजीवाद इसके बाद भी क़ायम रहेगा? या यह कि जिस महान् प्रणाली ने युग-युगान्तर से संसार पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है वह अन्तिम

साँस ले रही है ? ऐसे कितने ही सवाल पैदा होते हैं और उनमें बड़ा आकर्षण या कशिश है, क्योंकि उनके जवाब पर मानव-जाति का और साथ ही हमारा भी भविष्य निर्भर है। इस संकट को दूर करने के लिए पिछले चार वर्ष में भिन्न-भिन्न देशों में मुख़्तलिफ़ उपाय किये गये हैं, मगर उनसे स्थिति उलटी बिगडी ही है। बहुत-सी बलवर्द्धक ओषधियाँ दी गईं मगर, जैसा सभी उत्तेजक दवाइयों का असर होता है, इससे भी थोड़े समय के लिए सुधार मालूम हुआ और बाद में और भी शिथिलता आई। १९३२ के दिसम्बर में ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सरकार को एक ख़त भेजा और उसमें यह प्रार्थना की कि उसका युद्ध का क़र्ज़ माफ़ कर दिया जाय। इस ख़त में यह बताया गया था कि किस तरह 'मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'। उसमें कहा गया कि "सब जगह कर बुरी तरह बढ़ा और ख़र्च ख़ूब घटा दिया गया है। फिर भी जिस नियंत्रण और मर्यादा से बीमारी का इलाज होने की उम्मेद थी उसीसे वह और बढ़ गई।" आगे चलकर यह बताया गया कि "इस नुक़सान और मुसीबत का कारण प्रकृति की कंजूसी नहीं है। भौतिक विज्ञान की सफलता दिनोंदिन बढ़ रही है और सच्ची दौलत के पैदा करने की छिपी हुई विशाल शक्तियाँ ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं।" क़सूर प्रकृति का नहीं, बल्कि इन्सान और उसकी बनाई हुई प्रणाली का है।

पूँजीवाद की इस बीमारी का सही-सही निदान करना या इसके इलाज का नुसख़ा तजवीज करना आसान नहीं है। अर्थशास्त्रियों को इस बारे में सब कुछ मालूम होना चाहिए, लेकिन उनके आपस में ही मतभेद है और वे अलग-अलग कारण और इलाज बताते हैं। अगर इस मामले में किसीके दिमाग़ में साफ़ विचार हैं तो सिर्फ़ साम्यवादियों और समाजवादियों के दिमाग़ में हैं। उनका कहना है कि पूँजीवाद का इस भाँति छिन्न-भिन्न होना उनके सिद्धान्तों और विचारों के अनुसार उचित है। पूँजीवादी विशेषज्ञ तो साफ़ तौर पर अपनी घबराहट और परेशानी क़बूल करते हैं। माँटेग्यू नॉर्मन अंग्रेज़ अर्थ-व्यवस्थापकों में एक बहुत बड़ा और क़ाबिल आदमी है। वह बैंक ऑफ इंग्लैण्ड का गवर्नर है। उसने कुछ महीने पहले एक सार्वजनिक अवसर पर कहा था—"आर्थिक समस्या मेरे बूते की बात नहीं है। कठिनाइयाँ इतनी विशाल और नवीन हैं कि उनकी कोई नज़ीर नहीं मिलती और मैं तो इस विषय को बड़े अज्ञान और विनय के साथ हाथ में लेता हूँ। मेरे लिए यह सवाल बहुत बड़ा सवाल है। अभी तो अंधेरी गुप सुरंग-ही-सुरंग दिखाई देती है। आशा है आगे चलकर प्रकाश के भी दर्शन हों।" मगर यह प्रकाश छलावे की तरह हमारे हृदयों में आशायें पैदा करता और फिर विलीन होजाता है। इस बीच दुनिया किसी महान् विपत्ति के मुख में फिसलती चली जा रही है। सर आक्लैण्ड गिड्डीज़ नामक मशहूर

अंग्रेज राजनीतिज्ञ ने कहा है कि "विचारशील लोगों का विश्वास है कि समाज का ह्रास शुरू होगया है। हमें मालूम है कि योरप में एक युग का अन्त होरहा है।"

जर्मन लोगों की राय में इस उथल-पुथल का असली कारण युद्ध का हर्जाना था। और बहुत-से लोगों के ख़याल से मन्दी का सबब यह था कि राष्ट्रों के विदेशी और भीतरी युद्ध-ऋण का बोझा असह्य होगया और वह सारे उद्योग को कुचलने लगा। इस तरह संसार के कष्टों के लिए मुख्यतः महायुद्ध को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह ख़याल है कि झगडे की जड़ रुपये का विचित्र व्यवहार और भावों का बुरी तरह गिरना है और यह हुआ है सोने की कमी के कारण। सोने की कमी कुछ तो इसलिए हुई कि खानों से ही संसार की जरूरत के लायक़ सोना नहीं निकलता और ज्यादातर इसलिए हुई कि अलग-अलग सरकारों ने सोना जमा कर लिया। दूसरे लोग यह भी कहते हैं कि सारी खुराफ़ात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को रोकनेवाली आर्थिक राष्ट्रीयता, चुंगी और भारी कर-बन्दी की वजह से है। एक कारण यह बताया जाता है कि वैज्ञानिक कला बहुत आगे बढ़ गई है, उसके कारण बहुत कम मजदूरों की जरूरत रह गई है और इसलिए बेकारी ज्यादा होगई है।

इन सारी सूचनाओं के पक्ष में बहुत-कुछ कहा जा सकता है और यह भी मुमकिन है कि संसार की मौजूदा गड़बड़ में इन सभीका हाथ रहा हो। मगर इनमें से किसी एक पर या सब पर भी संकट का दोष लगाना उचित या न्याय-संगत मालूम नहीं होता। असल में इन बताये जानेवाले कारणों में से बहुत-से तो इस उथल-पुथल के परिणाम हैं। हाँ, संकट को गम्भीर बनाने में इनमें से एक-एक ने मदद जरूर पहुँचाई है। मगर झगडे की जड़ बहुत गहरी है। युद्ध में हार जाना इसका कारण नहीं है, क्योंकि विजेता ख़ुद इसमें फँसे हुए हैं। राष्ट्र की ग़रीबी भी कारण नहीं हो सकती, क्योंकि संसार के सबसे धनी देश अमेरिका को ज्यादा-से-ज्यादा नुक़सान हो रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि संकट के जल्दी ही होने में महायुद्ध का जबरदस्त हाथ रहा है। इसके दो कारण हुए। एक तो क़र्ज का भारी भार और ऋणदाताओं में उसके बँटवारों का तरीक़ा, और दूसरा कारण यह हुआ कि लड़ाई के समय और लड़ाई के बाद कुछ वर्ष चीजों के जो ऊँचे भाव रहे वे बनावटी थे और उनका एकदम से गिरना अनिवार्य था। परन्तु हम जरा और गहरे पैठकर देखें।

कहते हैं कि जरूरत से ज्यादा उत्पत्ति झगडे की जड़ है। लेकिन यह शब्द ही ग़लत है। जब करोडों आदमी नितान्त आवश्यक-से-आवश्यक चीजों की कमी के कारण तकलीफ़ पा रहे हैं तो जरूरत से ज्यादा उत्पत्ति कैसी? हिन्दुस्तान में करोडों मनुष्यों को तन ढकने के लिए भी पूरा कपड़ा नहीं मिलता। फिर भी हम सुनते हैं

कि हिन्दुस्तानी मिलों और खादी-भण्डारों में माल भरा पड़ा है और कपड़ा जरूरत से ज्यादा तैयार होगया है। असल बात यह है कि लोग इतने ग़रीब हो गये हैं कि वे कपड़ा ख़रीद नहीं सकते। बात यह नहीं है कि उन्हें कपडे की जरूरत नहीं है। बात यह है कि ग़रीबों के पास रुपया ही नहीं है। इस धनाभाव का अर्थ यह नहीं है कि रुपया दुनिया से ग़ायब होगया है। इसका अर्थ यह है कि संसार के लोगों में रुपये का बटवारा बदल गया है और लगातार बदल रहा है। यानी सम्पत्ति के विभाजन में असमानता है। एक ओर बहुत ज्यादा धन है और उसके मालिकों को यह भी मालूम नहीं कि इस सब का क्या उपयोग करें। वे उसे केवल बचा लेते हैं और बैंकों में जमा कराते रहते हैं। यह रुपया बाजार में चीजें खरीदने के काम नहीं आता। दूसरी तरफ़ धन की बहुत कमी है और जिन चीजों की जरूरत है वे भी रुपये के अभाव में नहीं ख़रीदी जा सकतीं।

घुमा-फिराकर इस सब कथन का यह अर्थ हुआ कि दुनिया में ग़रीब और अमीर हैं। यह बात इतनी साफ़ तौर पर जाहिर है कि इसके लिए किसी तर्क की जरूरत नहीं है। इतिहास के शुरू से ही ये ग़रीब और अमीर बराबर चले आये हैं। फिर मौजूदा संकट के लिए उन्हें क्यों जिम्मेवार ठहराया जाय? मेरे ख़याल से किसी पिछले ख़त में मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि पूंजीवादी प्रणाली की सारी वृत्ति ही सम्पत्ति के विभाजन की असमानताओं को बढ़ाने की है।

सामन्तशाही में स्थिति प्रायः स्थिर रहती थी या धीरे-धीरे बदलती थी। पूंजीवाद में बडे-बडे यंत्र और संसारव्यापी बाजारों के कारण वेग है और उसमें परिवर्तन तेजी से होता है, क्योंकि दौलत व्यक्तियों और दलों के पास इकट्ठी होजाती है। सम्पत्ति के विभाजन में असमानता के बढ़ने और उसमें कुछ और कारणों के मिलने से उद्योग-प्रधान देशों में मजदूरों और पूंजीपतियों में नया संघर्ष पैदा हुआ। इन देशों के पूंजीपतियों ने मजदूरों को कई तरह की रिआयतें देकर इस खिंचाव को कम किया। मगर अपने यहां ज्यादा मजदूरी देकर और जीवन-सम्बन्धी अवस्थाओं में सुधार करके इन लोगों ने ग़ुलाम देशों और पिछडे हुए प्रदेशों का ख़ूब शोषण किया। इस तरह एशिया, अफ़रीका, दक्षिणी अमेरिका और पूर्वी योरप के शोषण से पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका के उद्योग-प्रधान देशों को दौलत जमा करने में मदद मिली। इसका थोड़ा-सा हिस्सा उन्होंने अपने यहाँके मजदूरों को भी देदिया। जैसे-जैसे नये बाजार पैदा हुए वैसे-वैसे नये उद्योग चल पडे या पुराने बढ़ गये। साम्राज्यवाद ने आगे बढ़-बढ़कर इन बाजारों और कच्चे माल की तलाश करने का रूप धारण कर लिया। इसमें अलग-अलग औद्योगिक राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा हुई और उनके स्वार्थ टकराये। जब सारी

दुनिया पर ही एक तरह से पूंजीवादी शोषण छा गया तो फैलने की यह क्रिया बन्द होगई और बडे-बडे राष्ट्रों के संघर्ष से लड़ाई छिड़ गई।

ये सब बातें मैं पहले बता चुका हूँ, लेकिन मैं इन्हें इसलिए दोहरा रहा हूँ कि तुम्हें वर्तमान संकट को समझने में मदद मिले। बढ़ते हुए पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के इस जमाने में पश्चिम में अनेक बार संकट आये, क्योंकि एक तरफ़ लोग बहुत-सा रुपया बचाकर रखते थे और दूसरी तरफ़ लोगों के पास ख़र्च करने को बहुत थोड़ा रुपया रहता था। मगर ये संकट-काल निकल गये, क्योंकि पूंजीपतियों का फ़ालतू रुपया पिछडे हुए प्रदेशों का विकास और शोषण करने में लग गया और इस तरह वहाँ नये बाजार खडे होगये और माल की खपत बढ़ गई। साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम स्वरूप कहलाया। मामूली हालत में यह शोषण-क्रिया दुनिया-भर के उद्योग-प्रधान बन जाने तक जारी रह सकती थी, लेकिन बीच में कठिनाइयाँ और रुकावटें पैदा होगईं। ख़ास मुश्किल थी साम्राज्यवादी राष्ट्रों की भयंकर प्रतिस्पर्धा। उनमें से हरेक ख़ुद बडे-से-बड़ा हिस्सा लेना चाहता था। दूसरी मुश्किल यह हुई कि पराधीन देशों में नया राष्ट्रवाद पैदा हुआ। वहाँके उद्योगों की उन्नति होने लगी,और वे अपने यहाँकी मण्डियों को माल पहुँचाने लगे।

हम देख चुके हैं कि इन सब क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप युद्ध हुआ। लेकिन युद्ध से पूंजीवाद की कठिनाइयाँ न हल न हुईं, हो सकती थीं। सोवियट संघ का विशाल प्रदेश पूंजीवादी संसार में से सफ़ा निकल गया और शोषण करने जैसा बाजार न रहा। पूर्व में राष्ट्रीयता अधिकाधिक तीव्र हो चली और उद्योगवाद फैलने लगा। लड़ाई के समय और लड़ाई के बाद वैज्ञानिककला में जो जबरदस्त उन्नति हुई उससे भी सम्पत्ति के असमान विभाजन में और बेकारी के पैदा होने में मदद मिली। युद्ध-ऋण भी एक प्रबल कारण हुआ।

युद्ध-ऋण भारी बहुत था और यह याद रखना चाहिए कि वह कोई ठोस सम्पत्ति नहीं था। अगर कोई देश रेलवे या आबपाशी के लिए या देश के किसी और लाभ-दायक काम के लिए रुपया उधार लेता है तो उस ऋण और ख़र्च के बदले में उसके पास कुछ ठोस चीज आजाती ह। असल में इन कामों पर खर्च की हुई सम्पत्ति से भी अधिक पैदा हो सकती है। इसीलिए ये उत्पादक कार्य कहलाते हैं।

मगर युद्ध-काल में उधार लिया हुआ रुपया ऐसे किसी काम में खर्च नहीं हुआ। वह उत्पादक तो था ही नहीं, बल्कि विनाशक था। बेशुमार रुपया ख़र्च किया गया और उसके पीछे नाश-ही-नाश बाक़ी रहा। इस तरह युद्ध-ऋण खालिस भार के सिवा और कुछ न था। युद्ध-ऋण तीन तरह का था। एक लड़ाई का हर्जाना था जो

चुकाने के लिए हारे हुए देशों को मजबूरन राजी होना पड़ा, दूसरे मित्र-राष्ट्रों पर एक-दूसरे का और खास तौर पर अमेरिका का कर्ज था, और तीसरे प्रत्येक देश ने अपने-अपने नागरिकों से रुपया उधार लिया था।

इन तीनों अलग-अलग तरह के कर्जों में से हरेक बहुत भारी था। लेकिन इन सब में प्रत्येक देश का राष्ट्रीय ऋण सबसे बड़ा था। इस तरह लड़ाई के बाद ब्रिटिश राष्ट्रीय ऋण ६ अरब ५० करोड़ पौण्ड तक पहुँच गया था। ऐसे क़र्जों का ब्याज चुकाना भी बहुत बड़ा भार होगया था और उसका अर्थ हुआ बहुत भारी कर लगाना। जर्मनी ने अपना भारी भीतरी क़र्ज नोट छाप-छापकर उतार दिया। इससे वहाँका पुराना सिक्का मार्क ख़त्म हुआ और इस तरह से उसने अपना बोझा हलका कर दिया, हालांकि जिन लोगों ने उसे उधार दिया था वे घाटे में रहे। फ़्रांस ने भी नोट छाप-छापकर निकालने का वही तरीका इख़्तियार किया, मगर उस हद तक नहीं किया। उसने अपने सिक्के फ़्रांक की कीमत घटाकर पाँचवें हिस्से के लगभग करदी और इस तरह एक ही बार में अपने भीतरी राष्ट्रीय ऋण का ⅘ हिस्सा उड़ा दिया। यह चाल दूसरे देशों के क़र्ज यानी युद्ध के हर्जाने और विदेशी क़र्ज के बारे में नहीं चली जा सकती थी। उन्हें तो ठोस सोना ही देना पड़ा।

एक देश का दूसरे देश को इस तरह कर्ज अदा करने का अर्थ यह हुआ कि चुकानेवाले देश को उतने रुपये की हानि हो और वह और भी ग़रीब होजाय। लेकिन भीतरी कर्ज अदा कर देने से देश की स्थिति में ऐसा कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि रुपया किसी भी तरह देश का देश में रहता है। फिर भी एक दूसरी तरह का अन्तर तो पड़ा ही, और वह बहुत बड़ा अन्तर था। इस तरह के कर्ज देश के अमीर और ग़रीब सभी लोगों पर कर लगाकर जमा किये हुए रुपये से चुकाये जाते हैं। सरकार को उधार देनेवाले लोग धनवान थे। नतीजा यह हुआ कि धनवानों का कर्ज चुकाने के लिए धनी और निर्धन दोनों पर कर लगाया गया। इससे धनवानों ने सरकार को कर के रूप में जो कुछ दिया था उससे कहीं ज्यादा उन्हें वापस मिल गया; पर ग़रीबों ने तो दिया ही दिया, उन्हें बदले में मिला कुछ नहीं। फलतः मालदार ज्यादा मालदार होगये और ग़रीब और भी ग़रीब होते गये।

योरप के कर्जदार देशों ने अमेरिका के कर्ज का जो कुछ हिस्सा चुकाया वह सब रुपया भी वहाँके बडे-बडे साहूकारों और धन-कुबेरों की जेब में गया। इस तरह युद्ध-ऋण का नतीजा यह हुआ कि बुरी परिस्थिति और भी बुरी होगई और ग़रीबों को नुक़सान पहुँचाकर अमीर लोग धन से और भी लद गये। धनवानों ने इस रुपये को किसी काम में लगाना चाहा, क्योंकि कोई व्यवसायी अपने रुपये को बेकार पड़ा

नहीं रखना चाहता। उन्होंनें नये-नये कारखानों और यंत्रों में और दूसरे बडे-बडे खर्च के उद्योगों में यह रुपया जरूरत से ज्यादा लगा दिया। आमतौर पर लोगों की जैसी दिवालिया हालत होरही थी उसे देखते हुए उनका इस तरह पूंजी लगाना मुनासिब नहीं था। पर वे शेयरबजार में सट्टा भी करने लगे। उन्होंने अधिकाधि बडे और व्यापक पैमाने पर माल बनाने की तैयारी करली। मगर इससे फ़ायदा क्या, जब सर्वसाधारण के पास ख़रीदने को रुपया ही न हो? इस तरह उत्पत्ति अधिक होगई, माल बिक न सका, उद्योगों में घाटा रहनें लगा और बहुत-से बन्द होने लगे। व्यवसायियों ने नुक़सान से घबराकर उद्योगों में पूंजी लगाना बन्द कर दिया और रुपया बेंकों में पड़ा रक्खा। इस तरह बेकारी फैल गई और मन्दी संसारव्यापी होगई। मैंनें उथल-पुथल के बताये हुए भिन्न-भिन्न कारणों की अलग-अलग चर्चा की है, परन्तु वे सब साथ-साथ चलते रहे और इसीसे व्यापार की यह मन्दी इतनी भयंकर होगई जितनी कि पहले कभी नहीं थी। तत्त्वतः इसका कारण पूंजीवाद से प्राप्त हुई फ़ालतू आमदनी का असमान विभाजन था। इसीको दूसरी तरह से यों कहा जा सकता है कि ग़रीबों ने जिस माल को अपनी मेहनत से तैयार किया था उसीको ख़रीदने के लिए उन्हें मजदूरी और वेतन के रूप में काफ़ी रुपया नहीं मिला। उनकी सारी आमदनी से इस माल की क़ीमत ज्यादा थी। अगर यह रुपया ग़रीबों के पास होता तो इस माल के ख़रीदनें में काम आता। मगर यह रुपया तो उन थोडे-से धनवान लोगों के पास जमा होगया जिन्हें यह भी पता न था कि इसका क्या करें। यही फ़ालतू रुपया ऋण की धारा में बह-बहकर अमेरिका से जर्मनी, मध्य-योरप और दक्षिणी अमेरिका पहुँचा। इसी विदेशी क़र्ज़ ने युद्ध-जर्जर योरप और पूंजीवादी व्यवस्था को कुछ वर्ष तक क़ायम रक्खा। फिर भी संकट का एक कारण तो यह ऋण भी बनाही और इसी-के बन्द होने पर सारा ढांचा अर्रा कर गिर पड़ा।

अगर पूंजीवाद के संकट का यह निदान सही है, तो इलाज भी वही ठीक होसकता है जिससे सबकी आय समान हो या कम-से-कम समान होने की सम्भावना हो। यह काम पूरी तरह तो समाजवाद को अपनाने से ही हो सकता है लेकिन जबतक परिस्थिति मजबूर न करे तब तक पूंजीपति ऐसा होनें देने वाले नहीं हैं। लोग संयोजित पूंजीवाद की, पिछडे हुए प्रदेशों का शोषण करनें के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघों की बात करते हैं; परन्तु इन बातों के पीछे राष्ट्रीय लाग-डांट और संसार के बाजारों के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रों का आपसी संघर्ष भयंकर होता जारहा है। ऐसी हालत में योजना कैसी? दूसरे को नुक़सान पहुँचाकर अपना फ़ायदा करने की? पूंजीवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ होता है और स्पर्धा उसके स्वभाव में है। स्पर्धा और योजना का क्या साथ?

समाजवादियों और साम्यवादियों की बात छोड़दें तो भी कितने ही विचारशील लोग वर्तमान स्थिति में पूंजीवाद की उपयोगिता में सन्देह करने लगे हैं। कुछ लोगों ने सिर्फ़ मौजूदा लाभ के तरीक़े को बल्कि रुपया देकर माल ख़रीदनें की मूल्य-प्रथा को भी मिटा देने के लिए अचम्भे में डालनेवाले उपाय सुझाये हैं। अमेरिका के अर्थशास्त्री इंजीनियरों के एक दल ने अपना नाम 'टेकनो-क्रैट्स' रक्खा है। उनका प्रस्ताव है कि रुपये के बजाय शक्ति की इकाई ही काम में लानी चाहिये। इस इकाई को अर्ग (Erg) कहते हैं। दूसरी सूचना यह है कि यह इकाई अर्न (Ern) होना चाहिए। इसका अर्थ है शक्ति की इकाई के साथ नत्रजन (Nitrogen) को मिला देना। मैं यह नहीं समझाऊँगा कि इनका उपयोग किस तरह से किया जाये। मैं तो इनका उल्लेख सिर्फ़ तुम्हें यह समझाने के लिए कर रहा हूँ कि किस तरह लोगों का दिमाग़ पुरानी बातें छोड़ता जा रहा है। डगलस साहब की सामाजिक साख का सिद्धान्त एक और ही तजवीज पेश करता है। उसके अनुसार मजदूरी और वेतन प्राचीन काल के अवशेष-मात्र हैं, इसलिए उन्हें बिलकुल ही उठा देना चाहिए। इस मजदूरी और वेतन का चुकाना लोगों में ख़रीदने की ताक़त बाँटना है। आजकल इससे अच्छी तरह काम नहीं चलता, क्योंकि ख़रीदने की अधिकांश शक्ति मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में चली जाती है। इसलिए, मेजर डगलस सूचित करते हैं कि देश की असली दौलत में साल भर में जो ख़ालिस वृद्धि हो उसकी समूची क़ीमत सारे नागरिकों को राष्ट्रीय मुनाफ़े की शक्ल में बाँट दी जाया करे। इस तरह सभी नागरिक ख़र्च की सभी चीज़ें ख़रीद सकते हैं—यानी वह माल जो खप सकता है, न कि रेलवे और कारखानों जैसा बड़ा माल। इस तरह वर्षभर में समूचे राष्ट्र द्वारा पैदा की हुई चीज़ें सबको मिल जायेंगी। इस प्रथा में अति उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि ख़र्च करने की और पैदा करने की शक्ति में समतौल रहता है। इस प्रणाली का आधार उधार की प्रथा को बढ़ाकर सब नागरिकों में फैला देना है।

ये सब प्रस्ताव अभी तो हवा-ही-हवा में हैं। ये हैं भी इतने क्रान्तिकारी कि पूंजीवादी लोग इन्हें नहीं अपना सकते। जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय ने हाल में बेकारी तुरन्त कम करने के लिए यह सीधी-सी सूचना पेश की कि मजदूरों के काम के घण्टे सप्ताह में चालीस कर दिये जायें। इसका फल यह होता कि लाखों और मजदूरों को काम मिल जाता और उस हदतक बेकारी घट जाती। मजदूरों के सभी प्रतिनिधियों ने इस सूचना का स्वागत किया; परन्तु ब्रिटिश सरकार इसके ख़िलाफ़ थी, और जर्मनी और जापान की मदद से उसनें किसी तरह इसे दाख़िल दफ़्तर करवा दिया। लड़ाई के बाद के इस सारे समय में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय से ब्रिटेन की कारगुज़ारी बराबर प्रतिगामी रही है।

जब संकट और मन्दी संसारव्यापी हैं, तो यही कल्पना होती है कि उनका उपाय भी अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। सहयोग का कोई-न-कोई रास्ता निकालने की कोशिशें मुख़्तलिफ़ देशों ने की हैं, मगर वे सब नाकामयाब रहे। इसलिए प्रत्येक देश जगत्व्यापी इलाज से निराश होकर आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में राष्ट्रीय उपाय ढूँढ रहा है। दलील यह दी जाती है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम होरहा है तो हम कम-से-कम अपने देश का व्यापार तो अपने हाथ में रक्खें और विदेशी माल अपने यहाँ न आने दें। बाहर के व्यापार का कोई भरोसा नहीं और वह बदलता भी रहता है, इसलिए हर मुल्क अपने घरू बाज़ार पर ही ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान देने की कोशिश कर रहा है। चुंगी-कर लगाकर या बढ़ाकर विदेशी माल को रोका जाता है और इसमें सफलता भी मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचाने में भी सफलता मिली है, क्योंकि हर मुल्क की चुंगी से दुनिया के व्यापार में रुकावट होती है। योरप, अमेरिका और कुछ हद तक एशिया-भर में चुंगी की ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी हैं। चुंगी का दूसरा नतीजा यह हुआ कि जिन्दगी का मामूली ख़र्च बढ़ गया, क्योंकि खाद्य पदार्थों का और उन सब चीज़ों का, जिनकी चुंगी से रक्षा होती है, भाव चढ़ गया। चुंगी से राष्ट्रीय एकाधिकार पैदा होता है और बाहर की लाग-डाँट मिट जाती है या मुश्किल होजाती है। एकाधिकार में भाव तो बढ़ते ही हैं। जिस विशेष उद्योग को चुंगी का संरक्षण मिल जाता है उसे उस संरक्षण से लाभ होता है, या यों कहो कि उसके मालिकों को तो फ़ायदा होता है, मगर माल को ख़रीदनेवाले लोग ज्यादातर घाटे में रहते हैं क्योंकि उन्हें ज्यादा क़ीमत चुकानी पड़ती है। इस तरह चुंगी से विशेष वर्गों को थोड़ा आराम मिल जाता है और स्थायी स्वार्थ पैदा होजाते हैं, क्योंकि चुंगी से फ़ायदा उठानेवाले उद्योग उन स्वार्थों को क़ायम रखना चाहते हैं। इस तरह हिन्दुस्तान में कपड़े के उद्योग को जापान के ख़िलाफ़ बहुत भारी संरक्षण मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिकों को बहुत लाभ है और वे ऊँचे भाव लगा सकते हैं। संरक्षण के बिना वे जापान की बराबरी नहीं कर सकते। यहाँ का शक्कर का उद्योग भी संरक्षित है। इस कारण हिन्दुस्तान-भर में, और विशेषकर संयुक्तप्रान्त और बिहार में, शक्कर के कारख़ाने धड़ाधड़ खुले हैं और खुलते जा रहे हैं। इस तरह स्थायी स्वार्थ पैदा होगये हैं और अगर शक्कर की चुंगी उठादी जाय तो इन स्वार्थों को धक्का पहुँचेगा और शक्कर के नये कारख़ाने शायद बन्द होजायँगे।

दो तरह के एकाधिकारों की वृद्धि हुई। एक तो बाहरी एकाधिकार यानी चुंगी की सहायता पानेवाले राष्ट्रों के बीच में; और दूसरे भीतरी एकाधिकार, जिसमें बड़े व्यवसाय छोटों को हड़प कर लेते हैं।

अलवत्ता एकाधिकारों की वृद्धि कोई नई चीज नहीं हैं। यह तो महायुद्ध के पहले भी कई साल तक होती रही है। अव उसकी गति तेज होगई है। चुंगी भी अनेक देशों में पहले से मौजूद थी। इंग्लैण्ड ही बडे देशों में ऐसा था जिसने मुक्त व्यापार (Free Trade) पर अवतक भरोसा रक्खा और चुंगी के विना काम चलाया था। परन्तु अव उसे भी अपनी परम्परा तोड़कर दूसरे देशों की वरावरी में आना पड़ा और चुंगी-कर लगाना पड़ा। इससे उसके कुछ उद्योगों का तात्कालिक वोझा कुछ हलका होगया। इन सव उपायों से स्थानीय और अस्थायी लाभ तो हुआ, लेकिन सारे संसार की दृष्टि से देखा जाय तो हालत असल में पहले से भी ख़राव होगई। न सिर्फ़ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भी कम होगया, वल्कि सम्पत्ति के विभाजन की असमानता क़ायम रही और वढ़ गई। वरावरी के राष्ट्रों ने एक-दूसरे के ख़िलाफ़ चुंगी-कर लगा दिया। इन्हें चुंगी की दीवार कहते हैं। इनसे आपस में संघर्ष वरावर वना रहा। जैसे-जैसे संसार की मण्डियाँ कम होती गईं और उनपर संरक्षण लगता गया वैसे-वैसे उनके लिए छीना-झपटी भी तेज होती गई और मालिक लोग अपने मजदूरों की मजदूरी कम करने के लिए दवाव डालने लगे, ताकि वे दूसरे देशों से लाग-डाँट कर सकें। इस तरह मन्दी वढ़ती गई और वेकारों की तादाद में वृद्धि होती गई। मजदूरी घटाने के साथ-साथ मजदूरों की ख़रीदने की ताक़त भी कम होगई।

: १८६ :

नेतृत्व के लिए अमेरिका और इंग्लैण्ड का झगड़ा

२५ जुलाई, १९३३

मैं तुम्हें वता चुका हूँ कि मौजूदा मन्दी के जमाने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटते-घटते सिर्फ़ तीसरे हिस्से तक रह गया है। लोगों की ख़रीदने की शक्ति कम होजाने से अन्दरूनी या देशी व्यापार कम होगया। वेकारी वढ़ती चली गई और इन करोड़ों वेकारों का पालन-पोषण करने का वड़ा भारी वोझा मुख़्तलिफ़ सरकारों के सिर पर आ पड़ा। भारी कर लगाने पर भी वहुत-सी सरकारों का आय-व्यय वरावर होना तक असम्भव-सा होगया। उनकी आमदनी घटती गई और ख़र्च, किफ़ायत और वेतन की कटौती के वावजूद, वढ़ा-चढ़ा रहा। इसका कारण यह था कि इस ख़र्च का वड़ा भार जल, स्थल और हवाई सेना के साथ और भीतरी और वाहरी क़र्ज़ की अदायगी के साथ वँधा हुआ था। राष्ट्रीय वजटों में घाटा रहने लगा। यानी आय से व्यय

ज्यादा हो गया। इन घाटों की पूर्ति या तो रुपया उधार लेने से ही हो सकी या दूसरी अमानती रक़मों में से रुपया निकालकर हो पाई। इससे सम्बन्धित देशों की आर्थिक स्थिति कमजोर होगई।

साथ-ही-साथ माल के बडे-बडे ढेर बे-बिके रह गये, क्योंकि लोगों के पास ख़रीदने को काफ़ी रुपया नहीं था और कई जगहों पर ये 'फ़ालतू' खाद्य-पदार्थ और दूसरी चीजें सचमुच नष्ट करदी गईं, हालांकि और स्थानों में लोगों को उनकी सख़्त जरूरत थी। यह संकट और मन्दी सोवियट संघ के सिवाय सारी दुनिया में हुई। किन्तु इसे मिटाने के लिए भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप में आपस में सहयोग नहीं किया। हरेक देश ने अपनी ही चिन्ता, दूसरों से आगे बढ़ने की कोशिश और दूसरों की विपत्ति से ख़ूब फ़ायदा उठाने की तजवीज की। इस निजी और ख़ुदगर्ज़ी से भरी हुई कार्रवाई तथा दूसरे अधूरे उपायों से स्थिति और भी गंभीर होगई। संसार के मामलों में दो मुख्य बातें या प्रवृत्तियां और हैं, जिनका इस व्यापारिक मन्दी से तो कोई ताल्लुक़ नहीं है लेकिन इसपर उनका असर बहुत पड़ता है। एक तो है सोवियट संघ के साथ पूंजीवादी संसार की प्रतिद्वन्द्विता या लागडांट, और दूसरी इंग्लैण्ड और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा।

पूंजीवादी संकट से सारे पूंजीवादी देश कमजोर और ग़रीब होगये और एक अर्थ में युद्ध के संयोग कम होगये हैं। हर मुल्क अपना घर सुधारने में लगा हुआ है और किसीके पास जोखम के कामों पर ख़र्च करने के लिए रुपया नहीं है। फिर भी उलटी बात तो देखो कि इसी संकट से लड़ाई का ख़तरा बढ़ गया है, क्योंकि इससे राष्ट्र और उनकी सरकारें निराश होरही हैं। और निराश लोग अक्सर अपनी भीतरी कठिनाइयां बाहर लड़ाई लड़कर हल किया करते हैं। यह बात ख़ास तौर पर उस हालत में होती है जब सत्ता सर्वेसर्वा शासक या छोटे-से दल के हाथ में होती है। सत्ता छोड़ने के बजाय वह अपने देश को लड़ाई के गढ़े में फेंक देता है और इस तरह अपनी रिआया का ध्यान घरेलू झगडों से हटा देता है। यों देखा जाय तो सोवियट संघ के ख़िलाफ़ युद्ध छिड़ने की सम्भावना सदा रहती है, क्योंकि यह आशा रक्खी जा सकती है कि इस युद्ध में बहुत-से पूंजीवादी देश आपस में मिल जायंगे। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि सोवियट संघ पर पूंजीवादी संकट का पूरा असर नहीं हुआ। वह अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने में लगा और किसी भी तरह लड़ाई से बचने पर तुला रहा।

महायुद्ध के बाद इंग्लैण्ड और अमेरिका की लाग-डांट लाज़िमी होगई। ये दोनों संसार की सबसे बडी ताक़तें हैं। दोनों ही संसार के मामलों में अपना-अपना प्रभुत्व रखना चाहती हैं। महायुद्ध के पहले इंग्लैण्ड का प्रभुत्त्व निर्विवाद था। युद्ध

से संयुक्तराष्ट्र सबसे मालदार और ताक़तवर राष्ट्र होगया और स्वभावतः उसने चाहा कि संसार में जिस पद का वह अपनेआपको हक़दार समझता था वह पद यानी प्रमुख पद भविष्य में उसे मिले। आयन्दा वह हर बात में इंग्लैण्ड की ही नहीं चलने देने वाला था। इंग्लैण्ड खुद भी पूरी तरह समझ गया था कि जमाना बदल गया है और उसने अमेरिका की दोस्ती चाहकर अपनेआपको समय के अनुकूल बनाने की कोशिश भी की। उसने तो यहांतक किया कि अमेरिका को खुश करने लिए जापान के साथ की हुई मित्रता की सन्धि तोड़दी और आगे बढ़कर अमेरिका को खुश करने की कई कार्रवाइयां कीं। लेकिन इंग्लैण्ड अपने विशेष स्वार्थ और स्थिति और खासकर आर्थिक नेतृत्व छोड़ने को तैयार न था क्योंकि इन चीज़ों के साथ उसकी महानता और उसका साम्राज्य बँधे हुए थे। मगर अमेरिका को ठीक इसी आर्थिक नेतृत्व की जरूरत थी। इसलिए दोनों देशों में संघर्ष लाज़िमी होगया। दोनों देशों के साहूकार ऊपर से आपस में बडी मीठी और प्रेम-भरी बातें करते थे, लेकिन दरपरदा अपनी-अपनी सरकारों के बल पर जगत् के आर्थिक और औद्योगिक नेतृत्व रूपी बड़े पुरस्कार के लिए लड़ते रहते थे। इस खेल में जीत और तुरप के पत्ते अधिकतर अमेरिका के हाथ में दिखाई दिये, लेकिन दीर्घ अनुभव और क्रीड़ा-कौशल इंग्लैण्ड की तरफ़ ज्यादा थे।

युद्ध के कर्ज़े के कारण दोनों राष्ट्रों में कटुता और भी बढ़ गई और इंग्लैण्ड में अमेरिका को यह कहकर गालियां दी जाने लगीं कि वह तो अपने सेर-भर मांस के लिए शायलाक बन रहा है। बात असल में यह थी कि ब्रिटिश सरकार पर अमेरिका का क़र्ज़ ग़ैरसरकारी साहूकारों का दिया हुआ था। इन लोगों ने युद्ध-काल में या तो रुपया दिया था या साख दी थी। संयुक्तराष्ट्र की सरकार ने अपनी ओर से सिर्फ़ इतमीनान दिलाया था। इसलिए संयुक्तराष्ट्र की सरकार के लिए कर्ज़ को उड़ा देने का सवाल नहीं था। अगर वह इंग्लैण्ड को कर्ज़ माफ़ कर देती तो इतमीनान दिलाने-वाले की हैसियत से खुद उसको रुपया चुकाना पड़ता। अमेरिका की कांग्रेस को ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई दिया कि वह खासतौर पर संकट के समय इस अतिरिक्त जोखम को अपने ऊपर ओढ़े।

इस तरह इंग्लैण्ड और अमेरिका के आर्थिक स्वार्थों की खींचातानी मुख्तलिफ़ तरीक़ों पर हुई। आर्थिक स्वार्थ का ज़ोर दूसरे ज़ोरों से बढ़कर होता है। इन दोनों जातियों में बहुत-सी बातें एक-सी हैं। फिर भी उनमें आजकल भावी युद्ध की सम्भावना की चर्चा होरही है। ऐसे युद्ध में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इंग्लैण्ड जीत सकेगा, क्योंकि अमेरिका का बल और उसके साधन बहुत बडे हैं। लेकिन ऐसे युद्ध के सिवाय दूसरा चारा यही दिखाई देता है कि इंग्लैण्ड के विशेष अधिकार

और उसका प्रधान-पद धीरे-धीरे किन्तु लगातार संयुक्तराष्ट्र के हाथों में चला जावे। यह विचार अंग्रेजों को सुखकर नहीं हो सकता कि जिन चीजों को वे इतने महत्त्व की समझते हैं उनमें से अधिकांश को वे छोड़दें, वे अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा और साम्राज्यवादी शोषण का लाभ खो दें और अमेरिका के सद्भाव पर निर्भर रहकर संसार में पीछे की जगह स्वीकार करें। वे बिना लड़े दबनेवाले नहीं हैं। इंग्लैण्ड की वर्तमान स्थिति का यही दुःखपूर्ण चित्र है। उसके पुराने बल के सारे श्रोत सूखते जा रहे हैं और भविष्य अनिवार्य पतन की तरफ़ संकेत करता हुआ मालूम होता है, मगर पीढ़ियों तक जिस अंग्रेज जाति को दूसरों पर हुकूमत करने की आदत रही है, वह इस तरह की स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। वह इसके ख़िलाफ़ लड़ रही है और लड़ेगी।

मैंने तुम्हें आज के संसार की दो मुख्य प्रतिद्वंद्विताये बताई हैं, क्योंकि इनसे घटना-चक्र बहुत कुछ समझ में आ जाता है। अलबत्ता और भी बहुत-सी प्रतिस्पर्धायें हैं। सारी पूंजीवादी प्रथा का आधार ही प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता पर है।

हाँ, तो मन्दी के कारण घटना-चक्र किस प्रकार घूम रहा है उसीका वर्णन जारी रक्खें। जून १९३० में फ़्रांसीसियों ने राइनलैण्ड ख़ाली कर दिया। इससे जर्मन लोगों की बड़ी चिन्ता दूर हुई, लेकिन यह चीज इतनी देर में आई कि उसे सद्भाव का चिन्ह नहीं समझा गया और मन्दी के अन्धकार के कारण सभी चीजों का रंग काला दिखाई देता था। जैसे-जैसे व्यापार की हालत बिगड़ती गई वैसे-वैसे ऋणी देशों के पास रुपये की कमी होती गई और हर्जाने और क़र्ज़ का चुकाना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव होगया। अदायगी की मुश्किल को टालने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक वर्ष के लिए ऋण वसूल करना स्थगित कर दिया था। कोशिश तो यह की गई कि युद्धऋण के सारे सवाल पर ही फिर से विचार किया जाय। लेकिन संयुक्त-राष्ट्र की कांग्रेस ने यह मंजूर नहीं किया। फ़्रांस की सरकार भी जर्मनी से युद्ध का हर्जाना वसूल करने के सवाल पर उतनी ही सख़्त रही। ब्रिटिश सरकार चूंकि देन-दार भी थी और लेनदार भी थी, इसलिए वह इस बात के पक्ष में थी कि हर्जाने और ऋण दोनों रद करके हिसाब साफ़ कर दिया जाय।

सब देश अपने-अपने हिसाब से विचार करते थे। फल यह हुआ कि मिलकर कोई कार्रवाई नहीं हो सकी। १९३१ के बीच में जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई और बैंकों के दिवाले निकल गये। इससे इंग्लैण्ड में भी संकट पैदा होगया और वह अपना देना नहीं चुका सका। देश का आर्थिक पतन होने की नौबत आगई। इस ख़तरे का बहाना लेकर मजदूर सरकार को उसीके मुखिया मैकडॉनल्ड ने भंग कर दिया और

वह 'राष्ट्रीय सरकार' का नेता बनकर सामने आगया। इस सरकार में प्रधानता अनुदार दल की थी। लेकिन पाउण्ड की रक्षा यह राष्ट्रीय सरकार भी न कर सकी। उसी समय के आसपास वेतन घटाने के सवाल पर अटलांटिक प्रदेश की जलसेना के ब्रिटिश नाविकों ने विद्रोह कर दिया। इस शान्त विद्रोह का ब्रिटेन और योरप पर जबरदस्त असर हुआ। रूसी क्रान्ति की स्मृतियाँ और नाविकों के विद्रोह की बातें लोगों के दिमाग़ में ताजा हो आई और आनेवाले बोलशेविज्म का भय उनके दिलों में भर गया। ब्रिटिश पूँजीपतियों ने विपत्ति आने से पहले अपनी पूँजी बचा लेने का निर्णय किया और उसे बड़े परिमाण में विदेशों में भेज दिया। धनवान लोगों का देश-प्रेम रुपये पर आँच आने की जोखम नहीं उठा सकता।

ज्यों ही ब्रिटिश पूँजी बाहर गई, पाउण्ड की क़ीमत घट गई और अन्त में २३ सितम्बर १९३१ को इंग्लैण्ड को सोने का विनिमय छोड़ देना पड़ा। यानी उसे अपना सोना बचाने के लिए पाउण्ड को सोने से अलग करना पड़ा। उसके बाद से अब कोई पहले की तरह पाउण्ड के नोटों के बदले में सोना नहीं माँग सकता।

पाउण्ड की क़ीमत का इस तरह घट जाना ब्रिटिश साम्राज्य और इंग्लैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की दृष्टि से एक बड़ी भारी घटना थी। इसका अर्थ था कम-से-कम कुछ समय के लिए उसका वह आर्थिक नेतृत्व छोड़ देना जिसके बदौलत रुपये-पैसे के मामले में लन्दन संसार का केन्द्र और मुख्यनगर बन गया था। इस नेतृत्व की रक्षा के लिए १९२५ में इंग्लैण्ड ने अपने उद्योगों को हानि पहुँचाकर भी सोने का विनिमय फिर से ग्रहण कर लिया था और उसे बेकारी, और कोयलों की खानों की हड़तालों का सामना करना पड़ा था। लेकिन ये सब उपाय बेकार हुए और दूसरे देशों की कार्रवाइयों से पाउण्ड को सोने से अलग होना पड़ा। यह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त होने की शुरुआत का निशान मालूम हुआ और संसार-भर में इसका यही अर्थ लगाया गया। चूँकि यह ऐतिहासिक घटना २३ सितम्बर १९३१ को हुई इसलिए यह तारीख़ बड़ी महत्त्वपूर्ण होगई। परन्तु इंग्लैण्ड ठहरा डटकर लड़नेवाला और उसके अधीन निस्सहाय साम्राज्य तो आड़े वक़्त में काम आने के लिए था ही। हिन्दुस्तान और मिस्र ये दोनों देश पूरी तरह उसके क़ब्ज़े में थे। इन दोनों का सोना खींचकर ही अधिकांश में उसने अपना संकट टाल दिया। पाउण्ड के गिरने से उसके कारख़ानों को फ़ायदा हुआ, क्योंकि वह अपना माल विदेशों में सस्ता बेच सकता था। उसने विलक्षण ढंग से अपनी हालत सम्हाल ली। फिर भी युद्ध के हर्जाने और क़र्ज़ की समस्या तो थी ही। यह ज़ाहिर था कि जर्मनी हर्जाना नहीं चुका सकता और ऐसा करने से उसने ज़ाब्ते से भी इन्कार कर दिया। अन्त में १९३२ में लाज़ेन में एक परिषद् हुई। उसमें हर्जाने

की रक़म घटाकर इस आशा से नाममात्र की रख दी गई कि संयुक्तराष्ट्र ऋण में भी ऐसी ही कमी कर देगा। लेकिन संयुक्तराष्ट्र की सरकार ने ऋण और हर्जाने के सवालों को मिलाने से या कर्ज़ को बट्टेखाते लिखने से इन्कार कर दिया। इससे सारा मामला फिर उलट गया और योरप के लोग अमेरिका से बडे नाराज़ हुए।

दिसम्बर १९३२ में संयुक्तराष्ट्र को क़िस्त चुकाने का समय आया। इंग्लैण्ड और फ्रांस वग़ैरा की तरफ़ से बडे ज़ोर की वकालत हुई, लेकिन अमेरिका टस-से-मस न हुआ। बडी बहस के बाद इंग्लैण्ड ने भुगतान कर दिया। लेकिन यह भी कह दिया कि बस यह आख़िरी क़िस्त है। फ्रांस और कुछ दूसरे देशों ने भी रुपया देने से इन्कार कर दिया और दिवालिया होगये। इसके बाद कोई नया समझौता नहीं हुआ और पिछले मास यानी जून १९३३ में क़र्ज़ की दूसरी क़िस्त चुकाने का समय आया। फ्रांस ने फिर भुगतान करने से इन्कार कर दिया, लेकिन इंग्लैण्ड के प्रति अमेरिका ने उदारता दिखाई और नाममात्र के लिए थोड़ा-सा रुपया लेकर बडे सवाल का फ़ैसला आगे के लिए छोड़ दिया। मालूम नहीं वह फ़ैसला क्या होगा, लेकिन यह बात काफ़ी तौर पर साफ़ है कि ऋण का बड़ा भाग कभी अदा नहीं होगा। मामला परिस्थितियों के हाथ में चला गया है और उन्होंने क़र्ज़ का सफ़ाया कर दिया है। शायद अमेरिका ने भी सब्र कर लिया है, लेकिन वह क़र्ज़ा छोड़ देने के बदले में कुछ विशेष अधिकार या लाभ लेलेना चाहता है।

इस बारे में जब इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे बडे-बडे और धनी पूंजीवादी देश अपने ऋण से पिण्ड छुड़ाने की कोशिश कर रहे हैं और अपने-अपने ढंग और प्रणाली के मुताबिक़ ऐसी माँग कर रहे हैं तो यह विचार करना दिलचस्पी से ख़ाली न होगा कि सोवियट ने जब अपना क़र्ज़ चुकाने से इन्कार कर दिया तो उसकी इन्हीं देशों ने इतनी तीव्र निन्दा क्यों की? हिन्दुस्तान में भी जब काँग्रेस की तरफ़ से यह कहा गया कि इंग्लैण्ड का हिन्दुस्तान पर जो क़र्ज़ा बताया जाता है उसके सारे सवाल पर हमारी निष्पक्ष अदालत विचार करेगी तो सरकारी हल्क़ों से 'धर्म डूब गया' की पुकार मचाई गई है। राष्ट्रीय ऋण चुकाने के ऐसे ही सवाल पर आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड में भी गहरा संघर्ष उत्पन्न होगया और उनके बीच व्यापारिक युद्ध अबतक भी चल रहा है।

मैंने बार-बार इंग्लैण्ड के आर्थिक नेतृत्व और उसके लिए अमेरिका की लड़ाई का और अलग-अलग देशों के बैंकों के उथल-पुथल और आर्थिक पतन का उल्लेख किया है। तुम पूछती होगी कि इन सब बातों का अर्थ क्या है, क्योंकि मुझे इसमें संदेह ही है कि तुम यह सब समझती होगी, शायद तुमको इस विषय में रस न आता हो। लेकिन जब मैं इसके बारे में इतनी सारी बातें कह चुका हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि

थोडे और विस्तार से समझाने का प्रयत्न करूँ। हमें रस आवे या न आवे, इन आर्थिक घटनाओं का राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनों ही दृष्टियों से हमपर खूब परिणाम होता है। और इसलिए जिन बातों से हमारा वर्तमान और भविष्य बनता-बिगड़ता है उन्हें समझ लेना ही अच्छा है। बहुत-से लोगों पर पूंजीवादी संसार की आर्थिक व्यवस्था की रहस्यमयी कार्य-प्रणाली की ऐसी छाप पड़ती है कि वे इसे बडे भय और आदर्श की दृष्टि से देखने लगते हैं। उन्हें यह इतनी पेचीदा, नाजुक और जटिल मालूम होती है कि वे इसे समझने की भी कोशिश नहीं करते और इसलिए इसे वे विशेषज्ञों, साहूकारों और ऐसे ही लोगों के लिए छोड़ देते हैं। यह पेचीदा और जटिल तो बेशक है और यह आवश्यक नहीं कि जो चीज जटिल है वह अच्छी भी हो ही, परन्तु फिर भी हमें वर्तमान संसार को समझना हो तो इस आर्थिक प्रणाली का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए। मैं तुम्हें सारी प्रणाली समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। यह मेरे बूते की बात भी नहीं है। क्योंकि मैं इसका कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ, मैं तो इसका एक विद्यार्थी मात्र हूं। और इसलिए तुम्हें थोडी-सी बातें बता भर दूंगा। मुझे आशा है कि इनकी मदद से तुम संसार की कुछ घटनाओं और अख़बारों की ख़बरें समझ सकोगी। इस कार्य में मुझे फ़्रांसिस डिलायजी नामक फ़्रांस के एक योग्य अर्थशास्त्री के अत्यन्त स्पष्ट वर्णन पर आधार रखना पडेगा। फ़्रेंच लोग बडे साफ़ दिमाग़ और जाग्रत बुद्धि के होते हैं। अंग्रेजों में यह बात नहीं है; उन्हें तो अपने 'दिमाग़ी घपलेपन' और तर्कहीनता पर ही नाज है। मुझे शायद जो कुछ मैं कह चुका हूँ उसीका बहुत-कुछ हिस्सा दोहराना पडेगा। परन्तु तुम्हें समझने में मदद मिले तो उसकी परवा न करना। याद रखना इसका नाम पूंजीवादी प्रणाली है। इसमें हिस्सेदारी की व्यक्तिगत कम्पनियां होती हैं, ग़ैरसरकारी बैंक होते हैं और शेयर बाजार होते हैं, जहाँ शेयर यानी हिस्से ख़रीदे और बेचे जाते हैं। सोवियट संघ में आर्थिक और औद्योगिक प्रणाली बिलकुल दूसरी तरह की है। वहाँ ऐसी कम्पनियाँ, ख़ानगी बैंक या शेयर बाजार नहीं होते। वहाँ क़रीब-क़रीब सब चीजों की मालिक सरकार है और उसीका उनपर नियन्त्रण है और विदेशी व्यापार असल में तबादले के ढंग पर है।

तुम जानती हो कि प्रत्येक देश का भीतरी व्यवसाय क़रीब-क़रीब सारा चैकों के जरिये और उससे कम बैंक-नोटों के द्वारा होता है। सोना और चाँदी तो छोटी-मोटी ख़रीदारी के सिवाय क्वचित् ही काम में लाये जाते हैं (सोना तो असल में मिलता ही कम है)। यह काग़ज़ी रुपया साख की निशानी होता है और जबतक लोगों का नोट जारी करनेवाले बैंकों या देश की सरकार में विश्वस होता है तबतक इससे नक़द रुपये का काम निकलता रहता है। लेकिन इस काग़जी रुपये से एक देश से दूसरे देश को रुपया चुकाने का काम नहीं निकलता। क्योंकि हरेक देश का अपना-अपना राष्ट्रीय

सिक्का होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का आधार सोना होता है, क्योंकि दुर्लभ धातु के रूप में इसका अपना मूल्य है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सोना या तो सिक्के के रूप में दिया जाता है या पासे के रूप में। परन्तु यदि एक देश से दूसरे देश के हरेक भुगतान में सचमुच सोने का ही उपयोग करना पड़े तो बड़ी जबरदस्त दिक्क़त होजाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास ही न होने पाय। इसके सिवा संसार-भर के सोने की वास्तविक मात्रा से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की क़ीमत या मात्रा भी सीमित होजाय, क्योंकि जब यह सीमा आ पहुँचे और भुगतान के लिए सोना और मिले नहीं तो उस वक़्त तक विदेशी व्यापार का आगे लेन-देन ही नहीं हो सकता जबतक कि कुछ सोना छुट्टा होकर वापस न आजावे।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। १९२९ में संसारभर में सारा सोने का सिक्का ११ अरब डालर था। उसी वर्ष में, जो माल एक देश से दूसरे देश को भेजा गया उस सबकी क़ीमत ३२ अरब डालर थी। ४ अरब का विदेशी ऋण भी था और ४ अरब के ही क़रीब का दूसरा विदेशी भुगतान था। इसमें यात्रियों का ख़र्चा, जहाज़ का भाड़ा और प्रवासियों द्वारा घर भेजा हुआ रुपया सब शामिल था। इस तरह सब मिलाकर राष्ट्रीय भुगतानों की क़ीमत लगभग ४० अरब डालर हुई। यह सोने के सिक्कों से क़रीब-क़रीब चौगुना है।

तो फिर विदेशों का भुगतान किस तरह किया जाता है? जाहिर है कि सब-का-सब भुगतान सोने के रूप में तो नहीं किया जा सकता। आमतौर पर भुग-तान एक प्रकार के सहायक रुपये या चैक और हुण्डी आदि पुर्जों के रूप में किया जाता है। ये पुर्जे व्यापारी अपने ऋण की रसीद के रूप में विदेशों को भेजते हैं। यह काम-काज विदेशी हुण्डियों के विनिमय का काम करनेवाले बैंकों के जरिये होता है। विनिमय के ये बैंक भिन्न-भिन्न देशों के लेवा-बेची करनेवाले लोगों के सम्पर्क में रहते हैं और उनके पास जो हुण्डियाँ आती हैं उनके द्वारा लेन-देन का जमा-ख़र्च करते रहते हैं। यदि किसी समय बैंक के पास हुण्डियों का अभाव होजाय तो वह उसकी पूर्ति सरकारी बॉण्ड या कर्ज़ या अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के हिस्सों आदि के रूप में प्रसिद्ध सरकारी काग़ज़ से कर लेते हैं। ये हिस्से तार द्वारा बेचे या दूसरों को दिलाये जा सकते हैं और इस प्रकार दूसरे देशों में भुगतान तुरन्त किया जा सकता है।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान केन्द्रीय विनिमय बैंकों के द्वारा व्यापारी या सरकारी काग़ज़ के रूप में यानी हुण्डियों और सिक्योरिटी आदि के रूप में होता है। इन बैंकों को रोज़मर्रा की व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए इन दोनों तरह के काग़ज़ों का यानी हुण्डियों और सिक्योरिटियों का ढेर हमेशा अपने पास रखना

पड़ता है। वे प्रति सप्ताह सूचियाँ प्रकाशित करके बताते रहते हैं कि उनके पास कितना सोना और कितना विदेशी पुर्जा है। साधारणतः विदेशी भुगतान के लिए सोना कभी बाहर नहीं भेजा जाता। परन्तु जब कभी ऐसा होता है कि और किसी तरह से भुगतान करनें की अपेक्षा सचमुच सोना भेजना सस्ता पड़ता है तब साहूकार लोग सुवर्ण-धातु भेजते हैं।

सोने के विनिमय वाले देशों में राष्ट्रीय सिक्के का मूल्य सोने की शक्ल में मुक़र्रर होता है और वहाँ उसके बदले में कोई भी सोना माँग सकता है। इसलिए ये सिक्के प्रायः स्थिर रहते हैं और उनका आपस में विनिमय होसकता है, क्योंकि उनके बदले में सोना मिल सकता है। उनकी क़ीमत में कमी-बेशी होसकती है तो वह एक देश से दूसरे देश में सुवर्ण-धातु भेजनें के ख़र्च की वजह से ही होसकती है, क्योंकि अपने देश में क़ीमत ज्यादा हुई तो व्यवसायी दूसरे देश से आसानी से सोना मँगवा सकता है। सोने के विनिमय की प्रणाली यही है। इस प्रणाली में अलग-अलग राष्ट्रों के सिक्के स्थिर होते हैं और १९ वीं सदी से ठेठ महायुद्ध के समय तक इस प्रणाली के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ता गया। आज यह प्रणाली टूट गई है और इसीलिए रुपये का व्यवहार बड़ा विचित्र होगया है और अधिकांश राष्ट्रों का सिक्का अस्थिर बन गया है।

मोटे हिसाब से हर देश का आयात और निर्यात का व्यापार बराबर-सा होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो, एक देश जो माल मँगाता है उसकी क़ीमत वह उस माल के रूप में चुकाता है जो वह बाहर भेजता है। परन्तु यह बात बिलकुल सही नहीं है और अक्सर एक-न-एक तरफ़ थोड़ा-बहुत रुपया बाक़ी निकलता है। जब जावक से गावक का मूल्य अधिक होता है तो वह देना-बाक़ी (Advance Balance) कहलाता है और उस देश को हिसाब पूरा करने के लिए कुछ भुगतान और ऊपर से करना पड़ता है। भिन्न-भिन्न देशों के बीच में माल का आवागमन नियमित रूप से हर्गिज़ नहीं होता, वह बहुत बार बदलता रहता है। उसमें उतार-चढ़ाव आते हैं और प्रत्येक परिवर्तन के साथ हुण्डियों की माँग और उनका भुगतान बदलता रहता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि किसी देश के पास ऐसी हुण्डियाँ तो बहुत होती हैं जिनकी उसे उस समय ज़रूरत नहीं होती और ऐसी हुण्डियाँ उसके पास काफ़ी नहीं होतीं जिनकी उसे आवश्यकता हो। मसलन फ़्रांस के पास जर्मनी पर जर्मनी के सिक्के मार्क में की हुई हुण्डियाँ तो काफ़ी से ज्यादा हों, परन्तु ऐसी हुण्डियाँ काफ़ी न हों जिनसे वह अमेरिका के साथ डालर के रूप में हिसाब तय कर सके, तो ऐसी हालत में फ़्रांस जर्मनी की हुण्डियों को बेचकर उनके बदले में संयुक्तराष्ट्र पर डालर की हुण्डियाँ ख़रीदना चाहेगा। ऐसा वह तभी कर

सकता है जब हुण्डियों का कोई ऐसा केन्द्रीय बाजार हो जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय होता हो। ऐसा बाजार उसी देश में हो सकता है जहाँ नीचे लिखी तीन सुविधायें हों—

१. उसका विदेशी व्यापार इतना फैला हुआ और मुख्तलिफ़ क़िस्म का होना चाहिए कि उसके पास सब तरह की हुण्डियों की बहुतायत रहे।

२. वहाँ हर तरह के सरकारी काग़ज़ मिल सकें, यानी वह पूँजी का सबसे बड़ा बाजार हो।

३. उसका सोने की भी सबसे बड़ी मण्डी होना आवश्यक है, ताकि हुण्डी और सरकारी काग़ज़ दोनों के न मिलने की हालत में सोना आसानी से मिल सके।

सारी १९ वीं सदी में इंग्लैण्ड ही ऐसा देश था जहाँ ये तीनों शर्तें पूरी होती थीं। चूंकि वह उद्योग के क्षेत्र में सबसे पहले उतरा था और एक विशाल साम्राज्य पर उसका एकाधिकार था, इसलिए संसार में उसका विदेशी व्यापार सबसे अधिक हो गया था। उसने अपने बढ़ते हुए उद्योग पर अपनी खेती का बलिदान कर दिया। उसके जहाज़ हर बन्दरगाह से व्यापार का माल और हुण्डियाँ ले जाते थे। इस महान् औद्योगिक विकास के कारण वह स्वभावतः पूंजी का सबसे बड़ा बाजार बनगया और उसके पास सब तरह के विदेशी सरकारी पुर्जों का ढेर लग गया। दूसरा सहायक कारण उसके लिए यह हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर —यानी दक्षिण अफ़रीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और हिन्दुस्तान में—दुनिया का दो-तिहाई सोना निकलता था। इन सोने की खानों का माल लन्दन में फ़ौरन बिक जाता था। बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड इनका निकला हुआ सारा सोना एक बँधे हुए भाव पर ख़रीद लेता था।

इस तरह लन्दन हुंडियों, सरकारी काग़जों और सोने की प्रधान मण्डी बन गया। वह संसार की आर्थिक राजधानी होगया। जिस किसी सरकार या साहूकार को विदेश से हिसाब करने की जरूरत हुई और अपने देश में इसका साधन न मिला, तो वह लन्दन चला जाता और वहाँ उसे हर तरह का व्यापारिक और आर्थिक काग़ज़ तथा सोना मिल जाता। पाउण्ड के नोट व्यापार के ठोस चिन्ह बन गये। अगर डेनमार्क या स्वीडन को दक्षिण अमेरिका से कुछ ख़रीद करने की जरूरत हुई तो सौदा पाउण्ड के नोटों में हो जाता था, भले ही माल कभी लन्दन न आये।

इंग्लैण्ड को इस धन्धे से बड़ा भारी मुनाफ़ा था, क्योंकि सारी दुनिया का काम उससे निकलता था और उसके बदले में दुनिया उसे कुछ-न-कुछ कर देती थी। इससे प्रत्यक्ष लाभ तो था ही। साथ ही विदेशी व्यापारी भावी भुगतान के लिए अंग्रेज़ी बैंकों में रुपया जमा रखते थे। इस अमानत को ये बैंक दूसरे लोगों को थोड़े-थोड़े समय के लिए उधार देकर फ़ायदा उठाते थे। अंग्रेज़ी बैंकों को विदेशी कारख़ानेदारों के धन्धे

का सब हाल भी मालूम होजाता था। उनके हाथों में होकर जो हुण्डियां गुज़रती थीं उनसे जर्मन या दूसरे विदेशी व्यापारियों द्वारा लगाये हुए भावों का और विदेशों में उनके ग्राहकों के नामों तक का अंग्रेज़ी बैंकों को पता चल जाता था। ब्रिटिश उद्योग के लिए यह जानकारी वहुत उपयोगी थी, क्योंकि इससे उसे अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों को मात देने में सामर्थ्य मिलता था।

इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को वढ़ाने और मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ी बैंकों ने दुनियाभर में शाखायें और आढ़तें खोल दीं। विदेशों को ब्रिटिश उद्योग के प्रभाव में लाने के काम में तो ये बैंक मदद देते ही थे। ब्रिटिश दृष्टिकोण से ये एक और भी वडी उपयोगी सेवा करते थे। ये पूछताछ करते रहते थे और सभी वडी-वडी स्थानीय दूकानों और व्यवसायों के वारे में लिखित सामग्री रखते थे। इससे जब कभी कोई स्थानीय दूकान हुण्डी करती थी तो वहांका ब्रिटिश बैंक या आढ़तिया उस हुण्डी का मूल्य जानता था और अगर वह उसमें कोई जोखम नहीं समझता तो उसपर अपनी साख दे सकता था। इसे 'सिकारना' कहते हैं, क्योंकि बैंक उस हुण्डी पर 'स्वीकार किया' यह शब्द लिख देता है। ज्योंहीं बैंक ने इसके सिकरने की गारण्टी दी कि हुण्डी आसानी से वेची या दूसरे के नाम की जा सकती थी, क्योंकि उसकी पीठ पर बैंक की साख होती थी। ऐसी गारण्टी के विना एक अनजान विदेशी दूकान की हुण्डी को लन्दन जैसे या और कहीं के दूर के वाज़ार में ख़रीदनेवाला नहीं मिल सकता, क्योंकि उस दूकान को कोई जानता न था। बैंक हुण्डी को सिकार कर जोखम तो उठाता था; परन्तु वह ऐसा करता था अपनी स्थानीय शाखा द्वारा पूरी जांच करवाने के वाद ही। इस तरह सिकारने की इस प्रथा ने हुण्डियों के लेन-देन और साधारणतः सारे व्यवसाय के लिए ही सुविधा करदी, और साथ ही दुनिया के व्यापार पर लन्दन नगर का पंजा भी मज़बूत वना दिया। दूसरे किसी देश की ऐसी स्थिति नहीं थी कि वह किसी वडे पैमाने पर यह सिकारने का काम कर सके, क्योंकि विदेशों में उसकी शाखायें थोडी थीं।

इस तरह १०० से भी अधिक वर्ष तक लन्दन संसार की आर्थिक राजधानी रहा और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और व्यापार की वागडोर उसके हाथों में रही। रुपया तो वहाँ वहुत था ही और इस कारण सस्ती शर्तों पर मिल भी सकता था। इससे सारे साहूकार उधर आकर्षित होते थे। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के गवर्नर के पास दुनिया के चारों कोनों से व्यापार और अर्थ-प्रबन्ध की रत्ती-रत्ती ख़बरें आती थीं और वह अपने बहीखातों और काग़ज़ों पर एक नज़र डालकर वता सकता था कि किस देश की आर्थिक व्यवस्था कैसी है। असल में कभी-कभी तो ऐसा होता था कि

उस देश का जितना हाल उसे मालूम होता उतना वहाँकी सरकार को भी नहीं होता था। जिन सरकारी काग़ज़ों में किसी विदेशी सरकार का हिताहित होता उन्हें ख़रीदनें और वेचने के छोटे-छोटे दांव-पेचों से या थोडी मुद्दत के लिए ख़ास ढंग से क़र्ज़ देकर उस विदेशी सरकार की राजनैतिक नीति पर दवाव डाला जा सकता था। इसे ऊँचा अर्थ-प्रवन्ध (High Finance) कहते हैं। साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हाथ में दवाव डालने के जो साधन पहले भी थे और अव भी हैं उनमें यह साधन निहायत कारगर है।

महायुद्ध के पहले यह परिस्थिति थी। लन्दन नगर ब्रिटिश साम्राज्य के वल और वैभव का केन्द्र और चिन्ह था। महायुद्ध के कारण अनेक परिवर्तन हुए और पुरानी व्यवस्था-उलट गई। लन्दन यानी इंग्लैण्ड को विजय तो प्राप्त हुई, मगर उसकी क़ीमत वहुत महँगी चुकानी पडी।

लड़ाई के वाद क्या हुआ, यह अगले ख़त में वताऊँगा।

: १८७ :

डालर, पाउण्ड और रुपया

२७ जुलाई, १९३३

महायुद्ध ने दुनिया के तीन टुकडे कर दिये। दो टुकडे तो दोनों तरफ़ लड़नेवाले राष्ट्रों के हुए और तीसरे में तटस्थ देश रहे। लड़नेवाले प्रदेशों में परस्पर कोई व्यापार या सम्पर्क वाक़ी न रहा। हाँ, एक-दूसरे की जासूसी करने का ख़ुफ़िया काम चलता ही रहा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूरी तरह चौपट होगया। समुद्र पर क़ब्ज़ा होनें के कारण इंग्लैण्ड, फ़्रांस और दूसरे मित्र-राष्ट्र तटस्थ और पराधीन देशों के साथ थोड़ा व्यापार जारी रख सके; लेकिन जर्मन पनडुब्वियों के मारे वह भी महदूद होगया था। लड़नेवाले राष्ट्रों के सारे साधन लड़ाई में लग गये और वेशुमार रुपया ख़र्च हुआ। क़रीव १½ वर्ष तक इंग्लैण्ड और फ़्रांस अपने ग़रीव साथियों को रुपया देते रहे और ख़ुद अपने ही प्रजाजनों और अमेरिका से उधार लेते रहे। इसके वाद फ़्रांस तो थक गया और दूसरों को मदद न दे सका। इंग्लैण्ड १½ साल तक और वोझा उठाता रहा। मार्च १९१७ में उसकी भी थककर वैठ रहने की वारी आगई। उस वक़्त वह संयुक्त-राष्ट्र को ५ करोड़ पाउण्ड की चढ़ी हुई क़िस्त नहीं चुका सका। इस नाज़ुक अवसर पर जव और किसी के पास भी आर्थिक साधन शेष नहीं रहे, इंग्लैण्ड, फ़्रांस और उनके मित्रों के सौभाग्य से, अमेरिका उनकी तरफ़ लड़ाई में शामिल होगया। उस वक़्त से

लगाकर संयुक्तराष्ट्र सारे मित्र-राष्ट्रों को लड़ाई के लिए रुपया देता रहा। उसने अपने प्रजाजनों से 'स्वाधीनता' और 'विजय' ऋणों के नाम से भारी कर्ज लिया और खुद भी खूब खर्च किया और मित्र-राष्ट्रों को भी उधार दिया। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, नतीजा यह हुआ कि जब युद्ध बन्द हुआ तो संयुक्तराष्ट्र दुनियाभर का साहूकार था और सारे राष्ट्र उसके कर्ज़दार थे। लड़ाई के शुरू में अमेरिका की सरकार पर योरप का ५ अरब डालर का ऋण था। लड़ाई के अन्त में अमेरिका का योरप पर १० अरब डॉलर का कर्ज होगया।

युद्ध के जमाने में अमेरिका को सिर्फ़ इतना ही आर्थिक लाभ नहीं हुआ। साथ ही उसका विदेशी व्यापार बढ़ गया और इंग्लैण्ड और जर्मनी का घट गया। अमेरिका का विदेशी व्यापार ब्रिटिश व्यापार के बराबर होगया। संयुक्तराष्ट्र के पास संसार का दो-तिहाई सोना और बहुत-से विदेशी सरकारों के हिस्से और बॉण्ड भी इकट्ठे होगये।

इस तरह संयुक्तराष्ट्र की माली हालत सबसे अच्छी होगई। वह अपने क़र्ज़ के भुगतान की माँग-भर करके अपने किसी भी ऋणी देश को दिवालिया बना सकता था। इसलिए उसे इस बात पर ईर्षा होना स्वाभाविक था कि दुनिया की आर्थिक राजधानी होने का प्राचीन पद लन्दन के पास क्यों रहे। वह चाहता था कि यह पद उसे मिले। वह चाहता था कि न्यूयार्क संसार का सबसे धनी शहर है, इसलिए लन्दन का स्थान उसे मिले। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन के साहूकारों और धन-कुबेरों में भयंकर संघर्ष शुरू हुआ और उनकी पीठ पर उनकी सरकारें थीं।

अमेरिका का दबाव पड़ा तो अंग्रेज़ी पाउण्ड हिल गया। बैंक आफ़् इंग्लैण्ड अपने सिक्के पर सोना नहीं दे सका और पाउण्ड के नोट का सोने के विनिमय से सम्बन्ध नहीं रहा। इसलिए उसकी क़ीमत बदलने और घटने लगी। फ़्रांस के फ़्रांक का भी भाव गिर गया। ऐसा मालूम होता था कि सारी दुनिया अस्थिर होगई है और उसमें अकेला अमेरिका का डालर चट्टान की तरह स्थिर होकर खड़ा है।

यह समझा जा सकता है कि इन अवस्थाओं में रुपये का व्यवसाय और सोना लन्दन से मुँह मोड़कर न्यूयार्क चला गया होगा। मगर आश्चर्य की बात देखो कि ऐसा नहीं हुआ और विदेशी हुण्डियाँ और खानों का सोना अब भी लन्दन जाता रहा। इसका यह कारण नहीं था कि लोग डालर से पाउण्ड को ज्यादा चाहते थे, बल्कि सबब यह था कि डालर आसानी से मिलता नहीं था। तुम्हें याद होगा, मैं बता चुका हूँ कि 'सिकारने' की प्रथा के अनुसार ब्रिटिश बैंक अपनी शाखाओं और आढ़तों के जरिये दुनिया-भर में काम करते थे। अमेरिका के बैंकों की ऐसी शाखायें या विदेशी आढ़तें नहीं थी और इसलिए उनके पास 'सिकार कर' विदेशी हुण्डियाँ प्राप्त करने का

कोई साधन नहीं था, और हुण्डियों का ब्रिटिश बैंकों के जरिये लन्दन पहुँच जाना स्वाभाविक था। इस कठिनाई का सामना करने के लिए अमेरिकन बैंकों ने झटपट विदेशों में शाखायें और आढ़तें खोलना शुरू कर दिया, और कई मुक़ामों पर बढ़िया इमारतें खड़ी होगई। लेकिन एक कठिनाई और थी। 'सिकारने' का काम ऐसे सधे हुए आदमी ही कर सकते थे, जिन्हें मुक़ामी हालात और स्थानीय व्यवसाय के बारे में पूरी जानकारी हो। ब्रिटिश बैंकों ने सौ वर्ष तक प्रगति करके ऐसे आदमी तैयार कर लिये थे। इस बारे में जल्दी उनकी बराबरी करना आसान नहीं था।

तब अमेरिका वाले लन्दन के विरोध में कुछ फ़्रेंच, स्विच और डच बैंकों से मिल गये। मगर इसमें बहुत कामयाबी नहीं मिली। फ़्रांस बड़ा धनी देश है और वह बहुत-सी पूंजी भी बाहर भेजता है, परन्तु उसने विदेशी हुण्डियों का लेन-देन संगठित करने की तरफ़ कभी ध्यान नहीं दिया था। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन में रस्साकशी चलती रही और सारी बातों को देखते हुए लन्दन का कुछ बिगड़ा नहीं। १९२४ में न्यूयार्क के पक्ष में एक नई बात पैदा होगई। बहुत-से नोट छाप-छापकर निकालने के बाद जर्मन मार्क की क़ीमत स्थिर करदी गई और नोटों के छापने के समय जो जर्मन पूंजी स्वीजरलैण्ड और हालैण्ड में चली गई थी (जोखम या ख़तरे के समय पूंजी हमेशा इसी तरह बाहर चली जाती है)-वह जर्मन बैंकों में लौट आई। अमेरिका के आर्थिक गुट में जर्मनी के शामिल होजाने से लन्दन की स्थिति बहुत बदल गई थी, क्योंकि अब लन्दन की सहायता के बिना ही अमेरिका की हुण्डियों के बदले में योरप की हुण्डियाँ मनचाही मिल सकती थीं। और लन्दन का सिक्का आज भी अस्थिर है, यानी सोने के रूप में पाउण्ड की कोई बँधी हुई क़ीमत नहीं है। वह सोने के विनिमय से अलग होगया।

अब तो लन्दन नगर के धनकुबेर घबराये। उन्होंने देखा, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के व्यवसाय की सारी मलाई तो न्यूयार्क और उसके यूरोपियन साथियों के हाथ में चली जा रही है और लन्दन के हिस्से में सिर्फ़ जूठन बाक़ी रह जाती है। इस हालत को रोकने के लिए पहला काम करने का यह था कि सोने के साथ पाउण्ड को फिर बाँध दिया जाय। इससे विनिमय का फिर से अच्छा व्यवसाय आने लगेगा। इसलिए १९२५ में पाउण्ड की पुराने हिसाब से क़ीमत स्थिर करदी गई। अंग्रेज साहूकारों की इसमें बड़ी विजय थी, क्योंकि पाउण्ड की कीमत बढ़ जाने का अर्थ था उनकी आमदनी का बढ़ जाना। लेकिन अंग्रेजी उद्योग के लिए यह बुरा हुआ, क्योंकि इससे विदेशों में अंग्रेजी माल का भाव बढ़ गया और कारखानेदारों को अमेरिका, जर्मनी और दूसरे औद्योगिक देशों के साथ विदेशी बाजार में स्पर्धा करने में बड़ी मुश्किल होने लगी। परन्तु इंग्लैण्ड ने जान-बूझकर अपनी साहूकारी प्रथा, या यों कहो कि संसार के

विनिमय के बाज़ार में अपनी आर्थिक प्रभुता, क़ायम रखने के लिए कुछ हदतक अपने उद्योगों का बलिदान कर दिया। पाउण्ड की प्रतिष्ठा एकदम बढ़ गई, परन्तु तुम्हें याद होगा कि उसके बाद इंग्लैण्ड में घरेलू झगडे पैदा होगये। इनका एक कारण उद्योग को आघात पहुँचना भी था। बेकारी फैल गई और लम्बे समय तक कोयले की खानों में आम हड़ताल भी रही।

पाउण्ड का मूल्य स्थिर होगया परन्तु इतने से ही काम नहीं चल सकता था। अमेरिका ब्रिटिश सरकार से एक बडी भारी रकम खाते-पेटे या हाथ-उधार की माँगता था। इसे वह किसी भी समय वापस ले सकता था। इस तरह की माँग करके अमेरिका इंग्लैण्ड की स्थिति बहुत ही विकट बना और पाउण्ड का भाव गिरा सकता था, इसलिए बडे-बडे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, जिनमें स्टेनली बाल्डविन भी थे, दौडे-दौडे न्यूयार्क पहुँचे। वे क़िस्तों के रूप में युद्ध-ऋण के भुगतान के बारे में अमेरिका से शर्तें तय करना चाहते थे। अमेरिका के ऋणी सभी यूरोपियन देश थे और उनके लिए उचित मार्ग यही था कि वे आपस में सलाह करके फिर अच्छी-से-अच्छी शर्तें प्राप्त करने के लिए अमेरिका के पास जाते। परन्तु ब्रिटिश सरकार को पाउण्ड को बचाने और लन्दन का आर्थिक नेतृत्व क़ायम रखने की इतनी चिन्ता हुई कि उसे फ्रांस या इटली के साथ मशविरा करने का वक़्त भी नहीं मिला और वह किसी भी भाव जल्दी-से-जल्दी अमेरिका के साथ कोई प्रबन्ध कर लेना चाहती थी। प्रबन्ध तो होगया, मगर हुआ भारी क़ीमत देकर। अमेरिका की सरकार ने जो कडी-कडी शर्तें रक्खीं वे सब उसे माननी पडीं। बाद में फ्रांस और इटली का समझौता, अपने क़र्ज़ के बारे में अमेरिका के साथ कहीं अच्छी शर्तों पर हुआ।

इन कठोर प्रयत्नों और कुर्बानियों से पाउण्ड और लन्दन नगर की रक्षा होगई। परन्तु दुनिया के सभी बाज़ारों में न्यूयार्क के साथ तनातनी जारी रही। धन की बहुतायत होने के कारण न्यूयार्क ने थोडे ब्याज पर लम्बी मियाद के क़र्ज़ देना शुरू किया, और अनेक देश जो पहले लन्दन के बाज़ार में उधार लिया करते थे अब न्यूयार्क के प्रलोभन में फँस गये। इन देशों में कनाडा, दक्षिण अफ़्रीका और आस्ट्रेलिया शामिल थे। न्यूयार्क की बराबरी इन लम्बी मियाद के क़र्ज़ों में लन्दन नहीं कर सकता था; इसलिए उसने मध्य-योरप के बैंकों को छोटी मियाद के क़र्ज़ देने की कोशिश की। छोटी मियाद के क़र्ज़ों में साहूकार के अनुभव और उसकी प्रतिष्ठा का महत्व अधिक होता है।

यह बात लन्दन के हक़ में थी। इसलिए लन्दन के बैंकों ने वियेना के बैंकों के साथ गहरे सम्बन्ध स्थापित कर लिये और उनके ज़रिये मध्य और दक्षिण-पूर्वीय

योरप यानी डैन्यूब और बालकन प्रदेशों के बैंकों के साथ भी सम्बन्ध जोड़ लिया। न्यूयार्क भी वहाँ थोड़ा-बहुत काम-काज करता रहा। इस समय लोग दौलत के लिए पागल हो रहे थे। लन्दन और न्यूयार्क की स्पर्धा के कारण रुपया योरप में वहा आ रहा था, और लखपतियों और करोड़पतियों की तादाद अजीव तेजी के साथ वढ़ रही थी। इसका उपाय भी लोगों ने सीधा-सा ढूंढ लिया था। कोई साहसी आदमी इनमें से किसी देश में रेलवे या कोई और सार्वजनिक हित का काम करने के लिए रिआयत हासिल कर लेता, या दियासलाइयां बनाने और बेचने या इसी तरह का कोई ठेका ले लेता। इस रिआयत या ठेके का काम करने के लिए कम्पनी बन जाती और वह अपने हिस्से निकालती। इन हिस्सों के आधार पर न्यूयार्क और लन्दन के वडे-वडे वैंक धन उधार दे देते। साहूकार न्यूयार्क में दो फ़ीसदी के व्याज पर डालर के रूप में रक़म उधार लेलेते और फिर उसी रक़म को वर्लिन में ६ फ़ीसदी पर और वियेना में ८ फ़ीसदी पर उधार देदेते। इस तरह चालाकी से दूसरे लोगों का धन इधर-उधर करके ये साहूकार बहुत धनवान होगये। इनमें से इवर क्रूगर नामक एक स्वीडन-निवासी वड़ा मशहूर था। उसके पास दियासलाइयों के ठेके थे, इसलिए वह दियासलाई का राजा कहलाता था। किसी समय क्रूगर की वडी भारी प्रतिष्ठा थी। परन्तु अब यह सावित होगया है कि वह पूरा ठग था और उसने बेशुमार रुपया ग़बन किया था। जब वह पकड़ा ही जानेवाला था तब, बरस दो बरस हुए, उसने आत्महत्या करली। उस समय के और भी कई मशहूर साहूकार अपने गन्दे तरीक़ों के कारण आफ़त में फँस गये।

इंग्लैण्ड और अमेरिका की मध्य और पूर्वीय योरप में जो स्पर्धा हुई, उससे एक लाभ हुआ। १९२९ में मन्दी शुरू हुई, उससे पहले के सालों में योरप में इस स्पर्धा के कारण दौलत की नदियां वह गईं इससे वहाँ की हालत बहुत सम्भल गई।

इस बीच, १९२६ और १९२७ में, फ़्रांस ने भी बहुत नोट छाप डाले थे और फ़्रांक की क़ीमत बहुत घट गई थी। जब फ़्रांक का भाव गिरा तो धनवाले फ़्रांसीसियों ने—और धन तो फ़्रांस के सभी छोटे-छोटे अमीर भी बचाकर रखते हैं—नुक़सान के डर से अपना धन बाहर भेज दिया। उन्होंने विदेशी सरकारी काग़ज और हुण्डियों के ढेर-के-ढेर ख़रीद लिये। १९२७ में फ़्रांक की कीमत फिर स्थिर होगई और उसका भाव सोने के साथ बाँध दिया गया। मगर उसकी क़ीमत पहले से ⅕ रह गई। अब फ़्रांस के जिन लोगों के पास विदेशी पुर्जे थे उन्हें उनको फ़्रांक में वदल लेने की वडी उत्सुकता हुई। उनका व्यापार अच्छा चेता, क्योंकि उन्हें अब मूल से पँचगुनें फ़्रांक मिल रहे थे। इस तरह नोटों के छपने से उन्हें जरा भी हानि नहीं हुई। अगर वे आरम्भ से ही फ़्रांक

रखते तो जरूर हानि होती। उस मौक़े से लाभ उठाने का फ़्रेंच सरकार ने भी निर्णय कर लिया और उसने बदले में नई छपी हुई फ़्रांक की हुण्डियाँ देकर ये सारी विदेशी हुण्डियाँ या सरकारी काग़ज़ ख़रीद लिये। इस तरह फ़्रेंच सरकार इन विदेशी हुण्डियों और सरकारी पुर्जों को लेकर अचानक बहुत मालदार होगई। असल बात यह है कि उस समय ये हुण्डियाँ और पुर्जे उसीके पास सबसे अधिक थे। उसकी इच्छा भी नहीं थी और उसमें इतना दम भी नहीं था कि वह आर्थिक नेतृत्व के लिए इंग्लैण्ड और अमेरिका की होड़ कर सके। परन्तु दोनों पर प्रभाव डालने की स्थिति में वह जरूर होगई थी।

फ़्रांस के लोग फूँक-फूँककर क़दम रखते हैं और यही हाल उनकी सरकार का है। जो कुछ उनके पास होता है उसे भी गँवा देने की जोखम उठाकर बड़ा मुनाफ़ा करने के बजाय वे सुरक्षित रहकर थोड़ा लाभ उठाना पसन्द करते हैं। इसलिए फ़्रेंच सरकार ने सावधान होकर अपना फ़ालतू धन थोड़े ब्याज पर लन्दन के अच्छे-अच्छे व्यापारियों को उधार दे दिया। इस तरह उसने ब्रिटिश बैंक से सिर्फ़ दो फ़ीसदी ब्याज लिया। उसी पूँजी को ब्रिटिश बैंक पाँच-छः फ़ीसदी पर जर्मन बैंकों को दे देते और जर्मन बैंक आठ-नौ फ़ीसदी पर उसे वियेना भेज देते और वहाँसे वह धन बारह फ़ीसदी पर हंगरी या बालकन में पहुँच जाता। जितनी बड़ी जोखम उतना ही ज्यादा ब्याज। मगर बैंक आफ़ फ़्रांस ने जोखम उठाना पसन्द नहीं किया। इसीलिए उसने ब्रिटिश बैंकों के साथ लेन-देन किया। इस प्रकार फ़्रांस ने अपनी ख़रीदी हुई विदेशी हुण्डियों के रूप में बहुत-सा रुपया लन्दन में रख दिया और इससे लन्दन की न्यूयार्क के साथ जो लड़ाई चल रही थी उसमें मदद मिली।

इस बीच में व्यापारिक उथल-पुथल और मन्दी बढ़ रही थी और खेती की पैदावार के भाव घट रहे थे। १९३० के जाड़े में गेहूँ का भाव इतना गिर गया कि पूर्वीय योरप के बैंक अपने क़र्जदारों से रुपया वसूल नहीं कर सके और इसलिए उन्होंने वियेना में पाउण्ड और डालर के रूप में जो ऋण लिया था वह नहीं लौटा सके। इससे वियेना के बैंकों में उथल-पुथल मच गई और वहाँ के क्रेडिट ऐनस्टालट नामक सबसे बड़े बैंक का दिवाला निकल गया। इससे फिर जर्मन बैंक हिल उठे और मार्क का ढाँचा बैठने की नौबत आगई। ऐसा होता तो जर्मनी में अमेरिका और ब्रिटेन की पूँजी को ख़तरा होता। इसीको टालने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने युद्ध-ऋण और हर्जाने की वसूली स्थगित रखने का ऐलान किया था। उस समय हर्जाने की अदायगी का आग्रह करने का अर्थ जर्मनी का सम्पूर्ण आर्थिक नाश होता। हुआ यह कि इतने से भी काम न चला। जर्मनी दूसरे देशों को अपना ख़ानगी क़र्ज़ भी न चुका सका और उसका भुगतान भी मुल्तवी करना पड़ा।

नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों का बहुत-सा धन जो जर्मनी को थोडा मियाद के क़र्ज़ के रूप में दिया गया था, वहीं बन्द होगया। लन्दन के साहूकारों की स्थिति विकट होगई, क्योंकि उनके सिर पर भी देना था और वे जर्मनी से रक़म मिलने पर आशा लगाये बैठे थे। फ़्रांस और अमेरिका ने १३ करोड़ पाउण्ड उधार देकर उनकी मदद की, मगर यह मदद वक़्त निकल जाने पर पहुँची। लन्दन के आर्थिक हलक़ों में घबराहट फैल गई। ऐसी घबराहट के अवसर पर सब लोग अपनी-अपनी रक़म निकाल लेना चाहते हैं। इसलिए १३ करोड़ पाउण्ड बात-की-बात में साफ़ होगये। यह न भूलना कि उस समय पाउण्ड सोने के विनिमय से बँधा हुआ था और कोई भी पाउण्ड के नोट के बदले में सोना माँग सकता था।

उस समय ब्रिटेन में मजदूर सरकार थी। उसने और धन उधार लेना चाहा और चिन्तित होकर न्यूयार्क और पेरिस के साहूकारों से माँगा। मालूम होता है, उन्होंने कुछ शर्तों पर मदद करना स्वीकार कर लिया। एक शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार को मजदूरों और सामाजिक सेवा-सम्बन्धी कामों में किफ़ायत करनी चाहिए। शायद मजदूरी और वेतन घटाने की बात भी सुझाई गई थी। यह ब्रिटेन के घरू मामलों में विदेशी साहूकारों का दख़ल देना हुआ। मजदूर सरकार के विरोधियों ने इस स्थिति से अनुचित लाभ उठाया। उस सरकार के मुखिया और प्रधान मन्त्री रैमज़े मैक्डानल्ड नें सरकार और अपने दल दोनों को धोखा दिया और मुख्यतः अनुदार दल की सहायता से उसने दूसरी सरकार बना ली। यह 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाई। यह संकट-निवारण के लिए ही बनी थी। योरप के मजदूर-आन्दोलन के इतिहास में रैमज़े मैकडानल्ड का यह काम बे-वफ़ाई का बडे मार्के का उदाहरण था।

राष्ट्रीय सरकार पाउण्ड की रक्षा के लिए बनी थी। वचन के अनुसार फ़्रांस और अमेरिका से उसे ऋण भी मिल गया। परन्तु उसकी सहायता से भी पाउण्ड की रक्षा न हो सकी। २३ सितम्बर १९३१ को सरकार को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा और पाउण्ड फिर अस्थिर सिक्का बन गया। पाउण्ड का भाव तेजी से गिरने लगा और लगभग १४ शिलिंग सोने के बराबर रहगया। यानी मोटे हिसाब से उसकी क़ीमत पहले से दो-तिहाई होगई।

इस घटना और तारीख़ का संसार में बड़ा असर हुआ। योरप ने इसे ब्रिटिश साम्राज्य के भावी नाश का निशान समझा, क्योंकि इसका अर्थ था संसार के सराफ़ा-बाजार में लन्दन की प्रभुता का अन्त होना। पाउण्ड के गिरने से अनेक देशों का सिक्का हिल गया, क्योंकि उन्होंने पाउण्ड के नोट सोना समझकर रख छोडे थे और उनके बदले में सोना हर वक़्त मिल भी सकता था। अब उन नोटों के बदले में सोना

मिलना बन्द होगया और उनका मूल्य भी ३० फ़ीसदी गिर गया। इसलिए कुछ दूसरे देशों के सिक्कों का भाव भी घट गया और उन्हें इंग्लैण्ड के कारण सोने का विनिमय छोड़ देना पड़ा।

फ़्रांस की स्थिति इस समय मजबूत हो गई। उसकी सावधानी की नीति का उसे लाभ मिल गया। जहाँ अमेरिका और ख़ास तौर से इंग्लैण्ड का उधार दिया हुआ धन जर्मनी में रुक गया और उन्हें धन की जरूरत होगई वहाँ फ़्रांस के पास विदेशी हुण्डियों और सोने के फ़्रांक से रूप में धन की बहुतायत थी। अमेरिकन और ब्रिटिश दोनों सरकारों ने फ़्रान्स पर अलग-अलग प्रेम-प्रदर्शन किया और अपने-अपने पक्ष में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ उसे मिला लेने की भरसक कोशिश की। फ़्रांस बहुत सावधान रहा और उसने दोनों की ही बात नहीं मानी। इस प्रकार उसने सौदे का अवसर हाथ से चला जाने दिया।

१९३१ के अन्त में इंग्लैण्ड में पार्लमेण्ट का आम चुनाव हुआ। राष्ट्रीय सरकार की बडी भारी विजय हुई। वास्तव में यह विजय अनुदार दल की थी। मजदूर दल का लगभग सफ़ाया होगया। "मजदूर सरकार उनकी पूँजी जब्त कर लेगी," ऐसी-ऐसी कहानियों से डरकर, और शायद वेतन की कटौती पर अटलाण्टिक प्रदेश की जलसेना के ब्रिटिश नाविकों ने जो थोडे दिन विद्रोह कर दिया था उससे भी भयभीत होकर, ब्रिटिश नागरिक अनुदार राष्ट्रीय सरकार के पक्ष में होगये। अब भी इंग्लैण्ड में सत्ता इसी सरकार के हाथ में है। प्रधान मंत्री रैमजे मैकडानल्ड है,[१] परन्तु सबसे शक्ति-शाली आदमी अनुदार दल का नेता स्टैनली बाल्डविन है। पार्लमेण्ट और ब्रिटिश नीति पर इसी दल का पूरा प्रभुत्त्व है।

संकट और ख़तरे के होते हुए भी पाउण्ड के गिरने के बाद तीनों मुखिया राष्ट्र अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस या उनके साहूकार आपस में सहयोग न कर सके। सब एक-दूसरे को हानि पहुँचाकर अपनी-अपनी स्थिति अच्छी करने की चाल चलते रहे हैं। आर्थिक नेतृत्व के लिए लड़ने के बजाय वे मिलकर एक सम्मिलित अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का बाजार बना सकते थे। मगर सबने अपनी-अपनी खिचडी अलग पकाना ही पसन्द किया। बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड लन्दन को उसका खोया हुआ पद वापस दिलाने के काम में जुट गया और दुनिया के लिए बडे अचम्भे की बात है कि पिछले १८ महीनों में उसे बहुत कुछ सफलता भी मिल गई है, हालाँकि पाउण्ड अब भी सोने के विनिमय से अलग है।

जब इंग्लैण्ड ने सोने का विनिमय छोड़ा तो दूसरे देशों के सरकारी बैंकों ने (इन्हें

सेंट्रल बैंक कहते हैं) बदले में सोना लेने के लिए अपनें पास की पाउण्ड की हुण्डियाँ बेच दीं। अबतक उन्होंने पाउण्ड की हुण्डियाँ रख छोडी थीं, क्योंकि उनके बदले में सोना किसी वक़्त भी मिल सकता था और इसलिए उन्होंने उसे सोना ही समझ रक्खा था। जब ये हुण्डियाँ अचानक बडी तादाद में बिकीं तो पाउण्ड का मूल्य आनन-फ़ानन में ३० फ़ी सदी गिर गया। इस तरह भाव गिरने से उन क़र्जदारों को, जिनपर पाउण्ड के नोटों के रूप में देना निकलता था (इनमें कुछ सरकार और बडे-बडे व्यापारी भी शामिल थे), सोना चुका देनें की प्रेरणा हुई, क्योंकि उन्हें ३० फ़ी सदी कम देना पड़ा। इस तरह बहुत-सा सोना इंग्लैण्ड में आगया।

परन्तु सोनें की असली बाढ़ तो इंग्लैंड में हिन्दुस्तान और मिस्र से आई। इन ग़रीब और पराधीन देशों को विवश होकर धनी इंग्लैण्ड की सहायता करनी पडी और इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए इनके छिपे हुए साधन काम में लाये गये। इस मामले में इनकी नहीं सुनी गई। इंग्लैंड की जरूरत के सामने इनकी इच्छाओं या हितों का मूल्य ही क्या हो सकता था ?

भारत की दृष्टि से बेचारे भारतीय रुपये की कहानी लम्बी और दर्दनाक है। ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पूँजी के स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसकी क़ीमत बार-बार बदली जाती रही है। मैं सिक्के के इस मामले में विस्तार से नहीं लिखना चाहता। सिर्फ़ इतना ही बतलाना चाहता हूं कि सिक्के के मामले में लड़ाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में जो कार्रवाइयाँ कीं हैं उनसे हिन्दुस्तान की असीम हानि हुई है। उसके बाद १९२७ में हिन्दुस्तान में इस बात पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ कि पाउण्ड के नोट और सोने से सम्बन्ध रखते हुए रुपये का मूल्य कितना स्थिर किया जाय। उस समय पाउण्ड का सोने के विनिमय से सम्बन्ध था। यह 'अनुपात का विवाद' कहलाया, क्योंकि सरकार तो रुपये की क़ीमत १ शिलिंग ६ पेंस रखना चाहती थी और भारतीय लोकमत लगभग १ स्वर से एक शिलिंग ४ पेंस चाहता था। सवाल पुराना था और यह था कि रुपये का मूल्य बढ़ाकर साहूकारों और पूँजीवालों को लाभ पहुँचाया जाय और विदेशी माल की आमद बढ़ाई जाय, या रुपये की क़ीमत घटाकर ऋणदाताओं का बोझा कम किया जाय और गृह-उद्योगों और निर्यात व्यापार को उत्तेजन दिया जाय ? बात हिन्दुस्तानियों की न रहकर सरकार की ही चली और सोने के रूप में रुपये की क़ीमत १ शिलिंग ६ पेंस मुक़र्रर होगई। इस तरह बहुत लोगों की राय में रुपये की क़ीमत थोडी बढ़ा दी गई। सिर्फ़ इंग्लैण्ड ने ही १९२५ में पाउण्ड को सोने के विनिमय पर लाते समय सिक्के की क़ीमत बढ़ाई थी। हम देख चुके हैं कि उसने ऐसा अपने संसार के आर्थिक नेतृत्व को क़ायम रखने के लिए किया था और इसके

लिए वह बहुत कुछ त्याग करने को तैयार था। फ़्रांस, जर्मनी और दूसरे देशों ने अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सिक्के की क़ीमत घटाना पसन्द किया था।

रुपये की क़ीमत बढ़ा देने से हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी का मूल्य बढ़ गया। इससे हिन्दुस्तानी उद्योग पर भी बोझा पड़ा, क्योंकि हिन्दुस्तान के माल के भाव कुछ बढ़ गये। सबसे बड़ी बात यह हुई कि जो किसान और जमींदार बनियों के क़र्ज़-दार थे उन सबका भार बढ़ गया, क्योंकि जब रुपये की क़ीमत बढ़ी तो इस क़र्ज़ की क़ीमत भी बढ़ गई। १८ और १६ पेन्स का फ़र्क़ २ पेन्स यानी १२॥ फ़ी सदी मूल्य बढ़ने के बराबर हुआ। मान लो हिन्दुस्तान के किसानों पर ९ अरब रुपया क़र्ज़ है। उसमें १२॥ फ़ी सदी वृद्धि होजाने का अर्थ होता है १६ अरब की भारी रक़म और बढ़ जाना।

रुपये के रूप में अलबत्ता क़र्ज़ उतना ही रहा जितना पहले था। परन्तु खेती की पैदावार के मूल्य के रूप में क़र्ज़ बढ़ गया। रुपये का असली मूल्य यही होता है कि उस-से कितना गेहूं, कितना कपड़ा और कितनी और कोई चीज़-वस्त ख़रीदी जा सकती है। रुकावट न डाली जाय तो यह मूल्य अपने-आप ठीक होता रहता है। रुपये की ख़रीदने की ताक़त घट जाने से सिक्के की क़ीमत घट जाती है। कृत्रिम रूप से उसका मूल्य अधिक रख देने से उसकी ख़रीदने की शक्ति दीखने में बढ़ जायगी, लेकिन दरअसल नहीं बढ़ती। इस प्रकार किसानों को मालूम होगया कि अब क़र्ज़ और व्याज के चुकाने में पहले से उनकी आय अधिक चली जाती है और बहुत थोड़ी उनके पास रह जाती है। इस तरह १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात से हिन्दुस्तान में मन्दी और भी बढ़ गई।

जब सितम्बर १९३१ में पाउण्ड के नोटों का सोने से सम्बन्ध छूट गया तो रुपये का भी छूट गया। परन्तु उसे पाउण्ड के साथ बांधे रक्खा गया। इस प्रकार एक शिलिंग छः पेंस का अनुपात तो क़ायम रहा, परन्तु सोने के रूप में अब उसकी क़ीमत कुछ घट गई। पाउण्ड के नोट के साथ रुपये को इसलिए बांध रक्खा गया कि हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी को आँच न आवे, क्योंकि अगर रुपये को छुट्टा छोड़ दिया जाता तो उसकी क़ीमत घटने और पाउण्ड के नोटों के रूप में लगी हुई पूंजी को हानि पहुँचने की सम्भावना थी। हुआ यह कि नुक़्सान भारत में लगी हुई अमेरिका और जापान आदि की ग़ैरब्रिटिश विदेशी पूंजी को ही हुआ। रुपये को पाउण्ड के साथ बांध देने से इंग्लैण्ड को दूसरा बड़ा लाभ यह हुआ कि वह अपने उद्योगों के लिए जो कच्चा माल ख़रीदता था उसका मूल्य ब्रिटिश सिक्के में चुका सका। पाउण्ड के नोट का जितना ही बड़ा क्षेत्र उतना ही पाउण्ड का लाभ।

जैसे-जैसे पाउण्ड के साथ रुपये की क़ीमत घटती गई, वैसे-वैसे सोने की भीतरी

क़ीमत बढ़ी, यानी सोने से ज्यादा रुपये मिलने लगे। देश में दुःख और ग़रीबी का तो ठिकाना ही नहीं। लोगों पर क़र्ज़ था ही। इस कारण उन्हें इसे चुकाने के लिए अधिक-से-अधिक रुपये हासिल करने को जेवर वग़ैरा के रूप में जितना भी सोना उनके पास था वह बेच डालने की प्रेरणा हुई। इसलिए थोड़ा-थोड़ा करके देशभर का सोना बैंकों में पहुँचने लगा और बैंकों ने इसे लन्दन के बाजार में बेचकर फ़ायदा उठाया। इस तरह हिन्दुस्तान के सोने का प्रवाह लगातार इंग्लैण्ड की तरफ़ हुआ और अब भी होरहा है। कहा जाता है कि अबतक १ अरब ४६ करोड़ रुपयों का सोना हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड जा चुका है। यह १० करोड़ पाउण्ड से भी ज्यादा के बराबर है। इसी सोने और मिस्र से इसी तरह आये हुये सोने के तुफ़ैल से बैंक ऑफ इंग्लैण्ड और ब्रिटिश पूँजीपतियों की रक्षा हुई और उन्हें १९३१ के सितम्बर में अमेरिका और फ़्रांस से उधार लिया हुआ रुपया चुकाने के साधन मिले।

यह अजीब बात है कि जहाँ दुनिया के सब देश—यहाँतक कि अधिक-से-अधिक धनी मुल्क भी—अपना-अपना सोना बचाकर रखते हैं और उसे बढ़ाते हैं, हिन्दुस्तान में इसका उलटा होरहा है। अमेरिकन और फ़्रेंच सरकारों ने अपने-अपने बैंकों के तहख़ानों में भारी मात्रा में सोना जमा कर लिया है। यह विलक्षण काम है कि खानों में से निकालकर सोने को फिर बैंकों के तहख़ानों में गहरा गाड़ दिया जाय। बहुत-से देशों ने और ब्रिटिश उपनिवेशों ने अपने यहांसे सोने की निकासी बन्द करदी है, अर्थात् वहाँ देश के बाहर कोई सोना नहीं लेजा सकता। इंग्लैण्ड ने अपने सोने की रक्षा के लिए सोने का विनिमय छोड़ दिया, मगर हिन्दुस्तान में बात ऐसी नहीं हुई; क्योंकि यहां की अर्थनीति इंग्लैण्ड के हितों के अनुसार चलाई जाती है।

अक्सर ऐसी बातें बताई जाती हैं कि हिन्दुस्तान में सोना और चाँदी गड़ा हुआ रक्खा है। मुट्ठीभर धनिक लोगों के बारे में कुछ हद तक यह सही भी है। परन्तु सर्वसाधारण तो इतने दरिद्र हैं कि वे कोई भी चीज़ जमा करके नहीं रख सकते। कुछ खाते-पीते किसान थोडे-से ज़ेवर रखते हैं। यही उनका 'ख़ज़ाना' है। उनको पूंजी लगाने की सहूलियतें भी हासिल नहीं हैं। ये छोटे-मोटे ज़ेवर और दूसरा सोना जो हिन्दुस्तान में था, वह मन्दी और सोने का भाव बढ़ जाने के कारण खिंचकर चला गया है। राष्ट्रीय सरकार होती तो वह इस सोने को बचाकर देश में ही रखती, क्योंकि सोना ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का माना हुआ साधन है।

हाँ, तो पाउण्ड और डालर की लड़ाई का काम जारी रक्खें। इन उपायों और दूसरी चालों से, जिनका उल्लेख करने की मुझे जरूरत नहीं है, बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड ने अपनी स्थिति बहुत अंशों में मजबूत करली। १९३२ के शुरू में भाग्य ने उसका कुछ

साथ दिया, क्योंकि जर्मनी में अमेरिका का धन रुक जाने से संयुक्तराष्ट्रों के बैंकों में उथल-पुथल मच गई थी। इस उथल-पुथल में बहुत-से अमेरिकनों ने अपने डालर बेचकर पौण्ड के नोट खरीद लिये। इस तरह ब्रिटिश सरकार को डालर की हुण्डियां बहुतायत से मिल गईं। इन्हें न्यूयार्क के सरकारी बैंक में देकर उसने बदले में सोना ले लिया। चूंकि डालर सोने के विनिमय पर था, इसलिए उसके एवज् में कोई भी सोना मांग सकता था। इस तरह किसी भी आपत्ति या पाउण्ड का भाव अधिक गिरे बिना ही ब्रिटिश सुवर्ण-भण्डार भर गया और पाउण्ड का मूल्य अस्थिर रह गया और सुवर्ण विनिमय से हट गया। साथ ही लन्दन के पास भरपूर विदेशी हुण्डियों और सरकारी पुर्जों के होने से वह फिर संसार का बड़ा और मुख्य हुण्डी-बाजार बन गया। फ़िलहाल न्यूयार्क हार गया। इसका बड़ा कारण तो, जैसा मैं किसी पिछले खत में बता चुका हूं, यह था कि वहांके हजारों छोटे-छोटे बैंक बर्बाद होचुके थे।

: १८८ :

पूँजीवादी दुनिया की मिलकर प्रयत्न करने की असमर्थता

२८ जुलाई, १९३३

मैंने तुम्हें आर्थिक स्पर्धाओं और चालबाज़ियों की कितनी लम्बी कहानी सुना डाली! यह तुम्हें शायद ही अच्छी लगी हो। असल में मुझे खुद को भी अफ़सोस-सा ही है कि मैंने इस मजमून पर क़लम उठाई और तुम्हें यह सलाह देने को जी चाहता है कि तुम इसे छोड़दो। अन्तर्राष्ट्रीय साज़िशों का जाला इतना गुंथा हुआ है कि इसे सुलझाना या इसमें घुसकर निकल आना आसान बात नहीं है। मैंने तो तुम्हें जो कुछ ऊपर-ऊपर दिखाई देता है उसीकी झांकी-सी दिखाने की कोशिश की है। जो कुछ होता है उसका बहुत-कुछ हिस्सा न कभी ऊपर आता है, न जाहिर होता है।

आज की दुनिया में साहूकार और पूंजीपति का महत्व बहुत ज्यादा है। कारखानेवालों के दिन भी जाते रहे। अब तो बड़े-बड़े साहूकार ही उद्योग, खेती, रेलवे, ढुलाई और एक हद तक सरकार और सब चीज़ों पर नियन्त्रण रखते हैं। वजह यह है कि उद्योग और व्यवसाय के बढ़ने से उनके लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपये की जरूरत होती है और यह रुपया बैंकों से मिलता है। संसार का ज्यादातर काम आजकल उधार या साख पर चलता है। और उधार देना-न देना, कम-ज्यादा देना और उसपर अधिकार रखना, यह सब बड़े बैंकों के हाथ में है। कारखानेदार और किसान दोनों को अपना काम चलाने के लिए रुपया उधार लेने बैंक के पास जाना पड़ता है।

यह उधार का धन्धा साहूकारों के लिए फ़ायदेमन्द तो है ही, इससे धीरे-धीरे उद्योग और खेती पर उनका क़ाबू भी बढ़ता है। किसी नाजुक वक़्त पर उधार देने से इन्कार करके या अपना रुपया वापस मांगकर वे उधार लेनेवाले का काम चौपट कर सकते हैं। यह बात देश के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र दोनों में लागू होती है, क्योंकि बड़े-बड़े केन्द्रीय बैंक अलग-अलग देशों की सरकारों को रुपया उधार देते हैं और इस तरह उनपर अपना दबाव रखते हैं। इसी तरह न्यूयार्क के साहूकार मध्य और दक्षिणी अमेरिका की बहुत-सी सरकारों पर नियंत्रण रखते हैं।

इन बड़े-बड़े बैंकों की बात यह है कि अच्छे और बुरे दोनों तरह के समय में इन्हें मुनाफ़ा-ही-मुनाफ़ा होता है। अच्छे दिनों में सबका रोजगार अच्छा चलता है और उसका हिस्सा इन्हें भी मिलता है। लोग खूब रुपया बैंकों में जमा कराते हैं, बैंक उस पर बहुत थोड़ा ब्याज देते हैं और उसी रुपये को अधिक ब्याज पर दूसरों को उधार दे देते हैं। बुरे यानी मन्दी और संकट के दिनों में वे अपना रुपया दाँतों से पकड़े रखते हैं। इससे मन्दी तो बढ़ती है, क्योंकि उधार के बिना बहुत-से धन्धों का चलना कठिन होजाता है, लेकिन बैंकों को दूसरी तरह फ़ायदा होता है। जमीन, कारखानों और सभी चीजों का भाव गिर जाता है और बहुत-से उद्योगों का दिवाला निकल जाता है। बैंक झटपट ये सब कुछ सस्ते में ख़रीद लेते हैं। इस तरह तेजी और मन्दी के बारी-बारी से दौर होने में साहूकारों का लाभ है।

वर्तमान महामन्दी के जमाने में बड़े बैंकों का बराबर अच्छा हाल रहा है और उन्होंने अच्छा मुनाफ़ा (Dividend) बाँटा है। यह सच है कि संयुक्तराष्ट्र में हजारों बैंकों और आस्ट्रिया और जर्मनी में कुछ बड़े-बड़े बैंकों का दिवाला निकल गया है। अमेरिका में जिन बैंकों का दिवाला निकला वे सब छोटे-छोटे बैंक थे। मालूम होता है अमेरिका की बैंक-प्रणाली ही ग़लत थी। फिर भी न्यूयार्क के बड़े-बड़े बैंकों का काम ठीक-ठीक चला। इंग्लैण्ड में किसी बैंक का दिवाला नहीं निकला। अलबत्ता अगर मन्दी बनी रही तो अन्त में वहाँके बड़े-से-बड़े बैंकों की भी वही हालत होगी जो ख़ास तौर पर बिगड़ जाने पर जर्मनी और आस्ट्रिया में हुई थी।

इन कारणों से आज की पूंजीवादी दुनिया में सच्ची सत्ता साहूकारों के हाथ में है। इसीलिए लोग कहते हैं कि शुद्ध औद्योगिक युग के बाद अब यह हमारा 'पूंजीयुग' (Financial Age) आया है। पश्चिमी देशों में और ख़ासतौर पर अमेरिका में धड़ाधड़ लखपति और करोड़पति बन रहे हैं। अमेरिका तो करोड़पतियों का देश ही कहलाने लगा है। इन धन-कुबेरों की बड़ी तारीफ़ होती है। लेकिन दिन-दिन यह प्रकट हो रहा है कि बड़े-बड़े पूंजीपतियों के तरीक़े बहुत ही गन्दे हैं और डाकुओं

और धोखेबाजों से इन लोगों में इतना ही भेद है कि ये अपना काम बडे पैमाने पर करते हैं। बडे-बडे एकाधिकार (ठेके) छोटे-छोटे धन्धों को कुचल डालते हैं। बडी-बडी पूंजी के दाँव-पेंच, जिन्हें बहुत कम लोग समझ सकते हैं, उन ग़रीबों को खूब मूंडते हैं जो भरोसा करके अपनी पूंजी लगाते हैं। योरप और अमेरिका के कुछ बडे-से-बडे श्रीमन्तों का हाल ही में भण्डाफोड़ हुआ है और वह दृश्य कोई सुहावना दृश्य नहीं था।

हम देख चुके हैं कि इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच आर्थिक नेतृत्व के लिए जो लड़ाई चल रही थी उसमें फिलहाल लन्दन की जीत हुई। लेकिन इस विजय से क्या हाथ आया? इस लड़ाई के १२ वर्ष तक जारी रहने से धीरे-धीरे इससे होनेवाला लाभ कम होता गया। ख़ास तौर पर पिछले चार साल में मन्दी खूब फैली और व्यवसाय और उद्योग को खा गई। विदेशी व्यापार पहले से एक-तिहाई रह गया। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापारिक काग़ज यानी हुण्डियाँ भी दो-तिहाई घट गईं। जब काग़ज कम हुआ तो उसके बजाय और कुछ काम में लाना जरूरी होगया और सरकारी काग़ज यानी सिक्योरिटीज वग़ैरा की ज्यादा चाह हुई। इनकी भी बडी कमी होगई। व्यापार और उद्योग की मन्दी के कारण नये हिस्से और सिक्योरिटियाँ नहीं निकलीं और पुरानी सिक्योरिटियों की क़ीमत पहले से आधी या उससे भी कम होगई। अब भी भाव बारबर गिर रहे हैं और यदि इस गिरावट को रोकने की कोई बात न हुई तो सम्भव है अन्त में कुछ भी मूल्य न रहे!

इस तरह व्यापारिक और सरकारी दोनों तरह के काग़ज कम होगये हैं। फिर भी सरकारी और ख़ानगी क़र्ज़ों पर चुकाया जानेवाला व्याज तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। ऋणी देशों की जान बडी आफ़त में है कि वे क्या करें और कैसे चुकावें? चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए और कोई साधन नहीं है। इसलिए ख़ासतौर पर ग़रीब देशों में सोने की माँग बढ़ गई। फिर भी इन देशों से सोना धनी देशों में बहा चला जा रहा है, क्योंकि ग़रीब देशों के पूंजी वाले लोगों ने सिक्के का भाव बदलता और गिरता हुआ देखकर अपने रुपये की रक्षा करने के लिए विदेशी सरकारी पुर्जा ख़रीद लिया। इस तरह धनी देशों में सोना बढ़ता जा रहा है और ग़रीब मुल्कों में कम होता जारहा है। जिन देशों के पास सोना खूब जमा होगया है वे हैं संयुक्त-राष्ट्र, फ़्रांस, स्वीजरलैण्ड और हालैण्ड। इंग्लैण्ड के पास भी अब तो काफ़ी सोना इकट्ठा होगया है।

लेकिन इतना सोना और धन इकट्ठा होने पर और उद्योग के नये-से-नये साधनों के होते हुए भी अमेरिका को बहुत सहायता नहीं मिली, क्योंकि मन्दी के साथ-साथ वहाँ

के बेकारों की तादाद भी बढ़ती चली गई और डेढ़ करोड़ तक पहुँच गई। वहाँ मज़दूरी की दर संसार में सबसे ऊँची थी, वह भी जल्दी-जल्दी घट गई और उसके साथ ही रहन-सहन का तरीक़ा भी नीचा होगया। जिस महान् देश में सबको अवसर मिलता था और जिसका नाम सुनकर दूर-दूर से स्त्री-पुरुष आते थे, वहाँ निराशा का साम्राज्य छा गया। देश में बडे-बडे पूंजीपतियों का बोलबाला था। इनकी अनेक सरकारी जाँच-पड़तालों में क़लई खुल गई और वे पूरी तरह भ्रष्ट साबित होगये। इस तरह पूंजी और उद्योग के नेताओं पर से लोगों का विश्वास उठ गया। मन्दी के इस सारे ज़माने में हरबर्ट हूवर राष्ट्रपति थे, लेकिन उन्होंने विकट स्थिति का कुछ भी उपाय नहीं किया। वे बडे-बडे पूंजीपतियों के मित्र समझे जाते थे। इसलिए उन्होंने मनमानी करने के लिए उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि जनता उनसे बुरी तरह नाराज़ होगई। १९३२ के नवम्बर में जब हर चार वर्ष में होनेवाले राष्ट्रपति का चुनाव हुआ तो हूवर को फ्रैंक रूज़वेल्ट ने भारी बहुमत से हरा दिया। निराशा में डूबे हुए अमेरिका के मध्यमवर्ग के बेशुमार लोगों की रूज़वेल्ट की तरफ़ दृष्टि गई और उन्हें आशा हुई कि वह हमारे कष्ट दूर करेंगे। अमेरिका के विधान के अनुसार चुनाव तो १९३२ के नवम्बर में होगया, परन्तु नये राष्ट्रपति ने अधिकार १९३३ के मार्च तक नहीं सम्भाले। इस बीच में संसार-भर की स्थिति और भी बिगड़ गई और एक ऐसी बडी आर्थिक परिषद् बुलाने की चर्चा ज़ोर से चली जिसमें मन्दी के उपाय सोचने के लिए संसार के सब देश इकट्ठे हों। १९३३ के मार्च के शुरू में रूज़वेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति की गद्दी पर बिठाये ही जा रहे थे कि वहांके बेंकों में दुबारा उथल-पुथल मच गई। उथल-पुथल बडे ज़ोर की थी और लोगों में इतनी घबराहट फैल गई कि कुछ दिनों के लिए सारे बैंक बन्द कर देने पडे। इससे संयुक्तराष्ट्र को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा। डालर को पाउण्ड का साथ देना पड़ा और सोने से अलग होना पड़ा। देश में सोने की कमी नहीं थी और असल बात तो यह है कि अमेरिका के पास और किसी भी देश से ज्यादा सोना था। लेकिन आजकल की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का इतना विचित्र हाल है, कि यह सब कुछ होते हुए भी अमेरिका को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा और सोने की निकासी बन्द करनी पडी। शायद इसका असली उद्देश्य यह था कि बैंकों और साहूकारों को नुक़सान पहुँचाकर भी उद्योग और खेती का भार हलका करने के लिए डालर का भाव घटा दिया गया। मैंने तुम्हें पिछले ख़त में समझाया था कि रुपये का मूल्य १८ पेंस मुक़र्रर कर देने से किस तरह हिन्दुस्तान में पूंजी की क़ीमत बढ़ गई और लोगों पर क़र्ज़ का भार भी ज्यादा होगया। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने डालर का भाव घटाकर इससे उलटी बात की। तमाशे की बात तो यह देखो कि डालर का भाव

घटाने से इंग्लैण्ड नाराज़ हुआ, क्योंकि इससे सोने का विनिमय छोड़कर उसने पाउण्ड के लिए जो सहूलियत हासिल करली थी वह जाती रही। अमेरिका के सोने का विनिमय छोड़ने से फ़्रांस को भी बहुत बुरा लगा, क्योंकि उस वक़्त फ़्रांस ही एकमात्र ऐसा बड़ा देश था जो सोने के विनिमय पर क़ायम था। उसके लिए भी अब उसपर क़ायम रहना मुश्किल होगया। अगर अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे दूसरे बड़े-बड़े देश अपना-अपना सोना छाती-तले दबाकर बैठ जायें और उसे बाहर न निकलने दें तो जिन लोगों के पास फ़्रांस के नोट थे वे उसके बदले में सोना माँगते तो उन सबको फ़्रांस कहाँ-तक सोना दिये चला जाता?

सब पश्चिमी देशों में भविष्य के बारे में शंका और अनिश्चितता फैली हुई थी। युद्ध-ऋण का मामला अभीतक तय न होने से वह और भी बढ़ गई थी। प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् से ऐसा लगता था कि कोई रास्ता निकल आयगा—शायद वहाँ कुछ हो सके और आपस की स्पर्धा और गला दबाने की वृत्ति रोकने के लिए कोई समझौता होजाय। परिषद् में इकट्ठे होकर असफल होना जोखम की बात थी। क्योंकि फिर तो सहयोग की अन्तिम आशा के नष्ट होने की भी सम्भावना थी। एक मशहूर अमेरिकन अर्थशास्त्री ने कहा था कि यह परिषद् सफल न हुई तो सारी पूंजीवादी इमारत चूर-चूर हो जायगी। एक ब्रिटिश मन्त्री ने कुछ इस तरह की बात कही थी कि परिषद् कामयाब न हुई तो निराशा, प्रतिक्रिया और विद्रोह होगा। जोखम तो बड़ी थी, क्योंकि कोई सम्मिलित योजना दिखाई नहीं देती थी। लेकिन जोखम उठाने के सिवाय कोई चारा भी न था। रैमसे मैकडॉनल्ड ने कहा, "यह हालत नहीं रहने दी जा सकती। कोई-न-कोई रास्ता निकालना ही पड़ेगा।"

यह भी बात नहीं थी कि यह अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् अपने ढंग की पहली ही परिषद् हो। महायुद्ध के बाद न जाने कितनी परिषदें हो चुकी हैं। असल में यह परिषदों का ही युग है। लड़ाई के बाद २७ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषदें हो चुकी थीं। यह २८वीं परिषद् होनेवाली थी। घटना-चक्र और आधुनिक उद्योग के विकास से मजबूर होकर संसार को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ढूंढना पड़ता है। इसके लिए बार-बार कोशिश की जाती है, लेकिन वह कामयाब नहीं होती, क्योंकि पूंजीवादी समाज का पैतृक संस्कार ही साफ़ तौर पर ऐसा है कि उसमें ऐसे सहयोग की गुंजायश नहीं रहती। परिषदें प्रस्ताव बड़े अच्छे-अच्छे कर देती हैं, मगर बाद में उनपर अमल कुछ भी नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नाकामयाबी की सबसे बड़ी मिसाल राष्ट्र-संघ से मिलती है।

१६ जून १९३३ को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् बड़ी शान-शौक़त के साथ लन्दन में शुरू हुई। ६६ देशों के प्रतिनिधि शामिल हुए। ज़ोरदार भाषण दिये गये।

संयुक्तराष्ट्र के प्रतिनिधि ने घबराई हुई दुनिया की बात कही और बताया कि राष्ट्रों के लिए "आर्थिक एकान्तवास की नीति इख़्तियार करना बेवकूफ़ी और सबका संन्यासियों की तरह अलग-अलग जिन्दगी बसर करना फ़िजूल है।" ज्यों ही लच्छेदार भाषण ख़त्म हुए, कठिनाइयाँ सामने आने लगीं। अमेरिका ने युद्ध-ऋण के सवाल पर परिषद् में चर्चा करने से इन्कार कर दिया। यह मामला ख़ानगी चर्चा का था। परिषद् पर पहला प्रहार तो यह हुआ। फिर सोने से अलग हुए सिक्कों यानी पाउण्ड और डालर का भाव मुक़र्रर करने के सवाल पर अपनी-अपनी स्थिति अच्छी बनाने के लिए अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच में चालबाजियां शुरू हुईं। फ़्रांस और सोने के विनिमय वाले बाक़ी के देश खींच-तान करके अपना काम चला रहे थे, क्योंकि पाउण्ड और डालर सोने के विनिमय से अलग थे और वे चाहते थे कि इन दोनों सिक्कों का भाव स्थिर होजाय। लेकिन अमेरिका और इंग्लैण्ड तत्काल अपने-आपको किसी तरह बाँधना नहीं चाहते थे और एक-दूसरे के पैंतरे ध्यान से देख रहे थे। इन सब कारणों से परिषद् का कबाड़ा बैठ गया। सहयोग का प्रयत्न विफल होगया। अब हर देश अलग-अलग दूसरों का ख़याल किये बिना, संन्यासी की तरह रहकर और सम्भवतः स्वावलम्बी अर्थनीति बनाकर, संकट का सामना करने की कोशिश करेगा। पूंजीवाद के कुछ नेताओं नें ही यह भविष्यवाणी की है। मगर सिर्फ़ परिषद् के असफल हो जाने से ही न तो पूँजीवाद की इमारत एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी और न क्रान्ति फैल जायगी। लेकिन इसमें कोई शुबहा नहीं कि इस नाकामयाबी ने पूँजीवाद की पीठ पर एक और लात जमाई है और अब उसका आगे का रास्ता ख़न्दक की तरफ़ जारहा है।

जर्मन सरकार ने पहले ही सार्वजनिक रूप में कह दिया कि उसकी स्थिति सरकारी या ख़ानगी किसी भी तरह का ऋण चुकाने की नहीं है। उसने लम्बी मियाद माँगी है; लेकिन वह शायद ही भुगतान कर सके। उस तरह जर्मनी की इस कार्रवाई का मतलब न देने के ही बराबर है। इससे उसके साहूकारों की विकट स्थिति होगई है, क्योंकि कभी-कभी क़र्ज़दारों का दिवाला निकलने से कर्ज़ देनेवालों पर भी आफ़त आजाती है। १९३१ में जर्मनी में उथल-पुथल होने से ही तो इंग्लैण्ड को सोने का विनिमय छोड़ना और पाउण्ड को गिरना पड़ा था।

ब्रिटिश नीति साफ़ तौर पर आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति बन चुकी थी। ब्रिटिश अर्थ-मन्त्री कहता है—"हमें अपने देश और साम्राज्य के हितों का ख़याल रखकर स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण करते रहना चाहिए।" उसने पाउण्ड के नोट को सोने या डालर के साथ मिलाने से इन्कार कर दिया। अमेरिका के लिए फिर भी कुछ मुमकिन है, लेकिन इंग्लैण्ड के लिए स्वावलम्बी होना मुमकिन नहीं है। इंग्लैण्ड अपने लिए काफ़ी खाद्य-

सामग्री पैदा नहीं करता और उसके कारखानों के लिए कच्चा माल बाहर से आता है। इसी कारण वह मुक्त-व्यापार पर क़ायम रहा और उसने अपने यहाँ बाहर का माल विना चुंगी लगाये या बहुत थोडी चुंगी लगाकर आने दिया था। संसार के व्यापार और उसके अपने व्यापार में रस्साकशी होने और साधारण तौर पर मौजूदा संकट के कारण उसे मजबूरन मुक्त-व्यापार की नीति छोड़कर विदेशी माल पर चुंगी लगानी पडी। यह सरकारी आमदनी बढ़ाने और कम-से-कम ब्रिटिश माल के लिए घर के बाजार की रक्षा करने के लिए किया गया है। इससे भी ज्यादा बडी कोशिश की गई है पाउण्ड के नोटों के भाव के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य को एक ही आर्थिक इकाई बना देने का। साम्राज्य काफ़ी बड़ा है। उसमें तरह-तरह के देश शामिल हैं और वे इंग्लैण्ड के लिए काफ़ी ख़ूराक और दूसरी सामग्री पैदा करते हैं। इसलिए सिद्धान्त-रूप से तो साम्राज्य को स्वावलम्बी बनाना मुमकिन था ही। इतना बड़ा प्रदेश, जिसमें पाउण्ड के नोटों का विनिमय और सब तरफ़ से सुरक्षित बाजार हो, इंग्लैण्ड के लिए बडी सहूलियत की बात है। डालर या फ़्रांक के बारे में पाउण्ड का भाव बढ़ और घट सकता है, लेकिन इससे उस प्रदेश में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता जहाँ पाउण्ड रुपये जैसे स्थानीय सिक्के के साथ बँधा हो।

इस ख़याल को ध्यान में रखकर ओटावा (कनाडा) में ब्रिटिश साम्राज्य की एक परिषद् की गई। इस परिषद् में जल्दी ही यह बात सामने आगई कि साम्राज्य के देशों को बाक़ी के संसार से अलग करके एक इकाई बना देना इतनी आसान बात नहीं है। रुपये के या और किसी मामले में हिन्दुस्तान को दबाकर उससे कुछ भी करा लेना इंग्लैण्ड के लिए बहुत आसान था; लेकिन कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ़्रीका केवल 'मातृदेश' के फ़ायदे के लिए कुछ भी त्याग करनेवाले नहीं थे। दक्षिण अफ़्रीका तो बाद में भी कुछ समय तक सोने के विनिमय पर क़ायम रहा (वह सोना पैदा करने वाला देश है) और पाउण्ड के नोट के विनिमय में शामिल नहीं हुआ। ओटावा में भाव-ताव और लेन-देन की बातें ख़ूब हुई और अगर इंग्लैण्ड उपनिवेशों की माँगें मंजूर न कर लेता तो परिषद् के भंग होने की नौबत आ पहुँची थी। अपने उद्योगों को थोडी हानि पहुँचाकर भी उसे ऐसा करना पड़ा। उसे राज-नैतिक और साम्राज्य संबन्धी कारणों से प्रभावित होना पड़ा, क्योंकि परिषद् को भंग करने से जो हानि होती उसे वह बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उससे साम्राज्य को बडे जोर का आघात पहुँचता। इसलिए जहाँतक मुमकिन हो साम्राज्य के माल को तरजीह देने और विदेशी सामान न आने देने की बात तय पाई। जबसे यह सवाल छिड़ा है तभीसे ब्रिटिश माल को तरजीह देने यानी उसपर कम चुंगी लगाने या

चुंगी न लगाने के विरोध में हिन्दुस्तान में तीव्र भावना रही है। इसका एक कारण राजनैतिक भी हो सकता है, लेकिन साथ ही यह भावना भी है कि दूसरे विदेशी राष्ट्रों के साथ व्यापार बन्द करके सिर्फ़ ब्रिटिश व्यापार के भरोसे रहना हमारे लिए हानिकर है। फिर भी दिल्ली की मौजूदा व्यवस्थापिका सभा ने, जो भारतीय जनता की प्रतिनिधि नहीं है, ओटावा के समझौते का समर्थन कर दिया। इसका एक नतीजा यह हुआ कि भारतवर्ष में आनेवाले दूसरे विदेशी माल के मुक़ाबिले में ब्रिटिश माल के भाव घट गये, क्योंकि दूसरे देशों के माल पर बन्दरगाहों पर अधिक कर ले लिया जाता है। इस सुविधा का फ़ायदा सरकार और ब्रिटिश-उद्योग ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार के भारतीय आन्दोलन को दबाने में उठाया।

एक वर्ष के अनुभव ने बता दिया है कि ओटावा-नीति सफल नहीं हुई और उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच में और ख़ास तौर पर कनाडा के साथ बड़ा संघर्ष है, क्योंकि कनाडा बढ़ते हुए उद्योगवाला देश है और संयुक्तराष्ट्र के साथ उसके गहरे ताल्लुक़ात हैं। ब्रिटिश उद्योग की कुछ शाखाओं की कुछ हानि भी हुई ही है और चारों तरफ़ चुंगी की दीवार खड़ी हो जाने से चीज़ों के भाव बढ़ गये हैं और निर्वाह का ख़र्च अधिक होगया है। इस तरह ओटावा-नीति बहुत सफल नहीं हुई। हाँ; उससे कुछ उद्योगों का भार अस्थायी रूप से हलका होगया, लेकिन ब्रिटिश राज्य की परेशानी बढ़ाने के लिए जापान ने साम्राज्य की मण्डियों पर ज़ोर से धावा कर दिया है। उसने हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ़रीक़ा और इंग्लैण्ड तक को नहीं छोड़ा है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि किस तरह जापान ने मंचूरिया और चीन में ज़बरदस्ती की और जान-बूझकर राष्ट्र-संघ की अवज्ञा की। जापान ऐसा कर सका, इसका बड़ा कारण यह था कि उसे गुप्त रूप से इंग्लैण्ड की सहायता मिल गई। अप्रत्यक्ष रूप से जापान को इंग्लैण्ड और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा से भी मदद मिली। अमेरिका ने जापान की ज़बरदस्ती के ख़िलाफ़ कड़ा रुख़ दिखाया था। मगर इंग्लैण्ड की दुतर्फ़ा नीति देखकर उसे भी नरम पड़ जाना पड़ा। जापान पर इससे भी बड़ी विपत्ति अपने घरेलू आर्थिक झगड़ों और पूँजी-सम्बन्धी संकट के कारण आई। जापान के सिक्के येन का भाव तेज़ी से गिरा और जापानी माल सस्ता हो गया। इसका फ़ायदा उठा कर विदेशी मण्डियों को विदेशी माल से भर दिया गया। यह माल इतना सस्ता था कि चुंगी की दीवारें भी न रोक सकीं। इस सस्तेपन के कारण ही जापानी माल के चीनी बहिष्कार-आन्दोलन की कमर टूटी। पूर्व की सारी मण्डियों और दक्षिण अफ़रीका और आस्ट्रेलिया में भी जापानी माल की भरमार होगई। इंग्लैण्ड में जाकर कुर्ता एक शिलिंग में और मोज़े दो पेंस में बिकने लगे। जर्मनी को भी बड़ा धक्का लगा। ऐसे भावों से स्पर्धा करना बिलकुल नामुमकिन

था। ब्रिटिश कारख़ानेदारों ने इस जापानी स्पर्धा को 'आर्थिक ख़तरा' बताया। हिन्दुस्तान में इसके ख़िलाफ़ बड़ा शोर-गुल मचा और जापानी माल पर नये और भारी कर लगा दिये गये। बदले में जापान जो हिन्दुस्तानी रुई ख़रीदता था वह उसने ख़रीदना बन्द कर दिया। इससे रुई पैदा करनेवाले हिन्दुस्तान के किसानों की हानि होगई।

जापानियों ने इस भयंकर रूप में भाव घटाने की क्या युक्ति की? प्रथम तो येन का भाव गिर गया। दूसरे वहाँ के कारख़ानों में काम करनेवाली मजदूर लड़कियों को मजदूरी बहुत कम दी जाती है। तीसरे जापानी सरकार उद्योगों को मदद देती है। और चौथे जापान की जहाज़ी कम्पनियाँ थोड़ा भाड़ा लेकर मदद करती हैं। लेकिन यह भी मानना होगा कि जापानियों ने व्यवसाय और उद्योग में अपनी योग्यता का भी परिचय दिया है और वे सस्ती ही नहीं अच्छी चीज़ें भी बना रहे हैं। यह बहुत लोगों को मालूम नहीं है कि पुराने ब्रिटिश कारख़ाने अब बहुत पिछड़ गये हैं और उनकी मशीनें भी नई नहीं हैं। अलबत्ता नक़ली रेशम और मोटर के नये उद्योग योग्यतापूर्वक चलाये जा रहे हैं। भारतीय उद्योगों की व्यवस्था आमतौर पर अच्छी नहीं होती।

जैसे-जैसे यह भयंकर जापानी लाग-डाँट बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे दूसरे देश और विशेषतः ब्रिटिश साम्राज्य के देश अपनी मण्डियों का दरवाजा उसके लिए बन्द करते जा रहे हैं। अगर जापानी माल का इस तरह बहिष्कार किया जायगा तो जापान क्या करेगा? उसके महान् उद्योग नष्ट हो जायगे और सारी आर्थिक व्यवस्था चौपट हो जायगी। यह बात दूसरी है कि उसे चीन के भीतरी हिस्से में उतना ही बड़ा बाज़ार मिल जाय। लेकिन इसकी सम्भावना बहुत कम है। बस इसी तरह की नाशकारी स्पर्धा पूंजीवादी प्रणाली में चलती रहती है। कि इससे झगडे खडे होते हैं। आर्थिक प्रतिशोध की कार्रवाइयाँ होती हैं और अख़ीर में युद्ध तक छिड़ जाता है। (आर्थिक प्रतिशोध की कार्रवाइयाँ तो हम हिन्दुस्तान में भी देख रहे हैं।)

इसी तरह अगर ब्रिटेन के घरू बाज़ार का दरवाज़ा योरप के दूसरे मुल्कों के लिए बन्द कर दिया जाय तो उससे भी इनमें से कई देश बरबाद ही होजायँगे। इसतरह हम देखते हैं कि हर देश अपने ही भले के लिए जो उपाय कर रहा है उनसे दूसरे देशों को और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचती है और संघर्ष और झगड़ा पैदा होता है।

: १८९ :

स्पेन में क्रान्ति

२९ जुलाई, १९३३

अब मैं तुम्हें व्यापारिक मण्डी और कथित संकट की लम्बी कहानी से दूर ले चलूंगा। यह संकट जैसा होना चाहिए, वैसा इधर या उधर फैसला कर देनेवाला नहीं साबित हुआ। यह तो जमकर बैठ गया और क़रीब-क़रीब हमारा साथी बन गया। इससे तुम्हें हटाकर मैं पिछले दो वर्ष की दो प्रमुख घटनाओं का हाल कहूंगा। ये दो घटनायें हैं स्पेन की क्रान्ति और जर्मनी की प्रति-क्रान्ति।

योरप का दक्षिण-पश्चिम का कोना स्पेन और पुर्तगाल से मिलकर बनता है। योरप के पुराने इतिहास में इन्होंने महत्वपूर्ण भाग लिया है। इन ख़तों के दौरान में इसकी कुछ झलक हम देख चुके हैं। अरबों का लम्बा और तेजस्वी जमाना और कॉर्डोवा और ग्रेनाडा के गौरव; साहसी नाविकों की प्रसिद्ध जल-यात्रायें; पोप द्वारा इन दोनों में संसार का बँटवारा और अमेरिका और ईस्ट-इण्डीज द्वीपों में साम्राज्यों की स्थापना; इस विस्तृत साम्राज्य के बन्दरगाहों और पूर्व के व्यापार से बहकर आनेवाली दौलत; कुछ अर्से के लिए योरप में उनकी प्रभुता और स्पेन के ख़िलाफ़ नेदरलैण्ड्स की आजादी की लड़ाई; और फिर सम्राज्य का पतन और नाश—इन सबका थोड़ा-थोड़ा हाल हम देख चुके। इस दक्षिण-पश्चिम के कोनें पर पश्चिमी योरप के उद्योगवाद का बहुत ही कम असर हुआ और वह दरिद्र और पिछड़ा हुआ रहा। पादरियों का प्रभाव ख़ूब रहा। स्पेन और पुर्तगाल दोनों का शासन कमोवेश निरंकुश राजाओं के हाथ में था और व्यवस्थापिका सभायें बहुत कमजोर थीं। स्पेन की व्यवस्थापिका सभा 'कोर्टे' कहलाती है। १८७० के आसपास थोडे समय तक स्पेन में प्रजातन्त्र रहा था। लेकिन वह कामयाब नहीं हुआ और राजा किसी-न-किसी तरह फिर वापस आगया। १८९८ में क्यूबा के मामले में स्पेन की अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र से लड़ाई हुई, उसमें वह अपना आख़िरी उपनिवेश भी खो बैठा। क्यूबा आजाद होगया और फिलिपियन लोगों की जबरदस्त मुख़ालफ़त होते हुए भी अमेरिका ने फिलीपाइन टापुओं पर क़ब्जा कर लिया। जहाँतक मुझे याद पड़ता है, सिर्फ़ मोरक्को में स्पेन के प्रभाव में एक प्रदेश है। और कोई उसका उपनिवेश नहीं है।

पुर्तगाल ने किसी-न-किसी तरह न सिर्फ़ गोवा-जैसे हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे टुकड़े ही बल्कि अफ़रीका के ये बडे-बडे उपनिवेश भी अभीतक अपने क़ब्ज़े में कर रक्खे हैं। १९१० में राजा को गद्दी से उतारकर वहाँ प्रजातंत्र क़ायम हुआ। उस वक़्त से

वहाँ कई विद्रोह हुए। राजा के दल वाले राजा को वापस लाने की कोशिश करते रहे और उग्र दल के समाजवादी और दूसरे लोग सर्वेसर्वा शासकों और प्रतिगामी सरकारों से पिण्ड छुड़ाने का प्रयत्न करते रहे। मगर प्रजातन्त्र किसी-न-किसी रूप में अबतक चला आरहा है। उसपर आम तौर पर सैनिक दल का क़ाबू रहा है। महायुद्ध में पुर्तगाल ने इंग्लैण्ड, फ़्रांस और उसके साथियों की तरफ़दारी की थी और उसमें से वह बड़ा भारी क़र्ज़ा मोल लेकर निकला था। नतीजा यह हुआ कि उसका दिवाला निकल गया। १९२६ से इस देश का कर्ता-धर्ता और सैनिक शासक जनरल कार्मोना है। वहाँ विद्रोह होने की ख़बरें बहुत बार उड़ती हैं। जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, वैसा ही समाचार फिर निकला है। इससे यह जाहिर है कि मौजूदा शासन में स्थिरता नहीं है।

मैं पिछले ख़त में लिख चुका हूँ कि स्पेन में भी प्राइमो-द-रिवेरा के हाथ में सारी सैनिक और शासन की सत्ता थी। यह व्यवस्था मोरक्को में अब्दुलकरीम के ख़िलाफ़ जंग में बार-बार हार खाने के बाद क़ायम हुई। आख़िरकार उसके स्थान पर स्पेन का प्रजातंत्र क़ायम हुआ। पुरानें एकतंत्र शासन की इमारत पूरी तरह जर्जर हो-चुकी थी और रूस की ज़ारशाही की तरह वह भी दुश्मन से लोहा लिये बिना ही चूर-चूर होगई। यहाँ का राजा बूर्बन और हैप्सबर्ग दोनों राजवंशों की सन्तान था। जब अप्रैल १९३१ में म्युनिसिपल चुनाव में प्रजातन्त्रवादियों की ज़बरदस्त जीत हुई तो इतने ही से डरकर राजा भाग गया। इस क्रान्ति की तारीख़ १४ अप्रैल १९३१ थी। उसी दिन वहाँ अस्थायी सरकार क़ायम होगई।

स्पेन की यह क्रान्ति मार्च १९१७ वाली रूस की पहली क्रान्ति से बहुत मिलती-जुलती है। दोनों ही जगह क्रान्ति सामन्तशाही का सफ़ाया करने के लिए देर से होने-वाली कोशिश थी और उसके लिए ख़ास ज़ोर दुःखी और असन्तुष्ट किसानों ने लगाया था। क्रान्ति के बाद भी स्पेन की हालत वैसी ही हुई जैसी १९१७ के मार्च और नवम्बर की दोनों क्रान्तियों के बीच में रूस की हुई थी। स्थिरता के कहीं दर्शन नहीं होते और अलग-अलग वर्ग अपनी खिचडी अलग-अलग पकाते रहे। क्रान्ति के विरोध में विद्रोह हुए और दबा दिये गये। यह हाल उग्र दल के विद्रोहों का हुआ है। स्पेन का अन्त क्या होगा, यह कहना मुश्किल है। मगर रूस की समानता से यह विचार जरूर होता है कि शायद यहाँ भी दूसरी क्रान्ति होगी और शासन-सूत्र मजदूरों और किसानों के हाथ में आजायगा। मुमकिन है कुछ वर्ष तक यह न भी हो। रूस में जो घटना-चक्र इतनी तेजी से चला उसका कारण यह था कि उस वक़्त महायुद्ध जारी था और उससे बहुत बरबादी और कष्ट हुआ था। स्पेन में रूस से भी अधिक बलशाली

मध्यमवर्ग है और अबतक इस वर्ग ने नागरिक प्रजातंत्र को क़ायम रक्खा है। स्पेन के मध्यमवर्ग के लोकशाही शासन के इतने अधिक दिन तक जीवित रहने का तीसरा कारण यह है कि इसने कृषि-सुधार की समस्या को जरा उत्साह के साथ हाथ में लिया है और इस तरह किसानों को थोड़ा आराम पहुँचाया है। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी आज स्पेन में मौलिक अस्थिरता दिखाई देती है। दमन खूब है—और चाहे स्पेन को लेलो, चाहे भारत या और किसी देश को लो, बड़े पैमाने पर होनेंवाला दमन सदा इस बात का चिन्ह होता है कि शासन-यंत्र में डर घुस गया है और उसे अपनी स्थिरता का भरोसा नहीं रहा है।

स्पेन की मौजूदा सरकार उग्र दल की उदार लोकसत्ता बताई जाती है और उसपर समाजवाद की हलकी-सी छाप है। प्रधानमंत्री मेनेल अजाना सरकार और देश का सबसे ताक़तवर आदमी समझा जाता है। राष्ट्रपति अलकला जमोरा है। अजाना खुद समाजवादी नहीं है, मगर स्पेनिश पार्लमेण्ट यानी 'कोर्ट' में समाजवादी दल उसका साथ देता है। यह दल सबसे सबल और सुसंगठित है। इस दल की पीठ पर मजदूर-सभायें हैं और समाजवाद में मार्क्स का अनुयायी होनें पर भी यह दल साम्यवाद का विरोधी है। साम्यवादी दल स्पेन में कमजोर है, परन्तु अराजकतावादियों का दल शक्तिशाली है। ये लोग 'अराजक संघवादी' (Anarcho-Syndicalists) कहलाते हैं।

मैंने तुम्हें किसी पिछले ख़त में बताया था कि किस तरह उद्योगवाद में पिछड़े हुए दक्षिणी योरप के देशों में अराजकतावाद की वृद्धि हुई। इसके साथ बम फेंकने वग़ैरा के कामों को न मिला देना। इंग्लैण्ड और जर्मनी में मजदूर-आन्दोलन का निर्माण श्रमजीवी-संघ के ठोस ढंग पर हुआ था और इटली और स्पेन में अराजकता-वाद के विचार अधिक फैले थे। कार्ल मार्क्स और बकूनिन का पुराना झगड़ा इसी विषय पर हुआ था और बकूनिन को अधिकांश अनुयायी दक्षिण से मिले थे। इसी विषय को लेकर मार्क्स ने बकूनिन को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ में से निकलवा दिया था। परन्तु अराजकतावाद और किसी देश से स्पेन में अधिक रहा। पूर्वी समुद्र-तट पर बार्सिलोना में इसका ज्यादा जोर है। जनवरी १९३३ में अराजकतावादियों का एक बड़ा विद्रोह हुआ; मगर वह दबा दिया गया।

यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि ये अराजक-संघवादी लोग क्या चाहते हैं। कम-से-कम मैं तो उन्हें या उनकी नीति को समझ नहीं पाया। मुझे वह निरर्थक मालूम होती है। उनके सिवा स्पेन में दो तरह के विचारों के लोग और हैं। इनमें से एक के हाथ में इस वक़्त सत्ता है। यह उदार लोकसत्ता की मंज़िल पार करके धीरे-धीरे समाजवाद तक पहुँचना चाहता है। दूसरा दल पूरे समाजवाद या समूहवाद

(Collectivism) की तरफ़ सीधा ही बढ़ना चाहता है और नये सिरे से काम शुरू करना चाहता है।

स्पेन के नये विधान में कुछ दिलचस्प बातें हैं। व्यवस्थापिका सभा यानी 'कोर्ट' एक ही है और सभी बालिग़ स्त्री-पुरुषों को राय देने का हक़ हासिल है। ख़ास बात यह है कि राष्ट्र-संघ की मंजूरी के बिना राष्ट्रपति को लड़ाई का ऐलान करने की मनाई है। जितने अन्तर्राष्ट्रीय नियम राष्ट्र-संघ में बनते हैं और स्पेन द्वारा मंजूर कर लिये जाते हैं वे तुरन्त स्पेन का क़ानून बन जाते हैं और अगर कोई निश्चित क़ानून उनके विरुद्ध पहले से होता है तो वह भी रद होजाता है।

शुरू-शुरू में जो क़ानून बने उनमें यह बात भी थी कि किसी व्यक्ति या कुटुम्ब के अधिकार में २५ एकड़ से ज्यादा आबपाशी की जमीन नहीं रह सकती, और यह भी उसी वक़्त तक रह सकती थी जबतक कि उसमें काश्त होती रहे। कारख़ानों में मजदूर-समितियों को अधिकार दिया गया था कि कुछ बातों में वे कारख़ानों की व्यवस्था पर भी देखरेख रक्खें। ख़ानगी ठेके उठाकर उनपर राज्य का अधिकार कर दिया गया। ३ वर्ष में २८ हजार नई पाठशालायें खोलने का शिक्षा-सम्बन्धी बड़ा कार्यक्रम तय किया गया। मजदूरों के लिए कम-से-कम इतनी मजदूरी मुक़र्रर करदी गई कि वे सुख से रह सकें।

ये और बहुत-से और क़ानून बन तो गये, मगर सबपर अमल नहीं हुआ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि पिछले दो सालों में बहुत कुछ हुआ है। प्रजातन्त्र ने जो दो बड़ी समस्यायें हाथ में लीं वे हैं चर्च की और किसानों की।

स्पेन सदियों से एक ऐसा देश रहा है जहां कैथलिक (सनातनी ईसाई) सम्प्रदाय का जोर है। ईसाई-धर्म में आस्था न रखनेवालों को दण्ड देनेवाले न्यायालय—'इनक्विजिशन'—यहींसे शुरू हुए थे। जेसुइटपंथ का प्रवर्त्तक भी एक स्पेनी ही था। सभी कार्यों में चर्च यानी पादरियों का असर रहता था। सबसे ज्यादा असर शिक्षा-प्रणाली पर था और यह ज्यादातर उन्हींके नियन्त्रण में रहती थी। प्रजातन्त्र ने शिक्षा पर से यह पुराना पंजा हटा दिया। कोर्ट ने गिरजाघरों की ५० करोड़ डालर की सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया और ८० हजार साधुओं और साध्वियों का पाठशालाओं में पढ़ाने का अधिकार छीन लिया। विचार यह है कि १ जनवरी १९३४ तक सारी प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालायें राज्य के हाथ में आजायें।

इस नीति का क़ुदरती नतीजा रोम के पोप के साथ टक्कर होना था। पोप ने राष्ट्रपति को समाज-बहिष्कृत करने की खुली धमकी दी और उसे इतना भय लगा

कि जून १९३३ में उसनें अजाना को प्रधान मंत्री के पद से मौक़ूफ़ कर दिया। परन्तु अजाना की जगह लेने के लिए कोई नहीं था, इसलिए वह प्रधान मंत्री बनकर फिर लौट आया।

दूसरी यानी किसानों की समस्या हल होना अभी बहुत दूर की बात है। सरकार का यह इरादा था कि जिन जमींदारों की जमींदारी छीनी जाय उन्हें मुआवजा देदिया जाय और जितनी बडी जमींदारी हो उतना ही कम मुआवजा दिया जाय। यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे हुई और रूस की तरह दूर-दूर के किसानों ने क़ानून अपने हाथ में लेकर जमींदारियों पर क़ब्जा कर लिया। इससे सरकार को बड़ा धक्का पहुँचा और उसने जल्दी से कानून बना डाले। उसके सौभाग्य से ठीक उसी समय राजा के पक्ष में एक विद्रोह होगया और उसमें बहुत-से बडे-बडे सरदारों, उमरावों और जमींदारों ने हिस्सा लिया। विद्रोह आसानी से दबा दिया गया और जिन लोगों ने विद्रोह में भाग लिया था उनकी जायदादें जब्त करने का सरकार को अच्छा बहाना मिल गया। कुछ और बडी-बडी जायदादें छीन ली गईं, क्योंकि "वे अनियमित ढंग पर पैदा हुई थीं।" फिर ये छीनी हुई जमींदारियाँ किसानों को बाँट दी गईं।

इन सब बातों के बावजूद अब भी बडी-बडी खानगी जायदादें हैं और राज्य का साधारण आर्थिक नियन्त्रण अनुदार लोगों के हाथ में है। अभीतक इस मूल आर्थिक समस्या को सुलझाने की बात सरकार टालती रही है।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम में अच्छी प्रगति हुई है और १९३३ के शुरू तक १० हजार नई पाठशालायें बन चुकी हैं।

सरकार के सामनें एक मुश्किल सवाल केटेलोनिया का था। यह पूर्वी समुद्र-तट का एक प्रान्त है। बार्सिलोना इसकी राजधानी है और अराजकतावाद का यहाँ अड्डा है। मुद्दत से इस प्रान्त ने अलग रहने का आन्दोलन किया है और जब स्पेन में प्रजातन्त्र हुआ तो केटेलोनिया ने अपने अलग प्रजातन्त्र की घोषणा करदी। परन्तु मालूम होता है केटेलोनिया को स्पेन के प्रजातन्त्र के अधीन बहुत कुछ स्वशासन देकर समझौता कर लिया गया है।

इस तरह पुराना और कछुए की चाल चलनेवाला स्पेन दिन-दिन तेजी के साथ बदल रहा है। पादरियों का असर जाता रहा, उमरावों की शक्ति बिलकुल क्षीण होगई और सामन्तशाही विलीन होरही है। खेती-सम्बन्धी सुधारों से किसानों के कष्ट कुछ कम हुए हैं, परन्तु उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है। सवाल यह है कि मध्यम वर्ग का लोकशाही प्राजातन्त्र इस सुधार-कार्यक्रम को जारी रख सकेगा या दूसरी क्रान्ति और होगी और नये सिरे से काम शुरू करना पडेगा?

: १९० :

जर्मनी में नाज़ियों की जीत

३१ जुलाई, १९३३

स्पेन की क्रान्ति पर कुछ लोगों को ताज्जुब हुआ, लेकिन असल में ताज्जुब की कोई बात न थी। यह स्वाभाविक घटना-चक्र की बात थी और ध्यान से देखनेवाले लोग जानते थे कि यह होकर रहेगी। राजा, सामन्त और पादरियों की इस पुरानी इमारत में घुन लग चुका था और कोई बल बाक़ी नहीं रहा था। आज की परिस्थिति से उसका बिलकुल मेल नहीं बैठता था और इस तरह पके फल की तरह हाथ लगते ही वह गिर पड़ी। हिन्दुस्तान में भी अभीतक पुराने जमाने की सामन्तशाही के बहुत-से खण्डहर बाक़ी हैं। उन्हें विदेशी सत्ता का सहारा न मिले तो वे शायद जल्दी ही मिट जावें।

लेकिन जर्मनी में हाल ही में जो परिवर्तन हुए हैं वे बिलकुल दूसरी तरह के हैं; और उन्होंने बेशक योरप को हिला दिया है और बहुत-से लोगों के होश उड़ा दिये हैं। हमारे लिए वे अभी इतने नजदीक़ की चीज हैं कि अभी उनके बारे में तटस्थ रहकर कोई राय नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि रोज नई-नई खबरें आती हैं और उनसे या तो खीझ पैदा होती है या गुस्सा आता है। दूर से देखनेवाले को कुछ ऐसा मालूम होता है कि ज्यादातर जर्मनों का सिर फिर गया है। उनके हैवानी और जंगली व्यवहार का और कोई अर्थ ही नहीं समझ में आता। और यह कोई अर्थ भी नहीं। जर्मनों-जैसे सुसंस्कृत और बड़े ही उन्नत लोगों का इस तरह का बर्ताव देखकर बड़ा आश्चर्य होता है।

हिटलर और उसके नाज़ियों की जर्मनी में जीत होगई है। उनको फ़ैसिस्ट कहा गया है और उनकी जीत प्रतिक्रान्ति की जीत बताई गई है, यानी १९१८ की जर्मन क्रान्ति के बाद जो हुआ उससे उलटी गंगा बह रही है। ये सब बातें बिलकुल सही हैं और हिटलरशाही में फ़ैसिज्म के सारे तत्त्व, भयंकर प्रतिक्रिया और सारे उदार-दलों और ख़ासतौर पर मजदूरों पर जंगली हमलों की प्रवृत्ति मिलेगी। फिर भी इसमें इटली के फ़ैसिज्म से बहुत कुछ बातें अधिक हैं। इसमें कोरी प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि यह कुछ अधिक विशाल और सामूहिक भावना पर आधार रखनेवाला आन्दोलन है। सामूहिक भावना अधिक लोगों यानी श्रमिकों की नहीं है बल्कि उस मध्यमवर्ग की है जो भूखों मर रहा था, जिसके पास कोई अधिकार न रहे थे, और इसलिए जो क्रान्तिकारी बन गया था।

किसी पिछले ख़त में इटली का हाल लिखते हुए मैंने फ़ैसिज्म की चर्चा की थी और बताया था कि यह उस समय क़ायम हुआ, जब आर्थिक संकट के ज़माने में पूंजीवादी राज्य को सामाजिक क्रान्ति का ख़तरा था। मालिक पूंजीवादी वर्ग ने सामूहिक आन्दोलन खड़ा करके अपनी रक्षा का प्रयत्न किया। इसके लिए शुरू में नीचे दर्जे के मध्मवर्ग को साधन बनाया गया और भोले-भाले किसान और मज़दूरों को आकर्षित करने के लिए भ्रम में डालनेवाले पूंजीवाद के विरोधी नारे इस्तेमाल किये गये। जब सत्ता और राज्य का नियंत्रण हाथ में आगया तो सारी लोकसत्तात्मक संस्थाओं का सफ़ाया होने लगा, दुश्मन कुचले जाने लगे और सभी मज़दूर संस्थायें ख़ासतौर पर नष्ट-भ्रष्ट की जाने लगीं। इस तरह उनका शासन प्रधानतः हिंसा की बुनियाद पर खड़ा है। नये शासन में मध्यमवर्ग के समर्थकों को नौकरियाँ देदी गई हैं और आमतौर पर कारख़ानों पर राज्य का कुछ-न-कुछ नियंत्रण क़ायम होगया है।

हम देखते हैं और इसकी संभावना भी की जा रही थी कि जर्मनी में यह सब कुछ हो रहा है, लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि इसके पीछे कितनी ज़बरदस्त प्रेरणा है और कितने ज्यादा लोग हिटलर से जा मिले हैं।

नाज़ी प्रतिक्रिया पाँच महीने पहले यानी मार्च १९३३ में हुई। लेकिन मैं तुम्हें इस आन्दोलन के शुरू के हालात बताने के लिए थोड़ा पीछे ले जाऊँगा।

१९१८ की जर्मन क्रान्ति, सच कहा जाय तो, नक़ली चीज़ थी; वह कोई क्रान्ति नहीं थी। क़ैसर चला गया और प्रजातंत्र की घोषणा होगई। मगर पुरानी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली बनी रही। कुछ वर्ष तक नरम मार्क्सवादियों यानी लोकसत्तात्मक समाजवादियों के हाथ में राज्य का नियंत्रण रहा। उन्हें पुराने प्रतिगामी और स्थायी स्वार्थ वाले लोगों का बड़ा डर था और वे सदा उनसे समझौता करने की कोशिश करते रहते थे। उनकी पीठ पर उनके दल के ज़बरदस्त संगठन का ज़ोर था। लाखों सदस्य और श्रमजीवी-संघ उनके हाथ में थे और बहुत लोगों की सहानुभूति उनके साथ थी। लेकिन प्रतिगामी शक्तियों के सामने उनकी नीति सदा बचाव की रही। आक्रमणकारी रुख़ तो उन्होंने अपने ही उग्र अंग और साम्यवादी-दल के प्रति रक्खा। उन्होंने अपने काम में इस बुरी तरह घोटाला किया कि उनके बहुत-से सहायकों ने उनका साथ छोड़ दिया। मज़दूर उन्हें छोड़कर साम्यवादी-दल में मिल गये और कई लाख सदस्यों के होने से वह दल ख़ूब ताक़तवर बन गया। मध्यमवर्ग के मददगार प्रतिगामी दलों में जा मिले। लोकसत्तात्मक समाजवादियों (Social Democrats) और साम्यवादियों में बराबर आपस में ठनी रहती थी। इससे दोनों की ताक़त कमज़ोर होगई।

जब लड़ाई के बाद के वर्षों में जर्मनी ने धड़ाधड़ नोट छापकर निकाले तो जर्मनी के कारख़ानेदारों और बड़े-बड़े ज़मींदारों नें इस कार्रवाई का समर्थन किया। ज़मींदारों पर भारी क़र्ज़ था और उनकी जायदादें गिरवी रक्खी हुई थीं। सिक्के का उस समय प्रायः कुछ भी मूल्य न था। उनके क़र्ज़ चुक गये और जायदादें फिर उनके क़ब्ज़े में आगईं। बड़े-बड़े कारख़ानेदारों नें अपने यंत्र सुधरवा लिये और बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ बनालीं। जर्मनी का माल इतना सस्ता होगया कि वह हर कहीं आसानी से बिकने लगा और बेकारी ग़ायब होगई। श्रमजीवी-वर्ग का मज़दूर-संघों के रूप में प्रबल संगठन था और मार्क के गिर जानें पर भी उन्होंने अपनी मज़दूरी न घटने दी। सिक्के के गिरजाने से मध्यमवर्ग की कमर टूट गई और वह बिलकुल दरिद्र होगया। १९२३-२४ में यही अपहृत मध्यमवर्ग पहलेपहल हिटलर के साथ शामिल हुआ। जब बैंकों के दिवाले निकलनें और बेकारी के बढ़ने से मन्दी फैली तो और बहुत लोग हिटलर के साथ शामिल होगये। वह असन्तुष्ट लोगों के लिए आश्रय-स्थान बन गया। साथियों के मिलने का दूसरा बड़ा साधन पुरानी सेना का अफ़सर वर्ग था। महासमर के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तों के अनुसार यह फ़ौज तोड़ दी गई थी और हज़ारों अफ़सर बेकार होगये थे। उनके पास कोई काम न था। उस समय अलग-अलग ख़ानगी फ़ौजें बन रही थीं। इन फ़ौजों का नाम 'नाज़ी स्टॉर्म ट्रूप्स' यानी नाज़ी तूफ़ानी दल था। राष्ट्रवादियों की फ़ौलादी टोपियों (Steel-helmets) वाली सेना थी। ये लोग अनुदार दल के थे और क़ैसर के वापस आनें के पक्ष में थे। बेकार अफ़सर इन सेनाओं में भर्ती होगये।

एडोल्फ़ हिटलर कौन था ? आश्चर्य की बात तो है मगर, सच है कि एक दो साल पहले तक वह जर्मन नागरिक तक नहीं बना था। वह जर्मन-आस्ट्रियन था और उसने छोटी हैसियत से युद्ध में काम किया था। उसने जर्मन प्रजातन्त्र के विरुद्ध विद्रोह में भाग लिया था, मगर अधिकारियों ने रिआयत करके उसे छोड़ दिया था। फिर उसने लोकसत्तात्मक समाजवादियों का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय समाजवादियों (Natoinal Socialists) के नाम से अपना दल संगठित किया। नाज़ी शब्द इसी नाम से निकला है। 'नेशनल' (National) से ना (NA) और सोज़ीयलिस्ट (Sozialist) (जर्मन में सोशलिस्ट की जगह यह शब्द इस्तेमाल होता है) से "ज़ी" (Zi) लेलिये गये हैं। यद्यपि इस दल का नाम समाजवादी था, परन्तु समाजवाद से इसका क़तई वास्ता न था। समाजवाद का जो साधारण अर्थ है उसका हिटलर जानी दुश्मन था और है। इस दल नें अपना चिन्ह स्वस्तिक को बनाया। यह शब्द संस्कृत का है, लेकिन यह निशान प्राचीन काल से संसार-भर में प्रसिद्ध है। नाज़ियों ने

'तूफ़ानी दल' (Storm Troops) के नाम से भूरे कुर्ते की वर्दी वाली एक लड़ाकू सेना भी संगठित की। इसीलिए जैसे इटली के फ़ैसिस्टों को काली कुर्तीवाले कहते हैं, वैसे ही नाज़ियों को भी अक्सर भूरी कुर्तीवाले (Brownshirts) के नाम से पुकारते हैं।

नाज़ियों का कार्यक्रम न स्पष्ट था और न रचनात्मक। वह तीव्र राष्ट्रीयतावादी था और जर्मनी और जर्मनों की महानता पर ज़ोर देता था। बाक़ी बातों में तो वह भिन्न-भिन्न विरोधी भावनाओं की खिचड़ी था। वर्साई के सुलहनामे के ख़िलाफ़ तो वह था ही। उसे हर जर्मनी अपमानजनक समझता था। इसलिए बहुत लोग नाज़ियों की ओर आकर्षित हुए। यह कार्यक्रम मार्क्सवादियों, साम्यवादियों और समाजवादियों सबके ख़िलाफ़ था और मज़दूर-संघों वग़ैरा का विरोधी था। यहूदियों से उसे ख़ास चिढ़ थी, क्योंकि यहूदियों को विदेशी जाति समझा जाता था और कहा जाता था कि वे जर्मनी की पवित्र आर्य नस्ल को बिगाड़ते हैं और उसके ऊँचे रहन-सहन को नीचा करते हैं। अस्पष्ट रूप से वह पूंजीवाद का विरोधी भी था, लेकिन बस इतना-सा ही कि मुनाफ़ा खानेवालों और धनवानों को गालियां देदी जायें। इन लोगों के दिमाग़ में अगर कोई समाजवाद की, और वह भी धुंधली-सी, कल्पना थी तो यह थी कि सार्वजनिक सम्पत्ति पर राज्य का थोड़ा-बहुत नियन्त्रण होना चाहिए।

इन सब बातों के पीछे हिंसा की एक असाधारण विचार-धारा थी। हिंसा की प्रशंसा तो होती ही थी और उसे प्रोत्साहन भी दिया जाता था। हिंसा करना मनुष्य का सर्वोच्च कर्तव्य भी समझा जाता था। जर्मनी का एक मशहूर दार्शनिक, ऑस्वाल्ड स्पेंग्लर इस तत्त्वज्ञान का भाष्यकार है। वह कहता है—"मनुष्य शिकारी जानवर है, वीर, चालाक और निर्दय है" ......"आदर्श कायरता के चिन्ह हैं"... "प्रगतिमान जीवों का शिकारी पशु ही सबसे ऊँचा स्वरूप है।" वह कहता है कि "सहानुभूति, राज़ीनामा, और शांति ये दन्तहीन भावनायें हैं और घृणा ही शिकारी पशुओं की सबसे सच्ची जातीय भावना है।" मनुष्य को सदा सिंह के समान होना चाहिए जो अपनी गुफा में किसी बराबरीवाले का रहना कभी सहन न करे। उसे गाय की तरह दब्बू बनकर न रहना चाहिए, जो झुंड बनाकर रहती है और इधर से उधर हांकी जाती है। अवश्य ही इस प्रकार के मनुष्य के लिए युद्ध सबसे बड़ा और सुख देनेवाला काम होगा।

ऑस्वाल्ड स्पेंग्लर आज के बड़े-से-बड़े विद्वानों में एक है। उसने जो पुस्तकें लिखी हैं उनमें भरे हुए असाधारण पाण्डित्य को देखकर आश्चर्य होता है। और इस सारी विद्वत्ता से उसने ये विस्मयकारी और घृणापूर्ण परिणाम निकाले हैं! उसके उद्धरण मैंने इसलिए दिये हैं कि उनसे हमें हिटलरवाद के पीछे काम करनेवाली मनो-

वृत्ति समझ में आती है और पिछले कुछ महीनों में जो निर्दयता और पशुता हुई है उसके कारण स्पष्ट होजाते हैं। हाँ, यह नहीं मान लेना चाहिए कि सारे नाज़ियों के विचार ऐसे ही हैं। परन्तु नेताओं और उग्र अंगों के ख़याल जरूर यही हैं, और लोग इन्हींकी नक़ल करते हैं। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि साधारण नाज़ी विचार ही नहीं करता। उसे अपने दुःख और राष्ट्रीय अपमान ने जगा दिया और जो स्थिति थी उसपर उसे क्रोध आगया। (रूर प्रदेश पर फ़्रेंच अधिकार होने से जर्मनी में बड़ा रोष था)। जो हालात मालूम हुए हैं उनसे ऐसा दीखता है कि हिटलर बड़ा विलक्षण और जोरदार वक्ता है। उसने अपने बेशुमार श्रोताओं की भावनाओं को जगाया और जो कुछ होरहा था उसका सारा दोष मार्क्सवादियों और यहूदियों के सिर मढ़ दिया। जर्मनी के साथ फ़्रांस या अन्य विदेशों ने बुरा वर्ताव किया तो यही लोगों के लिए नाज़ियों में मिल जानें का एक कारण बन गया; क्योंकि जर्मनी की सम्मान-रक्षा नाज़ी ही तो करनेवाले थे। आर्थिक संकट और भी विकट हुआ तो नाज़ीदल में और अधिक लोग भर्ती होगये।

लोकसत्तात्मक समाजवादी दल ने थोड़े ही समय में शासन का नियन्त्रण खो दिया और दूसरे दलों की लाग-डाँट के कारण 'कैथलिक सेण्टर' नामक दूसरे दल के हाथ में सत्ता आई। रीस्टैग यानी जर्मन पार्लमेण्ट में कोई एक दल इतना जोरदार नहीं था कि दूसरों की उपेक्षा कर सके। इसलिए वार-वार चुनाव होते थे और दलों में आपस में साज़िश और चालबाज़ियाँ जारी रहती थीं। नाज़ियों की बढ़ती देखकर लोकसत्तात्मक समाजवादी इतनें डर गये कि उन्होंने पूंजीवादियों के केन्द्रीय दल और राष्ट्रपति के पद के लिए बूढ़े सेनापति हिंडनवर्ग के चुनाव का समर्थन किया। नाज़ियों की बढ़ती के बावजूद मजदूरों के दोनों दल यानी लोकसत्तात्मक समाजवादी और साम्यवादी मजबूत थे और दोनों के ही लाखों आदमी अन्त तक सहायक रहे, परन्तु दोनों के लिए समान रूप से विपत्ति सामने होने पर भी उनमें परस्पर सहयोग नहीं होसका। साम्यवादियों को तो यह कटु स्मृति बनी हुई थी कि १९१८ के बाद लोकसत्तात्मक समाजवादियों ने अपनी सत्ता के जमाने में उन्हें किस तरह सताया था और संकट के हर अवसर पर उन्होंने किस तरह प्रतिगामी दलों का साथ दिया था। उधर लोकसत्तात्मक समाजवादी दल ब्रिटिश मजदूर दल की तरह दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ से सम्बद्ध था। उसके पास रुपये की कमी न थी, उसका संगठन खूब व्यापक था, और उसके हाथ में कृपा करने के विपुल साधन थे। वह अपनी सुरक्षित स्थिति और प्रतिष्ठा को ख़तरे में डालनें का कोई काम नहीं करना चाहता था। उसे क़ानून के ख़िलाफ़ या सीधी लड़ाई की कुछ भी कार्रवाई करते हुए बड़ा डर लगता

था। उसने अपनी अधिकतर शक्तियाँ साम्यवादियों के विरोध में ख़र्च कीं। दिल्लगी यह कि ये दोनों दल अपने-अपने ढंग पर मार्क्सवादी थे।

इस तरह जर्मनी बराबरी की फ़ौजों की एक छावनी-सी बन गया। अक्सर दंगे होने लगे और ख़ास तौर पर नाज़ियों द्वारा साम्यवादी मजदूरों की हत्यायें होने लगीं। कभी-कभी मजदूर भी बदला लेते। हिटलर को अपना भानमती का पिटारा क़ायम रखने में विलक्षण सफलता मिली। इसमें मुख़्तलिफ़ क़िस्म के लोग थे जिनकी बहुत थोड़ी बातें एक-दूसरे से मिलती थीं। इसमें एक तरफ़ निम्न श्रेणी के मध्यमवर्ग और बड़े-बड़े कारख़ानेदारों और दूसरी तरफ़ धनी किसानों की अजीब खिचड़ी-सी थी। कारख़ानेदार हिटलर का साथ और उसे रुपया इसलिए देते थे कि वह समाजवाद को कोसता था और बढ़ते हुए मार्क्सवाद और साम्यवाद के विरुद्ध एक ही स्तम्भ दिखाई देता था। ग़रीब मध्यमवर्ग के लोगों, किसानों और मजदूरों को उसके पूंजी-विरोधी नारों से आकर्षण होता था।

१९३३ के मार्च के शुरू की बात है या फ़रवरी की, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं, जब बूढ़े राष्ट्रपति हिंडनबर्ग ने, जिसकी उम्र अब ८६ वर्ष की है, हिटलर को चांसलर बना दिया। यह प्रधानमंत्री की बराबरी का जर्मनी में सबसे ऊँचा ओहदा है। उस वक़्त नाज़ियों और राष्ट्रवादियों में मेल था, मगर बहुत जल्द यह ज़ाहिर होगया कि सम्पूर्ण अधिकार नाज़ियों के हाथ में है और दूसरे किसी की कोई गिनती नहीं है। साधारण चुनाव में नाज़ियों और उनके मित्र राष्ट्रवादियों का रीस्टैग में नाम मात्र का बहुमत होगया। बहुमत न भी होता तो कोई बात न थी, क्योंकि नाज़ी अपने विरोधियों को पार्लमेण्ट में ही पकड़कर जेलख़ाने भेज देते थे। इस तरह सारे साम्यवादी और बहुतसे लोकसत्तात्मक समाजवादी सदस्यों को हटा दिया गया। ठीक इसी समय रीस्टैग की इमारत आग लगकर ख़ाक होगई। नाज़ियों ने कहा कि यह साम्यवादियों का काम है और राज्य की जड़ काटने के लिए साज़िश है। साम्यवादियों ने ज़ोरदार शब्दों में इसका खण्डन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने नाज़ियों के नेताओं पर यह अभियोग लगाया कि उन्होंने साम्यवादियों पर हमला करने का बहाना ढूंढने के लिए आग लगाई है।

इसके बाद जर्मनी-भर में नाज़ियों का आतंक शुरू होगया। पहलेपहल पार्लमेण्ट बन्द करदी गई, हालांकि नाज़ियों का बहुमत था। सारी सत्ता हिटलर और उसके मंत्रिमण्डल को सौंप दी गई। वे जो चाहें सो क़ानून बनावें या करें। इस तरह प्रजातंत्र के 'वेमर' विधान का सफ़ाया करके लोकसत्ता के सारे स्वरूप को खुले तौर पर नष्ट कर दिया गया। जर्मनी में एक प्रकार का संघ-शासन था। इसका भी ख़ात्मा

करके सारी शक्ति बर्लिन में केन्द्रित करदी गई। सब जगह डिक्टेटर-ही-डिक्टेटर रख दिये गये। वे सिर्फ अपनेसे ऊपर वाले डिक्टेटर के प्रति ही ज़िम्मेदार थे। सब डिक्टेटरों का गुरुघण्टाल तो हिटलर था ही।

इधर ये परिवर्तन होरहे थे, उधर नाज़ियों के सैनिक दलों को जर्मनी-भर में छोड़ दिया गया। ये लोग जहाँ जाते वहीं अजीब जंगली और हैवानी ढंग की हिंसा और भय-प्रदर्शन की कार्रवाइयाँ करने लगते। ऐसी बात पहले कभी नहीं हुई थी। इस तरह की मारकाट और ज़ोर-ज़ुल्म पहले भी हुए हैं, 'लाल आतंक' और 'सफ़ेद आतंक' का ज़िक्र इस किताब में पहले किया जा चुका है, लेकिन वे हमेशा उसी वक़्त हुए हैं जब किसी देश या प्रधान दल को गृह-युद्ध में अपने प्राणों के लिए लड़ना पड़ा है। भय-प्रदर्शन भयंकर ख़तरे या निरन्तर भय के कारण हुआ करते हैं। परन्तु नाज़ियों के सामने ऐसा कोई ख़तरा भी नहीं था और भय का कारण भी नहीं था। सरकार उनके हाथ में थी और उनके मुक़ाबिले में कोई सशस्त्र विरोध भी नहीं था। इस तरह भूरी कुर्ती वालों का आतंक क्रोध या डर का परिणाम नहीं था बल्कि जान-बूझकर बैठे-बिठाये, और अविश्वसनीय पशुता के साथ उन सब लोगों को दबा देने की बात थी जो नाज़ियों का साथ नहीं दे रहे थे।

पिछले कुछ महीनों में जर्मनी में जो अत्याचार हुए हैं और अब भी परदे की आड़ में होरहे हैं उनकी सूची या फेहरिस्त लिखने से कोई फ़ायदा न होगा। मारपीट, यातनायें, गोली मार देने, हत्यायें कर डालने वग़ैरा की पाशविक कार्रवाइयाँ बड़े भारी पैमानें पर हुई हैं और स्त्री और पुरुष दोनों उनके शिकार हुए हैं। बहुत बडी तादाद में, जो १३,००० से ६०,००० के बीच में कूती जाती है, लोगों को जेल या नज़रबन्दी में डाल दिया गया है और कहा जाता है कि उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। सबसे ज़ोर का हमला तो साम्यवादियों पर किया गया है, मगर उनसे नरम लोक-सत्तात्मक समाजवादियों का भी कुछ ज्यादा अच्छा हाल नहीं हुआ। यहूदियों की बुरी तरह कमबख़्ती आई है और शान्तिवादियों, उदार दल वालों, मज़दूर-संघ वालों और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों पर भी हमले किये गये हैं। नाज़ी लोग डंके की चोट कहते हैं कि यह तो मार्क्सवाद, और मार्क्सवादियों के ही नहीं, बल्कि 'उग्र' विचार वाले सभी लोगों का नाश करने का युद्ध है। यहूदियों को सारे पदों और धन्धों से भी निकाल बाहर करना है। हज़ारों यहूदी अध्यापक, शिक्षक, संगीतज्ञ, वकील, न्यायाधीश, वैद्य और दाइयाँ बर्ख़ास्त करदी गई हैं। यहूदी दूकानदारों का बहिष्कार कर दिया गया है और यहूदी मज़दूरों को कारख़ानों से निकाल दिया गया है। जो पुस्तकें नाज़ियों को नापसन्द हैं वे ढेर-की-ढेर नष्ट करदी गई हैं और खुले तौर पर उनकी होलियाँ

की गई हैं। जिन अख़बारों ने ज़रा भी मतभेद प्रकट किया या टीका की, उन्हें बेदर्दी के साथ कुचल दिया गया। इस आतंकवाद का कोई समाचार नहीं छापने दिया जाता और कानाफूसी तक की कडी सज़ा दी जाती है।

नाज़ी दल के सिवा और सब संगठन और दल दबा दिये गये हैं। पहली बारी साम्यवादियों की आई, बाद में लोकसत्तात्मक समाजवादी, फिर कैथलिक मध्य दल-वाले और अन्त में नाज़ियों के मित्र राष्ट्रवादी भी कुचल दिये गये। जर्मनी के बल-शाली मज़दूर-संघ, जिनमें पीढ़ियों का परिश्रम, बचत और त्याग लगा था, तोड़ दिये गये और उनके सारे रुपये और सम्पत्ति को ज़ब्त कर लिया गया। सिर्फ़ एक दल और एक संगठन रहने दिया गया; और वह है नाज़ी दल।

नाज़ियों की विचित्र विचार-धारा जबरदस्ती सबके गले के नीचे उतारी जाती है और आतंक इतना छाया हुआ है कि कोई चूं तक नहीं कर सकता। शिक्षा, नाटक, कलाओं और विज्ञान सभी चीज़ों पर नाज़ी-छाप लगाई जा रही है। कप्तान हरमन गोरिंग हिटलर के ख़ास आदमियों में से है। उसका कहना है, "सच्चा जर्मन अपने ख़ून के साथ विचार करता है।" दूसरे नाज़ी नेता का कहना है कि "शुद्ध तर्क और राग-द्वेष-रहित विज्ञान के दिन गुज़र गये।" बच्चों को सिखाया जाता है कि हिटलर दूसरा ईसा है, मगर पहलेवाले से बड़ा है। नाज़ी-सरकार लोगों में और ख़ासकर स्त्रियों में शिक्षा का बहुत विस्तार करने के पक्ष में नहीं है। असल में हिटलरवादियों की राय में स्त्री का स्थान घर और रसोई में है और उसका मुख्य काम राज्य के लिए लड़ने और मरने के लिए बच्चे पैदा करना है। डॉ० जोज़ेफ गोएबेल्स दूसरा बड़ा नाज़ी नेता और 'प्रचार और प्रकाशन' मंत्री है। उसने कहा है कि "स्त्री का स्थान कुटुम्ब में है और उसका उचित कार्य अपने देश और राष्ट्र के लिए बच्चे देना है। स्त्रियों को मुक्त करने में राज्य के लिए ख़तरा है। उन्हें चाहिए कि पुरुषों की बातें पुरुषों के लिए छोड़ दें।" इसी डॉ० गोएबेल्स ने हमें यह भी बता दिया है कि जनता को प्रकाश देने का उसका क्या तरीक़ा है। वह कहता है—"मेरा इरादा यह है कि पियानो बाजे की तरह अख़बारों को भी अपनी अँगुलियों पर नचाऊँ।"

इस सारी बर्बरता, पाशविकता और गरजने और आग उगलने के कार्यक्रम की पीठ पर वंचित मध्यमवर्ग की दरिद्रता और भूख का बल था। यह सचमुच नौकरियों और रोटियों की लड़ाई थी। यहूदी डॉक्टर, वकील, शिक्षक और दाइयों वग़ैरा को निकाल देने का कारण यह था कि 'आर्य-जर्मन' उनकी होड़ नहीं कर सकते थे। उनकी सफलता पर इन्हें ईर्षा थी और उनकी नौकरियाँ ये ख़ुद लेना चाहते थे। यहूदी दुकानों को इसलिए बन्द कर दिया गया, क्योंकि वे सफल प्रतिस्पर्धी थीं। बहुत-सी

ग़ैरयहूदी दुकानों को वन्द करके उनके मालिक गिरफ़्तार कर लिये गये, क्योंकि नाज़ियों को सन्देह था कि ये लोग वेजा तौर पर ऊँचे भाव लगाकर फ़ायदा उठाते हैं। नाज़ियों का पक्ष लेनेवाले किसान पूर्वी एशिया की वडी-वडी ज़मींदारियों पर आँख लगाये बैठे हैं और उन्हें ख़ुद वाँट खाया चाहते हैं। शुरू-शुरू के नाज़ी कार्यक्रम में एक ख़ास मज़ेदार वात यह तजवीज थी कि १२ सौ मार्क सालाना से अधिक वेतन किसी को न दिया जाय। यह ८ हज़ार रुपये वार्षिक या ६६६ रुपये मासिक के वरावर होता है। मालूम नहीं इसपर कहांतक अमल किया गया है, लेकिन यह ज़ाहिर है कि कुछ-न-कुछ होरहा है। आजकल प्रधान मंत्री की तनख़ाह २६ हज़ार मार्क सालाना यानी १ हज़ार रुपया माहवार है। प्रस्ताव यह है कि जिन ख़ानगी कम्पनियों को सरकार से मदद मिलती है उनके संचालकों या मालिकों तक को १८ हज़ार मार्क वार्षिक से अधिक वेतन न दिया जाय। इन लोगों को पहले अक्सर वडी-वडी रक़में दी जाती थीं। इन अंकों की तुलना उन भारी वेतनों से करो जो दरिद्र भारत अपने कर्मचारियों को देता है। कांग्रेस ने कराची में वेतन की सीमा ५ सौ रुपया मासिक वाँधने का प्रस्ताव किया है।

यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि नाज़ी-आन्दोलन के पीछे केवल पाशविकता और आतंक ही है। ये चीज़ें मुख्य तो हैं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अधिकांश मज़दूरों को छोड़कर वाक़ी के ज्यादातर जर्मनों में हिटलर के लिए वड़ा सच्चा उत्साह है। यदि पिछले चुनाव के अंकों को सही मानकर चला जाय तो ५२ फ़ीसदी जनता हिटलर के पक्ष में है। ये ५२ फ़ीसदी लोग शेष ४८ फ़ीसदी या उनके एक भाग पर आतंक जमा रहे हैं। इन ५२ फीसदी लोगों में अव तो शायद और भी शामिल होगये हों। ये सव हिटलर को ख़ूव चाहते हैं। जर्मनी जाकर आये हुए लोग वताते हैं कि वहाँ एक अजीव मानसिक वातावरण पैदा होगया है और ऐसा मालूम होता है जैसे कोई धार्मिक पुनर्जीवन हो गया हो। जर्मन लोग महसूस करने लगे हैं कि वर्साई की संधि से वे वर्षों तक जिस अपमान और दमन के शिकार रहे वह अव जाता रहा और अव वे फिर आज़ादी से साँस ले सकते हैं। लेकिन जर्मनी के दूसरे आधे या लगभग आधे भाग की भावना दूसरी है। नाज़ियों के भयंकर प्रतिशोध के डर से जर्मनी का मज़दूर-वर्ग उनकी आज्ञा या नियंत्रण में है, लेकिन उसके दिल में घृणा और क्रोध की आग जल रही है। सारे मज़दूरों को देखा जाय तो उन्होंने पशुवल और आतंकवाद के सामने घुटने टेक दिये हैं और जिस इमारत को उन्होंने वडे परिश्रम और त्याग से साथ खड़ा किया था उसकी वर्वादी को उन्होंने दुःख और निराशा के साथ अपनी आँखों देखा है। पिछले कुछ महीनों में जर्मनी में जो-जो घटनायें हुई हैं उनमें सवसे आश्चर्य की वात यह

हुई है कि लोकसत्तात्मक समाजवादियों का महान् दल मुक़ाबिले की जरा भी कोशिश किये बिना बिलकुल नेस्तनाबूद होगया। योरप के श्रमजीवीवर्ग का इससे पुराना, इससे बड़ा और इससे अधिक सुसंगठित दल और कोई न था। यह दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ की रीढ़ था। हालाँकि सिर्फ़ नाराजगी जाहिर करने से कुछ भी होना-जाना नहीं था, फिर भी इस दल ने इतना भी न किया। वह सारे अपमान और तिरस्कार को चुपचाप सहता रहा और अख़ीर में ख़ुद भी मिट गया। पग-पग पर लोकसत्तात्मक समाजवादी नेता नाजियों के सामने झुकते गये। उन्हें हर बार यह उम्मीद होती थी कि झुकने और अपमान सहन करने से मुमकिन है कुछ तो बचा रह जायगा। लेकिन उनका झुकना ही उनके लिए बेड़ी होगया और नाजियों ने मजदूरों को बताया कि किस नीचता के साथ विपत्ति के समय उनके नेताओं ने उनका साथ छोड़ दिया। योरप के मजदूर वर्ग की लड़ाई के लम्बे इतिहास में हार अधिक और जीत कम हुई है। लेकिन इस बेहयाई के साथ, जरा भी विरोध किये बिना, मजदूर-पक्ष को धोखा देने और आत्म-समर्पण करने की दूसरी कोई मिसाल नहीं मिलती। साम्यवादी दल ने लोहा लेने की कोशिश की और आम हड़ताल कराई, लेकिन लोकसत्तात्मक समाजवादी नेताओं ने साथ नहीं दिया और हड़ताल टांय-टांय फिस होगई। साम्यवादियों का दल टूट गया है, फिर भी उनका काम गुप्त संगठन के रूप में जारी है। मालूम होता है कि यह संगठन दूर-दूर तक फैला हुआ है। नाजियों के जासूसी विभाग के होते हुए भी साम्यवादियों के गुप्त समाचारपत्र का प्रचार कई लाख समझा जाता है। लोकसत्तात्मक समाजवादियों के जो नेता किसी तरह जर्मनी से निकल भागे हैं उनमें से भी कुछ गुप्त उपायों द्वारा बाहर से थोड़ा बहुत प्रचार-कार्य कर रहे हैं।

भूरी कुर्ती वालों के आतंकवाद से सबसे ज्यादा कष्ट मजदूर-वर्ग को पहुँचा। लेकिन संसार का लोकमत यहूदियों के साथ होनेंवाले व्यवहार से अधिक उत्तेजित हुआ था। योरप को वर्ग-युद्ध का अभ्यास-सा होगया है, और उसमें सहानुभूति अपने-अपने वर्ग के साथ होती है। मगर यहूदियों पर जो हमला हुआ वह जातीय आक्रमण था। वह कुछ ऐसा था जैसा मध्ययुग में हुआ करता था, या हाल के ज़माने में जार-शाही रूस जैसे पिछडे देशों में ग़ैरसरकारी तौर पर हुआ करता था। सारी जाति पर सरकारी अत्याचार होने से योरप और अमेरिका को बड़ा आघात पहुँचा। यह आघात इस बात से और बढ़ गया कि जर्मन यहूदियों में संसार-प्रसिद्ध आदमी, तेजस्वी वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, संगीतशास्त्री और लेखक भी थे। इस सूची में एल्बर्ट आइन्स्टीन जैसे महान् व्यक्ति का नाम भी था। ये लोग जर्मनी को अपना घर समझते थे और सब जगह जर्मन समझे जाते थे। इनको पाकर कोई भी देश अपने को

गौरवशाली समझ सकता था। मगर नाज़ी लोग तो जातीय द्वेष में इतनें पागल और अन्धे होगये थे कि उन्होंने इन्हें भी मार भगाया। इसपर दुनिया-भर में विरोध की जबरदस्त आवाज़ उठी। इसके बाद नाज़ियों ने यहूदी दुकानदारों और धन्धेवालों का बहिष्कार शुरू किया। विचित्र बात यह थी कि इन यहूदियों को आम तौर पर जर्मनी छोड़कर जानें भी नहीं दिया जाता था। ऐसी नीति का यही नतीजा होसकता था कि ये लोग भूखों मर जायें। दुनिया के शोर मचाने से यहूदियों के ख़िलाफ़ नाज़ियों के खुले तरीक़े तो नरम पड़ गये, मगर नीति वही है।

लेकिन यहूदी लोग यद्यपि संसार-भर में बिखरे हुए हैं और वे किसीको भी अपना राष्ट्र नहीं कह सकते, फिर भी वे इतनें निस्सहाय नहीं हैं कि बदला न ले सकें। व्यवसाय और पूंजी बहुत-कुछ उनके हाथ में है और उन्होंने चुपचाप बिना शोरगुल मचाये जर्मन माल के बहिष्कार का ऐलान कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने न्यूयार्क में मई १९३३ में एक परिषद् करके एक प्रस्ताव किया है, जिसमें निश्चय किया गया है कि "जर्मनी के सारे माल का, सामग्री का और जर्मनी में तैयार हुई, पैदा हुई और सुधारी हुई सब चीज़ों और उनके हिस्सों का बहिष्कार किया जाय। जर्मनी के सब जहाज़ों और माल व मनुष्यों को ले जानेवाले साधनों तथा जर्मनी के स्वास्थ्य और सुखप्रद स्थानों और आरामगाहों का भी बहिष्कार किया जाय। और आम तौर पर ऐसा कोई काम न किया जाय जिससे जर्मनी की मौजूदा व्यवस्था को किसी भी तरह की आर्थिक सहायता पहुँचती है।" इसमें कमी क्या रही? यहूदियों का यह संसारव्यापी और बलशाली बहिष्कार छोटी-मोटी बात नहीं है। इससे जर्मनी की माली हालत, जो पहले से ही अच्छी नहीं थी, और भी ख़राब होरही है।

विदेशों में हिटलरशाही की एक प्रतिक्रिया तो यह हुई। दूसरी प्रतिक्रियायें इस-से भी गहरा असर करनेवाली थीं। नाज़ी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि की निन्दा करते आये हैं और उसपर फिरसे विचार करनें की उनकी माँग रही है। ख़ास तौर पर पूर्वी सीमा के बारे में उनका ज्यादा जोर रहा हैं, क्योंकि वहाँ जो बेहूदा व्यवस्था की गई है उसके अनुसार डॅन्ज़िग तक पोलैण्ड को एक लम्बा टुकड़ा दे दिया गया है और जर्मनी के शरीर के एक अंग का विच्छेद कर दिया गया है। नाज़ियों की दूसरी जोरदार माँग यह रही है कि शस्त्रों के मामले में सब राष्ट्रों को पूरी समानता होनी चाहिए (तुम्हें याद होगा कि संधि की शर्तों के अनुसार जर्मनी बहुत कुछ निःशस्त्र कर दिया गया था)। हिटलर के गरजने और आग उगलने वाले भाषणों से और फिर से शस्त्र धारण करने की धमकियों से योरप पूरी तरह घबरा उठा। फ़्रांस को विशेष चिन्ता हुई, क्योंकि शक्तिशाली जर्मनी से उसीको ज्यादा ख़ौफ़ होसकता था।

कुछ दिन तक ऐसा मालूम होने लगा कि योरप में लड़ाई छिड़ने ही वाली है। नाज़ियों के डर से योरप के राष्ट्रों में अचानक नई गुटबन्दी शुरू हुई। फ़्रांस की सोवियट रूस के साथ घुटने लगी। वर्साई की संधि से पोलैण्ड, ज़ेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया वग़ैरा देश या तो स्वतंत्र हुए थे या इन्हें फ़ायदा पहुँचा था। उस संधि के रद होने की सम्भावना से ये सब देश एक-दूसरे के नज़दीक आगये और साथ ही रूस की तरफ़ खिंचने लगे। आस्ट्रिया में आश्चर्यजनक स्थिति पैदा होगई। वहाँ (पाँच फ़ुट से भी कम ऊँचे) चांसलर डॉलफ़स के हाथ में अधिकार आचुका था, मगर इसका फ़ैसिज्म हिटलर के फ़ैसिज्म से भिन्न था। आस्ट्रिया में नाज़ियों का ज़ोर है, लेकिन डॉलफ़स उनका विरोध करता रहा है। इटली ने हिटलर की विजय का स्वागत किया, मगर उसके सारे हौसले नहीं बढ़ाये। इंग्लैंड अनेक वर्षों से जर्मनी के पक्ष में रहा था, लेकिन अब अकस्मात् उसका प्रबल विरोधी बन गया। अंग्रेज़ लोग उन्हें फिर से 'हूण' कहकर पुकारने लगे। हिटलर का जर्मनी योरप में बिलकुल अकेला पड़ गया। यह ज़ाहिर था कि लड़ाई होती तो फ़्रांस की ज़बरदस्त फ़ौज बेहथियार जर्मनी को कुचल डालती। हिटलर ने अपनी चाल बदल दी और शान्ति की बातें करने लगा। मुसोलिनी उसकी मदद पर पहुँच गया और उसने फ़्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी और इटली के बीच में चतुरंगी समझौते का प्रस्ताव रक्खा।

फ़्राँस को हिचकिचाहट हुई थी, मगर अन्त में जून १९३३ में इस समझौते पर चारों राष्ट्रों के हस्ताक्षर होगये। जहाँतक इस समझौते की भाषा का ताल्लुक़ है वह निर्दोष-सी है, और उसमें इतना ही कहा गया है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में और ख़ास तौर पर वर्साई की संधि पर पुनर्विचार करने के किसी भी प्रस्ताव के बारे में चारों राष्ट्र आपस में मशविरा कर लेंगे। लेकिन यह संधि सोवियट के ख़िलाफ़ गुटबन्दी करने की एक कोशिश समझी जाती है। यह तो साफ़ है कि फ़्रांस ने उसपर बहुत ही बेमन से दस्तख़त किये थे। शायद इस संधि के परिणामस्वरूप और इसके जवाब में पहली जुलाई १९३३ को सोवियट और उसके पड़ोसियों के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने की संधि लन्दन में हुई थी। यह बड़ी दिलचस्पी की बात है कि सोवियट की इस संधि के प्रति फ़्रांस ने बड़ी सहानुभूति और सहमति प्रकट की है।

हिटलर का मूल कार्यक्रम जर्मन पूँजीवाद का कार्यक्रम है। वह अपनेआपको सोवियट रूस से योरप की रक्षा करनेवाला बताता है। उसे मालूम है कि फ़्रांस से तो कुछ मिलना है नहीं, जर्मनी के कहीं और इलाक़ा हाथ लग सकता है तो सोवियट संघ से छीनकर पूर्व में ही लग सकता है। लेकिन इसके पहले जर्मनी का सशस्त्र होना ज़रूरी है और इसलिए वर्साई की संधि में इस आशय का परिवर्तन होने की ज़रूरत है। कम-से-

कम इतना आश्वासन तो मिलना ही चाहिए कि कोई दखल न देगा। हिटलर को इटली की मदद का भरोसा है। उसे शायद यह भी उम्मीद है कि अगर वह इंग्लैण्ड की मदद भी हासिल कर सके तो चतुरंगी सन्धि के अनुसार किसी भी चर्चा में फ़्रांस के विरोध का बल घट जायगा। एक तरफ़ तीन और दूसरी तरफ़ एक तो हो ही जायँगे।

इस तरह हिटलर ब्रिटिश मदद हासिल करने की कोशिश कर रहा है। इसके लिए उसने खुले तौर पर यहाँतक कह दिया है कि अगर हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का प्रभाव कम हो जायगा तो विपत्ति आजायगी। वैसे उसका सोवियट-विरोधी होना ही ब्रिटिश सरकार के लिए एक आकर्षण है, क्योंकि, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कोई चीज इतनी बुरी नहीं लगती जितना सोवियट रूस लगता है। लेकिन नाजियों की कार्रवाइयों से ब्रिटिश जनता को इतनी नफ़रत होगई है कि उसे हिटलरशाही के पक्ष में किसी भी प्रस्ताव का समर्थन करने में कुछ वक़्त लगेगा।

तरह-तरह के ख़तरों से दुनिया के होशहवास पहले से ही उडे हुए थे। नाज़ी जर्मनी ने योरप में तूफ़ान का घर बनकर परेशानियाँ और बढ़ादी हैं। ख़ुद जर्मनी में क्या होगा? नाजी शासन कबतक रहेगा? जर्मनी में नाजियों के प्रति घृणा और विरोध की कमी नहीं है, लेकिन यह भी साफ़ है कि संगठित विरोध बिलकुल कुचल दिया गया है। जर्मनी में कोई दल या संगठन बाक़ी नहीं रहा है और नाजियों का ही बोलबाला है। ख़ुद नाजियों में भी दो दल मालूम होते हैं। एक ओर पूँजीपति और व्यवसायी वर्ग है। यह नाजी दल का दाहिना यानी नरम अंग है। बायें यानी उग्र अंग में दल के साधारण सदस्यों का बहुमत है। इसमें हाल ही में शामिल होनेवाले बहुत-से मजदूर भी हैं। जिन लोगों के कारण हिटलर के आन्दोलन में क्रान्तिकारी भावना आई, उनमें पूँजीवाद के विरुद्ध उग्र परिवर्तन की भावना बहुत थी। इन लोगों ने बाद में बहुत-से समाजवादियों और मार्क्सवादियों को अपनेमें शरीक कर लिया है। नाजी आन्दोलन के दाहिने और बायें अंगों में बहुत कम बातें मिलती-जुलती हैं। हिटलर की बडी सफलता इसी बात में है कि उसने दोनों को साथ रख छोड़ा है और एक को दूसरे से भिड़ाकर अपना काम निकालता रहा है। यह बात तभीतक रह सकती है जबतक सामने शत्रु दिखाई देता है। अब शत्रु तो कुचल दिया गया या उसे हजम कर लिया गया है। अब धीरे-धीरे दायें और बायें अंगों में संघर्ष बढ़ेगा।

कुछ गड़बड़ तो अभी से शुरू होगई है। उग्र दल के नाजियों ने माँग की कि जब पहली क्रान्ति पूरी तरह सफल होचुकी है तो अब पूंजीवाद, जमीन्दारी प्रथा वग़ैरा के खिलाफ़ 'दूसरी क्रान्ति' शुरू होनी चाहिए। परन्तु हिटलर ने इस दूसरी क्रान्ति को बेदर्दी के साथ दबा देने की धमकी दे डाली। इस तरह वह निश्चित रूप में पूँजीवादी

नरम दल के साथ होगया है। उसके बड़े-बड़े साथी लगभग सभी इस समय ऊँचे पदों पर विराजमान हैं। उन्हें सब तरह का आराम है। इसलिए वे परिवर्तन के लिए उत्सुक नहीं हैं। परन्तु उन बेशुमार बेकार लोगों का क्या हाल है, जो कुछ-न-कुछ मिलने की आशा से हिटलर के साथ हुए थे ? कुछ हज़ार लोगों की व्यवस्था की जा सकती है, लाखों की नहीं की जा सकती। यह प्रकट है कि नाज़ियों में बड़ा असन्तोष है और जबतक यह असन्तोष रहेगा तबतक कोई स्थिरता नहीं होसकती। यह नहीं कहा जा सकता कि हिटलर का विरोध होते हुए भी 'दूसरी क्रान्ति' होगी या नहीं। और अगर इस तरह की उथल-पुथल का ख़तरा बना रहा तो यह सम्भावना हमेशा रहेगी कि हिटलर घर के मामलों से लोगों का ध्यान हटाने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय विकट स्थिति पैदा करदे।

हिटलरवाद का वर्णन लम्बा होगया। और इतनी लम्बी चिट्ठी भी मैंने दूसरी नहीं लिखी है। मगर इतना तुम स्वीकार करोगी कि नाज़ियों की यह विजय और उसके परिणाम योरप और संसार के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हुए हैं और उनका दूर-दूर तक असर पहुँच सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह फ़ैसिज्म ही है और हिटलर ख़ुद एक आदर्श फ़ैसिस्ट है। परन्तु इटली के फ़ैसिज्म से नाज़ी आन्दोलन थोड़ा अधिक व्यापक, दूर-दूर तक फैला हुआ और उग्र है। यह देखना है कि ये उग्र अंग कुछ रंग लाते हैं या योंही कुचल दिये जायँगे। कुछ हद तक नाज़ी आन्दोलन की वृद्धि से पुराने मार्क्सवादियों का यह विश्वास रहा है कि सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग श्रमजीवी-वर्ग ही है और जैसे-जैसे हालात बिगड़ते जायँगे वैसे-वैसे निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग के असन्तुष्ट और वंचित अंग भी मज़दूर-वर्ग में अपनेआप आकर मिलते जायँगे और अन्त में मज़दूर-क्रान्ति होजायगी। दरअसल जर्मनी में जो कुछ हुआ वह इससे बिलकुल उलटा है। जब उथल-पुथल हुई उस समय मज़दूर बिलकुल क्रान्तिकारी नहीं थे। उस वक़्त तो निम्न-श्रेणी के वंचित मध्यमवर्ग और दूसरे असन्तुष्ट लोगों का एक नया ही क्रान्तिकारी वर्ग बन गया। यह बात पुराने मार्क्सवाद के अनुसार नहीं हुई। परन्तु दूसरे मार्क्सवादियों का कहना है कि मार्क्सवाद को कोई ऐसा कड़ा नियम, धर्म या संप्रदाय नहीं समझना चाहिए जो अपनी बात को धर्म की तरह अधिकार के साथ अन्तिम सत्य बताता हो। यह तो इतिहास का एक तत्वज्ञान है, एक दृष्टिकोण है, जो बहुत-सी बातें समझाता और मिलाता है और समाजवाद या सामाजिक समानता की कार्य-प्रणाली दिखाता है। इसके मूल सिद्धान्त अलग-अलग तरह से इस तरह लागू करने चाहिएँ जिससे भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न देशों के बदलते हुए हालात के साथ उनका मेल बैठ सके।

: १६१ :

निःशस्त्रीकरण

२ अगस्त, १९३३

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि दुनिया-भर की जो आर्थिक-परिषद् लन्दन में हुई थी, वह असफल रही। फ़िलहाल परिषद् का काम बन्द करके सब लोग अपने-अपने घर चले गये हैं और कहने को यह आशा प्रकट कर गये हैं कि अधिक अनुकूल परिस्थिति में शायद फिर कभी मिलेंगे।

सहयोग का दूसरा संसार-व्यापी प्रयत्न निःशस्त्रीकरण परिषद् के रूप में हुआ और वह भी इसी तरह असफल हुआ। यह परिषद राष्ट्र-संघ के इक़रारनामे का नतीजा थी। वर्साई की संधि में यह तय हुआ था कि जर्मनी और आस्ट्रिया, हंगरी आदि दूसरे पराजित राष्ट्र भी निःशस्त्र होजायें। वे जल-सेना, हवाईसेना या बड़ी स्थल-सेना नहीं रख सकते थे। यह भी तजवीज़ थी कि दूसरे देश भी धीरे-धीरे घटाते-घटाते इतनी-सी फ़ौज रक्खें जितनी कि राष्ट्र के लिए जरूरी हो। इस कार्यक्रम के पहले हिस्से यानी जर्मनी को निःशस्त्र करनेवाले हिस्से पर फ़ौरन अमल किया गया। लेकिन दूसरा हिस्सा यानी आमतौर पर सेनायें घटानेवाला हिस्सा ज्यों-का-त्यों एक सपना बना हुआ है। कार्य-क्रम के इस दूसरे हिस्से की पूर्ति के लिए ही वर्साई की सन्धि के क़रीब १३ साल बाद कहीं निःशस्त्रीकरण परिषद् बुलाई गई थी। लेकिन पूरी परिषद् के होने से पहले वर्षों तक जाँच कमीशन सारे मामले की छान-बीन करते रहे थे।

आख़िरकार १९३२ के शुरू में विश्व-निःशस्त्रीकरण परिषद् हुई। डेढ़ साल से बीच-बीच में इसकी बैठकें होती रहीं। अगर प्रस्ताव और रिपोर्टों की तादाद या अनन्त वाद-विवाद और व्याख्यानबाज़ी से इसकी सफलता का अन्दाज़ लगाया जासकता हो तो सचमुच यह परिषद् ख़ूब सफल हुई। मैं समझता हूँ लगातार एक ही मामले के लिए पहले कभी इतनी तैयारी और बहस नहीं हुई है और न कभी पहले किसी परिषद् की कार्रवाई और रिपोर्ट के क़ाग़ज़ात का इतना पहाड़ इकट्ठा हुआ था। फिर भी कोई बात तय ही नहीं होती। परिषद् नित्य होती है, पर उसका कोई अन्त ही नहीं होता, क्योंकि कोई राष्ट्र इसके टूटने की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहता। फिर भी कोई असाधारण घटना न हुई तो यह टूटकर ही रहेगी, क्योंकि असली मुश्किल यह है कि आज की दुनिया में आपस में भयंकर लाग-डाँट और संघर्ष जारी है और जबतक यह संघर्ष रहेगा तबतक कोई राष्ट्र सेना कम करके अपनेको कमज़ोर बनाने का साहस नहीं कर सकता।

फ़्रांस को जर्मनों के पिछले हमलों की याद बनी हुई है। इसलिए वह हमेशा 'रक्षा' पर जोर देता रहा है। वह कोई ऐसी व्यवस्था चाहता है जिससे बैठे-बिठाये हमला कर देना असम्भव नहीं तो कठिन जरूर होजाय। उसने यह सुझाया है, कि हमला करनेवाले देश से आज्ञा-पालन करानें के लिए राष्ट्र-संघ खुद सेना रक्खे। इससे राष्ट्र-संघ राज्यों के ऊपर एक नया राज्य बन जायगा; पर इस बात पर सहमत होने के लिए अधिकांश देश तैयार नहीं हैं। आज राष्ट्र-संघ की जिस तरह की रचना है उससे अक्सर उसकी यह टीका की जाती है कि वह कुछ बडे राष्ट्रों के हाथ का हथियार है। ऐसे संगठन की ताक़त बढ़ाने का मतलब यही होगा कि इन राष्ट्रों की शक्ति बढ़ जायगी और वे दूसरों का शोषण कर सकेंगे। वे नाम तो अन्तर्राष्ट्रीय हित का लेंगे, मगर असल में वे अपना काम बनावेंगे। दलील कुछ इसी तरह की दीजाती है।

प्रत्येक राष्ट्र परिषद के सामने ऐसा प्रस्ताव रखता है जिससे अपने मुक़ाबिले में दूसरे राष्ट्रों की ताक़त कम होजाय। ऐसी हालत में समझौता किस तरह होसकता है? सोवियट रूस ने ऐसी तजवीजें पेश कीं जो सारे मामले की तह तक जाती थीं और जिनके मंजूर कर लेने से सब जगह असली निःशस्त्रीकरण होजाता। लेकिन दूसरे राष्ट्रों ने कह दिया कि यह तो व्यावहारिक नहीं है और ऐसी आदर्शवादी योजना का मौजूदा हालात से मेल नहीं बैठ सकता। असल बात यह है कि इन दूसरे राष्ट्रों में से कोई भी सच्चा निःशस्त्रीकरण नहीं चाहता। वे तो इतनी-सी चर्चा करते हैं कि ख़र्च घटाकर छोटे-मोटे परिवर्तन या कमी के साथ अस्त्र-शस्त्र किस तरह क़ायम रक्खे जायें। इससे बढ़कर तमाशा और क्या होसकता है कि इधर तो ये राष्ट्र जिनेवा या लूसान में निःशस्त्रीकरण की गम्भीर चर्चा करें और उन्हींमें से एक यानी जापान मंचूरिया में ख़ूनी युद्ध जारी रक्खे या दक्षिणी अमेरिका के प्रजातन्त्र आपस में लड़ते रहें या ब्रिटेन हिन्दुस्तान के सीमाप्रान्त के लोगों पर बम-वर्षा करता रहे।

केलॉग-ब्रियाँद समझौते के अनुसार युद्ध ग़ैर-क़ानूनी ठहराया गया था। अगर यह बात सही है तो फिर सेनायें रखने की क्या जरूरत है? लेकिन साम्राज्यवादी सरकारों में से कोई भी इन संधियों का ऐसा गम्भीर अर्थ नहीं लगाती और वे सब एक-दूसरे के विरोध में भयंकर रूप से फ़ौजें बढ़ाती जा रही हैं। तुम्हें याद होगा कि केलॉग-समझौते में भी ब्रिटेन ने कई बडी-बडी बातों के बारे में इतना अधिकार अपने हाथों में रख लिया था कि उस समझौते की जान ही निकल गई थी। निःशस्त्रीकरण-परिषद् में जापानियों के बाद ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने ही परिषद के रास्ते में सबसे ज्यादा रोडे अटकाये हैं। जिस वक़्त जापान मंचूरिया में राष्ट्र-संघ की खुली तौहीन कर रहा था, उस वक़्त ब्रिटिश प्रतिनिधि-मण्डल बराबर जापानियों का मित्र बना

रहा। चीन में जापानी हमले का अमेरिका ने विरोध किया। मगर ब्रिटिश रुख के कारण उस विरोध का बहुत-सा जोर मारा गया।

जापान ने इस बहाने का सहारा लिया था कि वह कोई 'युद्ध' नहीं कर रहा है, बल्कि कुछ आवश्यक 'कार्रवाइयाँ' (!) कर रहा है। भविष्य में कोई राष्ट्र ऐसे असाधारण बहाने न बना सके, इसके लिए 'आक्रमणकारी' राष्ट्र की व्याख्या करने का प्रस्ताव हुआ। पहले सोवियट रूस ने, फिर राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने, और अन्त में राष्ट्र-संघ की एक समिति ने व्याख्या की। इन सब व्याख्याओं ने क़रीब-क़रीब यह असम्भव कर दिया कि कोई राष्ट्र 'आक्रमणकारी' होने का दण्ड भोगे बिना सीमा पार करके दूसरे देश में सेना भेज सके, या दूसरे देश के समुद्र-तट पर घेरा डाल सके। छोटे-बड़े क़रीब-क़रीब सभी राष्ट्रों ने, यहाँतक कि फ़्रांस ने भी, यह व्याख्या मानली। जापान के लिए यह व्याख्या बहुत परेशान करनेवाली थी। परन्तु इसका असली विरोध इंग्लैण्ड की तरफ़ से हुआ और उसका साथ इटली ने दिया। इंग्लैण्ड ने 'आक्रमण-कारी' की यह व्याख्या मानने से इन्कार कर दिया और चाहा कि इस मामले को अनिश्चित रहने दिया जाय। इसका असली अर्थ यह था कि जब कभी कोई राष्ट्र इस तरह का हमला करे तो उस वक़्त सफलतापूर्वक हस्तक्षेप करने का अधिकार राष्ट्र-संघ के हाथ में देना इंग्लैण्ड नहीं चाहता था।

हाल में सोवियट रूस, पोलैण्ड, एस्टोनिया, लटविया, लियुएनिया, रूमानिया, ईरान, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान, जेकोस्लोवेकिया और यूगोस्लाविया के बीच में एक-दूसरे पर हमला न करने का जो 'पैक्ट' यानी राजीनामा हुआ है उसमें आक्रमणकारी की यह व्यापक व्याख्या पूरी तरह स्वीकार की गई है। इस राजीनामे के साथ फ़्रांस ने भी अपनी सम्पूर्ण सहमति प्रकट की है। रूस के पश्चिमी पडोसियों में से अकेला फ़िनलैण्ड ही इस समझौते में शामिल नहीं हुआ है। उसपर ब्रिटेन का बहुत असर है।

निःशस्त्रीकरण परिषद् में हवाई जहाजों से गोले बरसाने के मामले में ब्रिटेन ने जो विरोधी रुख इख़्तियार किया वह दूसरी मशहूर मिसाल है। हालांकि क़रीब-क़रीब सभी राष्ट्रों नें बम-वर्षा के इस रिवाज को बिलकुल उठा देने की ख्वाहिश जाहिर की (मुझे याद नहीं कि ब्रिटेन के पिट्ठू इराक़ और हालैण्ड के सिवा और किसी देश नें यह इच्छा प्रकट न की हो)। फिर भी ब्रिटेन जिसे 'शान्ति-रक्षा के लिए बम-वर्षा करना' कहता है उसे क़ायम रखने पर उसका आग्रह बना ही रहा। जिस वक़्त में यह ख़त लिख रहा हूँ उस वक़्त भी हिन्दुस्तान की उत्तरी-पश्चमी सीमा पर हवाई हमला होने और ब्रिटेन की शाही हवाई सेना द्वारा गाँवों पर बम बरसाये जाकर उन्हें नष्ट करने का हाल अख़बारों में आया है।

कुछ महीनों तक बेकार कोशिशें करने के बाद निःशस्त्रीकरण परिषद् इस बुरी तरह दल-दल में फँसी कि न वह आगे बढ़ सकती थी और न उसमें से निकल सकती थी। आर्थिक संकट और व्यापारिक मन्दी के कारण सभी राष्ट्रों के लिए जल, स्थल और हवाई सेनाओं पर बडी रक़में खर्च करते रहना बहुत मुश्किल होरहा था। वे किफ़ायत करना चाहते थे और फ़ौजें घटाने के पक्ष में यह प्रेरणा शान्ति की इच्छा से भी ज्यादा ताक़तवर थी। फिर भी साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी बात पर एक मत ही नहीं होते थे। वे एक-दूसरे से भी डरते थे और कुछ हद तक उन लोगों से भी डरे हुए थे जिनका वे अपने-अपने साम्राज्य में शोषण करते थे। साम्राज्य प्रेम और सद्भाव के आधार पर खडे नहीं हुआ करते। उनकी पीठ पर तो बल और हिंसा होती है। इनके बिना वे एक दिन भी नहीं टिक सकते।

परिषद् के सामने एक कठिन समस्या जर्मनी की थी। जर्मनी दूसरे राष्ट्रों के साथ समानता माँग रहा था। या तो उसे भी औरों के बराबर सेना बढ़ाने दी जाय, या और राष्ट्र भी उसके बराबर अपनी फ़ौज घटा लें। यह दलील लाजवाब थी। क्या खुद राष्ट्र-संघ ने यह नहीं कह दिया था कि जर्मनी के निःशस्त्र होने के बाद दूसरे राष्ट्र भी निःशस्त्र होंगे? अवश्य ही जर्मनी शान्ति और निःशस्त्रीकरण का कोई बड़ा प्रेमी नहीं था, मगर उसे मालूम था कि सारे राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की किसी भी व्यापक योजना को मंजूर नहीं करेंगे और इसलिए उन्हें झख मारकर जर्मनी की समानता की माँग स्वीकार करनी पडेगी और उसे सेना रखने की इजाजत देनी होगी। जर्मनी की हालत पर बडी हमदर्दी दिखाई गई और बराबरी का हक़ देने का यक़ीन भी दिलाया गया। उसके बाद हिटलर और नाजी लोग अपनी धमकियां और आक्रमणकारी रवैया लेकर सामने आये। बस तुरन्त स्थिति बदल गई, फ़्रांस तन गया और एक हद तक इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रों का रुख भी कड़ा पड़ गया। दूसरे राष्ट्र कहने लगे कि अगर नाजी जर्मनी को हथियारबन्द होने दिया जायगा तो वह योरप के लिए बड़ा खतरा बन जायगा और अगर हम सेना कम कर देंगे तो उससे भी शान्ति भंग होने की सम्भावना रहेगी। जर्मनी के पक्ष में कोई भी परिवर्तन होता तो उससे फ़्रांस की ताक़त घटती और फ़्रांस को इतनी घबराहट होगई कि वह ऐसे किसी परिवर्तन को सह नहीं सकता। स्थिति यह है कि निःशस्त्रीकरण परिषद् की गाडी अटक गई है। आगे के लिए कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। योरप में लड़ाई का खतरा बढ़ गया है और फ़ौज कम करने की किसी राष्ट्र की हिम्मत नहीं होती। शिक्षा और दूसरे जरूरी और उपयोगी कामों से रुपया बचाकर भी सेनायें रखनी पड़ती हैं। इन कारणों से निःशस्त्रीकरण के बारे में कोई भी कारगर समझौता होना

बहुत मुश्किल है। दूसरी ओर इस तरह का समझौता न हुआ तो जर्मनी को फिर से शस्त्र धारण न करने के लिए किस मुँह से कहा जा सकता है? और नाज़ी जर्मनी ने हथियार उठा लिये तो फिर युद्ध छिड़ने में देर नहीं लगेगी! इस तरह योरप दल-दल में फँस गया है! इन सब बातों को ध्यान में रखने से ही यह बात समझ में आ सकती है कि हाल में इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच जो चतुरंगी समझौता हुआ है वह सिर पर लटकती हुई लड़ाई की तलवार को गिरने से रोकने की और टालने की ही एक कोशिश है और सोवियट ने अपने पडोसियों के साथ आपस में हमला न करने का जो समझौता किया है वह भी आगामी युद्ध से बचने का ही उपाय है।

इस बीच निःशस्त्रीकरण परिषद् तेजी के साथ एक तरह की शस्त्रीकरण-परिषद् होती जारही है। जर्मनी तो बीच-बीच में शस्त्र धारण करने की धमकी देता ही रहता है। जापान ने भी बडी शान्ति के साथ ऐलान कर दिया है कि दो वर्ष बाद जब ब्रिटेन, अमेरिका और फ़्रांस के साथ किये हुए वर्तमान समझौते की अवधि पूरी होगी तो वह अपनी जलसेना बढ़ायेगा। (यह समझौता वाशिंगटन-परिषद् में १९२२ में हुआ था)। निःशस्त्रीकरण परिषद के सफल होने में बहुतेरी दिक्क़तें हैं। इन्हें बढ़ाने के लिये परदे की आड़ में बेशुमार षड्यंत्र चलते रहते हैं। ये कार्रवाइयाँ शस्त्रास्त्र बनानेवाले व्यापारियों के बडी-बडी तनख़्वाहें पानेवाले आदमी ख़ास तौर पर करते रहते हैं। आज की पूँजीवादी दुनिया में अस्त्र-शस्त्र और नाशकारी यंत्र बनाने का धन्धा बडे ही मुनाफ़े का उद्योग है। ये हथियार बनाये तो जाते हैं अलग-अलग देशों की सरकारों के लिए, क्योंकि आमतौर पर लड़ाई सरकारें ही करती हैं, फिर भी विचित्र बात यह है कि हथियार बनानेवाले ख़ानगी व्यापारी होते हैं। इन कारख़ानों के मुख्य मालिक ख़ूब मालदार होजाते हैं और उनका सरकारों से गहरा सम्पर्क रहता है। शुरू की किसी चिट्ठी में सर बेसिल ज़हरोफ़ नाम के एक ऐसे ही आदमी का थोड़ा-सा हाल मैं तुम्हें बता चुका हूँ। हथियार बनाने वाले कारख़ानों के हिस्सों पर बड़ा मुनाफ़ा मिलता है और उनकी अक्सर माँग रहती है। उस दिन यह साबित हुआ था कि इंग्लैण्ड के बहुत-से बडे-बडे कर्मचारियों, यहाँतक कि मंत्रियों, लाट-पादरियों, पार्लमेण्ट के सदस्यों और दूसरे बडे-बडे सार्वजनिक व्यक्तियों के हिस्से भी इन कम्पनियों में हैं।

लड़ाई से और लड़ाई की तैयारियों से इन हथियार बनानेवाले कारख़ानों को फ़ायदा होता है। वे सामूहिक मृत्यु का व्यापार करते हैं और जो कोई उन्हें क़ीमत देता है निष्पक्ष होकर उसीके हाथों वे अपने नाशकारी यन्त्र बेच देते हैं। जिस वक़्त

राष्ट्र-संघ चीन में जापान के हमले की निन्दा कर रहा था उसी वक़्त अंग्रेजी, फ्रेंच और दूसरी हथियारों की दुकानें जापान और चीन दोनों को आजादी के साथ हथियार और लड़ाई के सामान पहुँचा रही थीं। जाहिर है कि सचमुच निःशस्त्रीकरण होजाय तो इन दूकानों का पटरा बैठ जाय, क्योंकि इनका सारा व्यापार जाता रहे। इसलिए उनके खयाल से जो बड़ी भारी विपत्ति की बात है उसे रोकने के लिए वे ख़ूब कोशिश करते हैं। असल में वे इससे भी आगे बढ़ते हैं। राष्ट्र-संघ ने ख़ानगी तौर पर हथियार बनाने के मामले की जाँच करने के लिए एक ख़ास कमीशन बिठाया था। वह इस नतीजे पर पहुँचा कि ये दुकानें लड़ाई की ख़बरें फैलाने और अपने-अपने देशों को लड़ाकू नीति इख़्तियार करने की प्रेरणा करने में लगी रही हैं। यह भी पाया गया कि ये दूकानें अलग-अलग देशों के जल और स्थल सेना-सम्बन्धी ख़र्च के बारे में झूठे समाचार फैलाती हैं, ताकि दूसरे देशों को अपना फ़ौजी ख़र्च बढ़ाने की प्रेरणा हो। वे एक देश को दूसरे देश से भिड़ाने की कोशिश करती हैं और हथियारों के मामले में होड़ लगाने की वृत्ति बढ़ाती हैं। वे सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देती और लोकमत पर असर डालने के लिए अख़बारों को ख़रीद लेती हैं। इतना ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ बनाकर और ठेके लेकर वे हथियारों और युद्ध के सामान के भाव बढ़ा देती हैं। राष्ट्र-संघ के जाँच-कमीशन ने सुझाया कि शस्त्रास्त्रों का ख़ानगी तौर पर बनाना बन्द कर दिया जाय। निःशस्त्रीकरण-परिषद् में भी यह प्रस्ताव किया जा चुका है। मगर वहाँ भी विरोध ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से ही हुआ और लगातार हुआ। अलग-अलग देशों के शस्त्रास्त्र बनाने के इन कारखानों का आपस में गहरा ताल्लुक़ होता है। वे देश-प्रेम से नाजायज फ़ायदा उठाकर मौत के साथ खेलते हैं, फिर भी उनका अपना काम अन्तर्राष्ट्रीय है। उनके संगठन को 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Secret International) का नाम दिया गया है। यह स्वाभाविक है कि ये लोग निःशस्त्रीकरण पर आपत्ति करें और इस बारे में समझौता न होने देने के लिए इनसे जितना कुछ हो सकता था वह सब इन्होंने किया ही। इनके आदमी ऊँचे-से-ऊँचे राजनैतिक हलक़ों में आते-जाते हैं और इनकी मनहूस शक्लें परदे के पीछे से डोर हिलाती हुई जिनेवा में दर्शन देती रही हैं।

इस 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघ' के साथ अक्सर अलग-अलग सरकारों के गुप्तचर-विभाग या ख़ुफ़िया पुलिस का गहरा सम्बन्ध होता है। हरेक सरकार दूसरे देशों के पोशीदा हालात जानने के लिए जासूस नौकर रखती है। कभी-कभी ये जासूस पकड़े जाते हैं और उसी समय उनकी सरकार झट कह देती है कि ये हमारे आदमी नहीं हैं। आर्थर पोन्सनबी कुछ साल पहले, मेरे ख़याल से, ब्रिटिश सरकार के वैदेशिक उपमन्त्री थे। आजकल वे लार्ड पोन्सनबी बन गये हैं। इन गुप्तचर-विभागों की चर्चा करते

हुए पोन्सनबी ने मई १९२७ में कामन्स सभा में कहा था—"जब हम नैतिकता की बडी-बडी बातें करते हैं, उस समय हमें इन सचाइयों का वास्तविक ख़याल रखना चाहिए कि जालसाजी, चोरी, झूठ, रिश्वत और भ्रष्टाचार दुनिया के सभी वैदेशिक विभागों और मंत्रिमण्डलों में मौजूद हैं।......... मैं कहता हूँ कि माने हुए नैतिक नियमों के अनुसार हमारे जो प्रतिनिधि विदेशों में रहते हैं वे वहाँके गुप्त काग़ज़ात के भेद मालूम न करें तो यह समझा जायगा कि उन्होंने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया।"

चूंकि इन गुप्तचर-विभागों का काम छिपकर होता है इसलिए उनपर क़ाबू रखना मुश्किल है। उनका अपने-अपने देशों की विदेशी नीति पर बडा असर होता है। इनका संगठन व्यापक और बलशाली होता है। शायद इस समय ब्रिटिश खुफिया विभाग सबसे प्रबल और दूर-दूर तक फैला हुआ है। एक मिसाल ऐसी भी मिलती है कि एक मशहूर ब्रिटिश जासूस रूस में एक उच्च सोवियट कर्मचारी बन गया था! वर्तमान भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर युद्ध-काल में रूस में ब्रिटिश खुफिया विभाग के सरदार थे। उन्होंने हाल ही में कुछ गर्व के साथ खुले तौर पर कहा है कि खबरें मालूम करने का उनका तरीक़ा इतना बढ़िया था कि रासपुटिन के खून का हाल और किसीकी बनिस्वत उन्हें बहुत पहले मालूम होगया था।

निःशस्त्रीकरण-परिषद् के सामने असली कठिनाई यह थी कि दो तरह के देश हैं—सन्तुष्ट और असन्तुष्ट, शासक और शासित, मौजूदा स्थिति को क़ायम रखना चाहनेवाले और उसमें परिवर्तन चाहनेवाले। जिस तरह प्रभुता-प्राप्त वर्ग और दलित-वर्ग में सच्ची स्थिरता नहीं हो सकती, ठीक उसी तरह इन दो तरह के मुल्कों में कोई स्थायी समझौता नहीं होसकता। सब बातों को देखते हुए राष्ट्र-संघ इन ज़ोरावर राष्ट्रों की चीज़ है। इसलिए उसकी कोशिश मौजूदा स्थिति को क़ायम रखने की ही है। रक्षा के समझौतों और 'आक्रमणकारी' राष्ट्र की व्याख्या के प्रयत्नों का यही उद्देश्य होता है कि जो हालत है वह बनी रहे। कुछ भी हो जाय, जिन राष्ट्रों का राष्ट्र-संघ पर नियंत्रण है उनमें से किसी एक को भी शायद संघ 'आक्रमणकारी' कहकर बुरा नहीं बतायगा, वह हमेशा ऐसी चालबाजियाँ करेगा कि दूसरा पक्ष ही 'आक्रमणकारी' घोषित हो जाय।

शान्तिवादी और दूसरे लोग, जो युद्ध रोकना चाहते हैं, इन रक्षा के समझौतों का स्वागत करते हैं। इस तरह वे एक अर्थ में अन्यायपूर्ण वर्तमान स्थिति को क़ायम रखने में मदद देते हैं। योरप के बारे में अगर यह बात सही है तो एशिया और अफ़रीका के बारे में और भी सही है, क्योंकि वहाँ साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने बड़े-बड़े

इलाक़े अपने राज्य में मिला लिये हैं। इसलिए एशिया और अफ़रीक़ा में मौजूदा हालत बनी रहने का मतलब यह है कि साम्राज्यवादी शोषण जारी रहे

इस वर्तमान स्थिति को क़ायम रखने के लिए जो समझौते या कार्रवाइयाँ योरप में हुई हैं उनसे अबतक अमेरिका का संयुक्तराष्ट्र अलग रहा है। लेकिन मालूम होता है वह भी अब योरप की प्रणाली में थोड़ा-थोड़ा फँसता जा रहा है।

: १६२ :

राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का रक्षा का प्रयत्न

४ अगस्त, १९३३

यह क़िस्सा ख़त्म करने से पहले मैं तुम्हें अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की एक झाँकी और करा देना चाहता हूँ (और अब इस कहानी के पूरा होने में बहुत देर नहीं की जा सकती)। इस वक़्त अमेरिका में एक महान् और मनोहर-सा प्रयोग होरहा है। दुनिया की आँखें उसपर लगी हुई हैं, क्योंकि उसके परिणाम पर यह बात निर्भर है कि भविष्य में पूँजीवाद किधर जायगा। मैं यह फिर से कहदूँ कि अमेरिका अभीतक सबसे उन्नत पूँजीवादी देश है। मालदार भी वही सबसे ज्यादा है और उसके औद्योगिक यंत्र और कला दूसरे देशों से उन्नत हैं। उसे किसी और मुल्क का रुपया देना नहीं है और उसपर अगर किसीका क़र्ज़ है तो वह अपने ही नागरिकों का है। उसका निर्यात-व्यापार बहुत है और बढ़ रहा है; फिर भी यह उसके बड़े भारी भीतरी व्यापार का एक छोटा-सा भाग (१५ फ़ीसदी के क़रीब) है। यह देश लगभग सारे योरप के बराबर बड़ा है। मगर बड़ा भारी फ़र्क़ यह है कि जहाँ योरप कई छोटे राष्ट्रों में बँटा हुआ है, जिनकी सीमाओं पर भारी चुंगी लगती है, वहाँ संयुक्तराष्ट्र के अपने इलाक़े के भीतर ऐसी कोई व्यापारिक बाधायें नहीं हैं। इसलिए योरप की बनिस्बत अमेरिका में ज़बरदस्त भीतरी व्यापार का विकास बहुत आसान था। योरप के दरिद्र और क़र्ज़ से दबे हुए देशों से अमेरिका को ये सब सहूलियतें ज्यादा थीं। उसके पास सोने, रुपये और माल की बहुतायत थी।

यह सब होते हुए भी पूँजीवादी संकट ने उसे आदबाया और उसका सारा ग़रूर तोड़ दिया। जिस राष्ट्र के जीवट और कार्य-शक्ति का कोई पार नहीं था उसपर भाग्यवाद छागया। सारा देश तो फिर भी धनी बना रहा और रुपया भी कहीं ग़ायब नहीं होगया, मगर वह थोड़े-से स्थानों में जमा होगया। न्यूयार्क में फिर भी करोड़ों-अरबों की पूँजी के ढेर दिखाई देते थे। जे०पियरपौण्ट मार्गन नामक बड़ा साहूकार अब

भी अपनी विलास-सामग्री से सजी बढ़िया नाव का दिखावा करता था। कहते हैं, उसपर ६० लाख पाउण्ड खर्च हुआ है। फिर भी न्यूयार्क को हाल ही में 'भूखा शहर' बताया गया है। शिकागो जैसे बडे-बडे नगरों की म्यूनिसिपैलिटियाँ लगभग दीवालिया होचुकी हैं और वे अपने हजारों नौकरों का वेतन नहीं चुका सकतीं। इसी शिकागो शहर में 'उन्नति की शताब्दी' (The Century of Progress) के नाम से एक शानदार नुमाइश या 'विश्व-मेला' भर रहा है।

ये विषमतायें अमेरिका तक ही महदूद नहीं हैं। लन्दन में जाकर देखो, उच्च-वर्ग के अंग्रेजों में सर्वत्र वैभव और विलास के दरिया बहते दिखाई देंगे। अलबत्ता वहाँकी ग़रीब बस्तियों में यह बात नहीं है। लंकाशायर या उत्तरी या मध्य इंग्लैण्ड के कुछ भागों में जाकर देखोगी तो तुम्हें बेकारों की लम्बी-लम्बी क़तारें, पिचके हुए गाल और जीवन के दुःखपूर्ण दृश्य ही दिखाई देंगे।

इन वर्षों में अपराधों की वृद्धि, ख़ास तौर पर संगठित दलों द्वारा होनेवाले जुर्मों की वृद्धि, ख़ूब हुई है। यानी गुण्डों के दल-के-दल मिलकर काम करते हैं और जो लोग बाधक होते हैं उन्हें अक्सर गोली से उड़ा देते हैं। कहते हैं कि ये जुर्म उस वक़्त से ज्यादा बढ़े हैं जबसे कि शराब-बन्दी का क़ानून पास हुआ है। मदिरा-निषेध का यह क़ानून महायुद्ध के बाद ही बन गया था। इसका एक कारण यह था कि बडे-बडे क़ारख़ानेदार अपने मजदूरों को शराब से इसलिए दूर रखना चाहते थे कि वे लोग ज्यादा अच्छा काम कर सकें। परन्तु धनवान लोग स्वयं इस क़ानून की अवहेलना करते थे और बाहर से मँगा-मँगाकर शराब पीते थे। धीरे-धीरे शराब का ग़ैरक़ानूनी व्यापार बहुत बढ़ गया। यह इस तरह होता था कि शराब बाहर से भी छिपकर मँगाई जाती थी और देश में भी गुप्त रूप से बनाई जाती थी। आम तौर पर छिपकर तैयार की हुई शराब असली शराब से कहीं घटिया और हानिकारक होती थी। यह शराब गुप्त स्थानों पर बहुत ऊँचे दामों में बेची जाती थी और इस तरह के ख़ानगी शराबख़ाने सभी बडे-बडे शहरों में हजारों की तादाद में होगये। ये सब कार्र-वाइयाँ ग़ैरक़ानूनी तो थीं ही; इन्हें जारी रखने के लिए पुलिसवालों और राज्याधिका-रियों को रिश्वत दी जाती थी और कभी-कभी उन्हें डराया-धमकाया भी जाता था। क़ानून की इस व्यापक अवहेलना से गुण्डों के दल बढ़ गये। इस तरह 'मदिरा-निषेध' का एक ओर तो यह नतीजा हुआ कि मजदूरों और देहातियों को फायदा पहुँचा। दूसरी ओर बड़ा नुक्सान भी हुआ। यानी चोरी से शराब बनानेवालों का एक जबरदस्त स्वार्थी दल पैदा होगया। सारा देश दो दलों में बँट गया। मदिरा-निषेध के पक्ष वाले 'सूखे' (Drys) कहलाये जाने लगे और उसका विरोध करनेवाले 'गीले' (Wets) कहलाये।

संगठित अपराधों में सबसे मशहूर और दिल दहलानेवाला अपराध यह था कि धनवानों के छोटे-छोटे बच्चों को गुण्डे उड़ा लेजाते थे और अपने क़ब्ज़े में रखकर उनके बदले में रुपया ऐंठते थे। एक-दो साल पहले की ही बात है, लिण्डबर्ग का दूध पीता लड़का इसी तरह उड़ाया गया था और उसकी पाशविक ढंग से हत्या की गई थी। इस घटना से संसार के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा।

इन सब बातों के साथ व्यापारिक मन्दी मिल गई और यह भी मालूम होगया कि बहुत-से बड़े-बड़े राजकर्मचारी और व्यवसायी भ्रष्ट और अयोग्य हैं। इससे अमेरिका के लोग घबरा उठे। १९३२ के नवम्बर में राष्ट्रपति के चुनाव के अवसर पर लाखों आदमियों की दृष्टि रूज़वेल्ट की ओर गई और उन्हें आशा हुई कि वह उनका कष्ट कम करेगा। रूज़वेल्ट 'गीले' पक्ष में था और लोकशाही दल (Democratic Party) का आदमी था। इस दल के आदमी क्वचित् ही संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति हुए हैं।

अलग-अलग देशों के विशेष लक्षणों को सदा ध्यान में रखकर उनकी तुलना करना दिलचस्प और फ़ायदेमन्द होता है। इसलिए संयुक्तराष्ट्र की हाल की घटनाओं का जर्मनी और इंग्लैण्ड की घटनाओं से मुक़ाबिला करने का लोभ होता है। जर्मनी के साथ अमेरिका की बड़ी समानता है, क्योंकि ख़ूब औद्योगिक देश होते हुए भी दोनों में ही किसानों की आबादी बहुत है। जर्मनी की सारी आबादी में २५ फ़ीसदी और संयुक्त-राष्ट्र में ४० फ़ीसदी किसान हैं। राष्ट्रीय नीति के निर्माण में इन किसानों का असर पड़ता है। इंग्लैण्ड में यह बात नहीं है, क्योंकि वहाँ थोड़े-से किसान हैं और उनपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। हाँ, अब ज़रा उनकी उन्नति की कोशिश की जा रही है।

जर्मनी के नाज़ी आन्दोलन का मुख्य कारण यह था कि नीचे दर्जे के वञ्चित मध्यमवर्ग की तादाद बहुत बढ़ गई थी और जर्मन सिक्के का भाव गिर जाने के बाद यह तादाद और भी तेज़ी से बढ़ रही थी। जर्मनी में यही वर्ग क्रान्तिकारी बना। ठीक यही वर्ग आजकल अमेरिका में बढ़ रहा है। ये 'सफ़ेद कॉलर के ग़रीब' ('White Collar proletariat') कहलाते हैं, ताकि मजदूर-वर्ग के ग़रीबों से इनका भेद किया जा सके। मजदूर वर्ग शायद ही कभी सफेद कॉलर लगाता ह।

तुलना करने की दूसरी बातें हैं सिक्के सम्बन्धी संकट, मार्क, पाउण्ड और डालर का सोने के विनिमय से हटना, नोटों का ख़ूब छापा जाना और बैंकों का दिवाला निकलना। इंग्लैण्ड में बैंकों का दिवाला न निकलने का कारण यह था कि वहाँ छोटे-छोटे बैंक बहुत नहीं हैं और साहूकारी के व्यवसाय का नियन्त्रण चार बड़े बैंकों के हाथ में है। बाक़ी बातों में घटना-चक्र तीनों में एकसा ही रहा। पहले जर्मनी में संकट आया, फिर इंग्लैण्ड में और बाद में संयुक्तराष्ट्र में। मामूली तौर पर नाज़ियों के, १९३१ के

चुनाव में ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के, और नवम्बर १९३२ के चुनाव में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के सहायक अपने-अपने देश में एक ही वर्ग के लोग थे। यह वर्ग था नीचे दर्जे का मध्यमवर्ग। इसके बहुत लोग पहले दूसरे दलों में रह चुके थे। इस तुलना को बहुत दूर तक नहीं खींचना चाहिए। इसका एक कारण तो यह है कि राष्ट्र-राष्ट्र में भेद होता है, और दूसरा कारण यह है कि स्थिति जर्मनी में जहांतक पहुँच चुकी है वहाँ-तक इंग्लैंड और अमेरिका में अभीतक नहीं पहुँची है, मगर ख़ास बात यह है कि उद्योगवाद में ख़ूब आगे बढ़े हुए इन तीनों ही देशों में बहुत मिलते-जुलते आर्थिक प्रभाव काम कर रहे हैं। इसका परिणाम भी एक-सा हुए बिना नहीं रहेगा। यह हाल फ़्रांस में (या दूसरे देशों में) उसी हद तक नहीं है, क्योंकि फ़्रांस अभीतक कृषि-प्रधान ज्यादा और औद्योगिक दृष्टि से कम उन्नत है।

"रूजवेल्ट ने १९३३ के मार्च के शुरू में राष्ट्रपति का ओहदा सम्हाला। काम सम्हालते ही उसे बैंकों की जबरदस्त उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। भयंकर मन्दी तो पहले से थी ही। काम सम्हालने के वक़्त देश की जो हालत थी, कुछ सप्ताह के बाद उसका वर्णन करते हुए उसने कहा था कि देश इस समय "धीरे-धीरे मर रहा है।"

रूजवेल्ट ने तुरन्त निश्चित कार्रवाई की। उसने अमेरिका की कांग्रेस से बैंकों, कारख़ानों और किसानों के सम्बन्ध में कार्रवाई करने के लिए अधिकार माँगे। काँग्रेस उथल-पुथल यानी- अर्थ-संकट से बिलकुल घबराई हुई थी और रूजवेल्ट के पक्ष में लोगों की भावनाओं का उसपर असर था, इसलिए उसने उसे अधिकार देदिये। रूजवेल्ट सर्वेसर्वा बन गया। सब उसकी ओर देखने लगे कि वह उन्हें विपत्ति से बचाने के लिए कोई-न-कोई कारगर उपाय फ़ौरन करेगा। हुआ भी वैसा ही। उसने बड़ी तेजी से काम किया और महीने-बीस दिन के भीतर-भीतर अपने अलग-अलग तरह के कामों से सारे संयुक्तराष्ट्र को हिला दिया। उसका आत्मविश्वास भी ख़ूब बढ़ गया।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जो अनेक निर्णय किये उनमें से ये भी थे:—

(१) सोने का विनिमय छोड़ दिया और डालर का भाव गिर जाने दिया। इससे क़र्जदारों का बोझा हलका होगया।

(२) विशेष सहायता देकर किसानों का कष्ट दूर किया और कृषि का बोझा हलका करने के लिए दो अरब डालर का बड़ा भारी क़र्ज़ जारी करवाया।

(३) जंगलात के लिए और बाढ़ों के रोकने के काम के लिए तुरन्त ढाई लाख मजदूर भर्ती किये। इसका उद्देश्य बेकारी कम करना था।

(४) बेकारी घटाने के लिए काँग्रेस से अस्सी करोड़ डालर माँगे। ये मंजूर होगये।

(५) लगभग तीन अरब डालर की ज़बरदस्त रक़म अलग रखदी। यह

लोगों को काम देने के लिए उधार लेकर सार्वजनिक कामों में लगाने के लिए थी।

(६) मदिरा-निषेध का क़ानून रद करने की कार्रवाई जल्दी से पूरी करली।

ये बडी-बडी रक़में धनवान लोगों से उधार ली जानेवाली थीं। रूज़वेल्ट की सारी नीति यही थी और यही है कि लोगों की ख़रीद करने की शक्ति बढ़ाई जाय। उनके पास रुपया होगा तो वे ख़रीदेंगे और व्यापारिक मन्दी अपनेआप कम हो जायगी। इसी उद्देश्य से वह सार्वजनिक कामों की बडी-बडी योजनायें हाथ में ले रहा है, ताकि उनमें मजदूर लगाये जासकें और वे रुपया कमा सकें। इसी उद्देश्य से वह मजदूरों की मजदूरी बढ़ाने और उनके काम के घण्टे घटाने की कोशिश कर रहा है। रोज़ाना काम के घण्टे जितने कम होंगे उतने ही अधिक आदमियों को काम मिलेगा।

यह रवैया उस रवैये से बिलकुल उलटा है जो संकट और मन्दी के समय कारख़ानें के मालिकों का रहा करता है। वे प्रायः उत्पत्ति का ख़र्च कम करने के लिए मजदूरी घटाने और काम के घण्टे बढ़ाने की कोशिश किया करते हैं। मगर रूज़वेल्ट का कहना यह है कि अगर हमें फिर से सामूहिक रूप से माल पैदा करना है तो हमें सामूहिक रूप से ऊँची मजदूरी देकर जनता में उस माल को ख़रीदने की शक्ति पैदा करनी चाहिए।

रूज़वेल्ट की सरकार ने सोवियट रूस को भी अमेरिका की रुई ख़रीदने की ग़रज से क़र्ज़ दिया। दोनों सरकारों में इस बात की भी चर्चा चल रही है कि दोनों देशों में बडे पैमाने पर माल का लेन-देन कैसे होसकता है।

अबतक अमेरिका की सरकार विशुद्ध पूंजीवादी सरकार रही है। वहाँ पूरी अबाधित स्पर्धा यानी बेरोक लाग-डाँट रही है। वह 'व्यक्तिवादी' राज्य (Individualistic State) कहलाता रहा है। रूज़वेल्ट की नई नीति का इसके साथ मेल नहीं बैठता, क्योंकि वह कई तरह व्यवसाय में दख़ल देरहा है। इसलिए वह एक प्रकार से उद्योग-धन्धों पर राज्य का बहुत-कुछ नियंत्रण स्थापित कर रहा है। मगर वह इसे दूसरे नाम से पुकारता है।

असल में ये कार्रवाइयाँ सरकारी समाजवाद की हैं। यानी सरकार इस बात की व्यवस्था कर रही है कि काम के घण्टे कितने हों और मजदूरी की शर्तें क्या हों और उद्योगों पर सरकार का नियंत्रण रहे और भयंकर प्रतिस्पर्धा या लाग-डाँट बन्द हो। इसे वह यों कहता है कि "योजना में सब शामिल हों और सब उसे पूरी करने की कोशिश करें।"

यह काम अब अमेरिका वाले अपने स्वभाव के अनुसार पूरे जोर और जोश के साथ कर रहे हैं। बच्चों से काम लेने की प्रथा उठादी गई है। (मजदूरी के मामले

में बच्चों की उम्र सोलह साल तक की मानी गई है) । अधिक मजदूरी, ज्यादा वेतन और कम घण्टे काम, यही मूल मंत्र बने हुए हैं । खुशहाली के इस आन्दोलन में, कहते हैं, सारा देश एक बड़ा भर्ती का विज्ञापन-केन्द्र बना हुआ है । हवाई जहाज इधर से उधर दौड़ते और कारखाने के मालिकों और दूसरे लोगों से बेतार के तार द्वारा अपीलें करते फिरते हैं । प्रत्येक बडे-बडे उद्योग को प्रेरणा की गई है कि वे ऊँची मजदूरी देने के अलग-अलग नियम बनावें और उनपर अमल करने की प्रतिज्ञा करें । जो उचित ढंग के नियम नहीं बना पाते हैं उन्हें हलकी-सी धमकी देदी जाती है कि वे नहीं बनावेंगे तो सरकार बना देगी । मालिकों से अलग-अलग प्रतिज्ञा-पत्रों पर भी हस्ताक्षर कराये जारहे हैं कि वे अपने-अपने नौकरों की तनख्वाहें बढ़ायँगे और काम के घण्टे घटायँगे । जो मालिक इस मामले में आगे बढ़कर काम करेंगे उन्हें सरकार सम्मान के बिल्ले देना चाहती है और जो पीछे रहेंगे उन्हें शर्माने के लिए हर शहर के डाकखानें में सम्मान-प्राप्त लोगों की सूची रक्खी जायगी ।

इन सब उपायों से भावों और व्यापार में कुछ सुधार हुआ है, लेकिन असली और मार्के का सुधार यह हुआ है कि व्यवसाय की भावना और साहस बढ़ गया है । हार का खयाल बहुत कुछ जाता रहा है और आमतौर पर साधारण जनता में और खासतौर पर मध्यमवर्ग में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रति खूब श्रद्धा है । अभी से ही लोग उसकी तुलना अमेरिका के महान् वीर राष्ट्रपति लिंकन से करनें लगे हैं । उसने भी बडे संकट यानी गृह-युद्ध के समय काम सम्भाला था ।

योरप तक में बहुत लोग रूजवेल्ट की तरफ़ देखने लगे थे और यह आशा करने लगे थे कि मन्दी को दूर करनें के लिए वह दुनिया को रास्ता दिखायगा । मगर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद के समय दूसरे देशों के प्रतिनिधियों में उसकी लोकप्रियता जरा घट गई, क्योंकि उसने अपने प्रतिनिधियों को यह हिदायत करदी थी कि वे डालर का भाव सोने के साथ बाँधनें या और कोई ऐसा काम करने से इंन्कार करदें जिससे संयुक्तराष्ट्र में उसकी बडी-बडी योजनाओं में बाधा पड़ने की सम्भावना हो ।

रूजवेल्ट की नीति निश्चित रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है और वह अमेरिका की स्थिति सुधारने पर तुला हुआ है । योरप की कुछ सरकारों को यह पसन्द नहीं है और बैंक वाले, खासतौर पर फ्रांस के बैंक वाले, इस बात पर नाराज हैं कि उनके सोनें के विनिमय को खतरा है । अंग्रेज लोग उसको ध्यान से देख रहे हैं ।

फिर भी रूजवेल्ट अपने पहले के राष्ट्रपति की बनिस्बत संसार के मामलों में ज्यादा अमली हिस्सा लेरहा है । निःशस्त्रीकरण और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसका रवैया इंग्लैण्ड से आगे बढ़ा हुआ और निश्चित है । उसकी मीठी चेतावनी से

हिटलर नरम पड़ गया है। वह सोवियट रूस के साथ भी सम्पर्क बढ़ा रहा है।

आज अमेरिका में और दूसरे देशों में भी बड़ा सवाल यह है, "क्या रूजवेल्ट को कामयाबी मिलेगी ?" वह बडी बहादुरी से पूँजीवाद को क़ायम रखने की कोशिश कर रहा है; लेकिन उसकी सफलता का अर्थ यह है कि बडे-बडे व्यवसायियों की गद्दी छिन जावे। और यह मुमकिन नहीं दीखता कि बडे व्यवसायी इसे चुपचाप बर्दाश्त करलें। अमेरिका के इन बडे व्यवसायियों के स्थायी स्वार्थ आज की दुनिया में सबसे प्रबल समझे जाते हैं, और ये लोग राष्ट्रपति रूजवेल्ट के कहने से ही सत्ता और विशेष अधिकार छोड़नेवाले नहीं हैं। अभी तो लोग लोकमत को देखकर चुप हैं और राष्ट्रपति की लोकप्रियता के कारण दबे हुए-से हैं। परन्तु वे अपने मौक़े की घात में ज़रूर हैं। अगर कुछ महीनों के भीतर हालत में कुछ सुधार नहीं हुआ तो यह उम्मीद रक्खी जाती है कि लोकमत रूजवेल्ट के ख़िलाफ़ हो जायगा और उस समय ये बडे व्यवसायी खुलकर सामने आयँगे। बहुत-से अधिकारपूर्ण राय रखनेवालों का ख़याल है कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने असम्भव कार्य हाथ में लिया है और उसे सफलता नहीं मिलेगी। वह असफल हुआ तो संसार की मन्दी और भी बढ़ जायगी और अमेरिका में बडे व्यवसायियों की सत्ता फिर सर्वोपरि होजायगी। शायद उनका बल पहले से भी बढ़ जाय, क्योंकि रूजवेल्ट सरकारी समाजवाद का जो ढाँचा खड़ा कर रहा है वह उस वक़्त बडे व्यवसायियों के व्यक्तिगत लाभ के लिए काम में लाया जायगा। अमेरिका में मज़दूर-आन्दोलन तो ज़ोरदार है ही नहीं, उसे आसानी से दबाया जा सकता है।

दूसरा ख़याल यह है कि अमेरिका (और शायद इंग्लैण्ड भी) जर्मनी की राह पर जायगा और फ़ैसिस्ट प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी। रूजवेल्ट के सिक्के का भाव घटा देने की नीति से कई समुदायों को फ़ायदा है, लेकिन मध्यमवर्ग के लोगों को नुक़्सान है; क्योंकि उनकी आमदनी बँधी हुई हैं और डालर की क़ीमत घटने पर भी इन्हें तो वही तनख़्वाह मिलती है। इस तरह 'सफ़ेद कॉलर' वाली जनता बढ़ती जा रही है और मज़दूरों से भी कहीं अधिक क्रान्तिकारी बनती जा रही है। मध्यमवर्ग के ये क्रान्तिकारी अंग किसानों के साथ मिलकर अमेरिका में फ़ैसिस्ट परिस्थितियाँ पैदा कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जर्मनी के हालात की नक़ल की जायगी; लेकिन यह सम्भावना है कि बेचारे हब्शियों की और भी कमबख़्ती आयगी, विदेशी और यहूदी लोगों के प्रति सहिष्णुता कम होगी और दमन बढ़ जायगा। यानी भाषण देने और समाचारपत्र निकालने वग़ैरा के नागरिक अधिकार छीन लिये जायँगे। उडरो विल्सन के बाद अमेरिका में रूजवेल्ट जैसा उदार और सुसंस्कृत राष्ट्रपति नहीं हुआ है। मगर वह ऐसी शक्तियों का प्रतिनिधि मालूम होता है जो उथल-पुथल तीव्र होने के साथ-साथ

अधिकाधिक फ़ैसिज्म की ओर झुक सकती हैं। लेकिन अभी तो वह एक तरह से संयुक्तराष्ट्र का सर्वेसर्वा है और नीचे पड़े हुए लोगों को ऊपर उठाने की भरसक कोशिश कर रहा है। संसार उसके महान् प्रयोग को देख रहा है।

: १६३ :

पार्लमेण्टों की असफलता

६ अगस्त, १९३३

हाल की घटनाओं की हमने जरा तफ़सील के साथ देख-भाल की है और बहुत-सी ऐसी शक्तियों और प्रवृत्तियों पर विचार किया है जो हमारी आज की बदलती हुई दुनिया का रंग-रूप बना रही हैं। दो बातें ख़ास तौर पर सामने आई हैं, जिनका जिक्र तो मैं पहले ही कर चुका हूँ लेकिन उनपर ज्यादा विचार करने की जरूरत मालूम होती है। इनमें से एक तो है लड़ाई के बाद के वर्षों में मजदूर-आन्दोलन और पुराने ढंग के समाजवाद की असफलता, और दूसरी बात पार्लमेण्टों की असफलता या उनका ह्रास है।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि किस तरह जब १९१४ में महायुद्ध छिड़ा उस समय संगठित मजदूर दल कुछ न कर सका और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (Second International) छिन्न-भिन्न होगया। इसका कारण यह बताया गया था कि अचानक लड़ाई का धक्का लगने से भयंकर राष्ट्रीय भावनायें उत्तेजित होगई थीं और लोगों पर थोड़े समय के लिए पागलपन सवार होगया था। पिछले चार सालों में जो घटनायें हुई हैं, वे बिलकुल दूसरी और कहीं ज्यादा आँखें खोलनेवाली हैं। इन चार वर्षों में जितनी महान् मन्दी रही है उतनी पूँजीवादी संसार ने पहले कभी नहीं देखी थी। इसलिए मजदूरों पर मुसीबत का बोझ बढ़ता जा रहा है। फिर भी साधारण तौर पर कहीं भी और विशेषकर इंग्लैण्ड और संयुक्तराष्ट्र में साधारण मजदूरों में सच्ची क्रान्तिकारी भावना पैदा नहीं होपाई।

यह जाहिर है कि पुराने ढंग के पूँजीवाद का ढाँचा बिखर रहा है। जहांतक बाहरी बातों का ताल्लुक़ है वहाँतक स्थितियाँ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की शक्ल में तब्दील होने के बिलकुल मुआफ़िक मालूम होती हैं, मगर जिन लोगों को क्रान्ति की सबसे ज्यादा इच्छा होसकती है उन मजदूरों में से ही ज्यादातर का ऐसा कोई इरादा नहीं मालूम होता। क्रान्तिकारी भावनायें मजदूरों से कहीं ज्यादा अमेरिका के पुराने ख़याल के किसानों में दिखाई देती हैं और, जैसा मैं तुम्हें कई बार बता चुका हूँ,

ज्यादातर देशों में मजदूरों की वनिस्वत नीचे दर्जे के मध्यमवर्ग के लोग ज्यादा उग्र हैं। यह वात सवसे ज्यादा जर्मनी में और उससे कम इंग्लैण्ड और संयुक्तराष्ट्र और दूसरे देशों में दिखाई देती है। कमी-वेशी का कारण यह है कि राष्ट्रों के स्वभाव अलग-अलग हैं और अर्थ-संकट भी अलग-अलग मात्रा में आया है।

लड़ाई के वाद के कुछ वर्षों तक जो मजदूर-आन्दोलन इतना उग्र और क्रान्तिकारी था, वह इतना नरम और भाग्यवादी क्यों वन गया? जर्मनी का लोकसत्तात्मक समाजवादी दल विना लोहा लिये ही क्यों टूट गया और उसने नाजियों के हमले से अपनेआपको चूर-चूर क्यों होजाने दिया? अंग्रेजी मजदूर दल इतना नरम और प्रतिगामी क्यों है? मजदूर दल के नेताओं पर अक्सर यह दोष लगाया जाता है कि वे अयोग्य होते हैं और मजदूरों को धोखा देते हैं। उनमें से वहुत-से जरूर इस दोष के पात्र हैं और यह देखकर दुःख होता है कि उनमें से कई लोग दुश्मन से मिल जाते हैं और मजदूर-आन्दोलन को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का साधन वनाते हैं। वदक़िस्मती से इन्सान के सभी कामों में मौक़ा देखकर काम निकालने की प्रवृत्ति मौजूद है। लेकिन यह प्रवृत्ति उस हालत में वहुत ही खेदजनक होजाती है जव अपनी भलाई के लिए लाखों पददलित और दुःखी मनुष्यों की आशाओं, आदर्शों और क़ुर्वानियों से अनुचित लाभ उठाया जाता है।

नेताओं का दोष होसकता है। मगर नेता भी तो आखिर मौजूदा हालत की ही पैदावार होते हैं। आमतौर पर कोई देश जिस योग्य होता है वैसे ही उसे शासक मिलते हैं और किसी आन्दोलन को नेता भी वैसे ही मिलते हैं जैसी कि अनुयायियों की सच्ची इच्छा होती है। असल वात यह है कि इन साम्राज्यवादी देशों में न तो मजदूर नेता और न उनके अनुयायी ही समाजवाद को एक जीवित धर्म के रूप में मानते थे और न यह समझते थे कि यह कोई तुरन्त चाहने लायक़ चीज है। उनका समाजवाद पूंजीवादी प्रणाली के साथ वहुत ज्यादा उलझ गया और वँध गया। पराधीन देशों के शोषण से जो फ़ायदा हुआ उसका थोड़ा-सा हिस्सा उन्हें भी मिल गया और वे यह समझते रहे कि रहन-सहन के ऊँचे ढंग के लिए पूंजीवाद का क़ायम रहना जरूरी है। समाजवाद एक दूर का आदर्श वन गया। वह एक ऐसा स्वर्ग होगया जिसके सपने देखते रहें और वर्तमान से उसका कोई ताल्लुक़ न हो। स्वर्ग की पुरानी कल्पना की तरह समाजवाद भी पूंजीवाद का दास होगया।

इस तरह मजदूर दल, श्रमजीवी संघ, लोकसत्तात्मक समाजवादी लोग, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ और इस तरह के सारे संगठन सुधार के छोटे-छोटे प्रयत्नों में इतने फँस गये कि पूंजीवाद की सारी इमारत अछूती रह गई। उनका आदर्शवाद

जाता रहा और वे बडे-बडे नौकरशाही संगठन होगये। उनमें न प्राण रहा, न सच्चा बल।

नये साम्यवादी दल की दूसरी स्थिति थी। यह मजदूरों के लिए ऐसा सन्देश लेकर आया था, जिसमें अधिक जीवन और प्रेरणा थी और उसके साथ सोवियट-संघ की आकर्षक पार्श्वभूमि थी। मगर इतना होते हुए भी उसे बहुत कम सफलता मिली। यह योरप या अमेरिका के साधारण मजदूरों को अपने साथ न ले सका। इंग्लैण्ड और संयुक्तराष्ट्र में इसकी ताक़त इतनी कम थी कि देखकर ताज्जुब होता है। जर्मनी और फ़्रांस में इसका कुछ जोर था। फिर भी हम देख चुके हैं कि कम-से-कम जर्मनी में यह अपनी ताक़त से कितना कम फ़ायदा उठा सका। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से साम्यवादी दल की दो बडी हार हुईं,—एक तो १९२७ में चीन में और दूसरी १९३३ में जर्मनी में। व्यापारिक मन्दी, बार-बार के अर्थ-संकट, थोडी मजदूरी और बेकारी के इस जमाने में साम्यवादी दल क्यों असफल हुआ, यह कह सकना कठिन है। कुछ लोग कहते हैं कि कार्यकुशलता की कमी थी और काम करने का तरीक़ा ग़लत था। दूसरे लोग यह बताते हैं कि यह दल सोवियट सरकार से बहुत ज्यादा बंधा हुआ था और उसकी नीति होनी चाहिए थी अन्तर्राष्ट्रीय परन्तु रह गई अधिकतर राष्ट्रीय। सम्भव है बात यही हो। परन्तु इस स्पष्टीकरण से सन्तोष नहीं होता।

साम्यवादी दल का मजदूरों में तो जोर नहीं बढ़ा, परन्तु साम्यवादी विचार दूर-दूर तक और ख़ास तौर पर पढ़े-लिखे लोगों में फैले। सब जगह, यहाँतक कि पूंजीवाद के समर्थकों में भी, इस तरह की आशा और आशंका होने लगी कि संकट से शायद किसी-न-किसी रूप में साम्यवाद की स्थापना होकर रहेगी। आम तौर पर यह मान लिया गया कि पुराने ढंग के पूंजीवाद के दिन लद गये। जिसके जो हाथ लगा वही ले भागने की नीति, कोई योजना नहीं, विनाश और संघर्ष का सदा बना रहना और बार-बार उथल-पुथल होना, यह हालत अब क़ायम नहीं रह सकती। इसके स्थान पर किसी-न-किसी रूप में एक योजना के अनुसार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या सहयोग-प्रणाली क़ायम करनी पडेगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे मजदूर-वर्ग की जीत हो ही, क्योंकि मालिक-वर्ग के फ़ायदे के लिए भी शासन का संगठन अर्द्ध-समाजवादी ढंग पर किया जा सकता है। सरकारी समाजवाद और सरकारी पूंजीवाद एक-सी ही बात है। असली सवाल यह है कि राज्य में चलती किसकी है और लाभ किसको पहुँचता है, सारे समाज को या एक ख़ास मालिक-वर्ग को?

पढ़े-लिखे लोग बहस ही करते रहे और पश्चिम के उद्योग-प्रधान देशों में निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग व छोटे अमीर काम कर गये। इन वर्गों को धुंधला-सा अनुभव

होता था कि पूंजीवाद और पूंजीपति उनका शोषण करते हैं और इसलिए इन्हें उनपर थोड़ा गुस्सा आता था। लेकिन उन्हें मजदूर-वर्ग का और साम्यवादियों के हाथ में सत्ता आजाने का कहीं अधिक डर था। पूंजीपति लोग आम तौर पर इस फ़ैसिस्ट लहर के साथ समझौता कर लेते थे क्योंकि उन्हें ऐसा लगता था, कि साम्यवाद को रोकने का और कोई उपाय नहीं है। धीरे-धीरे जिस किसी को भी साम्यवाद का भय था वह इस फ़ैसिज्म के साथ मिल जाता। इस तरह से कहीं कम और कहीं ज्यादा, जहां कहीं पूंजीवाद को खतरा है और साम्यवाद के मुक़ाबिले की सम्भावना दिखाई देती है, वहीं फ़ैसिज्म का प्रचार होजाता है। फ़ैसिज्म या उग्र राष्ट्रवाद और कम्यूनिज्म या साम्यवाद चक्की के दो पाट हैं जिनके बीच में पार्लमेण्टरी सरकारों या प्रतिनिधि-शासन का कचूमर निकल रहा है।

अब हम उस दूसरी मुख्य बात तक आपहुंचे हैं जिसका मैंने इस ख़त के शुरू में जिक्र किया है। वह बात है पार्लमेण्टों की असफलता या उनका ह्रास। पिछले ख़तों में सर्वेसर्वा शासकों के बारे में और पुराने ढंग की लोकसत्ता की असफलता के बारे में मैं तुम्हें काफ़ी बातें बता चुका हूँ। यह बात रूस, इटली और मध्य-योरप में खूब अच्छी तरह जाहिर होगई है। जर्मनी में तो नाज़ियों के हाथ में सत्ता आने से पहले ही प्रतिनिधि-शासन का खात्मा होचुका था। संयुक्तराष्ट्र में हम देख चुके हैं कि किस तरह कांग्रेस राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को पूरे अधिकार देचुकी है और एक तरह से उसे सर्वेसर्वा बना चुकी है। यह सिलसिला फ़्रांस और इंग्लैण्ड में भी दिखाई देने लगा है। ले-देकर योरप में यही दो देश ऐसे हैं जहां लोकसत्ता की लम्बी-से-लम्बी और मजबूत परम्परा रही है। आओ, पहले इंग्लैण्ड का ही विचार करें।

योरप के दूसरे देशों से इंग्लैण्ड का काम करने का तरीक़ा बिलकुल जुदा ही है। अंग्रेज लोग सदा पुरानी सूरतें क़ायम रखने की कोशिश किया करते हैं और इसीलिए उनके यहांके परिवर्तन साफ़ नहीं दिखाई देते। साधारण दृष्टि से देखनेवाले को ऐसा लगता है कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट का वही हाल है जो पहले था। मगर सच्ची बात यह है कि उसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। पुराने जमाने में कामंस सभा अपनी सत्ता को सीधे तौर पर काम में लाती थी और उसके हरेक सदस्य की हर मामले में कुछ-न-कुछ चलती थी। अब मंत्रि-मण्डल या सरकार ही बड़े-बड़े सवाल तय करती है और कामंस सभा केवल 'हाँ' या 'न' कह सकती है। अवश्य ही सभा 'न' कहकर सरकार को खदेड़ सकती है, मगर यह कार्रवाई इतनी गम्भीर है कि बहुत ही कम होती है, क्योंकि इससे बड़ी झंझट पैदा होती है और आम चुनाव करना पड़ता है। इस तरह किसी सरकार का कामंस-सभा में बहुमत हो तो वह जो चाहे सो कर

सकती है, सभा से भी करवा सकती है और क़ानून बना सकती है। इस प्रकार सत्ता धारासभा के हाथ से निकलकर शासन-विभाग के हाथ में चली गई है और चली जा रही है।

दूसरे, आजकल पार्लमेण्ट को इतना काम करना पड़ता है, और उसके सामने इतने पेचीदा सवाल रहते हैं, कि परिपाटी यह पड़ गई है कि पार्लमेण्ट तो सिर्फ किसी क़ानून या प्रस्ताव के साधारण सिद्धान्त-मात्र निश्चय करदे और बाकी की सारी तफ़सील पूरी करने का काम सरकार या उसके किसी विभाग के लिए छोड़दे। इस तरह शासन-विभाग के हाथ में जबरदस्त अधिकार आगये हैं और विशेष परिस्थिति में वह जो चाहे सो कर सकता है। यों शासन के महत्वपूर्ण कार्यों के साथ पार्लमेण्ट का सम्पर्क दिन-दिन घटता जा रहा है। उसका मुख्य काम अब यह रह गया है कि सरकार के काम-काज की टीका करती रहे, पूछताछ और जाँच-पड़ताल करती रहे और सरकार की सामान्य नीति का समर्थन करती रहे। जैसा हेराल्ड जे० लास्की नामक प्रसिद्ध लेखक कहता है—"हमारी सरकार शासन-विभाग की निरंकुश सत्ता होगई है, उसे सिर्फ़ पार्लमेण्ट के विद्रोह का किंचित् डर है।"

सितम्बर (या शायद अक्तूबर) १९३१ में मजदूर सरकार का अचानक पतन होगया। यह जिस अजीब ढंग से हुआ उससे मालूम होता है कि इस मामले में पार्लमेण्ट का कितना कम हाथ था। आमतौर पर इंग्लैण्ड में सरकार का पतन कामन्स सभा में हार होने पर हुआ करता है। १९३१ में कोई बात सभा के सामने ही नहीं आई। किसीको, यहाँतक कि मंत्रि-मण्डल के अधिकांश सदस्यों तक को, मालूम नहीं हुआ कि क्या हो रहा है। प्रधानमंत्री रैमज़े मैक्डानल्ड की दूसरे दलों के नेताओं से कुछ गुप्त बातचीत हुई। वह राजा से मिले, पुराना मंत्रिमण्डल बात-की-बात में ग़ायब हो गया और नये की अख़बारों में घोषणा हो गई! पुराने मंत्रिमण्डल के कुछ सदस्यों को यह सारा हाल पहले पहल अख़बारों से मालूम हुआ। यह सारी कार्रवाई असाधारण और लोकसत्तात्मक प्रणाली के बिलकुल ख़िलाफ़ थी। आख़िरकार कामंस-सभा ने इसकी ताईद करदी। इससे स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। तरीक़ा तो निरंकुशता का ही रहा।

इस तरह रातों रात मजदूर सरकार के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार आगई। रैमज़े मैकडानल्ड साहब प्रधानमंत्री बने रहे और उदार और अनुदार दल उनके साथ शरीक होगये। 'राष्ट्रीय सरकार' का सीधा अर्थ है ऐसी सरकार जिसमें मालिकवर्ग यानी सम्पत्ति के स्वामी अपने आपस के झगड़े भूलकर समाजवादी परिवर्त्तनों का मुका-बिला करने के लिए एक होजाते हैं। ऐसी सरकार उस वक्त कायम होती है जब इस

तरह के परिवर्तन बहुत दूर तक मार करनेवाले दीखते हों और स्वामी-वर्ग की स्थिति डांवाडोल होने का या उसपर बहुत बड़ा बोझा आपड़ने का अन्देशा हो। सितम्बर १९३१ में इंग्लैण्ड में यही हालत हो गई थी। उस वक़्त संकट शुरू होगया था और उसके कारण आगे चलकर पाउण्ड को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि समाजवाद के ख़िलाफ़ पूंजीवाद की सारी ताक़तें एक होगईं। मध्यम-वर्ग की जनता को यह भय दिखाकर कि अगर मजदूर दल की जीत हुई तो तुम्हारी सब बचत जब्त कर ली जायगी, राष्ट्रीय सरकार ने इन छोटे अमीरों को पूरी तरह भयभीत कर दिया और भारी बहुमत से चुनाव जीत लिया। मैकडानल्ड और उसके समर्थकों ने कहा कि राष्ट्रीय सरकार न रहेगी तो साम्यवाद आवेगा। असल बात यह है कि ब्रिटिश मजदूर दल की नरमी मशहूर है। वह प्रतिष्ठित संस्था है। उसे जितना डर साम्यवाद का लगता है उतना और किसी का नहीं लगता।

इस तरह इंग्लैण्ड में भी पुरानी लोकसत्ता की कमर टूट गई है और पार्लमेण्ट का पतन होरहा है। लोकसत्ता का दिवाला उस समय निकलता है जब जीवन-मरण के सवाल यानी लोगों के हृदगत भावों को उभाड़नेवाले सवाल सामने आते हैं। जैसे धार्मिक संघर्ष हों या राष्ट्रीय और जातीय संघर्ष हों (उदाहरणार्थ आर्य-जर्मन बनाम यहूदी) या इनसे भी अधिक आर्थिक संघर्ष हो (मिसाल के लिए ग़रीब-अमीर का संघर्ष)। तुम्हें याद होगा कि जब आयर्लैण्ड में अल्स्टर और दूसरे भागों के बीच १९१४ में ऐसा ही धार्मिक और राष्ट्रीय सवाल खड़ा हुआ था तो ब्रिटिश अनुदार दल ने सचमुच पार्लमेण्ट के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया था और गृह-युद्ध तक को उत्तेजन दिया था। इस तरह जबतक ज़ाहिरा तौर पर लोकसत्तात्मक कार्रवाई से अमीरवर्ग का काम बनता है, तबतक वह अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए उसे काम में लेकर फ़ायदा उठाता रहता है। जब इससे बाधा होने लगती है और उसके विशेषाधिकारों और स्वार्थों को धक्का पहुँचने का अन्देशा होता है तो वह लोकसत्ता को ताक़ में रखकर निरंकुश उपाय करने लग जाता है। यह बिलकुल सम्भव है कि भविष्य में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में आमूल सामाजिक परिवर्तनों के पक्ष में बहुमत होजाय। ऐसा हो और वह बहुमत स्थायी स्वार्थों पर हमला करे तो इन स्वार्थों के मालिक पार्लमेण्ट की बात मानने से भी इन्कार कर सकते हैं और उसके निर्णय के ख़िलाफ़ बग़ावत का झण्डा खड़ा करवा सकते हैं। अल्स्टर के सवाल पर १९१४ में उन्होंने यही तो किया था।

तो हमने समझ लिया कि अमीर लोगों की दृष्टि से पार्लमेण्ट और लोकसत्ता तभीतक वाञ्छनीय समझी जाती है जबतक कि वह मौजूदा हालत को क़ायम रखती है। अवश्य ही यह सच्ची लोकसत्ता नहीं होती। यह तो लोकसत्ता के विपरीत उद्देश्यों के

लिए लोकसत्ता की कल्पना का दुरुपयोग करना हुआ। अवतक सच्ची लोकसत्ता को तो अवसर ही नहीं मिला है, क्योंकि पूंजीवादी प्रणाली और लोकसत्ता में मौलिक विरोध है। लोकसत्ता का कोई अर्थ होसकता है तो समानता होसकता है, और समानता भी केवल मताधिकार की ही नहीं वल्कि आर्थिक और सामाजिक समानता भी। पूंजीवाद का अर्थ इससे विलकुल उलटा है। उसमें मुट्ठी भर लोगों के हाथ में आर्थिक सत्ता होती है और वे अपने ही फ़ायदे के लिए उसका इस्तेमाल करते हैं। वे अपनी विशेषाधिकार-पूर्ण स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए क़ानून वनाते हैं और जो कोई इन क़ानूनों को तोड़ता है वह शक्ति और व्यवस्था का भंग करने वाला ठहराया जाकर समाज के दण्ड का पात्र वनता है। इस तरह इस प्रणाली में समानता का नामोनिशान तक नहीं होता और जितनी-सी आज़ादी दी जाती है वह पूंजीवादी क़ानूनों की सत्ता के भीतर ही दीजाती है। इन क़ानूनों का उद्देश्य पूंजीवाद की रक्षा करना होता है।

पूंजीवाद और लोकसत्ता के वीच का संघर्ष आन्तरिक और स्थायी है। अक्सर भ्रमपूर्ण प्रचार और पार्लमेण्ट वग़ैरा लोकसत्ता के वाहरी स्वरूप के कारण यह संघर्ष छिपा रहता है। मालिक-वर्ग के लोग दूसरे वर्गों को थोड़ा वहुत सन्तुष्ट रखने के लिए टुकडे भी फेंकते रहते हैं। ऐसा समय भी आजाता है कि फेंकने के लिए टुकडे नहीं वचते। उस वक़्त दोनों दलों में संघर्ष ख़ूब ज़ोर का होता है। क्योंकि उस समय युद्ध असली चीज़ के लिए, यानी शासन में आर्थिक सत्ता हासिल करने के लिए, होता है। जव यह नौवत आती है तो पूंजीवाद के सारे हिमायती, जो अवतक अलग-अलग दलों के साथ खिलवाड़ करते रहे हैं, अपने स्थायी स्वार्थों के ख़तरे का मुक़ाविला करने के लिए एक होजाते हैं। उदार और इसी तरह के दूसरे दल ग़ायव होजाते हैं और लोकसत्ता के क़ायदे ताक़ में रख दिये जाते हैं। योरप और अमेरिका में यह नौवत आ पहुँची है, फ़ैसिज्म का अधिकांश देशों में किसी-न-किसी रूप में वोलवाला हो चला है और यह उस नौवत की निशानी है। मज़दूर-दल सव जगह अपना वचाव कर रहा है। उसमें पूंजीवादी शक्तियों के इस नये और ज़वरदस्त संगठन का मुक़ाविला करने की ताक़त नहीं है। फिर भी अजीव वात यह है कि पूंजीवाद की इमारत ख़ुद लड़खड़ा रही है और वह अपनेआपको नई दुनिया के अनुकूल नहीं वना सकती। यह निश्चित दिखाई देता है कि पूंजीवाद किसी तरह जीवित रह भी गया तो उसका स्वरूप वहुत ही वदला हुआ और कठोर होगा। यह भी लम्बे संघर्ष में एक दूसरी मंज़िल होगी; क्योंकि पूंजीवाद के किसी भी रूप में आधुनिक उद्योग ही क्या, आधुनिक जीवन तक ऐसा युद्धक्षेत्र रहेगा जिसमें सेनाओं की आपस में सदा भिड़न्त होती रहेगी।

कुछ लोग समझते हैं कि अगर थोडे-से समझदार आदमियों के हाथ में अलग-अलग शासन दे दिये जावें तो यह सारा झगड़ा, संघर्ष और दुःख मिट जाय। वे यह भी समझते हैं कि इस सारे झगडे की जड़ राजनीतिज्ञों की मूर्खता या दुष्टता है। उनका ख़याल है कि भले आदमी इकट्ठे हों तो वे सदाचार के उपदेश देकर और भूल सुझाकर दुर्जनों की कायापलट कर सकते हैं। यह कल्पना बडी भ्रमपूर्ण है; क्योंकि दोष व्यक्तियों का नहीं है, बुरी प्रथा का है। जबतक यह प्रथा बनी हुई है, इन व्यक्तियों का आचरण वैसा ही रहेगा जैसा अबतक रहा है। सत्ताधारी समूह दो तरह के होते हैं। एक तो विदेशी होकर दूसरे राष्ट्रों पर शासन करते हैं। दूसरे राष्ट्र के भीतर आर्थिक साधनोंवाले लोग होते हैं। ये लोग अजीब आत्म-वंचना और दम्भ से यह विश्वास कर लेते हैं कि उनके विशेषाधिकार उनकी योग्यता का उचित पुरस्कार हैं। जो कोई इस स्थिति को मानने से इन्कार करता है वह उन्हें दुष्ट, बदमाश और शान्ति भंग करनेवाला मालूम होता है। किसी प्रभुता-प्राप्त समूह को यह समझा सकना असम्भव है कि उसके विशेष अधिकार अन्यायपूर्ण हैं, और उन्हें उसे शान्तिपूर्वक छोड़ देना चाहिए। व्यक्ति फिर भी कभी और वह भी क्वचित् ही यह विश्वास कर सकते हैं, परन्तु समूह कभी नहीं कर सकते। इसलिए भिड़न्त, संघर्ष और क्रान्ति और साथ-ही-साथ अनन्त कष्ट और दुःख भी अनिवार्य रूप से आते हैं।

: १९४ :

दुनिया पर एक आख़िरी नज़र

७ अगस्त, १९३३

जबतक क़लम, काग़ज और स्याही है तबतक चिट्ठियाँ लिखने का कोई अन्त नहीं। और संसार की घटनाओं पर लिखने का भी कोई अन्त नहीं; क्योंकि यह घटना-चक्र तो चलता ही रहता है और स्त्री, पुरुष और बच्चों का हँसना और रोना, आपस में प्रेम और घृणा करना और लड़ना-झगड़ना कभी बन्द नहीं होता। यह कहानी जारी रहती है, उसका ख़ात्मा ही नहीं होता। आज जिस ज़माने में हम रहते हैं, जीवन का प्रवाह और भी गतिशील, उसकी रफ़्तार और भी तेज़ है और एक के बाद दूसरे परिवर्तन जल्दी-जल्दी होते हैं। मेरे लिखते-लिखते परिवर्तन होरहे हैं और जो कुछ मैं आज लिख रहा हूँ वह शायद कल ही पुराना पड़ जाय। जीवन की नदी कभी स्थिर नहीं रहती। वह तो बहती ही रहती है। आज की भाँति कभी-कभी वह बहुत जोर से, निर्दयता से, राक्षसी शक्ति से हमारे छोटे-छोटे इरादों और मनोरथों

की उपेक्षा करती हुई, हमारी तुच्छताओं का निर्दय उपहास करती हुई, और हमें अपनी उत्ताल तरंगों पर तिनकों की तरह इधर-उधर फेंकती हुई आगे बढ़ती है। यह जीवन की नदी आगे कहाँ जायगी, इसका किसीको पता नहीं। किसी बडी और पैनी चट्टान से टकराकर सहस्र धाराओं में बँट जायगी या उस विशाल, गम्भीर, गौरवशाली, शान्त, सदापरिवर्तनशील और फिर भी कभी न बदलनेवाले समुद्र में जा समावेगी ?

जितना लिखने का मैंने कभी इरादा किया था, या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे कहीं ज्यादा मैं अबतक लिख चुका हूँ। मेरी लेखनी चलती ही रही है। अब हम अपना लम्बा चक्कर काट चुके हैं और आख़िरी मंज़िल तय कर चुके हैं। आज के बीच में पहुँच चुके हैं और कल के किनारे पर खडे हुए अचरज कर रहे हैं कि जब इस कल की भी आज बनने की बारी आयगी तब इसकी क्या शक्ल होगी ? ज़रा देर ठहरकर संसार पर एक दृष्टिपात करें। १९३३ के साल के अगस्त मास के सातवें दिन इसका क्या हाल है ?

हिन्दुस्तान में बापू फिर गिरफ़्तार होगये हैं और सज़ा पाकर यरवडा-जेल में वापस पहुँच गये हैं। सीमित रूप में ही सही, सविनयअवज्ञा फिर शुरू होगई है और हमारे साथी फिर जेल जा रहे हैं। एक वीर और प्रिय साथी और मित्र हमें अभी-अभी छोड़कर चल बसा। वह ब्रिटिश सरकार की क़ैद में मरा है। उससे मैं पहलेपहल २५ वर्ष पहले, जब मैं केम्ब्रिज में गया-ही-गया था, मिला था। वह थे यतीन्द्रमोहन सेनगुप्त। जीवन मृत्यु में समा जाता है, परन्तु भारतवासियों के लिए जीवन को जीने योग्य बनाने का महान कार्य जारी है। हिन्दुस्तान के हज़ारों अत्यन्त जोशीले और प्रतिभाशाली पुत्र और पुत्रियाँ जेल या नज़रबन्दी में पडे हैं। वे लोग अपना यौवन और बल हिन्दुस्तान को ग़ुलाम बनानेवाली वर्तमान प्रणाली से जूझने में ख़र्च कर रहे हैं। यह जीवन और शक्ति निर्माण में, रचनात्मक कार्य में लगी होती! इस दुनिया में कितना काम बाक़ी पड़ा है। परन्तु रचना से पहले नाश करना ही पड़ता है, ताकि नई इमारत के लिए ज़मीन साफ़ होजाय। हम किसी घूरे की कच्ची दीवारों पर बढ़िया इमारत खडी नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान की आज की स्थिति का अन्दाज़ा इस बात से बहुत अच्छी तरह लगाया जा सकता है कि बंगाल के कुछ भागों में कपडे भी सरकारी आज्ञा के अनुसार पहनने पड़ते हैं। दूसरी तरह की पोशाक पहनने का अर्थ होता है जेलख़ाने जाना। चटगाँव में बारह-बारह बरस और उससे ऊपर के छोटे-छोटे लड़कों को (और शायद लड़कियों को भी) जहां कहीं जाना होता है वहां अपनी शिनाख़्त के कार्ड ले जाना पड़ता है। मुझे मालूम नहीं कि ऐसी असाधारण आज्ञा और भी कहीं जारी की गई है या नहीं। ऐसा तो शायद नाज़ियों के

जर्मनी या शत्रु-सेना के अधिकार में हारे हुए युद्ध-क्षेत्र में भी नहीं हुआ है। आज ब्रिटिश राज्य में सचमुच हमारी ऐसी हालत होगई है कि हमें जाने-आने के लिए भी छुट्टी का परवाना लेना पड़ता है और हमारे सीमाप्रान्त के उसपार हमारे पड़ोसियों पर ब्रिटिश वायुयान बम-वर्षा कर रहे हैं।

दूसरे देशों में हमारे देशवासियों की कोई इज्जत नहीं की जाती। उनका शायद ही कहीं स्वागत हो। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है; क्योंकि जिनका आदर घर पर ही न हो उनका बाहर कैसे हो सकता है? दक्षिण-अफ़रीका में वे जन्मे और पले और वहांके कुछ हिस्सों को, ख़ास तौर पर नेटाल को, उन्होंने अपनी मेहनत से बनाया था; पर वहांसे भी उन्हें निकाला जा रहा है। रंग-भेद, जातीय द्वेष और आर्थिक संघर्ष, सबने मिलकर दक्षिण अफ़रीका के इन हिन्दुस्तानियों को ऐसा अछूत-सा बना दिया है, जिनका न कोई घर है और न जिन्हें कहीं शरण मिल सकती है। दक्षिण-अफ़रीका की यूनियन सरकार उन्हें कहती है कि दक्षिण-अफ़रीका को सदा के लिए छोड़ दो। तुम्हें जहाज में बिठाकर कहीं दूसरी जगह भेज दिया जायगा। फिर भले ही तुम ब्रिटिश गायना में जाओ, हिन्दुस्तान में वापस जाओ, या और कहीं जाओ, और भले ही भूखों मरो।

पूर्वी अफ़रीका में केनिया और चौतरफ़ के इलाक़ों को बनाने में हिन्दुस्तानियों का बड़ा हिस्सा रहा है। लेकिन वहां भी उनका रहना पसन्द नहीं किया जाता। इस-लिए नहीं कि अफ़रीका के बाशिन्दों को आपत्ति है, बल्कि इसलिए कि मुट्ठीभर यूरो-पियन बग़ीचेवाले नहीं चाहते। वहांके अच्छे-से-अच्छे यानी पहाड़ी प्रदेश इन बग़ीचे-वालों के लिए सुरक्षित हैं। वहां अफ़रीकन और हिन्दुस्तानी जमीन नहीं ख़रीद सकते। बेचारे अफ़रीकनों की तो बहुत ही बुरी हालत है। शुरू में सारी जमीन उनके क़ब्जे में थी और यही उनकी आमदनी का जरिया था। इस जमीन के बड़े-बड़े टुकड़े सरकार ने जब्त कर लिये और योरप से आकर बसनेवालों को मुफ़्त देदिये। आजकल ये बग़ीचे-वाले बड़े-बड़े जमींदार होगये हैं। उन्हें आय-कर नहीं देना पड़ता और दूसरे कर भी ये शायद ही देते हों। कर का लगभग सारा भार ग़रीब पददलित अफ़रीकनों पर पड़ता है। उनपर कर लगाना आसान काम नहीं है, क्योंकि उनके पास कुछ होता ही नहीं। इसलिए आटा और कपड़े जैसी जिन्दगी की कुछ जरूरी चीजों पर कर लगाया गया और जब वे उन्हें ख़रीदते तो अप्रत्यक्ष रूपसे उन्हें यह कर भी चुकाना पड़ता। लेकिन सबसे ग़ैरमामूली टैक्स, और वह भी सीधा टैक्स, यह था कि प्रत्येक घर और १६ वर्षसे ऊपर के हरेक स्त्री-पुरुष पर कर लगा दिया गया। कर लगाने का उसूल यह है कि लोग जो कमावें या जो कुछ उनके पास हो उसपर कर लगाया जाय। अफ़रीकनों के पास

और तो प्रायः कुछ नहीं था, इसलिए उनके शरीर पर ही टैक्स लगा दिया गया। मगर उनके पास रुपया न हो तो यह फ़ी आदमी १२ शिलिंग सालाना का कर वे कहाँ-से देते ? बस, इसी में इस कर की मक्कारी भरी थी, क्योंकि यूरोपियनों के बग़ीचों में काम करके उन्हें कुछ-न-कुछ रुपया कमाना पड़ता और उससे वे कर चुकाते। यह न सिर्फ़ रुपया वसूल करने की बल्कि बग़ीचों के लिए सस्ते मजदूर हासिल करने की भी तरकीब थी। इस तरह इन अभागे अफ़्रीकनों को कभी-कभी बडी दूर से सफ़र करके देश के भीतरी हिस्से में से समुद्र-तट के पास सात-आठसौ मील चलकर बग़ीचों में आना पड़ता है (भीतरी भाग में रेलें नहीं हैं और जो थोडी-सी हैं वे समुद्र के किनारे के पास हैं)। इस तरह कमाई करके इन लोगों को शरीर-कर चुकाना पड़ता है।

इन ग़रीब शोषित अफ़रीकनों के बारे में मैं तुम्हें और भी बहुत-सी बातें कह सकता हूं। इन्हें इतना तक मालूम नहीं कि अपनी पुकार बाहरी दुनिया को किस तरह सुनाई जाती है। इनकी दुख-गाथा लम्बी है और ये चुपचाप कष्ट सह रहे हैं। इनकी अच्छी-अच्छी जमीनें इनके हाथ से छीन कर और यूरोपियनों को मुफ़्त देदी गई है। अब उन्हीं जमीनों पर उन्हीं यूरोपियनों के कर-दाता बनकर इन बिचारे अफ़रीकनों को काम करना पड़ता है। ये यूरोपियन जमींदार मध्यकालीन जागीरदार बने हुए हैं और कोई भी प्रवृत्ति जो उन्हें नापसन्द होती थी, दबा दी गई है। अफ़रीकन लोग सुधार-कार्य के लिये भी कोई मण्डल नहीं बना सकते। क्योंकि रुपया जमा करने की मनाई है। नाचने की मनाई का भी एक विशेष कानून या आर्डिनेन्स है क्योंकि अफरीकन कभी-कभी अपने नाच-गान में यूरोपियन रहन-सहन की नक़ल किया करते हैं और उसकी हँसी उड़ाया करते हैं। किसान बहुत दरिद्र हैं और उन्हें चाय या कहवे की खेती नहीं करने दी जाती क्योंकि इससे यूरोपियन बग़ीचों वालों के साथ स्पर्धा होती है। तीन वर्ष हुए ब्रिटिश सरकार ने शपथपूर्वक घोषणा की थी कि वह अफरीकन लोगों की रक्षक है और भविष्य में उनकी जमीन नहीं छीनी जावेगी। अफ़्रीकनों के दुर्भाग्य से केनिया में सोना निकल आया। बस, पवित्र वचन भुला दिया गया। यूरोपियन बग़ीचे वाले इस जमीन पर टूट पड़े। उन्होंने अफ्रीकन किसानों को खदेड़ दिया और सोने की खुदाई शुरू कर दी। अंग्रेजों के वादे ऐसे होते हैं। हमसे कहा जाता है कि अन्त में तो इस सारी कार्रवाई से अफ़रीकनों का फ़ायदा ही होने वाला है और वह अपनी जमीन खोकर बिलकुल सुखी हैं।

स्वर्ण-प्रदेश से लाभ उठाने का यह पूँजीवादी तरीक़ा बड़ा अजीब है। एक निश्चित स्थान से लोगों को सचमुच वहाँ तक दौड़ाया जाता है और हरेक उस प्रदेश के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लेता है। फिर वहाँ काम शुरू कर देता है। उस

ख़ास टुकडे में बहुत सोना मिले, या न मिले यह उसके भाग्य पर निर्भर है। यह तरीक़ा पूंजीवाद का नमूना है। वैसे होना तो यह चाहिए कि देश की सरकार सोने के क्षेत्र को अपने हाथ में लेले और सारे राज्य के फ़ायदे के लिए उसपर काम करावे। ताजिकिस्तान और दूसरी जगहों के अपने यहाँके सोने के क्षेत्रों के बारे में सोवियट सरकार ऐसा ही कर रही है।

इस अन्तिम विहंगावलोकन में मैंने तुम्हें केनिया का कुछ हाल बताया है, क्योंकि इन ख़तों में हमने अफरीका की उपेक्षा की है। याद रहे कि यह एक विशाल महादेश है और इसमें अफ्रीकन जातियाँ भरी पडी हैं। इन जातियों का विदेशी लोग सैकडों वर्षों से आजतक निर्दय शोषण कर रहे हैं। ये बुरी तरह पिछडी हुई जातियाँ हैं। लेकिन उन्हें दबाकर रक्खा गया है और आगे बढ़ने का मौक़ा नहीं दिया गया है। जहाँ उन्हें अवसर दिया गया है, जैसा कि पश्चिमी किनारे पर स्थापित एक विश्वविद्यालय में अभी-अभी हुआ है, वहाँ उन्होंने अच्छी तरक्क़ी की है।

पश्चिमी एशिया के देशों का हाल तो मैं तुम्हें काफ़ी बता चुका हूँ। वहाँपर और मिस्र में आजादी की लड़ाई मुख़्तलिफ़ सूरतों में और भिन्न-भिन्न स्थितियों में चल रही है। यही हाल दक्षिण-पूर्वी एशिया का, भारत के उसपार के देशों का और इण्डोनेशिया यानी स्याम, इण्डोचीन, जावा, सुमात्रा, डचइण्डीज़ और फिलिपाईन द्वीपों का है। इनमें से स्याम तो स्वतंत्र है। उसके सिवा इन सब देशों में आन्दोलन के दो पहलू हैं। एक तो विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना और दूसरा सामाजिक समानता या कम-से-कम आर्थिक सुधार के लिए दलित-वर्ग की तड़प।

एशिया के सुदूरपूर्व में विशाल चीन हमला करनेवालों के सामने निस्सहाय हो रहा है और भीतरी फूट के कारण उसके टुकडे-टुकडे होरहे हैं। उसका एक अंग तो कुछ करना चाहता है और दूसरे ने इस ओर से मुँह फेर रक्खा है। इस बीच में जापान आगे बढ़ता जारहा है। उसे कोई रोकनेवाला नहीं दीखता और वह चीन के बडे-बडे इलाक़ों पर अपना पंजा जमाता जारहा है। लेकिन चीन के लम्बे इतिहास में उसपर कितनी ही बार जबर्दस्त हमले हुए हैं और बडी आफ़तें आई हैं; फिर भी उसकी हस्ती क़ायम रही है। अवश्य ही जापानी हमले के बाद भी चीन जिन्दा रहेगा।

साम्राज्यवादी जापान विश्वव्यापी साम्राज्य के बडे-बडे सपने देख रहा है। वहाँ एक तरफ़ सामन्तशाही और सैनिकवाद का जोर है और दूसरी ओर उसके उद्योग-धन्धे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। वह नये और पुराने की अजीब खिचडी है। परन्तु इन सपनों में एक असली ख़तरा छिपा हुआ है, और वह यह है कि उसकी बढ़ती हुई आबादी भयंकर कष्ट में है और उसकी आर्थिक स्थिति गिरती जारही है। इस आबादी को

न अमेरिका में घुसने दिया जाता है और न आस्ट्रेलिया के विशाल निर्जन प्रदेशों में बसने दिया जाता है। इन सपनों के पूरा होने में बडी जबरदस्त रुकावट यह है कि आजकल का सबसे ताक़तवर राष्ट्र अमेरिका उसके ख़िलाफ़ है। जापान के एशिया में बढ़ने में दूसरी जबरदस्त दिक़्क़त सोवियट रूस की है। मंचूरिया में और प्रशान्त महासागर के गहरे पानी पर महायुद्ध की छाया कितने ही दूरन्देश लोगों को अभीसे दिखाई देरही है।

सारा उत्तरी एशिया सोवियट संघ का हिस्सा है और वह एक नई दुनिया की रचना करने और नई समाज-व्यवस्था क़ायम करने के काम में लगा हुआ है। यह विलक्षण बात है कि ये पिछडे हुए देश, जिन्हें सभ्यता अपनी कूच में पीछे छोड़ गई थी और जहाँ अबतक एक तरह की साम्राज्यशाही मौजूद थी, एकदम छलाँग मार-कर ऐसी मंजिल पर पहुँच गये जो पश्चिम के उन्नत राष्ट्रों से भी आगे है। आज सोवियट संघ योरप और एशिया में खड़ा होकर पश्चिमी संसार के लड़खड़ाते हुए पूंजीवाद को चुनौती देरहा है। जहाँ एक ओर व्यापारिक मन्दी, बेकारी और बार-बार का संकट पूंजीवाद का गला घोट रहा है और पुरानी व्यवस्था अन्तिम साँस लेरही है, वहाँ सोवियट-संघ के इलाके में आशा, शक्ति और उत्साह का संचार होरहा है और वह बडे वेग से समाजवादी व्यवस्था के निर्माण और स्थापना में लगा हुआ है। इस विपुल यौवन और जीवन की, तथा सोवियट को जो सफलता मिली है उसकी छाप सारे संसार पर पड़ रही है और विचारशील लोगों का ध्यान उसकी तरफ़ खिंच रहा है।

एक दूसरा महान् प्रदेश यानी अमेरिका का संयुक्तराष्ट्र पूंजीवाद की नाकाम-याबी का नमूना है। बडी-बडी कठिनाइयों, संकटों, मजदूरों की हड़तालों और बे-मिसाल बेकारी से घिरकर भी अमेरिका किसी तरह काम चलाने और पूंजीवादी प्रणाली की रक्षा करने की कोशिश कर रहा है। इस बडे प्रयोग का नतीजा अभी देखना बाक़ी है। लेकिन कुछ भी हो, अमेरिका को जो बडी-बडी सहूलियतें मिली हुई हैं उन्हें उससे कौन छीन सकता है? उसका इलाक़ा लम्बा-चौड़ा है। मनुष्य को जिस चीज की भी जरूरत होसकती है वह वहाँ बहुतायत से मिलती है। उसके कला-कौशल और सब देशों से बढ़े-चढ़े हैं और वहाँ के लोग बडे कारीगर और तालीम पाये हुए हैं। संयुक्तराष्ट्र और सोवियट-संघ दोनों ही संसार के आनेवाले मामलों में बहुत महत्वपूर्ण भाग लिये बिना नहीं रह सकते।

और दक्षिण अमेरिका का महान् देश, जिसमें लैटिन जातियाँ रहती हैं, उत्तरी अमेरिका से कितना भिन्न है? उत्तर की तरह वहाँ जातीय द्वेष का भाव नहीं है और

मुख़्तलिफ़ जातियाँ एक-दूसरे में ख़ूब मिल गई हैं। दक्षिणी योरप, स्पेन, पुर्तगाल और इटली के लोग और अमेरिका के आदम-निवासी 'रेड इंडियन' और हब्शी सब दूध-पानी की तरह मिल गये हैं। ये रेड इंडियन लोग कनाडा और संयुक्तराष्ट्र में तो अपनी हस्ती बहुत कुछ खो चुके हैं, लेकिन दक्षिणी अमेरिका में और ख़ासतौर पर वेनेज़ुएला में अब भी इनकी बहुत बडी तादाद है। वे ज्यादातर बड़े शहरों से दूर रहते हैं। तुम्हें यह जानकर शायद आश्चर्य हो कि ब्यूनोआयर्स और रायोदिजनेरो जैसे कुछ शहर न केवल बहुत बड़े ही हैं बल्कि बहुत सुन्दर भी हैं और उनमें बडी शानदार और चौडी-चौडी छायादार सड़कें भी हैं। अर्जेण्टाइन की राजधानी ब्यूनोआयर्स की आबादी २५ लाख और ब्रेज़ील की राजधानी रायोदिजनेरो की आबादी क़रीब २० लाख है।

यद्यपि वहाँ नस्लें मिल रही हैं, फिर भी शासकवर्ग तो गोरे अमीरों में से ही हैं। जिस समूह के हाथ में फ़ौज और पुलिस आजाती है आमतौर पर वही राज्य करता है। और, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, वहाँ ऊपर-ही-ऊपर कई बार क्रान्तियाँ भी हुई हैं। दक्षिण अमेरिका के सारे देशों में खनिज पदार्थों की बहुतायत है और इस-लिए वे कभी भी बहुत धनी होसकते हैं। परन्तु अभी तो वे क़र्ज़ में डूबे हुए हैं और चार वर्ष पहले, ज्यों ही संयुक्तराष्ट्र ने उन्हें रुपया उधार देना बन्द कर दिया, उनके यहाँ बुरी तरह गड़बड़ मचगई और सब जगह क्रान्तियाँ होगईं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण वहाँके तीनों मुख्य देश अर्जेण्टाइन, ब्रेज़ील और चिली भी क्रान्ति के शिकार हुए।

१९३२ की गरमियों के बाद से दक्षिणी अमेरिका में भी दो छोटे-छोटे युद्ध हो चुके हैं। लेकिन मंचूरिया के जापानी युद्ध की तरह इन्हें भी सरकारी तौर पर युद्ध नहीं कहा गया। राष्ट्र-संघ के इक़रारनामे, केलॉग की शान्ति की संधि और दूसरे समझौतों के बाद अब 'लड़ाइयाँ' बहुत कम होती हैं। जब एक राष्ट्र दूसरे पर हमला करता है और उसके नागरिकों को मार डालता है तो वह 'संघर्ष' कहलाता है। और चूँकि समझौते में संघर्षों की मनाई नहीं हुई है इसलिए किसी को कोई चिन्ता नहीं। मंचूरिया के युद्ध की तरह इन छोटी-छोटी लड़ाइयों का कोई संसारव्यापी महत्व नहीं होता। लेकिन इनसे यह प्रमाण मिल जाता है कि राष्ट्र-संघ से लगाकर अनेक समझौतों और सन्धियों तक संसार में शान्ति स्थापन करने के जो उपाय किये गये हैं और जिनकी इतनी बड़ाई की जाती है, वे कितने दुर्बल और निकम्मे हैं। राष्ट्र-संघ का एक सदस्य दूसरे सदस्य पर हमला करता है और संघ या तो निस्सहाय होकर बैठ रहता है या झगडे को निपटाने की कमज़ोर और बिलकुल फ़िज़ूल कोशिशें करता है।

दक्षिण अमेरिका की इन लड़ाइयों या 'संघर्षों' में से एक संघर्ष बोलीविया और पेरागुए के बीच में है। झगड़ा चाको नामक एक छोटे-से जंगली इलाके के कारण है। एक विनोदप्रिय फ्रांसीसी ने कहा है—"चाको जंगल के बारे में बोलीविया और पेरागुए के बीच जो झगड़ा चल रहा है उससे मुझे उन दोनों गंजों की याद आती है जो कंघे के लिए झगड़ रहे थे।" झगडा तो है, लेकिन वह इतना ही बेहूदा तो नहीं है। इस विशाल जंगली इलाक़े में तेल-सम्बन्धी स्वार्थ गुंथे हुए हैं और पेरागुए नदी जो इसमें बहती है वह बोलीविया को अटलाण्टिक महासागर से मिलाती है। दोनों देशों ने राजीनाम नहीं किया और अभीतक हजारों जानें क़ुरबान कर चुके हैं।

दूसरी भिड़न्त कोलम्बिया और पेरू के बीच होरही है। यहाँ झगडे की जड़ लटीशिया नामक छोटा-सा गाँव है। इसपर पेरू ने बडे अनुचित ढंग से क़ब्ज़ा कर लिया था। मेरा ख़याल है कि राष्ट्र-संघ ने भी पेरू की कडी टीका की थी। शायद यह झगड़ा अब तय होगया है।

लैटिन अमेरिका (और इसमें मैक्सिको शामिल है) धर्म से कैथलिक है। मैक्सिको में राज्य और कैथलिक पादरियों के बीच में बडी जोर की टक्करें हुई हैं। स्पेन की तरह मैक्सिको की सरकार भी शिक्षा और लगभग सभी बातों में रोमन पादरियों की बडी शक्ति को दबा देना चाहती थी।

दक्षिण अमेरिका की भाषा स्पेनिश है। सिर्फ़ ब्रेजील में पुर्तगाली सरकारी भाषा है। चूंकि इस विशाल प्रदेश में स्पेनिश भाषा का ही बोलबाला है, इसलिए यह संसार की बडी-से-बडी भाषाओं में से एक है। शायद तादाद के लिहाज से अंग्रेजी के बाद इसीका दर्जा है। यह एक सुन्दर आनुनासिक भाषा है। इसमें बढ़िया आधुनिक साहित्य है और अब तो दक्षिण अमेरिका के कारण यह एक बहुत महत्वपूर्ण व्यापारिक भाषा भी बन गई है।

: १९५ :

युद्ध की छाया

८ अगस्त, १९३३

पिछले ख़त में हमने एशिया, अफ़रीका और दोनों अमेरिका के महादेशों पर सरसरी नजर डाली थी। योरप बाक़ी रह गया था। योरप में झगडे-टण्टे बहुत हैं; पर उसमें अनेक गुण भी हैं।

इंग्लैंण्ड अबतक संसार का मुखिया राष्ट्र था। मगर अब उसका पुराना प्रभुत्व

जाता रहा, और जो कुछ बच रहा है उसकी हिफ़ाजत के लिए वह खूब कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री ताक़त जैसी पहले थी, अब नहीं रही। इसीके कारण उसकी रक्षा थी और दूसरे राष्ट्रों पर उसकी प्रधानता रहती थी। इसीके सहारे वह अपना साम्राज्य बना पाया था। बहुत वक़्त नहीं गुजरा, एक दिन ऐसा था कि उसकी जल-सेना किन्हीं दो बड़े राष्ट्रों की जल-सेना से बड़ी और ज्यादा ताक़तवर थी। आज तो वह संयुक्तराष्ट्र की जल-सेना के साथ सिर्फ़ बराबरी का दावा कर सकती है और जरूरत पड़े तो संयुक्तराष्ट्र के पास इंग्लैण्ड से बड़ी जल-सेना जल्दी से बना लेने के साधन हैं। आज समुद्री ताक़त से भी हवाई ताक़त का महत्व ज्यादा है। इस बारे में इंग्लैण्ड और भी कमजोर है। कई राष्ट्रों के पास उससे ज्यादा जंगी हवाई जहाज हैं। उसकी व्यापारिक प्रभुता भी चली गई और उसके लौटकर आने की कोई उम्मीद नहीं है। उसका विशाल निर्यात-व्यापार दिन-दिन गिरता जारहा है। अब तो वह ऊँची चुंगी और संरक्षण-कर लगाकर अपने माल के लिए साम्राज्य के बाजार की रक्षा करने की कोशिश कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि उसने साम्राज्य के बाहर संसार-व्यापी व्यापार के हौसले छोड़ दिये हैं। इस सीमित क्षेत्र में उसे कामयाबी मिल भी गई तो इससे उसकी पुरानी प्रभुता थोड़े ही वापस आजाती है। वह तो सदा के लिए जाती रही। साम्राज्य के भीतर भी उसे कितनी सफलता मिलेगी और वह कितने दिन टिकेगी, इसमें सन्देह ही है।

अमेरिका के साथ भयंकर द्वन्द्व-युद्ध होजाने के बाद भी इंग्लैण्ड संसार के व्यापार का सराफ़ा-केन्द्र और लन्दन नगर हुण्डी की मण्डी बना हुआ है। लेकिन जैसे-जैसे संसार का व्यापार घटता और मिटता जा रहा है वैसे-वैसे इस आर्थिक प्रधानता का खिचाव और मूल्य भी कम होता जा रहा है। इंग्लैण्ड और दूसरे देश खुद अपने आर्थिक राष्ट्रवाद और चुंगी वग़ैरा की नीति से संसार के व्यापार के इस तरह घटने में मदद कर रहे हैं। संसार का बहुत-सा व्यापार बना रहा और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली क़ायम रही तो भी इसमें सन्देह नहीं कि संसार का आर्थिक नेतृत्व अन्त में लन्दन के हाथ से निकलकर न्यूयार्क के हाथ में चला जायगा। मगर शायद उससे पहले पूँजीवादी प्रणाली में विशाल परिवर्तन हो चुके होंगे।

इंग्लैण्ड की यह तारीफ़ है कि वह अपने-आपको बदलते हुए हालात के अनुकूल बना लेता है। लेकिन यह गुण उसी वक़्त तक है जबतक कि उसकी सामाजिक बुनियाद नहीं हिलती और उसके सम्पन्नवर्ग की विशेष स्थिति बनी हुई है। अनुकूल बन जाने की यह ताक़त मौलिक सामाजिक परिवर्तनों के बीच भी क़ायम रहेगी या नहीं, यह आगे ही देखा जायगा। इसकी बहुत कम सम्भावना मालूम होती

है कि इस तरह के परिवर्तन चुपचाप और शान्तिपूर्वक होजायँगे। क्योंकि जिनके पास सत्ता और विशेष अधिकार होते हैं वे उन्हें राज़ी-ख़ुशी से नहीं छोड़ा करते।

अभी तो इंग्लैंड बडी दुनिया से सिकुड़कर अपने साम्राज्य में सीमित हो रहा है। इस साम्राज्य को बचाकर रखने के लिए उसने इसकी रचना में बडी-बडी तब्दीलियाँ मञ्ज़ूर करली हैं। उपनिवेश कितनी ही तरह से ब्रिटेन की अर्थ-प्रणाली से बँधे हुए हैं, फिर भी उन्हें एक हद तक आज़ादी मिल गई है। इंग्लैण्ड ने अपने बढ़ते हुए उपनिवेशों को सन्तुष्ट रखने के लिए बहुत-सा त्याग किया है, फिर भी उनमें संघर्ष हो ही जाता है। आस्ट्रेलिया बैंक आफ़ इंग्लैण्ड से बुरी तरह बँधा हुआ है और जापानी हमले के डर के कारण इंग्लैण्ड के साथ उसका मज़बूत गठ-बन्धन है। कनाडा के बढ़ते हुए उद्योगों की इंग्लैण्ड के कुछ उद्योगों के साथ लाग-डाँट है और वह इस मामले में इंग्लैण्ड के सामने झुकने को तैयार नहीं है। कनाडा के अपने पडोसी संयुक्तराष्ट्र के साथ भी कई तरह के ताल्लुक़ात हैं। दक्षिणी अफ़रीक़ा में पुरानी कटुता तो अब नहीं रही, पर वहाँ साम्राज्य के लिए बहुत प्रेम भी नहीं है। इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के माल पर कर लगाये तो इसलिए थे कि वह डरकर घुटनें टेक देगा, मगर नतीजा उलटा ही हुआ। इन करों से आयर्लैण्ड के कारख़ानों और खेती को ख़ूब उत्तेजन मिला है और आयर्लैण्ड को स्वावलम्बी राष्ट्र बनने में बडी कामयाबी मिल रही है। वहाँ नये-नये कारखाने खडे होगये हैं और जहाँ पहले घास उगती थी वहाँ अब अनाज की खेती होने लगी है। हल फिर से चलने लगा है। जो खाद्य-पदार्थ पहले इंग्लैण्ड भेज दिये जाते थे उन्हें लोग ख़ुद काम में लेने लगे हैं और उनके रहन-सहन का ढंग ऊँचा होरहा है। इस तरह डि वेलरा ने सफल होकर अपनी नीति को ठीक साबित कर दिया है। आज आयर्लैण्ड उग्र और मुक़ाबिले के लिए तैयार होकर ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति में काँटे की तरह चुभ रहा है। ओटावा-सरीखे समझौते के साथ उसका बिलकुल मेल नहीं बैठता।

इस तरह उपनिवेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखकर इंग्लैण्ड को कोई फ़ायदा नहीं होरहा है। हिन्दुस्तान से वह बहुत फ़ायदा उठा सकता था, क्योंकि यहाँ फिर भी उसके लिए लम्बा-चौड़ा बाज़ार था। लेकिन हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति और यहाँका आर्थिक कष्ट ब्रिटिश व्यापार के लिए अनुकूल नहीं है। लोगों को जेल भेजकर ब्रिटिश माल ख़रीदने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।

श्री स्टैनली बाल्डविन ने हाल ही में मैंचेस्टर में कहा था:—

"The day when we could dictate to India and tell her when and where to buy her goods was gone. The safeguard for trade was

goodwill. We should never sell goods to India by cotton screamers on the end of a bayonet."

अर्थात् 'वे दिन लद गये जब हम हिन्दुस्तान को आज्ञा देकर कह सकते थे कि उसे कब और कहाँ से माल ख़रीदना है। व्यापार की रक्षा सद्भाव से ही हो सकती है। संगीनों के सहारे जहाज भर-भरकर हिन्दुस्तान को कपड़ा बेचने की आशा नहीं रखनी चाहिए।"

हिन्दुस्तान की अन्दरूनी हालत की बात छोड़दें तो भी इंग्लैण्ड को यहाँ, पूर्व के सभी देशों में और कुछ उपनिवेशों में जापान की भयंकर लाग-डाँट का सामना तो करना ही पड़ेगा।

इसलिए इंग्लैण्ड जो उसके पास बच रहा है उसे बनाये रखने की ख़ूब कोशिश कर रहा है। इसके लिए वह अपने साम्राज्य को एक आर्थिक इकाई बना रहा है और उसमें डेनमार्क या स्कैण्डिनेविया सरीखे और भी छोटे-छोटे देश जो उससे समझौता कर लेते हैं उन्हें भी अपनेमें मिला रहा है। यह नीति उसे घटना-चक्र से मजबूर होकर इख़्तियार करनी पड़ रही है। उसके लिए और कोई मार्ग ही नहीं है। युद्ध में अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए भी उसे अधिक स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। इसलिए वह अब अपनी खेती की भी तरक़्क़ी कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रवाद की यह साम्राज्यव्यापी नीति कहाँतक कामयाब होगी, यह अभी कोई नहीं बता सकता। मैंने कई कठिनाइयाँ बताई हैं, जो इसकी सफलता में बाधक होंगी। अगर असफलता हुई तो साम्राज्य का सारा ढाँचा ही बैठ जायगा और अंग्रेज़ लोगों को बहुत ग़रीबी से रहना पड़ेगा। इस नीति की कामयाबी भी ख़तरे से ख़ाली नहीं है, क्योंकि इसके कारण बहुत-से यूरोपियन देशों की बर्बादी होसकती है। वह इस तरह से कि इन देशों के व्यापार को तो काफ़ी बाज़ार नहीं मिलेगा और इंग्लैण्ड के क़र्ज़दार देशों का दिवाला निकलने से ख़ुद इंग्लैण्ड की हालत को ठेस पहुँचे बिना नहीं रह सकती।

जापान और अमेरिका के ख़िलाफ़ भी आर्थिक संघर्ष पैदा होकर रहेंगे। संयुक्तराष्ट्र के साथ कई बातों में स्पर्धा मौजूद है और, जैसी दुनिया की आज हालत है और संयुक्तराष्ट्र के पास जितने विशाल साधन हैं उनको देखते हुए, ज्यों-ज्यों इंग्लैण्ड की अवनति होगी त्यों-त्यों अमेरिका की उन्नति होगी। इस क्रिया का परिणाम यही होसकता है कि या तो इस झगड़े में इंग्लैण्ड चुपचाप हार मानले या जो कुछ उसके पास रह गया है उसके भी हाथ से निकल जाने से पहले और अपने बराबरीवालों का मुक़ाबिला करने की ताक़त खो देने के पहले अपनी रक्षा के लिए युद्ध की जोखिम उठावे।

इंग्लैण्ड का दूसरा बड़ा प्रतिस्पर्धी सोवियट-संघ है। इन दोनों की नीति में

आकाश-पाताल का अन्तर है। ये एक-दूसरे पर आँखें निकालते और योरप और दुनिया-भर में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ साजिश करते रहते हैं। इन दोनों शक्तियों का थोड़े समय के लिए परस्पर शान्तिपूर्वक रहना सम्भव है, मगर इनमें हमेशा के लिए मेल होना बिलकुल नामुमकिन है; क्योंकि इनके आदर्श बिलकुल अलग-अलग हैं। अगर इन दोनों में कोई बडी भिड़न्त होनी ही है तो इंग्लैण्ड यह नहीं चाहेगा कि उसमें बहुत देर हो, क्योंकि सोवियट की ताक़त हर साल बढ़ती जाती है। उधर रूस कुछ दिन ठहरकर, यानी थोड़ा बलवान और पूरी तरह तैयार होकर, दो-दो हाथ करना चाहेगा।

इंग्लैण्ड आज एक सन्तुष्ट शक्ति है, क्योंकि उसे जो कुछ चाहिए वह सब मिला हुआ है। उसे डर है कि कहीं यह सब हाथ से जाता न रहे; और यह डर सच्चा है। वह वर्तमान स्थिति को क़ायम रखने की ख़ूब कोशिश करता है और इस काम के लिए राष्ट्र-संघ का उपयोग करता है। लेकिन घटना-चक्र को रोकना उसके या और किसी राष्ट्र के बस की बात नहीं है। बेशक आज वह मज़बूत है, लेकिन इसमें शुबहा नहीं कि साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में वह कमज़ोर होरहा है और उसके दिन ढल रहे हैं। हम उसके महान साम्राज्य को अस्त होते हुए देख रहे हैं। (कहीं यह बात तो नहीं है कि चूंकि मैं ऐसा चाहता हूँ इसीलिए मैं ऐसा सोचता हूँ?)

इंग्लिश चैनल के उस पार योरप के महादेश में पहुँचने पर पहलेपहल फ़्रांस आता है। यह भी एक साम्राज्यवादी राष्ट्र है। अफरीका और एशिया में उसका बडा साम्राज्य है। सैनिक अर्थ में एक प्रकार से वह योरप में सबसे प्रबल राष्ट्र है। उसके पास बडी शक्तिशाली सेना है और वह पोलैण्ड, ज़ेकोस्लोवेकिया, बेलजियम, रूमानिया और यूगोस्लाविया वग़ैरा दूसरे देशों के एक समूह का नेता है। फिर भी उसे ख़ास तौर पर हिटलर के शासन के समय से जर्मनी की लड़ाकू भावना का डर है। सचमुच हिटलर ने पूंजीवादी फ़्रांस और सोवियट रूस की आपसी भावनाओं में मार्के का परिवर्त्तन कर दिया है। समान शत्रु सामने होने के कारण दोनों आपस में बड़े मित्र होगये हैं।

जर्मनी में नाज़ियों का आतंक अभी जारी है और नित नये अत्याचारों की ख़बरें आती रहती हैं। यह पाशविकता कबतक बनी रहेगी, यह नहीं कहा जा सकता। पाँच महीने तो हो चुके हैं और उसमें कमी नहीं हुई है। ऐसा दमन स्थायी शासन का निशान कभी नहीं होसकता। मुमकिन है जर्मनी की फ़ौजी ताक़त काफ़ी होती तो कभी की योरप में लड़ाई छिड़ गई होती। शायद आगे चलकर छिड़ भी जाय। हिटलर को यह कहने का शौक़ है कि वह साम्यवाद को छोड़कर आये हुओं के लिए अन्तिम

शरण है। यह बात सच होसकती है, क्योंकि अब जर्मनी के लिए हिटलरशाही के सिवा दूसरा रास्ता साम्यवाद का ही है।

मुसोलिनी के अधीन इटली का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में बहुत व्यावहारिक और स्वार्थपूर्ण है। उसमें भावना का कोई स्थान नहीं है। वह दूसरे राष्ट्रों की तरह शान्ति और सद्भाव की बडी-बडी बातें भी नहीं बनाता। वह लड़ाई के लिए जी-जान से तैयारी कर रहा है, क्योंकि उसे विश्वास है कि थोडे समय बाद लड़ाई होकर रहेगी। इस बीच में वह अपनी हालत मजबूत करने के लिए चालें चल रहा है। खुद फ़ैसिस्ट होने के कारण उसने जर्मनी में फ़ैसिज्म का स्वागत किया है। हिटलर के अनुयायियों से उसकी दोस्ती है। मगर आस्ट्रिया के साथ एक होने का जर्मन नीति का जो बड़ा उद्देश्य है, उसके इटली ख़िलाफ़ है। इस तरह की एकता होजाने से जर्मन सीमा ठेठ इटली की सरहद से मिल जाती है और मुसोलिनी जर्मनी के अपने फ़ैसिस्ट बन्धु का इतना नजदीक आना पसन्द नहीं करता।

मध्ययोरप के छोटे-छोटे राष्ट्र मन्दी के पंजे में फँसे हुए हाँफ रहे हैं और महायुद्ध के बाद के असर से दुःख भोग रहे हैं। हिटलर और नाजियों के डर के मारे तो अब इन देशों के पूरी तरह होश उडे हुए हैं। मध्य-योरप के इन सब देशों में, और ख़ासतौर पर जहाँ जर्मनी या आस्ट्रिया की तरह जर्मन या फैग्टन लोग हैं वहाँ, नाजी-दल बढ़ रहे हैं। लेकिन साथ ही नाजी-विरोधी भावना भी बढ़ रही है और इसका नतीजा संघर्ष है। आजकल इस भिड़न्त का ख़ास मैदान आस्ट्रिया बना हुआ है।

कुछ समय हुआ, शायद १९३२ में, मध्य-योरप और डैन्यूब प्रदेश के फ़्रांस के समर्थक तीनों देश ज़ेकोस्लोवेकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया ने अपना एक संघ बनाया था। महायुद्ध का जो निपटारा हुआ था उससे इन तीनों राज्यों को फ़ायदा हुआ था और उन्हें जो कुछ मिला था उसकी वे रक्षा करना चाहते थे। इस काम के लिए वे आपस में मिल गये हैं और सचमुच युद्ध के लिए उन्होंने आपस में मित्रता करली है। उनके गुट को लघु राष्ट्र-संघ (Little Entente) कहते हैं। इन तीनों राज्यों का यह गुट्ट एक तरह से योरप में एक नई महाशक्ति बन गया है। यह शक्ति फ़्रांस के पक्ष में और जर्मनी और इटली के ख़िलाफ़ है।

जर्मनी में नाजियों की जीत इस लघु राष्ट्र-संघ और पोलैण्ड के लिए ख़तरे की घण्टी थी, क्योंकि नाजी लोग वर्साई की सन्धि पर पुनर्विचार तो कराना चाहते ही थे (यह बात सभी जर्मन चाहते थे), साथ ही वे बोलते भी ऐसी भाषा में थे कि जिससे युद्ध नजदीक आता हुआ दिखाई देता था। नाजियों की भाषा और दूसरी कार्रवाइयाँ इतनी उग्र और हिंसामय थीं कि वर्साई के अहदनामे में तब्दीली चाहनेवाले आस्ट्रिया और

हंगरी जैसे राज्य भी डर गये। हिटलरवाद और उसके खौफ़ की वजह से मध्य-योरप और पूर्व के सारे राज्य, जिनमें अबतक आपस में बडी नफ़रत थी, एक-दूसरे के नजदीक आगये। 'लघुराष्ट्र' पोलैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी और बालकन राज्य सबमें मेल होने लगा है। इनमें आर्थिक एकता और सहयोग की चर्चायें भी चली हैं। जबसे जर्मनी में नाज़ी ज्वालामुखी फटा है तबसे ये देश और ख़ास तौर पर पोलैण्ड और ज़ेकोस्लावेकिया भी सोवियट रूस के अधिक मित्र बन गये हैं। इसका एक नतीजा यह हुआ कि कुछ हफ़्तों पहले रूस और इन देशों के बीच में एक-दूसरे पर हमला न करने का समझौता होगया है।

स्पेन के बारे में मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि वहाँ हाल ही में क्रान्ति हुई है। अभी वह स्थिर नहीं हो सकता और मालूम होता है कि उसके सिर पर दूसरे परिवर्तन के बादल मंडरा रहे हैं।

इस तरह तुम देखती हो कि योरप में आजकल आपस के संघर्ष और घटना के कारण कैसी अजीब और रंग-बिरंगी हालत होरही है और विरोधी राष्ट्र-समूह किस तरह एक-दूसरे पर आँखें लाल कर रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की बातों का कोई अन्त नहीं आता। फिर भी सब जगह फ़ौजें बढ़ाई जारही हैं और युद्ध और विनाश के लिए नये और भयंकर अस्त्र ईजाद किये जारहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भी बहुत चर्चा होती है। परिषदें तो बेशुमार होती हैं, मगर सब बेकार। राष्ट्र-संघ ख़ुद इस बुरी तरह असफल हुआ है कि देखकर दया आती है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् भी होचुकी और मिलकर काम करने की आख़िरी कोशिश भी बेकार गई। एक प्रस्ताव यह है कि योरप के भिन्न-भिन्न देश, या यों कहो कि रूस को छोड़कर सारा योरप, मिल जायें और एक तरह से योरप को संयुक्त राज्य बनालें। यह आन्दोलन असल में इसलिए है कि एक तो सोवियट के विरोध में गुट बना लिया जाय और दूसरे इतने अधिक छोटे-छोटे राष्ट्रों के होने से जो बेशुमार कठिनाइयाँ और उलझनें होती हैं वे बन्द होजायँ। लेकिन राष्ट्रों को एक-दूसरे से इतनी जबरदस्त नफ़रत है कि कोई ऐसे प्रस्ताव पर ध्यान नहीं दे सकता।

असल बात यह है कि हर मुल्क दूसरे मुल्कों से और अधिक जुदा होता जा रहा है। संसार-व्यापी मन्दी और संकट के कारण इस क्रिया की गति और भी तेज होगई है और सभी देश आर्थिक राष्ट्रवाद के रास्ते पर सरपट दौडे जा रहे हैं। सभी ऊँची-ऊँची चुंगी की दीवारें खडी करके उनके पीछे बैठे हैं और विदेशी माल को अपने यहाँ न घुसने देने की भरसक कोशिश कर रहे हैं। अवश्य ही कोई देश सारे विदेशी माल का बहिष्कार नहीं कर सकता, क्योंकि कोई देश ऐसा स्वावलम्बी नहीं है जो अपनी जरूरत

की सभी चीजें तैयार कर सकता हो। लेकिन प्रवृत्ति यह है कि जो कुछ चाहिए वह अपने ही यहाँ पैदा या तैयार कर लिया जाय। कुछ जरूरी चीजें ऐसी हो सकती हैं जो आवोहवा के कारण देश के भीतर तैयार न होसकें। मिसाल के लिए इंग्लैण्ड रुई, सन, चाय, क़हवा और कई ऐसे पदार्थ पैदा नहीं कर सकता जिनके लिए गरम आवो-हवा की जरूरत होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि भविष्य में व्यापार ज्यादातर उन्हीं देशों के बीच में होगा जिनके जल-वायु भिन्न होंगे और इसलिए उनमें पैदावार भी अलग-अलग तरह की होगी और माल भी भिन्न प्रकार का बनेगा। एक ही तरह की चीजें तैयार करनेवाले देशों का माल उनके आपस में काम नहीं आयगा। इस तरह व्यापार उत्तर और दक्षिण के बीच में होगा। पूर्व और पश्चिम के बीच में न होगा, क्योंकि आबोहवा उत्तर और दक्षिण के हिसाब से बदलती है। गरम देश का ठण्डे देश के साथ व्यापार हो सकेगा, परन्तु दो गरम देशों का या दो समशीतोष्ण देशों का आपस में व्यापार नहीं हो सकेगा। अवश्य ही देश के खनिज साधनों जैसे दूसरे कारण भी होसकते हैं। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मामले में मुख्यतः उत्तर और दक्षिण वाली बात ही लागू होगी, चुंगी की दीवारें और सब तरह का व्यापार रोक देंगी।

आज यह प्रवृत्ति अनिवार्य दिखाई देती है। जब सब देशों के उद्योग काफ़ी उन्नत होजायँगे तब औद्योगिक क्रान्ति की यह आखिरी शक्ल होगी। यह सच है कि अभी एशिया और अफ़रीका का उद्योगवादी होना बहुत दूर की बात है। अफ़रीका तो इतना पिछड़ा हुआ और ग़रीब है कि वहाँ बहुत पक्का माल नहीं खप सकता। अलबत्ता भारत, चीन और साइबेरिया ये तीन बड़े प्रदेश ऐसे हैं जहाँ इस विदेशी माल की खपत की गुंजाइश रहेगी। बाहर के उद्योगवादी देश इन तीनों बड़ी मण्डियों पर उत्सुक दृष्टि लगाये हुए हैं। इन देशों के मामूली बाजार उनके हाथ से छिन गये हैं, इसलिए अपना फ़ालतू माल-ठिकाने लगाने और इस उपाय से अपने जर्जर पूंजीवाद को जीवित रखने के लिए वे एशिया पर हल्ला बोलने का विचार कर रहे हैं। परन्तु अब एशिया का शोषण करना इतना आसान नहीं रहा; क्योंकि एक तो एशिया के उद्योग बढ़ चले हैं और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा भी खूब है। इंग्लैण्ड तो चाहता है कि हिन्दुस्तान में उसीका माल बिके। लेकिन जापान, अमेरिका और जर्मनी चाहते हैं कि उनका भी बिके। यही बात चीन के बारे में है। वहाँ एक कठिनाई व्यापार के रास्ते में और है; और वह यह है कि आजकल उसकी स्थिति बड़ी अशान्त है और आमद-रफ़्त के जैसे साधन चाहिएँ वैसे साधन भी नहीं हैं। सोवियट रूस बाहर का बहुत-सा तैयार माल लेने को राजी है, मगर उसे उधार मिलना चाहिए, यानी उसकी क़ीमत उसे तुरन्त न देनी पड़े। थोड़े समय बाद तो सोवियट संघ अपनी जरूरत की चीजें तैयार करने लगेगा।

पिछली सारी प्रवृत्ति यह रही है कि राष्ट्र एक-दूसरे पर अधिक निर्भर रहें और अन्तर्राष्ट्रीय भावना बढ़े। यद्यपि अलग-अलग स्वतंत्र राज्य रहें, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और व्यापार की एक बडी भारी और पेचीदा इमारत खडी होजाय। यह सिलसिला यहाँतक पहुँचा कि राष्ट्रीय राज्यों और खुद राष्ट्रवाद के साथ इसका संघर्ष होने लगा। इसके आगे की सीढ़ी क़ुदरती तौर पर यही है कि समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीय रचना की जाय। पूंजीवाद के दिन पूरे हो चुके और वह एक ऐसी मंजिल पर पहुँच गया है, जहाँ उसे समाजवाद के लिए जगह ख़ाली कर देनी चाहिए। लेकिन बदक़िस्मती से इस तरह अपने-आप कोई संन्यास नहीं लेता। संकट के कारण मौत नजदीक आती देखकर पूंजीवाद अपनी खोल में घुस गया है और वहाँ बैठा-बैठा सहयोग की वृत्ति को उलट देने की कोशिश कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रवाद का यही कारण है। सवाल यह है कि क्या इसमें कामयाबी मिलेगी और मिलेगी तो वह कब तक टिकेगी ?

सारी दुनिया एक अजीब खिचडी बन गई है। संघर्ष और ईर्षा-द्वेष का भयंकर ताना-बाना लगा हुआ है और नई-नई प्रवृत्तियों के कारण संघर्ष के क्षेत्र का विस्तार बढ़ता जारहा है। प्रत्येक महादेश में और हरेक मुल्क में कमजोर और पीड़ित लोग जीवन की अच्छी चीजों में हिस्सा बँटाना चाहते हैं। इन्हें वे ही तो पैदा करते हैं। वे कहते हैं कि हमसे क़र्जा लिए बहुत दिन होगये, अब वह चुका दिया जाय। कहीं यह माँग बहुत जोर की, कर्कश और उग्र भाषा में की जारही है, और कहीं जरा शान्त शब्दों में। उनके साथ इतने दिन जैसा व्यवहार किया गया है और जिस तरह उनका शोषण हुआ है उसपर उनके हृदय में रोष और कटुता हो और वे कोई अवाञ्छनीय व्यवहार करें तो क्या हम उन्हें दोष दे सकते हैं ? वे तो उपेक्षा और तिरस्कार के शिकार रहे हैं। उन्हें ड्राइंग रूम यानी बैठक की सभ्यता सिखाने की तकलीफ़ किसने गवारा की ?

ग़रीबों और पीड़ितों में यह उथल-पुथल देखकर सभी जगह के सम्पन्न वर्ग घबरा उठे हैं और मिलकर इसे दबाने की कोशिश कर रहे हैं। फ़ैसिज्म की वृद्धि इसी तरह होरही है और साम्राज्यवाद विरोध मात्र को इसी तरह कुचल रहा है। लोकसत्ता, लोक-कल्याण और ट्रस्टीशिप यानी थाती की अच्छी-अच्छी बातें ताक़ में धरी जा रही हैं और स्थापित स्वार्थ रखनेवाले सम्पन्न वर्ग का निरंकुश शासन असली रूप में सामने आरहा है। बहुत जगहों पर उसकी जीत भी होती दिखाई देरही है। एक ज्यादा कठोर युग—उग्र हिंसा का एक युग—अपना मुँह-निकाल रहा है, क्योंकि सर्वत्र नये और पुराने में जीवन-मरण का युद्ध चल रहा है। योरप, अमेरिका या हिन्दुस्तान कहीं

भी चले जाओ, ऊँची-ऊँची वांजियाँ लगी हुई हैं और भले ही पुरानी प्रणाली की जड़ थोडी देर के लिए मजबूत जमी हुई मालूम देती हो फिर भी उसे शनि की दशा लग गई है। आज तो साम्राज्यवाद और पूंजीवाद की सारी इमारत की जड़ हिल चुकी है और उसपर जो कर्ज चढ़ा हुआ है और उससे जो माँगें की जारही हैं उनका निपटारा करने की भी उसमें ताक़त नहीं है। ऐसी हालत में छोटे-मोटे सुधारों से आज की समस्या हल नहीं होसकती।

इन वेशुमार राजनैतिक, आर्थिक और जातीय संघर्षो ने आज संसार को अन्धकारमय बना रक्खा है और युद्ध के काले बादल इनके साथ हैं। कहा जाता है कि सबसे बड़ा और मौलिक संघर्ष साम्राज्यवाद और फ़ैसिज्म की सम्मिलित शक्ति और साम्यवाद के बीच में है। इन दोनों का दुनिया-भर में मुक़ाबिला है और इनके बीच समझौते की कोई गुंजाइश नहीं है।

सामन्तशाही, पूंजीवाद, समाजवाद, संघवाद, अराजकतावाद और साम्यवाद इन सब "वादों" की आड़ में अपना काम बनाने की प्रवृत्ति भी जारी है। मगर एक आदर्शवाद और भी है। यह उन्हीं लोगों के लिए है जो सचमुच इसे चाहते हों। यह आदर्शवाद कोरी कल्पनाओं और ख़याली पुलावों का खेल नहीं है, बल्कि किसी बडे मानवीय उद्देश्य के लिए काम करनें का आदर्शवाद है—एक महान् आदर्श जिसे हम वास्तविक बनाना चाहते हैं। जार्ज वर्नार्ड शा नें कहीं कहा है :—

> "जीवन का सच्चा आनन्द यह है कि जिसे तुम कोई महान् उद्देश्य मानते हो उसीमें जीवन को लगादो; कचरे में फेंक दिये जाने से पहले अपने शरीर का कण-कण इस काम में जर्जर हो जाने दो और प्रकृति के हाथ में एक शक्ति बनकर रहो। इसमें क्या धरा है कि तुम विकार और स्वार्थ के पुतले बनकर अपने दुःख-दर्द रोते रहो और यह शिकायत करते रहो कि दुनिया तुम्हारे सुख के लिए नहीं खप रही है ?"

इतिहास की खोज से मालूम होता है कि किस तरह संसार एक होता आया है। किस प्रकार भिन्न-भिन्न भाग मिलते रहे हैं और एक-दूसरे पर निर्भर रहते आये हैं। दुनिया सचमुच एक ऐसी चीज बन गई है कि उसके टुकडे नहीं किये जा सकते और उसके सब हिस्सों का आपस में असर पड़ता है। अब राष्ट्रों का अलग-अलग इतिहास बनाना बिलकुल असम्भव है। वह मंजिल पार होचुकी। अव तो ऐसे ही इतिहास से कोई लाभ होसकता है जो सारे संसार को एक समझकर लिखा जाय, जिसमें सारे राष्ट्रों के अलग-अलग सूत्र आपस में मिलाये जायें और जिसमें राष्ट्रों को प्रेरणा करनेवाली असली शक्तियों की खोज की जावे।

प्राचीन काल में भी राष्ट्र अनेक भौतिक और दूसरी रुकावटों के कारण एक-

दूसरे से जुदा रहते थे; परन्तु हम देख चुके हैं कि उस समय भी अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्देशीय सामान्य शक्तियाँ कितना असर डालती थीं। महान् व्यक्तियों का इतिहास में सदा ही महत्त्व रहा है, क्योंकि भाग्य-चक्र में मनुष्य बडी चीज है ही। परन्तु बडे-से-बडे व्यक्तियों से भी बडी वे प्रबल और सक्रिय शक्तियाँ होती हैं जो अन्धी और निर्दय होकर हमें इधर-उधर धकेलती हुई आगे बढ़ाती रहती हैं।

हमारा भी आज यही हाल है। करोडों मनुष्यों के हृदयों में जबरदस्त शक्तियाँ काम कर रही हैं और वे भूचाल या क़ुदरत की और किसी उथल-पुथल की तरह आगे बढ़ रही हैं। हम लाख कोशिश करें तो भी उन्हें नहीं रोक सकते। फिर भी हम अपनी दुनिया के छोटे-छोटे कोनों में उनकी गति या दिशा में कुछ अन्तर कर सकते हैं। हम उन शक्तियों का सामना अपने अलग-अलग स्वभाव के अनुसार करते हैं। कुछ लोग उनसे डर जाते हैं, कुछ उनका स्वागत करते हैं। कुछ उनके साथ लड़ने की कोशिश करते हैं, और कुछ लाचार होकर भाग्य के प्रबल हाथों के सामने हाथियार डाल देते हैं। कुछ लोग उन शक्तियों का सीधा सामना करते हैं और उनपर क़ाबू करके एक ख़ास दिशा में उन्हें लेजाने की कोशिश करते हैं। ये लोग उन तमाम आपत्तियों को खुशी से बर्दाश्त करते हैं जो किसी बडी क्रिया में प्रत्यक्ष सहायता करने के काम में आती हैं। इसका आनन्द भी वे ही भोगते हैं। यह बीसवीं सदी अशान्ति और कोलाहल का युग है। इसमें हमारे लिए कहीं अमन-चैन नहीं है। इस सदी का तीसरा भाग बीत चुका है और उसमें युद्ध और क्रान्तियों की भरमार रही है। महान् फ़ैसिस्ट मुसोलिनी कहता है कि 'सारी दुनिया में क्रान्ति होरही है। घटनाओं में इतनी जबरदस्त शक्ति है कि वह अटल भाग्य की तरह हमें आगे धकेलती लेजा रही हैं।' महान् साम्यवादी ट्राटस्की भी हमें सचेत करता है कि इस शताब्दी से आराम और शान्ति की बहुत आशा नहीं रखनी चाहिए। वह कहता है—"यह साफ़ है कि इतनी अशान्ति पिछली किसी सदी में नहीं हुई जितनी बीसवीं सदी में होरही है। अगर हमारे समय का कोई आदमी और सब बातों से पहले सुख और शान्ति चाहता है तो उसने संसार में जन्म लेने के लिए बुरा वक्त चुना है।"

सारा संसार प्रसव-पीड़ा भोग रहा है। सब जगह युद्ध और क्रान्ति के काले बादल छाये हुए हैं। अगर यह सब कुछ होना ही है और इससे बचनें का कोई उपाय ही नहीं, तो इसका सामना कैसे किया जाय? क्या शुतुरमुर्ग़ की तरह मुँह छिपालें? या यह कि वीरों की भाँति घटना-चक्र को बनाने की कोशिश करें, जरूरत हो तो जोखिम और विपत्ति उठायें, एक बड़ा, पवित्र और साहस का काम करने का आनन्द भोगें और यह अनुभव करें कि "हमारे क़दम भी इतिहास के साथ मिल रहे हैं?"

हम सभी, या कम-से-कम जो विचारशील हैं वे, भावी पर आशा लगाये देख रहे हैं कि आगे चलकर क्या-क्या होता है और भविष्य का वर्तमान कैसे बनता है। जो कुछ होनेवाला है उसकी कुछ लोग आशा के साथ और दूसरे लोग भयभीत होकर बाट जोह रहे हैं। क्या यह आनेवाला संसार अधिक सुन्दर और अधिक सुखी होगा और उसमें जीवन की अच्छी-अच्छी चीजें मुट्ठीभर लोगों के लिए ही सुरक्षित न रहकर आजादी के साथ आम लोगों के काम भी आयेंगी ? या वह संसार आज से भी ज्यादा कठोर होगा और मौजूदा सभ्यता की दी हुई बहुत-सी सुख-सामग्री भयंकर और नाशकारी युद्ध में खप जायगी ? इन दोनों बातों में जमीन-आसमान का अन्तर है और इनमें से कोई भी होसकती है। यह तो मुमकिन नहीं दिखाई देता कि कोई बीच का रास्ता निकल आयगा।

हम ध्यान से देखते और इन्तजार करते हैं और साथ ही हम जिस प्रकार का संसार चाहते हैं उसके लिए काम भी करते हैं। पशु की हालत से निकलकर मनुष्यत्व की दिशा में प्रगति इस तरह नहीं हुई है कि प्रकृति के सामने लाचार होकर सिर झुका दिया जाय, बल्कि अक्सर इस प्रकार हुई है कि प्रकृति का सामना किया जाय और मनुष्यों के हित के लिए प्रकृति पर हावी होने की इच्छा रक्खी जाय।

आज की हालत तो यह है। कल का बनना और बिगड़ना तुम्हारे और तुम्हारी पीढ़ी के लाखों लड़कों और लड़कियों के हाथ में है, जो दुनियाभर में बडे हो-होकर कल के काम में भाग लेने के लिए तालीम पा रहे हैं।

: १९६ :

आख़िरी ख़त

९ अगस्त, १९३३

लो बेटी, हमारा काम ख़त्म हुआ। यह लम्बी कहानी समाप्त हुई। अब मुझे और नहीं लिखना है। लेकिन ख़त्म करते-करते सारी बात को सँवारने के ढंग पर एक ख़त और लिख डालने की इच्छा होती है। यह आख़िरी ख़त है।

वैसे ख़त्म करने का समय भी होचुका, क्योंकि मेरी दो साल की मियाद भी पूरी होने आई। आज से तैंतीस दिन में मैं छूट जाऊँगा। जेलर तो कभी-कभी यह धमकी भी देता है कि शायद इससे पहले ही छोड़ दिया जाऊँ। अभी पूरे दो बरस तो नहीं हुए हैं, मगर अच्छी चाल-चलनवाले क़ैदियों को जो छूट मिलती है उसके अनुसार मेरी सजा में भी साढ़े तीन महीने घट गये हैं। मैं जेलख़ाने में भलामा-

नुप समझा जाता हूँ, हालांकि मैंने यह नाम कमाने के लिए सचमुच कुछ नहीं किया है। इस तरह मेरी छठी सजा पूरी होती है और मैं विशाल संसार में यहांसे निकल-कर फिर आऊँगा। मगर किस लिए? उससे फ़ायदा क्या? (Quoi Bon ?) जब मेरे ज्यादातर साथी और दोस्त जेलों में पड़े हुए हैं और सारा देश एक बड़ा जेलखाना-सा दिखाई देता है, तो मैं ही बाहर क्या करूँगा?

मैंने खतों का पहाड़-सा खड़ा कर दिया! और कितने स्वदेशी क़ाग़ज पर कितनी स्वदेशी स्याही फैलादी! आश्चर्य होता है कि यह काम इस लायक़ था या नहीं? क्या इस सारे काग़ज और स्याही से तुम्हें कोई रोचक सन्देश मिलेगा? तुम जरूर 'हां' कहोगी क्योंकि, तुम समझोगी कि और किसी जवाब से मेरा जी दुखेगा और तुम्हारा मेरे साथ इतना पक्षपात तो है ही कि तुम इस तरह का जोखिम नहीं उठा सकतीं। मगर तुम्हें यह अच्छा लगे या न लगे, तुम्हें इतना तो खयाल होगा ही कि दो साल की इस लम्बी अवधि में रोज-रोज इन्हें लिखकर मैं सुखी हुआ हूँ। जब मैं यहाँ आया था, जाड़े के दिन थे। सर्दी के बाद थोड़े दिनों के लिए वसन्त-ऋतु आई और फिर गर्मी के मौसम ने उसकी जल्दी ही हत्या कर डाली। बाद में जब जमीन सूख गई और गर्मी के मारे मनुष्य और पशुओं का सांस लेना मुश्किल होगया तब वर्षा-ऋतु आई और उसने सब जगह ताजा और ठण्डा पानी-ही-पानी बरसा दिया। उसके बाद फिर जाड़ा आया और आकाश निहायत साफ़ और नीला होगया और तीसरे पहर का वक़्त सुहावना मालूम होने लगा। वर्ष का चक्र खत्म होकर फिर शुरू हुआ। जाड़े के बाद वसन्त, वसन्त के बाद गर्मी और गर्मी के बाद वर्षा—यही दौर रहा। मैं यहाँ बैठा-बैठा तुम्हें लिखता रहा हूँ, तुम्हारी याद करता रहा हूँ, ऋतुओं को आते और जाते देखता रहा हूँ और अपनी बैरक की छत पर मेंह की तड़ातड़ सुनता रहा हूँ:

"O doux bruit de la pluie.
Par terre et sur les toit's!
Pour un Coeur quis'ennuie,
Oh! le chant de la pluie!"

अर्थात्—"पृथ्वी और छतों पर होनेवाले वर्षा के ऐ मुलायम शब्द! एवं हृदय, जो प्यासा और उत्सुक है, उसके लिए हे वर्षा के संगीत!"

बेंजमिन डिज़रैली उन्नीसवीं सदी का एक बड़ा अंग्रेज राजनीतिज्ञ था। उसने लिखा है कि "और लोग अगर देश-निकाले और क़ैद की सजा भुगतने के बाद जिन्दा रहते हैं तो निराश होजाते हैं। लेकिन साहित्यिक लोग उन्हीं दिनों को जीवन का सबसे मधुर काल समझ सकते हैं।" वह ह्यूगो ग्रोटिअस के बारे में लिख रहा था, जो

सत्रहवीं सदी का एक मशहूर क़ानून-दाँ और तत्त्वज्ञानी था। उसे उमर-क़ैद की सजा हुई थी, लेकिन वह किसी तरह दो वर्ष बाद ही निकल भागा था। उसने ये दोनों साल जेल में तत्त्वज्ञान और साहित्य-सम्बन्धी काम में बिताये थे। और भी बहुत-से प्रसिद्ध साहित्यिक लोग जेल की हवा खा चुके हैं। शायद इनमें से सबसे मशहूर दो आदमी हुए हैं। एक तो स्पेन-निवासी सर्वेटीज जिसने "डॉन क्विग्ज़ोट" लिखा, और दूसरा जॉन बनियन अंग्रेज था जिसने "दि पिल्ग्रिम्स प्रॉग्रेस" लिखा था।

मैं कोई साहित्यिक आदमी नहीं हूँ और यह कहने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैंने जो अनेक वर्ष जेलख़ाने में काटे हैं वे मेरे जीवन के सबसे मधुर वर्ष थे। मगर मैं यह जरूर कहूँगा कि यह वक़्त गुज़ारने में मुझे लिखने-पढ़ने के काम से अद्‌भुत सहायता मिली। मैं साहित्यकार भी नहीं और इतिहासकार भी नहीं। तो मैं असल में हूँ क्या? मुझे इस सवाल का जवाब देने में कठिनाई होती है। मैं बहुत बातों में दख़ल देता रहा हूँ। मैंने कालेज में विज्ञान शुरू किया, फिर क़ानून पास किया, और अन्त में जीवन की भिन्न-भिन्न बातों में रस लेने के बाद जेल जाने का धन्धा ग्रहण कर लिया। हिन्दुस्तान में यह पेशा बहुत लोग करने लगे हैं!

इन चिट्ठियों में मैंने जो कुछ लिखा है उसे तुम किसी भी विषय पर आख़िरी बात न समझना। राजनीतिज्ञ लोग हर विषय पर कुछ-न-कुछ कहा चाहते हैं और उन्हें दर-असल जितना ज्ञान होता है उससे अधिक दिखाया करते हैं। इसलिए उनपर कड़ी नज़र रखने की जरूरत है। मेरी इन चिट्ठियों में अलग-अलग विषयों का सिर्फ़ ऊपरी ख़ाक़ा खींचा गया है और एक हलका-सा सिलसिला मिला दिया गया है। मैं तो जो जी में आया लिखता गया हूँ। कहीं तो मैंने सदियों का और अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का थोड़ा-सा जिक्र कर दिया है और कहीं किसी एक ही घटना पर मुझे दिलचस्पी हुई तो बहुत समय लगा दिया है। तुमने देखा होगा कि यह बात खूब स्पष्ट है कि कौनसी बातें मुझे पसन्द हैं और कौनसी बातें मुझे नापसन्द हैं। इसी तरह से मुझपर जेल में कभी कुछ और कभी कुछ धुन सवार होती रही है। मैं नहीं चाहता कि तुम ये सब बातें ज्यों-की-त्यों मान लो। मुमकिन है मेरे वर्णन में सचमुच बहुत भूलें हों। जेल में न पुस्तकालय होता है और न ऐसी पुस्तकें पास होती हैं जिन्हें देखकर आदमी अपनी जानकारी को सही या ताजा कर सके। इसलिए इतिहास के विषय पर लिखने के लिए यह जगह बहुत अनुकूल नहीं होती। मुझे बहुत-कुछ उन याददाश्तों पर निर्भर रहना पड़ा है जो मैंने बारह वर्ष पहले जेल-यात्रा शुरू करने के समय से ही इकट्‌ठी कर रक्खी थीं। मेरे पास यहाँ बहुत-सी किताबें भी आईं, लेकिन वे जैसी आईं वैसी ही चली गईं, क्योंकि मैं यहाँ उन्हें इकट्‌ठी नहीं रख सकता था। मैंने उन किताबों में से विचार

और अंक निःसंकोच होकर लिये हैं। मैंने जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी मौलिक नहीं है, शायद कहीं-कहीं मेरे पत्र समझ सकना तुम्हें मुश्किल भी पड़ता होगा। उन हिस्सों को जल्दी-जल्दी देख जाना और कोई ख़याल न करना। कभी-कभी मुझपर अपनी बड़ी उम्र का असर ज्यादा रहा और मैं यह भूल गया कि मैं ये चिट्ठियां एक लड़की के लिए लिख रहा हूँ। इस कारण मैं कहीं-कहीं इस ढंग से लिख गया, जिसमें कि मुझे नहीं लिखना चाहिए था।

मैंने तुम्हारे सामने सिर्फ़ रूप-रेखा रखदी है। यह इतिहास नहीं है। इसमें तो लम्बे भूतकाल की केवल उड़ती हुई झलक दिखाई गई है। अगर तुम्हें इतिहास में रुचि हो और तुमपर उसका कुछ भी जादू होता हो, तो तुम्हें बहुत-सी ऐसी किताबें मिल जायेंगी जिनसे तुम्हें प्राचीन काल का सिलसिला बांधने में मदद मिले। मगर सिर्फ़ किताबें पढ़ने से ही काम न चलेगा। अगर तुम्हें प्रचीन काल का हाल जानने की इच्छा हो तो तुम्हें उसे सहानुभूति और समझ की दृष्टि से देखना होगा। जो आदमी बहुत समय पहले हुआ हो उसे समझने के लिए तुम्हें यह समझना होगा कि वह कैसे वातावरण और कैसी परिस्थिति में रहा था और उसके दिमाग़ में क्या-क्या विचार भरे हुए थे। प्राचीन काल के मनुष्यों के बारे में इस तरह से राय बनाना मानों वे आज जीवित हैं और उनके विचार भी हमारे ही जैसे हैं, बेहूदा बात है। आज ग़ुलामी का समर्थक कोई नहीं मिल सकता। मगर महान् अफ़लातून समझता था कि दास-प्रथा ज़रूरी है। बहुत समय नहीं हुआ, जब संयुक्तराष्ट्र में ग़ुलामी की रक्षा के लिए हज़ारों आदमियों ने अपने प्राण देदिये थे। हम आज की नाप से पुरानी बातों का निर्णय नहीं कर सकते, यह बात हर शख़्श ख़ुशी से मञ्जूर करेगा। लेकिन सब लोग यह क़बूल नहीं करेंगे कि वर्तमान के बारे में पुराने समय की नाप से राय बनाना भी उतनी ही बेहूदा आदत है। ख़ासतौर पर विभिन्न धर्मों ने भी पुराने विश्वासों और रीति-रिवाजों को सड़ा दिया है। इनका देश-काल के अनुसार उपयोग रहा होगा, मगर हमारे वर्तमान युग के लिए तो यह ज़रा भी अनुकूल नहीं है।

इसलिए तुम पुराने इतिहास को हमदर्दी की नज़र से देखोगी तो सूखी हड्डियों पर मांस और खून चढ़ जायगा और तुम्हें एक ज़िन्दा और जंगी जुलूस दिखाई देगा। इसमें हर मुल्क और हर ज़माने के स्त्री-पुरुष और बच्चे मिलेंगे, जो हमसे भिन्न पर फिर भी हम-जैसे ही होंगे और वे ही मानवीय गुण और कमज़ोरियां उनमें भी मिलेंगी। इतिहास कोई जादू का खेल नहीं है, मगर जिनकी आँखें हैं उनके लिए उसमें जादू ख़ूब है।

इतिहास के अजायबघर के बेशुमार चित्र हमारे दिलों पर अंकित हैं। मिस्र, बेबि-

लन, निनेवा, भारत की प्राचीन सभ्यता, आर्यों का हिन्दुस्तान में आना और योरप और एशिया में फैल जाना, चीनी संस्कृति के अद्भुत कारनामे, नोसास और यूनान, शाही रोम और बेजंटीर, अरबों का दो महादेशों में विजय-दुन्दुभी बजाना, भारतीय संस्कृति का पुनर्जीवन और पतन, अमेरिका की माया और आजटी सभ्यतायें, जिन्हें बहुत कम लोग जानतें हैं, मंगोलों की विशाल विजयों का सिलसिला, योरप का मध्ययुग और उसमें बने हुए गोथिक ढंग के विलक्षण गिरजे, इस्लाम का हिन्दुस्तान में आना और मुग़ल साम्राज्य, पश्चिमी योरप में विद्या और कला का पुनर्जीवन, अमेरिका का आविष्कार और पूरब में आने के लिए समुद्री मार्गों का मालूम होना, पूर्व में पश्चिमी हमलों की शुरुआत, बड़ी मशीनों का पैदा होना और पूंजीवाद का विकास, उद्योगवाद का फैलना और योरप का प्रभुत्व और साम्राज्यवाद, और आज की दुनियाँ में विज्ञान की अद्भुत करामातें।

बड़े-बड़े साम्राज्य चढ़े हैं और गिरे हैं। हज़ारों वर्ष तक मनुष्य ने उन्हें भुला भी दिया। बाद में किसी धैर्यवान अन्वेषक ने रेत के नीचे ढके हुए उनके खण्डहरों को फिर खोद निकाला। परन्तु साम्राज्यों की अपेक्षा अनेक विचार और कल्पनायें अधिक बलवान और दृढ़ सिद्ध हुई हैं।

मेरी कालरिज ने गाया है:—

"Egypt's might is tumbled down
Down a-down the deeps of thought;
Greece is fallen and Troy town,
Glorious Rome hath lost her crown,
Venice's pride is nought:
But the dreams their children dreamed
Fleeting, unsubstantial, vain,
Shadowy as the shadows seemed,
Airy nothing, as they deemed,
These remain"

अर्थात्—"मिस्र की शक्ति उलट गई; यूनान का आज पतन होगया है, और ट्राय नगर धूल में मिल गया है; ऐश्वर्यशाली रोम का मुकुट नष्ट होगया है; वेनिस का वह अभिमान अब बाक़ी नहीं रहा; पर उनके बच्चों ने जो उड़ते धुंधले और छाया के समान दिखाई देनेवाले स्वप्न देखे थे वे आज भी जीवत हैं।"

प्राचीन काल से हमें बहुत-सी चीज़ें देन के रूप में मिली हैं। सच बात तो यह है कि संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सत्य के कई पहलुओं के ज्ञान के रूप में आज जो हमें मिला हुआ है वह दूर या निकट के भूत की देन है। हम इस ऋण को स्वीकार करें, यह ठीक ही है। परन्तु हमारा कर्तव्य प्राचीन के साथ ही ख़त्म नहीं होजाता।

हमारा भविष्य के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है, और शायद यह कर्तव्य उससे भी बड़ा है जो हमारा प्राचीन काल के प्रति है; क्योंकि जो बात हो चुकी, सो हो चुकी, उसे हम बदल नहीं सकते। भविष्य तो अब आयगा। मुमकिन है हम उसे थोड़ा बना सकें। अगर भूतकाल ने हमें सत्य के कुछ दर्शन कराये हैं तो भविष्य के गर्भ में भी उसके कुछ पहलू छिपे हुए हैं और वह हमें उनकी खोज का आमंत्रण देता है। मगर अक्सर गुज़रे हुए ज़माने को आनेवाले समय से ईर्षा होती है और वह अपने पंजे में हमें जकड़े रखना चाहता है। हमारा काम है कि हम उससे अपनेआपको छुड़ाकर भविष्य से मिलने और उसकी ओर बढ़ने की कोशिश करें।

कहते हैं कि इतिहास हमें अनेक पाठ पढ़ाता है। दूसरी कहावत यह है कि इतिहास बार-बार अपने-आपको नहीं दोहराता। ये दोनों कहावतें सच हैं, क्योंकि हम न तो पुरानी बातों की अन्धे होकर नक़ल करने से ही कुछ सीख सकते हैं और न यह उम्मीद रखकर कोई लाभ उठा सकते हैं कि इतिहास अपनेको दोहरायगा या जहाँ-का-तहाँ रहेगा। हम थोड़ा-बहुत सीख सकते हैं तो इसी तरह सीख सकते हैं कि हम भूतकाल के भीतर घुसकर देखें और जो शक्तियाँ उसमें काम कर रही थीं उनकी खोज करें। इतना सब कुछ करने पर भी हमें सीधा उत्तर नहीं मिलनेवाला है। कार्ल मार्क्स कहता है--"इतिहास तो उत्तर देने का एक ही तरीक़ा जानता है, और वह है पुराने सवालों के जवाब में नये सवाल पेश कर देना।"

पुराना ज़माना श्रद्धा का, अन्धविश्वास का, बिना पूछे-ताछे मान लेने का ज़माना था। अगर कारीगरों, बनानेवालों और साधारणतः सभी लोगों में श्रद्धा न होती, तो क्या पिछली सदियों के ये अद्भुत मन्दिर, मस्जिद और गिरजे बन सकते थे? जिन पत्थरों को उन्होंने भक्ति-भाव से एक-दूसरे पर चुना या जिनके उन्होंने सुन्दर चित्रण किये, वे उस श्रद्धा के बोलते-चालते प्रमाण हैं। पुराने मन्दिरों के शिखर, मस्जिदों की नाज़ुक मीनारें, गोथिक ढंग के गिरजे एक ऐसी गहरी भक्ति-भावना का प्रमाण दे रहे हैं जिसे देखकर हम चकित रह जाते हैं और ऐसा मालूम होने लगता है मानों ये पत्थर और संगमरमर आकाश की तरफ़ मुँह करके प्रार्थना कर रहे हों। भले ही उनके जैसी श्रद्धा हममें न हो, पर इन्हें देखकर हमें रोमाञ्च हो आता है। लेकिन उस श्रद्धा के दिन गये, और उनके साथ ही पत्थर का वह मुँह-बोलता जादू भी चला गया। हज़ारों मन्दिर, मस्जिद और गिरजे बन रहे हैं, मगर उनमें वह भावना कहाँ है जो मध्ययुग के पूजास्थानों को सजीव करती थी? उनमें और हमारे युग के निशान व्यापारिक दफ्तरों में बहुत कम अन्तर है।

हमारा युग दूसरी ही तरह का है। यह तो शंका और तर्क का युग है। इसमें

बहुत-से भ्रम दूर होगये हैं और कोई बात निश्चित नहीं है। हमारा बहुत-सी पुरानी बातों पर विश्वास नहीं रहा। एशिया, योरप, अमेरिका, सभी जगह पुराने विश्वासों और रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं किया जाता। इस तरह हम अपनी परिस्थिति के अनुकूल सत्य के नये तरीक़ों और नये पहलुओं की खोज करते हैं। हम एक-दूसरे से सवाल करते हैं, बहस करते हैं, झगड़ा करते हैं और बेशुमार 'वाद' और दर्शन बना लेते हैं। सुकरात के जमाने की तरह हम भी पूछताछ के युग में रहते हैं, मगर यह पूछताछ एथेन्स जैसे एक शहर में ही महदूद नहीं है, यह दुनिया भर में फैली हुई है।

कभी-कभी दुनिया के अन्याय, दुःख और पाशविकता से हमारा जी दुखता है, हमारे मस्तिष्क में अँधेरा छाजाता है और हमें कोई रास्ता नहीं सूझता। मैथ्यू आर्नाल्ड की तरह हमें भी लगता है कि इस संसार में कोई आशा नहीं है, हम इतना ही कर सकते हैं कि एक-दूसरे के प्रति सच्चे रहें :

"For the world which seems
To lie before us, like a land of dreams,
So various, so beautiful, so new,
Hath really neither joy, nor love, nor light,
Nor certitude, nor peace, nor help for pain;
And we are here, as on a darkling plain
Swept with confused alarms of struggle and flight,
Where ignorant armies clash by night."

अर्थात्—"यह दुनिया जो हमारे सामने स्वप्नों के एक देश के समान फैली हुई है—इतनी विविध, इतनी सुन्दर, इतनी नवीन—इसमें न आनन्द है, न प्रेम है, न प्रकाश है, न स्थिरता है, न शान्ति है, न दुःख-दर्द में सहायता है। और हम मानों अन्धकार से घिरते हुए मैदान में, युद्ध और पलायन की अस्पष्ट ध्वनियों के बीच, लड़खड़ा रहे हैं—उस अन्धेरे मैदान में जहाँ अज्ञानी सेनायें रात के अन्धकार में लड़ती हैं।"

फिर भी हम इस तरह की निराशाभरी निगाह रक्खें तो कहना होगा कि हमनें जीवन या इतिहास किसीसे भी ठीक-ठीक शिक्षा ग्रहण नहीं की है। इतिहास तो हमें यह सिखाता है कि वृद्धि और उन्नति होती रहती है और मनुष्य की प्रगति कितनी होसकती है इसका तो अन्त ही नहीं। इसी प्रकार जीवन भी भिन्न-भिन्न तत्त्वों से भरा हुआ है। जहाँ उसमें बहुत जगह दलदल और कीचड़ है, वहाँ उसमें महासागर, पर्वत, बर्फ़, बर्फ़ की नदियाँ और (ख़ासकर जेल में!) तारों-भरी अद्भुत रातें हैं, कुटुम्ब और मित्रों का प्रेम है, एक ही उद्देश्य के लिए काम करनेंवाले साथियों का साथ है, संगीत है, पुस्तकें हैं और विचारों का साम्राज्य है। इन सब चीजों को देखकर हम कह सकते हैं कि—

"Lord, though I lived on earth, the child of earth,
Yet was I fathered by the starry sky."

अर्थात्—"हे प्रभु, यद्यपि मैं पृथ्वी की सन्तति हूँ और पृथ्वी पर ही पला हूँ, पर मुझे तारिका-जटित आकाश का वात्सल्य प्राप्त हुआ।"

विश्व के सौन्दर्य की तारीफ़ करना और विचार और कल्पना के जगत् में रहना आसान है। मगर इस तरह औरों के दुःखों से जी चुराना, उनका क्या हाल है इसकी परवा न करना, साहस या हमदर्दी की निशानी नहीं है। विचार की अच्छाई और सचाई इसीमें है कि उसके अनुसार अमल किया जाय। हमारे मित्र रोम्याँ रोलाँ कहते हैं—"कार्य विचार का अन्त है। जिस विचार की दृष्टि कार्य की ओर नहीं होती वह, कैसा भी हो, निरर्थक है और धोखाधडी है। इसलिए हमें अगर विचार के सेवक बनना है तो कार्य के सेवक भी बनना ही होगा।"

अक्सर लोग कार्य से इसलिए कन्नी काटते हैं कि उन्हें नतीजे का डर होता है, क्योंकि कार्य का अर्थ है जोखिम और ख़तरा। ख़तरा दूर से ही भयानक दीखता है। नज़दीक से देखने पर वह इतनी बुरी चीज़ नहीं है; ज्यादातर तो वह सुहावना साथी ही होता है और उससे जीवन का स्वाद और आनन्द बढ़ता है। कभी-कभी जीवन का साधारण क्रम बड़ा सुस्त होजाता है। हमें बहुत-सी चीजें योंही मिल जाती है और उनसे हमें कोई आनन्द नहीं मिलता, परन्तु जब उन मामूली चीज़ों के बिना हम थोडे दिन रह लेते हैं तब हमें उनकी कितनी क़द्र होजाती है! बहुत लोग ऊँचे-ऊँचे पहाडों की चढ़ाई करते हैं और चढ़ाई का आनन्द लेने के लिए प्राण और शरीर को जोखिम में डालते हैं। जब वे किसी कठिनाई को पार कर लेते हैं, किसी ख़तरे को जीत लेते हैं, तब उन्हें कितनी ख़ुशी होती है! जिन ख़तरों से वे चारों ओर घिरे रहते हैं उनके कारण उनकी इन्द्रियाँ कितनी तेज होजाती हैं, और जो जीवन कच्चे धागे से लटकता रहता है उसका आनन्द कितना तीव्र होजाता है!

हम सबके सामने दो मार्ग हैं। हम जिसे चाहें पसन्द करलें। एक तो नीची घाटियों में रहना, जहाँ धुन्ध और कोहरे से तंग होना पड़ता है परन्तु जहाँ शरीर की रक्षा ठीक-ठीक होती है। दूसरा ऊँचे पर्वतों पर चढ़ना, जोखिम और ख़तरे में पड़ना और साथियों को डालना, आकाश का शुद्ध वायु सेवन करना, दूर-दूर दृश्यों का मज़ा लूटना और उगते हुए सूर्य का स्वागत करना।

मैंने इस ख़त में कवियों और दूसरे लेखकों के कई उद्धरण दिये हैं। अन्त में एक और दे देता हूँ। यह गीताञ्जलि का है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता या प्रार्थना है:

"Where the mind is without fear and the head is held high;
Where knowledge is free;
Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls;
Where words come out from the depth of truth;
Where tireless striving stretches its arms towards perfection;
Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit;
Where the mind is led forward by thee into ever-widening thought and action—
Into that heaven of freedom, my Father, let my country awake."[1]

"जहाँ मन निर्भय है और सिर ऊँचा उठा हुआ है;
जहाँ ज्ञान बन्धन-मुक्त है;
जहाँ संकुचित घरेलू दीवारों से दुनिया तुच्छ टुकड़ों में विभाजित नहीं है;
जहाँ शब्द सत्य की गहराई से आते हैं;
जहाँ परिपूर्णता के लिए निरन्तर चेष्टा अपनी भुजायें फैला रही है;
जहाँ विवेक का उज्ज्वल सोता निर्जीव प्रथा के शुष्क मरुस्थल में सूखकर नष्ट नहीं होगया है;
जहाँ तेरे द्वारा मन प्रतिक्षण विकसित होते हुए विचार और कार्य की ओर जा रहा है;
हे मेरे पिता ! उस मुक्ति के स्वर्ग में मेरे देश को जाग्रत कर ।"

१. श्री. सुधीन्द्र ने इस गीत का अनुवाद यों किया है :—

स्वतंत्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर,
स्वतंत्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें
जहाँ घरों की न भित्तियाँ ये करें जगत् खण्ड-खण्ड न्यारा
स्वतंत्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
सदैव ही सत्य के तले से
जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढ़ा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा
स्वतंत्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
छिपे भटक कर सुबुद्धि-धारा
न रूढ़ियों के दुरन्त मरु में
विशाल-विस्तृत विचार-कृति में लगे जहाँ चित्त, पा सहारा
स्वतंत्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !

तो अपना काम खत्म हुआ और यह आख़िरी ख़त भी। आख़िरी ख़त ! हरगिज़ नहीं ! मैं तुम्हें और भी बहुत-से ख़त लिखूंगा। परन्तु यह सिलसिला यहीं समाप्त होता है और इसीलिए—

तमाम शुद !

परिशिष्ट—१

विश्व-इतिहास का तिथि-क्रम

[१]

मानवी इतिहास के बहुत शुरू के जमाने की तिथियाँ कभी-कभी बिलकुल अन्दाज-ही-अन्दाज होती हैं। कभी-कभी वे इतनी अनिश्चित होती हैं कि विशेषज्ञों में एक-दूसरे से हजार वर्षों का मतभेद होता है। मानव-संस्कृति के सबसे प्रारम्भिक जो चिन्ह मिलते हैं वे हमें ईस्वी सन् के ५००० वर्ष पूर्व यानी अबसे लगभग ७००० वर्ष पूर्व तक लेजाते हैं। ख़याल किया जाता है कि मिस्र के इतिहास का आरम्भ उस समय हुआ था। यह प्रस्तर-युग का अन्त था। उस समय मिस्र कई छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। प्राचीन वस्तु-विद्या के पण्डितों ने भी कैल्डिया अथवा एलम (मेसोपोटामिया) में एक ऐसी सभ्यता के भग्नावशेषों का पता लगाया है जो ईसा के पांच हजार वर्ष पहले शुरू हुई थी। इसका राजनगर सूसा था। प्राचीन वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्यादातर खोज मिस्र और मेसोपोटामिया में ही हुई हैं, क्योंकि ज्यादातर खुदाई भी वहीं हुई है। सम्भवतः इतनी ही पुरानी तिथि वाली खोज दूसरे देशों में भी की जायगी। प्राचीन वस्तुओं के दूसरे समूह का पता लगने से भी, जिनकी तिथि लगभग ३५०० वर्ष ईसा के पूर्व बताई जाती है, इस धारणा की पुष्टि होती है। ये खोजें हमें एशिया के आर-पार—मिस्र, कैल्डिया, पूर्वी फ़ारस, भारत की सिन्धु घाटी, पश्चिमी तुर्किस्तान से चीन की ह्वांगहो या पीत नदी तक ले जाती हैं। इन सब स्थानों पर विकास की एकसी अवस्था का पता चलता है। यह पालिश किये हुए पत्थरों के युग के अन्त की बात है, जब कि ताँबे का इस्तेमाल शुरू होरहा था। इनमें कृषि है, घरेलू एवं पालतू चौपाये हैं, व्यापार है, एक ही तरह के औज़ार हैं, सोने-चाँदी के सुन्दर आभूषण हैं और कई तरह के समान चित्रों से चित्रित मिट्टी के रंगीन पात्र हैं। लेखन-कला या लिपि का आरम्भ होचुका था। जान पड़ता है इस जमाने में, लगभग ५५०० वर्ष पहले, मिस्र से उत्तर-भारत और चीन तक एक ही सभ्यता का प्रसार था। मिट्टी के एक-से पात्रों के मिलने से इस सभ्यता को "मिट्टी के रंगीन बर्तनों की सभ्यता" (Painted Pottery Civilization) कहते हैं। यह सभ्यता इस वक़्त भी इतनी उन्नत थी, इसकी संस्कृति और ललित कलायें इतनी विकसित होचुकी थीं, कि इसके पीछे संस्कृति की बाढ़ के हजारों वर्ष पहले ही बीत चुके होंगे। हिन्दुस्तान में यह मोहेनजोदारो का युग था जिसमें सुन्दर भवनों, सड़कों और कला के विकास का दर्शन हमें होता है। इस समय मिस्र में फरोहाओं यानी देव-

सम्राटों की मातहती में अलग-अलग राज्य एक बड़े राज्य में मिल जाते हैं। इसी वक्त के क़रीब कैल्डिया में सुमेर और अक्कद नाम के दो शक्तिमान और ऊँची संस्कृतिवाले राज्यों का जन्म होता है। फ़ुरात (Euphrates) नदी के तटों पर 'उर' नाम का मशहूर शहर उठ खड़ा होता है, जिसे बाइबल में 'कैल्डिया का उर' कहा गया है। इसी 'मिट्टी के रंगीन वर्तनों की सभ्यता' से मिस्री, मेसोपोटामियन या इराक़ी (इसमें फ़ारसी अथवा ईरानी सभ्यता भी शामिल है), भारतीय और चीनी नामक पूर्व की चार महान् सभ्यतायें निकलती हैं और अलग-अलग विकसित होती हैं। इस तरह हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

तिथि (ईसा के पूर्व)	मिस्र	कैल्डिया या एलम (मेसोपोटामिया)	भारत	चीन
	मिट्टी के रंगीन वर्तनों की सभ्यता			
ल० ३५०० वर्ष ल० ३३०० वर्ष	फरोहाओं की मातहती में एक राज्य बन जाता है।	सुमेर और अक्कद नामक दो शक्तिशाली राज्य। उर नगर	सिंधु की घाटी में मोहेन-जोदारो और हरप्पा (ईसा के ३३०० वर्ष पूर्व से २७ वर्ष पूर्व तक के ऊपर एक करके तीन नगर।)	ह्वांगहो या पीत नदी के तटों की बस्तियाँ

यह संभव है कि पूर्व की 'मिट्टी के रंगीन वर्तनों की सभ्यता' के ही समकालिक उसी तरह की सभ्यता पूर्वी भूमध्यसागर में यूनानी टापुओं में और एशिया-माइनर के पश्चिमी किनारों पर रही हो। इस प्रारम्भिक भूमध्यसागरीय सभ्यता से २००० ईसापूर्व से १५०० वर्ष ईसापूर्व की नोसॉस लोगों की ऊँची मिनोयन सभ्यता निकली जो धीरे-धीरे नष्ट होगई और ग्रीक द्वीपों की माईसीनियन (Mycenean) या एजियन (Aegean) सभ्यता में बदल गई, जिसका समय ईसा पूर्व १६०० से ११०० तक बताया जाता है। इसी समय के लगभग (ल० १३०० वर्ष ईसा पूर्व के बाद) प्राचीन पश्चिमी दुनिया के महान् व्यापारी सेमिटिक फोनिशियन प्रधानता प्राप्त करते हैं और भूमध्यसागर के तट पर सब जगह उनकी बस्तियाँ बस जाती हैं। एशिया-माइनर में टायर नामक नगर इन बस्तियों में सबसे प्रधान बस्ती थी। इसी समय के लगभग आर्य लोग योरप में फैले। वे यही आर्य यूनानी, हेलेनीज, थे जिन्होंने ईसा के पहले की बारहवीं शताब्दी में ट्राय का घेरा डाला था। धीरे-धीरे हेलेनिक सभ्यता का विकास हुआ और एशिया-माइनर, दक्षिण-

इटली, सिसली, सोर और फ्रांस के दक्षिणी भाग में हेलेनिक उपनिवेश खडे होगये। होमर ने अपने महाकाव्य ईसा-पूर्व की ग्यारहवीं शताब्दी में लिखे थे।

इस बीच पूर्व में सभ्यता के प्राचीनतर केन्द्रों में बहुतेरी घटनायें घट गई थीं। मिस्र और कैल्डिया में साम्राज्यों का विकास भी हुआ और पतन भी होगया। भारत में उत्तर में आर्यों का प्रभुत्व स्थापित होचुका था और वे दक्षिण की ओर बढ़ रहे थे। जब वे यूनान में पहुँचे, उससे बहुत पहले वे भारत में आ चुके थे। यहाँ आने पर उन्होंने सभ्य और संस्कृत द्रविडों को इस देश में बसा हुआ पाया और उन्हें दक्षिण-भारत की तरफ़ खदेड़ दिया था। वेद आर्यों के आक्रमण के प्रारम्भिक दिनों में लिखे गये थे और वेदों के बहुत दिनों बाद महाकाव्य—रामायण आदि—लिखे गये थे। चीन संगठित होरहा था और एक महान् राज्य विकसित होरहा था। रेशम के कीडे पालने और रेशम निकालने की कला निकल चुकी थी।

अब हमें अपने नक़शे पर आना चाहिए। लेकिन याद रक्खो कि सभ्यताओं और ऐतिहासिक युगों के विभिन्न नामों (जैसे मिनोयन, माईसीनियन, एजियन इत्यादि) को एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र अथवा स्पष्टतः निश्चित युगों के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। ये अस्पष्ट शब्द हैं जिनका उपयोग आजकल के प्राचीन वस्तु-विद्या के विशेषज्ञ और इतिहासकार विभिन्न सभ्यताओं और युगों को एक-दूसरे से अलग करने या एक-दूसरे की अलग पहचान के लिए करते हैं, पर ये सभ्यतायें और युग अक्सर एक-दूसरे की सीमा में मिल या प्रवेश कर जाते हैं। यह भी याद रक्खो कि चार्ट या नक़शे में तिथियों को समान अन्तर से यानी एक काल को समान ही जगह देना असम्भव है। ऐसी माप रखना बहुत अच्छी और ज्यादा सही चीज होगी, क्योंकि इससे इतिहास के बारे में ज्यादा सही धारणा बनाई जा सकेगी, पर ऐसा नक़शा बहुत ज्यादा लम्बा होजायगा, क्योंकि इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में हमें हजारों वर्षों से काम पडेगा और प्रागैतिहासिक अथवा इतिहास के पहले के काल तो बहुत ज्यादा बडे-बडे हैं। इसलिए हमें एक ही माप का ख़याल छोड़ देना पडेगा। कभी तो एक इञ्च हजार वर्षों या उससे भी ज्यादा समय के प्रति कर्त्तव्य-पालन करेगा और दूसरी जगह वही एक इंच सिर्फ़ दस वर्षों या उससे भी कम समय का काम देगा।

नोट—किसी तिथि के पूर्व 'ल०' का का मतलब यह है कि वह तिथि बिलकुल निश्चित नहीं है, बल्कि लगभग है। यह लगभग का संक्षिप्त रूप है।

तिथि या काल	भूमध्यसागर-तट यूनान-कार्थेज-रोम	मिस्र
(ई० पू०) २८००		मेम्फाइट साम्राज्य २८००–२३०० फिरौनों-द्वारा महान् पिरामिडों का निर्माण। गिज़ेह का महान् स्फिंक्स
२३००	भूमध्यसागर की प्रारम्भिक सभ्यता	...
		मिस्र पर हाइक्सो-आक्रमण। २१६० से १६६० तक प्रथम थीबन-साम्राज्य
२१००		रैमेसेस द्वितीय द्वारा कर्नाक और लक्सर मन्दिरों का निर्माण
२०००	नोसॉस की मिनोयन सभ्यता (ल० २०००-१५००)	...
१७००		
१५००	सार्डीनियन सभ्यता (ल० १६००-११००)	१५८० द्वितीय थीबन साम्राज्य (११०० तक)
१३००	एशिया-माइनर का टायर नगर। भूमध्यसागर की फोनीशियन बस्तियाँ	

पश्चिमी एशिया कैल्डिया-फिलस्तीन-फारस	भारत	चीन, कोरिया और जापान
...	उत्तर-पश्चिम में सिंधु की घाटी की सभ्यता।	
		२३५६ याओ सम्राट।
	भारत के अधिकांश भागों में द्रविड।	२२०५ हसिया वंश का आरंभ (१७६५ तक) रेशम की उत्पत्ति।
२१०० हम्मूरब्वी द्वारा बेबिलोनियन साम्राज्य की स्थापना। बेबिलन नगर।		
...		
१९२५ हिट्टाइट लोग बेबिलोनियन साम्राज्य को नष्ट कर देते हैं।	उत्तर-पश्चिम से आर्यों का निरन्तर प्रवाह आता है और उत्तरमें बसता जाता है	
	वैदिक काल।	१७६५ शांग अथवा यीन वंश (११२२ तक)
...	महाकाव्य काल—रामायण और महाभारत (परन्तु ये पुस्तकें लिखी बहुत बाद में गईं)	
...	दक्षिण भारत का आर्यकरण	
असीरियनों का उत्थान—सम्राट तिगलत्थ—पिले-सर।		

तिथि या काल	भूमध्यसागर–तट यूनान–कार्थेज–रोम	मिस्र
(ई० पू०)	योरप में आर्यों का फैल जाना हेलेनिक यूनानियों द्वारा ट्राय का घेरा ११४८	...
११००		
	ल० १००० होमर ईलियड और ओडेसी महाकाव्यों की रचना करता है। एशिया-माइनर, दक्षिण-इटली, सिसली और दक्षिण-फ़्रांस में हेलेनिक उपनिवेश	
८००	८०० फोनीशियन लोग उत्तरी अफरीका में कार्थेज की स्थापना करते हैं। यूनानी नगर-राज्य : एथेंस, स्पार्टा, थीवस, कोरिन्थ इत्यादि। ७७६ यूनान में ओलिम्पिक खेलों की स्थापना। ७५३ रोम का निर्माण हुआ।	
७००		
६००	ल० ६०० ल्यूवोस में महान् कवयित्री सैफ़ो	

[सम्भवतः मध्य-अमेरिका के मैक्सिको की और पेरू की प्राचीन अमेरिकन

पश्चिमी एशिया कैल्डिया-फ़िलस्तीन-फ़ारस	भारत	चीन, कोरिया और जापान
...	प्राचीन भारत के ग्राम्य प्रजातंत्र।	
		११२२ चोन वंश (२५५ तक)
		११२२ कोरिया : फ़ित्से द्वारा चोसेन राज्य की स्थापना (जो १९३ई० पूर्व तक चलता है)
७२८ असीरियनों द्वारा बैबिलन की विजय और असीरियन साम्राज्य की स्थापना। राजधानी निनीवे।	महान् वैयाकरण पाणिनि	
ल० ७०० (अथवा पहले) जरथुस्त या जोरोस्टर		६६० जापान : छोटा यामातो राज्य। प्रथम काल्पनिक सम्राट जिम्मू टिन्नू।
६१२ आर्य मीड निनीवे पर क़ब्ज़ा कर लेते और एबीसीनियन साम्राज्य को नष्ट कर देते हैं।		

सभ्यता का आरम्भ लगभग इसी समय—ईसा-पूर्व की छठी सदी में—हुआ]

तिथि या काल	यूनान, रोम और कार्थेज	मिस्र
(ई० पू०)		
	कार्थेज महान् व्यापारिक केन्द्र—भूमध्यसागर में प्रधान शक्ति	
६००		
	समोस में पाइथागोरस ल० ५७०—५०४	५५२ फ़ारस का सम्राट् कैम्बिसेस मिस्र विजय कर लेता है।
५००	रोमन प्रजातंत्र का आरम्भ ल० ५०० ४९० मैराथान का युद्ध—यूनानी फारसियों को खदेड़ देते हैं ४८० थर्मापोली और सेलेमिस	...
	यूनान का सुवर्ण-युग : सुकरात, यूरीफाइड्स, मेरीक्लिस, एस्किलस, सोफोक्स, प्लेटो, पिण्डार, अरिस्टोफेनिस फीडियास।	...
४००	४०४ स्पार्टा द्वारा एथेंस का विनाश। ३५९ मेसीडोनिया का बादशाह फ़िलिप ३३६ सिकन्दर महान्	३३२ मिस्र में सिकन्दर मिस्र पर यूनानी टालमी का राज्य

तिथि या काल	यूनान, रोम और कार्थेज	मिस्र
(ई० पू०)		
३००	२६४ (से २४१ तक) प्रथम प्यूनिक युद्ध। कार्थेज के विरुद्ध रोम।	यूनानी सभ्यता का एक महान् केंद्र अलेग्जेण्ड्रिया
	२१९ (से २०२ तक) द्वितीय प्यूनिक युद्ध। हैनीबाल। रोमन साम्राज्य का स्पेन, यूनान, एशिया-माइनर में विस्तार।	
२००		
१००	१४९ तृतीय प्यूनिक युद्ध। कार्थेज नष्ट कर दिया जाता है।	
	९१ इटली में गृह-युद्ध।	
	७३ रोम में स्पार्टकस के नेतृत्व में गुलामों का विद्रोह। गॉल-विजय। जूलियस सीजर द्वारा ब्रिटेन-और पाम्पी द्वारा पूर्वी प्रदेशों की विजय।	
	४८ सीजर फारसेलू स्थान पर पाम्पी को हरा देता है।	अन्तिम टालमी क्लियोपैट्रा का राज्य।
	४४ रोम में सीजर मारा गया।	३० मिस्र रोम साम्राज्य का एक प्रांत होजाता है।

तिथि या काल	रोमन साम्राज्य	पश्चिमी एशिया
(ई० पू०) १००	२७ ई० पूर्व। आक्टेवियन सीज़र सरदार या प्रिंसेप् बन गया है। प्रिंसेप् और सम्राट्। रोमन साम्राज्य का आरम्भ।	
ईसा-पूर्व ईसा के पश्चात्		फ़िलस्तीन में नैजरेथ स्थान पर ईसा की पैदाइश
ई०-प० १००	१४-१८० सम्राट् टाइबेरियस, कैलीगुला, क्लाडियस, नीरो, वेसपैशियन, टीटस, डोमीशियन, नर्वा, ट्रेजन, हैड्रियन, एण्टोनियस, मार्कस ऑरेलियस।	
२००	[माया और अज़टेक सभ्यतायें ईसा की दूसरी सदी में अमेरिका में विकसित होती हैं। मज़बूती के साथ संगठित राज्य क़ायम होते हैं। अनेक नगर—कला—शिल्प इत्यादि।]	२२४ फ़ारस में सासानी साम्राज्य का आरम्भ। अपनी प्रवृत्ति में पूर्णतः राष्ट्रीय ईरानी और ज़रथुस्ती (६५२ तक चलता है।) २७२ पालमीरा के अरब रेगिस्तानी राज्य का अन्त। रानी जेनोबिया।

भारत	बृहत्तर भारत; मलाया इत्यादि	चीन	जापान और कोरिया
बौद्धधर्म का महान् कलह—महायान और हीनयान			
मलाया और पूर्वी द्वीपों में उपनिवेशों की स्थापना के लिए पल्लवों की संगठित यात्रायें। समुद्री व्यापार का विकास।	महत्वपूर्ण भारतीय (पल्लव) उपनिवेशों की विशेषतः कम्बोडिया में स्थापना। सुमात्रा में श्रीविजय। दक्षिण मलाया मध्य जावा पूर्वी बोर्नियो		
	......	चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश। उत्तरकाल के हन् सम्राट तातारियों को पश्चिम में भगा देते हैं (और ये बाद में हूण की शक्ल में योरप और भारत में जाते हैं)।	
		२२१ हन् राजवंश का पतन। तीन राज्य।	

तिथि या काल	रोमन साम्राज्य	पश्चिमी एशिया
(ई० पू०) ३००	३०६ महान् सम्राट् कांस्टेंण्टाइना राजधानी विज़ैण्टियम ले जाई गई, जिसका नाम कुस्तुन्तुनिया हो जाता है। ईसाई धर्म साम्राज्य का राजधर्म वन जाता है। साम्राज्य पश्चिमी और पूर्वी दो भागों में वँट जाता है।	
४००	ल० ४०० रोम पर बर्बरों के हमले। ४१० एलैरिक के नेतृत्व में गॉथ लोग रोम पर क़ब्ज़ा कर लेते और उसे तबाह करते हैं। ४५०ल एटिला के नेतृत्व में हूण गाल और इटली को पामाल करते हैं और ४५७ ई० में फ़्रांस में शालों के युद्ध में अन्तिम रूप में पराजित होते हैं। ४५५ जेनसेरिक के नेतृत्व में वण्डाल लोग रोम को तबाह करते हैं। ४७६ पश्चिमी साम्राज्य की हस्ती ख़तम हो जाती है। गॉथ ओडोका इटली का राजा। अन्य गॉथ बादशाह। ४८१ फ़्रांस का क्लोविस।	
५५०	बर्बरों और हूणों के हमलों से बहुत कमज़ोर हो जाने पर भी पूर्वी रोमन साम्राज्य क़ायम रहता है। उसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया है। जस्टीनियन के समय में, जो ५२७ से ५६५ तक राज्य करता है, वह फिर सबल होता है।	

भारत	बृहत्तर भारत; मलाया इत्यादि	चीन	जापान और कोरिया
३२० उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य का आरम्भ। राष्ट्रीय पुनरुत्थान । राजधानी अयोध्या । संस्कृत का सुवर्ण काल ।			
३२० चन्द्रगुप्त ।			
३३५ समुद्रगुप्त । दूर-दूर तक विजय ।			यामातो (जापान) ३५० के लगभग फैलता है ।
३८० विक्रमादित्य । कवि कालिदास			
चीनी यात्री फ़ाहियान का भारत में आगमन ।			
ल० ४५० भारत में हूणों का आक्रमण ।			
४९५ हूण तोरमान उत्तरी भारत पर क़ब्ज़ा करलेता है			
हूण मिहिरगुल ५१०-५२८			
५२५ चीन में आबाद होने के लिए भारतीय बौद्धधर्म के प्रधान धर्माध्यक्ष बोधिधर्म का भारत से प्रस्थान।	हिन्दीचीन में हिंदू राज्य।	बोधिधर्म कैण्टन पहुँचते हैं।	

तिथि या काल	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप	पश्चिमी एशिया
ई. सन् ५५०		विजेण्टाइन (कुस्तुनतुनिया) साम्राज्य और ससानी (फ़ारसी) साम्राज्य के बीच अक्सर लड़ाइयां जिनसे दोनों कमज़ोर होजाते हैं।	
६००			५७० मक्का में मुहम्मद का जन्म (मृत्यु ६३२); खुसरो द्वितीय के राज्य में ससानी साम्राज्य मिस्र, सीरिया, एशिया माइनर, फ़ारस तक फैल जाता है। ६१९
		अरबों द्वारा विजेण्टाइन साम्राज्य की पराजय। पर वह अपने को सुरक्षित रखता है।	६२२ हिजरत। मुहम्मद साहब की मदीना यात्रा ६३२ अबूबकर ख़लीफ़ा। ६३४ उमर ख़लीफ़ा। ६३२—६७० अरब लोग विजेण्टाइन साम्राज्य को हराते और फ़ारस, मिस्र, उत्तरी अफ़रीका और मध्य एशिया के कुछ भागों को विजय कर लेते हैं। राजधानी दमिश्क। उम्मैया ख़लीफ़े (अरबों की विजय से सासानी साम्राज्य का अन्त)।
७००	७११ उत्तरी अफ़रीका से अरबों की स्पेनविजय। फ़ान्स पर आक्रमण		

तिथि या काल	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप	पश्चिमी एशिया
ई.सन्	७३२ फ़्रांस में टूर्स का युद्ध। चार्ल्स मार्टल अरबों को हरा देता और अरब हमले को रोक देता है।		
	७५० स्पेन में कारडोवा का अरब राज्य। प्रसिद्ध नगर और विश्वविद्यालय		७५० उम्मैया ख़लीफ़ा अधिकार-च्युत कर दिये गये। अब्बासी ख़लीफ़ों का आरम्भ। स्पेन स्वतंत्र हो जाता है। वहाँ का अरब-राज्य उम्मैयों के क़ब्ज़े में। अरब साम्राज्य छोटा पर संगठित होजाता है। राजधानी बग़दाद चली जाती है। ७८६ (से ८०९ तक) ख़लीफ़ा हारूनल रशीद। उज्ज्वल शासन। चीन और शार्लमेन के पास राजदूतों का भेजा जाना।
८००	८०० पश्चिमी पवित्र रोमन साम्राज्य आरम्भ होता है और शार्लमेन उसका सम्राट बनता है।	पूर्वी रोमन (बिज़ेण्टाइन) साम्राज्य चारों तरफ़ से कठिनाइयों में पड़जाने के बावजूद सिकुड़े रूप में क़ायम रहता है।	८५० अब्बासी ख़लीफ़ाओं और अरब साम्राज्य का ह्रास। स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों का उदय।
९००	९६२ जर्मनी का महान् ओटो पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट बन जाता है ९८७ ह्यूकैपेट फ़्रान्स का राजा बन जाता है।		पश्चिमी एशिया में सेलजूक तुर्क ९६९ मिस्र स्वतंत्र होजाता है। अलग फातिमाई ख़िलाफ़त पश्चिम एशिया पर सेलजूक तुर्कों का प्रभुत्व

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ईस्वी सन् १०००	[मध्य अमेरिकाः महान् नगर उक्षमल का उदय : १००० तीन मध्य अमेरिकन राज्यों के संघ—मायापान संघ—का निर्माण]	
	१०६६ नार्मण्डी के विलियम द्वारा इंग्लैण्ड पर विजय ।	
	१०७३ हिल्डेब्रैण्ड ग्रेगोरी सप्तम के नाम से पोप बनता है ।	ईसाई जिहादी (क्रूसेडर्स) पूर्वी योरप को लूटते और वहाँ असभ्याचरण करते हैं ।
	१०९६ प्रथम क्रूसेड । (जिहाद) बहुत ज्यादा आदमी मारे गये । ग्यारहवी-बारहवीं सदियों में पश्चिमी योरप में गाथिक शिल्प ।	
११००		
	११४७ दूसरा क्रूसेड । ११४७ कार्डोवा के मुसलमान राज्य से पुर्तगाल जीत लिया जाता और वहाँ ईसाई राज्य क़ायम किया जाता है ।	......
	११५२ होहेनस्टॉफन वंश का फ्रेडरिक बार्बरोसा । पवित्र रोम साम्राज्य का सम्राट ११८९ तीसरा क्रूसेड । इंग्लैण्ड का शेरदिल रिचर्ड प्रथम [मध्य अमेरिकाः ल० ११९० मायापान का विनाश]	

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ईस्वी सन् १२००	१२०२ चौथे क्रूसेड द्वारा पूर्वी (विजेण्टाइन) साम्राज्य पर हमला	१२०४ क्रूसेडवाले कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं और एक लैटिन सम्राट खड़ा कियाजाता है (१२६१ तक)।
	१२१२ लड़कों का क्रूसेड	चंगेज के नेतृत्वमें मंगोल दक्षिण रूस पर हमला करते हैं।
	१२१५ इंग्लैण्ड के राजा जॉन द्वारा मैग्नाचार्टा पर हस्ताक्षर।	
	१२२१ पांचवाँ क्रूसेड (जिहाद)।	
	१२२८ होहेनस्टाफन वंश का फ्रेडरिक द्वितीय, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट, (१२१२-१२५०) छठे क्रूसेड का नेतृत्व करता है यद्यपि पोप उसे समाज से वहिष्कृत कर देता है।	
	१२३३ स्पेनिश 'इनक्वीजिशन' की स्थापना	१२४० रूस, पोलैंड पर मंगोलों का हमला। रूस मंगोलों को ख़िराज देता है।
		१२४१ साइलेशिया के लिगनिज में मंगोलों की विजय।
१२५०	१२५० फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु। होहेनस्टाफन वंश का अन्त।	
	१२५० स्पेन के कार्डोवा राज्य का अन्त। दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा नामक छोटे अरव राज्य का आरंभ।	
	१२६५ दांते का जन्म।	
	१२७३ हैप्सवर्ग का रूडोल्फ़ पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट चुना जाता है।	१२६१ यूनानी लैटिनों से कुस्तुन्तुनिया फिर छीन लेते हैं।
	१३ वीं–१४ वीं सदियों में यूरोपियन नगरों का विकास: वेनिस, जिनोआ, फ्लोरेंस, वोलोन, पीसा, मिलन, नेपल्स, पेरिस, एण्टवर्प, हैम्वर्ग, फ्रैंकफुर्त, कोलोन, म्यूनिच आदि प्रजातंत्र।	
१३००		रूस के अधिकांश हिस्सों में सुनहरे कवीले के मंगोलों की स्थापना

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ई० सन् १३००	[मध्य अमेरिका और मैक्सिको। ल०१३२५ अजटेक लोग माया देश को जीत लेते हैं और 'टेनोच्लेटन' नामक महानगरी बसातें हैं]	
	ल० १३४८ योरप, उत्तरी अफ़रीका और एशिया के कुछ हिस्सों में महाप्लेग—'काली मौत'। इन देशों में आवादी का भयंकर विनाश।	दक्षिण रूस में महाप्लेग।
१३५०		१३५३ उस्मानी तुर्क योरप में घुस जाते, वालकन विजय करलेते और एड्रियानोपुल को राजधानी वनाते हैं।
	१३७८-पश्चिमी ईसाई धर्म में महाविभेद। दो पोप—एक रोम में, दूसरा फ्रांस के एविग्नन में। १४१७ में समझौते से झगड़ा समाप्त होता है।	कुस्तुन्तुनिया में विज़ेण्टाइन साम्राज्य अव भी क़ायम रहता है।
१४००		

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ई० सन्		
	१४३० रून में अंग्रेजों द्वारा जोन ऑफ़ आर्क का जलाया जाना।	
१४५०	१४७३ कोपरनिकस की पैदाइश।	१४५३ उस्मानी तुर्क कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करलेते हैं। पूर्वी रोमन (विज़ेण्टाइन) साम्राज्य का अन्त।
	१४८६ डायज़ गुडहोप के अंतरीप के गिर्द घूमकर जाता है।	
	१४९२ ग्रेनाडा के अरब राज्य का अंत। मूर (मुसलमान) स्पेन के बाहर खदेड़ दिये जाते हैं।	दक्षिण-पूर्व योरप में उस्मानी साम्राज्य का प्रसार।
	१४९२ कोलम्बस अटलाण्टिक पार करके अमेरिका पहुँचता है।	...
१५००	१४९८ गुडहोप के अंतरीप होता हुआ वास्को डि गामा भारत पहुँचता है। इटली में 'रिनैसाँ' (पुनर्जागरण) का आरंभ : ल्यूनार्डो दविंसी, माइकेल एंजेलो, राफेल।	
	१५१३ बलबोआ प्रशांत सागर में पहुँचता है।	
	१५१९ मैगेलन दुनिया की परिक्रमा करता है	
	१५१९ कोर्टे मैक्सिको के अजटेकों को विजय कर लेता है।	१५२० उस्मानी साम्राज्य का सुलतान सुलेमान। उस्मानी साम्राज्य फैलता है और हँगरी एवं बालकन उसमें आजाते हैं।
१५३०	१५३० पेरू के 'इनका' पर पिज़ारो की विजय। स्पेनी अमेरिकन साम्राज्य का उदय।	
	१५३० हैप्सबर्ग चार्ल्स पंचम : पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट; स्पेन, निदरलैण्ड, अमेरिकन राज्य इत्यादि का राजा।	

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन् १५३०		मार्टिन लूथर (मृत्यु १५४६)। उत्तर-पश्चिम योरप में रिफार्मेशन और प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का आरम्भ।	
१५५०		१५५८ (से १६०३ तक) इंग्लैण्ड में एलिजाबेथ का राज्य।	...
		१५६४ शेक्सपीयर का जन्म।	
		१५६७ स्पेन के ख़िलाफ़ निदरलैण्ड्स की बग़ावत।	
	१५७७ फ्रांसिस ड्रेक जहाज़ी विश्वभ्रमण आरम्भ करता है।		ल १५८१ रूसी डाकू यरमक अपने क़ज्ज़ाक सिपाहियों के साथ यूरल पार करता और पूर्व की ओर बढ़ता है। ...
१६००		१६०० ब्रिटिश ईस्ट-इंडिया कम्पनी की स्थापना।	
		१६०२ डच ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की स्थापना।	
	१६२० 'मेफ़्लावर' इंग्लैण्ड से उत्तरी अमेरिका को प्यूरिटन (कट्टर ईसाई) लोगों को बसने के लिए लाता है।		बालकन, हंगरी आदि पर उस्मानी साम्राज्य। १६३६ रूसी पूर्व की ओर बढ़ते हैं और प्रशान्त सागर तक पहुँच जाते हैं।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन्			
१६५०		१६४२फ़ांस का 'महान् बादशाह' चौदहवाँ लुई अपने ७२ वर्ष लम्बे राज्यकाल का आरम्भ करता है। १६४८वेस्टफ़ेलिया की संधि। हालैण्ड और स्वीजरलैण्ड स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत कर लिये जाते हैं। १६४९ इंग्लैंड में गृहयुद्ध। बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय। चार्ल्स प्रथम को फांसी। अंग्रेजी प्रजातन्त्र १६६० तक। ओलिवर क्रामवेल।	१६८३ वियेना के फाटकों पर उस्मानी तुर्क रोक लिये जाते हैं। १६८९ रूस में महान् पीटर १६८९ से १७२५ तक राज्य करता है। चीन से सन्धि। चीन को राजदूतों का भेजा जाना। पीटर रूसी स्त्रियों का परदा छुड़वा देता है।
१७००	उत्तरी अमेरिका के पूर्वी समुद्र-तट पर यूरोपियन बस्तियों का बढ़ना। ब्राजील के अतिरिक्त सारे दक्षिण-अमेरिका में स्पेनी साम्राज्य। ब्राजील में पोर्चुगीजों का राज्य।	१६८८ ब्रिटिश क्रान्ति ...	
१७३०			१७३० रूसी-तुर्की युद्ध (सारी अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी भर होनेवाली लड़ाइयों में से एक)

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप
ई० सन् १७३०		
	यूरोपियन देशों द्वारा सारी अठारहवीं सदी भर अफ़रीकन गुलामों का व्यापार होता रहा। अठारहवीं सदी के अंत में यह व्यापार पूरे ज़ोर पर था। लिवरपूल और न्यूयार्क इस व्यापार के केन्द्र थे।	१७४० प्रशा के फ्रेडरिक महान् के राज्य-काल का आरम्भ। वाल्टेयर (१६९४-१७७८)
१७५०		गेटे (१७४९–१८३२)। १७५६–१७६३ सप्तवर्षीय युद्ध—प्रभुत्व के लिए अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच होनेवाले विश्वव्यापी संघर्ष में अंग्रेज़ों की विजय।
	१७६३ फ़्रांस इंग्लैण्ड को कनाडा दे देता है।	बीथोवेन, महान् संगीतकार (१७७०–१८२७)
	१७७५ उत्तरी अमेरिकन उपनिवेशों का इंग्लैण्ड से युद्ध। १७७६ अमेरिकन क्रांति। स्वतंत्रता की घोषणा। जॉर्ज वाशिंगटन।	१७८९ पेरिस में बैस्तील पर धावा। फ्रेंच राज्यक्रान्ति का आरम्भ। १७९२ फ़्रांस प्रजातंत्र बन जाता है। १७९९ नेपोलियन बोनापार्ट। प्रथम कौंसल।
१८००	दक्षिण अमेरिका में क्रान्तियाँ। स्वतंत्र प्रजातंत्रों की स्थापना। साइमन बोलिवर।	१८०४ नेपोलियन सम्राट्। १८०६ 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का बाक़ायदा अन्त। १८१५ वाटरलू का युद्ध। वियेना की संधि।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप
ई० सन्		इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति (अठारहवीं सदी के अन्त से आगे)।
	स्पेनी और पुर्तगाली अमेरिकन साम्राज्यों का अन्त।	
	अधिकांश देशों द्वारा अफ़रीकन गुलामों के व्यापार का निषेध, पर ग़ैरकानूनी तरीक़े पर वह काफी बड़े रूप में चलता रहता है और अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र के दक्षिणी राज्यों तक हबशी पकड़कर लेजाये जाते हैं।	१८२५ पहली रेलवे (इंग्लैण्ड में)।
		१८३० योरप में क्रान्तियाँ। लुई फिलिप फ्रांस का बादशाह होजाता है। बेल-जियम स्वतंत्र होजाता है।
		१८३२ ब्रिटिश रिफार्म बिल।
	संयुक्तराष्ट्र अमेरिका पश्चिम की तरफ फैलता है और केली-फोर्निया लेलेता है।	कार्लमार्क्स (१८१८–१८८३)।
		१८४८ योरप में क्रान्ति-वर्ष। फ्रांस में प्रजातंत्र की स्थापना।
१८५०		चार्ल्स डार्विन (१८०९–१८८२)
		१८५२ द्वितीय फ्रेंच प्रजातंत्र का अन्त। फ्रांसीसियों का सम्राट् नेपोलियन तृतीय।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन् १८६०	१८६१-६५ अमेरिकन गृह-युद्ध, हवशियों का उद्धार । राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ।	१८६१ इटली संयुक्त और स्वतंत्र हो जाता है। मैजिनी-गेरीवाल्डी-कावूर ।	
	सारी उन्नीसवीं सदी भर खास तौर से उत्तरी अमेरिका और उत्तर-पश्चिमी योरप में तथा थोडी-वहुत दूसरी जगहों में विज्ञान, उद्योग तथा यांत्रिक आयात-निर्यात की उन्नति । प्रजासत्तावाद, पूंजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद का विकास ।		वालकन में राष्ट्रीयता। तुर्की की अधीन जातियाँ धीरे-धीरे अपनेको स्वतंत्र करती हैं ।
	१८९८ स्पेनी-अमेरिकन युद्ध । संयुक्त-राष्ट्र फिलिपाइन पर क़ब्जा कर लेता है। क्यूवा स्वतंत्र हो जाता है ।	१८७०–१८७१ फ्रांस-प्रशा युद्ध—फ्रांस की हार । वर्साई में जर्मन साम्राज्य की घोषणा । विस्मार्क । फ्रांस प्रजातंत्र वनता है । पेरिस की अल्पजीवी पंचायत । १८७८ रूस-तुर्की युद्ध के वाद वर्लिन की सन्धि । विशेषतः उत्तर-पश्चिमी योरप में मजदूर-आन्दोलन की वृद्धि । मजदूर-संघ—अन्तर्राष्ट्रीय संघ–समाजवाद । कार्ल मार्क्स । १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिका पर क़ब्जे के लिए पाश्चात्य शक्तियों की भाग-दौड़ ।	१८७६ सुलतान तुर्की को विधान देता और फिर उसे स्थगित कर देता है । १८७७ रूस–तुर्की युद्ध । १८७८ वलगेरिया, सर्विया, रूमानिया और माण्टेनिग्रो तुर्की शासन से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेते हैं । १९०५ जापान द्वारा रूस की हार के कारण रूस में असफल क्रान्ति होती है । ड्यूमा की स्थापना ।
१९००		१८९९–१९०२ दक्षिण अफ़्रीका में अंग्रेज और वोअरों का युद्ध ।	१९०८ तुर्की-क्रान्ति । १८७६ के विधान की पुनः स्थापना । ऐक्य और उन्नति की समिति ।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिणी अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन्	१९१७ संयुक्तराष्ट्र महायुद्ध में शामिल होता है । १९१९–१९२९ संयुक्त राष्ट्र में महान् वैभव के दस वर्ष । १९२९अर्थ–संकट या मंदी । १९३० दक्षिण अमेरिका में अर्जेण्टाइन, ब्राजील, चाइल इत्यादि में क्रान्तियाँ । सरकारों का दिवाला ।	१९१४–१९१८ महायुद्ध । १९१८ जर्मनी, आस्ट्रिया आदि में क्रान्तियाँ । राजवंशों का अन्त । प्रजातंत्रों की स्थापना । १९१९ वर्साई की सुलह । योरप में अनेक नये राष्ट्र । हर्जनिशासनादेश-राष्ट्रसंघ । मजदूरों की हलचलें, हड़तालें, आर्थिक कठिनाइयाँ—मुद्रा का पतन—अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंसें । १९२०–२२ एंग्लो-आयरिश युद्ध । सिनफीन 'आयरिश फ्री स्टेट की स्थापना । १९२२ इटली में फ़ैसिज्म की विजय : बेनिटो मुसोलिनी । योरप के अनेक देशों में डिक्टेटरशिप । १९२६ ग्रेट ब्रिटेन में आम हड़ताल । १९२९ समस्त विश्व में महान् व्यापारिक मंदी और संकट का आरंभ । भावों का गिरना । सरकारों का दिवाला । बैंकों का टूटना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नाश (अभीतक मंदी है) । १९३१ स्पेन में क्रान्ति । प्रजातंत्र की स्थापना ।	१९११ ट्रिपोली के सम्बन्ध में तुर्की से इटली का युद्ध । १९१२ बालकन युद्ध । तुर्की प्रायः योरप से खदेड़ दिया जाता है । १९१४-१९१८महायुद्ध १९१७ दो रूसी क्रान्तियाँ । बोलशेविक राज्य पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं । गृह-युद्ध । रूस और साइबेरिया में हस्तक्षेप की लड़ाइयाँ । १९२३ यू. एस. एस. आर की स्थापना । १९२९ तेजी से औद्योगीकरण के लिए सोवियट संघ की पंचवर्षीय योजना ।
१९३३	१९३३ मंदी और अर्थ-संकट का मुक़ाबला करने के लिए कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को सर्वसत्ता दिया जाना । राष्ट्रपति मजदूरी की वृद्धि का महान् कार्य शुरू करते हैं । उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण ।	१९३३ जर्मनी में नाजी-विजय । एडोल्फ हिटलर । प्रजातंत्र को दबा दिया गया । मजदूरों और यहूदियों पर अत्याचार । योरप के अनेक देशों में फ़ैसिज्म की वृद्धि ।	१९३३ सोवियट की द्वितीय पंचवार्षिक योजना का आरंभ ।

इं

उ

ओ-औ

क

ख

घ

च-छ

न

फ

म

य

व

कुल पृष्ठ-संख्या

१४९६ + ३२ (पृष्ठ १३५८ से १३७२ तक तिथिक्रम के नक़्शों में ज्यादा लगे)
= १५२८

'सस्ता साहित्य मण्डल' के प्रकाशन

सस्ता साहित्य मण्डल के ये उच्चकोटि के सस्ते और जीवन निर्माणकारी प्रकाशन, १) प्रवेश फ़ीस देकर स्थायी ग्राहक बन जाने पर सबको पौने मूल्य में मिल सकते हैं। ग्राहकों को प्रत्येक पुस्तक की एक-एक ही प्रति मिल सकती है। विशेष जानकारी के लिए बड़ा सूचीपत्र मँगाइए।

—व्यवस्थापक

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओं से निराश युवक के लिए संजीवनी विद्या। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान् विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्वपूर्ण विषयों पर लिखे निबन्धों का संग्रह। दो भागों में। १)

३—**तामिलवेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रंथ। मूल्य ॥)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। [शैतान की लकड़ी] भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्बन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनों में फँसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनों को दूर करने का उपाय। मूल्य ॥=)

५—**सामाजिक कुरीतियाँ**। [जब्त: अप्राप्य] मूल्य ॥)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियों के आदर्श जीवन चरित्र, तीन भागों में। मूल्य ३)

७—**अनोखा**! फ़्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'लाफिंग मैन' नामक उपन्यास का अनुवाद। राजाओं तथा दरबारियों की कुटिल क्रीड़ाओं का नग्न दर्शन। मनोरंजक, करुण और गम्भीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदों, पुराणों तथा बहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त। मूल्य ॥=)

९—**योरप का इतिहास**। अर्थात् बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास। तीन भागों में। मूल्य २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने

बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १॥)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र**। खादी के अर्थशास्त्र पर श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढंग से सिद्ध की है। मूल्य ॥।≡)

१२—**गोरों का प्रभुत्व**। इसमें बतलाया गया है कि संसार की सवर्ण जातियाँ अपनी आज़ादी के लिए किस प्रकार गोरी जातियों के शोपण से लड़ रही हैं और अपने को स्वतन्त्र कर रही हैं। मूल्य ॥।=)

१३—**चीन की आवाज़**। [अप्राप्य] मूल्य ।=)

१४—**दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास**। सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वयं गाँधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढ़ें कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा अफ़्रीका वासियों ने अपने अधिकारों की बहादुरी से और बिना दूसरों को तक़लीफ़ पहुचाते हुए रक्षा की। मूल्य १।)

१५—**विजयी बारडोली**। [अप्राप्य] मूल्य २)

१६—**अनीति की राह पर**। ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक संतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गांधीजी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। मूल्य ॥=)

१७—**सीता की अग्नि परीक्षा**। लंका विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेपण है। इसमें विज्ञान का हवाला देकर यह बताया है कि वह घटना सच्ची है। मूल्य ।=)

१८—**कन्या शिक्षा**। इसमें बताया गया है कि छोटी बालिकाओं को अपने बाल्य जीवन के विषय में किस तरह शिक्षा देनी चाहिए। मूल्य ।)

१९—**कर्मयोग**। श्री अक्षयकुमार मैत्रेय लिखित गीता के कर्मयोग का सरल विवेचन। मूल्य ।=)

२०—**कलवार की करतूत**। महर्षि टाल्स्टाय की सरल भाषा में शराब के आविष्कार की मनोरंजक कहानी। मूल्य =)

२१—**व्यावहारिक सभ्यता**। युवकों, बच्चों तथा अवस्थाप्राप्त लोगों के लिए रोज़ के व्यवहार में आनेवाली शिक्षाओं की पोथी। बोधप्रद शिक्षाप्रद तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ॥)

२२—**अँधेरे में उजाला**। महर्षि टाल्स्टाय के नाटक का अनुवाद। हृदय-मन्थन की अनुपम कहानी। मूल्य ॥)

२३—**स्वामीजी का बलिदान**। [अप्राप्य] मूल्य ।=)

२४—हमारे ज़माने की गुलामी। [जब्त : अप्राप्य] मूल्य ।)

२५—स्त्री और पुरुष। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्स्टाय के उत्तम विचार। मूल्य ॥)

२६—सफ़ाई। घरों, गाँवों तथा शरीर की सफ़ाई पर उत्तम पुस्तक। मूल्य ।=)

२७—क्या करें? टाल्स्टाय की मशहूर पुस्तक What to do? का अनुवाद। गरीबों और पीड़ितों की समस्यायें और उनका हाल। मूल्य १॥=)

२८—हाथ की कताई-बुनाई। [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

२९—आत्मोपदेश। यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा एपिक्टेटस के उत्तम और महत्त्वपूर्ण उपदेशों का संग्रह। मूल्य ।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन। [अप्राप्य] मूल्य ॥-)

३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे—तब भारत हरा-भरा था। भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजों के यहां आने के बाद से शुरू हुई है। पार्लमेण्ट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर लिखित। मूल्य ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह। [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

३३—श्रीरामचरित्र। श्री० चिन्तामणि विनाशक वैद्य लिखित रामायण की कहानी। करुण और मधुर। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र। मूल्य १।)

३४—आश्रम-हरिणी। पौराणिक उपन्यास। विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिकों के विचार। मूल्य ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष। मराठी भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बड़े काम की चीज है। मूल्य २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त। आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आज़ादी की इच्छावालों की नसों में नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरने वाली पुस्तक। मूल्य ॥)

३७—महान् मातृत्व की ओर। स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन करानेवाली स्त्री-उपयोगी उत्तम पुस्तक। मूल्य ॥।=)

३८—शिवाजी की योग्यता। छत्रपति शिवाजी का चरित्र-विश्लेपण। मूल्य ।=)

३९—तरंगित हृदय। गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री देवशर्माजी के अनुपम विचार। मूल्य ॥)

४०—**हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [नरमेध]** डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमांचकारी इतिहास। हृदय में उथल-पुथल मचा देने वाली क्रान्तिकारी पुस्तक। मूल्य १॥)

४१—**दुखी दुनिया**। ग़रीब और पीड़ित मानवी दुनिया के करुण चित्र। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओं पर लिखी कहानियाँ। मधुर, करुण और सुन्दर। नया और सस्ता संस्करण। मूल्य ।=)

४२—**जिन्दा लाश**। टाल्स्टाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। मूल्य ॥)

४३—**आत्म-कथा**। महात्मा गांधी लिखित। संसार के साहित्य का एक रत्न। उपनिषदों की भांति पवित्र और उपन्यासों की भांति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठानेवाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्डों में। बढ़िया जिल्द, सुन्दर छपाई। मूल्य १।)

४४—**जब अंग्रेज़ आये**। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १।=)

४५—**जीवन-विकास**। विकासवाद को विशद रूप से समझाने वाली हिन्दी की एक ही पुस्तक। मूल्य १।) १॥)

४६—**किसानों का बिगुल**। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य =)

४७—**फाँसी**। विक्टर ह्यूगो लिखित। फाँसी की सज़ा पाये हुए एक युवक के मनोभावों का चित्रण। करुण और रुलानेवाला। मूल्य ।=)

४८—**अनासक्तियोग और गीता-बोध**। गीता पर गांधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक, अनुवाद तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य—गीताबोध—सहित ३५० पृष्ठों में मूल्य केवल ।=) केवल **अनासक्तियोग** =), सजिल्द ।) **गीताबोध** -)॥

४९—**स्वर्ण विहान** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन**। मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान श्री गो० दा० तामसकर लिखित। मराठी भाषा में भी मराठों का ऐसा इतिहास नहीं हैं। मूल्य २॥)

५१—**भाई के पत्र**। स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालने वाली, उनकी घरेलू एवं रोजमर्रा की कठिनाई में पथप्रदर्शक बहनों के हाथों में दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनों, बहुओं और बेटियों को इसकी एक प्रति अवश्य दें। मूल्य १॥) २)

५२—**स्वगत**। (हरिभाऊ उपाध्याय) चरित्र को गढ़नेवाले उच्च तथा युवकों को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उत्तम विचार। मूल्य ।=)

५३—कुणाधर्म। [जप्त : अप्राप्य] मूल्य १=)

५४—स्त्री-समस्या। नारी-जीवन की जटिल समस्याओं का गम्भीर अध्ययन।
मूल्य १।।।) २)

५५—विदेशी कपड़े का मुकाबला। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गांधी लिखित। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार भारत अपनी आवश्यकतानुसार पूरा कपड़ा तैयार कर सकता है। मूल्य ।।=)

५६—चित्रपट। श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतों का संग्रह। भावनामय, करुण और मधुर। मूल्य ।=)

५७—राष्ट्रवाणी। [अप्राप्य] मूल्य ।।=)

५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी। श्री महादेव देसाई का लिखा हुआ महात्मा गांधी की इंग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन। हिन्दी में अपने ढंग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त। मूल्य १)

५९—रोटी का सवाल। मशहूर रूसी क्रांतिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन की अमर कृति Conquest of Bread का सरल अनुवाद। समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन। मूल्य १)

६०—दैवी-सम्पद्। सर्वोत्तम नैतिक एवं धार्मिक पुस्तक। 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है।' गीता की इस उक्ति का सुन्दर विवेचन है। मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली पुस्तक। मूल्य ।=)

६१—जीवन-सूत्र। अंग्रेजी में थॉमस केम्पिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन ऑफ़ क्राइस्ट' का अनुवाद। जीवन को उन्नत और विचारों को सात्विक बनानेवाली। मूल्य ।।।)

६२—हमारा कलंक। अस्पृश्यता-निवारण पर महात्माजी के विचारों एवं लेखों का संग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी। महात्माजी के आशीर्वाद सहित। मूल्य ।।=)

६३—बुद्बुद्। (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शों से जीवन का मेल मिलानेवाले युवकों के लिए विचारणीय पुस्तक। मूल्य ।।)

६४—संघर्ष या सहयोग? प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद। इसमें दिखलाया है कि पशु और पक्षियों से लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है; संघर्ष नहीं; एकता है, लड़ाई नहीं। मूल्य १।।)

६५—गांधी-विचार दोहन। श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, इसमें महात्माजी के

सारे राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों का वड़ा सुन्दर दोहन किया है। मूल्य ।॥)

६६—एशिया की क्रान्ति। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १॥)

६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता। लो० तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्माजी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल की जीवनियाँ—उनके संस्मरण, जीवन की झाँकियां एवं व्यक्तित्व के विश्लेपण के साथ—लिखी गई हैं। हिन्दी में अपने क़िस्म की एक पुस्तक, मूल्य २॥) ३)

६८—स्वतन्त्रता की ओर—(हरिभाऊ उपाध्याय) इसमें बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतंत्रता—को किस प्रकार और किन साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा समाज कैसा हो; हमारा साहित्य कैसा हो, हमारा जीवन कैसा बने जिससे हम स्वतंत्रता की ओर बढ़ते चले जाते। हिन्दी में इस पुस्तक का बड़ा आदर हुआ है। मूल्य १॥)

६९—आगे बढ़ो। स्वेट् मार्डेन के Pushing to the Front का संक्षिप्त अनुवाद। कठिनाई में पड़े युवकों को सच्चे साथी के समान रास्ता बतानेवाली। मूल्य ।)

७०—बुद्ध-वाणी। (वियोगीहरि) भगवान् बुद्ध के चुने हुए वचनों का संग्रह। बुद्धधर्म का सार तत्त्व। बौद्ध-धर्म के हिन्दी में मिले सब ग्रन्थों का सार। मूल्य ॥=)

७१—काँग्रेस का इतिहास। डॉ० पट्टाभिसीतारामैया की लिखी तथा कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक History of the Congress का यह प्रामाणिक अनुवाद है। इसकी भूमिका राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। हिन्दी अनुवाद तथा संपादन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। यह दूसरा संस्करण है। बड़े आकार के ६५० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक। मूल्य केवल २॥)

७२—हमारे राष्ट्रपति। कांग्रेस के पहले अधिवेशन से अवतक के तमाम सभापतियों के जीवन-परिचय संक्षेप में इस पुस्तक में दे दिये गये हैं। हिन्दी में अपने विषय की यह उत्तम तथा एक-मात्र पुस्तक है। इसकी भूमिका श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। सब सभापतियों के चित्रों के साथ, पृष्ठ संख्या ४०० मूल्य १)

७३—मेरी कहानी। पं० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा। हिन्दी अनुवाद और संपादन हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य में एक जीवन पैदा हो गया है। वर्तमान समय की एक ही पुस्तक। बड़े आकार में, पृष्ठ–संख्या ७७५। सजिल्द मूल्य ४)

७४—विश्व-इतिहास की झलक। पण्डित जवाहरलालजी के अपनी पुत्री इंदिरा के नाम लिखे पत्रों का संग्रह। इसमें १९६ पत्र हैं और इसमें उन्होंने सारी

दुनिया का इतिहास बड़ी सरलता से बताया है। हिन्दी साहित्य का एक बेजोड़ ग्रन्थ। दो भागों में। मूल्य ८)

७५—हमारे किसानों का सवाल। भूमिका लेखक पण्डित जवाहरलाल नेहरू। ले० डॉ० अहमद। इसमें हमारे ग़रीब किसानों के सवाल और उसके हल को बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। मूल्य केवल ।)

आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ